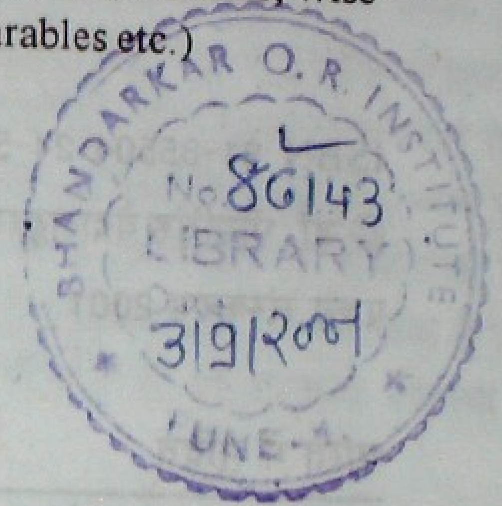
LIBCAT
Call_Number XV A / लोकन्यायरत्नाकर
Subject_Name Reference
SubSubject_Name Dictionaries/Quotations/Kosa/Encyclopedia
Language_Name Hindi-Sanskrit
Size_TypeDesc B
Number_of_Pages XLviii+676
Binding_Type ☐ Paperback ☑ Hardbound
Book_Type ☐ Text ☑ Ref ☐ Study
Acquisition_Method ☐ Local Vender ☑ None
Acquisition_Type ☑ Presented ☐ Purchased ☐ Review ☐ Exchange
Copy_Type ☑ Printed ☐ Photo Copy
Donated_By R.S.S.

व्याकरणशास्त्रीय लोकन्यायरत्नाकर

(नीतिवाक्य, मुहावरा, कहावत, लोकोक्ति, सूक्ति, सूत्रवाक्य, दृष्टान्तादिसंवलित बृहल्लोकन्यायकोश)

AN ENCYCLOPEDIC DICTIONARY OF POPULAR MAXIMS IN SANSKRIT GRAMMAR

(Incorporating Ethical Expressions, Idioms, Proverbs, Maxims, Wise Sayings, Aphorisms, Allegories, Parables etc.)



डॉ. भीमसिंह वेदालङ्कार
रीडर, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

पेनमैन पब्लिशर्स
दिल्ली

ISBN 81-85504-24-5

© डॉ. भीमसिंह वेदालङ्कार

प्रथम संस्करण 2001

भारत में मुद्रित

प्रकाशक :

जवाहरलाल गुप्त पी.जी.डी.बी.पी. (सम्पा.)
पेनमैन पब्लिशर्स,
7309/5, प्रेम नगर, शक्ति नगर,
दिल्ली-110007, दूरभाष 011-3980319

अक्षरायोजक :

इम्प्रेशन इण्डिया ग्रॉफिक्स,
C-155, मो. योगमाया, मुल्तानी डांडा, पहाड़गंज,
नई दिल्ली - 110 055
दूरभाष 011-3540191

मुद्रक : तरुण आफसेट प्रेस, दिल्ली

VYĀKARAṆAŚĀSTRĪYA LOKANYĀYARATNĀKARA
By Vedalankar, Bhim Singh (Dr) Rs. 950/-

वाङ्मुख

किसी भी भाषा को लघुतम उपाय से सीखने का साधन उसका व्याकरण होता है। संस्कृत भाषा के विषय में अष्टाध्यायी की भी यही स्थिति है। यद्यपि व्याकरण अपने आप में एक नीरस सा विषय होता है। अतः इतनी सुगमता से उसका प्रसाद सब को नहीं मिलता तथापि सुहृद्भूत भारतीय वैयाकरणों ने इस वस्तुस्थिति को हस्तामलकवत् अनुभव किया तथा उसके समाधान के रूप में उन्होंने गुडजिह्विका न्याय से व्याकरण को लोक से अभिन्नतरक मानकर उसके साथ लोक का सीधा सम्बन्ध जोड़ते हुए "वृद्धिरादैच्" (पा. 1.1.1) सूत्र पर कण्ठरवेण यह सिद्धान्तित घोषणा की कि "यथा लोके तथा व्याकरणे" अर्थात् जैसा व्यवहार, नियम या व्यवस्था लोक में प्रवृत्त होती है वैसी ही व्यवस्था व्याकरणशास्त्र में भी होती है। यह लौकिक व्यवस्था ही शास्त्र में न्याय या लोकन्याय बन जाती है।

व्याकरण लोक का अपवाद नहीं है अर्थात् शास्त्र का सारा व्यवहार लोकाधीन या लौकिक विवक्षाधीन होता है। जैसे शब्दों के लिङ्ग का ही प्रश्न है, इस सन्दर्भ में भाष्यकार पतञ्जलि ने अनेक लौकिक और शास्त्रीय युक्ति-प्रयुक्तियां देकर समाधान करने का प्रयास किया परन्तु उस अवस्था में भी अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोष रहने से भाष्यकार को "स्त्रियाम्" (पा. 4.1.15) सूत्र पर अगत्या यह कहना पड़ा - "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य"। भाव यह है कि विशिष्ट वाचोयुक्ति की प्रयुक्ति द्वारा भाष्यकार लोकव्यवहार का सर्वथा परित्याग नहीं करते। इसीलिए अनेकत्र "अकिञ्चित् कुर्वाणम्" इत्यादि ऐसे भी तात्कालिक प्रयोगस्थल आए हैं जो सर्वथा शास्त्रसम्मत नहीं होते परन्तु फिर भी लोक में उनके अभिधान या गमकत्व को देखकर यहां व्याकरण में गो, गावी आदि के समान उनके साधुत्वासाधुत्व पर भी विचार किया गया है- "लोके प्रयुज्यमानस्य साधुत्वमसाधुत्वं च विचार्यते गोगाव्यादि शब्दवत् .... गाव्यादिवदसाधुरपि गमकत्वाभिमतो लोके प्रयुज्यते" (महा. भा. 2. प्र. सू. 2.1.1 पृ. 503-4)।

इसलिए व्याकरणशास्त्र में लोकप्रयोग या शिष्ट लोकप्रयोगों का मूर्धाभिषिक्त स्थान है। शब्दों के साधुत्वासाधुत्व का निर्णय ही यहां अभिधान-अनभिधान या गमकत्व और विवक्षा-अविवक्षा रूप शिष्ट लोकप्रयोगों के आधार पर ही किया जाता है। इसे ही काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में "स्थितेष्वेतत् समर्थनम्" कहकर मान्यता प्रदान की गई है। यद्यपि यहां कहीं-कहीं पर सूत्रों के अपवादस्वरूप अप्रसिद्ध या अप्रयुक्त उदाहरण

भी देखे जाते हैं तथापि वे चिरन्तनप्रयोगानुरोधात् ही जानना चाहिएं, सिद्धान्ततः नहीं। इस प्रकार जैसे यहां शब्दसाधुत्व के विषय में शिष्ट लोक ही प्रमाण हैं वैसे ही यहां इस प्रेक्षापूर्वकारी शिष्ट लोक में प्रयुज्यमान न्याय या नियम भी उतने ही प्रमाणभूत हैं। लोकन्याय से तात्पर्य है कि जहां किसी विषय के स्पष्टीकरण, समर्थन या विरोध के लिए शिष्ट लोकारूढ औचित्यपूर्ण, सादृश्यपरक व्यवहार या लौकिक निदर्शनात्मक दृष्टान्त, सूक्ति, लोकोक्ति, कहावत, मुहावरा या सूत्रवाक्य अथवा शब्दों/धातुओं के बह्वर्थप्रतिपादक लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हों। लोकन्याय की उपर्युक्त परिभाषा सम्भवतः अतिव्याप्त प्रतीत होने पर भी निगूढाकूति भाष्याशय को देखते हुए लक्ष्यानुरोधात् व्याकरण शास्त्र में तो स्वीकार्य ही होनी चाहिए। जैसे भाष्यकार ने "तस्मान्न वैयाकरणैः शक्यं लौकिकं लिङ्गमास्थातुम्। अवश्यं च कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः" ऐसा कहते हुए शब्दों के लिङ्ग की स्वशास्त्रीय परिभाषा देकर एक नूतन दिशा दिखाई थी वैसे ही उपर्युक्त न्याय की स्वशास्त्रीय परिभाषा भी केवल व्याकरणशास्त्रैकगम्य जाननी चाहिए।

भारतीय पठन-पाठन की परम्परा में संस्कृत व्याकरण का अभिप्राय साधारण जन के लिए प्रायः पाणिनिव्याकरण (अष्टाध्यायी) ही होता है। इसमें सूत्रशैली की महनीय विशेषता = लघुता एवं संक्षेप के साथ-साथ व्यापकता = का मणिकाञ्चन संयोग हुआ है। कविक्रतु आचार्य पाणिनि के सूत्रों का सर्वातिशायी एवं कालजयी यह वैशिष्ट्य अवलोकनीय है कि उनमें लक्ष्यानुसार रबड़ की तरह अर्थविस्तार की पर्याप्त सम्भावना अन्तर्निहित है। यह वैयाकरण के व्यक्तिगत सामर्थ्य पर निर्भर करता है कि वह अनुवृत्ति, सन्धिच्छेद, योगविभाग, निपातन तथा ज्ञापक आदि विधियों का उपयोग करते हुए कितना लक्ष्यसंस्कार या लक्ष्यसंग्रहरूप अर्थ निकाल सकता है। सूत्रों की इस अपार सम्भावना के कारण ही उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने अनेक आपाततः अपाणिनीय प्रतीत होने वाले प्रयोगों को भी शास्त्रानुमोदित किया। दुर्घटवृत्ति इत्यादि इत्यादि ग्रन्थ इसमें प्रमाण हैं। मैं ऐसा मानता हूं कि यूं तो काल की परिभाषा न देने के कारण पाणिनिव्याकरण को "अकालक" कहा गया है- "पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्" (का. भा. 1. सू. 2.4.21 पृ. 266) परन्तु अर्थविस्तार की दृष्टि से भी यदि पाणिनिव्याकरण को 'अकालक' अर्थात् कालातीत या सब कालों में उपयोगी मान लिया जाए तो भी कोई अनौचित्य नहीं होगा। इसी प्रकार अष्टाध्यायी के महत्त्व की दृष्टि से "आकुमारं यशः पाणिनेः" (महा.भा. 1 सू. 1.4.89 पृ. 347) इत्यादि प्राचीन आभाणकों को परम्परीण अर्थ के साथ-साथ कन्याकुमारी पर्यन्त पाणिनीय यश के अर्थ में लेना भी कोई दोषावह नहीं है। कहना न होगा कि सूत्रों की इस अपरिमित अर्थशक्ति के विषय में लोकन्याय ही अनुग्राहक हैं। ध्यान रहे कि प्रयोगमूलक इस संस्कृतव्याकरणस्मृति में लक्ष्य का प्रयोग ही मुख्य है। साधनप्रक्रिया तो काल्पनिक होने से गौण ही है। अतः न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि के अनुसार "एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते यदयं लक्ष्यदर्शनवशेन क्वचिदभिधानमाश्रयति क्वचिन्न्यायं क्वचिद्वचनं चाश्रयति" (न्या. [का.भा. 4. सू. 5.

1.12 पृ. 23]) ऐसा देखा जाता है। उदाहरण के रूप में जैसे सकृद्गति तथा पुनः प्रसङ्गविज्ञान ये दो विरोधी न्याय हैं। परन्तु लक्ष्यानुरोध से अन्यतर का आश्रयण कर लिया जाता है - "उभयमपि प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्" (का. भा. 4. सू. 5.1.94, पृ. 84) तथा "पाणिनेस्तूभयं मतम्, लक्ष्यानुरोधात् क्वचित् किञ्चिदाश्रीयते" (न्या. भा. 5. सू. 6. 4.101 पृ. 454)। यह न्यायों की ही शक्ति है जो शास्त्रीय अव्याप्ति-अतिव्याप्ति को नियन्त्रित करती है - "नानिष्टार्था शास्त्रप्रक्लृप्तिः"।

परन्तु इन न्यायों के अर्थ की भी एक मर्यादा है। अतः भाष्यकार ने लोक में रहते हुए भी, उसको समुचित आदर देते हुए भी, लक्ष्यानुरोधात् अनेकत्र लोकव्यवहार को भी नई दिशा देकर एक वरिष्ठ, गम्भीर, प्रचेता एवं उत्तरदायी नागरिक होने का परिचय भी दिया है। फलतः भाष्यकार शब्दसाधुत्व के विषय में जहां लोक का पृष्ठतः अनुगमन करने की बात करते हैं वहीं कहीं-कहीं पर लक्ष्यानुरोध से उनके द्वारा इसका व्यतिक्रमण भी हुआ है। नागेश के शब्दों में- "अतिप्रसङ्गस्तु लक्ष्यानुसारेण क्वचिल्लोक-न्यायानाश्रयणेन परिहरणीयो भवति यदि प्राप्नोति। एवं च न कश्चिद्दोषः" (लघुशब्देन्दु शेखर, "स्थानिवत्" सूत्र, पृ. 77)। वस्तुतः जैसे स्वयं लोक और वेद के व्यवहारों में भी नियम की व्यवस्था देखी जाती है वैसे ही फिर समानन्याय से व्याकरणशास्त्र में भी शाब्दिक नियमसम्बन्धी व्यवस्था का होना आवश्यक है जिसके लिए व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य बन जाता है। इस दृष्टि से भाष्यकार लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए यत्र-तत्र लोक की अपेक्षा शास्त्र को प्रधानता देकर अपनी तरफ से ही लोकव्यवहार में भी कुछ संशोधन प्रस्तावित करते हैं। जैसे शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति का प्रश्न है, यहां भाष्यकार ने कण्ठरवेण कहा है कि लोक में, भले ही, जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्द प्रयुक्त होते हैं। परन्तु सिद्धान्ततः शब्दों की प्रवृत्ति तो त्रयी ही माननी चाहिए—जाति, गुण और क्रिया। शास्त्र में यदृच्छा शब्दों पर विचार नहीं करना चाहिए प्रत्युत उनके स्थानापन्न जो न्याय्य या यौगिक संज्ञा शब्द हैं, जैसे- लृतक = ऋतक और लृफिड = ऋफिड, उनकी कल्पना करके शास्त्रीय प्रक्रिया का निर्वाह कर लेना चाहिए। लौकिक व्यवहार को सुधारने के प्रसङ्ग में भाष्यकारप्रोक्त लिङ्ग की स्वशास्त्रीय "संस्त्यानप्रसवौ" इत्यादि परिभाषा भी उपोद्बलक है।

महत् सुविहित पाणिनीय अष्टाध्यायी पर लिखा गया अलब्धगाध महाभाष्य सौष्ठव के कारण उत्पन्न ऐसे लोकन्यायों का अक्षय उपजीव्यभूत आकर या खनि है जिन्हें पढ़कर पाठक वाः वाः कह उठते हैं अर्थात् एक तरफ तो उनकी आंखों से आनन्द के आंसू (वारि) गिरने लगते हैं तथा दूसरी तरफ उनके मुख से वाह-वाह ऐसे प्रशंसापरक वाक्य निकल पड़ते हैं। वाग्योगवित् भाष्यकार का यह पूरा प्रयास रहा है कि सारे व्याकरणिक सिद्धान्त लोकन्यायों से ही समर्थित हों। इसीलिए ये शास्त्रीय युक्ति देकर भी मानों अपरितुष्ट से होते हुए पुष्कल परिहारों के द्वारा प्रपञ्चार्थ या

न्याय व्युत्पादनार्थ विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए बाद में शृङ्गग्राहिका न्याय से उस पर लोकव्यवहार की भी मुहर या अनुमोदन करवाते हैं। इतना ही नहीं, सुस्पष्ट बात को भी पर्जन्यवर्षण न्याय से उदाहरणान्तरों द्वारा पुनः सुस्पष्टतरक बनाते हैं, जैसे- "तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते न्याय" तथा "अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमितार्थो गम्यते न्याय" इत्यादि। लेखक का यह विचार है कि भाष्य को सम्यक् समझने के लिए व्यक्ति को शास्त्र के साथ-साथ लोकव्यवहार का भी अधिकलक्ष्यदर्शी, बहुदर्शी तथा बहुश्रुत होना आवश्यक है। इसी विषय में नागेश भी लिखते हैं - "लक्षणैकचक्षुष्कैर्लोकस्वभावमजानद्भिः क्वैकार्थीभावो, नित्यः, क्व पाक्षिकः, क्व नास्त्येवेत्यर्थस्य ज्ञातुमशक्यत्वेन, तद्बोधनाय तेषामावश्यकत्वात्" (बृ. श. शे. भा. 2. सू. 665, पृ. 976)। कुशलमति भाष्यकार से हमें असूया नहीं करनी चाहिए कि उन्होंने कुछ सिद्धान्तों को तो लोकविदित/लोकसिद्ध दिखा दिया और शेष को नहीं। वास्तव में उन्होंने यह समन्वय करने की दिशामात्र ही दिखाई है। इसीलिए पश्चाद्वर्ती वैयाकरणों ने इनकी इस दिशा का अनुगमन करते हुए पर्याप्त अन्य शेष सिद्धान्त भी लोकन्यायसिद्ध दिखाए हैं। व्याकरण का अनुशासन भी प्रयोगमूलक होता है तथा न्याय भी प्रयोगमूलक होते हैं। अतः दोनों में समानता होना परमावश्यक एवं स्वाभाविक ही है। इस दृष्टि से ये न्याय तो, वास्तव में, देहलीदीप न्याय द्वारा लोक तथा शास्त्र दोनों में अभूतपूर्व सामञ्जस्य उत्पादित करने वाले तत्त्व हैं। क्योंकि इन न्यायों का उत्स या मूल स्रोत भी जीवन, समाज, राजा, प्रजा, पशु, पक्षी, काव्य, प्रकृति, आकाश, ग्रह आदि क्षेत्र ही हैं जहां या जिनके विषय में मानव व्यवहार के लिए भाषा या व्याकरणसंचालित भाषा का आदि काल से ही उपयोग करता रहा है।

यहां एक बात अवश्य उद्धरणीय है कि भाष्यकार न्यायों से किसी बात को सिद्ध करके भी उसको स्वीकार करने या न करने का निर्णय प्रायः पाठक पर ही छोड़ देते हैं। जहां कोई भी शास्त्रीय या लौकिक युक्ति न चले वहां भाष्यकार हाथ खड़े कर देते हैं और सहसा कह उठते हैं- "देवा एवैतज्ज्ञातुमर्हन्ति"। वैसे अपवादस्वरूप कहीं-कहीं "तस्मादस्तु स एव मध्यमः पक्षः" ऐसा भी देखने में आया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अक्षिपात्रकल्प विद्वान्, क्रान्तदर्शी एवं कविक्रतु भाष्यकार आदि वैयाकरणों को बहुत पहले ही यह सम्प्रत्यय हो गया था कि यदि व्याकरण को लोकप्रिय तथा स्थायी बनाना अभीप्सित है तो उसे लोक के साथ जोड़ना अत्यन्त अपरिहार्य है। अथवा अभिधान की सार्थकता भी इससे सिद्ध होती है। जैसे पौधों की जड़ों के स्थान पर पत्तों में पानी देने से उनका विकास नहीं होता वैसे ही केवल शुष्क सूत्र या तर्क प्रस्तुत करने से भी व्याकरणशास्त्र दीर्घस्थायी नहीं हो सकता। क्योंकि "अगत्या हि खलु परिभाषा (सूत्रं) आश्रीयते" (न्या. [का.भा. 5 सू. 6.4.1 पृ. 324])। इस सन्दर्भ में भर्तृहरिप्रोक्त शुष्कतर्कानुसारी बैजि, हर्यक्ष, सौभवादि का इतिहास प्रमाण

है। फलतः इन्होंने लोकन्याय रूप छौंक या उपस्कार से लघुप्रक्रम पद्धति अपनाते हुए व्याकरण के दुरवगाह सिद्धान्तों को भी इतना सुबोध, सुज्ञान और सुरुचिपूर्ण बना दिया कि अबुध या मन्दबुद्धियों की भी व्याकरणाध्ययन में रुचि उत्पन्न हो गई और संस्कृत भाषा लोकप्रिय होने लगी। परिणामतः अश्वघोषादि बौद्ध कवि लोग भी पालि और प्राकृत को छोड़कर संस्कृत में कविता लिखने लगे।

ध्यातव्य है कि "वेदान्नो वैदिकाः शब्दा लोकान्नो लौकिकाः। किमर्थमध्येयं व्याकरणम्" (पस्पशा.)-कुशलमति भाष्यकार के इस कथन से यह स्पष्ट अनुमित होता है कि उन दिनों लोग संस्कृत भाषा सीखने के लघुभूत उपाय व्याकरण से कुछ उदासीन हो रहे थे। भर्तृहरि ने भी इसका संकेत किया है। भाष्यकार ने इस गम्भीर समस्या को पहचाना तथा व्याकरणज्ञान के अभाव में भविष्यत् में संस्कृत (वैदिक तथा लौकिक) की शुद्धता के प्रसङ्ग में होने वाली पीड़ा को भी अनुभव किया। ऐसी स्थिति में विप्रतिपन्न बुद्धिवाले लोगों को संस्कृत के सुरक्षाकवचरूप व्याकरणाध्ययन से विमुख होने से रोकने के लिए सुहृद्भूत भाष्यकार ने प्रतिज्ञा की और सप्रमाण एवं सप्रयोजन व्याकरणाध्ययन का सम्बन्ध लोक से प्रतिपादित करके आगम वचनपरिपालनार्थ, अन्यथा प्रत्यवायभाक् होने का भय था, उसका अध्ययन सबके लिए अनिवार्य घोषित किया- "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।" क्योंकि भाष्यकार यह बात अच्छी तरह से जानते और मानते थे कि कोई भी लौकिक परीक्षक कदापि लोकव्यवहार का अपलाप नहीं कर सकता। लोकव्यवहारसिद्ध बात तो, चाहे-अनचाहे, सबको माननी ही पड़ती है। परिणाम सबके सामने है। इतिहास साक्षी है कि पतञ्जलि के काल में ही नहीं अपितु बाद में भी संस्कृत भाषा "विदुषां कण्ठहारः" बन गई तथा "पाणिनेः सूत्रकारस्य" (महा. भा. 1. सू. 2.2.11पृ. 414), "आकुमारं यशः पाणिनेः" (महा. भा. 1 सू. 1.4.89 पृ. 347), "इति पाणिनि" (का. भा. 2. सू. 2. 1. 6. पृ. 22) इत्यादि के जयघोष सर्वत्र सुनाई देने लगे। वास्तव में लोकन्याय "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" के स्थान पर "नीरसतरुरिह विलसति पुरतः" इस विधि से अध्येता के मानस पटल पर अविस्मरणीय प्रभाव छोड़ते हुए चिरस्थायी बनने का सामर्थ्य रखते हैं।

ध्यान रहे कि यद्यपि कहीं-कहीं पर भाष्य में "न यथा लोके तथा व्याकरणे" (महा. भा. 1. सू. 1.1.23 पृ. 81), "लौकिकं चातिवर्तते" (महा. भा. 1. सू. 1.4.56 पृ. 340) तथा "उभयगतिरिह भवति" (महा. भा. 1. सू. 1.1.23 पृ. 81.) ऐसे कथन भी उपलब्ध होते हैं तथापि उसे लक्ष्यानुरोधात् अपवादस्वरूप किया गया कथन ही समझना चाहिए, सिद्धान्ततः नहीं। व्याकरण का निष्कृष्ट सिद्धान्त तो यही है कि "यथा लोके तथा व्याकरणे"।

आज संस्कृत के इस ह्रास के युग में भी परिस्थिति कोई अधिक सुखद नहीं है। लोकन्यायों के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भाष्यकार के

समय (150 ईसा पूर्व) तो फिर भी संस्कृत व्यावहारिक भाषा थी परन्तु आज तो वह स्थिति भी नहीं है। अतः भारतीय संस्कृति की संवाहिका संस्कृत की रक्षा करने के लिए पहले उसके संरक्षक, त्रयी वाक् के परम पद, छन्दस् या वेद पुरुष के अङ्गों में मुख्य, प्रधान और उत्तम अङ्ग स्वयं व्याकरण की रक्षा होनी चाहिए। क्योंकि भारतीय वैयाकरणों के अनुसार व्याकरणाध्ययन भी एक प्रकार का अभ्युदय, सर्वपुण्यफलावाप्ति, अदृष्ट या धर्माचरण जैसा अनुत्तम कार्य है। अतः यदि इसकी रक्षा नहीं होगी तो फिर संस्कृत सुरक्षित नहीं रह सकती। क्योंकि-

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः"। (मनु. 8.15)

ऐसी स्थिति में संस्कृत के सुरक्षाकवच के रूप में स्थित व्याकरणाध्ययन में रुचि उत्पन्न करने-कराने के लिए क्यों न हम भी राष्ट्रभाषा के माध्यम से अभियुक्ततर भाष्यकार वाला राजमार्ग अपनाएं? लेखक को पूरा विश्वास है कि भाष्यकार द्वारा प्रदर्शित इस लोकन्यायपरक अजिह्म राजपद्धति पर चलने से निश्चय ही संस्कृत तथा नान्तरीयक उपायभूत व्याकरण सुगमतया ग्राह्य होकर अवश्य लोकप्रिय हो सकेंगे और जनताजनार्दन की संस्कृत के प्रति रुचि उत्पन्न कर सकेंगे। और जो वस्तु लोकप्रिय होती है, वह बिना किसी प्रलोभन या दबाव के स्वतः ही "विदुषां कण्ठहारः" बन जाती है। सम्भवतः इसीलिए भाष्यकार ने जो दिशा दिखाई थी, उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने उसे और भी पल्लवित एवं पुष्पित किया। फलतः उन्होंने भी अनेक स्वोपज्ञ न्याय उपस्थापित करके व्याकरण को यथासंभव और अधिक सरस एवं ग्राह्य बनाया। प्रकृत लेखक ने भी कुशकाशावलम्बन न्याय से कुछ प्राचीन तथा कुछ स्वोपज्ञ न्यायों के विवेचन द्वारा पूर्वाचार्यप्रवर्तित परम्परा को और आगे बढ़ाया है:-

"तदेतत् प्रतिपद्यन्तां भाष्ये कृतपरिश्रमाः।
नान्ये सहस्रमप्यन्धाः सूर्यं पश्यन्ति नाञ्जसा॥
एवं प्रकटितोऽस्माभिर्भाष्ये परिचयः परः।
तस्य निःशेषतो मन्ये प्रतिपत्तापि दुर्लभः॥"

प्रकृत ग्रन्थ जहां संस्कृत के सामान्य पाठक के लिए साधारणरूपेण उपयोगी होगा वहां व्याकरण एवं भाषाविज्ञान के अध्येताओं के लिए तो विशेषरूपेण ज्ञानवर्धक होगा - ऐसा मेरा विश्वास है। क्योंकि इसके द्वारा अनेक दुरूह एवं दुर्विज्ञान व्याकरण शास्त्रीय ग्रन्थियों के समझने-समझाने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। उदाहरण के रूप में कारक को द्रव्य (शक्तिमान्) से पृथक् शक्ति या गुण सिद्ध करने में नाना कारक या गुणसाधन न्याय की भूमिका किसे आकृष्ट नहीं करती? यही सिद्धान्त आगे चलकर "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" सिद्धान्त को जन्म देता है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ लोकन्यायविषयक कोश का भी काम करेगा। फलतः यह कोशप्रेमी विद्वानों का

मनोविनोद करेगा। प्रकृत न्याय सरलतया बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोध से गुप्त कोश के समान अनेक गुप्त ग्रन्थ-ग्रन्थियों को स्पष्ट करने में समर्थ हैं। इसके साथ ही व्याकरणशास्त्रोक्त इन लोकन्यायरूप कहावतों, मुहावरों, दृष्टान्तों आदि को लेकर विश्वसाहित्य में प्रयुक्त proverbs का तुलनात्मक अध्ययन भी हो सकता है। क्योंकि बहुत से न्याय आज भी देशी या भारतीय तथा अन्य भाषाओं में रूपान्तरित होकर प्रयुक्त देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त इन न्यायों के प्रयोग से लेखक की भाषा में सामासिकता, प्रयोगवैलक्षण्य, अभिव्यक्तिसामर्थ्य तथा सौन्दर्य तो बढ़ता ही है।

यों तो इस विषय की गरिमा को अनुभव करके बहुत से पूर्व्य पथिकृत् विद्वानों ने इस दिशा में पर्याप्त स्तुत्य कार्य किया है जिनमें वाचस्पत्यम्, आप्टे आदि कोश, लौकिकन्यायाञ्जलिः, न्यायोक्तिकोश, लौकिक न्यायानुशीलन तथा व्याकरणशास्त्रे लौकिकन्यायानामुपयोगः इत्यादि प्रमुख हैं। इस प्रसङ्ग में लौकिकन्यायाञ्जलि में न्यायों के मूलस्रोत को दिखाने का बड़ा श्रमसापेक्ष कार्य हुआ है। लौकिकन्यायानुशीलन में लोकन्याय तथा उसके समानार्थक शब्दों का बड़ा प्रशस्य सैद्धान्तिक विवेचन किया गया है जोकि अन्यत्र एकत्र दुर्लभ है। इस दृष्टि से प्रकृत ग्रन्थ में भी इससे कृतज्ञतापूर्वक सहायता ली गई है। डा. शुक्ल ने जिस भाष्यकारीय रीति से सरल संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हुए कुछ प्राचीन एवं कुछ स्वोपज्ञ उदाहरणमूलक लोकन्यायों का व्याख्यान किया है, वह भी पर्याप्त मनोहारी बन पड़ा है। यह ग्रन्थ लिखते समय उक्त ग्रन्थ को भी देखा गया है। फिर भी मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि इन सब की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। तदनुसार किसी में केवल लोकन्याय की व्याख्यामात्र है, उसका उसके उत्स शास्त्रीय सन्दर्भ से कोई अन्वय या संगति नहीं दिखाई गई है। किसी में केवल साहित्य या दर्शनादि शास्त्रों में प्रयुक्त लोकन्याय ही संगृहीत एवं व्याख्यात हुए है, व्याकरण के नहीं। किसी में केवल हिन्दीभाषा की दृष्टि से ही न्यायों का विवेचन हुआ हैं और किसी में व्याकरण के पूरे लोकन्याय व्याख्यात न होकर केवल कुछ प्रमुख न्याय ही चर्चित हुए हैं और जो विवेचित भी हुए हैं, उनका भी पूरा सन्दर्भ स्थल (अता-पता) तथा वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं है। ऐसी स्थिति में यथाशक्ति, यथासम्भव समग्र व्याकरणशास्त्र में उपलब्ध होने वाले लोकन्यायों को लेकर आज भी शोध का पर्याप्त अवकाश है। कर्नल जैकब ने भी सब न्यायों को व्याख्येय मानते हुए मुक्तकण्ठ से इनका महत्त्व स्वीकार किया है। इसीलिए कुछ समय पूर्व मेरे एक पत्र के उत्तर में अमेरिकावास्तव्य डॉ. जार्ज कार्डोना ने भी कहा था-

"व्याकरणशास्त्रे प्रयुक्तान् लौकिकान् न्यायानधिकृत्य भवतो विचारं पठित्वा अतीवामोदिषि मे मनो यतः सुष्ठु दृष्टं भवता - महाभाष्ये पदे-पदे लौकिका न्याया दृष्टान्ताश्चाश्रिता कण्ठरवेण चोक्ता इति। अपि च मन्ये, अद्य यावदन्येन केनापि प्रामाणिकेन विदुषा व्याकरणग्रन्थेषु प्रयुक्ता लौकिका न्याया न सम्यक् समाहृता

विचारिताश्च। तेनात्र विषये भवतो विरचितो ग्रन्थः कमनीयमौलिकतामावक्ष्यतीति श्रद्दधे"।

ऐसी स्थिति में लेखक का यह प्रयास इसी अभाव की पूर्ति की दिशा में एक विनम्र प्रयत्न है। यहां व्याकरणशास्त्र के पूरे लोक न्यायों के संग्रह करने की तो प्रतिज्ञा मैं नहीं करता परन्तु मेरे पास उपलब्ध अनेक व्याकरणिक ग्रन्थों के आलोक में मैंने निष्ठापूर्वक न्याय संग्रह किए हैं। यद्यपि न्यायों की व्याख्या को महत्त्व देते हुए मैं प्रारम्भ में इस ग्रन्थ का नाम व्याकरणशास्त्रीय लोकन्यायप्रदीप रखना चाहता था। इसमें कैयट तथा नागेश के साथ-साथ मेरे दोनों आत्मज भी अनुगृहीत हो सकते थे तथापि न्यायों की संख्या के कारण अन्त में इसे लोकन्यायरत्नाकर नाम ही दे दिया गया। तदनुसार यहां लगभग 800 लोकन्याय विवेचित एवं उद्धृत हुए हैं। यहां इन लोकन्यायों की मूलस्रोत/सन्दर्भ के उल्लेखपूर्वक व्याख्या करते हुए उनकी व्याकरणशास्त्रीय सन्दर्भ के साथ पूरी अन्विति तथा संगति बैठायी गई है। तदनुसार प्रसङ्गप्राप्त कुछ कम ज्ञात परन्तु उपयोगी एवं गम्भीर गौण-मुख्य सभी सम्बद्ध शास्त्रीय विषय, उनकी साधक-बाधक व्याख्या तथा आलोचना-प्रत्यालोचना के साथ, अनायास ही यहां विवेचित हो गए हैं। साथ ही उपलब्ध ग्रन्थों के आलोक में ही यह भी पूरा विवरण दिया गया है कि कोई लोकन्याय मूलरूपेण प्रथम बार किस व्याकरणिक ग्रन्थ में कितनी बार कहां-कहां प्रयुक्त हुआ है।

इसके अतिरिक्त इन न्यायों का बड़ा विस्तृत क्षेत्र है। इसलिए व्याकरणशास्त्र के साथ-साथ यदि व्याकरणेतर अन्य शास्त्रों में भी वह न्याय प्रयुक्त हुआ है तो उसका भी यथाशक्ति यथामति सन्दर्भ देने का अकपट प्रयास किया है। ऐसा करना जहां लोकन्यायविषयक भावी शोध का आधार बनेगा कि किस लोकन्याय से कौन-कौन सी व्याकरणशास्त्रीय ग्रन्थियां सुलझेगी - यह स्पष्ट हो सकेगा वहां लोकन्यायों के अपने स्वरूप का भी स्पष्ट ज्ञान तथा परिष्कार होगा। प्रकृत प्रसङ्ग में व्याकरणेतर ग्रन्थों के सन्दर्भ तथा इनके पृष्ठाङ्कन आदि देने के विषय में लेखक कर्नल जैकब के लौकिकन्यायाञ्जलि ग्रन्थ का ऋण स्वीकार करता है। इस तरह इस अध्ययन से जहां शब्दसाधुत्वसम्बन्धी संशय या विचिकित्सा सुगमतया परिहृत होगी तथा व्याकरणिक एवं आधुनिक भाषावैज्ञानिक सिद्धान्तों का व्यापक प्रामाणिक ज्ञान होगा वहां संस्कृत भाषा भी पाठकों को सर्वथा अपरिचित नहीं प्रतीत होगी। इससे संस्कृत के व्यावहारिक भाषा न होने या मृत भाषा होने का आरोप भी निर्मूल सिद्ध हो सकेगा। अभिधान तथा एकशेष प्रकरणादि से सम्बद्ध लोकन्याय इसमें प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त यह विवेचन राष्ट्रभाषा हिन्दी में होने से जहां इसको पाठक अधिक मिलेंगे तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के गौरव में अभिवृद्धि होगी वहां संस्कृत या उसके व्याकरण के प्रति भी लोगों की धारणा अवश्य परिवर्तित होगी। ध्यान रहे कि अन्य भाषाओं के व्याकरण तो प्रायः

शब्दों के साथ खिलवाड़ करते हैं जबकि संस्कृतव्याकरण भाषासंस्कार के साथ-साथ अपने अध्येताओं को धर्म, मोक्ष, अभ्युदय, पुण्यफल या अदृष्ट प्राप्त कराने का भी आश्वासन प्रदान करता है। वस्तुतः यह व्याकरण तो लोक तथा शास्त्र, यहां तक कि स्वर्ग में भी, अद्भुत समन्वय करने वाला है। क्योंकि "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति" ऐसा आगमवचन है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि लोकन्याय इस समन्वय यज्ञ में आज्याहुति के समान हैं।

अध्ययनसुविधा के लिए प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ को अध्यायों / उद्द्योतों में विभक्त किया जाता है। परन्तु प्रकृत लोकन्यायों का वर्गीकरण बड़ा कठिन कार्य था। क्योंकि एक ही सिद्धान्त की स्थापना के लिए भाष्यकार अनेक विभिन्न क्षेत्रों के उदाहरण प्रस्तुत कर देते हैं, जैसे "तदेकदेशभूतः" या "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" सिद्धान्त के प्रतिपादन में देवदत्तास्थगर्भ न्याय तथा "गङ्गायमुनाग्रहण न्याय"। अब इनमें प्रथम न्याय तो समाजसंगठन से सम्बद्ध है तथा दूसरा भौगोलिक पर्वत एवं नदीवर्ग से। इन्हें एक साथ वर्गीकृत कैसे किया जाए - यह विकट समस्या थी। ऐसी स्थिति में मैंने तो अपनी साधारण बुद्धि द्वारा पर्याप्त विचार करके इस क्षेत्र के पूर्व्य पथिकृत् डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल तथा डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री द्वारा प्रदर्शित अध्याय या उद्द्योत योजना का अनुसरण करते हुए यहां एक ही न्याय को उसमें प्रयुक्त उदाहरणों के आधार पर तत्तत् वर्गों में उपन्यस्त किया है अर्थात् प्रत्येक वर्ग के क और ख दो भाग करते हुए इनमें क्रमप्राप्त प्रमुख उदाहरण के कारण क भाग में तो उस न्याय की पूरी प्रासङ्गिक व्याख्या तथा पूरे सन्दर्भनिर्देश दे दिए गए हैं परन्तु ख भाग में उसमें प्रयुक्त अन्य शेष उदाहरणों के आधार पर उसे केवल नामनिर्देश के साथ तत्तत् वर्गों/उद्द्योतों में भी रखा गया है अर्थात् गौरवभिया वहां उसका पूरा सन्दर्भ तथा व्याख्या न देकर केवल उसका नाम और व्याख्यात स्थल का पृष्ठाङ्कनमात्र दे दिया गया है। ऐसा करने का यह लाभ होगा कि फिर पाठक को यह स्पष्ट ज्ञात हो सकेगा कि व्याकरण में पशुसम्बन्धी या पक्षीसम्बन्धी इत्यादि कितने न्याय हैं, उनके क्या-क्या स्वभाव आदि हैं तथा वे कहां-कहां पर विवेचित हैं। इस प्रसङ्ग में उक्त वर्गीकरण की प्रामाणिकता अमरकोष से भी प्रमाणित होती है। क्योंकि वहां भी मनुष्यवर्ग तथा वनौषधिवर्ग इत्यादि के रूप में ही वर्गीकरण किया गया है। इसी दृष्टि से भौगोलिक तथा आर्थिक आदि उद्द्योतों के मूल भाव पर भी प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं समझी गई अपितु न्यायों की व्याख्या को ही प्रधानता दी गई है। इसके साथ ही यहां प्रकरण, प्रसङ्ग, अन्वय या भाव के अनुरोध अथवा इनकी दृष्टि से भी एक ही विषय से सम्बद्ध न्यायों को ऐतिहासिक पौर्वापर्य की उपेक्षा करते हुए एकत्र ही व्याख्यात किया गया है, जैसे लक्षणामूलक न्याय, साहचर्यमूलकन्याय, अधिकारसूचक न्याय, प्रधानाप्रधान न्याय, विप्रतिषेधमूलक न्याय, दार्शनिक न्याय तथा विवक्षामूलक

न्याय इत्यादि, भले ही उदाहरणों के कारण इनमें बहुत से न्याय उस वर्ग में न आते हों। परन्तु यहां भी जो न्याय प्रकृत वर्ग में व्याख्येय न होकर अन्यत्र व्याख्येय हैं, उन्हें भी पूर्ववत् केवल नामनिर्देशपूर्वक तत्तत् वर्गों में पुनः रखकर उनका व्याख्यात स्थल पृष्ठाङ्कित कर दिया गया है। इसका यह लाभ होगा कि पाठक को एक ही विषय से सम्बद्ध लोक न्यायविषयक जानकारी एकत्र ही प्राप्त हो सकेगी। ग्यारह उद्द्योतों के इस ग्रन्थ में यह भी प्रयास रखा गया है कि विवेच्य प्राथमकल्पिक न्यायों के उपस्थापन में प्रायः ऐतिहासिक कालक्रम अक्षुण्ण रहे। ग्रन्थारम्भ में विषयानुक्रम के साथ-साथ ग्रन्थ के अन्त में भी विभिन्न परिशिष्टों में संदर्भ ग्रंथ-सूची के साथ-साथ व्याख्यात / उद्धृत न्यायों की एक अकारादिक्रमसंवलित अनुक्रमणिका दी गई है जिससे निस्सन्देह पाठकों को सुविधा अनुभव होगी। तृतीय परिशिष्ट में ग्रन्थ-प्रकाशन के अन्तिम चरण में दृष्टि-दोष से छूटे हुए लोकन्यायों का विवरण है। परन्तु अवधेय है कि इस सूची में भूमिका तथा सन्दर्भसूचीगत न्यायों को स्थान नहीं दिया गया है। इस प्रसंग में वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा में उद्धृत मोषवदि न्याय प्रभृति एकाध न्याय ऐसा भी देखने में आया है जो अनुपलब्ध मूल होने के साथ-साथ अस्पष्ट भी रहा है उन्हें यहाँ छोड़ दिया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी चर्चितव्य बिन्दू हैं जो इस ग्रन्थ के विस्तृत प्रथम उद्द्योत में देखे जा सकते हैं।

कृतज्ञताज्ञापन के प्रसङ्ग में मैं सर्वप्रथम पूज्य पिताश्री स्वर्गीय आचार्य विद्यानिधि शास्त्री को सादर प्रणाम करता हूँ जिन्होंने निरे श्रोत्रिय, वैदिक या विशुद्ध शास्त्रीय होने के कारण स्वयं कुछ कम लौकिक होते हुए भी मुझे अवश्य व्याकरणिक लोकन्यायों से प्रथम बार परिचित कराया। खेद है कि प्रकृत ग्रन्थ उनके जीवनकाल में प्रकाशित न हो सका। इसके बाद मैं डॉ. अभिमन्यु मलिक, प्रोफेसर संस्कृत विभाग, पञ्जाबी विश्वविद्यालय, पटियाला का भी कृतज्ञ हूं जिन्होंने समय-समय पर कतिपय बहुमूल्य व्यावहारिक सुझाव देकर मुझे उपकृत किया। निःसन्देह उससे ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ गया है। अपनी सहधर्मचारिणी श्रीमती रजनी के विषय में क्या कहूं ? उन्होंने पारिवारिक दायित्व का सम्यग् निर्वाह करते हुए भी दोनों आत्मजों और मेरे विप्रतिषेध में जो मुझे यह ग्रन्थ लिखने के लिए परत्वात् बलवान् (सावकाश) और प्रेरित किया उसमें प्रदीप और उद्द्योत इन दोनों बच्चों की बालसुलभ लीलाएं भी व्यवधान नहीं बन सकीं। इस अर्थ में मैं "गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ" इस कालिदासीय श्लोकानुसार उन्हें हृदय से साधुवाद देता हूं। आज इस महाकाय ग्रन्थ की निर्विघ्न सम्पन्नता के पावन पर्व पर मुझे जीवन में चरैवेति, चरैवेति का मन्त्र फूंकने वाले, कर्मठ कार्यकर्ता तथा हृदय के साथ बुद्धि के अद्भुत समन्वित रूप अपने बालसखा डॉ. वाचस्पति 'कुलवन्त', डाइरेक्टर डी.ए.वी. मैनेजमेण्ट कमेटी, को भी स्मृति सहसा आ जाती है जो सदा मुझे कुछ न कुछ करते रहने के लिए प्रेरित

करते रहे। प्रकृत ग्रन्थ के कुछ अंश की मुद्रण प्रति तैयार करने के लिए मैं अपनी छात्रा कुमारी सरला को भी शुभाशीर्वाद देता हूं। इस सन्दर्भ में मैं प्रकृत ग्रन्थ के प्रकाशक श्री जवाहरलाल गुप्त, संस्थापक- पेनमैन पब्लिशर्स, दिल्ली का भी हृदय से कृतज्ञ हूं जिनकी सतत प्रेरणा से यह ग्रन्थ आज इस इतने सुन्दर रूप में आ सका। इसी तरह मैंने जिन विद्वानों के ग्रन्थों से प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता ली है, उन सभी वर्तमान तथा दिवंगत विपश्चित् आत्माओं का भी मैं हार्दिक कृतज्ञ हूं। अन्त में भर्तृहरि के–

"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्तैररन्यैरन्य थैवोपपाद्यते॥"

इस कथनानुसार मैं कालिदास की निम्न उक्ति को स्वीकार करता हूं–

"आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥"

और विद्वानों की गुणग्राही दृष्टि का अभिलाषुक हूं। क्योंकि–

"विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।
न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम्॥
प्राज्ञो हि जल्पतां पुंसां श्रुत्वा वाचः शुभाशुभाः।
गुणवद्वाक्यमादत्ते हंसः क्षीरमिवाम्भसः॥"

ऐसी स्थिति में "गच्छतः स्खलनं क्वापि समादधति सज्जनाः" कहकर "क्षन्तव्यं च यदि किञ्चिदुद्ग्रन्थाभिधानं सूरिभिरित्युपरम्यते"

विदुषामनुचरः
भीमसिंह वेदालङ्कार

साङ्केतिक शब्द

अथर्व. : अथर्ववेदसंहिता
ऋक्. : ऋग्वेदसंहिता
का. प्र. : काव्यप्रकाश
कुमार. : कुमारसम्भव
जै. सू. : जैमिनीयसूत्र
त. बो. : तत्त्वबोधिनी
दु. वृ. : दुर्घटवृत्ति
द्र. : द्रष्टव्य
न्या. मं. : न्यायमञ्जरी
न्या. वा. ता. टी. : न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका
न्यास : न्यास/काशिकाविवरणपञ्जिका
प. मं. : पदमञ्जरी
परि. : परिभाषेन्दुशेखर
प. ल. म. : (वैयाकरणसिद्धान्त) परम लघुमञ्जूषा
पस्पशा : पस्पशाह्निक
पा. : पाणिनीयाष्टाध्यायी
पा. महा. प्र. सू. : पातञ्जल महाभाष्य में प्रत्याख्यात सूत्र
पृ. : पृष्ठ
प्रौ. म. : प्रौढमनोरमा
बा. म. : बालमनोरमा

बृ. श. र. : बृहच्छब्दरत्न
बृ. श. शे : बृहच्छब्देन्दुशेखर
ब्र. सू. : ब्रह्मसूत्र
भा. : भाग
भामती. : भामती टीका
मनु. : मनुस्मृति
महा. : महाभाष्य
महा. प्र. : महाभाष्यप्रदीप
महा. प्र. उ. : महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत[1]
मा. धा. : माधवीया धातुवृत्ति
मा. यजुः : माध्यन्दिन यजुर्वेदसंहिता
रघु. : रघुवंश
ल. श. र. : लघुशब्दरत्न
लौ. न्या. र. : लौकिकन्यायरत्नाकर
वा. प. : वाक्यपदीय
वै. भू. सा. : वैयाकरणभूषणसार
वै. सि. कौ. : वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
श. कौ. : शब्दकौस्तुभ
शिशु. : शिशुपालवध
सं. : संख्या
सू. : सूत्र

1. प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल महाभाष्य के साथ प्रदीपोद्द्योत टीकाओं के उद्धृत अंश का पृष्ठाङ्कन क्रमशः कीलहार्न / अभ्यङ्करसम्पादित तृतीय संस्करण तथा गुरुकुल झज्जर, रोहतक संस्करण से किया गया है।

विषयानुक्रम

प्रथम उद्द्योत

संस्कृत व्याकरण और लोकन्याय

(क) व्याकरण और लोक का सम्बन्ध

यह तो सुविदित ही है कि वर्तमान में समग्र वैदिक और लौकिक संस्कृत वाङ्मय को लघुतम उपाय से प्रायः पूर्णरूपेण आत्मसात् कराने वाले साधनों में पाणिनीय अष्टाध्यायी अन्यतम है। वृत्तज्ञ[1] एवं अनल्पमति[2] आचार्य पाणिनि ने अपने चौदह प्रत्याहार सूत्रों से बनने वाले केवल इकतालीस प्रत्याहारों के एक ही ताने-बाने में अतिविस्तृत वैदिक-लौकिक शब्दार्णव को बुनने का सफल प्रयास किया है। इसीलिए इन्होंने भाषागत दृष्टि से लोक के समान वेद को भी एक ही रचनाप्रक्रिया का अङ्ग घोषित किया है। आचार्य पाणिनि यह सब अप्रतिम कार्य, शरीर की दृष्टि से, अपनी सूक्ष्मेक्षिका-सम्पन्न किन्तु अर्थ की दृष्टि से, साथ में, उतनी ही अधिकारपूर्ण, सन्तुलित, संक्षिप्त, लघुभूत एवं व्यापकतायुक्त सूत्रशैली के कारण ही करने में समर्थ हुए। आचार्य पाणिनि की यह सामान्य-विशेषगुणसंवलित सूत्रशैली ही थी कि कोशकार जिस कार्य को हजारों पृष्ठों में भी न समेट सके, उसे इन्होंने कुछ ही पृष्ठों में सम्पन्न कर दिया। इसीलिए कहा भी है-

"सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सूत्रे सर्वं प्रतिष्ठितम्[3]॥"

परन्तु कहना नहीं होगा कि धीर, गम्भीर, प्रशान्त और कुशलमति आचार्य पाणिनि का यह सारा मानवमस्तिष्क का अद्‌भुत विराट् नमूना रूप प्रयास पूर्णतया लोकव्यवहार पर ही आधारित है। पाणिनि के अनुसार व्याकरण के लिए लोक ही एकमात्र ऐसा महत् आवपन[4] है जिसमें असीम शब्दराशि निहित होती है। आचार्य पाणिनि ने चरण, परिषद्, छन्द या ब्राह्मणों के सीमित क्षेत्र को छोड़कर शिष्ट लोक से शब्दसम्पदा का संग्रह किया। आचार्य, छात्र, नृप, सचिव, बनिया, गवाला, रंगरेज, भिक्षु इत्यादि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से आचार्य ने शब्द संकलित किए। इस लोक के प्रति पाणिनि की पदे-पदे अपरिमित श्रद्धाबुद्धि अनुभूत की जा सकती है। इनकी "प्रधान प्रत्ययार्थवचनस्यान्यप्रमाणत्वात्[5]" तथा "तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्"[6] इत्यादि सूत्ररूपवचोभङ्गी इस विषय में उपोद्बलक है। "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" या "भिन्नरुचिर्हि

लोकः''[7] इस न्याय के अनुसार जैसे लोक में किसी विषय को लेकर मतभेद देखा जाता है वैसे ही आचार्य पाणिनि ने भी अपने शास्त्र में ''सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्'' स्वीकार करते हुए मज्झिमा पटिपदा या मध्यम मार्ग के आश्रयण द्वारा अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार के पक्षों को समान मान्यता दी है अर्थात् लोकव्यवहार रूप लोकन्यायों के लोकशास्त्रोभयान्वयी, दोराहा या दोतरफा प्रवृत्तिवाला होने के कारण ही सम्भवतः लोकमर्यादित पाणिनि व्याकरण भी प्रत्येक विवादग्रस्त सिद्धान्त के सम्बन्ध में मध्यम मार्ग का आश्रयण करता है, तद्यथा-

1. गुणों का भेदकत्वाभेदकत्व पक्ष।
2. प्रत्येक/समुदाय/उभयथा वा वाक्यपरिसमाप्ति पक्ष।
3. उणादियों का व्युत्पन्नत्वाव्युत्पन्नत्व पक्ष।
4. निपातनों का बाधकत्वाबाधकत्व पक्ष।
5. उपसर्गों का द्योतकत्व-वाचकत्वपक्ष
6. योगप्रमाण और संज्ञाप्रमाण
7. जातिवाद और व्यक्तिवाद

इत्यादि दोनों ही पक्ष यहां समान रूप से समादृत होते हैं। सम्भवतः इसी दृष्टि से ''पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति''[8] इस लोकन्याय को मानते हुए भाष्यकार अनेक स्थलों में एक ही सिद्धान्त या सूत्र का प्रत्याख्यान करके भी अपरत्र उसी का मण्डन करते दिखाई देते हैं। भाष्यकार का लोकन्यायमूलक यह शैलीवैचित्र्य सर्वथा सूत्रकार के आशयानुकूल है।

वस्तुतः आचार्य पाणिनि को प्रारम्भ में ही आद्य आचिख्यासा[9] रूप यह उपज्ञा या सम्प्रत्यय हो गया था कि अपने शास्त्र को सर्वत्र प्रथित करने के लिए लोक और शास्त्र में परस्पर समन्वय या साजात्य स्थापित करना परमावश्यक है। क्योंकि न्याय या लोकव्यवहार से सिद्ध वस्तु ही इस नश्वर संसार में स्थायित्व या अमरता प्राप्त कर सकती है, अन्य वस्तु नहीं। अन्याय्य या लोकव्यवहार अनारूढ वस्तु तो केवल नादरूप में ही गृहीत होती है, वास्तव में नहीं – ''यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृहयते''[10]। यही कारण था कि पाणिनीय व्याकरण तो लोकाश्रय रूप सञ्जीवनी बूटी के कारण कालजयी होकर आज भी जीवित, प्रचलित तथा सम्मानित है जबकि काशकृत्स्नादि इसके पूर्ववर्ती और चान्द्रादि इसके परवर्ती दोनों ही व्याकरण अकाल कालकवलित होकर आज केवल कथारूप में ही अवशेष हैं। आचार्य पाणिनि ने शब्दसंरचनाप्रक्रिया में कोई बाधा न पहुँचाते हुए भी यथासम्भव अपने सूत्रों को लघु तथा सुन्दर बनाया है। इस सन्दर्भ में एक ही लक्ष्य या प्रयोग में कई बार अनेक विधिसूत्रों के एक साथ प्रसक्त होने पर निर्णयार्थ यों तो इन्होंने अनेकत्र अनेक परिभाषा सूत्रों की रचना की है तथापि कुछ ऐसे लौकिक न्याय समर्थित सिद्धान्तों का भी यहां आश्रयण किया

गया है जिनके आधार पर विधिसूत्रों के अनेक अन्तर्विरोध स्वतः दूर हो गए हैं।[11] इस प्रकार के न्यायों का ज्ञान पाणिनि की सूत्ररचनाओं से स्वतः ही ज्ञापित हो जाता है। विधियों के अन्तर्विरोध को दूर करने वाले ये लोकन्याय या ज्ञापनसिद्ध नियम ही कालान्तर में परिभाषा[12] नाम से जाने जाते है। वास्तव में लोकन्यायतुला में अवस्थित होकर परा-पश्यन्ती रूपा चतुर्विधा वाग्देवी आचार्य पाणिनि के पूर्णतः वशंवद हो गई है[13] तथा उसने तदनुकूल आत्मस्वरूप विवृत किया है।[14]

कहना नहीं होगा कि इस अनुपम तथा लघुभूत होने के साथ-साथ व्यापक विधि को विकसित करने के लिए पाणिनि ने जिस महती सूक्ष्मेक्षिका का आविष्कार किया, वह वस्तुतः अलौकिक एवं अद्भुत थी। वैयाकरण के इस गौरव पर महाभारत में भी ठीक ही कहा गया है-

''सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः''॥[15]

ध्यातव्य है कि यहां 'सर्वार्थ' शब्द वैयाकरण की कसौटी की दृष्टि से साभिप्राय प्रयुक्त है। परिणामतः तात्कालिक लोकभाषा के नियम तथा उसमें प्रचलित सारे या अधिकतम सम्भव अर्थों का व्याकरण ही किसी भी वैयाकरण का निकष होता है जिसमें महत् सुविहित पाणिनीय व्याकरण[16] अप्रतिम है।

प्रायः आचार्यों की शैली है कि वे स्वाभिप्राय को भी परोपदेश के समान वर्णन करते है। अतएव आचार्य पाणिनि ने व्याकरणविषयक लौकिक महत्त्व की जिस अवधारणा को सूत्रकार (संक्षेपकार) होने के कारण अत्यन्त सांकेतिक भाषा में ही ध्वनित किया,[17] वार्तिककार कात्यायन ने भी उस मौलिक परम्परा को आगे बढ़ाते हुए लोकव्यवहार के इस अक्षुण्ण महत्त्व को अनुभव किया। परिणामतः सूत्रों के संशोधनरूप अपने प्रायः सारे वार्तिकोक्त नियमों तथा सिद्धान्तों को साक्षात् नामग्रहणपूर्वक पूर्णतः लोकव्यवहार से अनुप्राणित एवं अभिषिक्त किया। ''परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये,[18] संहितावसानयोर्लोकविदितत्वात् सिद्धम्,[19] लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य,[20] अवचनाल् लोकविज्ञानात् सिद्धम्,[21] इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोके,[22] लोकवद् हलादिशेषे[23] इत्यादि वार्तिकशैली इनकी इसी लौकिकी आस्था की प्रतीक है। इनके अनेक वार्तिक तो साक्षात् लोकन्यायरूप ही प्रतीत होते हैं, तद् यथा- ''अभ्यर्हितं च''[24] (अभ्यर्हित न्याय) भ्रातुर्ज्यायसः[25] (ज्येष्ठानुपूर्वी न्याय) तथा वर्णानामानुपूर्व्येण[26] (वर्णानुपूर्वीन्याय) इत्यादि।

सूत्ररूपेण (संक्षेपरूपेण) लोकव्यवहार को ही अपनी भावभूमि का आधार बनाकर आचार्य पाणिनि ने जिस अक्षर शब्दब्रह्म की व्याकरणिक धारा का प्रवर्तन किया था, उसे महान् शब्दयोगी, मनीषी, वाग्योगवित्[27] तथा संग्रहप्रतिकञ्चुककार[28] भाष्यकार पतञ्जलि ने पुष्कल रूप से पल्लवित तथा पुष्पित किया। वस्तुतः आचार्य पाणिनि

के अति संक्षिप्त लोकव्यवहारानुगामी सूत्रप्रोक्त नियमों को पतञ्जलि ने ही कण्ठरवेण कुछ प्राचीन तथा कुछ स्वोपज्ञ लोकारूढ उदाहरण तथा दृष्टान्तमूलक लोकन्यायों द्वारा ऐसी सशक्त एवं स्पष्ट आधारभूमि देकर प्रतिष्ठापित किया जिससे एक तरफ तो पूर्वाचार्यों के व्याकरणग्रन्थ महत्त्वहीन हो जाने से लोक में "इति पाणिनि"[29] "पाणिनेः सूत्रकारस्य"[30] इत्यादि आघोष गूंजने लगे और दूसरी तरफ स्वयं भाष्यकार के विषय में भी उनके बहुश्रुत, बहुदर्शी[31] या अधिकलक्ष्यदर्शी[32] होने के कारण उत्तरवर्ती व्याख्याकार मुक्तकण्ठ से "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्"[33] इस आभाणक को गुनगुनाने लगे। लेखक की दृष्टि में उक्त आभाणक न्याय का वास्तविक तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जैसे- "शिष्यादिच्छेत् पराजयम्" इस श्लोक के अनुसार शिष्य के उत्कर्ष में गुरू का ही उत्कर्ष बढ़ा माना जाता है वैसे ही यहां उक्त वैयाकरण आभाणक न्याय में भी पतञ्जलि के प्रामाण्य में पाणिनि का ही प्रामाण्य पर्यवसित जानना चाहिए। संभवतः पतञ्जलि को भी अपना ऐसा ही प्रामाण्य अभीष्ट है। इस सन्दर्भ में आचार्य पाणिनि को प्रमाण मानकर भाष्यकार पतञ्जलि की यह निम्न श्रद्धाबुद्धिपूर्ण उक्ति हमें अनायास ही उनका क्रीतदास बना देती है-

"प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किम्पुनरियता सूत्रेण।"[34]

"सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।"[35]

किसी सूत्र का प्रत्याख्यान करके भी परम्परा का उच्छेद न करते हुए फिर अन्त में - "सिध्यत्येवम्, अपाणिनीयं तु भवति। यथान्यासमेवास्तु"[36]........ "न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या सूत्रं वा न प्रणेयम्"[37]....... "आरभ्यमाणेऽप्येतस्मिन् योगे"[38] इत्यादि आस्थापूर्ण कथन किस सहृदय वैयाकरण को भाष्यकार का अन्धभक्त बनने के लिए विवश नहीं करते। वास्तव में अष्टाध्यायी के निगूढतम रहस्यों को समझने-समझाने के लिए वर्तमान में महाभाष्य प्राचीनतम प्रामाणिक उपलब्ध उपजीव्य ग्रन्थ है। इसमें प्रायः सभी तात्कालिक प्राचीन वैयाकरण सम्प्रदायों के सर्वविध न्यायबीजों[39] का समन्वित समावेश दृष्टिगोचर होने के कारण यह आकर[40] या खनि की संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है। इस तरह से व्याकरणमात्र के सन्दर्भ में इस ग्रन्थ को आधुनिक समय में व्याकरणिक विश्वकोश शब्द से ही अभिहित करने में भी कोई अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। सब न्यायबीजों के निबन्धनभूत महाभाष्य की इससे अधिक और क्या स्तुति होगी कि जो यह अष्टाध्यायी के सूत्रों पर लिखा गया भाष्य अपनी विशिष्ट व्याख्यानशैली के कारण साधारण भाष्य न रहकर वैयाकरणनिकाय में महाभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। भाष्यकार ने सूक्ष्म और रूक्ष व्याकरण जैसे विषय को भी अपनी लोकारूढ/लौकिक उदाहरण/दृष्टान्त-बहुल रोचक, आसेचनक, सरस

और मधुर शैली से न केवल सुरक्षित रखकर प्रत्युत गुडजिह्विका न्याय द्वारा उसे सबके लिए सुतरां नितरां आदृत्य, स्तुत्य तथा ग्राह्य बना दिया है। भाष्यकारीय व्याख्यानशैली की यह महती विशेषता उल्लेखनीय यह है कि वे एक ही सिद्धान्त को अनेक जीवन्त या सजीव लौकिक उदाहरणों से प्रतिपादित करते हैं।

संक्षिप्त सूत्रशैली की सीमा के कारण आचार्य पाणिनि अपनी जिस मूक लौकिक श्रद्धा को प्रकट अभिव्यक्ति नहीं दे सके भाष्यकार पतञ्जलि ने उसे प्रचुर सोदाहरण मुखरता प्रदान की। वृद्धव्यवहार[41] या प्रवाह-नित्यता या व्यवस्थानित्यता[42] अथवा लौकिक कुम्भकारवैयाकरणकुल न्याय से वैयाकरणाभिमत शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता सटीक प्रतिपादित करना तथा वैयाकरणों के मूर्धाभिषिक्त शब्दापरपर्याय स्फोट सिद्धान्त को प्रतीतपदार्थक (लोकप्रसिद्ध) ध्वनि शब्द[43] से अभिहित करना इन्हें एक सफल लौकिक परीक्षक की कोटि में ला खड़ा कर देता है। "लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः[44]" इस वार्तिकवचन की व्याख्या करते हुए भाष्यकार जो यह कहते हैं - "शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देन। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवति" इसे यदि कुछ व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाए तो इसके आधार पर भी भाष्यकार की दृष्टि में व्याकरणशास्त्र का प्रयोजन शिष्टलोक के लिए भाषा का साधूकरण या मानकीकरण सिद्ध होता है। भाष्यकार की दृष्टि में सामान्य रूप से व्याकरणशास्त्र का कोई भी नियम या सिद्धान्त तब तक मान्य नहीं होता जब तक उस पर अनुकूल लोकव्यवहार की मुहर या छाप न लग जाए।[45] इसलिए भाष्यकार की यह शैली बहुधा देखी जाती है कि किसी शास्त्रीय समस्या के बहुत सारे शास्त्रीय ही समाधान देकर भी फिर मानो उनसे अपरितुष्ट[46] से होते हुए "द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति" इस न्याय से परिहारान्तररूप लोकन्याय या लोकव्यवहार से भी उसकी पुष्टि करते हैं।[47] वास्तव में व्यक्ति अन्य शास्त्रीय युक्तियों को तो जानबूझकर भी अनदेखा कर सकता है परन्तु लोकव्यवहार या लौकिक दृष्टान्त तो ऐसा अमोघ ब्रह्मास्त्र होता है जो लघु प्रकमपद्धति होते हुए शृङ्गग्राहिका न्याय से जादू के समान मनुष्य के सिर पर आरूढ होकर अपनी बात मनवाता है, अतः इसका सहसा अपलाप नहीं किया जा सकता। भाष्यकार की लोक के प्रति श्रद्धाबुद्धि इससे बढ़कर और क्या होगी कि जो ये वैयाकरणरथिसूतसंवाद न्याय से कण्ठरवेण इष्टिज्ञ (लक्ष्यैकचक्षुष्क) के स्थान पर केवल प्राप्तिज्ञ (सूत्रप्राप्तिज्ञ) या लक्षणैकचक्षुष्क को 'देवानाम्प्रियः' विशेषण से विशेषित करते हैं[48] अर्थात् इनकी दृष्टि में लक्ष्य या प्रयोग में केवल सूत्र की प्राप्ति जानने वाले की अपेक्षा लोक में इष्ट प्रयोग को जानने वाले का अधिक महत्त्व है। भाष्यकार के अनुसार प्रयोगों की इष्टि और अनिष्टि में व्याकरणिक अनुविधान की अपेक्षा लोक (शिष्ट) ही नियामक है। केवल लोक के बल पर ही भाष्यकार ने "इष्टमेवैतत् संगृहीतं भवति"[49] ऐसा कहकर अनेक अनिष्ट प्रयोगों का निवारण तथा इष्ट प्रयोगों का संग्रह कर लिया है। ऐसे वचनों को व्याकरण में भाष्येष्टियों के नाम से जाना जाता है। इसी विषय में

नागेश लिखते हैं - "लक्षणैकचक्षुष्कैर्लोकस्वभावमजानद्भिः क्वैकार्थीभावो नित्यः क्व पाक्षिकः क्व नास्त्येवेत्यर्थस्य ज्ञातुमशक्यत्वेन, तद्बोधनाय तेषामावश्यकत्वात्"।[50]

इस लौकिक इष्टि और अनिष्टि को ही भाष्यकार अभिधान-अनभिधान रूप शब्दान्तरों से भी अभिव्यक्त करते हैं। अभिधान से गूढ तात्पर्य है - उस अभीष्ट अर्थ का शिष्ट लोक में स्वाभाविक रूप से स्वतः बोध हो जाना। इस बात को एक वर्तमान उदाहरण से भी स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे लोक में मास्टर की पत्नी मास्टरनी तथा पण्डित की पत्नी पण्डितानी कहलाती है वैसे ही डाकिए की पत्नी भी डाकनी कही जानी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। क्योंकि डाकनी शब्द का अर्थ लोक में डाकिए की पत्नी न होकर डाका मारने वाली स्त्री प्रसिद्ध है। इसे ही व्याकरण की भाषा में यों कहा जाएगा कि लोक में डाकिए का स्त्रीलिङ्ग में अभिधान या प्रयोग नहीं होता अर्थात् यद्यपि डाकनी शब्द का प्रयोग तो होता है। परन्तु उससे अभीष्ट अर्थ (पत्नी) का अभिधान या बोध नहीं होता। भाष्यकार ने अगतिकगति रूप[51] अभिधान-अनभिधान के ब्रह्मास्त्र से भी अनेक सूत्रग्रन्थियां समाहित की हैं - "अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः"।[52] परिणामतः सम्पूर्ण व्याकरणिक सूत्रव्याख्या अनुकूल होने पर भी परन्तु लोक में, शिष्टों में, अभिधान न होने से 'वृक्षमूलादागत': में "ततः आगतः"[53] से अण् होकर 'वार्क्षमूल': यह अनिष्ट रूप नहीं बनता। क्योंकि लोक में यदि किसी शब्द में अभीष्ट अर्थबोध की शक्ति (अभिधान) स्वतः नहीं है तो व्याकरण के अनेक सूत्र भी उसमें वह शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकते - "न हि स्वतोऽसती शक्तिराचार्येण कर्तुं शक्यते"।[54] तथा "अन्यथाऽविद्यमानायाः शक्तेरेकशेषशास्त्र- सहस्रेणाप्युपपादयितुमशक्यतया बोधानुपपत्तिरेव स्यात्"।[55]

भाष्यकार का अधिकतर व्याख्यान अभिधान-अनभिधान से सम्बद्ध है जोकि व्याकरण और लोक का अटूट सम्बन्ध प्रतिपादित करने के साथ-साथ संस्कृत भाषा की तात्कालिक जीवित या बोलचाल की भाषा रहने का भी संकेत करता है। क्योंकि किस का प्रयोग (अभिधान) होता है और किसका नहीं (अनभिधान)– यह कथन केवल जीवित भाषा के विषय में प्रवृत्त हो सकता है।[56] वस्तुतः पतञ्जलि के काल में संस्कृत उन शिष्ट लोगों के प्रयोग में आने वाली भाषा थी जो व्याकरण पढ़े बिना भी उसे शुद्ध रूप में बोलते थे। "प्रयोगे सर्वलोकस्य"[57] इस भाष्यवार्तिक से यही ध्वनित होता है। भाष्यकार का यथाप्रसङ्ग "यथालक्षणमप्रयुक्ते"[58] ऐसा कहना भी उन्हें लोक के प्रति समर्पित ज्ञापित करता है। क्योंकि नागेश के अनुसार भाष्यकार के मत में अप्रयुक्त शब्द लक्षण (व्याकरण) का विषय नहीं होता।[59] कैयट भी कहते हैं- "प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वाख्यानात्"[60] तथा "लक्ष्यपरतन्त्रत्वात् लक्षणस्य"[61]। वास्तव में इन लोकन्यायों के अध्ययन से संस्कृत की उत्तरोत्तर विकसनशीलता तथा व्यापकता ही सिद्ध होती है। इसी प्रकार "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति"[62] अथवा

"संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते"॥[63]

इत्यादि वचनों से लोकाधीन विवक्षाव्यवस्था को आदर देना भी इनका लोक के प्रति सम्मानभावना को सिद्ध करता है। वास्तव में शब्दों की व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति में विवक्षा ही प्रधान कारण है, वस्तुसन्निधान नहीं। यह विवक्षा केवल कारक, सन्धियों तक ही नहीं, समास[64] और तद्धित[65] इत्यादि में भी व्याप्त है। विवक्षा या आरोप के महत्त्व को समझने के कारण ही सम्भवतः आचार्य पाणिनि ने भी अनेकत्र 'बहुलम्[66]' 'दृश्यते[67]' इत्यादि शब्दों का व्यवहार किया है। व्याकरण और लोक के विषय में पतञ्जलि का स्पष्ट विचार है कि व्याकरण का सम्बन्ध भाषा से होता है और भाषा व्यक्तवाक् लोक से सम्बन्ध रखा करती है। इस प्रकार व्याकरण और लोक भी परम्परया परस्पर सम्बद्ध एवं अभिन्न हो जाते हैं - "न हीदं (व्याकरणं) लोकाद् भिद्यते। यदीदं भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्।"[68] इसीलिए भाष्यकार पदे-पदे 'लोकत':, 'लोकात्', यथा लोके तथा व्याकरणे[69]' इत्यादि स्पष्ट कथन करते हैं। एक स्थान पर तो भाष्यकार साक्षात् कहते हैं कि व्याकरण को तो लोक की उपासना करनी चाहिए[70] और सदा हाथ जोड़कर लोक के पीछे-पीछे चलते रहना चाहिए।[71] यद्यपि एकाध स्थल पर लक्ष्यानुरोधात् भाष्यकार को "न यथा लोके तथा व्याकरणे .... उभयगति पुनरिह भवति"[72] तथा "लौकिकं चातिवर्तत"[73] ऐसा भी कहना पड़ा है तथापि वह सिद्धान्त रूप से न मानकर अपवादरूप से ही कहा हुआ मानना चाहिए।

शब्दप्रयोग के विषय में भी लोक की अपनी ही दृष्टि है। शब्दशक्तिस्वभाव से जहां वह पर्याय शब्दों में गौरवलाघव को नहीं देखता वहां वह अनेक बार एक ही शब्द के दो भाग करके भी प्रयोग कर देता है, जैसे - वृष-वृषभ तथा उद-उदक इत्यादि। अनेकत्र तो "उक्तार्थानामप्रयोगः" को बाधकर 'उक्तार्थानामपि प्रयोगो दृश्यते" पाया जाता है।

यहां यह कहना कि यदि लोक में भी किसी विषय को लेकर मतभेद हो जाए तो कैसे निर्णय किया जाए-इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो यहां व्याकरणशास्त्र में लोक से तात्पर्य आपामर सामान्य जनमात्र न होकर केवल शिष्टजन ही हैं। और फिर शिष्ट की परिभाषा करते हुए भी भाष्यकार निगदव्याख्यात रूप में स्वयं कहते हैं - "के पुनः शिष्टा?..... एतस्मिन्नार्यावर्ते ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा, अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्रभवन्तः शिष्टाः"[74]। ऐसी स्थिति में सामान्य लोकमत की अपेक्षा शिष्टलोकमत ही आप्तवाक्यकल्प समझकर प्रमाण मानना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर जहां उपर्युक्त शिष्टों में भी यदि किसी अर्थसतत्त्व को लेकर मतैक्य नहीं हो तो वहां प्रदीपकार के शब्दों में आधुनिक लोकतन्त्रीय व्यवस्था या अनेकजनापेक्षया प्रसिद्ध अथवा प्रचुरलोकापेक्षया बहुमत के आधार पर

ही किसी प्रयोग के साधुत्वासाधुत्व का निर्णय करना चाहिए।[75] क्योंकि यह व्याकरण शिष्टप्रयुक्त शब्दों का ही अन्वाख्यान करता है, अप्रयुक्तों का नहीं।[76] ध्यातव्य है कि उपर्युक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि व्याकरण केवल वर्तमान में प्रयुक्त शब्दों का ही अनुविधान करता है अपितु जो शब्द कभी पहले भी प्रयुक्त हो चुके हैं परन्तु सम्प्रति धातुपाठ आदि में अदृश्यमान है, उन्हें भी भूतपूर्वगति न्याय से प्रयुक्त ही मानकर इनका भी अन्वाख्यान भाष्यानुकूल ही है। कहने का भाव यह है कि व्याकरण अपने आप अप्रयुक्त या असिद्ध शब्दों का निर्माण नहीं करता अपितु लोक में प्रयुक्त/प्रयुज्यमान शब्दों का ही अनुशासन करता है।[77] भाष्यकार के "नैषोऽस्ति प्रयोगः"[78] वचन से भी यही शास्त्र की अपेक्षा लौकिक प्रयोग की प्रधानता वाला तात्पर्य निर्गलित होता है। "शब्दप्रमाण का वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्"[79] इस भाष्यवचनानुसार व्याकरण के लिए तो शब्द ही प्रमाण है परन्तु स्वयं इस शब्द के लिए लोक प्रमाण है। इस तरह परम्परया व्याकरण के लिए भी लोक ही प्रमाण सिद्ध हो जाता है।

यहां यह कहना कि यदि शिष्टप्रयोग के आलम्बन से ही साधुत्वासाधुत्व व्यवस्थित या निर्णीत किया जाएगा तो फिर शास्त्र की क्या आवश्यकता है? परिणामतः जैसे आकृतिगणों में उपलक्षण रूप में एकाध शब्द का पाठ करके शेष सभी को नहीं पढ़ा जाता है वैसे ही यहां भी शिष्टप्रयोगों से ही सब इष्ट सिद्ध हो जाने से फिर शास्त्रवैयर्थ्य प्रसक्त होता है तो इस शङ्का का उत्तर है कि यह कोई दोष नहीं है। इससे कोई शास्त्राध्ययन व्यर्थ नहीं होता। क्योंकि एक तरफ जहां "शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते, शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देन, एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवति"[80] यह लाभ होता है वहीं दूसरी तरफ जैसे उक्त आकृतिगणों में भी उपलक्षणार्थ, दिशा बोध के लिए या निदर्शनार्थ, कुछ शब्दों का पाठ तो आवश्यक ही होता है वैसे ही यहां भी कुछ निदर्शनार्थ तो शास्त्र की भी आवश्यकता है ही। हां, नागेश के अनुसार, इतना अवश्य निश्चित है कि शिष्टलोकव्यवहार को ध्यान में रखते हुए शब्दसाधुत्व की व्यवस्था के लिए शास्त्र की आत्यन्तिक आवश्यकता नहीं है।[81] संस्कृत वैयाकरणों की लोक के प्रति उक्त श्रद्धाबुद्धि वस्तुतः प्रशस्य तथा अभिनन्दनीय है।

"न ह्यव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्"[82], "शास्त्रतो हि नाम व्यवस्था"[83], चक्रकेष्विष्टतो व्यवस्था"[84], "नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः"[85] तथा "योगविभागा-दिष्टसिद्धिः"[86] इत्यादि वचन भी लौकिक शिष्ट प्रयोगों के प्रति आदरभाव को ही सूचित करते हैं। लक्षणविषयक सन्देह के निवारण में "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्"[87] परिभाषाप्रोक्त शिष्टजनव्याख्यान की प्रामाणिकता तो निगदव्याख्यात ही है। इसी प्रकार "कारणाद् द्रव्ये शब्दनिवेशः[88] इस भाष्यवार्तिक वचन में भी 'कारण शब्द' से लोकव्यवहार ही विवक्षित है। "दर्शनं वै हेतुः"[89] यह वार्तिक भी इसी विषय में अनुग्राहक है। यद्यपि

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः[90]॥"

इस वचनानुसार शब्द के संकेतग्रह के व्याकरण, उपमान आदि आठ साधन हैं तथापि, नागेश की दृष्टि से, यह नितान्त निर्विवाद सत्य है कि इनमें भी लोकव्यवहार ही शक्तिग्रह का प्रधानभूत कारण है[91] अर्थात् केवल शास्त्रोक्त अर्थज्ञान से तब तक लाभ नहीं होता जब तक लोक में वह अर्थ स्वीकृत या प्रचलित न हो। भाष्यकार ने अनेकत्र लौकिक उदाहरणों से शब्दों की बह्वर्थता दिखाकर फिर लक्ष्यानुरोधवशेन वहां अभीष्ट अर्थ लेकर अनेक गुत्थियां सुलझायी हैं जोकि प्रकृत ग्रन्थ में "अनेकार्था हि धातवो (शब्दाः) भवन्ति" नामक उद्द्योत में देखी जा सकती हैं। लौकिक व्यवस्था ही शास्त्र में न्याय शब्द से व्यपदिष्ट होती है। शब्दशक्ति को और अधिक स्पष्ट करते हुए कैयट भी कहते हैं - "सर्वत्र चात्र शब्दशक्तिः प्रयोगानुसारिणी प्रमाणम्"[92] तथा "न्यायादागमाद्वा शब्दशक्तिरनुसरणीया"[93]। इस विषय में यास्काचार्य भी कहते हैं कि लोक में जो शब्द जिस प्रसिद्ध अर्थ में दिखाई दे रहा है उसी में उसकी व्युत्पत्ति करनी चाहिए।[94] गणपाठ के प्रसङ्ग में पठित गणों के समान आकृतिगणों में लक्ष्यानुरोधात् अभीष्ट शब्दों का पाठ निर्धारित करने के लिए अगत्या आकृतिगणस्थ शब्दों की कल्पना करना भी लोकप्रामाण्य को ही प्रतिपादित करता है। कुछ समानार्थक शब्दों का नियतविषयक होना भी लोक के महत्त्व को ही ख्यापित करता है। भाष्यकार अनेकधा सोदाहरण उद्घोष करते हैं - "अन्यत्रापि हि नियतविषयाः शब्दा दृश्यन्ते। तद्यथा-समाने रक्ते वर्णे गौर्लोहित इति भवत्यश्वः शोण इति। समाने च काले वर्णे गौः कृष्ण इति भवत्यश्वो हेम इति। समाने च शुक्ले वर्णे गौः श्वेत इति भवत्यश्वः कर्क इति"[95] अर्थात् उपर्युक्त शब्दयुग्मों के आपाततः समानार्थक होने पर भी उनका भिन्न-भिन्न अर्थों में रूढ होना शास्त्र की अपेक्षा लौकिक बलवत्ता को ही सिद्ध करता है।[96] न केवल शब्दार्थ निर्णय ही अपितु व्याकरणशास्त्र में तो शब्दस्वरूपनिर्णय में या उनको व्यवस्थित करने में भी शिष्टों को ही परम प्रमाण माना जाता है। इस विषय में- "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्"[97] सूत्र तथा इसका भाष्य प्रमाण है। भर्तृहरि भी कहते हैं-

"भावतत्त्वदृशः शिष्टाः शब्दार्थेषु व्यवस्थिताः॥"[98]

इस प्रकार त्रिमुनि के द्वारा शिष्टलोक[99] को ही स्वतः व्यवस्थापक प्रमाण मानकर व्याकरणप्रणयन की जिस लोकप्रिय त्रिवेणी परम्परा का सूत्रपात हुआ था उसे ही उत्तरवर्ती भर्तृहरि, जिनेन्द्रबुद्धि, कैयट, हरदत्त, नागेश आदि व्याख्याकारों ने भी अपनी-अपनी दृष्टि से प्राचीन न्यायों के साथ-साथ कुछ स्वोपज्ञ लोकन्याय या दृष्टान्त देकर और अधिक पुष्ट किया। तदनुसार स्थालीपुलाकन्याय से इनके भी कुछ निदर्शन इस प्रकार हैं - जहां वाक्यस्फोट की अखण्डता एवं निरवयवता में मयूराण्डरस, चित्रबुद्धि तथा पानक रस आदि न्याय उपोद्बलक हैं वहां वाक्य के वर्णपदादि के रूप में काल्पनिक

विभाग के विषय में रेखागवय न्याय या अरुन्धतीप्रदर्शन न्याय तात्पर्यग्राहक हैं। एकाध दुःसाध प्रयोग "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे" न्याय से अथवा वन्यगजशौच न्याय से सह्य है। सामान्य के साथ विशेष का ग्रहण करने से विशेष का प्राधान्य ज्ञापित होता है जिसमें ब्राह्मणवसिष्ठन्याय तथा गोबलीवर्दन्याय बोधक हैं। सन्ध्यक्षरवर्णों को पांसूदक न्याय से अविभक्त दिखाकर उनकी स्वतन्त्र सत्ता नरसिंह न्याय से सूचित होती है। सूत्रस्थ एक ही शब्द से दो स्थानों पर कार्य लेना काकाक्षि न्याय या देहलीदीप न्याय से ही सम्पन्न होता है। किसी व्यर्थ बात पर समय खराब करना काकदन्तपरीक्षा न्याय होती है। आकाश से गिरा खजूर में अटका अर्थात् एक संकट से बचने के प्रयास में दूसरे घोर संकट में फंस जाना "वृश्चिकभिया प्रद्रवतः सर्पमुखे पतनम्" न्याय होता है। 'कल्' धातु के महत्त्व को बताने के लिए उसे साक्षात् कामधेनु न्याय से ही उपमित किया गया है। एकदेशी के स्थान पर उसके एकदेश के प्रयोग को दग्धपट न्याय प्रमाणित करता है। सूत्रों में किसी पद का नीचे से ऊपर की ओर अपकर्षण सिंहावलोकित न्याय से ही होता है। अपवाद के द्वारा उत्सर्ग को बाधकर पहले उसकी प्रवृत्ति हो जाने पर फिर भी यदि उत्सर्ग की प्राप्ति बनी रहती है तो वह गोवत्सवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय से ही प्रवृत्त होता है। किसी क्रिया के उपक्रमप्रभृति अपवर्गपर्यन्त बीच में होने वाले अवान्तर गुणभूत व्यापारों के लिए भी प्रधान क्रिया का व्यपदेश सर्पदर्शन न्याय से जानना चाहिए। पर्याप्त चिन्तन करके कार्य करने के स्थान पर पहले कार्य कर देना और फिर उसके अच्छे-बुरे पर विचार करना कृत्वाचिन्ता न्याय कहलाता है इत्यादि।

यहां इतना अन्तर अवश्य ध्यातव्य है कि जितना अधिक सटीक लोकज्ञान या लोकानुभव और वह भी विशेषतः ग्रामीण जीवनसम्बन्धी[100], भाष्यकार पतञ्जलि को था, उतना अन्य किसी उत्तरवर्ती वैयाकरण को नहीं प्रतीत होता। यही कारण है कि भाष्यकार पदे-पदे लोक को स्मरण रखते हैं अर्थात् चाहे छोटी सी बात हो या बड़ी, भाष्यकार यथासम्भव उसका अनुमोदन लोकव्यवहार से कराने में ही अधिक रुचि रखते हैं। निष्कर्ष रूप में इससे यह सिद्धान्त निर्गलित होता है कि संस्कृत व्याकरण का आवपन (कोश) या आधार कोरा, खोखला (खाली) या आकाश न होकर यह भूमि माता या यह जीता-जागता शिष्टलोक ही है जोकि प्रारम्भ से ही इसके लिए संजीवनी औषधि जैसा कार्य कर रहा है।

(ख) लोकन्यायों के विनियोग का महत्त्व

किसी भी भाषा की सबसे प्रमुख विशेषता उसमें अर्थव्यञ्जकताशक्ति तथा सामासिकता अर्थात् कम से कम शब्दों से अधिकाधिक अर्थबोध कराने का सामर्थ्य होती है। कहना न होगा कि न्याय भाषा के इन गुणों की पराकाष्ठा होते हैं। संस्कृत व्याकरण की प्रतीकात्मक प्रत्याहार योजना भी इसी कोटि में आती है। यह सामासिकता

न्यायों की प्राणभूतकल्पा होती है। फलतः इन न्यायों के व्यवहार से जहां सूत्रात्मक व्याकरणादि ग्रन्थों के सूत्र तथा उनका प्रतिपाद्य या कथन अभिनवगरिमा के साथ और अधिक संक्षिप्त होकर उनमें गागर में सागर या बूंद में समुद्र कहावत को सार्थक करने में सक्षम होता है वहीं इनके प्रयोग से शास्त्रीय दुरूह सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति को भी नव्य भव्य आयाम और अद्भुत आकर्षणशक्ति मिल जाती है जो सहसा परिहरणीय नहीं होती। वस्तुतः न्यायों के प्रयोग से प्रतिपाद्य विषय की रमणीयता तथा प्रभाविता को एक ऐसी दिशा मिल जाती है कि फिर वह अध्येताओं के लिए अत्यन्त संक्षेप में विषय को आत्मसात् करने का सहज समर्थ साधन या लघु प्रक्रमपद्धति बन जाती है। क्योंकि तर्कसमर्पित न्याय दैनन्दिन जीवन जगत् में दृश्यमान अनुभव शक्ति के सशक्त वाहक तथा इसकी भावभिव्यक्ति के ऊर्जस्वी माध्यम भी हैं। जैसे नौका की सहायता से दुस्तर गम्भीर नदी भी पार कर ली जाती है वैसे ही आप्तवाक्यकल्प न्यायों की सहायता से शास्त्रों की दुरूह निगूढाकूति ग्रन्थियां या जटिलताएं भी समाहित कर ली जाती हैं या इनकी सहायता से ये गुत्थियां बिना विशेष व्याख्यान के अनायास ही प्रतिभात, निनादित या स्फूर्त हो उठती हैं। वस्तुतः न्याय एक ऐसी विशिष्ट उक्ति है जो लोकजीवन के यापन में साधनभूत सामग्री के संग्रह में लगे हुए और नाना ऊहापोहों में व्यस्त व्यक्तियों के लिए प्रदीप के समान मार्गदर्शन करती है। न्यायों की इस अप्रतिम प्रभाविता और ग्राहिता को समझने के कारण ही प्राचीनतम शास्त्रकार भी स्वयं को इनके प्रयोग करने से वञ्चित नहीं रख सके। वस्तुतः न्याय प्रतिपाद्य विषय के विशदीकरण हेतु उदात्त माध्यम हैं जो शास्त्र और लोक दोनों तटों को स्पर्श करते हुए इनमें सेतुबन्ध के रूप में समन्वय स्थापित करने का अद्भुत गौरव रखते हैं।

सुभाषित के समान ये न्याय ऐसे लोकधर्मी संग्राहक तत्त्व होते हैं जो किसी के द्वारा अपनी बात को प्रभावी ढंग से कहने में सहायता करते हैं। लोक, वेद तथा शास्त्र इन तीनों की पारिभाषिक या व्यावहारिक जटिलताओं की तर्कपूर्ण व्याख्या को सरलतम उपाय से उसकी पूर्णता तक पहुंचाना इन न्यायों के लिए बड़ा सुकर कार्य है। भाषा के उक्त तीनों स्तरों को तर्क के आधार पर बांधने की इन न्यायों में अपूर्व समाहार शक्ति है। दीर्घ जीवन के सारभूत निष्कर्ष इनमें अनुस्यूत एवं समाविष्ट होते हैं जिन्हें नकारना किसी के लिए भी इतना सुगम नहीं है। इनमें मानवीय नैसर्गिक प्रवृत्तियां, कार्य, सहयोग, नैतिक तथ्य, सत्य तथा अनुभव आदि सभी नानारूप में वर्णित मिलते हैं। लोकन्यायों के इस सौरभसार से शास्त्रों ने भी स्वयं को सुरभित किया है। इन न्यायों में केवल लौकिक मानवों का व्यवहार ही दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु मानवेतर निकटस्थ पशु-पक्षी, जीव-जन्तु आदि प्राणी भी अपने विशेष स्वाभाविक व्यवहार या गुण के कारण इनके उपादान बने हैं। वस्तुतः सारा ब्रह्माण्ड ही इनका क्षेत्र है। कुछ न्यायों से ऐतिहासिक, राजनीतिक आदि तात्कालिक स्थितियों पर भी प्रकाश

पड़ता है, जैसे- "नियतविषयाः शब्दा दृश्यन्ते" न्यायस्थ कर्क, हेम और शोण शब्दों के निश्चित अर्थ तात्कालिक स्थानविशेष पर प्रकाश डाल सकते हैं। ऐसे ही गोयुक्तक (बैलों की जोड़ी) तथा पूतीकतृण शब्द भी इस विषय में उपोद्बलक हैं। वास्तव में लोकन्याय एक ऐसी दिव्य दृष्टि या दीप स्तम्भ हैं जिनमें सभी अलंकारों का सर्वस्व, कहावत आदि का सीधापन, सार्वजनिकता, प्रभावोत्पादकता, सारगर्भिता, संक्षिप्तता, बिम्बग्राहिता तथा नीतिपरक उपदेशात्मकता और लोकोपयोगी व्यवहारदर्शन आदि सभी गुण पर्याप्त मात्रा में होते हैं और जो अभीष्ट भावगाम्भीर्य तथा उक्तिवैचित्र्य को हस्तामलकवत् एकदम उपस्थापित कर देते हैं।

(ग) व्याकरण के अध्ययन में लोकन्यायों की विशेष भूमिका

लोकन्याय एक ऐसा ज्वलन्त मुंहबोलता स्वतः प्रमाण या लोकप्रमाणक प्रमाण होता है जो तत्काल प्रतिपक्षी का मुख बन्द कर देता है। संस्कृत के वैयाकरणों ने लोकन्यायों में अन्तर्हित इस अलौकिक शक्ति को पहचाना और लोक में अपने शास्त्र की वृद्धि या प्रसिद्धि के लिए इनका सफलतापूर्वक उपयोग किया। भाष्यकार कहते हैं - "ते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषु खलु लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं प्रपञ्चो वा न तथाकारकं भवति"[101] अर्थात् जैसे वे विधियां सुगमतया गृहीत हो जाती हैं जिनमें सामान्य लक्षण (सूत्र) और प्रपञ्च या विशेष सूत्र दोनों होते हैं। केवल सामान्य सूत्र या फिर केवल विशेष सूत्र वैसा सुगमतया बोधक नहीं होता ऐसे ही लोकन्यायसंवलित व्याख्या के बिना व्याकरण के सूत्र भी शुष्क तथा नीरस होने से सहजरूपेण ग्राह्य नहीं होते। क्योंकि न्यासकार के अनुसार "अगत्या हि खलु परिभाषा सूत्रं वाश्रीयते"। इसलिए वैयाकरणों ने बहुलक्ष्यसंस्कारानुधेन शास्त्रीय सिद्धान्तों की मन्दबुद्ध्यर्थ स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए[102] भी पदे-पदे इन लोकन्यायों का कण्ठतः आश्रयण किया है और उसमें यथेष्ट सफलता भी प्राप्त की है।

संस्कृत व्याकरण या पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्रसङ्ग में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस व्याकरण की दुर्बोध ग्रन्थियों को अनायास ही हृदयङ्गम करने के लिए वार्तिककार और भाष्यकार दोनों ने लोक और वेद में प्राप्त एवं दृष्ट घटनाओं या व्यवहारों के सादृश्य का जो सशक्त आधार लिया है, उसमें वे पूर्ण सफल रहे हैं। इस दृष्टि से इन्होंने संसार के अनुभव, प्रकृति के अनुभव, लोकोक्तियों तथा धर्मशास्त्र आदि अनेक स्रोतों से पूर्ण सहायता ली है। क्योंकि इन लोकन्यायों के ये ही मूल आधार रहे हैं। किसी लौकिक विवादग्रस्त विषय में जैसे तत्रत्य औचित्यपूर्ण, तर्कसंगत व्यवहार का महत्त्व स्वीकार करते हुए उसके आधार पर ही विवाद का निर्णय मान्य होता है, उसमें वादी और प्रतिवादी किसी को भी कोई आपत्ति नहीं होती है, वैसे ही यहां व्याकरण शास्त्र में भी किसी सन्दिग्ध स्थल के उपस्थित होने पर "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" के द्वारा लोकन्याय उसके निर्णय में उपकारक होते हैं।

इस प्रसङ्ग में इतना अवश्य अवधेय है कि शास्त्रीय जटिलताओं के स्फोरण के लिए भाष्यकर पतञ्जलि ने अकेले जितना कण्ठरवेण लोकन्यायों को मुखरित किया है उतना सम्भवतः अन्य किसी एक वैयाकरण ने नहीं। भाष्यकार तो "लक्षणं हि नाम ध्वनति भ्रमति मुहुर्तमपि नावतिष्ठते"[103] के समान सदा लोकतन्त्र का झण्डा उठाए हुए लोकव्यवहारसिद्ध बात का ही कथन करते हैं। यदि कहीं शास्त्र में लक्ष्यानुरोधात् लोकव्यवहार का अनुसरण नहीं हो पाता तो यह अतिक्रमण, इनकी दृष्टि में, न्यायप्राप्त न होकर विशेष यत्नार्ह होता है।[104] क्योंकि लोकन्यायों की शक्ति की भी सीमा है। अतः ये भी अपने नियम में व्यवस्थित हैं। यदि ये अपनी सीमा का अतिक्रमण करते हैं तो अपना महत्त्व खो बैठते हैं। दृष्टान्त को भी न्याय के अर्थ में प्रयोग करते हुए भाष्यकार इसके निवर्तन को भी पुरुषारम्भसापेक्ष मानते है।[105] इनके अनुसार जहां लोकन्यायसिद्ध बात का आश्रयण नहीं किया जाता तो वहां उसका कोई न कोई बीज या सार्थक कारण अवश्य होना चाहिए।[106] अन्यथा सयुक्तिक कारण और यत्न के अभाव में वह बात नहीं मानी जाएगी। भाव यह है कि लक्ष्यसाधन प्रमुख है और उसकी साधनप्रक्रिया गौण है। अतः नागेश के अनुसार लक्ष्यस्थित्यपेक्षया कहीं तो लोकन्याय का आश्रयण कर लिया जाता है और कहीं नहीं भी।[107] दूसरे शब्दों में लक्ष्यानुरोध से ही कहीं तो शास्त्रीय दृष्टान्त का आश्रयण कर लिया जाता है और कहीं लौकिक दृष्टान्त का।[108] जहां तक लोकन्याय का सम्बन्ध है, वह प्रायः सर्वथा अकाट्य होता है। क्योंकि मनुष्य जिस धारणा या अनुभव को अपने जीवन में स्वयं साक्षात् प्रत्यक्ष करता है, भला वह उसका या उसके आधार पर प्रतिपादित किसी सिद्धान्त का अपलाप कैसे कर सकता है ? उसका अपलाप करना तो वैसा ही होगा जैसा कि अग्नि को छूकर भी उसे ठण्डा ही कहना। इसलिए वैयाकरणों ने अपनी बात को ठोस आधार देकर जनताजनार्दन (प्रत्युत्पन्नमति के साथ मन्दबुद्धि भी) द्वारा स्वीकार करने के लिए ऐसा माध्यम या साधन चुना जिसका जादू सिर चढ़कर बोलता है।

ऐसी स्थिति में "अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्ताम्" यह शास्त्रीय नियम जितनी सुविधा से तक्रकौण्डिन्य न्याय द्वारा सुपरिगृहीत हो जाता है उतना किसी अन्य प्रक्रिया से सौ बार कण्ठरवेण उपदेश या व्याख्यान करने से भी नहीं। शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता कुम्भकार और वैयाकरण के लौकिक उपमान से अनायास ही सिद्ध हो जाती है। ध्यान रहे कि जो वैयाकरण नहीं हैं, वे भी जानते हैं कि एक वस्न से एक गाय खरीदी जाती है और दो वस्न से दो गाय। इससे भी शब्द की नित्यता ज्ञापित होती है। नान्तरीयकतया शब्दसहचरित अपशब्दज्ञानजन्य अधर्म कूपखानकन्याय से कैसे परिहृत हो जाता है - यह वैयाकरणधुरीणों से अप्रत्यक्ष नहीं है। आम्रसेकपितृतर्पण न्याय या वृद्धकुमारीवरवाक्य न्याय से "द्विगता अपि हेतवो भवन्ति" या "वाक्यान्यपि द्विष्ठानि भवन्ति" - यह सिद्धान्त सहज ही निर्गलित हो जाता है। फलतः तन्त्राद्यावृत्त्येकशेष

में से अन्यतम तन्त्रन्याय द्वारा "नमुने"[109] इत्यादि सूत्रों के अभीष्ट दो अर्थ प्रकट हो जाते हैं। किसी सूत्र के प्रत्याख्येय होने पर भी अनेकत्र भाष्यकार उस सूत्र के प्रत्याख्यान को केवल इसलिए नहीं समर्थित करते क्योंकि लाघव तथा प्रयोजन की दृष्टि से ऐसा करना "सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लट्ट्वानुकृष्यते" जैसा प्रतीत होता है। "कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते" यह सिद्धान्त माठरकौण्डिन्य न्याय के बिना सरलतया कैसे प्रतिपादित किया जा सकता है ? लक्ष्यानुरोध से प्रत्येक अवयव में या समुदाय में अथवा उभयथा वाक्यपरिसमाप्ति क्रमशः देवदत्तयज्ञदत्त-विष्णुमित्रभोजनन्याय, गर्गशतदण्डन न्याय तथा गर्गभोजनत्याग न्यायों से ही सम्भव हो सकती है। अधिकार सूत्रों की व्याख्या के लिए तो मण्डूकगति न्याय, गंगाप्रवाह न्याय तथा गोयूथ न्याय सञ्जीवनी बूटी के समान हैं।[110] परन्तु इसी प्रवर्तमान अधिकार की जब निवृत्ति करनी इष्ट न हो तो भाष्यकार "न हि काको वाश्यते इत्यधिकारा निवर्तन्ते" इस कहावत का आश्रयण करते हैं। यद्यपि सामान्य प्राकृतिक प्रक्रिया के अनुसार पानी ऊपर से नीचे की ओर ही आता है, नीचे से ऊपर की ओर नहीं, जैसे कि शास्त्र में भी पूर्वसूत्रस्थ पद ही प्रायः उत्तर सूत्रों में अनुवृत्त होकर (अनुकर्षण) जाता है तथापि लक्ष्यानुरोधात् जब कभी उलटी गंगा पहाड़ चढ़ानी इष्ट हो अर्थात् उत्तरसूत्रस्थ पद ही पूर्वसूत्र में ले जाना (अपकर्षण) अभीष्ट हो तो वह सिंहावलोकन न्याय की सहायता से ही ऊपर जा सकता है। 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' इस नियम में व्यपदेशिवदेकस्मिन् न्याय ही प्रयोजक है। अनुनासिकसंज्ञासूत्रस्थ मुख ग्रहण का प्रत्याख्यान प्रासादवासिन्याय या भ्राष्ट्रोखा न्याय के बिना कैसे हो सकता है ? समाज में आरण्यक न्याय की अपेक्षा भाष्यकार "नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति" इस सिद्धान्त में अधिक विश्वास रखते हैं। शब्दों में छिपे स्त्रीपुंस्कृत लिङ्गचिह्नों को आदित्यगति न्याय के बिना कैसे बताया जा सकता है ? ताच्छब्द्य न्याय में लक्षणा का अव्याहत व्यापार देखा जा सकता है। आचार्य पाणिनि के किसी सूत्र का प्रत्याख्यान करके भी यदि भाष्यकार की उनके प्रति भक्त्यतिशययुक्त श्रद्धाबुद्धि देखनी अभीष्ट हो तो "न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते" तथा "न हि मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते" "न्यायों का अवलोकन किया जा सकता है। निरुक्तोक्त बिल्वाद और लम्बचूडक इत्यादि भावी नामकरणों की समस्या का समाधान सूत्रशाटक या भाविसंज्ञाविज्ञान न्याय में देखा जा सकता है। आधुनिक लोकतन्त्रीय व्यवस्था का मूल ब्राह्मणग्राम न्याय में सन्निहित है। आधुनिक 'कहीं की ईट कहीं का रोड़ा' इस मुहावरे का मूल भी नष्टाश्वदग्धरथ न्याय में खोजा जा सकता है। "यो द्वयोः (षष्ठीनिर्दिष्टयोः) स्थाने भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम् यह नियम देवदत्त/देवदत्तापुत्र न्याय से पर्यवसित होता है।

छिन्नपुच्छकर्णश्वा न्याय से "एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति" इस सिद्धान्त की स्थापना होती है। अतिदेश को सम्यक् प्रकार से समझने के लिए गुरुवद्गुरुपुत्र तथा गुरूपुत्रगुरू न्यायों को कौन नहीं सुनना चाहेगा ? इसी प्रकार भ्रष्टावसर न्यायप्राप्त

कार्य देवदत्तहन्तृहतन्याय से निषिद्ध जानना चाहिए। "अन्तरेणपि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते" तथा "अन्तरेणपि वतिमतिदेशो गम्यते" ये दोनों सिद्धान्त क्रमशः आयुर्घृतम्" "दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः" तथा "अब्रह्मदत्तब्रह्मदत्तः" इन दोनों न्यायों के ही आश्रित हैं। सिद्धासिद्धप्रसङ्ग में "देवदत्तहन्तृहत" न्याय की भूमिका अनुपेक्षणीय है। "अकृतकारि खल्वपि शास्त्रम्" इस सिद्धान्त में अदग्धदहन न्याय तथा "कृतकारि खल्वपि शास्त्रम्" सिद्धान्त में पर्जन्यवर्षण न्याय ही प्रयोजक है।[111] सूत्र में प्रयुक्त किसी लिङ्गवचन विभक्ति को अविवक्षित सिद्ध करने के लिए उस लिङ्गवचनविभक्ति की नान्तरीयकता के प्रसङ्ग में धान्यपलाल न्याय या मत्स्यकण्टकन्याय को कैसे भुलाया जा सकता है ? भाष्यकार की मनोविनोदी प्रकृति को समझने के लिए "आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे", "देवा एव एतज्ज्ञातुमर्हन्ति" या वैयाकरणरथिसूतसंवाद ये तीन न्याय ही पर्याप्त हैं।[112] इस सन्दर्भ में भाष्यकार द्वारा किसी जातक से उद्धृत निम्न श्लोक अवश्य पठनीय है-

"बहुनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।
पश्य वानर सैन्येऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते॥
मैवं मंस्थाः सचित्तोऽयमेषोऽपि हि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति॥"

"अन्यार्थं प्रकृतमप्यन्यार्थं भवति" इस नियम में शालिकुल्याप्रणयन न्याय अविस्मरणीय है। "सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्" इस सिद्धान्त में गवाश्वगर्दभ का उदाहरण बड़ा सटीक बन पड़ा है।[113] अविरोध चाहने वाले के लिए तुल्यबलप्रेषण न्याय पठनीय है। "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इस सिद्धान्त में गंगायमुनाग्रहण तथा देवदत्तास्थगर्भ न्याय की भूमिका अनुपेक्षणीय है। अपने किसी प्रियजन को विदा करने के समय प्रयुक्त "आवनान्तात् ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत्" यह न्याय "प्राग्रीश्वरान्निपाताः"[114] सूत्रस्थ रेफ के प्रसङ्ग में सहज ही स्मरण हो आता है। समास प्रकरणस्थ जहत्स्वार्थावृत्ति तथा अजहत्स्वार्थावृत्ति को स्पष्ट करने के लिए क्रमशः राजतक्षा न्याय तथा भिक्षुकभिक्षा न्याय की कौन उपेक्षा कर सकता है ? भाष्यकार को इस लौकिक बात का पूरा ज्ञान था कि "भवति हि विशेषः स्वस्मिन् भ्रातरि पितृव्यपुत्रे च"। एक स्थान पर तो भाष्यकार विषय का प्रतिपादन करते हुए यथार्थवादी आधुनिक हिन्दी कवियों से भी आगे निकल आए और दो भाइयों के एकोदरजन्यत्व सम्बन्ध के बारे में उन्होंने माता के उदर को एक सामान्य धर्मशाला से उपमित कर दिया। चन्द्रमुखी देवदत्ता कहकर भाष्यकार अनिर्दिष्ट गुण का भी लोक में सम्प्रत्यय होना सिद्ध करते हैं। शब्दों के लिङ्गनिर्धारण के लिए भाष्यकार ने यद्यपि आदित्यगति, मृगतृष्णा, गन्धर्वनगर आदि अनेक न्यायरूप युक्तियों के साथ-साथ लौकिक चिह्नों के स्थान पर स्वशास्त्रीय सिद्धान्त बनाने का बहुत प्रयत्न

किया तथापि उनमें भी अपवाद दिखाई देने से फिर इस विषय को शिष्ट लोक पर ही छोड़ दिया जोकि "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" इस न्याय के रूप में स्वीकार किया जाता है। किसी अनवरत चक्रव्यूह में फंसना ही यहां चक्रकप्रसङ्ग न्याय से संकेतित किया गया है जिसका समाधान शास्त्र द्वारा किया जाता है। भाष्यकार ने अनेकत्र यथास्थान न्यायादि दर्शनग्रन्थों में प्रचलित धूमाग्नि, त्रिविष्टब्धक तथा अलातचक्र जैसे लोकन्यायों का भी उपयोग किया है।

इसी तरह सामान्येन तो भाष्यकार ने सन्नियोगशिष्टन्याय तथा अर्धजरतीय न्याय के त्याग को उचित नहीं माना है तथापि "यस्य लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् .... तदनित्यमपि" ये दोनों लोकव्यवहारमूलक न्याय इसके अपवाद जानने चाहिएं। व्यञ्जनवर्णों के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के लिए नटभार्या या नटाङ्गना न्याय किस सहृदय को आकृष्ट नहीं करता? "यश्चोभयोः समो दोषो न तमेकश्चोद्यः" इस लोकोक्ति रूप लोकन्याय से भाष्यकार ने अनेकत्र न्यासान्तर के स्थान पर यथास्थित सूत्र का ही समर्थन किया है। "अवयवेनापि शास्त्रार्थसम्प्रत्ययो भवत्यनवयवेनापि" इस सिद्धान्त के प्रसङ्ग में "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः....." इस वाचनिक न्याय द्वारा उत्थापित दोष को परिहृत करने के लिए "न वै कामानां तृप्तिरस्ति" यह लोकोक्तिमूलक न्याय कितना मनोहारी बन पड़ा है। यथाप्रसङ्ग भाष्यकार ने गुरुशिष्य को लेकर नीति या उपदेशात्मक न्याय भी प्रस्तुत किए हैं, जैसे - "सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति" तथा गुरुवद् गुरुपुत्र इत्यादि।

इसी प्रकार व्यक्ति पदार्थ के साथ नान्तरीकतया होने वाले जाति पदार्थ के बोध को प्रकट करने के लिए पञ्जरस्थ सिंह न्याय के बिना और कौन सा सुगम अभ्युपाय हो सकता है ? शब्दशक्तिस्वभाव की महिमा को समझने के लिए "नियतविषयाः शब्दा दृश्यन्ते" न्याय तात्पर्यग्राहक है। सामान्य के साथ विशेष के भी कथन से उसका महत्त्व ख्यापित करना ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय तथा गोबलीवर्द न्याय से ही सुसंगत हो सकता है। शास्त्र में यथासंख्यनियम की अनिवार्य आवश्यकता प्रतिपादित करने के लिए "कन्याब्रह्मचारिणौ दण्डकन्दुकहस्तौ" यह व्युत्क्रमणयुक्त लौकिक उदाहरण स्वयं ही निगद व्याख्यात है। सूत्रार्थनिर्णयप्रसङ्ग में "संयोगो विप्रयोगश्च" इत्यादि अभियुक्तोक्ति के अनुसार सवत्सा धेनुः तथा अवत्सा धेनुः इत्यादि न्यायों की आवश्यकता स्वतः सिद्ध है। "मौका चूके डूमणी गावे आल पताल" इस लोकोक्ति के अनुसार किसी सूत्र की प्राप्ति न रहने पर उसे पुनः प्राप्त कराने की अनर्थकता के विषय में भ्रष्टावसर न्याय की उपयोगिता देखी जा सकती है। 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' इस सिद्धान्त में राजपुरप्रवेश न्याय एक अनुत्तम निदर्शन है। अभ्युपगमसिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए वैयाकरणों ने अनेकत्र कई बार पूर्वपक्षी की बात वस्तुतः स्वीकार न करते हुए भी उसे केवल थोड़ी देर के लिए मानकर तुष्यतु दुर्जनः न्याय का बड़ा स्थाने प्रयोग किया है।

शब्दोत्पत्ति के विषय में वीचीतरङ्ग न्याय तथा कदम्बमुकुल न्याय ये दोनों तो प्रसिद्ध ही हैं। "मतुबपि मतुबर्थे वर्तते" इस सिद्धान्त में देवदत्तशालाब्राह्मणानयन न्याय अन्यतम है। प्रकृति-प्रत्यय की शास्त्रीय कल्पिति की सत्ता के विषय में रेखागवय न्याय का महत्त्व अक्षुण्ण है। सूत्रस्थ किसी पद के पूर्वोत्तरत्र सम्बन्धप्रदर्शन में मध्यमणि न्याय, देहलीदीपन्याय या काकाक्षिगोलक न्याय अनुपम हैं। अचोदित वस्तु के भी नान्तरीयकत्वात् अभीष्ट ग्रहण में अग्न्यानयन न्याय का उपयोग देखा जा सकता है। व्यर्थ की मूर्खतापूर्ण अजागलस्तनतुल्य विचारणा को वैयाकरणों ने अभित्तिचित्रायित या काकदन्तपरीक्षा न्याय से कहा है। 'कल्' धातु के सार्वत्रिक उपयोग को वैयाकरणों ने 'कलिः कामधेनुः' न्याय से व्याख्यात किया है। किसी सिद्धान्त या बात को जब नाम्ना या जोर देकर स्पष्ट किया जाए तो ऐसा करना शृङ्गग्राहिका न्याय से समर्थित किया जाता है। इसी तरह किसी दुर्बल तर्क को कुब्जशक्तिवाद न्याय से निरस्त किया जाता है। प्रकृति-प्रत्यय की रसाभासपूर्ण पारस्परिक अपेक्षा के अभाव को सीता-रावण न्याय से समझाया गया है। किसी प्रयोग में किसी सूत्र को पहले प्रवृत्त करके फिर बाद में उसका निमित्त न रहने पर अब उसके हटाने के स्थान पर उसको पहले ही प्रवृत्त न करना पङ्कप्रक्षालनन्याय, अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः तथा निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः इन न्यायों के द्वारा श्रेयस्कर बताया गया है। विप्रतिषेध को समझने-समझाने के लिए तुल्यबल प्रेषण न्याय से अतिरिक्त अन्य कौन सा उत्तम अभ्युपाय हो सकता है? इसी प्रसङ्ग में दुर्बल तथा बलवान् सूत्रों के विरोध को समझने का मशकसिंहविरोध न्याय से उत्तम और कौन सा उपाय हो सकता है ? कई बार इष्ट सिद्धि के लिए कोई उपाय न रहने की स्थिति (अचिकित्स्य प्रयोग) को वन्यगजशौच न्याय या अगतिकगति न्याय नाम भी मिलता है।[115] किसी विस्तृत समस्या के समाधान के बीच में प्रसङ्गवश क्रम को तोड़ने वाली व्यवधान के रूप में कुछ आनुषङ्गिक बातें उपस्थित होने पर उन्हें सूचीकटाह न्याय से उपपन्न होने पर उसे "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" न्याय से ही समाहित किया जाता है।

इस प्रकार स्थालीपुलाक न्याय से उपरिदर्शित लोकन्यायों के संक्षिप्त विवरण से यह सहज ही पर्यवसित हो जाता है कि बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोध से व्याकरणशास्त्रीय दुरूह एवं निगूढाकूति ग्रन्थियों के सुकर लोकप्रिय उद्घाटन एवं उन्मोचन में इन लोकन्यायों का अत्यधिक योगदान रहा है। इनके साहाय्य से व्याकरणशास्त्र नीरस विषय न रहकर अबुध या पेलवधी जनों के लिए भी सहज बोधगम्य हो जाता है। व्याकरणशास्त्र को लोकन्यायों के साथ व्याख्यान करने से यह भी स्वतः सिद्ध हो जाता है कि पहले सारा व्यवहार संस्कृत से ही सम्पन्न होता था, जैसा कि मनु भी कहते हैं-

"सेनापत्यं राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति"॥[116]

अभिधान-अनभिधान या विवक्षा आदि की सार्थकता भी संस्कृत की लौकिक प्रयोगयोग्यता में ही निहित है। इससे कुछ विद्वानों का किसी काल में संस्कृत के व्यावहारिक भाषा न रहने का या उसके केवल शिष्ट वर्ग की ही भाषा होने का आरोप भी निर्मूल हो जाता है। प्रस्तुत अध्ययन से जहां मुख्यरूपेण शास्त्र के साथ-साथ न्यायों के स्वरूप का ज्ञान होगा वहीं आनुषङ्गिक रूपेण प्राचीनकालिक सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक आदि लोकव्यवहारों का भी ज्ञान होगा। निष्कर्षतः आज भी संस्कृत भाषा और उसके व्याकरणिक नियमों को लोकप्रिय तथा व्यापक बनाने में ये लोकन्याय निश्चित ही उपकारक हो सकते हैं।

(घ) लोकन्याय शब्द का अर्थ तथा इसका स्वरूप

सामान्यतः लोक, वेद तथा काव्य छन्द, व्याकरण, अभिधानकोश, कला, चतुर्वर्ग, गज-तुरग, खड्ग आदि के स्वरूप को प्रतिपादित करने वाले शास्त्र में प्राप्त एवं दृष्ट व्यक्तिगत या सामाजिक घटनाओं या व्यवहारों का सशक्त आधार लेकर संसार के अनुभव, प्रकृति के अनुभव, लोकोक्तियां, पौराणिक या स्वोपज्ञ कथा, घटना, दृष्टान्त तथा धर्मशास्त्रादि अनेक स्रोतों का उपयोग करते हुए किसी का समर्थन या विरोध करने के साथ-साथ जो आकार की दृष्टि से लघुतम परन्तु उपयोगिता एवं अर्थव्यञ्जकता की दृष्टि से व्यापकतम, सरलतम, सूत्ररूप, वाक्यात्मक या पदात्मक अभिव्यक्ति होती है, वह लोकन्याय शब्द से जानी जाती है।[117] अतः स्वाभाविक है कि फिर ये न्याय भी इन्ही मूल स्रोतों या उत्सों से विकसित होकर यहां विवेचित हो रहे हैं। परन्तु वेद या शास्त्रों में भी ये न्याय प्रतिसंस्कृत होकर मूलतः लोक से ही आए हैं। इसलिए सामान्यतया इन्हें लोकन्याय कहना ही युक्तिसंगत है। इन लोकन्यायों के लिए व्याकरणशास्त्र में लोकविज्ञान,[118] लोकविदित,[119] लोकाश्रय[120] या लौकिकोऽयं दृष्टान्तः[121] अथवा लौकिकोऽयं न्यायः आदि अनेक शब्दों का व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। परन्तु अवधेय है कि महाभाष्य में लोकन्याय ऐसा साक्षात् समस्त अभीष्टपद का प्रयोग नहीं उपलब्ध होता। इस शब्द का इसी रूप में प्रथम प्रयोग पदमञ्जरी में देखा जाता है।[122] परन्तु अर्थ की दृष्टि से इन सबमें कोई भेद नहीं है।

इस सन्दर्भ में नागेशभट्ट लोक या शिष्ट लोक की परिभाषा देते हुए कहते हैं-

"लोक्यते येन शब्दार्थो लोकस्तेन स उच्यते।
व्यवहारोऽथवा वृद्धव्यवहर्तृपरम्परा।।"[123]

अर्थात् जिससे शब्द के अर्थ का अवलोकन या प्रमाणीकरण होता है वह लोक कहलाता है। परन्तु शिष्टलोकव्यवहार एवं अनादि वृद्धव्यवहार करने वालों की परम्परा (प्रवाहनित्यता)– इस भेद से यह लोक भी दो प्रकार का होता है। इस तरह वर्तमान लोकव्यवहार[124] तथा अनादिवृद्धव्यवहार परम्परा से किसी भी शब्द के साधुत्वासाधुत्व का निर्णय किया जाना सिद्ध होता है। इसी प्रकार शास्त्र में यह न्याय शब्द भी अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है। इसकी अर्थगत एवं प्रयोगगत महत्ता को समझने के कारण ही आचार्य पाणिनि को भी इसकी व्युत्पति के लिए विशेष सूत्र बनाना पड़ा, तद्यथा - "परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः"।[125] तदनुसार 'नि' उपसर्गपूर्वक "इण् गतौ" धातु से अभ्रेष अर्थ में सामान्य प्राप्त प्रत्यय 'अच्' को बाधकर विशेष या अपवादस्वरूप 'घञ्' प्रत्यय होता है। 'भ्रेष्' धातु चलनार्थक है, अतः अभ्रेष का अर्थ हुआ - अपने स्वरूप से न चलना, न प्रच्युत होना या न गिरना। काशिकाकार के शब्दों में - उपचार या यथाप्राप्त न करना कुत्सित चार या असाधु होने से लोक में निन्दित होता है। अतः अनपचार या शान्त अथवा प्रशस्त आचरण अभ्रेष कहलाता है[126] अर्थात् युक्तिवशात्, आगमवशात् या लोकप्रसिद्धिवशात् जैसा (न्यायप्राप्त) व्यवहार पदार्थों के लिए प्राप्त होता है वैसा (न्यायप्राप्त व्यवस्थित) करना ही अभ्रेष होता है। इस तरह यदि यथाप्राप्त का अतिक्रमण नहीं होता है तो पदार्थ अपने स्वरूप से अप्रचलित रहते हैं[127] और यही न्याय या न्यायादनपेत[128] है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के आधार पर न्याय शब्द का निष्कृष्ट अर्थ यह हुआ कि तर्क या युक्ति के आधार पर प्राचीन वचन या आगम के आधार पर (अन्यथा प्रत्यवायभाक् होने का भय है) तथा शिष्टलोक के व्यवहार के आधार पर जिस प्रसङ्ग में किसी वस्तु या पदार्थ के साथ जो यथाप्राप्त है, उचित है, उसका सम्पादन करना ही न्याय शब्द का अर्थ फलित होता है। "एषोऽत्र न्यायः", "एष एव न्याय" इत्यादि भाष्यप्रयोगों से भी यही अर्थ निर्गलित होता है। प्रयोग की दृष्टि से "औचित्य" अर्थ में न्याय शब्द को प्रयुक्त करते हुए कैयट कहते हैं - "कर्मादीनि तु विजातीय-क्रियापेक्षणाद्बहिरङ्गाणीति न्यायप्राप्तः क्रमः"।[129] इसी अर्थ में न्याय शब्द को प्रयुक्त करते हुए कैयट अन्यत्र भी कहते हैं - "अयुक्त इति। न्यायेनासम्बद्ध इत्यर्थः। न्याय-शब्दस्य प्रयोगस्तु प्रसिद्धत्वान्न कृतः। कदाचित् प्रसिद्धार्थस्यापि प्रयोगो दृश्यते - न्यायेनायुक्तमिति धात्वर्थेऽन्तर्भूतस्य प्रयोगाभावः। न हि भवति जीवति प्राणानिति"।[130] भट्टोजिदीक्षित भी इस अर्थ पर कण्ठतः अपनी मुहर लगाते हुए कहते हैं - "एषोऽत्र न्यायः उचितमित्यर्थः"।[131]

वास्तव में व्याकरणशास्त्र में तो प्रामाणिक आप्त या शिष्ट लोगों का उचित तर्कसंगत या व्यवस्थित व्यवहार ही न्यायपदभाक् है। "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः"[132] इस आप्त वचन में पठित प्रमाण शब्द को अर्थविस्तारसिद्धान्त के आधार पर यदि तर्कपूर्ण लौकिक व्यवहार या इष्टि अर्थ में ग्रहण कर लिया जाए जैसा कि संज्ञाप्रमाण[133] या अन्यप्रमाण[134] कहकर आचार्य पाणिनि भी संकेत दे रहे हैं तो इससे भी न्याय शब्द का अर्थ समर्थित हो जाता है। सम्भवतः ऐसे लौकिक परीक्षक शिष्ट लोगों के लिए ही व्याख्याकार अनेक स्थानों पर न्यायवित्, सुधी, बहुश्रुत, बहुदर्शी या अधिकलक्ष्यदर्शी इत्यादि विशिष्ट विशेषणों का व्यवहार करते है।[135] ध्यान रहे कि इसकी विपरीत स्थिति में सूक्ष्मदर्शी यह व्यङ्ग्यात्मक विशेषण भी प्राप्त होता है।[136] इस सन्दर्भ में सामान्य व्यवहार अर्थ में भी न्याय शब्द का प्रयोग करते हुए नागेश कहते हैं - "यस्य च लक्षणान्तरेण

निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् ...... यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम् ..... सप्तमे कैयटेनैतदुपष्टम्भकं लोकव्यवहारद्वयमुदाहृतम्। बालिसुग्रीवयोर्युध्यमानयोर्भगवता बालिनि हतेऽपि सुग्रीवस्य बालितः प्राबल्यं न व्यवहरन्ति। भगवत्सहायैः पाण्डवैर्जये लब्धेऽपि पाण्डवानां प्राबल्यं व्यवहरन्ति चेति। सर्व चेदं लक्ष्यानुरोधाद् व्यवस्थितम्''।[137] भट्टोजिदीक्षित भी ''लौकिकद्विविधव्यवहार उपष्टम्भकत्वेनोदाहृतः कैयटादिभिः''[138] ऐसा कहते हुए न्याय को लौकिक व्यवहार ही मान रहे हैं। परन्तु ध्यातव्य है कि जिसे नागेशादि लोकव्यवहार कह रहे हैं उसे ही स्वयं कैयट न्याय शब्द से अभिहित करते हैं, जैसे- ''एतदर्शनसंश्रयेणोच्यते यस्य च लक्षणान्तरेणेति। यदा त्वेष न्याय आश्रीयते लक्षणान्तरप्रवृत्तिनिमित्तमुपसंहरल्लक्षणं बलवद्भवति''[139]। वस्तुतः किसी बात को स्पष्ट करने के लिए निदर्शनार्थ जो व्यवहार, बात, सादृश्य, प्रकारता, परम्परा या मान्य उपाय, तरीका उपन्यस्त किया जाता है उसे न्याय कहा जा सकता है।[140] इस सन्दर्भ में न्याय शब्द का परिभाषा अर्थ भी अवलोकनीय है। क्योंकि व्याकरणशास्त्र में परिभाषाएं तीन प्रकार की मानी जाती हैं - वाचनिक, ज्ञापकसिद्ध तथा न्यायसिद्ध। इनमें न्यायसिद्ध परिभाषाएं प्रायः वही देखने में आती हैं जो लोकव्यवहार से सम्पुष्ट होती हैं। जैन वैयाकरण हेमसंगणि ने तो अपने परिभाषा कोश का नाम ही न्यायसंग्रह रखा है। इस दृष्टि से भी न्याय शब्द का अर्थ परिभाषा होने के साथ-साथ लोकव्यवहार भी ध्वनित होता है। परन्तु इस अर्थ में थोड़ी सी विप्रतिपत्ति यह उत्पन्न होती है जब शास्त्रों में यह न्याय शब्द केवल शिष्ट लौकिक व्यवहार या दृष्टान्त अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होता प्रत्युत शास्त्रीय दृष्टान्त अर्थ में भी प्रयुक्त दृग्गोचर होता है, क्योंकि जैसे लौकिक न्याय होते हैं वैसे ही शास्त्रीय न्याय भी होते हैं, जैसे शास्त्रीय दृष्टान्तमूलक परिभाषा या न्याय है - ''सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव''[141] तथा लोकव्यवहारमूलक न्याय है - तुल्यबलप्रेषण न्याय[142]। अतः ऐसी स्थिति में फिर न्याय शब्द का केवल लोकव्यवहार अर्थ कैसे हो सकता है? परन्तु गम्भीरता से विचारने पर यह कोई समस्या नहीं है। वस्तुतः यहां भी यह न्याय शब्द उचित, व्यवस्थित व्यवहार अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है भले ही वह लौकिक हो या शास्त्रीय। ''अनियमे नियमकारिणी परिभाषा'' यह परिभाषा की परिभाषा भी इसमें उपोद्बलक है। दोनों स्तरों पर न्याय शब्द के उक्त अर्थ में कोई विशेष विरोध नहीं है।

इसी प्रकार ज्ञापक के अर्थ में भी न्याय शब्द प्रयुक्त हुआ है। जहां आचार्य पाणिनि किसी बात का साक्षात् वाचनिक उपदेश न करके केवल अपनी सूत्ररचना द्वारा परोक्ष रूप से कोई अभीष्ट संकेत करते हैं, वह ज्ञापक कहलाता है। वास्तव में यहां यह ज्ञापक शब्द भी एक प्रकार से सूत्र का ही वाचक है और सूत्र या उसके द्वारा प्रतिपादित नियम के लिए तो भाष्यकार कण्ठतः न्याय शब्द को पढ़ते ही हैं, - ''वाऽसरूपन्यायेन ण्वुलपि भविष्यति''।[143] ''वाऽसरूपन्यायेन युजपि भवति''[144]।

हरदत्त भी कहते हैं - ''तृम्फादिषु तु परनकारलोपस्य चिणो लुगन्यायेनासिद्धत्वादेव पूर्वनकारस्य लोपाभावः सिद्धः''।[145] इस विषय में पदमञ्जरीकार अन्यत्र भी लिखते हैं - ''न च द्विर्वचनन्यायेन समुदायस्यैव स्यादिति वाच्यम्। यथा द्विर्वचनं समुदायावयवैकाचोर्युगपत् कर्तुमशक्यम्, नैवमत्राशक्तिः, यथा च समुदाये द्विरुक्तेऽवयवा अपि द्विरुक्ता भवन्ति - वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलतीति न्यायेन, न च तथेह समुदाये प्रवृत्तया संज्ञयाऽवयवानां तत्कार्यसिद्धिः। अतो नायं द्विर्वचनन्यायस्य विषयः''।[146] इस प्रसङ्ग में नागेश भी लिखते हैं- ''सरूपाणामिति बहुवचनेन प्रत्येकं स्थानित्वबोधनेन रमागमन्यायेन सर्वनिवृत्तेरदोषात्''।[147] ''वाक्यं न्यायापवादयोः''[148] भर्तृहरि की इस कारिका में भी नागेश के अनुसार न्याय का अर्थ उत्सर्ग ही है।[149] भाष्यकार स्वयं भी उत्सर्गापवाद सूत्रों को 'अपवाद न्याय' शब्द से अभिव्यक्त करते दिखाई देते है।[150] परन्तु कहीं कहीं पर सूत्र और न्याय शब्द भिन्नार्थक भी देखे जाते हैं - ''शैलीयमाचार्यस्य यस्य क्वचिदभिधानमाश्रयति, क्वचिन्न्यायम्, क्वचिद्वचनमिति, तत्सर्वमुच्यते,[151] नेदं व्यपदेशिवद् वचनं (सूत्रं) लौकिकोऽयं न्यायः[152], नेदं वचनं नापि न्यायः[153] तथा ''न्यायापेक्षया वचनस्य बलीयस्त्वात्''[154]। इसी प्रकार न्याय और ज्ञापक में भी भाष्यकार भेद ज्ञापित करते हैं - ''नैतज्ज्ञापकसिद्धमन्या संख्याऽन्यत् परिमाणमिति, न्यायसिद्धमेवैतत्''[155]।

आप्टे कोश के अनुसार न्याय शब्द के निम्न अर्थ हैं- 1. प्रणाली, तरीका, रीति, नियम, पद्धति, योजना; 2. उपयुक्तता, औचित्य, सुरीति, 3. कानून, न्याय या इन्साफ, नैतिक विशालता, न्याय्यता, सच्चाई, ईमानदारी; 4. कानूनी मुकदमा, कानूनी कार्रवाई; 5. कानून के अनुसार दण्ड, निर्णय; 6. राजनीति, अच्छा शासन; 6. तुल्यता, समानता, सादृश्य; 8. सिद्धान्त वाक्य या लोकारूढ नीतिवाक्य, उपयुक्त दृष्टान्त, निदर्शना जैसे कि दण्डापूप न्याय, काकतालीय न्याय, घुणाक्षर न्याय आदि; 9. वैदिक स्वर; 10. व्याकरण का विश्वव्यापी नियम, जिसका सर्वत्र समानरूप से पालन हो, 11. गौतम ऋषिप्रणीत न्यायशास्त्र; 12. तर्कशास्त्र, न्यायदर्शनः 13. अनुमान की पूरी प्रक्रिया जिसमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पांचों अङ्ग हैं।[156] न्यायमूलक अलंकारों को देखते हुए न्याय शब्द का एक अर्थ कार्यकारणभाव भी हो सकता है। इस प्रकार न्यायशब्द के उपर्युक्त अर्थों को देखते हुए व्याकरणशास्त्र में प्रयुक्त न्यायों के प्रसङ्ग में न्याय शब्द से औचित्यपूर्ण, तर्कसंगत शिष्टव्यवहारानुगामी कोई, नियम, व्यवस्था, पद्धति, तरीका, व्यवहार, सादृश्य या प्रकारता अभिप्रेत है। ऐसी स्थिति में ''यथा लोके तथा व्याकरणे'' सिद्धान्त के आधार पर लोक शब्द को न्याय शब्द से जोड़ने पर लेखक ने लोकनियामक सूत्ररूप लोकन्याय शब्द का किसी विषय के स्पष्टीकरण, समर्थन या विरोध के लिए प्रस्तुत शिष्ट लोकारूढ, औचित्यपूर्ण, सादृश्यपरक व्यवहार या लौकिक निदर्शनात्मक दृष्टान्त, सूक्ति, लोकोक्ति, कहावत या मुहावरा

अथवा बह्वर्थप्रतिपादक लौकिक उदाहरण जिसके बल से ही दुरवगाह शास्त्र ग्रन्थियां/फक्किकाएं अनायास ही स्फुटित होकर प्रतिभात हो जाती हैं- यह व्यापक अर्थ ग्रहण किया है।

इस प्रसङ्ग में यह अवश्य स्मरणीय है कि यों तो अन्य शास्त्रों में भी कुछ शास्त्रीय न्याय प्रसिद्ध हैं, जैसे- मीमांसा का न्यायाधिकरण, न्यायदर्शन का सत्प्रतिपक्ष आदि न्याय, परन्तु यहां एक तो व्याकरणशास्त्रीय न्याय ही संगृहीत हैं, भले ही वे लोकप्रियता तथा उपयोगिता की दृष्टि से समानान्तररूप से अन्य शास्त्रों में भी प्रयुक्त हों और दूसरे वे न्याय भी शुष्क शास्त्रीय न होकर लोकारूढ व्यवहार से ही सिद्ध हैं। भाव यह है कि "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्"[157] इस अभियुक्तोक्ति के अनुसार जो लोकन्याय तो व्याकरणशास्त्र के साथ-साथ अन्य शास्त्रों में भी प्राप्त होते हैं, वे तो यहां संगृहीत हैं परन्तु जो केवल अन्य शास्त्रों में ही उपलब्ध होते हैं, व्याकरणशास्त्र में नहीं, वे यहां विवेचित या व्याख्यात नहीं हुए हैं।

परन्तु लोकन्याय शब्द के अर्थ पर अन्तिम निर्णय करने से पूर्व प्रसङ्गवश संभवतः इसके कुछ समानार्थी प्रतीत होने वाले शब्दों पर भी अत्यन्त संक्षेप में विचार करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। इस सन्दर्भ में निम्न शब्द इसके समानार्थी प्रतीत हो सकते हैं– प्राज्ञोक्ति, लोकारूढ नीतिवाक्य, प्रहेलिका, मुहावरा, कहावत, लोकोक्ति, सूक्ति, सूत्रवाक्य, अन्योक्ति, स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, अपह्नुति, दृष्टान्त, उदाहरण, व्यङ्ग्योक्ति, सिद्धोक्ति, कूट वाक्य, किंवदन्ती, सांकेतिक भाषा और गुप्तभाषा आदि। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इनमें प्रहेलिका, अन्योक्ति, स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति, अपह्नुति, व्यङ्ग्योक्ति, सिद्धोक्ति, कूटवाक्य, किंवदन्ती, सांकेतिकभाषा और गुप्तभाषा तो केवल आपाततः आंशिक वैशिष्ट्य या साम्य को लेकर ही लोकन्यायों की पर्यायकोटि में गिनी जाती हैं। वैसे इनका लोकन्यायों के साथ कोई अधिक संवाद नहीं है। हां, शेष शब्द अवश्य पर्याप्त सीमा तक लोकन्यायों के साथ साम्य या अपने विसंवाद को कुछ कम रखते हैं। तद्यथा–

प्राज्ञोक्ति

प्राज्ञ अर्थात् पण्डित या विद्वान् के द्वारा कही गई उक्ति या कथन प्राज्ञोक्ति होती है। ये प्राज्ञोक्तियां ही प्रसिद्ध होने पर अपने स्तर से कुछ नीचे आ जाती हैं और सामान्य लोक द्वार गृहीत होकर लोकोक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं। वस्तुतः प्राज्ञोक्ति और लोकन्याय इन दोनों में आपाततः साम्य प्रतीत होकर भी परिणामतः इन दोनों में कार्यकारणभाव ही होता है। क्योंकि युक्तिसंगत लोकन्याय ही प्राज्ञोक्ति तथा लोकोक्ति इत्यादि के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है, जैसे- भ्रष्टावसर न्याय, देहलीदीप न्याय इत्यादि। वैसे इन तीनों में प्रमुख अन्तर यही है कि लोकन्यायों का क्षेत्र तो आपामर साधारणजन व्यवहार्य होने से व्यापक होता है जबकि प्राज्ञोक्तियां केवल प्राज्ञ या शिष्ट वर्ग तक

ही सीमित होती हैं। परन्तु व्याकरण में लोक का तात्पर्य शिष्ट (प्राज्ञ) लोक होने से प्राज्ञोक्ति भी लोकन्याय से व्यपदिष्ट हो सकती है। अतः प्रकृत लोकन्याय के इस ग्रन्थ में भी कुछ प्राज्ञोक्तिरूप लोकन्याय देखे जा सकते हैं।

लोकारूढ नीतिवाक्य

व्युत्पत्ति की दृष्टि से नीति शब्द 'णीञ् प्रापणे' धातु से 'क्तिन्' यह स्त्री प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है जोकि अर्थ की दृष्टि से इसी धातु से निष्पन्न 'अच्' प्रत्ययान्त पुंलिङ्ग 'नय' शब्द की परिधि में आना चाहिए। न्याय शब्द में तो 'नी' धातु न होकर निपूर्वक् 'इण् गतौ' धातु है। अस्तु, 'नय' शब्द का अर्थ तर्क है, जैसे- राज्ञो नयः। अतः फिर आपाततः नीति शब्द भी तर्क अर्थ का ही वाचक प्रतीत होता है। परन्तु प्रयोग की दृष्टि से साहित्य में न्यायसंगत व्यवहार के साथ-साथ धर्म और आचार शब्द भी नीति शब्द के अर्थ में प्रयुक्त देखे जाते हैं।[158] वस्तुतः नीति शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ है कि वह (प्रापक) मार्ग या आचरण जो मानवमात्र (व्यष्टि) को बुराइयों से बचाते हुए सन्मार्ग की ओर लाए और समाज (समष्टि) को अच्छाई की दृष्टि से आगे ले जाए। परन्तु संस्कृत में यह लोकाभ्युदयकारी नीति दो प्रकार से उपदिष्ट मिलती है - नीति काव्य के रूप में और नीतिशास्त्र के रूप में। नीतिकाव्य के भी तीन प्रकार देखने में आते हैं - मुक्तक नीतिकाव्य, निबन्धात्मक नीतिकाव्य तथा प्रबन्धात्मक नीतिकाव्य। इनमें प्रकृष्ट प्रस्तुत नीतिकाव्य प्रथम मुक्तक नीतिकाव्य से सम्बद्ध है जोकि सरस, मधुर तथा स्वतन्त्र होने से पाठकों का कण्ठहार बन जाते हैं। फलतः अनुकूल प्रसङ्ग उपस्थित होते ही समर्थन या खण्डन करने के लिए वे नीतिवचन उनके मुख से सहसा फूट पड़ते हैं। चाणक्यनीति, विदुरनीति, शुक्रनीति इत्यादि मुक्तक नीतिकाव्य इसमें तात्पर्यग्राहक हैं।

ध्यातव्य है कि नीति में आदर्श की अपेक्षा व्यावहारिकता पर अधिक ध्यान देते हुए निदर्शनात्मक दृष्टान्तों तथा अन्योक्तियों के माध्यम से विषयप्रतिपादन को अधिक ग्राह्य एवं मनोहारी बनाया जाता है। क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दृष्टान्त तथा अन्योक्ति के द्वारा प्रतिपाद्य विषय श्रोताओं के लिए सुपचतरक बन जाता है। आज भी लोक में किसी भी बात का समर्थन या खण्डन प्रायः किसी नीतिवाक्य से ही करते देखा जाता है। इसका कारण है कि ऐसा करने से वक्ता को अपने वक्तव्य के प्रतिपादनार्थ अतिरिक्त बल मिलने से उसकी बात प्रामाणिकतर हो जाती है। पञ्चतन्त्र में पं. विष्णुशर्मा ने भी राजकुमारों को नीति सिखाने के लिए उक्त दृष्टान्तमूलक पद्धति का ही आश्रयण किया था। उपनिषदों में भी ब्रह्मसम्बन्धी जिज्ञासा का उत्तर देने के लिए पहले दृष्टान्त के माध्यम से ही जिज्ञासा उत्पन्न की गई थी। वास्तव में लोकारूढ नीतिवाक्य और लोकन्याय वैसे तो दोनों ही तर्क, प्रमाण तथा अनुभवप्रसूत ठोस आधारों पर स्थित हैं तथापि दोनों में प्रयोक्तृकर्तृकभेद से भेद उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि

लोकन्याय आकार में सूत्ररूप होते हैं तथा लोकारूढ नीतिवचन बहुधा इसका विस्तृत या भाष्य रूप।[159] भाषा की विकासप्रक्रिया को देखते हुए ऐसी संभावना प्रतीत होती है कि ये लोकन्याय ही आगे चलकर लोकारूढ नीतिवाक्य या कहावत इत्यादि के रूप में परिबृंहित एवं परिवर्धित हो गए हैं। इसलिए वैयाकरणों ने अनेक प्रचलित नीति वचनों को न्याय का ही रूप देकर उन्हें प्रयुक्त भी किया है। प्रकृत लोकन्यायरत्नाकर में भी कुछ लोकारूढ नीतिवाक्यरूप न्याय देखे जा सकते हैं।

मुहावरा

किसी भी भाषा में लाक्षणिकता या ध्वन्यात्मकता (व्यङ्ग्यात्मकता) लाने के लिए मुहावरे का प्रयोग किया जाता है। यह मुहावरा एक ऐसा वाक्यांश होता है जो अपने विशेष प्रयोग के कारण वाच्यार्थ से भिन्न एक अलग ही अर्थ उत्पन्न कर देता है। यद्यपि लौकिक चिन्तन, अनुभव, क्वाचित्क अन्तःकथाएं, कुशाग्रता तथा विदग्धता आदि गुणों की दृष्टि से लोकन्याय और मुहावरों में कुछ साम्य दिखाई देता है तथापि कहने की आवश्यकता नहीं है कि मुहावरे लोकन्यायों की पूरी समानता नहीं कर सकते। क्योंकि लोकन्यायों का विचारक्षेत्र व्यापक होता है जबकि मुहावरों का सीमित। लोकन्यायों में व्यङ्ग्यात्मकता प्रधान होती है जबकि मुहावरों में लाक्षणिकता। शैली की दृष्टि से भी लोकन्याय मुहावरों की अपेक्षा संक्षिप्त होते हैं। मुहावरे जनसामान्य की भाषा में प्रादुर्भूत होती हैं जबकि लोकन्याय शिष्टजनों की भाषा से उत्पन्न होकर बाद में लोकप्रिय होने से जनसाधारण में भी मान्य हो जाता है। देश, काल, वातावरण और समाज के कारण मुहावरों में तो भाषिकपरिवर्तन संभव है जबकि लोकन्याय में प्रायः ऐसा परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार मुहावरे जहां अपूर्ण अर्थ की प्रतीति कराते हैं वहां लोकन्याय अपने आप में सम्पूर्ण अर्थ के साधक होते हैं। परन्तु व्याकरण शास्त्र में प्रयोगों को देखते हुए लोकन्याय और मुहावरों में अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होता। अतः प्रकृत लोकन्यायरत्नाकर में भी कुछ मुहावरेपरक लोकन्याय देखे जा सकते हैं।

कहावत

किसी संक्षिप्त, सारगर्भ, अनुभवनिरीक्षणसिद्ध, सप्राण तथा लोकप्रिय उक्ति को कहावत (कथावार्ता) कहा जाता है। कथा तथा वार्ता यद्यपि सामान्येन समानार्थक ही हैं तथापि कहावत सामान्य कथा न होकर एक विशेष अभिप्राय को लेकर उत्पन्न सारगर्भ उक्ति होती है। सम्भवतः इस निगूढ तात्पर्य को द्योतित करने के लिए ही कथा के साथ इसका समानार्थक वार्ता शब्द भी जोड़ दिया गया है। सम-विषम सभी परिस्थितियों में निर्णायक स्वर देने के लिए ये कहावतें न्यायाधीश का सा कार्य करती हैं। कहावतों में व्यङ्ग्य तत्त्व प्रमुख होता है। तात्त्विक दृष्टि से कहावत का क्षेत्र मुहावरे की अपेक्षा अधिक व्यापक होता है। मुहावरा जहां परतन्त्र वाक्यांश होता है वहां कहावत

स्वतन्त्र सामासिक वाक्य। जहां तक इनका लोकन्यायों से सम्बन्ध है तो निवेदन है कि इन दोनों में यद्यपि घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दोनों सूत्रबद्ध प्रभावोत्पादक वाक्यांश हैं, जैसे- आम्रसेकपितृतर्पण न्याय, काकाक्षिगोलक न्याय तथा देहलीदीप न्याय (एक तीर से दो निशाने) इत्यादि तथापि इन दोनों में गुण, धर्म, रूप तथा विशेषता की दृष्टि से भेद भी है। आकार की दृष्टि से लघूभूत होने के कारण लोकन्याय कहावतों के बीज कहे जा सकते हैं। इसके साथ ही जहां लोकन्याय शिष्ट संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं वहां कहावतें ग्रामीण परिवेश या संस्कृति का बोध कराती हैं। और जहां लोकन्याय गठन की दृष्टि से काव्यात्मक होते हैं वहां कहावतें गद्यात्मक होती हैं। वस्तुतः लोकन्याय ही 'सोपानावरोहण' न्याय से कहावतों के रूप में विकसित हुए प्रतीत होते हैं। परन्तु महाभाष्य में ग्रामीण संस्कृति का परिचय अधिक प्राप्त होने से और लोकन्याय के समानान्तर ही कहावतों का भी प्रयोग मिलने से यहां इन दोनों में अधिक अन्तर किया गया नहीं लगता। अतः प्रकृत लोकन्यायरत्नाकर में भी कुछ कहावत रूप लोकन्याय देखे जा सकते हैं, जैसे- वृद्धकुमारी वरवाक्य न्याय (एक ही साधे सब सधे) तथा भ्रष्टावसर न्याय (का वर्षा जब कृषि सुखाने) इत्यादि।

लोकोक्ति

किसी बात के समर्थन या खण्डन के लिए प्रस्तुत और लोक में प्रसिद्ध ऐसी संक्षिप्त उक्ति जो सूक्ष्म अनुभव एवं निरीक्षणप्रसूत, कथाप्रसूत अथवा प्राकृतिक नियमों के अनुसार हो, लोकोक्ति कहलाती है। यद्यपि आपाततः यहां भी लोकोक्ति तथा कहावत ये एक समान ही प्रतीत होती हैं तथापि रूप और अभिव्यक्तिकौशल के कारण इनमें स्पष्ट भेद हो जाता है। क्योंकि लोकोक्ति अपेक्षाकृत रूप से मुख्य होने के साथ-साथ जहां गम्भीर, सामासिक तथा व्यापक होती हैं वहां कहावत गौण, सरलतर तथा कम व्यापक होती हैं। इसके अतिरिक्त दोनों के प्रयोग से जहां कला के सामाजिक स्तर का बोध होता है वहां इन दोनों में जन्यजनकसम्बन्ध भी है। वस्तुतः लोकोक्ति में भाषा का युगयुगान्तर का सारा लोकानुभव हस्तामलकवत् उपस्थित हो जाता है। इसमें संक्षेप में किसी सर्वमान्य सत्य को उद्घाटित किया जाता है। यह लोकोक्ति ही किसी कवि द्वारा प्रयुक्त होने पर लोगों का कण्ठहार बन जाने से सूक्ति या सुभाषित या आप्तवाक्य बन जाती है। लोकोक्तियों में काव्य तत्त्व होने से ये प्रायः तुकान्त होती हैं और अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करने के लिए इनमें सन्दर्भ भी अनिवार्यतः अपेक्षित होता है। कई लोकोक्तियों में अन्तःकथा भी अनुस्यूत होती है। जैसे- वृद्धकुमारीवरवाक्यन्याय इत्यादि। परन्तु लोकोक्तियां और लोकन्यायों में किसी समस्याग्रस्त विषय के निदान या समाधान को लेकर इतना साम्य होने पर भी इन दोनों में आकार, रूप तथा स्वभाव की दृष्टि से भेद होता है। लोकन्याय जहां शिष्ट लोक तक समादृत होता है वहां लोकोक्ति लोकमात्र में अबाध रूप से व्यवहृत होती है। परन्तु स्रोत की दृष्टि से लोकोक्तियां

भी लोकन्यायों का ही विकसित रूप प्रतीत होती है। जहां तक व्याकरण का सम्बन्ध है तो ऐसा प्रतीत होता है कि यहां लोकन्याय और लोकोक्ति को समान सन्दर्भ में ही प्रयोग किया गया है। अतः प्रकृत लोकन्यायविषयक ग्रन्थ में भी कुछ लोकोक्तिरूप लोकन्याय देखे जा सकते हैं, जैसे- भ्रष्टावसर न्याय (अब पछताए होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत), अन्धपरम्परा (बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताए) तथा वृद्धकुमारीवरवाक्यन्याय (एक ही साधे सब सधे, सब सध सब जाए) इत्यादि।

सूक्ति

संस्कृत साहित्य सूक्तिमौक्तिकों से परिपूर्ण है। शार्ङ्गधर पद्धति, पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, सुभाषित सप्तशती तथा सुभाषितरत्नभाण्डागार इत्यादि आकर ग्रन्थ इसमें प्रमाण हैं। ऐसी उक्ति जो व्यापक लोकानुभवजन्य, संक्षिप्त, सुमनोहारी, किसी समस्या के ध्रुवसत्यरूप समाधान के समय प्रभावशाली ढंग से प्रयुक्त, तथ्यगत सत्यता से युक्त उपमा और निदर्शना इत्यादि से प्रसाधित हो और कवि आदियों द्वारा प्रयुक्त या साक्षात्कृत हो तो वह अमरवाक् या सूक्ति या सुभाषित कहलाती है। इसलिए वैदिक कवियों द्वारा दृष्ट कविता को सूक्त कहा गया है। सूक्ति की परिभाषा में कहा गया है-

"प्रबोधाय विवेकाय हिताय प्रशमाय।
सम्यक्तयोपदेशाय सतां सूक्तिः प्रवर्तते॥"[160]

वस्तुतः पूर्वोक्त कहावत या लोकोक्ति ही कुछ सूक्ष्मतर भेद को रखते हुए[161] विकसित तथा प्रसिद्ध होकर सूक्ति बन जाती है। यद्यपि सूक्त तथा सूक्ति इन दोनों शब्दों में व्युत्पत्तिगत अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों में ही सुपूर्वक 'ब्रूञ्' (वच्) धातु से भावार्थक 'क्त' और 'क्तिन्' प्रत्यय हुआ है तथापि प्रयोग को देखते हुए सूक्त शब्द वैदिक मन्त्रसमूह के लिए रूढ होने से लोक में प्रासङ्गिक अभीष्ट अर्थ का बोध (अभिधान) नहीं कराता। सूक्ति अपने प्रभावोत्पादक अर्थगाम्भीर्य के कारण कहावत और लोकोक्ति से कुछ विशिष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त सूक्ति में जहां लोकानुभव गौण और भावाभिव्यक्ति प्रमुख होती है वहां कहावत और लोकोक्ति में लोकानुभव प्रमुख और भावाभिव्यक्ति गौण बन जाती है।

जहां तक लोकन्याय और सूक्ति का सम्बन्ध है तो कहना नहीं होगा कि यद्यपि तादात्म्यापन्न लोकन्याय और सूक्ति इन दोनों में प्रत्याख्यान - अन्वाख्यान की लोकोत्कृष्ट प्रतिभा तथा तेजस्विता के साथ विवादग्रस्त किसी विषय को सुलझाने की एवं न्याय्य पथप्रदर्शन की अपूर्व क्षमता होती है तथापि यह निश्चित है कि दोनों के प्रयोग और रूपाकृति को देखते हुए इनका अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी है। लोकन्याय जहां ज्ञानसम्पिण्डित तत्त्वों का मन्थन या विवेचन हैं वहां सूक्ति इन तत्त्वों के निष्कर्षो का अङ्कुरण है। फिर भी दोनों में तादात्म्याधिक्य होने से यह पार्थक्य अधिक स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता। और व्याकरण में तो इनका प्रायः अभिन्न सन्दर्भ में ही प्रयोग

दिखाई देता है। अतः प्रकृत लोकन्यायविषयक ग्रन्थ में भी कुछ सूक्ति रूप लोकन्याय देखे जा सकते हैं।

सूत्रवाक्य

सूत्र की परिभाषा करते हुए कहा गया है-

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥"[162]

अर्थात् जो अल्पाक्षर या संक्षिप्त होते हुए भी असन्दिग्ध, सारगर्भ, समग्र शास्त्र में व्याप्त रहने वाला (वृत्तगतिक) और निर्दोष होता है, उसे सूत्र के मर्म को जानने वाले लोग सूत्र नाम से कहते हैं। इस परिभाषा में सूत्र की दो प्रमुख विशेषताएं बताई गई हैं, एक तो आकार की दृष्टि से सूत्र संक्षिप्त या लघु होता है तथा दूसरे अर्थ की दृष्टि से वह सारे शास्त्र को व्याप्त करने वाला होता है। ध्यातव्य है कि यह सूत्रव्यवस्था केवल व्याकरणशास्त्र तक ही सीमित नहीं थीं अपितु कल्प, धर्म, दर्शन, आयुर्वेद आदि भी इसकी परिधि में आते हैं। बौद्ध-साहित्य में सूत्र शब्द से मूलपाठ अभिप्रेत है। वस्तुतः सूत्र तो एक विशेष शैली का नाम है जोकि संक्षिप्तता और सामासिकता के साथ व्यापकता की एक साथ बोधक है। यही सूत्रशैली जब लघु वाक्यमयी हो जाती है तो वह सूत्रवाक्य, सूक्ति या कहावत आदि कहलाने लगती है। कई बार आप्त वाक्य ही संक्षिप्त होने से सूत्रवाक्य बन जाते हैं। इस शैली में भी अनेक बार लोकन्यायों के समान विशद इतिहास तथा कथादि अनावृत होते हैं। परन्तु आपाततः इन दोनों में अभेद प्रतीत होने पर भी वस्तुतः लोकन्याय और सूत्रवाक्य पृथक् ही होते हैं अथवा लोकन्यायों को सूत्रवाक्यों का जनक ही माना जा सकता है। अनेक सूत्रवाक्यों के मूल में कुछ लोकन्याय देखे जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रयोग की दृष्टि से व्याकरण में इन दोनों में अधिक अन्तर नहीं किया गया है। अतः प्रकृत लोकन्यायविषयक ग्रन्थ में कुछ सूत्रवाक्य (वार्तिक) रूप लोकन्याय भी प्रयुक्त देखे जा सकते हैं।

दृष्टान्त

दृष्टान्त शब्द का अर्थ है कि "दर्शनं दृष्टं तस्यान्तः निश्चयः"[163] अर्थात् किसी बात का अन्तिम निश्चय या उसकी प्रामाणिकता देखना। अथवा किसी सादृश्यमूलक ऐसी लौकिक बात कथा - कहानी या घटना या लोकरूढ सुपरिचित व्यवहार को भी दृष्टान्त (मिसाल[164] = Instance) कहा जा सकता है जिसे व्यक्ति पूर्वोक्त बात के समानधर्मा अपने मत की प्रामाणिकता या सत्यता के प्रतिपादन के लिए प्रस्तुत करता है, जैसा कि भाष्यकार कहते हैं - "नैवेश्वर आज्ञापयति नापि च धर्मसूत्रकाराः पठन्ति-असम्भवे अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति। किं तर्हि? लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। लोके ही सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति। तद्यथा- दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं

कौण्डिन्यायेति। सत्यपि संभवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति"।[165] इस सन्दर्भ में दृष्टान्त की निम्न परिभाषा भी द्रष्टव्य है - "लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः[166] अर्थात् जिस बात की सत्यता पर वादी और प्रतिवादी बिना तर्क किए पहले से ही सहमत हों,[167] वह दृष्टान्त होता है। दृष्टान्त सादृश्यमूलक एक अलंकार भी होता है।

इस सन्दर्भ में प्रायः दृष्टान्त और उदाहरण को समानार्थी भी मान लिया जाता है जोकि कुछ विद्वानों के अनुसार विचारणीय है। अतः यहां उदाहरण की परिभाषा भी अवलोकनीय है जो इस प्रकार है - किसी शास्त्रीय नियम या सिद्धान्त की स्पष्ट प्रतिपत्तिपूर्ण व्याख्या करने के लिए उसके सदृश जो अन्य पहले से लोकविज्ञात तथ्य प्रस्तुत किए जाएं तो वे उदाहरण कहलाते हैं। इन दोनों शब्दों की उक्त परिभाषा देखने से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि उदाहरण और दृष्टान्त आपाततः एक जैसे या अभिन्न होकर भी अन्ततोगत्वा तत्त्वतः भिन्न हो जाते है। परन्तु वह भेद अत्यन्त सूक्ष्म है। परिणामतः उदाहरण[168] का प्रयोग तो साधारण वाग् व्यवहार के साथ-साथ किसी बौद्धिक या व्यावहारिक तथ्यों एवं पदार्थों आदि की नियमबोधक व्याख्या के लिए होता है, जैसे कि भाष्यकार अनेकत्र पूछते हैं- "किमुदाहरणम्"?[169] जबकि दृष्टान्त अपने मत के समर्थन के लिए सामान्यतया लोक में आदर्श, शिक्षाप्रद या अनुकरणीय रूप में घटित किसी घटना या तथ्यों की प्रस्तुति के रूप में होता है अर्थात् दृष्टान्त (सद्) आचरण, कृतियों या घटनाओं के विषय में प्रामाणिकता, सत्यता, औचित्य लाने के लिए तथा प्रासङ्गिक नियम, मर्यादा और विधि-विधान आदि के पालन की अनिवार्यता बताने के लिए प्रयुक्त होता है। ऋषियों, सन्तों, मुनियों या गुरुओं के द्वारा अपने उपदेशों में दिए गए दृष्टान्तों (उदाहरण नहीं) से भी उक्त तथ्य संचालित होता है। इस प्रकार उदाहरण का क्षेत्र अधिक व्यापक है और दृष्टान्त का सीमित। जहां तक लोकन्याय और दृष्टान्त का सम्बन्ध है तो निवेदन है कि लोकमानससंपुष्ट इन दोनों में आधाराधेयभाव का सम्बन्ध है। लोकन्यायप्रोक्त सूक्ष्म भाव को दृष्टान्त ही बिम्बवत् स्थूल दर्शनीय बनाता है अर्थात् लोकन्यायप्रतिपाद्य विषय दृष्टान्त के सहारे ही चित्रबिम्बवत् उपस्थित होता है। इस तरह दृष्टान्त की स्थूलता ही लोकन्याय की सूक्ष्मता की अभिव्यक्ति होती है। विद्वानों के अनुसार दृष्टान्त में आदर्श का स्वर अधिक मुख होता है और लोकन्याय में आदर्श के साथ यथार्थ प्रत्यक्ष का भी।

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह निर्विवाद सत्य है कि यद्यपि दृष्टान्त और लोकन्याय ये दोनों पृथक् प्रतीत होते हैं परन्तु जहां तक व्याकरणशास्त्र का सम्बन्ध है तो कहना नहीं होगा यहां तो दृष्टान्त और न्याय को पूर्णतः एक समान अर्थ में ही गृहीत किया गया है जैसे कि भाष्यकार के निम्न प्रयोगों से यह तथ्य और अधिक उभरकर प्रस्फुटित हो रहा है- "किमिदं प्रत्यर्थं शब्दा अभिनिविशन्ते इत्येतं दृष्टान्तमास्थाय

सरूपाणामेकशेष आरभ्यते न पुनरप्रत्यर्थं शब्दा अभिनिविशन्ते इत्येतं दृष्टान्तमास्थाय विरूपाणामनेकशेष आरभ्यते"?[170] यहां दृष्टान्त का अर्थ न्याय या सिद्धान्त है जैसा कि शब्दरत्नकार स्पष्ट लिखते हैं - "यावद् व्यक्तीति - प्रत्यर्थं शब्दनिवेशादिति न्यायादितिभावः",[171] इसी प्रकार "प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः" तथा "समुदाये वाक्य परिसमाप्तिः" इन (लोक) न्यायमूलक सिद्धान्तों के लिए भी भाष्यकार "ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः[172] कहकर दृष्टान्त शब्द का प्रयोग करते हैं। इधर "अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्ते" इस सिद्धान्त में अनुग्राहक तक्रकौण्डिन्य न्याय को भाष्यकार एक तरफ "लौकिकोऽयं दृष्टान्तः[173] कह रहे हैं और दूसरी तरफ इसे ही "एष एव न्यायो यदुतापवादैरुत्सर्गा बाध्येरन्"[174] ऐसा भी कह रहे हैं। इसे ही वार्तिककार "लोकविज्ञानात् सिद्धम्"[175] कहकर इस पर स्वाभिमत लोकन्याय होने की स्वीकृति प्रदान कर रहे हैं। उत्तरवर्ती व्याख्याकार तो उक्त भाष्योक्त लौकिक दृष्टान्त को कण्ठतः लोकन्याय कह ही रहे हैं। एक स्थान पर भाष्यकार दृष्टान्तापरपर्याय न्याय का सोदाहरण उल्लेख करते हुए कहते है - "एष एव न्यायो यदुत सन्नियोगाशिष्टानामन्यतरापाय उभयोरप्यभावः। तद् यथा - देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिदं कर्तव्यमिति देवदत्तापाये यज्ञदत्तोऽपि न करोति"।[176] इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रसङ्ग में भाष्यकार किसी लौकिक घटना या व्यवहार के अर्थ में भी दृष्टान्त शब्द को प्रयुक्त करते हैं, जैसे- "कथमनुच्यमानं गंस्यते? लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। तद्यथा- लोके कश्चित् कंचित् पृच्छति - ग्रामान्तरं गमिष्यामि पन्थानं मे भवानुपदिशत्विति .....[177] इत्यादि"। इस प्रकार उक्त दोनों शब्दों के व्याकरणशास्त्रीय प्रयोगों को देखते हुए यहां ये दोनों शब्द समानार्थक मानने ही उचित प्रतीत होते हैं। तभी व्याख्याकारों का शास्त्रीय दृष्टान्त तथा लौकिकदृष्टान्तरूप भेद करना संगत हो सकेगा।[178] ऐसी स्थिति में प्रकृत लेखक ने तो इस लोकन्यायविषयक ग्रन्थ में लौकिक दृष्टान्त और लोकन्याय दोनों को समानार्थक मानकर ही न्याय संग्रह किए हैं।

उदाहरण

उदाहरण की परिभाषा दृष्टान्त के व्याख्यानप्रसङ्ग में पहले ही दी जा चुकी है। जहां तक उदाहरण का और लोकन्याय का सम्बन्ध है तो यह निश्चित है कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं। परन्तु इन दोनों में गौणप्रधानभाव होता है। कुछ विद्वानों के अनुसार लोकन्यायोक्त अमूर्त भावों को स्पष्ट अभिव्यक्ति देने के लिए उदाहरण की नितान्त आवश्यकता होती है। फिर भी इनमें लोकन्याय अपने आपमें परिपूर्ण होता है जबकि उदाहरण को खड़े होने के लिए किसी आश्रय की आवश्यकता होती है अर्थात् उदाहरण तो प्रवृत्त होने के लिए नष्टाश्वदग्धरथ न्याय से किसी अन्य के साहचर्य में बैठने की अपेक्षा रखता है जबकि लोकन्याय देहलीदीप न्याय से स्वयं स्वाश्रित होकर दूसरे उदाहरणादि का भी उपकार करता है। परन्तु यहां भी व्याकरणशास्त्रीय

प्रयोगों को देखते हुए उक्त अवधारणा कुछ चिन्त्य प्रतीत होती है। क्योंकि भाष्यकारादि वैयाकरणों ने कुछ ऐसे लोकन्याय भी प्रयुक्त किए हैं जिनका आधार कोई लौकिक वस्तु उदाहृत न होकर स्वयं उदाहरण ही लोकन्याय कोटि में आ गए हैं, जैसे- अविरविक (अव्यविक) न्याय[179], इह किञ्चित् हे त्रपो इति न्याय[180] इत्यादि। ऐसी स्थिति में, आंशिक रूप से ही सही, भाष्यकारादि द्वारा उदाहरण को भी लोकन्यायकोटि में उपस्थित कर देने से लेखक ने भी प्रकृत लोकन्यायविषयक ग्रन्थ में उन सभी को संग्रह कर लिया है जिनको समझाने के लिए कोई लौकिक प्रयोग या उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः भाष्यकारादि वैयाकरण (लोक) न्याय शब्द के समानार्थी अन्य उपर्युक्त शब्दों में विद्यमान सूक्ष्म भेदज्ञापन के व्यर्थ के चक्कर में नहीं पड़े। क्योंकि "पर्यायशब्दानां गौरवलाघवचर्चा नाद्रियते"।[181] अतएव उन्होंने एक ही समान विषय के लिए एक स्थान पर लौकिक दृष्टान्त शब्द का प्रयोग किया और दूसरे स्थान पर इसे ही न्याय शब्द से कह दिया है अथवा उदाहरण को ही न्याय शब्द से बोधित कर रहे हैं। "अननैव न्यायेन" इत्यादि व्याख्यानों से न्याय शब्द का सादृश्य या तरह या प्रकार अर्थ भी पर्याप्त प्रसिद्ध लगता है। (लोक) न्याय शब्द भी उनकी दृष्टि में, सूत्र, परिभाषा, लोकारूढ औचित्यपूर्ण व्यवहार आदि अनेक अर्थ में प्रयुक्त रहा है। वस्तुतः न्याय शब्द अर्थविस्तार या अर्थसामर्थ्य का एक ऐसा प्राचीन अनुपम उदाहरण है जो प्रसङ्गानुरोध से अर्थ के विस्तृत आयाम और फलक उपस्थित करता है। न्याय शब्द को अर्थविशेष की सीमित सीमा में बांधना बड़ा कठिन है। लेखक की दृष्टि में हिन्दी में कोई एक ऐसा शक्तिसम्पन्न या अर्थ की दृष्टि से व्यापक एवं समर्थ शब्द नहीं है जो इसकी सारी अर्थ छटाओं या विच्छित्तियों को अपने अन्दर समाहित करके इसका पर्याय बन सके। सम्भवतः यह शब्द "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" की कोटि का है। इसलिए कोशों में भी "नेति नेति"[182] के व्यतिरेकी सिद्धान्त के विपरीत अन्वयी सिद्धान्तानुसार विभिन्न पर्यायवाची देकर इसकी अर्थविस्तृति का आभास दिया गया है। ऐसी स्थिति में जैसे सामञ्जस्य न होने के कारण भाष्यकार ने परस्परीण लिङ्गविषयक परिभाषा को छोड़कर स्वशास्त्रीय भिन्न रूप वाली नई परिभाषा बनाने की दिशा दिखाई थी वैसे ही यहां भी हमें लोकन्यायसम्बन्धी कोई स्वशास्त्रीय नई परिभाषा ही बनानी होगी। तदनुसार प्रयोग की दृष्टि से संक्षेपतः इस कोश में व्याकरणशास्त्र के प्रायः उन सभी स्थलों को संगृहीत करके शास्त्रीय सन्दर्भपूर्वक उनकी व्याख्या-विश्लेषण किया गया है जहां किसी विषय के स्पष्टीकरण, समर्थन या विरोध के लिए शिष्ट लोकारूढ,[183] औचित्यपूर्ण, सादृश्यपरक व्यवहार या लौकिक निदर्शनात्मक दृष्टान्त, सूक्ति, लोकोक्ति, कहावत, मुहावरा या सूत्रवाक्य अथवा

शब्दों के बह्वर्थप्रतिपादक लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किए गए हों। सम्भव है न्याय शब्दार्थ की इस अतिव्याप्ति पर कुछ विद्वानों को आपत्ति हो,[184] परन्तु लेखक तो न्यायविदांवर भाष्यकार के निगूढाशय को इस गूढ निहितार्थ में ही इष्ट मानकर व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों को लोकन्याय रूप गुडजिह्विकान्याय से यथामति व्याख्यान करता है।

(ङ.) कुछ लोकन्यायों की द्विविध या विविध स्थिति

जैसा कि प्रतिपादित किया जा चुका है कि सामान्येन व्याकरणशास्त्र में "यथालोके तथा व्याकरणे" इस सिद्धान्त को माना जाता है। जहां जहां इस मूर्धाभिषिक्त नियम का अतिक्रमण हुआ भी है तो उसे औत्सर्गिक न मानकर लक्ष्यानुरोधात् अपवादस्वरूप ही समझना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि जैसे मुख को देखकर अनुलोम/प्रतिलोम व्यवहार, नियम या रीति-नीति लोक में दृष्टिगोचर होती है वैसी ही फिर शास्त्र में भी वह लक्ष्यदर्शनवशेन प्रत्यक्ष की जा सकती है। फलतः जिस प्रकार लोक में "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" न्याय के अनुसार किसी भी बात के विषय में प्रायः दो पक्ष या मत दिखाई देते हैं और दोनों ही, पक्षान्तर की दृष्टि से, विषम उपन्यासः कहते हुए प्रामाणिक मानकर स्वीकार भी किए जाते है[185] उसी प्रकार शास्त्र में भी लक्ष्यवशात् कुछ लोकन्यायों की द्विविध स्थिति उपलब्ध होती है। "उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। पाणिनेस्तूभयं मतम्" इत्यादि कथन इसमें प्रमाण हैं। इस सन्दर्भ में फिर उभयतस्पाशा न्याय से ही किसी उभयमुखी या उभयान्वयी शास्त्रीय विवादित समस्या को या परस्पर विरोधी कथनों को "पक्षान्तैरपि परिहारा भवन्ति" न्याय से सुसंगत किया जाता है। इसी तरह जो वस्तु सत् या विद्यमान है फिर उसकी अविवक्षा कैसे संभव है अथवा इसके ही विपरीत जो वस्तु असत् या अविद्यमान है, उसकी विवक्षा कैसे हो सकती है ? परन्तु "बुद्धिसिद्धं तु तदसत्"[186] अर्थात् बुद्धि में तो सत् भी असत् और असत् भी सत् बनाया जा सकता है– इस दर्शनशास्त्रीय सिद्धान्त के साथ-साथ लोकव्यवहार और उसके प्रयोग की द्विविध स्थिति को देखते हुए लक्ष्य के आग्रह से शास्त्र में भी इस विरोधी स्थिति को स्वीकार करके इष्ट सिद्ध किया गया है, जैसे- "कथं पुनः सतो नामाविवक्षा स्यात्? सतोऽप्यविवक्षा भवति, तद्यथा - अलोमिकैडिका अनुदरा कन्येति। असतश्च विवक्षा भवति, तद्यथा - समुद्रः कुण्डिका, विन्ध्यो वर्धितकम्"।[187] अथवा जैसे लोक में कभी पिता (पुत्र की बाल्यावस्था में) पुत्र को पालता है और कभी पुत्र (पिता की वृद्धावस्था में) पिता को पालता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी कभी गुण गुणी का विशेषक होता है तथा कभी गुणी द्वारा गुण व्यपदिष्ट होता है, जैसे- "क्वचिद् गुणो गुणिविशेषको भवति, तद्यथा- शुक्लः पट इति। कदाचिद् गुणिना गुणो व्यपदिश्यते तद्यथा- पटस्य शुक्ल इति"।[188] इसी प्रकार जैसे सामान्येन तो "इतरेतराश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्पन्ते" यह नियम

है परन्तु कभी-कभी विशेष स्थिति में कोई उपाधि लगने पर नौकागन्तृ न्याय से या त्रिविष्टब्धक न्याय से "इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि प्रकल्पन्ते"[189] ऐसा भी मान्य हो जाता है। इसी प्रकार जहां "दृष्टो ह्यवयवे समुदायः"[190] यह लोकन्यायमूलक सिद्धान्त है वहीं "अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवः"[191] या "दृश्यते हि समुदायादवयवस्य पृथक्त्वम्" यह लोकन्यायमूलक विरोधी सिद्धान्त भी देखने में आता है।

इसी तरह यद्यपि "उक्तार्थानामप्रयोगः"[192] यह लोकन्यायमूलक नियम लोक और शास्त्र में उभयत्र मान्यताप्राप्त है परन्तु लक्ष्यानुरोधात् "उक्तार्थानामपि प्रयोगो दृश्यते, तद्यथा- अपूपौ द्वावानय, ब्राह्मणौ द्वावानयेति"[193] ऐसा विपरीत न्याय भी पाया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि लोक और शास्त्र में उभयत्र "नावयवावयवः समुदायावयवो भवति"[194] यह लोकन्याय स्वीकृत है तथापि लोक में ही इसके विपरीत दिखाई देने से और शास्त्र के लोक का विरोधी न होने से फिर शास्त्र में भी लक्ष्यवशात् "अवयवावयवोऽपि समुदायावयवो भवति"[195] ऐसा मान्य हो जाता है। इसी तरह जैसे लोक में गुणों को भेदक तथा अभेदक दोनों रूपों में देखा जाता है वैसे ही शास्त्र में भी इनका अतिक्रमण न होकर ये दोनों ही पक्ष विचारित हुए हैं। यह बात अलग है कि फिर अन्त में लक्ष्यानुरोध से भाष्यकार ने "अभेदका गुणाः इत्येव न्याय्यम्"[196] यह पक्ष सिद्धान्तित कर दिया है। यही स्थिति वृक्षशाखावलाका न्याय से अनुबन्धों के एकान्त-अनेकान्त पक्ष को लेकर भी है। किन्तु यहां भाष्यकार ने लक्ष्यवशात् एकान्त पक्ष को ही न्याय्य घोषित किया है।[197]

इसी तरह यहां जैसे "अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति" ऐसा माना जाता है वैसे ही यहां लक्ष्यानुरोधात् "न च भिन्नजातीयकं हि व्यवधायकं भवति" ऐसा भी माना जाता है। इसी प्रकार व्युत्कान्त सम्बन्ध तथा यथासंख्यसम्बन्ध भी जानने चाहिएं। इसी प्रकार सकृद्गति न्याय तथा पुनः प्रसङ्गविज्ञान न्याय; एकयोगनिर्दिष्ट न्याय तथा क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते न्याय; कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् न्याय तथा यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम् न्याय; प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः न्याय, समुदाये वाक्य परिसमाप्ति न्याय तथा उभयथा वाक्यापरि समाप्ति न्याय; अदग्धदहन न्याय तथा पर्जन्यवर्षण न्याय; सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः न्याय तथा विशेषातिदेशे सामान्यस्याप्यतिदेशो दृश्यते न्याय; तद्गुणसंविज्ञान न्याय तथा अतद्गुणसंविज्ञान न्याय; समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दाः अवयवेष्वपि वर्तन्ते न्याय तथा अवयवक्रियायापि समुदायस्य व्यपदेशो दृश्यते न्याय इत्यादि भी लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं। वस्तुतः व्याकरण तो लोक, वेद और शास्त्र में समन्वय कराने वाला है। अतः शास्त्र में भी लोकाधीन व्यवस्था होना अस्वाभाविक या दोषावह न होकर सर्वथा स्वाभाविक ही है। क्योंकि जब शब्दकोश के महत् आवपन रूप लोक में दोनों ही प्रकार का अनुगामी और प्रतिगामी व्यवहार दिखाई देता है तो फिर भला उसका अनुवर्ती व्याकरण उसका अपलाप कैसे कर सकता है ? "सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्"[198] इस भाष्यवचन से

जहां अन्य प्रासङ्गिक अर्थ निकलता है वह तो ठीक ही है परन्तु साथ में उक्त लोकानुकूल मुक्त विकल्प की ध्वनि भी इससे निकलती प्रतीत होती है।

इस प्रसङ्ग में लोकन्यायों की यह द्विविध स्थिति भी अवधेय है कि कई बार इनमें निदर्शनार्थ या उदाहरणार्थ एक समान ही पशु आदि उपमानों का ग्रहण किया जाता है जबकि इन्हीं एक समान उपमानों से यथास्थान भिन्न-भिन्न सिद्धान्त या अनेक उपमानों से एक सिद्धान्त भी समर्थित किए गए हैं, तद्यथा- "शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते। तद्यथा- गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते नाश्वो न गर्दभः"[199]। "........ तस्यास्य (विशब्दस्य) कोऽन्यो द्वितीयः सहायो भवितुमर्हति अन्यदतः उपसर्गात्। तद्यथा- अस्य गोर्द्वितीयेनार्थ इति गौरेवोपादीयते नाश्वो न गर्दभः"[200]। इसी प्रकार- "यदि पुनरिमे वर्णा आदित्यवत् स्युः, तद्यथा- एक आदित्योऽनेकाधिकरणस्थो युगपद्देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते"[201] ...... अथवा यथादित्यस्य गतिः सती नोपलभ्यते तद्वत् खट्वावृक्षयोः सल्लिङ्गं नोपलभ्यते"।[202] इसी प्रकार– "अगोज्ञाय कश्चिद् गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशति - अयं गौरिति। न चास्मायाचष्टे - इयमस्य संज्ञेति। भवति चास्य सम्प्रत्ययः[203] .... कः पुनरुद्देशोपदेशयोर्विशेषः? प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशो गुणैः प्रापणमुद्देशः। प्रत्यक्षं तावदाख्यानमुपदेशः। तद्यथा- अगोज्ञाय कश्चिद् गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशति अयं गौरिति। स प्रत्यक्षमाख्यातमाह - उपदिष्टो मे गौरिति"।[204]

इसके अतिरिक्त यहां यह भी देखा जाएगा कि वचोविन्यासवैचित्र्यरूप इस ग्रन्थ में विवेचित कुछ लोकन्याय तो लोकन्याय के रूप में सर्वत्र लोकविज्ञात, लोकविदित तथा मान्य रूप में प्रयुक्त हैं परन्तु यहां कुछ ऐसे भी लोकन्याय संगृहीत हैं जो अभी तक साक्षात्रूपेण कहीं पर भी लोकन्याय के रूप में उद्धृत या प्रतिष्ठापित नहीं किए गए हैं अर्थात् यहां यत्र तत्र शास्त्रीय तथा लौकिक न्यायों में कोई विशेष भेद नहीं माना गया है। इसीलिए लेखक ने तदन्तर्गत केवल लौकिक उदाहरण को महत्त्व देकर ही उन्हें भी न्यायकोटि में रख लिया है। फलतः प्रकीर्ण न्याय नामक उद्द्योत में केवल शास्त्रीय प्रसिद्ध न्याय ही विवेचित किए गए हैं। सम्भव है कि इस पर कुछ विद्वानों को आपत्ति हो। इसी तरह अनेकत्र न्यायों के नामकरण को लेकर भी मतभेद हो सकता है। लेखक ने स्पष्ट प्रतिपत्ति या प्रसिद्धि की दृष्टि से यहां कहीं तो व्याकरण-शास्त्रीय सिद्धान्त या परिभाषा आदि के आधार पर न्याय का नामकरण किया है तथा कहीं उस सिद्धान्त के साधक तत्रत्य उदाहरणों के आधार पर। इसी तरह भाष्यकारादि ने अनेक धातुओं या शब्दों की लक्ष्यानुरोध से बह्वर्थता दिखाने के लिए बहुत स्थानों पर अनेक लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। लेखक ने उन्हें भी उनके केवल लौकिक तत्त्व को ही प्रधानता देकर "अनेकार्था हि धातवः/शब्दा भवन्ति" इस न्याय के अन्तर्गत प्रकृत न्यायविषयक ग्रन्थ में रख लिया है, भले ही वे पारिभाषिक लोकन्यायकोटि में नहीं आते। इसी तरह भाष्यकार ने व्याकरण को मन्दबुद्धियों तक भी पहुंचाने या

लोकप्रिय बनाने के लिए लोकन्यायों के रूप में जो राजमार्ग या दिशा दिखाई थी, उस प्रसङ्ग में भाष्यकार ने प्राचीन लोकन्यायों के साथ-साथ कुछ स्वोपज्ञ लोकन्याय भी कल्पित किए थे। इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए लेखक ने भी यहां कुछ स्वोपज्ञ न्याय प्रकल्पित किए है, जैसे– सिंहवृकाज न्याय आदि।

यहां कुछ ऐसे भी लोकन्याय दृष्टिगोचर होंगे जो भाष्यवार्तिककार द्वारा किए गए अनेक सूत्र/सूत्रांश/वार्तिक/वार्तिकांश के प्रत्याख्यान के आधार बने हैं। परन्तु इनमें कुछ प्रत्याख्यानों को तो समर्थित किया जा सकता है जबकि कुछ सूत्र/वार्तिक तो, निदर्शनार्थ ही सही, आवश्यक ही उचित जान पड़ते हैं। इसी प्रकार यहां कुछ ऐसे लोकन्याय भी समविष्ट हैं जो व्याकरण की पारिभाषिक शब्दावली में उनकी न्यायसिद्ध परिभाषाएं ही हैं। संभवतः ये लोकन्याय ही बाद में रूढ होकर व्याकरणजगत् में परिभाषा बन गए। लेखक ने उदाहरणों के आधार पर भी इन न्यायसिद्ध रूढ परिभाषाओं का नामकरण परिवर्तित नहीं किया है क्योंकि ये इसी नाम से शास्त्र में प्रसिद्ध हैं जबकि अन्य न्यायों का उनके उदाहरणों के आधार पर नामकरण किया है। इसी तरह कुछ वैयाकरणों ने कुछ लोकप्रिय सूक्ति या श्लोक या सुभाषितों को भी लोकन्याय का रूप दे दिया है। इसी प्रकार कुछ लोकन्याय कथामूलक भी वर्णित हुए हैं। कुछ मुहावरे भी लोकन्यायों की अग्नि में तपकर सोना बन गए हैं। कुछ लोकन्याय केवल कहावत रूप में भी विवेचित हुए हैं जिनके मूल में कोई उदाहरण नहीं दिया गया है। केवल लोकव्यवहार से उनकी संस्तुति की गई है। यहां बहुत से लोकन्याय ऐसे भी आए हैं जो विकसित होकर कुछ तो यथास्थित रूप में ही आज भी उपलब्ध होते हैं और कुछ ने भाव या आत्मा तो वही रखी है परन्तु शरीर या स्वरूप बदल लिया है। लेखक ने यथासंभव दोनों लोकन्यायों की तुलना करके उनका समन्वय करने का प्रयास किया है। कुछ न्याय नितान्त शास्त्रीय (वैदिक) होते हुए भी लोक के उपकारक होने से यहां सन्निविष्ट कर लिए गए हैं, जैसे अग्नौ करवाणि न्याय। कुछ लौकिक संवाद भी यहां सम्मिलित कर लिए गए हैं क्योंकि उनसे तात्कालिक लोकभाषा का परिचय मिलता है, जैसे- वैयाकरणरथिसूतसंवाद न्याय। इनको देखने से संस्कृत की उत्तरोतर विकासशीलता का ज्ञान होता है। कुछ ऐसे न्याय भी यहां विवेचित हुए हैं जो लौकिक प्रयोगों को परिनिष्ठित करते हैं। इसी प्रकार लोकप्रसिद्ध व्यवहारों में गोत्र भी आते हैं। अतः इनके सूचक भी यहां न्याय मान लिए गए हैं। इसी तरह ऋषिपरम्परा का ज्ञान भी लोकव्यवहार से सम्बन्ध रखता है। इतने मात्र से ही ऐसे उदाहरणों को भी लोकन्यायकोटि में रख लिया गया है। भाव यह है कि जो भी लोकव्यवहार लोकविषयक ज्ञान का वर्धक उदाहरणरूप में मिला वही यहां न्यायपदव्यपदिष्ट समझना चाहिए।

(च) प्रकृत ग्रन्थ की उपयोगिता एवं निष्कर्ष

जैसे कि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है कि लोकन्याय व्याकरणिक सिद्धान्तों के लिए प्राणभूतकल्प हैं। पेलवधी एवं मन्दबुद्धिजनों के लिए व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों की बर्फीली कठोरता इन लोकन्यायों की ऊष्मा में पिघलकर सरलता में परिणत हो जाती है। इस ग्रन्थ से लक्ष्य और लक्षण अर्थात् संस्कृत भाषा और उसका व्याकरण दोनों लोकप्रिय होने सम्भावित हो जाते हैं जिसकी आज सामायिक आवश्यकता है। इसमें संस्कृत की प्राचीनकालिक व्यावहारिक स्थिति भी प्रकाशित होगी। आधुनिक भाषाविज्ञान के कुछ आधारभूत सिद्धान्त भी यहां प्रमाणित होंगे। वेद भारतीय संस्कृति के प्राणाधार हैं। शास्त्रों में वेद के पढ़ने से धर्मलाभ की बात कही गई है, जैसे- "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"। अब जैसे वेदपाठ से धर्म प्राप्त होता है वैसे ही वेदाङ्ग या उसके साधनभूत और षडङ्गों में प्रधान वागात्मा के रहस्य को अनावृत करने वाले व्याकरणाध्ययन से भी अभ्युदय या धर्म होगा। क्योंकि "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति" ऐसा कहा गया है। प्रकृत अध्ययन से तत्तन्न्यायकालिक सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक, दार्शनिक एवं भौगोलिक आदि परिस्थितियों का भी परिचय मिलता है। उदाहरण के रूप में जैसे भाष्यकार के न्यायों को देखने से यह स्पष्ट अनुमित हो जाता हैं कि भाष्यकार का नगरों की अपेक्षा सम्भवतः ग्रामों से अधिक साहचर्य या सायुज्य रहा है। क्योंकि ग्रामीण अनुभवों या वस्तुओं का उन्होंने जितनी सूक्ष्मता से निरीक्षण-परीक्षण किया है उतना नगरों का नहीं प्रतीत होता। सम्भवतः इसीलिए भाष्य में राजनीतिक न्यायव्यवस्थाविषयक तथा सेना आदि के बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती। विशेषरूप से भाष्यकार के न्यायों को लेकर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य नामों में इनको देवदत्त सबसे अधिक प्रिय नाम रहा है। इसके बाद यज्ञदत्त और विष्णुमित्र का क्रम आता है। उसी तरह पशुओं में भी इनको गौ सर्वाधिक प्रिय रहा है। इसके बाद अश्व, गर्दभ, हस्ति, अजा, अवि तथा श्वा आदि का क्रम है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन दिनों चावल के ढेर खूब ऊंचे-ऊंचे लगते होंगे। तभी तो उनके लिए विन्ध्य पर्वत का उपमान दिया गया है। इन न्यायों के देखने से उनमें प्रयोक्ता के जीवनदर्शन पर भी प्रकाश पड़ता है, जैसे– देवा एवैतत् ज्ञातुमर्हन्ति न्याय, तथा वैयाकरणरथिसूतसंवाद न्याय। कापेय न्याय[205] से भाष्यकार का मनोविनोदी व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता है। ऋत्विजों का भी उन दिनों लाल पगड़ी धारण करके घूमना पर्याप्त दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भसूची

1. महा. भा. 1 सू. 1.3.9 पृ. 266 – "वृत्तज्ञो ह्याचार्योऽनुबन्धानासजति"।
2. वही. सू. 1.4.51 पृ. 335 – "एतदनल्पमतेराचार्यस्य वचनं स्मर्यताम्।"
3. तन्त्रवार्तिक, 2.3.11.
4. महा. भा. 3 सू. 8.3.33 पृ. 430 – "किम्वावपनं महत् (वाजसनेयिसंहिता 23. 9; 45; 46).

5. पा. 1.2.56. काशिकाकार के अनुसार यहां 'अन्य' शब्द का अर्थ लोक है - "अन्य इति शास्त्रापेक्षया लोको व्यपदिश्यते। शब्दैरर्थाभिधानं स्वाभाविकं न पारिभाषिकम्, अशक्यत्वात्, लोकत एवार्थगतेः"।

6. पा. 1.2.53. यहां भी काशिकाकार के अनुसार "संज्ञाप्रमाण" शब्द का अर्थ लोक में उसका संज्ञा के रूप में प्रमाणक या प्रत्यायक होना है - "संज्ञाशब्दा हि नानालिङ्गसंख्याः प्रमाणम्" (न्यास- "प्रमाणं प्रत्यायका वाचका इत्यर्थः")।

7. तुलना करो, मालविकाग्निमित्र, मिश्रविष्कम्भक, श्लोक सं. 4.
"नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्"।
लोक के भिन्नरुचि होने के कारण ही व्यवहार में दुनियां दुरंगी मानी जाती है। इसलिए एक तरफ तो यहां चोर को चोरी में लगने के लिए कहा जाना देखा जाता है तथा दूसरी तरफ शाह (स्वामी) को जागने या सावधान रहने के लिए भी कहा जाना पाया जाता है।

8. महा. भा. 1 ऋलृक् सूत्र, पृ. 20.

9. पा. 2.4.21 - "उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्"।

10. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 12.

11. उदाहरण के रूप में "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" (1.4.2) यह सूत्र है। विप्रतिषेध या तुल्यबलविरोध होने पर यह सूत्र सूत्रपाठक्रमापेक्षया परवर्ती सूत्र को बलवान् घोषित करता है। परन्तु इन सहप्रसक्ति वाले सूत्रों में जब तक यह ज्ञात न हो जाए कि ये दोनों सूत्र बाध्य-बाधकभाव वाले न होकर तुल्यबल वाले हैं तब तक उक्त सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। और स्वयं आचार्य पाणिनि ने तुल्यबल को निर्धारित करने का कोई सूत्र या संकेत नहीं दिया। स्पष्ट है कि वे इसे पाठक के सामान्य ज्ञान पर छोड़ते हैं अर्थात् आचार्य पाणिनि अपने व्याकरण के पाठक से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह लोकन्याय के आधार पर स्वयं ही सहप्रसक्ति वाले सूत्रों में बलाबल या बाध्य-बाधकभाव को पहचान ले, देखें- महा. भा. 1 सू. 1.1.47 पृ. 115 - "नैवेश्वर आज्ञापयति, नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति-असम्भवे अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति। किन्तर्हि? लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। लोके हि सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति। तद् यथा- दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेति, सत्यपि सम्भवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति।"

12. परिभाषाओं के त्रिविध प्रकार में वाचनिक, ज्ञापकसिद्ध तथा (लोक) न्यायसिद्ध परिभाषाएं भी अन्तर्भुक्त ही हैं, देखें परि. पृ. 1 - "प्राचीनव्याकरणतन्त्रे वाचनिकानि, अत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्तिकयोरुपनिबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि, तानि व्याख्यायन्ते।"

13. तुलना करो, उत्तररामचरित, 1.2 - "यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते"।

14. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 4 "उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती: सुवासाः (ऋक् 10.71.4)।

15. महाभारत, उद्योगपर्व, 43..36.

16. महा. भा. 2 सू. 4.3.66 पृ. 285 "पाणिनीयं महत् सुविहितम्"।

17. द्र. वही. भा. 3, सू. 8.2.3 पृ. 388 "इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रनिबन्धनेनाचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते

18. महा. भा. 2 सू. 3.2.111 पृ. 119.

19. वही. भा. 1 सू. 1.4.110 पृ. 358.

20. वही. भा. 2 सू. 4.1.3 पृ. 198.

21. वही. भा. 1 सू. 1.1.21 पृ. 77.

22. वही. सू. 1.1.1. पृ. 38.

23. वही. भा. 3 सू. 6.1.2 पृ. 7.

24. पा. 2.2.34 पर वार्तिक

25. वही

26. वही

27. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 2
"यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥"

28. वा. प. 2.4.81 - आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके।"

29. का. भा. 2 सू. 2.1.6 पृ. 22.

30. महा. भा. 1 सू. 2.2.11 पृ. 414.

31. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.3.15 पृ. 247 "अशब्दहासे भवति नवेति बहुदर्शिनो विचारयन्तु।"

32. महा. प्र. भा. 2 सू. 2.4.26 पृ. 862 "मुनित्रयाच्च भाष्यकारः प्रमाणतरम्, अधिक लक्ष्यदर्शित्वात्।"

33. वै. सि. कौ. भा. 1 सू. 222 पृ. 223.

34. महा. भा. 1 सू. 1.1.1 पृ. 39.

35. वही. भा. 3 सू. 6.1.77 पृ. 54.

36. वही. भा. 1 पस्पशा. पृ. 14.

37. वही. सू. 1.1.39 पृ. 99-100.

38. वही. सू. 1.1.56 पृ. 134.

39. तुलना करो, वा. प. 2.479-
"कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने।"

40. द्र. वै. सि. कौ. भा. 3 सू. 2183 पृ. 27 - "(इन्धिभवतिभ्यां च) सूत्रं तु प्रत्याख्यातमेवाकरे"।

41. महा. प्र. भा. 2 सू. 2.1.1. पृ. 515 - "तस्माद् वृद्धव्यवहारादेव शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिरनिच्छतापि युक्तिवशादेष्टव्येत्यर्थः"।

42. वा. प. 1.48-
नित्यत्वे कृतकत्वे वा तेषामादिर्न विद्यते।
प्राणिनामिव सा चैषा व्यवस्थानित्यतोच्यते।"

43. महा. भा. 1 परस्पशा. पृ. 1 - "अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।"

44. वही. पृ. 8.

45. (क) द्र. महा. भा. 1 सू. 1.2.64 पृ. 237 - "रूपनिर्ग्रहश्च नान्तरेण लौकिकं प्रयोगम्।"

(ख) महा. प्र. भा. 5 सू. 7.1.33 पृ. 37 - "शब्दं प्रयुयुक्षमाणेन लोकस्यानुसरणात्। स्वसामर्थ्येन हि शब्दोऽर्थं प्रत्याययति। तच्च सामर्थ्यं लौकिकप्रयोगादवधार्यम्।"

46. (क) महा. प्र. भा. 5 सू. 7.1.95 पृ. 86 - "अस्मिन् परिहारे पूर्वोक्त (अक्षराधिक्यादपि योगविभागो गरीयान् इति) परिहारप्रसङ्गादसमाश्वसन् परिहारान्तरमाह अथवेति।" "अक्षराधिक्यादपि योगविभागो गरीयान्"– इस पूर्वोक्त परिहार की व्याख्या में नागेश कहते हैं - "योगविभागादक्षराधिक्यं गुर्वेवेति भावः"।

(ख) श. कौ. भा. 2 सू. 1.4.90 पृ. 107 - "एतदपरितोषादेव वा तत्र पक्षान्तराण्युक्तानीति दिक्"।

(ग) वही. भा. 1 सू. 1.1.12 पृ. 129– "अत एवापरितोषाद् भाष्यकारेणाथवेति पक्षान्तरमाश्रितमिति दिक्"

(घ) भाष्यकार स्वयं भी कहते हैं "अपरितुष्यन् खल्वपि भवाननेन परिहारेण अनाकृतिर्लिङ्गेन वेत्याह" (पा. 1.1.1)।

47. (क) तुलना करो महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.5 पृ. 176 - "अनेकपरिहारोपन्यासो न्यायव्युत्पादनार्थः।"

(ख) वही. भा. 5 सू. 8.2.8 पृ. 378 - "न्यायव्युत्पादनार्थं पक्षान्तरं भाष्यकारेणाभिहितम्"।

48. द्र. महा. भा. 1 सू. 2.4.56 पृ. 488 - "प्राप्तिज्ञो देवानाम्प्रियो न त्विष्टिज्ञः।"

49. वही. सू. 2.4.74 पृ. 495.

50. बृ. श. शे. भा. 2 सू. 665 पृ. 876.

51. श. कौ. भा. 2 सू. 2.4.26 पृ. 261 - "इदञ्च प्रत्याख्यानं दुर्बलम्, अनभिधाना-- श्रयणमगतिकगतिरिति सन्प्रत्ययविधौ भाष्ये एवोक्तत्वात्"। तुलना करो, प्रौ. म. सू. 1.3.3 पृ. 23 "बाहुलकं तु अगतिकगतिः"।

52. महा. भा. 2 सू. 3.3.19 पृ. 146.

53. पा. 4.3.74.

54. महा. प्र. भा. 2 सू. 1.2.64 पृ. 118.

55. ल. श. र., सू. 188 पृ. 307.

56. भाष्यकारोक्त "नैषोऽस्ति प्रयोगः" (भा. 3 सू. 6.3.1.1. पृ. 41) वचन भी इस विषय में उपोद्बलक है।

57. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 10.

58. वही. 1 सू. 2.4.34 पृ. 482.

59. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 2.4.34 पृ. 870 - "वस्तुतोऽप्रयुक्तत्वाल्लक्षणस्यायमविषय इति भाष्यार्थ इति बोध्यम्"।

60. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.24 पृ. 84.

61. वही. भा. 4 सू. 5.1.80 पृ. 61.

62. तुलना करो, महा. भा. 1 सू. 1.1.66-67 पृ. 172 - "सामान्यविशेषौ न प्रकल्पेते। प्रकल्पेते च। कथम्? विवक्षातः....."। उक्त न्यायवचन चान्द्र आदि व्याकरणों में परिभाषारूप (68) में भी पठित है।

63. प. मं. (का. भा. 6 सू. 7.4.23 पृ. 149); वै. सि. कौ. भा. 3 सू. 2232 पृ. 53.

64. पा. 2.1.11 - "विभाषा"

65. पा. 4.1.82 - "समर्थानां प्रथमाद् वा"

66. पा. 3.3.113 - "कृत्यल्युटो बहुलम्"

67. पा. 3.2.101 - "अन्येष्वपि दृश्यते"

68. महा. भा. 1 सू. 1.1.1 पृ. 40.

69. वही. सू. 1.1.23 पृ. 80.

70. वही. सू. 1.3.1 पृ. 259 - "स चावश्यं शिष्टप्रयोग उपास्यो, येऽपि पठ्यन्ते तेषामपि विपर्यासनिवृत्यर्थः। लोके हि कृष्यर्थे कसिं प्रयुञ्जते दृश्यर्थे च दिशिम्"।

71. वही. सू. 1.2.64 पृ. 241 - "तेनानेकार्थभिधाने यत्नं कुर्वतावश्यं लोकः पृष्ठतोऽनुगन्तव्यः। केष्वर्थेषु लौकिकाः कान् शब्दान् प्रयुञ्जत इति लोकोऽवश्यं शब्देषु प्रमाणम्"।

72. वही. सू. 1.1.23 पृ. 81.

73. इस विषय में पा. 1.4.56 सूत्रस्थ महाभाष्य में "आ वनान्तात् ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत्" यह लोकन्याय देखें। द्र. प्रकृत ग्रन्थ पृ. 545

74. महा. भा. 3 सू. 6.3.109 पृ. 174.

75. महा. प्र. भा. 2 सू. 2.1.16 पृ. 576 - "न कस्यचित् (एकस्य) पुरुषस्यापेक्षया प्रयोगव्यवस्था। किन्तर्हि? प्रचुरलोकापेक्षया"। तुलना करो, महा.भा. पस्पशा. पृ. 9– "न त्वहं लोकः, अभ्यन्तरोऽहं लोके"।

76. (क) वही. भा. 3 सू. 4.2.1 पृ. 629 "प्रयुक्तानां शब्दानां साध्वसाधुविवेकाय शास्त्रारम्भात्"।

(ख) वही. भा. 4 सू. 6.1.99 पृ. 437 - "प्रयोगमूलत्वादस्य शास्त्रस्य प्रयोगाभावेऽप्रवृत्तिरितिभावः"। तुलना करो, पा. 1.1.62 पर वार्तिक - "सदन्वाख्यानाच्छास्त्रस्य"।

77. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.3.1 पृ. 197-98 "प्रयुक्तानामिति-प्रयुक्तानां च सम्प्रत्यदृश्यमानपाठानामपि भविष्यतीत्यपि बोध्यम्।

78. महा. भा. 3 सू. 7.1.14 पृ. 262.

79. वही. भा. 1 पस्पशा. पृ. 11.

80. वही. पृ. 8. ऐसा प्रतीत होता है कि "शास्त्रेण धर्मनियमः" की कल्पना वैयाकरणों की विवशता रही है। क्योंकि अर्थवाचकता तो साधु शब्द के समान ही असाधु शब्द में भी रहती है। उसका तो अपलाप नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में शास्त्राध्ययनजन्य प्रयत्नानर्थक्य को बचाने के लिए (तुलना करो "प्रयोगे सर्वलोकस्य") वैयाकरणों ने यह कल्पना की प्रतीत होती है कि शास्त्र व्यर्थ नहीं है। उससे अभ्युदय भी विशेष मिलता है।

81. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.3.1 पृ. 198 - "ननु शिष्टप्रयोगालम्बनेन प्रत्याख्याने शास्त्रवैफल्यमत आहभाष्ये-स चावश्यमिति। एवं चाकृतिगणेष्विव तदुपासनावश्यकत्वे किं पाठेनेति भावः। ननु तद्वदेव निदर्शनार्थं कतिपयपाठोऽप्यावश्यक इति चेत्, अस्तु, अत्यन्तावश्यकता नेत्येव भाष्यतात्पर्यादिति दिक्"। तुलना करो महा. प्र. भा. 2 सू. 1.4.21 पृ. 372- "शास्त्रेऽनुपात्तोऽप्यर्थः प्रयोगादेव व्यवस्थाप्यते इत्यर्थः"।

82. महा. भा. 2 सू. 3.1.91 पृ. 74.

83. वही. भा. 3 सू. 6.3.135 पृ. 92.

84. वही. भा.। सू. 1.3.60 पृ. 287.

85. भोज. परि. सं. 107.

86. परि. सं. 114.

87. परि. सं. 1.

88. महा. भा. 2 सू. 2.2.29 पृ. 736. द्र. प्रकृत सूत्रस्थ महा. प्र.- "कारणादिति शब्दार्थावसायहेतुर्लोकव्यवहारोऽत्र कारणशब्देन विवक्षितः"।

89. उक्त सूत्रस्थ महा. प्र. - "दर्शनमिति - लोकव्यवहार इत्यर्थः"।

90. प.ल.म. नामार्थप्रकरण, पृ. 382.

91. वही. "युक्तं ह्येतत् शक्तिग्रहं ...... इत्येतेषु शक्तिग्राहकशिरोमणिर्व्यवहारो व्यक्तावेव शक्तिं ग्राहयति। गवादिपदेन व्यक्तेरेव बोधात्।"

92. महा. प्र. भा. 3 सू. 6.3.43 पृ. 624.

93. वही. भा. 1 लण् सूत्र, पृ. 115.

94. निरुक्त 1.4 पृ. 102 - "यथा चापि प्रतीतार्थानि स्युः तथैतान्याचक्षीरन्।"

95. महा. भा. 1 सू. 1.2.68 पृ. 250-51.

96. तुलना करो, महा. प्र. भा. 2 सू. 1.4.32 पृ. 402 - "सा च भेदाभेदविवक्षा प्रयोगदर्शनवशेन नियतविषयैवाश्रीयत इति प्रयोगस्यासङ्करः।"

97. पा. 6.3.109.

98. वा. प. 3.13.21.

99. (क) प. मं. (का. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र, पृ. 24) - "लोकाद् व्यवस्था भविष्यति"।

(ख) महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.1 पृ. 129 - "लोके चेति-शिष्टलोकाभिप्रायम्। प्रयुक्तानां चेदमनुशासनमितिभावः"।

100. महाभाष्य में प्रयुक्त लौकिक उदाहरणों तथा दृष्टान्तों एवं उपमानों को देखने पर जिस संस्कृति का चित्र उभरकर सामने आता है, उससे सहज ही यह विश्वास हो जाता है कि सम्भवतः इनका अधिकांश समय ग्रामों या ग्रामीण परिवेश में व्यतीत हुआ है। इसके अतिरिक्त महाभाष्य में न्याय तथा सेनासम्बन्धी जानकारी भी अत्यल्प ही मिलती है जोकि नगर का विषय अधिक होती है। इससे भी उपर्युक्त धारणा को बल मिलता है।

101. महा. भा. 1 सू. 2.1.58 पृ. 400. प्रकृतसूत्रस्थ महा. प्र. उ. देखें - "केवलेन लक्षणेन मन्दबुद्धिर्विषयविभागं नावधारयति, केवलेन प्रपञ्चेन वा सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठवत् शास्त्रस्य गौरवप्रसङ्गः।"

102. (क) महा. भा. 1 सू. 1.2.32 पृ. 209 - "अन्वाख्यानमेव तर्हीदं मन्दबुद्धेः"।

(ख) न्यास. (का. भा. 3, सू. 4.1.15 पृ. 299) - "यद्येवम्, एक एवानुबन्ध उच्चारणीयः। एकेनापि वरचो निवृत्तिः सिध्यत्येव? सत्यमेव, तथापि मन्दबुद्धीनां सुखप्रतिपत्तयेऽनुबन्धद्वयोच्चारणम्"।

(ग) महा. प्र. भा. 5 सू. 7.1.95 पृ. 90 - "अबुधबोधनार्थं तु किञ्चिद्वचनेन प्रतिपाद्यते। न्यायव्युत्पादनार्थं चाचार्यः किञ्चित् प्रत्याचष्टे। न ह्येकः पन्थाः समाश्रीयते"।

103. महा. भा. 1 सू. 1.1.3 पृ. 48.

104. वही. सू. 1.1.1 पृ. 40. - "न हीदं (व्याकरणं) लोकाद् भिद्यते। यदीदं लोकाद् भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्"।

105. वही. सू. 1.1.46 पृ. 112 - "यद्यपि तावल्लोक एष दृष्टान्तो, दृष्टान्तस्यापि पुरुषारम्भः निवर्तको भवति"। तुलना करो, त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 2 सू. 828 पृ. 128) "न्यायस्यापेक्षया वचनस्य बलीयस्त्वात्"।

106. महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.57 पृ. 440 - "लोकन्यायसिद्धस्यानाश्रयणे बीजाभावात्"।

107. बृ. श. शे. भा. 1 सू. 40 पृ. 117 - "लक्ष्यानुसारात्तु क्वचित्तन्न्यायत्यागपूर्वकं सत् सप्तम्यपि"।

108. वही. सू. 168 पृ. 320 - "तत्र लक्ष्यानुसारात् क्वचिच्छास्त्रीयदृष्टान्ताश्रयणं, क्वचिल्लौकिकदृष्टान्तस्याश्रयणमिति भाष्यसम्मतः पन्था इत्याहुः।"

109. पा. 8.2.3.

110. ध्यातव्य है कि जहां तो अनेक पूर्व सूत्रों की अव्यवहितरूपेण एक साथ ही उत्तर सूत्रों में अनुवृत्ति इष्ट हो वहां तो गोयूथ न्याय प्रवृत्त होता है और जहां व्यवहित रूप में पूर्वसूत्र से उत्तर सूत्रों में अनुवृत्ति इष्ट हो वहां मण्डूकप्लुति न्याय लगता है। तुलना करो, महा. भा. 1 सू. 1.3.11 पृ. 272 - "निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते .... अन्यनिर्देशस्तु (अधिकारस्य) निवर्तको भवति"। देखें प्रकृत ग्रन्थ पृ. 171-72.

111. यही न्याय आगे चलकर "पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः" के रूप में परिभाषा बन गया।

112. चुटकी या हास-परिहास के विषय में हरदत्तप्रयुक्त-वन्यगजशौच न्याय भी देखा जा सकता है।

113. गवाश्वगर्दभ उदाहरण का निम्न विनियोग भी बड़ा सुन्दर बन पड़ा है, महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 12 "शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते। तद्यथा- गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते नाश्वो न गर्दभः"।

114. पा. 1.4.56.

115. तुलना करो, प. मं. (का. भा. 2 सू. 2.2.12 पृ. 114) - "एवं च 'पूजितो यः सुरैरपि' इत्यचिकित्स्योऽपशब्दः"।

116. मनु. 12.100.

117. (क) महा. भा. 1 सू. 1.4.1 पृ. 296 - "अन्यत्र संज्ञासमावेशः प्राप्नोति। क्वान्यत्र? लोके व्याकरणे च"। भाष्यवार्तिककार के द्वारा बार-बार "यथा लौकिकवैदिकेषु" ऐसा कहने से यह ध्वनित होता है कि इन दोनों तक आते-आते लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत में विभेद मान्यता प्राप्त कर चुका था। इसीलिए भाष्यकार "शब्दानुशासन" शब्द की व्याख्या में "केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानां च" ऐसा 'वैदिक' ग्रहण अलग से करते हैं। इससे शब्द का प्रयोगक्षेत्र लोक के समान वेद भी स्वतन्त्र सिद्ध हो जाता है। क्योंकि बहुत सी ऐसी विधियां हैं जो दोनों में समान न होकर अन्यतर में ही पायी जाती हैं।

(ख) महा. प्र. भा. 1 सू. 1.4.49 पृ. 408 - "इहेति लोकः शास्त्रं च सामान्येन निर्दिश्यते। लोके प्रयुज्यमानत्वात्, शास्त्रे चोदाहियमाणत्वात्"।

(ग) ध्यातव्य है कि न्यायों के उक्त तीन स्रोत तो प्रमुख हैं परन्तु वर्ण्यविषय को देखते हुए वर्तमान में प्राप्त लोकन्यायों को कुछ अधिक विस्तृत रूप से निम्न भागों में बांटा जा सकता है - तात्विक चिन्तन प्रधान सभी दर्शन ग्रन्थ, नीति तथा उपदेशात्मक साहित्य, पौराणिक साहित्य, साहित्य शास्त्र, काव्यग्रन्थ, नाटकसाहित्य, स्तोत्रसाहित्य, आलोचनात्मक ग्रन्थ, इतिहास ग्रन्थ, अलङ्कार ग्रन्थ, कोश ग्रन्थ, व्याकरण ग्रन्थ और उसके टीका-टिप्पणी या शङ्कासमाधानवाले ग्रन्थ इत्यादि।

118. महा. भा. 3 सू. 6.3.61 पृ. 168.

119. वही. भा. 1 सू. 1.4.110 पृ. 358.

120. वही. भा. 2 सू. 4.1.3 पृ. 198.

121. वही. भा. 1 सू. 1.1.47 पृ. 115.

122. प. मं. (का. भा. 2 सू. 3.1.31 पृ. 406) - "न चोत्पन्नानामुत्पत्तिविकल्पः शक्यते कर्तुमिति लोकन्यायेन......"

123. महा. प्र. उ. भा. 3 सू. 4.1.3 पृ. 439.

124. ध्यातव्य है कि व्याकरण में लोक से तात्पर्य शिष्टलोक है, आपामर साधारण जन नहीं।

125. पा. 3.3.37.

126. का. भा. 3 सू. 3.3.37 पृ. 37-38 "पदार्थानामनपचारो यथाप्राप्तकरणम् अभ्रेषः"। यहीं पर हरदत्त कहते हैं - "कुत्सितश्चारोऽपचारः, तस्मादन्यः प्रशस्तचारोऽनपचारः"।

127. न्यास (का. भा. 3 सू. 3.3.37 पृ. 38)- "एतदुक्तं भवति - युक्तेरागमाल्लोकप्रसिद्धेर्वा यः पदार्थानां प्राप्नोति तस्य सम्पादनमभ्रेष इति। भ्रेष चलने। भ्रेषणं = भ्रेषः, स्वरूपात् तच्चलनं = प्रच्यवनम्। अभ्रेषो भ्रेषस्वरूपादचलनम्। एवं हि पदार्थाः स्वरूपादचलिता भवन्ति यदि प्राप्तं नातिवर्तन्ते"।

128. पा. 4.4.92 "धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते।"

129. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.57 पृ. 434.

130. वही. सू. 1.1.70 पृ. 535.

131. वै. सि. कौ. भा. 5 सू. 3209 पृ. 320.

132. तुलना करो, न्यायदर्शन 1.1.41 "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः"।

133. पा. 1.2.53 - "तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्"।

134. पा. 1.2.56 - "प्रधान प्रत्ययार्थवचनमशिष्यमन्यप्रमाणत्वात्"

135. (क) महा. प्र. भा. 2 सू. 1.4.2 पृ. 329 - "न्यायमूलं चेदमन्तरङ्गं बलीयः। न च न्यायस्यात्र केनचिद् बाधास्तीति बहुश्वेत्येव भवितव्यमिति न्यायविद आहुः"। उद्योतकार के अनुसार यहां भाष्यकार ही न्यायवित् हैं।

(ख) महा. प्र. भा. 2 सू. 1.4.50 पृ. 411 - "इति न्यायविदो मन्यन्ते"। ध्यान रहे कि यह न्यायवित् शब्द केवल लौकिक परीक्षकों के लिए है, न्यायदर्शन को जानने वालों के लिए नहीं। न्यायदर्शनवेदिता के लिए तो नैयायिक शब्द है।

(ग) महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 2.1.3 पृ. 565 - "इति सुधियो विभावयन्तु"।

(घ) वही. सू. 2.1.58 पृ. 632 - "अत्र समासाभावे प्रमाणं विचार्यं भाष्यारूढं बहुश्रुतैः"।

(ङ) वही. सू. 1.3.15 पृ. 247 - "अशब्दहासे भवति न वेति बहुदर्शिनो विचारयन्तु"।

(च) महा. प्र. भा. 2 सू. 2.4.26 पृ. 862 - "मुनिद्वयाच्च भाष्यकारः प्रमाणतरम्, अधिकलक्ष्यदर्शित्वात्"।

136. प. मं. (का. भा. 2 सू. 3.1.13 पृ. 370) "अहो सूक्ष्मदर्शी देवानाम्प्रियः" - बारीक कातने वाला– यह प्रयोग लोक में निन्दा को द्योतित करता है। परन्तु 'देवानाम्प्रियः' विशेषण के अभाव में उक्त शब्द प्रशस्य अर्थ को कहता है, जैसे- "स एष सूक्ष्मदृशामेव विषयः" (प. मं. [का.भा. 2 सू. 2.1.24 पृ. 41])। तुलना करो, "महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य" (का. भा. 3 सू. 4.2.74 पृ. 568)।

137. परि. सं. 48 पृ. 75.

138. श. कौ. भा. 1 सू. 1.1.57 पृ. 223.

139. महा. प्र. भा. 5 सू. 7.1.23 पृ. 26.

140. वही. भा. 2 सू. 2.1.58 पृ. 631 - "एतन्न्यायाश्रयेण वैदिकव्यवहारं निदर्शनायोपन्यस्यति, तद्यथा - श्वेतं छागमालभेतेति"....।

141. परि. सं. 40.

142. बृ. श. शे. भा. 1 सू. 168 पृ. 320 - "अयं सकृद्गतिन्यायो न हि व्यक्तिपक्ष एव सर्वविषयो न जातिपक्षे इत्यत्र मानमस्तीति शास्त्रीयदृष्टान्तमूलकोऽयं न्यायो भाष्ये उक्तः। यद्वा यथा तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति ...... तत्र लक्ष्यानुसारात् क्वचिच्छास्त्रीयदृष्टान्ताश्रयणं क्वचिल्लौकिकदृष्टान्तस्याश्रयणमिति भाष्यसंमतः पन्थाः इत्याहुः"।

143. महा. भा. 2 सू. 3.2.146 पृ. 133.

144. वही. सू. 3.2.15. पृ. 134.

145. प. मं. (का. भा. 5 सू. 7.1.59 पृ. 598). यहां 'चिणो लुग् न्याय' चिणो लुक्" (पा. 6.4.109) सूत्र का बोधक है।

146. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.7 पृ. 91).

147. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.2.64 पृ. 116. यहां 'रमागम न्याय' "भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्" (पा. 6.4.47) सूत्र का बोधक है।

148. वा. प. 2.349.

149. महा. प्र. उ. भा. 3 सू. 3.4.67 पृ. 392 - "न्याय उत्सर्गः"।

150. महा. भा. 1 सू. 1.3.9 पृ. 265 "सिद्धं त्वपवादन्यायेन ..... किं पुनरिह तथा यथोत्सर्गापवादौ"।

151. न्यास. (का. 4 सू. 5.1.12 पृ. 23.)

152. प. मं. (का भा. 4 सू. 6.1.1 पृ. 438)। तुलना करो, महा. भा. 1 सू. 1.1.47 पृ. 115– "नैवेश्वर आज्ञापयति नापि च धर्मसूत्रकाराः पठन्ति - अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति। किं तर्हि? लौकिकोऽयं दृष्टान्तः (न्यायः)....."।

153. श. कौ. भा. 1 सू. 1.1.57 पृ. 223.

154. त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 2 सू. 828 पृ. 128).

155. महा. भा. 2 सू. 5.1.19 पृ. 343.

156. आप्टे कोश, पृ. 556.

157. महाभारत, आदि पर्व, 62.53.

158. वेदों में इसी का समानार्थक ऋत (अथर्व. 12.1.1) शब्द देखा जा सकता है। "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनु. 2.6) यह वचन भी इसी ओर संकेत करता है।

159. वैसे कई लोकन्याय भी विस्तृत रूप वाले मिलते हैं। यह बात अलग है कि उक्त विस्तृत नीतिवाक्य ही कई बार न्याय रूप में प्रसिद्ध हो जाते हैं।

160. डा. मङ्गलदेवशास्त्री द्वारा सम्पादित सुभाषितसप्तशती की भूमिका से उद्धृत।

161. यह सूक्ष्मतर भेद इनका कवियों द्वारा प्रयुक्त होकर लोकप्रिय होना है।

162. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड 3, अध्याय 5, श्लोक 1 अथवा वायुपुराण 59.142.

163. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.46 पृ. 346.

164. मिसाल शब्द उदाहरण के अर्थ में भी प्रयुक्त देखा जाता है। वैसे दृष्टान्त के अर्थ में, विद्वानों के अनुसार, अरबी का नजीर शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

165. महा. भा. 1 सू. 1.1.47 पृ. 115.

166. न्यायदर्शन सू. सं. 1.1.25.

167. प्रकृत दृष्टान्तपरिभाषा की न्यायदर्शन के "यथा महानसे" उदाहरण से तुलना अवश्य करणीय है।

168. अंग्रेजी में इसे Example कह सकते हैं।

169. वही. सू. 1.1.50 पृ. 120.

170. महा. भा. 1 सू. 1.2.64 पृ. 233-34.

171. बृ. श. र. सू. 1.2.64, पृ० 306.

172. महा. भा. 1. सू. 1.1.1 पृ. 41.

173. वही. सू. 1.1.47 पृ. 115.

174. वही. भा. 2 सू. 3.4.69 पृ. 178.

175. वही. भा. 3 सू. 7.2.117 पृ. 315.

176. वही. भा. 2 सू. 5.1.76 पृ. 357.

177. वही. भा. 1 सू. 1.1.49 पृ. 118.

178. बृ. श. शे. भा. 1 सू. 168 पृ. 320 - "तत्र लक्ष्यानुसारात् क्वचिच्छास्त्रीयदृष्टान्ताश्रयणं क्वचिल्लौकिकदृष्टान्तस्याश्रयणमिति भाष्यसम्मतः पन्था इत्याहुः"।

179. महा. भा. 2 सू. 4.1.88 पृ. 240. इत्यादि

180. प. मं. (का. भा. 2 सू. 3.2.57 पृ. 580).

181. परि. सं. 115.

182. बृहदारण्यकोपनिषद्, 2.3.6; 3.9.26.

183. महा. प्र. उ. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र पृ. 72 - "शिष्टप्रयुक्तत्वमपि न्याय्यत्वमिति परिहारः"।

184. तुलना करो, वा. प. 1.34

"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥"

185. (क) महा. भा. ऋलृक् सूत्र. पृ. 20 - "अन्यथाकृत्वा प्रयोजनमन्यथाकृत्वा परिहारः"
(ख) वही. पृ. 20 - "पक्षान्तैरपि परिहारा भवन्ति"।
(ग) वही. सू. 1.1.1 पृ. 39 - "तमेवोपालभ्य अगमकं ते सूत्रमिति, तस्यैव पुनः प्रमाणीकरणमित्येतदयुक्तम्।

186. न्यायदर्शन 4.1.50.

187. महा. भा. 1 सू. 1.4.24 पृ. 327. तुलना करो, प.ल.म. निपातार्थनिर्णय पृ. 212

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

188. महा. भा. 2 सू. 5.1.59 पृ. 356.

189. वही. भा. 1 सू. 1.1.1 पृ. 40.

190. वही. भा. 2 सू. 5.1.2 पृ. 338.

191. वही. भा. 1 एओङ्ऐऔच् सूत्र. पृ. 23.

192. वही. सू. 1.1.44 पृ. 105.

193. वही. सू. 1.4.93 पृ. 348.

194. का. भा. 4 सू. 6.1.73 पृ. 532.

195. न्यास (का. भा. 6 सू. 6.2.172 पृ. 165).

196. महा. भा. 1 सू. 1.1.1 पृ. 42.

197. वही. सू. 1.3.9 पृ. 266 - "अनुबन्धा एकान्तां इत्येव न्याय्यम्"।

198. वही. सू. 2.1.58 पृ. 400.

199. महा. पस्पशा. पृ. 12.

200. महा. सू. 1.3.19 पृ. 279.

201. महा. अ उ इ ण् सूत्र. पृ. 18.

202. वही भा. 2 सू. 4.1.3 पृ. 197.

203. वही भा. 1 सू. 1.1.1 पृ. 40.

204. वही. सू. 1.3.2 पृ. 259.

205. इस विषय में कपि या वानर के स्वभाव को लेकर उप पूर्वक स्था धातु के आत्मनेपदसम्बन्धी भाष्यकार के निम्न श्लोक अवश्य पठनीय हैं–

"बहूनामप्यचित्तानामेको भवति चित्तवान्।
पश्य वानरसैन्येऽस्मिन् यदर्कमुपतिष्ठते॥
मैवं मंस्थाः सचित्तोऽयमेषोऽपि हि यथा वयम्।
एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति"॥ (महा.भा. 1, सू. 1.3.25, पृ. 281.)

द्वितीय उद्द्योत

भौगोलिक न्याय

क (1) पर्वत तथा अरण्यसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. *सतोऽप्यविवक्षा भवति न्याय*
2. *असतश्च विवक्षा भवति न्याय*

कथं पुनः सतो नामाविवक्षा स्यात्? सतोऽप्यविवक्षा भवति। तद्यथा- अलोमिकैडका, अनुदरा कन्येति। असतश्च विवक्षा भवति। समुद्रः कुण्डिका। विन्ध्यो वर्धितकम् इति।''[1]

''ध्रुवमपायेऽपादानम्'' सूत्रभाष्य में शङ्का की गई है कि **'धावतः पतितः'**, **'त्वरमाणात् पतितः'** (दौड़ते हुए या भागते हुए घोड़े से गिर पड़ा, चञ्चलता करते हुए घोड़े से गिर पड़ा) यहां धावन क्रिया और त्वरण क्रियाएं ध्रुव कैसे हुईं जिससे इनकी अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी की जा रही है तो इसका उत्तर देते हुए वार्तिककार कहते हैं- **''न वाऽध्रौव्यस्याविवक्षितत्वात्''** अर्थात् धावन और त्वरण क्रियाओं में भी अध्रौव्य (अध्रुवता) की विवक्षा न करके ध्रुवता ही विवक्षित है। इसलिए **''ध्रुवमपायेऽपादानाम्''** सूत्र से अपादान संज्ञा हो जाएगी। क्योंकि जो गिर रहा है, उसके लिए तो दौड़ता हुआ या चञ्चलता करता हुआ भी घोड़ा ध्रुव ही है। यदि वह ध्रुव न माना जाए तो गिरने की अवधि न बने। इसलिए यहां अध्रुवता की विवक्षा न करके ध्रुवता ही एष्टव्य है।[2]

इस ध्रुवता को सिद्ध करने के लिए भाष्यकार पूछते हैं कि **सत्** अर्थात् विद्यमान वस्तु की विवक्षा कैसे? क्योंकि जब वह घोड़ा दौड़ रहा है तो उसमें अध्रुवता या अस्थिरता साक्षात् विद्यमान है। कहते हैं कि आपकी बात ठीक है किन्तु सत् की भी अविवक्षा (कथन करने की अनिच्छा) होती है, जैसे लोक में **'अलोमिका एडका'** तथा **'अनुदरा कन्या'** ऐसा प्रयोग करते हैं। अब भला सर्वथा लोमरहित भेड़ तथा उदररहित कन्या कैसे हो सकती है? किन्तु फिर भी जो अलोमिका तथा अनुदरा कहा जाता है उसका यह अभिप्राय होता है कि इस भेड़ के अत्यल्प बाल हैं और यह कन्या कृश एवं दुबले-पतले लघु उदर वाली है, यह नहीं कि उस भेड़ के सर्वथा लोम नहीं है या उस कन्या का सर्वथा पेट नहीं है। लोम और उदर के होते हुए भी कारणविशेष से उनकी विवक्षा नहीं होती।[3] इसी विषय में भाष्यकार आगे कहते हैं कि इसकी साथ

ही लोक में असत् की विवक्षा भी होती है, अर्थात् जो वस्तु ही नहीं है, उसको भी कहने की इच्छा होती है, जैसे- **''समुद्रः कुण्डिका''** (यह समुद्र तो जल का छोटा सा कुण्ड है या यह जलकुण्ड इतना अधिक जल से भरा है कि मानो समुद्र है)। भला छोटा सा जलकुण्ड समुद्र कैसे हो सकता है या समुद्र जो जल से परिपूर्ण होता है, वह छोटा सा जलकुण्ड कैसे हो सकता है? इसी प्रकार **''विन्ध्यो वर्धितकम्''** अर्थात् यह चावल का ढेर तो विन्ध्य पर्वत है। अत्यधिक ऊँचा होने से चावल के ढेर को देखकर लोग कह ही दिया करते हैं कि यह तो पूरा विन्ध्याचल है। ये सब विवक्षा के खेल हैं। सन्धि तथा समास आदि वृत्तियां सब विवक्षा से ही संचालित होती हैं। इसी प्रकार सत् की अविवक्षा और सत् की विवक्षा भी लोकव्यवहार में प्रयुक्त होती है। इसलिए इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है कि **''धावतः पतितः''** और **''त्वरमाणात् पतितः''** में विद्यमान अध्रुवता की अविवक्षा करके ध्रुवता की विवक्षा कैसे हुई? कारकों की विवक्षा के विषय में तो यह परिभाषा भी अवश्य स्मर्तव्य है- **''विवक्षातः कारकाणि भवन्ति''**।

इसी प्रकार **''षष्ठी शेषे''** सूत्र के भाष्य में भी भाष्यकार प्रकृत न्याय का उपन्यास करते हैं। तदनुसार **'शेष'** शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए ये कहते हैं कि **'शेष'** क्या है? कर्मादि कारकों से अन्य अर्थ का नाम **'शेष'** है। यदि ऐसा है तो **'शेष'** नहीं बनता। क्योंकि कमादि कारकों से अन्य अर्थ कोई है ही नहीं। यहां **'राज्ञः पुरुषः'** में भी पुरुष का स्वामी राजा है। राजा का स्व पुरुष है। जब पुरुष राजा का है तो राजा उसे कुछ न कुछ पदार्थ अवश्य देता होगा। 'राजा का पुरुष' इसका अर्थ हुआ कि राजा पुरुष को पदार्थ देता है। इसलिए राजा दान क्रिया का कर्ता हुआ और पुरुष लेने वाला होने से सम्प्रदान हुआ। ये दोनों कारक कर्मादि में आ जाते हैं। इसी प्रकार **''वृक्षस्य शाखा''** (वृक्ष की शाखा) यहां भी वृक्ष शाखा का अधिकरण है क्योंकि वृक्ष में ही शाखा रहती है। इस प्रकार वृक्ष अधिकरण तथा शाखा 'स्थिति क्रिया' का कर्ता है।

इस पर भाष्यकार आगे कहते हैं- **''यदेतत् स्वं नाम चतुर्भिरेतत् प्रकारैर्भवति-क्रयणाद् अपहरणाद् याच्ञायाः विनिमयादिति। अत्र च सर्वत्र कर्मादयः सन्ति। एवं तर्हि कर्मादीनामविवक्षा शेषः। कथं पुनः सतो नामाविवक्षा स्यात्**[4]**''** इत्यादि।

अर्थात् यह जो स्व-स्वामिभाव है, वह चार प्रकार से होता है, यथा- खरीदने से, चुराने से, मांगने से और परस्पर बदलने से। इन सब क्रियाओं में कर्मादि कारक विद्यमान हैं।[5] ऐसी स्थिति में 'शेष' का लक्षण नहीं बनता। हां, यदि कर्मादि की अविवक्षा को 'शेष' माना जाए तो बात बन सकती है। परन्तु वहां भी समस्या यह है कि विद्यमान की अविवक्षा कैसे संभव है? इस पर भाष्यकार कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि प्रकृत न्याय के आधार पर विद्यमान की भी अविवक्षा हो जाती है। न केवल इतना ही अपितु इसके विपरीत अविद्यमान की विवक्षा भी हो जाती है।

इसी प्रकार "लुङ्" सूत्र के भाष्य[6] में भी यह न्याय उपन्यस्त किया गया है। तदनुसार यहां "लुङ्" सूत्र से विहित लुङ् लकार तो सामान्य भूतकाल में होता है और लङ् लकार अनद्यतनविशिष्ट भूतकाल में होता है। अब यदि लुङ् लकार को अनद्यतनविशिष्ट भूतकाल माना जाए तो लङ् लकार से लुङ् लकार की बाधा प्राप्त होती है। क्योंकि वह विशेषविहित है। इसलिए यहां लुङ् लकार के विधान में अनद्यतन की विवक्षा न करके सामान्य भूतमात्र का ग्रहण होता है। इस पर आक्षेप करते हैं कि सत् की अविवक्षा कैसे हो सकती है? क्योंकि जब अनद्यतनविशिष्ट भूत भी भूत ही है तो उस विद्यमान अनद्यतन भूत की विवक्षा क्यों न मानी जाए? इसके उत्तर में उक्त लोकन्याय उद्धृत हुआ था।[7] यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[8] कारकप्रयुक्त विवक्षा को समझने में अग्रिम न्याय भी उपयोगी है, तद्यथा-

3. *स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यविवक्षा न्याय*

"अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम् अहं ब्रवीमि, आवां ब्रूवः वयं ब्रूमः, इमानीन्द्रियाणि कदाचित् स्वातन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति, तद् यथा- इदं मे अक्षि सुष्ठु पश्यति। अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति। कदाचित् पारतन्त्र्येण विवक्षितानि भवन्ति, तद् यथा- अनेनाक्ष्णा सुष्ठु पश्यामि। अनेन कर्णेन सुष्ठु श्रृणोमीति। तद् यदा स्वातन्त्र्येण विवक्षा तदा बहुवचनं भविष्यति। यदा पारतन्त्र्येण तदैकवचनद्विवचने भविष्यतः"।[9]

"अस्मदो द्वयोश्च" सूत्र का खण्डन करते हुए भाष्यकार लिखते हैं कि 'अहं ब्रवीमि, आवां ब्रूवः, वयं ब्रूमः' ये रूप इस सूत्र के बिना भी बन जाएंगे। 'अस्मद्' के एकवचन तथा द्विवचन के स्थान में विकल्प से बहुवचन सिद्ध हो जाएगा। पूछते हैं सो कैसे? तो उत्तर है कि मनुष्य की ये इन्द्रियां कभी स्वतन्त्रता से विवक्षित होती हैं, जैसे- यह मेरी आंख अच्छी तरह देखती है। यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है। यहां आंख और कान दोनों अपने-अपने व्यापार में स्वतन्त्र रूप से विवक्षित हैं। और कभी यही इन्द्रियां परतन्त्रता से विवक्षित होती हैं, जैसे- मैं इस आंख से अच्छी तरह देखता हूं और मैं इस कान से अच्छी तरह सुनता हूं। यहां आंख और कान दोनों का व्यापार मेरे अधीन है, इसलिए इन्द्रियां परतन्त्रता से विवक्षित हैं। ऐसी स्थिति में जब इन्द्रियों का व्यापार स्वतन्त्रता से विवक्षित होगा तब इन्द्रियों के बहुत होने से बहुवचन हो जाएगा। इन्द्रियां और मन दो मानने पर द्विवचन हो जाएगा। और जब आत्मा का व्यापार स्वतन्त्रता से विवक्षित होगा तब आत्मा के एक होने के कारण एकवचन भी सिद्ध हो जाएगा। इस प्रकार विवक्षाभेद से इस सूत्र का खण्डन हो जाता है। विवक्षा के स्पष्टीकरण के लिए अग्रिम प्रायविवक्षा न्याय भी अवश्य पठनीय है, तद्यथा-

4. **प्रायविवक्षा न्याय**

"इतिकरणः क्रियते। ततश्चेद् विवक्षा भवति। विवक्षा च द्वयी। अस्त्येव प्रयोक्त्री विवक्षा। अस्ति लौकिकी। प्रायोक्त्री विवक्षा-प्रयोक्ता हि मृद्व्या स्निग्धया श्लक्ष्णया जिह्वया मृदून् स्निग्धान् श्लक्ष्णान् शब्दान् प्रयुङ्क्ते। लौकिकी विवक्षा यत्र प्रायस्य सम्प्रत्ययः। प्राय इति लोको व्यपदिश्यते। न च प्रासादो देवदत्तस्य स्यात्। प्राकारो नगरस्य स्यादित्यत्रोत्पद्यमानेन प्रत्ययेन प्रायस्य सम्प्रत्ययः स्यात्।"[10]

"तदस्य तदस्मिन् स्यादिति" सूत्र में स्थित 'इति' शब्द को भाष्यकार ने विवक्षा परक माना है। और वह विवक्षा (बोलने की इच्छा) भी दो प्रकार की है। एक प्रायोक्त्री (प्रयोग करने वाले की स्वतन्त्र इच्छा) और दूसरी लौकिक (लोक द्वारा स्वीकृत, प्रायः लोग जिसे स्वीकार करते हैं)। दोनों विवक्षाओं में लौकिकी विवक्षा ही व्यवहारोपयोगी होने से ग्राह्य है। वक्ता या प्रयोक्ता तो न जाने अपनी कोमल जीभ से क्या कुछ कहना चाहेगा। किन्तु वह तब तक प्रामाणिक न होगा जब तक लोक उसे स्वीकार न करे। तदनुसार "प्रासादो देवदत्तस्य स्यात्" यहां प्राक्क्रीतीय तद्धित 'छ' प्रत्यय लोक में प्रसिद्ध नहीं है। इसलिए यहां 'छ' प्रत्यय नहीं होगा। तात्पर्य की दृष्टि से यह प्राय शब्द अभिधान के निकटवर्ती है। विवक्षा के प्रसङ्ग में अग्रिम न्याय भी द्रष्टव्य है।

5. अनुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षा न्याय

"स्य इति त्यदः प्रथमैकवचनम्, तस्यानुकरणम् तस्माच्च या षष्ठ्युत्पन्ना तस्याः सुपां सुलुक् इत्यादिना लुक्। अनुत्पत्तिरेव तस्याः (षष्ठ्याः) अनुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षितत्वाद् यथा- गवित्ययमाहेति"।[11]

यह न्याय न्यासकार ने "स्यश्छन्दसि बहुलम्" सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। पदमञ्जरीकार ने भी यहां यह न्याय स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह है कि अनुकार्य अर्थात् जिसका अनुकरण किया जा रहा है और अनुकरण तो अनुकरण है ही, इन दोनों में भेद होने पर भी जब भेद की विवक्षा नहीं होती, तब दोनों को एक सा ही मान लेते हैं, जैसे- 'गवित्ययमाह' अर्थात् किसी ने 'गो' ऐसा बोला। उसका अनुकरण करने वाला कहता है कि इसने 'गो' ऐसा कहा है। यहां पर गो शब्द के अर्थवान् होते हुए भी अनुकार्य और अनुकरण की भेदविवक्षा न होने पर गो शब्द को अर्थवान् नहीं माना गया। अर्थवान् न होने से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी। फलतः प्रातिपदिक संज्ञा न होने से गो शब्द के आगे 'सु' आदि विभक्तियों की उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि अनुकार्य अनर्थक है, इसलिए अनुकरण भी इससे अभिन्न होने के कारण अनर्थक माना गया। अतएव कहा गया है-

"अत एव गवित्याह भूसत्तायामितीदृशम्।
न प्रातिपदिकं नापि पदं साधु तु तत् स्मृतम्॥"[12]

यद्यपि अनुकार्य और अनुकरण की भेदविवक्षा भी होती है और अविवक्षा भी। 'गवित्ययमाह' यह उदाहरण तो भेद की अविवक्षा का है। "क्षियो दीर्घात्"[13] यह सूत्र भेद की विवक्षा का है। यहां 'क्षि' धातु का अनुकरण है। उस अनुकरण को धातु से

अभिन्न मानकर 'क्षिय्' यहां "अचि श्नुधातु"[14] इत्यादि सूत्र से धातुप्रयुक्त 'इयङ्' आदेश हो जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में तो "स्यश्छन्दसि बहुलम्" सूत्र में 'स्य' इस निर्देश में षष्ठी का लुक् स्वीकार किया गया है। उसमें 'स्य' शब्द के अनुकरण 'स्य' शब्द में भेद की विवक्षा न करके षष्ठी का लुक् हो गया है। इस प्रकार यह न्याय दोनों प्रकार से ही प्रसिद्ध है। कहीं अनुकार्य-अनुकरण की भेदविवक्षा होती है और कहीं भेद-अविवक्षा होती है। इस न्याय का अन्यत्र भी पर्याप्त व्यवहार हुआ है।[15] इस सन्दर्भ में अग्रिम अवयव-अवयवी की भेदाभेदविवक्षामूलक न्याय भी अवश्य पठनीय है।

6. अवयवावयविनोस्तु भेदविवक्षाऽपि भवत्यभेदविवक्षा च न्याय/तन्तुपट न्याय

अवयवावयविनोस्तु भेदविवक्षाऽपि भवति - तन्तूनां पट इति। अभेदविवक्षाऽपि - पटीभवन्ति तन्तव इति।"[16]

यह न्याय प्रदीपकार कैयट ने "हलन्ताच्च" सूत्र के महाभाष्यगत 'अन्त' शब्द की व्याख्या में उद्धृत किया है। उक्त सूत्र में 'अन्त' शब्द का अर्थ अवयव भी सम्भव है। इस न्याय का अर्थ यह है कि अवयव और अवयवी में परस्पर भेदविवक्षा भी होती है और अभेदविवक्षा भी। जब भेदविवक्षा होगी तब कहेंगे कि इन तन्तुओं का यह कपड़ा है। वहां तन्तु कपड़े के अवयव हैं। ऐसी स्थिति में उनको कपड़े से भिन्न मानकर उक्त प्रयोग हो जाता है और जब दोनों की अभेदविवक्षा होती है तो यह प्रयोग होता है कि ये तन्तु कपड़े बन गए हैं। उस समय तन्तु भिन्न होते हुए भी कपड़े का नाम धारण कर लेते हैं। उक्त सूत्र में तो 'अन्त' शब्द का अर्थ भाष्यकार ने अवयववाची न मानकर समीपवाची माना हैं अर्थात् इक् का अवयव हल् नहीं, अपितु इक् के समीप जो हल् है, ऐसा सूत्र का अर्थ माना जाता है। अवयव-अवयवी के सम्बन्ध में तो लक्ष्यानुरोध से भेद-अभेद आदि सब प्रकार के व्यवहार चलते हैं। शास्त्र में अन्यत्र भी इसके अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं।[17]

7. आरण्यक न्याय

"अरण्यान्मनुष्ये" सूत्र के भाष्य में "पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वाच्यम्" इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने 'आरण्यको न्यायः'[18] ऐसा प्रयोग किया है। इससे भाष्यकार के समय की न्यायविषयक स्थिति का संकेत मिलता है। वस्तुतः प्रकृत न्याय शब्द 'न्याय' का सूचक न होकर तात्कालिक अन्याय को ही सूचित करता है। तदनुसार वैसे तो या लोक में न्याय की दृष्टि से धनी-निर्धन तथा सशक्त-शक्तिहीन में कोई अन्तर नहीं होता था परन्तु वन में ऐसी स्थिति नहीं थी। अरण्य में तो बलवान् प्राणी कमजोर प्राणी को निगल जाता है। इस विपरीत स्थिति को ही भाष्यकार ने आरण्यक न्याय से ज्ञापित किया है।

आज भी लोक में जोर-जबरदस्ती या बलात् अन्यायपूर्ण स्थिति को 'जंगल का राज' नाम से पुकारते हैं। ध्यान रहे कि लगभग यही स्थिति जल में मत्स्यों के विषय

में भी देखी जाती है। वहां भी बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। फलतः पूर्वोक्त अन्यायपूर्ण व्यवस्था को बताने के लिए "मात्स्य न्याय" का भी लोक में व्यवहार देखा जाता है।

क (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित उपर्युक्त पर्वतादि सम्बन्धी लोकन्याय

1. कान्तारसार्थ न्याय[19]
2. अभ्यर्हित न्याय[20]
3. तास्थ्यात् ताच्छब्द्य (मञ्चा हसन्ति) न्याय[21]

ख (1) नदीसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. *तदेकदेशभूतः (तन्मध्यपतितः) तद्ग्रहणेन गृह्यते न्याय/गङ्गायमुनाग्रहण न्याय/देवदत्तास्थगर्भ न्याय*

"तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते। तद् यथा- गङ्गा, यमुना, देवदत्ता इति। अनेका नदी गङ्गां यमुनां च प्रविष्टा गङ्गायमुनाग्रहणेन गृह्यते। तथा देवदत्तास्थो गर्भो देवदत्ताग्रहणेन गृह्यते।[22]

"येन विधिस्तदन्तस्य" सूत्र के भाष्य में "अकच्श्नमवतः सर्वनामाव्यय-धातुविधावुपसंख्यानम्" यह वार्तिक पढ़ा गया है। इसके द्वारा 'अकच्' वाले तथा 'श्नम्' वाले शब्दों का सर्वनाम, अव्यय तथा धातु ग्रहण से गृहीत होने के लिए उपसंख्यान किया गया है। उदाहरण जैसे- 'सर्वके', 'विश्वके' यहां सर्व, विश्व शब्दों से अज्ञातादि अर्थों में "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः"[23] से विहित 'अकच्' प्रत्यय 'टि' से पूर्व होकर सर्व और विश्व के मध्य में पड़ जाता है। इस प्रकार 'सर्वक,' 'विश्वक' शब्द न तो तत् हैं और न तदन्त हैं अर्थात् न तो ये सर्व, विश्व हैं और न ही सर्व, विश्व हैं अन्त में जिसके ऐसे हैं। ऐसी अवस्था में इनकी सर्वनाम संज्ञा नहीं प्राप्त होती। इसी तरह 'उच्चकैः', 'नीचकैः' यहां 'उच्चैः', 'नीचैः' इन अव्यय शब्दों से अज्ञातादि अर्थों में "अव्यवसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः" इस सूत्र से विहित 'अकच्' प्रत्यय 'टि' से पूर्व होकर 'उच्चैः', 'नीचैः' के मध्य में पड़ जाता है। इस प्रकार 'उच्चकैः', 'नीचकैः' ये भी न तो तत् हैं और न ही तदन्त हैं अर्थात् न तो ये स्वरादिगण में पठित 'उच्चैः', 'नीचैः' हैं और न ही 'उच्चैः, नीचैः' हैं अन्त में जिसके ऐसे शब्द हैं। ऐसी अवस्था में इनकी भी अव्यय संज्ञा नहीं प्राप्त होती। 'भिनत्ति' 'छिनत्ति' यहां 'भिद्', 'छिद्' इन रुधादिगणपठित धातुओं से 'श्नम्' प्रत्यय होता है। 'श्नम्' के मित् होने से वह अन्तिम अच् से परे होकर 'भिद्' 'छिद्' के मध्य में पड़ जाता है। इस प्रकार 'भिनद्' 'छिनद्' ये न तो तत् हैं और न ही तदन्त हैं। ऐसी अवस्था में इनकी भी धातु संज्ञा नहीं प्राप्त होती। इसलिए भाष्यकार कहते हैं कि उक्त 'अकच्' वाले तथा 'श्नम्' आदि वाले 'सर्वके',

'भिनत्ति', आदि शब्दों की सर्वनाम आदि संज्ञा करने के लिए "अकच्श्नम्वतः" यह वार्तिक पढ़कर इनकी उक्त संज्ञाओं का उपसंख्यान करना चाहिए।

सम्प्रति इस उपसंख्यान का व्याकरणशास्त्रीय प्रसिद्ध परिभाषा से खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि इस उपसंख्यान वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि "तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते"[24] अर्थात् जो जिसका एकदेश या अवयव बन जाता है वह उसके ग्रहण से गृहीत होता है, जैसे लोक में गङ्गा, यमुना, देवदत्ता बोलते हैं। तदनुसार अनेक नदियां गङ्गा में मिलकर भी गङ्गा ही कहलाती हैं और यमुना में मिलकर यमुना बन जाने से वे भी यमुना ही कहलाती हैं। इसी तरह देवदत्ता नामक किसी स्त्री के पेट में बच्चा होने पर भी वह देवदत्ता ही कहाती है अथवा देवदत्ता नामक किसी स्त्री के उदर में विद्यमान बच्चा भी देवदत्ताग्रहण से गृहीत होता है अर्थात् वह भी देवदत्ता ही कहलाता है।[25] इसी प्रकार 'सर्वके', 'विश्वके', 'उच्चकैः', 'नीचकैः' इत्यादि के मध्य में पड़ा हुआ 'अकच्' भी 'सर्व', 'विश्व', 'उच्चैः', 'नीचैः' ही कहलाएगा तो क्रमशः सर्वनाम संज्ञा तथा अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो जाएंगी। 'भिनत्ति' में भी 'भिद्' के मध्य में पड़ा हुआ 'श्नम्' 'भिद्' के ग्रहण से गृहीत हो जाएगा तो 'भिनत्ति' की धातु संज्ञा बन जाएगी।

इसी प्रकार यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्" सूत्रभाष्य में भी इस न्याय से इष्ट सिद्ध किया गया है। परन्तु इनमें इतना ही अन्तर है कि यहां "तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इस प्रकार पुंलिङ्ग का निर्देश है और 'वहां 'तदेकदेशभूतम्' इस प्रकार नपुंसक लिङ्ग का। प्रस्तुत प्रसङ्ग में "यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्" इस अङ्गसंज्ञा विधायक सूत्र में इसका उपयोग करते हुए भाष्यकार द्वारा 'संचस्करतुः,' 'संचस्करुः' यहां सुड्विशिष्ट 'कृ' धातु को भी अङ्ग मानकर "ऋतश्च संयोगादेर्गुणः"[26] से गुण सिद्ध किया गया है। प्रस्तुत न्याय का समानान्तर एक और न्याय है - "तन्मध्यपतितस्तद् ग्रहणेन गृह्यते"। दोनों का भाव एक ही है। उत्तरवर्ती व्याख्याग्रन्थों में प्रकृत न्याय को प्रायः तन्मध्यपतित न्याय से कहा गया है। अस्तु, उक्त दोनों न्याय व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होते हैं।[27]

2. वीचीतरङ्ग न्याय

3. कदम्बमुकुल न्याय

"श्रोत्रसम्बन्धस्तु प्रदेशान्तरोत्पन्नशब्दस्यापि वीचितरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा तत्रान्तरे व्युत्पादित एव"।[28]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "अ इ उ ण्" सूत्र के महाभाष्य में शब्दलक्षण के प्रसङ्ग में उद्धृत किया है। वहां कहा गया है कि दूसरे स्थान में उत्पन्न शब्द का भी अपने श्रोत्र के साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है कि जैसे एक वीचि या लहर दूसरी लहर या तरंग को उत्पन्न करती है और वह

उत्पन्न हुई बहुत दूर जा पड़ती है[29] वैसे ही शब्द भी अगले शब्द को उत्पन्न करता हुआ हमारे कानों तक पहुंच जाता है - यही वीचीतरङ्गन्याय है अर्थात् नदी की तरङ्ग जैसे एक के बाद दूसरी उत्पन्न होती है वैसे ही जहां परम्पराक्रम से कार्योत्पत्ति हो वहां इस न्याय का प्रयोग होता है।

वैसे दर्शनशास्त्रों में उक्त न्यायों के आधार पर जीव और ब्रह्म में वस्तुतः अभेद होते हुए भी भेद की कल्पना की गई है। इनका कहना है कि जैसे वीची और तरङ्ग समानार्थक होते हुए भी परस्पर भिन्न माने जाते हैं वैसे ही जीव और ब्रह्म भी वस्तुतः अभिन्न होते हुए भी अज्ञानवशात् भिन्न मान लिए जाते हैं।

कदम्बमुकुल न्याय का स्वरूप यह है कि जैसे गोलाकार कदम्ब के फूल एक साथ ही चारों ओर उत्पन्न हो जाते हैं वैसे ही शब्द की उत्पत्ति भी एक साथ ही सब दिशाओं में हो जाती है जिसका सम्बन्ध हमारे कानों से हो जाता है। भाव यह है कि जहां उदय के साथ ही कार्य भी आरम्भ हो जाए वह कदम्बकोरक न्याय होता है। भाषापरिच्छेद में भी शब्दग्रहण के सन्दर्भ में उक्त दोनों न्यायों का एकसाथ उल्लेख है-

"वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।
कदम्बकोरकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते॥"[30]

कहीं-कहीं कदम्बकोरक (गोलक) के स्थान पर कदम्बमुकुल न्याय का पाठभेद भी प्राप्त होता है।[31] अन्यत्र भी वीचीतरङ्ग न्याय प्रयुक्त देखा जा सकता है।[32] शब्दोत्पत्ति के विषय में अगला शब्दजशब्द न्याय भी पठनीय है।

4. शब्दजशब्द न्याय

"यद् वा पूर्वपूर्ववर्णजाः शब्दाः शब्दजशब्दन्यायेन चरमवर्णप्रत्यक्षपर्यन्तं जायमाना एव सन्ति इति न पदप्रत्यक्षानुपपत्तिः"।[33]

यह न्याय 'वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा' में 'स्फोट-निरूपण' के प्रसङ्ग में नैयायिकों का पक्ष प्रतिपादित करते हुए लिखा गया है। इसका अर्थ है कि पहले-पहले वर्ण से उत्पन्न जो अगले शब्द हैं, वे 'शब्दजन्यशब्द' न्याय से अर्थात् एक शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है, दूसरा तीसरे को और तीसरा चौथे को इत्यादि क्रम से अन्तिम वर्ण के प्रत्यक्ष तक विद्यमान ही रहते हैं। इसलिए गौः इत्यादि पदों के प्रत्यक्ष होने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यद्यपि गौः में जब तक 'गकार' में हमारी वाणी है, तब तक औकार में नहीं है और जब औकार में आती है तो गकार छूट जाता है। इसी तरह उसके बाद वाणी के विसर्ग में आने पर गकार और औकार दोनों छूट जाते हैं।[34] इस प्रकार गकार, औकार और विसर्ग इन तीनों के इकट्ठा या एक साथ उच्चारण न कर सकने से यद्यपि गौः इस पद का प्रत्यक्ष कैसे होगा-यह शङ्का अवश्य

होती है तथापि इसका समाधान भाष्यकार पतञ्जलि ने "परः सन्निकर्षः संहिता" सूत्र के भाष्य में इस प्रकार किया है-

"बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः, कर्ता धीरस्तन्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्॥"[34]

इस सुन्दर कारिका की उक्ति द्वारा यह बताया गया है कि वाणी तो एक-एक वर्ण तक टिकने वाली है और प्रत्येक वर्ण उच्चरित प्रध्वंसी है अर्थात् उच्चारण किया और नष्ट हो गया। फिर भी हमारी बुद्धि में उनके संस्कार तो निहित रहते ही हैं। इसलिए पूर्व-पूर्व वर्णानुभवजन्य संस्कारसहकृत बुद्धि को लेकर शब्दों का पौर्वापर्य बन जाएगा। उससे गौः इस वर्णसमुदाय रूप पद की सत्ता में कोई बाधा नहीं पहुंचेगी। इस प्रकार शब्दजन्यशब्द से भी अन्तिम ध्वनि के साथ सम्पूर्ण पद का बोध हो सकता है।

ख (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित नदीसम्बन्धी लोकन्याय

1. अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति न्याय[35]
2. सरसी न्याय[36]
3. शालिकुल्याप्रणयन न्याय/अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति न्याय[37]
4. अन्तशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[38]
5. असतश्च विवक्षा भवति न्याय[39]
6. तत्सामीप्यात् ताच्छब्द्य न्याय/गङ्गायां घोषः न्याय[40]
7. गङ्गा (धारा) प्रवाह न्याय/नदीस्रोत न्याय[41]

ग (1) ग्राम और नगरसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. द्रव्यवच्चोपचार न्याय

"द्रव्यवच्चोपचाराः। द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्ति। तद् यथा- द्रव्येषु नैकेन घटेनानेको युगपत्कार्यं करोति। एवमिममकारं नानेको युगपदुच्चारयेत्।"[42]

अकार एक है या अनेक-इस विचारणा में "अ इ उ ण्" सूत्र के भाष्य में "द्रव्यवच्चोपचाराः" यह पूर्वपक्ष का वार्तिक है। लोक न्याय के आधार पर इसका अवतरण हुआ है। इसका अर्थ है कि 'अश्वः' 'अर्कः', 'अर्थः' इत्यादि में सर्वत्र यदि एक ही अकार माना जाए तब तो फिर इनमें द्रव्यों के समान ही व्यवहार प्राप्त होगा। फलतः जैसे लौकिक द्रव्यों में उदाहरणस्वरूप एक घड़े से अनेक आदमी एक समय में उदकाहरणादि काम नहीं ले सकते वैसे ही इस अकार को भी एक समय में अनेक आदमी उच्चारण नहीं कर सकेंगे। इसलिए उसे एक न मानकर अनेक ही मानना चाहिए। इस पूर्वपक्षोक्त तर्क का उत्तर अगले सम्भवी कार्य लोकन्याय में दिया गया है। ध्यान रहे कि प्रकृत न्याय तथा आगामी कुछ और न्याय आदित्यदर्शन न्याय के

प्रसङ्गानुरोध से ही यहां दिए जा रहे हैं अन्यथा उदाहरणों के कारण वे अन्यत्र ही उद्धरणीय हैं।

2. सम्भवी कार्य न्याय

"भवेद् यदसंभवि कार्यं तन्नानेको युगपत्कुर्यात्। यत्तु खलु संभवि कार्यमनेकोऽपि तद् युगपत्करिष्यति। संभवि चेदं कार्यमकारस्योच्चारणं नाम। तद् यथा- घटस्य दर्शनं स्पर्शनं वा"।[43]

"अ इ उ ण्" सूत्रभाष्य में भाष्यकार अकार के एकत्व को सिद्ध करते हुए प्रकृत न्याय को उपन्यस्त करते हैं। इसका भाव यह है कि लोकव्यवहार को पूरा देखिए। जो असंभव कार्य हैं, उसको तो चाहे एक समय में अनेक आदमी एक साथ न भी कर सकें किन्तु जो संभव कार्य है, उसे तो अनेक आदमी भी एक समय में एक साथ कर सकते हैं, जैसे- घड़े का देखना या छूना। यह कार्य अनेक आदमी भी एक साथ एक समय में कर सकते हैं। इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी अकार का उच्चारण करना भी युगपत्सम्भव कार्य है। स्थानकरणनिष्पन्न ध्वनि से व्यङ्ग्य होने के कारण अनेक आदमी भी एक समय में इसका एक साथ उच्चारण-श्रवण कर सकते हैं। इसलिए अश्वः, अर्क, अर्थः इत्यादि में अकार को एक मानने में भी उक्त युगपदुच्चारणाभावरूप दोष नहीं आता। इस विषय में अग्रिम लोकन्याय भी द्रष्टव्य है।

3. शल्यकवन्न्याय

"एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमानाये यश्चानुवृत्तौ यश्च धात्वादिस्थः। अनुबन्धसङ्करस्तु प्राप्नोति। विषयेण तु नानालिङ्गकरणात् सिद्धम्। यदयं प्रतिविषयं नानालिङ्गमकारं करोति - कर्मण्यण्, आतोऽनुपसर्गे क इति, तेन ज्ञायते नानुबन्धसङ्करोऽस्तीति। यदि हि स्यात् नानालिङ्गकरणमनर्थकं स्यात्। एकमेवायं सर्वगुणमुच्चारयेत्। नैतदस्ति ज्ञापकम्। इत्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थमेतत् स्यात्। न ह्यनुबन्धैः शल्यकवच्छक्य उपचेतुम्। इत्संज्ञायां हि दोषः स्यात्। आयम्य हि द्वयोरित्संज्ञा स्यात्। कयोः? आद्यन्तयोः"।[44]

"अइउण्" सूत्रभाष्य में भाष्यकार अकार की एकता और अनेकता पर विचार करते हुए कहते हैं कि यदि यह अकार अक्षरसमाम्नाय में, "आद् गुणः"[45] इत्यादि अनुवृत्तिनिर्देशों में तथा धातु आदि में एक ही माना जाता है तो फिर सर्वप्रथम अनुबन्धसाङ्कर्य रूप दोष प्राप्त होगा अर्थात् "आतोऽनुपसर्गे कः"[46] सूत्रप्रोक्त 'क' प्रत्यय में भी "कर्मण्यण्" सूत्रप्रोक्त 'अण्' प्रत्ययप्रयुक्त वृद्धि आदि अनिष्ट कार्य प्राप्त होंगे। इस दोष को परिहृत करने के लिए भाष्यकार आगे कहते हैं कि यह जो आचार्य पाणिनि प्रत्येक 'अण्' आदि प्रत्यय के अकार में 'ण्', 'क्', 'ट्' आदि नाना लिङ्ग या चिह्न लगा रहे हैं, उससे अनुमान होता है कि अनुबन्धसङ्कर नहीं होता। यदि अनुबन्धसङ्कर होता तो फिर उनके द्वारा प्रत्येक अकार में नाना अनुबन्ध लगाना व्यर्थ हो जाता और इस तरह एक अकार

में ही ये सारे लिङ्ग आसक्त कर देते। फलतः अनुबन्धसाङ्कर्य नहीं होता। इस तरह अकार का एकत्व ज्ञापित हो जाता है।

इस पर भाष्यकार आपत्ति करते हैं कि यह कोई ज्ञापक नहीं है। क्योंकि इस एक अकार को अनुबन्धरूप कण्टकों से शल्यक या सीही नामक प्राणिविशेष के समान चारों ओर से नहीं ढका जा सकता अर्थात् लौकिक शल्यक या सीही तो भले ही कण्टकतुल्य पंखों से चारों ओर से व्याप्त भी हो परन्तु अकार को तो सर्वथा ऐसे लिङ्गों से चारों ओर से नहीं ढका जा सकता। आगे कहते हैं कि वस्तुतः यह अकार-भेदक अनुबन्धकरण तो इत्संज्ञा की प्रक्लृप्ति के लिए है। यदि ण, क्, ट् आदि सारे लिङ्ग एक अकार में ही लगा दिए जाएंगे तो फिर इत्संज्ञा में दोष प्राप्त होगा अर्थात् सब अनुबन्धों की इत्संज्ञा नहीं प्राप्त हो सकेगी जोकि इष्ट है। क्योंकि उस अवस्था में बड़े-बड़ाई, कठिनाई से, जोर-जबरदस्ती या खींचतान करने पर भी केवल आदि और अन्त अनुबन्धों की ही इत्संज्ञा हो सकेगी। फलतः मध्यवर्ती अनुबन्धों का अनिष्ट श्रवण प्राप्त होगा जबकि अनुबन्ध तो उच्चारित होते ही बिना निमित्त के ही नष्ट हो जाने के स्वभाव वाले होते हैं।[47] इस तरह उक्त ज्ञापक न रहने से अकार का अनेकत्व ही प्रतीत होता है। इस विषय में अगला लोकन्याय भी पठनीय है।

4. शकुनि न्याय

यदि पुनरिमे वर्णाः शकुनिवत्स्युः। तद्यथा-शकुनय आशुगामित्वात्पुरस्तादुत्पतिताः पश्चाद् दृश्यन्ते। एवमयमकारोपि 'द' इत्यत्र दृष्टो 'ण्ड' इत्यत्र दृश्यते। नैवं शक्यम्, अनित्यत्वमेवं स्यात्। नित्याश्च शब्दाः। नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। यदि चायं 'द' इत्यत्र दृष्टो 'ण्ड' इत्यत्र दृश्यते, नायं कूटस्थः स्यात्।[48]

यह न्याय "अ इ उ ण्" सूत्र के भाष्य में उद्धृत हुआ है। भाष्यकार कहते हैं कि अकार आदि वर्ण पक्षियों के समान हैं। जैसे पक्षी आगे की ओर उड़े हुए भी द्रुतगति के कारण पीछे की ओर देखे जाते हैं वैसे ही उदाहरणस्वरूप दण्ड शब्द में दकार में देखा हुआ अकार 'ण्ड' में देखा जाता है।

अब भाष्यकार पुनः कहते हैं कि नहीं, यह नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा मानने से तो शब्दों में अनित्यता आ जाएगी जबकि शब्द नित्य हैं और उनमें वर्णों को कूटस्थ, स्थानपरिवर्तन रहित, ह्रास, वृद्धि और आदेश से रहित होना चाहिए। इस प्रकार भाष्यकार ने शकुनि के उपमान से वर्णों का एकत्व ज्ञापित कर दिया है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[49] इस प्रसङ्ग में अग्रिम न्याय भी निभालनीय है।

5. आदित्यदर्शन/आदित्यगति न्याय

"न ह्येको देवदत्तो युगपत्स्रुघ्ने च भवति मथुरायां च ..... नैको द्रष्टा आदित्यमनेकाधिकरणस्थं युगपद् देशपृथक्त्वेषूपलभते। अकारं पुनरुपलभते"।[50]

अकार के एकत्व को लेकर प्रस्तुत किए गए आदित्यदर्शन या आदित्यगति न्याय को खण्डित करते हुए भाष्यकार "अ इ उ ण्" सूत्रभाष्य में कहते हैं कि जैसे एक देवदत्त एकसाथ ही आगरे और मथुरा में नहीं रह सकता। क्योंकि जब आगरे में होगा तब मथुरा में नहीं होगा और जब मथुरा में होगा तब आगरे में नहीं होगा। इसी प्रकार एक देखने वाला व्यक्ति सूर्य को एक समय में भिन्न-भिन्न स्थानों पर नहीं देख सकता। इन दोनों लोकप्रसिद्ध दृष्टान्तों को देखते हुए भाष्यकार यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अश्वः, अर्कः, अर्थः इत्यादि में एक अकार एक स्थान में एक समय में नहीं रह सकता। अतः भिन्न-भिन्न शब्दों में भिन्न-भिन्न अकार मानने चाहिएं।

परन्तु भाष्यकार उक्त युक्ति से सहमत न होते हुए इससे आगे कहते हैं- "विषम उपन्यासः। नैको द्रष्टा आदित्यमनेकाधिकरणस्थं युगपद्देशपृथक्त्वेषूपलभते। अकारं पुनरुपलभते"। इसका भाव यह है कि अकार का एकत्व सिद्ध करने के लिए आपने जो उपर्युक्त सूर्य का दृष्टान्त दिया गया है, उससे भी अकार का एकत्व सिद्ध नहीं होता। क्योंकि सूर्य को तो एक देखने वाला व्यक्ति एकसाथ एक समय में अनेक स्थानों पर नहीं देख सकता। परन्तु अकार को तो एक ही समय में अश्वः, अर्कः, अर्थः इत्यादि अनेक स्थानों में देख सकता है और देखता भी है। इसलिए अकार आदि वर्णों का एकत्व सिद्ध करने के लिए सूर्य का दृष्टान्त न देकर और कोई दृष्टान्त देना चाहिए।[51] यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[52] इस सन्दर्भ में अगला लोकन्याय भी पठनीय है।

6. रूपसामान्य न्याय/तदेवेदम् न्याय

"रूपसामान्याद्वा सिद्धमेतत्। तद्यथा- तानेव शाटकानाच्छादयामो ये मथुरायाम्। तानेव शालीन् भुञ्ज्महे ये मगधेषु। तदेवेदं भवतः कार्षापणं यन्मथुरायां गृहीतम्। अन्यस्मिंश्चान्याभिश्च रूपसामान्यात् तदेवेदमिति भवति। एवमिहापि रूपसामान्यात् सिद्धम्।"[53]

"अ इ उ ण्" सूत्र भाष्य में भाष्यकार निष्कर्ष रूप में वर्णों का एकत्व सिद्धान्तित करते हुए कहते हैं कि अथवा यह दोष रूपसामान्य से सिद्ध हो जाएगा, जैसे- हम उन्हीं धोतियों को पहन रहे हैं जो मथुरा में ली थीं या पहनी थीं। उन्हीं चावलों को खा रहे हैं जो मगधों में खाए थे या यह आपका वही पैसे का सिक्का है जो हमने मथुरा में लिया था। इन उदाहरणों में उससे भिन्न वस्तु में भी रूप की समानता से 'यह वही है' ऐसा व्यवहार लोक में देखा जाता है। भला देखिए - जो धोती मथुरा में ली थीं, वे अब कहां हैं? वे तो कभी की फट चुकीं। जो धोती हम अब पहन रहे हैं वे 'उन जैसी' तो हैं पर 'वे' नहीं हैं। इस प्रकार रूपसामान्य न्याय के कारण तत्सजातीय में भी 'तत्ता' का व्यवहार होता है। मगधों में खाए हुए चावलों के सजातीय चावलों में भी 'ये वही चावल हैं' ऐसा व्यवहार दीखता है। इसी प्रकार मथुरा में लिया हुआ

सिक्का तो यद्यपि कभी का व्यवहार में आ चुका। फिर भी तज्जातीय सिक्के को देखकर लोग कह ही देते हैं कि यह वही सिक्का है। इसी प्रकार 'लून पुनर्जात' बालों को भी देखकर हम कह देते है कि ये वही बाल हैं जो पहले कटाए थे। भला पहले कटाए हुए बाल तो 'नखं लोमं च स्पृष्ट्वा शौचं कर्तव्यम्' इस वचनानुसार कभी के फेंक दिए गए हैं। ये तो नये बाल हैं। फिर भी तत्समानजातीय होने से उनमें वही पुराने बालों वाला व्यवहार लोक में होता है। इसी प्रकार 'यह वही दवाई है, जो पहले ली थी' इत्यादि अनेकों उदाहरण रूपसामान्य के कारण भिन्न वस्तु में भी उसी के व्यपदेश के मिलते हैं।[54] इस न्याय में रूपाकृति तथा परिणाम सामान्य होते हैं।

उक्त लौकिक दृष्टान्त के द्वारा भाष्यकार यहां यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अकार का एकत्व सिद्ध करने के लिए जातिपक्ष न भी मानें तो भी व्यक्तिपक्ष में रूप की समानता से ही अश्वः, अर्कः, अर्थः इत्यादि भिन्न-भिन्न अकारों को एक मान लिया जाएगा अर्थात् यह वही अकार है जो अश्व में है, जो अर्क में है, जो अर्थ में है। इस प्रकार व्यक्ति से अतिरिक्त जाति न मानने पर भी अकार के एकत्व में कोई बाधा नहीं होती। इस प्रसङ्ग में अगला लोकन्याय भी द्रष्टव्य है।

7. इह मुण्डो भव, इह जटिलो भव, इह शिखीभव न्याय / नानालिङ्गकरण न्याय

"लोकत एतत्सिद्धम्। तद्यथा लोके कश्चिदेवं देवदत्तमाह-इह मुण्डो भव। इह जटिलो भव। इह शिखी भव इति यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपतिष्ठते। एवमयमकारो यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपस्थास्यते"।[55]

अइउण् सूत्रभाष्य में भाष्यकार प्रकृत न्याय को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि यह बात लोक से सिद्ध है। जैसे लोक में कोई देवदत्त को यूं कहता है कि यहां सिर मुंडा ले। यहां जटा बढ़ा ले। यहां चोटी रख ले - इस प्रकार जिस ढंग का जिस जगह देवदत्त को कहा जाता है वह उस ढंग का उस जगह उपस्थित हो जाता है। इस लोकन्याय द्वारा भाष्यकार यहां यह कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार परिस्थितिवशात् या राजा की आज्ञा से एक ही देवदत्त भिन्न-भिन्न जगहों में भिन्न-भिन्न लिङ्ग या निशानी वाला उपस्थित होता है वैसे वैसे यहां भी लक्ष्यसिद्ध्यर्थ एक ही अकार 'अण्', 'क्', 'ट्' इत्यादि लिङ्गों से भिन्न-भिन्न स्थानों में उपस्थित हो जाएगा और अनुबन्धकार्यजन्य दोष भी नहीं होगा। फलतः जैसे 'ङीप्' के लिए 'अण्' प्रत्यय में णकार के साथ और चित्स्वर के लिए 'अच्' प्रत्यय में चकार के साथ अकार को पढ़ने के लिए "कर्मण्यमण्"[56] की जगह "कर्मणि काण्ट्" ऐसा नानालिङ्गयुक्त सूत्र कहने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। भाष्य से अन्यत्र भी यह न्याय प्रयुक्त हुआ है।[57] अकार के एकत्व को लेकर अगला लोकन्याय भी दर्शनीय है।

8. न हि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभते न्याय/सहस्रदक्षिणा कपिला न्याय/ऋषिसहस्रदक्षिणात्व न्याय

"एतदपि सिद्धम्। कथम्? लोकतः। तद्यथा- ऋषिसहस्रमेकां कपिलामेकैकशः सहस्रकृत्वो दत्वा तया ते सर्वे सहस्रदक्षिणाः सम्पन्ना। एवमिहाप्यनेकाच्त्वं भविष्यति"[58]

लोक में उत्तरा संख्या पूर्व संख्या को बाध लेती है - इस बात की सिद्धि के लिए भाष्यकार प्रकृत ऋषिसहस्रदक्षिणात्वन्याय उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि यह बात भी सिद्ध हो जाएगी। पूछते हैं कि कैसे? तो उत्तर है कि लोक से। लोक में यह व्यवहार देखा गया है कि एक कपिला गाय को हजार ऋषियों ने एक-एक हजार बार दिया और लिया। इस तरह उस एक गाय से ही वे सब हजार दक्षिणा वाले बन गए। पुनः पूछते हैं कि सो कैसे? तो उत्तर है कि पहले जिसको दी गई उसे धन देकर अगले ने खरीद लिया। उसे भी धन देकर उससे अगले ने खरीद लिया। इस प्रकार एक ही गाय हजार व्यक्तियों के दक्षिणारूप आदान-प्रदान से हजार संख्या को प्राप्त हो गई। फलतः अब इसे एक गाय नहीं माना जा सकता। प्रकृत न्याय की स्थिति न्यूनाधिक रूप में हम आज भी उन बड़े मन्दिरों में अवश्य देख सकते हैं, जहां एक ही अर्घ्य पदार्थ अनेक बार दुकानों से मन्दिर में तथा मन्दिर से पुनः दुकानों में क्रमशः चढ़ाया और बेचा जाता देखा जाता है।

इस दृष्टान्त को देने का भाष्यकार का तात्पर्य यही हे कि लोक में पिछली संख्या पहली संख्या को बाध लेती है। जैसे 'तीन' यह संख्या 'दो' को बाध लेती है अर्थात् 'तीन' को 'दो' नहीं कह सकते। यद्यपि 'तीन' में 'दो' भी आ ही जाते हैं। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से वे दो नहीं हैं, तीन ही हैं। क्योंकि "उत्तरा प्रतिपत्तिः पूर्वां प्रतिपत्तिं बाधते"। कहा भी है - "न हि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभते"। यह लोकन्याय आगे "छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य"[59] सूत्रभाष्य में स्पष्ट किया जाएगा। वहां न्याय का स्वरूप यह है - "न वैष लोके संप्रत्ययः। न हि द्विपुत्र आनीयतामित्युक्ते त्रिपुत्र आनीयते"। इसलिए प्रस्तुत प्रसङ्ग में यद्यपि किरिणा, गिरिणा यहां 'किरि' 'गिरि' शब्द दो अच् वाले हैं तथापि दो अचों में एक अच् के होने पर भी वे एकाच् नहीं माने जाएंगे तो "सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः"[60] सूत्र से प्राप्त विभक्तिस्वर नहीं होगा - यह इष्ट सिद्ध हो जाता है। इस तरह प्रकृत न्याय से वर्णों के एकत्व पक्ष में कोई दोष नहीं रहता।[61] यह न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[62] प्रकृत न्याय से एक दूसरी समस्या पर भी प्रकाश डालते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं-

9. सप्तदशसामिधेनी न्याय

"एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तिसंख्यानात्। एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तेः संख्यानादनेकाच्त्वं भविष्यति। तद् यथा- सप्तदश सामिधेन्यो भवन्तीति त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमामित्यावृत्तितः सप्तदशत्वं भविष्यति। एवमिहाप्यावृत्तितोऽनेकाच्त्वं भविष्यति"।[63]

अइउण् सूत्रभाष्य में भाष्यकार वर्णमात्र के एकत्व और अनेकत्व को लेकर कहते हैं कि यद्यपि अकार के एकत्व में उसके सर्वत्र एक ही होने से फिर उसमें अनेकाज्लक्षण कार्य नहीं प्राप्त होते तथापि भाष्यकार इस दोष का समाधान प्रकृत **वैदिक न्याय** से करते हुए कहते हैं कि जैसे विकृति याग में वस्तुतः **तेरह सामिधेनी** होती हुई भी प्रथम तथा अन्तिम सामिधेनी को तिगुनी कर देने पर वे **सतरह सामिधेनी** बन जाती हैं वैसे ही यहां शास्त्र में भी अकार को एक मानने पर भी उसकी आवृत्ति कर देने से उसमें अनेकाच्त्व हो जाएगा तो '**नौ द्व्यचष्ठन्**'[64] इत्यादि अनेकाज्लक्षण कार्य हो जाएंगे। इस विषय में अग्रिम न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है, तद्यथा-

10. अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति न्याय/स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवति न्याय

"व्यवहितेऽप्यनन्तरशब्दो दृश्यते। तद्यथा- अनन्तराविमौ ग्रामौ इत्युच्यते। तयोश्चैवान्तरा नद्यश्च पर्वताश्च भवन्तीति। ...... न वाऽतज्जातीयव्यवायात्। अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति। कथं पुनर्ज्ञायते - अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति। एवं हि कश्चित्कञ्चित् पृच्छति - अनन्तरे एते ब्राह्मण कुले इति। स आह-नानन्तरे। वृषलकुलमनयोरन्तरा इति"।[65]

"हलोऽनन्तराः संयोगः" सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि व्यवहित में भी 'अनन्तर' शब्द का प्रयोग होता है। वैसे तो 'अनन्तर' शब्द का अर्थ अव्यवहित है। लेकिन हम देखते हैं कि जो अव्यवहित नहीं हैं किन्तु व्यवहित हैं, जिनके बीच में व्यवधान है, वहां भी 'अनन्तर' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे- 'अनन्तरौ इमौ ग्रामौ' अर्थात् ये दोनों गांव अनन्तर हैं, अव्यवहित हैं, इनके बीच में कोई व्यवधान नहीं है– ऐसा कहा जाता है जबकि इन दोनों के बीच में नदियां और पहाड़ों का व्यवधान होता है। इस तरह व्यवधान होने पर भी जो दोनों गांवों को अनन्तर (अव्यवहित) कहा जाता है, इससे ज्ञात होता है कि व्यवहित पदार्थ में भी 'अनन्तर' शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में आक्षेप करके भाष्यकार अब उसका समाधान करते हैं कि यह बात नहीं है। व्यवहित में 'अनन्तर' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। जो अव्यवहित हैं, व्यवधानरहित हैं, वहीं 'अनन्तर' शब्द प्रयुक्त होता है। लोक में हम देखते हैं कि सब जगह जो विजातीय है, अपने से भिन्न जाति का है, उसी का व्यवधान माना जाता है अर्थात् अपने से भिन्नजातीय ही व्यवधायक होता है, जैसे कोई किसी से यूं कहता है कि ये ब्राह्मणकुल अनन्तर हैं, अव्यवहित हैं। इन दोनों के बीच में कोई व्यवधान नहीं है। दूसरा उत्तर देता है कि नहीं, ये दोनों ब्राह्मणकुल अनन्तर नहीं हैं। इनके बीच में वृषलों का (शूद्रों का) कुल है। इस लोकव्यवहार से स्पष्ट है कि ब्राह्मणकुल से भिन्नजातीय वृषलकुल का व्यवधान माना जाता है। ब्राह्मण, ब्राह्मणों का और वृषल, वृषलों का आपस में कोई व्यवधान नहीं माना जाता है। इसलिए

संयोगसंज्ञासूत्र में भी 'अनन्तर' शब्द से विजातीय वर्ण (अचों) के व्यवधान से रहित जो हल् हैं, वे लिए गए हैं। और हलों के विजातीय अच् ही हैं। अतः अचों के व्यवधान से रहित हलों की संयोगसंज्ञा सिद्ध हो जाती है।

ध्यान रहे कि '**अनन्तराविमौ ग्रामौ**' यहां नदियों और पहाड़ों का व्यवधान होने पर भी जो 'अनन्तर' शब्द का प्रयोग होता है वह नदियों और पहाड़ों को भी '**ग्राम**' का सजातीय मानकर हो जाता है। क्योंकि '**ग्राम**' शब्द **अनेकार्थक** है। तदनुसार केवल **शालासमुदाय** को ही 'ग्राम' नहीं कहते अपितु जो सारण्यक, ससीमक और सस्थण्डलिक (ऊबड़-खाबड़ भूमियुक्त) है, जिसमें जंगल, नदी, पहाड़ एवं सीमावर्ती प्रदेश आ जाते हैं, वे सब 'ग्राम' शब्द के अन्तर्गत आते हैं।[66] इस प्रकार भिन्नजातीय या विजातीय ही व्यवधायक सिद्ध होता है, सजातीय नहीं तो संयोगसंज्ञासूत्र में पठित 'अनन्तर' शब्द के ग्रहण में कोई दोष नहीं आता।

अवधेय है कि शास्त्र में प्रकृत न्याय का विराधी "**न च भिन्नजातीयकं बाधकं भवति**"[67] यह न्याय भी देखने में आता है जो कि तक्रकौण्डिन्य आदि न्यायों की व्याख्या में विवेचित देखा जा सकता है।[68] अस्तु, न्यासकार ने भी 'अनन्तर' शब्द के उक्त अर्थपरक न्याय को स्मरण किया है।[69] इस न्याय को ही शब्दान्तरों से "**स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवति**" ऐसा भी कह सकते हैं। इसका अन्यत्र भी प्रयोग पाया जाता है।[70] इस प्रसङ्ग में न हि विजातीयः केवलत्वं विहन्ति न्याय भी अवश्य पठनीय है।

11. न हि विजातीयः केवलत्वं विहन्ति न्याय

"उपसर्गत्वाभावादतेः केवलावेवात्र सुदुराविति नुम्प्रतिषेधेन भाव्यम्। न हि विजातीयः केवलत्वं विहन्ति। यथा- देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यां केवलाभ्यां प्रवेष्टव्यमित्युक्ते पुरुषान्तरस्य प्रतिषिध्यते प्रवेशो न तु शुकादेरेवं सुदुरौ परस्परसहितौ विजातीयसहितावेकाकिनौ च केवलावेव भवतः"।[71]

यह न्याय प्रदीपकार ने "**न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्**" इस सूत्र के भाष्य में '**केवल**' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है। इसका अर्थ है कि जैसे कोई कहे कि **यहां केवल देवदत्त और यज्ञदत्त ही प्रवेश करेंगे** तो इससे देवदत्त और यज्ञदत्त से भिन्न सजातीय पुरुषों का ही प्रवेश निषिद्ध होता है, विजातीय तोता, बिल्ली आदि के प्रवेश का निषेध नहीं। क्योंकि तोता, बिल्ली आदि तो विजातीय हैं। अतः देवदत्त और यज्ञदत्त के पुरुष जाति के होने से उनसे अभिन्न सजातीय पुरुष जाति का ही निषेध होता है। इसी प्रकार '**अतिसुलम्भम्**' यहां 'अति' शब्द कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है, उपसर्गसंज्ञक नहीं। क्योंकि "अतिरतिक्रमणे च"[72] से 'अति' शब्द की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है और आकडारीय संज्ञाओं में एक ही संज्ञा का नियम होता है।[73] फलतः '**अति**' की उपसर्गसंज्ञा नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में यहां 'सु' शब्द केवल अकेला ही उपसर्गसंज्ञक

है। अतः ''न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्'' से 'नुम्' का निषेध हो जाना चाहिए– यह शंका की गई है। इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रदीपकार ने यह न्याय दिया है। इसमें 'सु' औद 'दुर्' ये दोनों उपसर्ग जब इकट्ठे होंगे या अलग-अलग अकेले होंगे तो भी वे केवल ही माने जाएंगे। उस अवस्था में 'नुम्' के निषेध की प्राप्ति होती है।

इसी विषय में वार्तिक भी है - ''सुदुरोः केवलग्रहणमन्योपसर्गप्रतिषेधार्थम्''। इस वार्तिक में भी केवल ग्रहण का यही प्रयोजन बताया गया है कि उपसर्गों में यदि 'लभ्' धातु से पहले 'सु' और 'दुर्' इन दो का ही प्रयोग हो तो वहीं पर ही 'नुम्' आगम का निषेध होगा। उससे 'प्रसुलम्भम्' या 'सुप्रलम्भम्' इत्यादि प्रयोगों में 'सु' और 'दुर्' से भिन्न 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग होने पर 'नुम्' का निषेध नहीं होता है। क्योंकि अन्य उपसर्ग भी उसके सजातीय हैं। विजातीय शब्द केवलत्व का विघात नहीं कर सकता। 'अतिसुलम्भम्' में तो यह बात हो सकती है। क्योंकि 'अति' शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने के कारण वह विजातीय हो जाता है। अतः वहां तो 'अति' लगने पर भी 'सु' शब्द का केवलत्व बना रहता है, इसलिए वहां तो 'नुम्' का निषेध प्राप्त होता ही है।

12. लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् (लक्षणप्रतिपदोक्त) न्याय

''ओदन्तो निपात इत्यत्र तदन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। अनदः अदः अभवत् - अदोऽभवत्, अतिरः तिरः अभवत् - तिरोऽभवत्। न वक्तव्यः, लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्य इत्येव न भविष्यति''।[74]

''ओत्'' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि यदि प्रकृत सूत्र से ओदन्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा की जाती है तो फिर 'अनदः अदः अभवत् = अदोऽभवत्' तथा 'अतिरः तिरः अभवत् = तिरोऽभवत्' इत्यादि के भी ओदन्त निपात होने से यहां भी अनिष्ट प्रगृह्य संज्ञा प्राप्त होती है। फलतः अभीष्ट सन्धि नहीं हो सकेगी। इसलिए भाष्यकार कहते हैं कि ''ओत्'' सूत्र के विषय में तदन्त की प्रगृह्य संज्ञा का निषेध कह देना चाहिए। परिणामतः उक्त उदाहरण के तदन्त होने से यहां प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी। अब भाष्यकार इस वचन का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि इस कथन की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि लक्षण और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है। इनमें लक्षण या किसी सूत्र के प्रवृत्त होने से जो रूप बनता है, वह लाक्षणिक होता है और जो उसी रूप में उक्त हो जिस रूप में सूत्र में उपदिष्ट या पठित है, वह प्रतिपदोक्त कहलाता है। ऐसी स्थिति में जैसे लोक में किसी व्यक्ति को सहारनपुर जाना है। अब वह व्यक्ति प्रतिपदोक्त सहारनपुर शब्द के स्थान पर यदि लाक्षणिक खींचनपुर का प्रयोग करने लगे तो उसे ठीक नहीं माना जाता। क्योंकि सहारनपुर कहने से गन्तव्य की उपलब्धि शीघ्र हो जाती है जबकि खींचनपुर कहने से विलम्ब से हो पाती है। अथवा जैसे लोक में कोई रुग्ण व्यक्ति है, अब वैद्यराज उसकी परीक्षा करते समय उसकी नाड़ी, नेत्र और नखादि अङ्गों के शास्त्रीय लक्षणों को भी देखता

है तथा रोगी के मुख से भी रोग के विषय में साक्षात् सुनता है। किन्तु यदि इन दोनों में कोई विरोध हो तो वह शास्त्रोक्त (लाक्षणिक) लक्षणों के स्थान पर रोगी के मुख से साक्षात् कथित (प्रतिपदोक्त) लक्षणों को ही अधिक प्रमाण मानकर उनके आधार पर ही अपना रोगनिदान प्रारम्भ करता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी किसी सूत्ररूप लक्ष्य से निष्पद्यमान रूप की अपेक्षा पहले से सिद्ध प्रतिपदोक्त रूप से सिद्ध रूप का ही ग्रहण होगा। फलतः ''गाति स्था घु पा भूभ्यः''[75] सूत्रप्रोक्त 'सिच् लुक्' धातुपाठ में प्रतिपदोक्त 'पा पाने' इस धातु से परे ही होगा, ''आदेच उपदेशेऽशिति''[76] सूत्रप्रोक्त आत्व से बाद में 'पा' रूप बनने वाले 'पै शोषणे' इस धातु से परे नहीं। क्योंकि 'पा' इस प्रतिपदोक्त की उपस्थिति बुद्धि में उसके उच्चारण के साथ ही हो जाती है जबकि 'पै' शोषणे इस लाक्षणिक की उपस्थिति कुछ विलम्ब से होती है। सच्चे रत्न और नकली रत्न दोनों के ग्रहण में सच्चे रत्न का ग्रहण ही न्याय्य है। ध्यान रहे कि प्रकृत परिभाषा की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए ''गामादाग्रहणेष्वविशेषः''[77] यह अगली परिभाषा है जो कि 'गा, मा, दा' धातुओं के ग्रहण में प्रतिपदोक्त के साथ-साथ लाक्षणिक के ग्रहण को भी शास्त्रसम्मत सिद्ध करती है।

13. व्यपदेशिवदेकस्मिन् न्याय/देवदत्तस्य एक एव पुत्रः न्याय/असूतासोष्यमाण प्रथमगर्भहता न्याय

''अवचनाल्लोकविज्ञानात् सिद्धम्। अन्तेरणैव वचनं लोकविज्ञानात् सिद्धमेतत्। तद् यथा लोके शालासमुदायो ग्राम इत्युच्यते। भवति चैतदेकस्मिन्नपि - एकशालो ग्राम इति। तद्यथा बहुषु पुत्रेष्वेतदुपपन्नं भवति - अयं मे ज्येष्ठोऽयं मे मध्यमोऽयं मे कनीयान् इति। भवति चैतदेकस्मिन्नपि-अयमेव मे ज्येष्ठोऽयमेव मे मध्यमोऽयमेव मे कनीयानिति। तथाऽसूतायामसोष्यमाणायां च भवति - प्रथमगर्भेण हतेति। तथानेत्यानाजिगमिषुराह - इदं मे प्रथममागमनमिति''।[78]

''आद्यन्तवदेकस्मिन्'' सूत्र के भाष्य में वार्तिककार कहते हैं कि ''आद्यन्तवदेकस्मिन्'' के स्थान में व्यापक होने से ''व्यपदेशिवेदकस्मिन्''[79] ऐसा न्यास करना चाहिए। उससे एक वर्ण में आद्यन्तवद्भाव तथा व्यपदेशिवद्भाव[80] दोनों सिद्ध हो जाएंगे। इस पर भाष्यकार पतञ्जलि वार्तिककार से मिलकर दोनों वचनों का ही प्रत्याख्यान करते हैं कि उक्त दोनों वचनों के बिना भी लोकव्यवहार से ही एक में भी आद्यन्तवद्भाव तथा व्यपदेशिवद्भाव होकर इष्ट सिद्ध हो जाएगा। जैसे लोक में शालासमुदाय का नाम ग्राम है अर्थात् जहां बहुत से घर हों, घरों का समुदाय हो, वह तो ग्राम होता है। किन्तु हम देखते हैं कि एक शाला वाले ग्राम में भी ग्राम शब्द का प्रयोग होता है। किसी गांव में कोई एक अच्छा सुन्दर मकान या घर हो तो लोग प्रायः कह ही देते हैं कि इस गांव में तो बस एक ही घर है जो देखने योग्य है। यद्यपि इसे निन्दा में भी लिया जा सकता है कि यह भी कोई गांव है जिसमें केवल एक ही घर है।

यदि यह कहा जाए कि 'एकशालो ग्रामः' में ग्रामशब्द शालासमुदाय का वाचक नहीं है अपितु ग्राम शब्द के जो जंगल, नदी, पर्वत तथा सीमापर्यन्त अर्थ हैं, उनका वाचक यह ग्राम शब्द है। जंगल में एकाध झोपड़ी होती ही है। इसलिए 'एकशालो ग्रामः' यह कथन बन सकता है[81] तो दूसरा उदाहरण लीजिए। जैसे किसी के बहुत से पुत्र हों तो वह कह तो अवश्य सकता है कि यह मेरा बड़ा पुत्र है, यह बिचला और यह छोटा है। किन्तु जिसके पास केवल एक ही पुत्र है, लोक में वह भी कहता है कि यही मेरा बड़ा पुत्र है, यही बिचला और यही छोटा है। यहां एक ही पुत्र को बड़ा, छोटा तथा मध्यम समझकर उक्त व्यवहार होता है जोकि लोकसिद्ध है। इसी प्रकार जो गाय पहले कभी ब्याई नहीं और किसी कारण से आगे ब्याने की आशा भी नहीं, वह अभी ब्याकर मर गई तो लोग कहते हैं कि यह पहले ही प्रसव या ब्यांत में मर गई। अब यहां प्रथमत्व का व्यपदेश कैसे हुआ जबकि प्रथम वह होता है जिससे पूर्व में कोई न हो और पीछे अवश्य हो। यहां तो पीछे ब्याना ही नहीं। पहले ब्याई होगी पर मरी नहीं। अब ब्याई है तो मर गई है। इस प्रसव के बाद जो उसका मरण है, वह जैसे पहला कहा जाता है वैसे ही अन्तिम भी कहा जा सकता है। लेकिन लोक में एक ही मरण को प्रथमशब्द से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। इसी प्रकार जो पहले कभी नहीं आया और आगे कभी आना भी नहीं चाहता, वह अभी आया है और कहता है कि यह मेरा पहला आगमन है। भला, उसका यह आगमन पहला कैसे हुआ जबकि आगे उसने कभी आना ही नहीं। यह आगमन जैसे पहला कहलाता है वैसे अन्तिम या पिछला भी कहा जा सकता है - इत्यादि अनेक उदाहरण लोक में व्यपदेशिवद्भाव के मिलते हैं।

आद्यन्तवद्भाव में भी आदि और अन्त का यह लक्षण न करके कि जिसके पूर्व में न हो और पीछे अवश्य हो वह आदि है और जिसके पीछे न हो किन्तु पूर्व में अवश्य हो वह अन्त है,[82] इस लक्षण के स्थान में ऐसा करेंगे कि जिसके पूर्व में कुछ न हो वह आदि है, चाहे पीछे हो या न हो। इस प्रकार जिसके पीछे कुछ न हो, पूर्व में हो या न हो, वह अन्त है। इस प्रकार आद्यन्त का लक्षण करने से वह एक में भी घट जाएगा। एक अक्षर स्वयं आदि भी है और अन्त भी है।[83]

ऐसी स्थिति में 'इयाय' में 'इण्' धातु के एक ही अच् रूप इकार को भी न्यपदेशिवद्भाव या लोकसिद्ध व्यवहार से एक अच् वाला मानकर ''एकाचो द्वे प्रथमस्य''[84] से द्वित्व सिद्ध हो जाएगा। इसी तरह 'आभ्याम्' में 'इदम्' शब्द के एक ही अकार को लोकसिद्ध उक्त व्यवहार से अकारान्त मानकर ''सुपि च''[85] से दीर्घ हो जाएगा। इस प्रकार उक्त लौकिक न्यायों के आधार पर ही सब प्रयोगों की सिद्धि हो जाने से आद्यन्तवद्भाव तथा व्यपदेशिवद्भाव के कहने की आवश्यकता नहीं रहती[86]। यह व्यपदेशिवद्भाव न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है[87]। ''राहोः शिरः'' इस न्याय के माध्यम से न्यासकार भी ''स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'' सूत्र पर प्रकृत व्यपदेशिवद्भाव न्याय को सुस्पष्ट करते हुए कहते हैं-

14. राहोः शिरः

'बुद्धिर्हि स्वबीजपरिपाकवशादाकारविशेषपरिग्रहवत्युपजायमाना वस्तुनोऽसत्यपि भेदे भेदमारोपयति, यथा राहोः शिरः, स्वस्य स्वभाव इति''।[88]

न्यासकार ने लिखा है कि वास्तव में भेद न होने पर भी कई बार बुद्धि द्वारा हम उसमें भेद कर लेते हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने 'राहोः शिरः' यह प्रसिद्ध उदाहरण दिया है। इसका अर्थ यह है कि सिर का नाम ही राहु है और धड़ का नाम केतु है। ऐसी स्थिति में जब सिर का नाम ही राहु है तो 'राहु का सिर' कहना व्यर्थ है। इसी प्रकार 'स्वस्य स्वभावः' यह उदाहरण भी है। जब स्वभाव अपना ही भाव हैं तो स्वभाव शब्द ही पर्याप्त है। वहां दूसरे स्व शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है। फिर भी 'अपना स्वभाव' यह प्रयोग हो जाता है। उसमें स्व से भिन्न न होने पर भी स्व शब्द का अतिरिक्त प्रयोग कर देते हैं। योगदर्शन में तो इसे विकल्प नाम की वृत्ति में गिना गया है जहां वास्तव में भेद न होने पर भी बुद्धि द्वारा उसमें भेद की कल्पना करके उक्त प्रयोग हो जाता है। इसी प्रकार जैसे कहते हैं कि 'मनुष्य का आत्मा'। जब आत्मा ही मनुष्य है तो फिर 'मनुष्य का आत्मा' कहना व्यर्थ है। इस न्याय के अन्य भी बहुत से उदाहरण लोक में देखे जा सकते हैं। अन्य पतञ्जलि आदि भाष्यकार तो यहां पर व्यपदेशिवद्भाव मान लेते हैं जिससे सिर रूप राहु होने पर भी बुद्धिकृतभेदद्वारा 'राहु का सिर' ऐसा कह देते हैं। प्रस्तुत न्याय यहां के अतिरिक्त अन्य अनेक स्थलों पर भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[89] इसी व्यपदेशिवद्भाव न्याय को शिलापुत्रक शरीर लोकन्याय से सुस्पष्ट करते हुए हरदत्त भी लिखते हैं-

15. शिलापुत्रकशरीर न्याय

''न चेदं वचनं, लौकिकोऽयं न्यायः, लोके हि शिलापुत्रकस्य शरीरमिति बहिर्वस्तुभेदेऽसत्यपि भेदव्यवहारोऽवस्थाभेदाश्रयो दृश्यते। शिलापुत्रकः क्रीयमाणविक्रीयमाणत्वाद्यवस्थायुक्तो यो दृष्टः तस्येदं शरीरमिति परिदृश्यमानावस्थाभेदेन व्यपदिश्यते। ...... प्रथमशब्दोऽपि प्रथमगर्भेण हतेत्यादावसतोऽपि द्वितीयादीन् बुद्ध्या परिकल्प्य मुख्यप्रथमसाधर्म्याद् यथा लोके एकस्मिन्नपि प्रथम इति प्रयुज्यते तद्वत् पपाचेत्यत्रापि''।[90]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने ''एकाचो द्वे प्रथमस्य'' इस सूत्र की व्याख्या में दिया है। इस न्याय का अर्थ है कि लोक में हम देखते हैं कि एक ही शिलापुत्रक अर्थात् पत्थर की मूर्ति अभिन्न होती हुई भी अवस्था के भेद से भिन्न बन जाती है। फलतः वही मूर्ति कभी खरीदी जाती है और कभी बेची जाती है।[91] इसी प्रकार 'पपाच' यहां 'पच्' धातु का एक अच् वाला होना सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रथमगर्भेण हता' अर्थात् यह गाय पहले ही गर्भ में मर गई, जबकि वह इससे पहले कभी प्रसूता ही

नहीं थी। और मरने के बाद अब तो प्रसव करना सम्भव ही नहीं। उस अवस्था में यह पहले गर्भ में मर गई– ऐसा कहना ठीक नहीं बनता। फिर भी लोक में ऐसा प्रयोग होता है, इसको **व्यपदेशिवद्भाव** कहते हैं। इस लोकन्याय का फलितार्थ ही **"व्यपदेशिवदेकस्मिन्"**[92] इस व्याकरणशास्त्रीय परिभाषा में पर्यवसित होता है। इस न्याय का अन्यत्र भी प्रयोग मिलता है।[93] इस सन्दर्भ में शषविषाण न्याय भी अवश्य पठनीय है।

16. शशविषाण / शशशृङ्ग न्याय

"शशविषाणमित्यत्रापि गवादिष्वनुभूतविषाणं शशमस्तकवर्तितया बुद्ध्युपारोह एव चार्थस्य शब्दप्रयोगे कारणम्, न बहिः सत्ता"।[94]

"अर्थवत्" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में पदमञ्जरीकार ने इस न्याय का प्रयोग किया है। इस न्याय का अर्थ है कि जैसे शश अर्थात् खरगोश के सिर पर विषाण या सींग नहीं होते किन्तु फिर भी **शशविषाण** शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् वैसे तो वस्तुतः विषाण होने पर ही **शशविषाण** शब्द का प्रयोग होना चाहिए। किन्तु उसके खड़े कान दूर से भ्रान्त्या शृङ्गवत् प्रतीत होते हैं। सम्भवतः इसीलिए खरगोश के सिर पर वस्तुतः सींग न होने पर भी **बौद्धिक** दृष्टि से उसे सत् मानकर शशविषाण **शब्द** का प्रयोग होता है, भले ही वह निरर्थक ही है। क्योंकि बुद्धि में तो असत् वस्तु भी सत् वस्तु बना दी जाती है। इस बात को समझाने के लिए **'अर्थवद्धातुरप्रायय: प्रातिपदिकम्'** इस सूत्र की व्याख्या में पदमञ्जरीकार कहते हैं कि जैसे गौ आदि पशुओं के सींग होते हैं, इसलिए वहां तो 'गोशृङ्गम्' इत्यादि अर्थ अर्थवान् हैं। फलतः उनकी प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है जोकि ठीक है। किन्तु हम लोक में देखते हैं कि बाहर से वस्तु न होने पर भी बुद्धि से उसकी कल्पना करके लोग उसका शब्द का प्रयोग कर देते हैं।[95] क्योंकि अर्थ चाहे बाहर से विद्यमान न भी हो, किन्तु **वही असत् अर्थ बुद्धि में जाकर सत् हो जाता है। सब जगह बुद्धि का ही खेल है।**

फलतः खरगोश के सींग वस्तुतः असत् हैं, फिर भी बुद्धि से कल्पित होकर वे सत् बन जाते हैं।[96] ऐसी स्थिति में "अर्थवद्धातुः" इस सूत्र से उनकी प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है। इस न्याय का वास्तविक तात्पर्य यही है कि चाहे वस्तु बाहर से असत् हो, अभावरूप हो, किन्तु बुद्धि में यह सत् बन जाती है। योगदर्शनशास्त्र में इसे ही विकल्प वृत्ति नाम से कहा गया है अर्थात् जो वस्तु वस्तुतः तो हो नहीं किन्तु उसे शब्द से कहा जा रहा हो - **"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः"**[97]। भाष्यप्रदीप तथा सर्वदर्शनसंग्रह आदि में भी इस न्याय का प्रयोग हुआ है।[98]

इस न्याय के साथ ही **खपुष्प न्याय,**[99] आकाशकुसुम, **कूर्मक्षीर न्याय** तथा वन्ध्यासुत न्याय को भी व्याख्यात जान लेना चाहिए। क्योंकि ख (आकाश) में भी कभी फूल नहीं होता, कछवे का भी कभी दूध नहीं देखा जाता तथा बांझ स्त्री को भी कभी

पुत्र नहीं होता। फिर भी इन सबको बौद्धिक दृष्टि से सत् मानकर इनके अर्थवान् बन जाने से इनकी प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है तो इनसे 'सु' आदि प्रत्यय सिद्ध हो जाते हैं।

17. विधिपूर्वकप्रतिषेधसम्प्रत्यय न्याय

"न वा विधिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधसम्प्रत्ययो यथा लोके। न वैष दोषः। किं कारणम्? विधिपूर्वकत्वात्। विधाय किञ्चिन् नवेत्युच्यते तेन प्रतिषेधवाचिनः सम्प्रत्ययो भविष्यति। तद् यथा - ग्रामो भवता गन्तव्यो न वा? नेति गम्यते"।[100]

"न वेति विभाषा" सूत्रस्थ 'न वा' शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'न वा' शब्द का अर्थ निषेध लिया जाए या स्त्रीलिङ्ग 'नवा' शब्द समझकर उसका 'नई' यह अर्थ लिया जाए? 'नवा' शब्द का स्त्रीलिङ्ग में 'नवा' रूप बनता ही है। 'न' और 'वा' इन दोनों निपातों को मिलाकर 'न वा' यह शब्द भी बनता है। आगे चलकर तो भाष्यवार्तिकार 'न' और 'वा' ये दोनों अलग-अलग हैं और इनका अर्थ क्रमशः निषेध और विकल्प है, ऐसा सिद्धान्त स्वीकार करेंगे। अभी तो 'न वा' शब्द को एक शब्द मानकर उसका प्रसिद्ध अर्थ निषेध है - यह बात लोकव्यवहार से सिद्ध करते हैं। 'न वा' का अर्थ यहां 'नई' नहीं है जिससे विभाषा प्रदेशों में नूतन अर्थ का प्रत्यवभास हो। उस अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति इस तरह होती है कि जब विधिपूर्वक 'न वा' कहा जाता है अर्थात् जब पहले किसी चीज का विधान करके फिर 'न वा' कहते हैं तब उससे निषेध अर्थ की ही प्रतीति होगी, नूतन अर्थ की नहीं। जैसे लोक में कहते हैं - 'ग्रामो भवता गन्तव्यो न वा' अर्थात् आप गांव जाएंगे या नहीं ? यहां 'न वा' का अर्थ निषेध स्पष्ट है। इस प्रकार भाष्यकार ने लौकिक उदाहरण देकर 'न वा' शब्द का निषेध अर्थ सिद्ध कर दिया है। इसलिए "समानशब्दप्रतिषेधः" यह वचन कहने की आवश्यकता नहीं है।

18. सन्देहे नियमो भवति न्याय

"कथमनुच्यमानं गंस्यते। लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। तद् यथा लोके कश्चित् कञ्चित् पृच्छति - ग्रामान्तरं गमिष्यामि, पन्थानं मे भवानुपदिशतु इति। स तस्मायाचष्टे अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो ग्रहीतव्यः, अमुष्मिन्नवकाशे हस्तवामः इति। यस्तत्र तिर्यक् पथो भवति न तस्मिन् सन्देह इति कृत्वा नासावुपदिश्यते। एवमिहापि सन्देहे नियमः, न चावयवषष्ठ्यादिषु सन्देहः"।[101]

"षष्ठी स्थानेयोगा" सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि पूछते हैं कि यह बात बिना कहे कैसे समझी जाएगी कि "ऊदुपधाया गोहः", "शास इदङ्हलोः"[102] इत्यादि **अवयवषष्ठियों** में "षष्ठी स्थानेयोगा इस नियम सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि बिना कहे भी यह बात समझ ली जाएगी। क्योंकि यह लौकिक दृष्टान्त है। जैसे लोक में कोई किसी से पूछता है कि मैं दूसरे गांव में जाऊंगा। आप मुझे उसका

मार्ग बता दीजिए। वह उसको स्थान बताता है कि अमुक स्थान पर दाएं हाथ हो लेना और अमुक जगह बाएं हाथ। जो ऊबड़-खाबड़ खराब रास्ता है, उसमें तो वह स्वयं ही नहीं जाएगा। क्योंकि उसे वहां सन्देह ही नहीं है। इसलिए उसको तो बताने की आवश्यकता ही नहीं है। इसीलिए कहा जाता है - "सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्तते" अथवा "सन्दिग्धस्य वाक्यशेषान्निर्णयः"।[103] इसी प्रकार "ऊदुपधाया गोहः" इत्यादि अवयव षष्ठियों में 'उपधायाः' इत्यादि कहने से स्थानी का सन्देह ही नहीं है। फलतः वहां "षष्ठी स्थानेयोगा" इस नियम सूत्र की प्रवृत्ति स्वतः ही नहीं होगी। इसलिए उनमें स्थानसम्बन्ध को रोकने के लिए यह सूत्र अनावश्यक है।

19. यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः प्रसङ्गे भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम् न्याय/यो ह्युभयोः स्थाने भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम् न्याय/देवदत्तदेवदत्तापुत्र न्याय

"नन्वेदमुपसंख्यानम् कर्त्तव्यम्। इह च रपरत्वस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः - मातुः पितुरिति। उभयं न वक्तव्यम्। इह यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः प्रसङ्गे भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम्। तद् यथा- देवदत्तस्य पुत्रः देवदत्तायाः पुत्र इति।[104]

"यहां उरण् रपरः" सूत्र के भाष्य में यह लोकन्याय कहा गया है। इसका अर्थ है कि जो दो षष्ठी विभक्तिनिर्दिष्टों के स्थान में आदेश होता है, वह उन दोनों में से किसी एक का भी कहा जा सकता है। जैसे लोक में देखते हैं कि देवदत्त और उसकी पत्नी दोनों से उत्पन्न हुआ पुत्र उन दोनों का ही कहा जा सकता है, यह नहीं कि केवल देवदत्त का ही वह पुत्र हो बल्कि देवदत्ता का भी है। क्योंकि उन दोनों ने मिलकर उसे उत्पन्न किया हैं, अतः उन दोनों का ही उसमें भाग है।[105] इस लोकव्यवहार के आधार पर 'खट्वा + ऋश्यः = खट्वर्श्यः' यहां 'खट्वा' के आकार और 'ऋश्यः' के ऋकार इन दोनों के स्थान में हुआ 'अ' गुणादेश दोनों का ही कहा जाएगा। फलतः वह जहां आकार के स्थान में हुआ है, वहां ऋकार के स्थान में भी हुआ है– ऐसा समझा जाएगा। इसलिए 'ऋ' के स्थान में अकार होने से उसको "उरण् रपरः" इस सूत्र से ही रपर हो जाएगा। उसके लिए "एकादेशस्योपसंख्यानम्" इस वचन द्वारा अलग से रपर कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक अन्य प्रसङ्ग में भी भाष्यकार प्रकृत न्याय को उद्धृत करते हुए कहते हैं-

"यत्तावदुच्यते उभयनिमित्तत्वादिति। इह यस्य ग्रामे नगरे वा अनेकं कार्यं भवति, शक्नोत्यसौ ततोऽन्यतरद् व्यपदेष्टुम्। तद् यथा गुरुनिमित्तं वसामः। अध्ययननिमित्तं वसाम इति। यदप्युच्यते उभयादेशत्वाच्चेति। इह यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम्। तद् यथा- देवदत्तस्य पुत्रः देवदत्तायाः पुत्र इति"।[106]

"अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इस सूत्र के भाष्य में वार्तिककार ने "एकादेशस्यो-

पसंख्यानम्" यह वार्तिक पढ़ा है। इसका अर्थ है कि पूर्व-पर के स्थान में एकादेश हुए अजादेश का भी स्थानिवद्भाव कहना चाहिए। क्योंकि जो अजादेश पूर्व और पर दोनों को निमित्त मानता है, वह केवल पर को तो निमित्त मानता ही नहीं। इसलिए वह परनिमित्तक नहीं बनता अपितु पूर्व-परनिमित्तक बनता है। और दो अचों के स्थान में होने से वह केवल एक अच् के स्थान में होने वाला भी नहीं है। अतः एकादेश में स्थानिवद्भाव करने के लिए इस उपसंख्यान की आवश्यकता है। उदाहरण जैसे- 'श्रायसौ', 'गौमतौ', 'चातुरौ', 'आनडुहौ' 'पादे', 'उदवाहे'। 'श्रेयसि भवं श्रायसम्, श्रायसौ' यहां 'ईयसुन्' प्रत्ययान्त 'श्रेयस्' शब्द से 'तत्र भवः' अर्थ में शैषिक 'अण्' प्रत्यय होता है। "देविकाशिंशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात्"[107] सूत्र से 'श्रेयस्' के एकार को वृद्धि की प्राप्ति में आकार होकर 'श्रायसम्' बन जाता है। इसी प्रकार 'गोमति भवं गौमतम्' चतुर्षु भवं चातुरम्' अनडुहो विकारः आनडुहम्' यहां भव तथा विकार अर्थों में 'अण्' प्रत्यय होता है। 'श्रायस' आदि 'अण्' प्रत्ययान्त शब्दों से 'औ' विभक्ति परे होने पर "वृद्धिरेचि"[108] से पूर्व पर के स्थान में 'औ' वृद्धि हो जाती है। इस तरह 'श्रायस' आदि का अन्तिम अकार वृद्धि एकादेश से 'औ' के साथ मिल जाता है तो अब 'श्रायस्' के सकारान्त तथा 'गोमत्' के तकारान्त हो जाने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः'[109] सूत्र से 'श्रायसौ' 'गोमतौ' में नुमागम प्राप्त होता है। किन्तु एकादेश के स्थानिवद्भाव होने से नहीं होता।

इसी प्रकार 'चातुरौ' 'आनडुहौ' में "चतुरनडुहोरामुदात्तः"[110] से 'आम्' प्राप्त है किन्तु स्थानिवद्भाव से नहीं होता। इसी तरह 'पाद' शब्द के सप्तमी एकवचन में 'पादे' बनता है। "आद् गुणः"[111] से गुण एकादेश होकर पाद् यह हलन्त शब्द रह जाता है। अब उसे 'पादः पत्'[112] से 'पद्' आदेश प्राप्त होता है। इसी तरह 'उदवाह' शब्द के सप्तम्येकवचन में गुण एकादेश होकर 'उदवाह्' यह हलन्त रह जाता है। अतः वहां "वाह ऊठ्"[113] से 'ऊठ्' आदेश प्राप्त होता है। दोनों जगह एकादेश को स्थानिवद्भाव मानकर 'पद्' और 'ऊद्' नहीं होते। ये "एकादेशस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिक के सप्रयोजन उदाहरण हैं।

अब भाष्यकार इस उपसंख्यान वार्तिक का भी खण्डन करने के लिए प्रकृत न्याय का अवतरण करते हुए कहते हैं कि पहले जो यह कहा कि एकादेश केवल परनिमितक नहीं है अपितु पूर्व-परनिमित्तक होने से उभयनिमित्तक है - यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि लोक में देखा जाता है कि जिसको किसी गांव या नगर में अनेक कार्य होते हैं, वह उन कार्यों में से किसी एक कार्य का भी व्यपदेश कर सकता है। वह कह सकता है कि हम गुरुजी की सेवा के निमित्त इस गांव या नगर में रह रहे हैं। इसी प्रकार शास्त्र में भी जो पूर्व-परनिमितक आदेश है, वह परनिमित्तक भी कहा जा सकता है। क्योंकि पूर्व के साथ वह पर को भी निमित्त मानता है। इसलिए यह कोई बात

नहीं कि उभयनिमित्तक होने से वह परनिमितक नहीं होगा। उसे लक्ष्यानुरोधात् हम पूर्वनिमितक भी कह सकते हैं और परनिमित्तक भी कह सकते हैं। यहाँ परनिमित्तक मानकर इष्ट सिद्धि हो जाएगी।

और जो यह कहा कि वह दो अचों के स्थान में आदेश है, केवल एक अच् के स्थान में आदेश नहीं है तो यह भी व्यर्थ की बात है। क्योंकि जो दो षष्ठीविभक्तिनिर्दिष्टों के स्थान में आदेश होता है, वह उन दोनों में से किसी एक का भी कहा जा सकता है। जैसे लोक में देवदत्त और उसकी पत्नी देवदत्ता दोनों से उत्पन्न पुत्र दोनों का ही कहा जाता है। अर्थात् वह देवदत्त का भी पुत्र है और देवदत्ता का भी पुत्र है। इसलिए एकादेश के दो अचों के स्थानी होने पर भी यह आदेश एक अच् के स्थान में भी मान लिया जाएगा तो "अचः परस्मिन्" सूत्र से ही स्थानिवद्भाव सिद्ध हो जाने पर "एकादेशस्योपसंख्यानम्" यह वार्तिक बनाना सर्वथा अनावश्यक है या व्यर्थ हो जाता है। प्राधान्यविवक्षा में प्रयुक्त यह न्याय अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[114] स्थानिवद्भाव के प्रसङ्ग में अग्रिम गुरुवद् गुरुपुत्र न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है।

20. गुरुवद् गुरुपुत्र न्याय

"गुरुवद् गुरुपुत्र इति यथा। तद् यथा गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रे वर्तितव्यमिति गुरौ यत्कार्य तद् गुरुपुत्रेऽतिदिश्यते एवमिहापि स्थानिकार्यमादेशेऽतिदिश्यते।"।[115]

"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" इस अतिदेशसूत्र के भाष्य में प्रकृत सूत्र की आवश्यकता को लोकन्याय से सिद्ध कहते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे लोक में देखा जाता है कि इस गुरुपुत्र में गुरु के समान व्यवहार करना चाहिए - ऐसा कहने पर गुरु में जो कार्य किए जाते हैं, उनका गुरु के पुत्र में भी अतिदेश देखा जाता है या हो जाता है अर्थात् वे कार्य गुरुपुत्र में भी किए जाते हैं। भाव यह है कि जिस प्रकार गुरुजी अध्यापन-याजनादि कार्य करते हैं, उनकी अनुपस्थिति में उनके पुत्र में भी गुरु का अतिदेश मानकर गुरुपुत्र भी उक्त गुरु के कार्य को करता है। यह बात लोकव्यवहार प्रसिद्ध है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी स्थानी का कार्य आदेश में अतिदिष्ट किया जाता है अर्थात् जो स्थानी के कार्य हैं, उनका आदेश में भी अतिदेश हो जाता है, जैसे- "अस्तेर्भूः"[116] सूत्र है। इससे 'अस्' धातु के स्थान में आर्धधातुक प्रत्ययों में 'भू' आदेश का विधान होता है। अब यदि यह 'अस्' धातु है तो उसके स्थान में आदेश होने वाले 'भू' में भी धातुत्व का अतिदेश इस "स्थानिवत्" सूत्र से तो जाता है अर्थात् 'भू' को भी धातु मान लिया जाता है। फलतः धातु, अङ्ग, कृत्, तद्धित, अव्यय, सुप्, तिङ्, पद इत्यादि जो अनेक कार्य धातु आदि के हैं,[117] उन सबका अतिदेश इस आदेश में उक्त सूत्र द्वारा किया जाता है। पदमञ्जरीकार ने "तत्स्थानापन्नस्य तद्धर्मलाभः" न्याय द्वारा इस विषय को वैदिक-लौकिक उदाहरण देकर और अधिक स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं-

21. तत्स्थानापन्नस्य तद्धर्मलाभः न्याय

"तत्स्थानापन्नस्य तद्धर्मलाभो लोकवेदयोः सिद्ध एव। लोके तावदेकस्मिन्नुपाध्याये मृते तत्स्थाने निविष्टस्याप्यभिवादनाद्युपाध्यायधर्मलाभो भवति। एकस्मिंश्च राजनि प्रोषिते तत्स्थानेऽभिषिक्तस्य तत्पुत्रादेरपि तद्धर्मलाभो भवति। वेदेऽपि व्रीहिस्थानपतिता नीवारादयोऽवघातादीन् व्रीहिधर्मान् लभन्ते। तद्वदत्राप्यस्तिस्थानापन्नो भूरस्तिधर्मान् धातुत्वादीन् लप्स्यते"।[118]

इस न्याय का अर्थ है कि जो किसी के स्थान में होता है, वह उस स्थानी के धर्म को भी ले लेता है। भाव यह है कि किसी के स्थान में होने वाले शब्द में उस स्थानी के धर्म का लाभ होता है। जैसे लोक में हम देखते हैं कि उपाध्याय के मर जाने पर उसके स्थान पर आने वाले उसके शिष्य में उसके धर्मों का लाभ होता है। अथवा एक राजा के प्रवास को जाने पर उसके स्थान में अभिषेक किए हुए उसके पुत्र आदि में भी वही राजा के धर्म आ जाते हैं। इसी प्रकार वेद में भी व्रीहि अर्थात् धान के अभाव में लाए गए नीवार आदि में भी उस व्रीहि के अवघात आदि धर्मों का लाभ हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृत 'अस्' धातु के स्थान में आदेश होने वाले 'भू' आदेश में भी बिना "स्थानिवत्" सूत्र के ही लोकव्यवहार के आधार पर धातुत्व आदि धर्मों का अतिदेश हो जाता है। इस न्याय का व्यवहार अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होता है।[119] स्थानिवद्भाव के प्रसङ्ग में अगला लोकन्याय भी द्रष्टव्य है।

22. यो यस्य प्रसङ्गे भवति लभतेऽसौ तत्कार्याणि न्याय/उपाध्यायशिष्य न्याय

"नैतदस्ति प्रयोजनम्। लोकत एतत् सिद्धम्। तद् यथा लोके यो यस्य प्रसङ्गे भवति लभतेऽसौ तत्कार्याणि। तद् यथा- उपाध्यायस्य शिष्यो याज्यकुलानि गत्वाग्रासनादीनि लभते"।[120]

इस लोकन्याय द्वारा "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" इस सूत्र को अनावश्यक बताते हुए भाष्यकार लिखते हैं कि इस सूत्र का यह कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि "स्थानिवत्" सूत्र का कार्य तो लोक से ही सिद्ध है। और जो बात लोक से सिद्ध है उसके लिए शास्त्र बनाना व्यर्थ है।[121] हम लोक में देखते हैं कि जो जिसकी जगह काम करता है, उसमें उसका व्यपदेश हो ही जाता है। जैसे यदि उपाध्याय जी एवं गुरु जी न हों तो उनके अभाव में उनका शिष्य या पुत्र उन कार्यों को कर देता है। फलतः वह शिष्य या पुत्र यजमानों के घर जाकर ऊँचा आसन आदि प्राप्त करता है तथा उनके यज्ञ-हवन आदि संस्कार कार्य भी करता है। इस लोकव्यवहार से स्पष्ट है कि स्थानी का कार्य उसके स्थान में होने वाले आदेश में स्वतः हो जाता है अर्थात् यदि स्थानी न हो तो आदेश को भी स्थानी के तुल्य मानकर उसमें स्थानी के कार्य हो जाते हैं। फलतः यहां शास्त्र में भी "आङो यमहनः[122]" से 'हन्' को विधीयमान आत्मनेपद 'हन्' के

साथ-साथ उसके स्थान में होने वाले वधादेश को भी हो जाता है। इस प्रकार लौकिक व्यवहार से सिद्ध हो जाने पर "स्थानिवत्" सूत्र द्वारा अतिदेश का विधान करना व्यर्थ है। स्थानिवद्भाव के सन्दर्भ में अग्रिम लोकन्याय भी पठनीय है।

23. सामान्यतिदेशे विशेषानतिदेशः न्याय/ब्राह्मणवत् क्षत्रियवर्तन न्याय

"सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः। सामान्ये अतिदिश्यमाने विशेषो नातिदिष्टो भवति। तद् यथा- ब्राह्मणवदस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यमिति सामान्यं यत् ब्राह्मणकार्यं तत् क्षत्रियेऽतिदिश्यते। यद्विशिष्टं माठरे कौण्डिन्ये वा न तदतिदिश्यते। एवमिहापि सामान्यं यत्प्रत्ययकार्य तदतिदिश्यते यद्विशिष्टं वलादेरिति न तदतिदिश्यते"।[123]

"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि प्रकृत अतिदेशसूत्र के होने पर स्थानी का कार्य आदेश में अतिदिष्ट होता है। उससे 'प्रदीव्य' 'प्रसीव्य' (प्र + दिव् + क्त्वा + ल्यप्), (प्र + सिव् + क्त्वा + ल्यप्) यहां 'प्र' पूर्वक 'दिव्', 'सिव्' धातुओं से विहित 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान पर 'ल्यप्' आदेश होता है। अब इस 'ल्यप्' आदेश में स्थानी 'क्त्वा' प्रत्यय के सभी धर्मों का अतिदेश प्राप्त होता है - चाहे वे धर्म सामान्य हों या विशेष। अवधेय है कि इस 'क्त्वा' में प्रत्ययत्व, कृत्त्व और अव्ययत्व ये तो सामान्य धर्म हैं तथा कित्त्व और वलादित्व ये विशेष धर्म हैं। अब यहां इन दोनों प्रकार के धर्मो का अतिदेश प्राप्त होने पर भाष्यकार कहते हैं कि सामान्य धर्म के अतिदेश में विशेष धर्म का अतिदेश नहीं होता। 'सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः' यह व्याकरण शास्त्र की परिभाषा है या नियम है।[124] लोक में जैसे "इस ब्राह्मण में क्षत्रिय के समान बर्ताव करना चाहिए - ऐसा कहने पर उस क्षत्रिय में सामान्य ब्राह्मण के कार्यो का ही अतिदेश होता है अर्थात् साधारण ब्राह्मण के कार्य तो इस क्षत्रिय में किए जाते है। किन्तु विशेष ब्राह्मण जो माठर कौण्डिन्य आदि माने हुए प्रतिष्ठित असाधारण ब्राह्मण हैं, उनका कार्य उस क्षत्रिय में अतिदिष्ट नहीं होता।[125] इसी प्रकार उक्त न्याय के आधार पर यहां शास्त्र में भी 'क्त्वा' प्रत्यय का जो सामान्य क्त्वाप्रत्ययत्व तथा अव्ययत्वादि धर्म है, वह तो 'ल्यप्' में स्थानिवद्भाव से अतिदिष्ट हो जाएगा अर्थात् 'ल्यप्' को स्थानिवद्भाव से कृत् प्रत्यय तथा अव्यय तो माना जाएगा। किन्तु 'क्त्वा' का जो विशेष धर्म कित्त्व एवं वलादित्व है, वह 'ल्यप्' में स्थानिवद्भाव से अतिदिष्ट नहीं होगा। दूसरे शब्दों में 'ल्यप्' को स्थानिवद्भाव से 'क्त्वा' के समान वलादि न होने से "आर्धधातुकस्येड्वलादेः"[126] सूत्र से इडागम नहीं होगा। किन्तु ऐसा मानने पर 'क्त्वा' का कित्त्व भी विशेष धर्म होने से अतिदिष्ट नहीं होगा तो 'ल्यप्' में कित्त्व न आ सकेगा - यह दोष होगा। उसके निराकरण करने के लिए भाष्यकार कहते हैं कि 'अनल्विधौ' कहकर स्थानिवद्भाव का विधान करना चाहिए। उससे सामान्य के साथ विशेष का भी अतिदेश होता है - यह ज्ञापित हो जाता है। इसलिए 'ल्यप्' में स्थानिवद्भाव से वलादित्व का अतिदेश प्राप्त होने पर भी उसके अल्विधि होने से

स्थानिवद्भाव नहीं होगा तो 'प्रदीव्य' 'प्रसीव्य' में अनिष्ट इडागम नही होगा। 'क्त्वा' के कित् अनुबन्ध को तो अल् नहीं माना जाता। क्योंकि वह तो उच्चरित प्रध्वंसी है।[127] इसलिए अनल्विधि होने से स्थानिवद्भाव होकर 'क्त्वा' का कित्त्व 'ल्यप्' में आ जाएगा। और उससे लघूपध गुण का निषेध सिद्ध हो जाएगा।

सामान्य के साथ विशेष का भी अतिदेश मानने पर ही 'अग्रहीत्' (अग्रह् + इट् + सिच् + ईट् + तिप्) यहां 'ग्रह्' धातु से परे 'इट्' को "ग्रहोऽलिटि दीर्घः"[128] सूत्र से दीर्घ होकर 'ईट्' बनता है। उस 'ईट्' में सामान्य अच् धर्म के साथ 'इट्' इस विशेष धर्म का भी अतिदेश हो जाने से "इट ईटि"[129] से 'सिच्' का लोप सिद्ध हो जाता है। इसलिए "सामान्यातिदेश विशेषानतिदेशः" इस लोकन्यायसिद्ध परिभाषा को न मानकर "स्थानिवदादेशोऽनल् विधौ" यह अतिदेश सूत्र ही 'अनल्विधौ' के साथ मानना समुचित है। 'अग्रहीत्' में हुए दीर्घ 'ईट्' में 'इट्त्व' का अतिदेश अनल्विधि होने से हो ही जाएगा तो कहीं दोष न होने से "स्थानिवत्" सूत्र ही रखना चाहिए। यह न्याय व्याकरण ग्रन्थों में अन्यत्र भी मिलता है।[130] ध्यातव्य है कि व्याकरणशास्त्र में जहां "सामान्यतिदेशे विशेषानतिदेशः" यह सिद्धान्त माना जाता है वहां इसके विपरीत "विशेषातिदेशे सामान्यस्याप्यतिदेशो दृश्यते" यह सिद्धान्त भी पाया जाता है, जैसाकि भट्टोजिदीक्षित कहते हैं-

24. विशेषातिदेशे सामान्यस्याप्यतिदेशः न्याय/वसिष्ठवत्क्षत्रियवर्तन न्याय

"हरिणीमाचष्टे हरितयति। न चात्र पुंवद्भावस्य इष्ठनि विशिष्याविधानात् कथमतिदेश इति वाच्यम्, विशेषातिदेशे सामान्यस्याप्यतिदेशात्। वसिष्ठवदत्र क्षत्रिये वर्तितव्यमित्युक्ते हि ब्राह्मणत्वं सामान्यनिबन्धनमप्यतिदिश्यत एव। तथेह भसंज्ञानिमित्ततद्धितत्वप्रयुक्तः पुंवद्भावोऽपीत्यदोषः"।[131]

यह न्याय शब्दकौस्तुभकार ने "हेतुमति च" सूत्र के व्याख्यान में "तत्करोतीत्युपसंख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थे" इस वार्तिक पर विचार करते हुए निर्दिष्ट किया है। इस न्याय का अर्थ यह है कि इस क्षत्रिय में वसिष्ठ के समान व्यवहार कीजिए - ऐसा कहने पर वसिष्ठ के विशिष्ट ब्राह्मण होने पर भी उसके अतिदेश के साथ ब्राह्मणत्वसामान्य का भी अतिदेश हो ही जाता है अर्थात् उस क्षत्रिय में जहां विशेष वसिष्ठ का व्यवहार होगा, वहां वसिष्ठ में रहने वाला जो सामान्य ब्राह्मणत्व है, वह भी अतिदिष्ट हुआ ही समझा जाता है। इसी प्रकार 'हरिणीमाचष्टे हरितयति' यहां हरिणी शब्द से 'णिच्' प्रत्यय करने पर उसे इष्ठवत् कार्य का अतिदेश मानने से जहां अन्य टिलोप और भसंज्ञा आदि कार्यों का अतिदेश होता है, वहां पुंवद्भाव इस अपरिगणित सामान्य कार्य का भी अतिदेश स्वतः हो जाता है। परिणामतः हरिणी शब्द को "णिच्" परे रहते पुवद्भाव होकर हरित शब्द बन जाता है। उससे 'हरितयति' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है।

इस न्याय के साथ एक उदाहरण और दिया जा सकता है। जैसे कोई कहे कि विद्वान् का आदर करना चाहिए। अब जहां-जहां मनुष्यविशेषरूप विद्वान् का आदर किया जाता है, वहां-वहां विद्वान् के अन्दर विद्यमान जो सामान्य मनुष्यत्व है, उसका भी आदर करना चाहिए– यह सिद्ध हो जाता है अर्थात् विशेष के साथ सामान्य का भी अतिदेश होने में कोई बाधा नहीं है। वैसे तो सामान्य का अतिदेश करने पर विशेष का अतिदेश नहीं हुआ करता जैसे कि उपर्युक्त इस क्षत्रिय में **ब्राह्मण के समान व्यवहार करो**– ऐसा कहने पर उस क्षत्रिय में सामान्य ब्राह्मणों के कार्य का ही अतिदेश होता है जो वसिष्ठ या कौण्डिन्य आदि विशेष ब्राह्मण हैं, उनके समान कार्य इसमें नहीं किया जा सकता अर्थात् उस क्षत्रिय में सामान्य ब्राह्मण के कार्यों का ही अतिदेश होता है। परन्तु इस न्याय में इससे विपरीत बात कही गई है कि यदि कहीं विशिष्ट का अतिदेश किया गया है तो वहां सामान्य का अतिदेश तो स्वतः सिद्ध माना जाता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं। अतिदेश के प्रसङ्ग में अग्रिम गुरुपुत्र गुरु न्याय भी अवश्य पठनीय है, तद् यथा–

25. गुरुपुत्रगुरु न्याय

"आदेशिन्यलाश्रीयमाणे प्रतिषेध इत्येतदेव ज्यायः। कुत एतत्? तथा ह्ययं विशिष्ट स्थानिकार्यमादेशेऽतिदिशति। गुरुवद् गुरुपुत्रे इति यथा। तद् यथा- गुरुवदस्मिन् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्, अन्यत्रोच्छिष्टभोजनात् पादोपसंग्रहणाच्चेति। यदि च गुरुपुत्रोऽपि गुरुर्भवति तदपि कर्त्तव्यं भवति"।[132]

"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" इस सूत्र के भाष्य में 'अनल्विधि' शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए भाष्यकार पूछते हैं कि क्या स्थानिसम्बन्धी अल्विधि में ही स्थानिवद्भाव का निषेध मानते हैं या सामान्य रूप से स्थानी अथवा आदेश में किसी की भी अल्विधि में स्थानिवद्भाव निषेध मानते हैं? इसका उत्तर दिया जाता है कि स्थानिसम्बन्धी अल्विधि में ही स्थानिवद्भाव का निषेध माना जाता है। आदेशसम्बन्धी अल्विधि तो होने पर भी स्थानिवद्भाव हो जाता है, उसका निषेध नहीं होता। जो विधि केवल स्थानी के सम्बन्धी अल् का आश्रयण करके होती है उसी में स्थानिवद्भाव का निषेध मानना ठीक है। क्योंकि स्थानी के कार्य का ही आदेश में अतिदेश यह सूत्र करता है। इसलिए विशेष रूप से उसी का सम्बन्धी अल् होना चाहिए अर्थात् तत्सम्बन्धी कार्य में ही स्थानिवद्भाव का निषेध होना चाहिए। जैसे लोक में कहते हैं कि गुरुपुत्र में गुरु के समान बर्तना चाहिए। उनके उच्छिष्ट भोजन तथा पादग्रहण को छोड़कर अर्थात् गुरुपुत्र में अन्य कार्य तो गुरु के समान करने चाहिएं, केवल उनके समान उनका झूठा भोजन तथा चरणग्रहण नहीं करने चाहिए। क्योंकि वे तो गुरु के ही किए जा सकते हैं। किन्तु यदि गुरुपुत्र भी गुरु हो तो उच्छिष्ट भोजन तथा चरणग्रहण भी कर लेने चाहिएं। क्योंकि गुरुपुत्र भी गुरु होकर गुरु की कोटि में आ जाता है और अपने उच्छिष्ट भोजन एवं चरणग्रहण

करवाने का अधिकारी हो जाता है। हां, गुरु हुए बिना वह उक्त दोनों कार्यों का अधिकारी नहीं है।

इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी 'अरुदिताम्' 'अरुदितम्' इत्यादि में 'तस्', 'थस्' के स्थान में हुए 'ताम्' 'तम्' इन वलादि आदेशों में स्थानी का वलादित्व अल्विधि होने से नहीं आएगा। केवल अपना या स्वाश्रय वलादित्व स्वतः होने से तथा स्थानिवद्भाव द्वारा 'तस्', 'थस्' का सार्वधातुकत्व आ जाने से "रुदादिभ्यः सार्वधातुके"[133] से वलादि सार्वधातुक को कहा गया इडागम हो जाता है। यहां 'ताम्' 'तम्' आदेशों को स्थानी से केवल सार्वधातुकत्व के अतिदेश की अपेक्षा है। वलादित्व उनमें स्वतः है ही। स्थानी का वलादित्व अल्विधि होने से नहीं आएगा। स्वाश्रय वलादित्व होने से इष्ट सिद्ध हो जाता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जिसके अतिदेश की अपेक्षा है, तत्सम्बन्धी अल्विधि नहीं होनी चाहिए। स्थानी के अतिदेश की अपेक्षा आदेश की अल्विधि होती है, इसलिए स्थानिसम्बन्धी अलाश्रयविधि में ही स्थानिवद्भाव का निषेध अनल्विधि ग्रहण से होता है। आदेशसम्बन्धी अल् के आश्रयण से होने वाली विधि में 'अनल्विधौ' यह निषेध नहीं लगता। गुरुपुत्र में गुरु का अतिदेश तभी तक है जब तक वह स्वयं गुरु नहीं बना। उसके गुरु बन जाने पर तो उच्छिष्ट भोजन एवं चरणग्रहण का निषेध सब रुक जाते हैं। क्योंकि उसे अब गुरु के अतिदेश की आवश्यकता ही नहीं। यह लौकिक दृष्टान्त इस बात को सूचित करता है कि अतिदेश की अपेक्षा तक ही विधि-निषेध चलते हैं। जब अतिदेश की अपेक्षा ही नहीं रहती तब विधि-निषेध सब अकिञ्चित्कर हैं, अप्रयोजक हैं। इस न्याय का प्रयोग अन्यत्र भी किया गया है।[134] इसी सिद्धान्त को उदाहरणान्तरमूलक चाण्डालवद् ब्राह्मणवर्तन न्याय से भी स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार कहते हैं-

26. चाण्डालवद् ब्राह्मणवर्तन न्याय/आतिदेशिकेन विरुद्धं स्वाश्रयं कार्यं बाध्यते न्याय

"यस्त्वाश्रयं कार्यमातिदेशिकेन विरुध्यते तद्बाध्यते। यथा चाण्डालवदस्मिन् ब्राह्मणे वर्तितव्यमित्यतिदेशे कृते ब्राह्मणा भोज्यन्तामित्युक्ते नासौ भोज्यते।"[135]

यह न्याय प्रदीपकार ने "आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्" इस सूत्र के भाष्य में "स्वाश्रयमपि यथा स्यात्" इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है इसका अर्थ है कि अतिदेश में जो कार्य स्थानी का अपने आश्रित है, वह हो जाता है, अर्थात् आदेश का अपना कार्य तो होता ही है किन्तु स्थानी के स्थान में होने वाले आदेश में यदि स्थानी के अपने आश्रित कोई कार्य है तो वह भी हो जाता है। किन्तु जो उपदेश से विरुद्ध स्थानी का कार्य है, वह अतिदेश से नहीं होता। उसको तो आदेश का कार्य बाध ही लेता है, जैसे कोई कहे कि इस ब्राह्मण में चाण्डाल के समान व्यवहार

कीजिए– इस वाक्य में ब्राह्मण में चाण्डाल का अतिदेश किया गया है या उसे चाण्डाल समझा गया है। अतः अब जो कार्य ब्राह्मण और चाण्डाल के आपस में विरुद्ध हैं, उसके लिए उस ब्राह्मण में जिसे चाण्डाल कहा गया है, ब्राह्मण के कार्य नहीं होंगे। ऐसी अवस्था में यदि वहां कोई यह कहे कि **'ब्राह्मणों को भोजन कराओ'** तो इस वाक्य द्वारा अन्य सब ब्राह्मणों को तो भोजन कराया जाएगा किन्तु जिस ब्राह्मण को चाण्डाल के समान समझा गया है, उसे भोजन नहीं कराया जाएगा। क्योंकि ब्राह्मणों के भोजन में और चाण्डाल के भोजन में विरोध है।

इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में "आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्" इस सूत्र द्वारा पहले आमन्त्रित को अविद्यमानवत् कहने से वह सर्वथा अविद्यमानवत् नहीं होता। फलतः उससे 'आम्, भो देवदत्त!' यहां पर 'भो' इस आमन्त्रित के विद्यमानवत् भी रहने से "आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिके"[136] इस सूत्र से एक 'भो' शब्द के व्यवधान में भी 'आम् भो देवदत्त!' यहां देवदत्त को निघात सिद्ध हो जाता है। अन्यथा 'भो' शब्द के सर्वथा विद्यमान हो जाने से एक शब्द का व्यवधान नहीं रहेगा बल्कि 'आम्' शब्द से परे सीधा देवदत्त हो जाएगा तो उसे अनुदात्त नहीं प्राप्त होगा। स्थानिवद्भाव को लेकर अगला सोमपूतीकतृण न्याय भी दर्शनीय है।

27. अभूतपूर्वेऽपि स्थानशब्दप्रयोगो दृश्यते न्याय/सोमपूतीकतृण न्याय / प्रतिनिधि न्याय

"स्थानी हि नाम यो भूत्वा न भवति, आदेशो हि नाम योऽभूत्वा भवति। एतच्च नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते यत् सतो नाम विनाशः स्यादसतो वा प्रादुर्भाव इति। सिद्धन्तु यथा लौकिकवैदिकेष्वभूतपूर्वेऽपि स्थानशब्दप्रयोगात्, यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु अभूतपूर्वेऽपि स्थानशब्दो वर्तते। लोके तावत् - उपाध्यायस्य स्थाने शिष्य इत्युच्यते, न च तत्रोपाध्यायो भूतपूर्वो भवति। वेदेऽपि सोमस्य स्थाने पूतीकतृणान्यभिषुणुयादित्युच्यते। न च तत्र सोमो भूतपूर्वो भवति"[137]

"स्थानिवत्" सूत्र भाष्य में भाष्यकार स्थान्यादेशमूलक प्रतिनिधि न्याय को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि स्थानी वह होता है जो होकर भी न रहे। क्योंकि वह आदेश होने से पूर्व होता है, आदेश होने के बाद नहीं रहता। और आदेश वह होता है जो न होकर भी हो जाए, आदेश पहले नहीं होता, पीछे आ जाता है। किन्तु ये दोनों बातें नित्य शब्दों में नहीं बनतीं कि पहले से विद्यमान का पीछे से नाश हो जाना और पहले से अविद्यमान का पीछे से उत्पन्न हो जाता।[138] नित्यशब्दवादी वैयाकरणों के मत में स्थानी और आदेश का उक्त लक्षण संगत नहीं होता। उसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। यह नित्यता सिद्ध हो जाएगी। जैसे लौकिक-वैदिक उदाहरणों में हम देखते हैं कि अभूतपूर्व अर्थ में भी 'स्थान' शब्द का प्रयोग होता है। लोक में जैसे- उपाध्याय के स्थान में शिष्य काम करेगा- ऐसा कहा जाता है।

अब वहां उपाध्याय को हटाकर शिष्य को नहीं बैठाते बल्कि उपाध्याय के बदले शिष्य से काम लेते हैं अर्थात् जहां उपाध्याय काम करता था, वहां अब शिष्य काम करेगा। यहां स्थान शब्द का अर्थ प्रसङ्ग है, बदला है। यहां उपाध्याय पहले से विद्यमान नहीं है जिसकी निवृत्ति करके शिष्य को लाया गया है। केवल इतना ही तात्पर्य है कि जहां उपाध्याय जी काम करते थे, वहां अब शिष्य काम करेगा। इसी तरह वेद में भी **सोमलता के स्थान पर तृणविशेष का अभिषव करे-** ऐसा कहा जाता है। वहां भी सोम को हटाकर उसके स्थान में तृणविशेष नहीं लाया जाता अपितु इतना ही तात्पर्य है कि जहां सोमलता से काम होता था, वहां अब उसके प्रतिनिधि रूप में तृणविशेषों से काम लिया जाता है। इसलिए स्थान्यादेशभाव में शब्दों की नित्यता पर कोई आघात नहीं पहुंचता।[139] "अस्तेर्भूः"[140] कहकर आचार्य पाणिनि 'अस्' धातु के प्रसङ्ग में 'भू' का प्रयोग होता है, यह सूचित करते हैं- अर्थात् जहां 'अस्' से काम लेते हैं, वहां विषयविशेष में 'भू' से भी काम ले लिया जाता है। स्पष्ट शब्दों में, आचार्य पाणिनि के व्याकरण में "अस्तेर्भूः" सूत्र है जिसमें 'अस्' धातु को स्थानी माना गया तथा 'भू' को उसके स्थान पर आदेश माना गया। यह कल्पना 'अस्' के 'भविता', 'भवितुम्' इत्यादि रूपों की सिद्धि के लिए की गई। परन्तु आचार्य आपिशलि के व्याकरण में इसके विपरीत 'भू' को स्थानी माना गया तथा 'अस्' को उसके स्थान पर आदेश माना गया। यह कल्पना संभवतः 'आसीत्' 'आस्ताम्' 'आसन्' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिए की गई थी। परन्तु चाहे 'अस्' को स्थानी माना जाए अथवा 'भू' को स्थानी माना जाए, इतने मात्र से शब्द अनित्य नहीं हो सकते। वे तो नित्य ही बने रहते हैं। इस विषय में अग्रिम बुद्धिविपरिणाम न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है, तद् यथा-

28. बुद्धिविपरिणाम न्याय

"कार्यविपरिणामाद्वा सिद्धम्। अथवा कार्या बुद्धिः सा विपरिणम्यते। तद् यथा- कश्चित् कस्मैचिदुपदिशति-प्राचीनं ग्रामादाम्रा इति। तस्य सर्वत्राम्रबुद्धिः प्रसक्ता। ततः पश्चादाह- ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णास्ते न्यग्रोधा इति। स तत्राम्रबुद्ध्या न्यग्रोधबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्ध्या आम्रांश्चापकृष्यामाणान् न्यग्रोधांश्चोपधीयमानान्। नित्या एव स्वस्मिन् विषये आम्राः नित्याश्च न्यग्रोधाः। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते। एवमिहापि अस्तिरस्मै अविशेषेणोपदिष्टः। तस्य सर्वत्रास्तिबुद्धिः प्रसक्ताः। स अस्तेर्भूभवतीत्यस्तिबुद्ध्या भवतिबुद्धिं प्रतिपद्यते। स ततः पश्यति बुद्ध्या अस्तिं चापकृष्यमाणम् भवतिं चोपधीयमानम्। नित्य एव च स्वस्मिन् विषयेऽस्तिः नित्यो भवतिश्च। बुद्धिस्त्वस्य विपरिणम्यते।"[141]

"स्थान्यादेशभाव मानने पर शब्दों की अनित्यता प्राप्त होती है, इस आक्षेप का समाधान करते हुए वार्तिककार "स्थानिवत्" सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि बुद्धि के विपरिणाम से शब्दों की नित्यता सिद्ध हो जाएगी। जिस स्थान्यादेशभाव से आप शब्दों

के अनित्यत्व की आशङ्का करते हैं, वह स्थान्यादेशभाव और कुछ नहीं, केवल बुद्धि का विपरिणाममात्र है अर्थात् शब्दों में कोई विकृति नहीं होती अपितु केवल बुद्धि ही परिणत होती है। जैसे लोक में कोई किसी से कहता है कि गांव से पूर्व दिशा में आम हैं। सुनने वाले की बुद्धि में आम बैठ जाता है। वह गांव से पूर्व दिशा में आमों का विचार करता है। उसके बाद कहने वाला कहता है कि देखो, जो उस दिशा में दूधिया, नीचे दाढ़ी सी लटकाए, बड़े-बड़े पत्ते वाले हैं, वे वटवृक्ष हैं। यह सुनकर सुनने वाले की बुद्धि आमों से हटकर वटवृक्षों में चली जाती है। वह वटवृक्षों का विचार करने लगता है। अब उसकी बुद्धि में आमों का विचार तो हट जाता है और वटवृक्षों का विचार हो जाता है। वैसे अपने स्थान में आम भी स्थिर हैं और वटवृक्ष भी स्थिर हैं। किन्तु सुनने वाले की बुद्धि के फेर से आम हटते हुए और वट आते हुए प्रतीत होते हैं।

यही बात यहां शास्त्र में भी है। 'अस्' धातु सामान्यरूप से पठित है। उसको पढ़ने वाला जानता है कि यह 'अस्' धातु है। उसकी बुद्धि में 'अस्' धातु समाई हुई है। उसके बाद वह "अस्तेर्भूः" पढ़ता है। 'अस्' को 'भू' होता है- यह पढ़ते ही उसकी बुद्धि 'भू' में चली जाती है। वह अब 'अस्' को छोड़कर 'भू' में लीन हो जाता है। वस्तुतः 'अस्' अपने स्थान पर स्थिर है, नित्य है और 'भू' अपने स्थान पर स्थिर है, नित्य है। केवल सुनने या पढ़ने वाले की बुद्धि का ही हेर-फेर है जो 'अस्' के स्थान में होने वाली 'भू' धातु को आदेश और 'अस्' को उसका स्थानी मान लेता है। वस्तुतः न कोई स्थानी है और न आदेश। केवल बुद्धि का उलट-फेर है, यह जान लेने पर शब्दों की अनित्यता नहीं रहती।[142]

भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी स्थान्यादेशभाव तो काल्पनिक ही है। पाद, दन्त, नासिका आदि के स्थान में क्रमशः पद्, दत्, नस् आदि आदेश की कल्पना भी व्यर्थ ही है।[143] पाद स्वतन्त्र शब्द है और पद् भी स्वतन्त्र है। दोनों के अपने-अपने प्रयोग के विषय हैं अथवा निश्चित प्रयोगक्षेत्र में ही इनका अभिधान है। पादः, पादौ, पादाः, पादम्, पादौ, पादान् ये पाद शब्द के अपने स्वतन्त्र रूप हैं और पत्-पद्, पदौ, पदः, पदम्, पदौ, पदः, पदा, पद्भ्याम् पद्भिः ये पद् शब्द के अपने स्वतन्त्र रूप हैं। यह कल्पना कुछ अच्छी नहीं प्रतीत होती कि 'शस्' प्रभृतियों में तो 'पद्' शब्द का आदेश मानकर प्रयोग हो तथा अन्यत्र 'पाद' शब्द ही स्वीकार किया जाए। जब दोनों के प्रयोगविषय या अभिधान निश्चित हैं तब दोनों को स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् शब्द ही क्यों न मान लिया जाए, 'पाद' शब्द को 'पद्' आदेश होता है- ऐसा क्यों माना जाए। इसी प्रकार 'जरा' को 'जरस्'[144] 'अस्' को 'भू'[145] 'ब्रू' को 'वच्'[146] 'चक्षिङ्' को 'ख्याञ्'[147], 'वेञ्' को 'वयि',[148] 'अज्' को 'वी'[149] 'अद्' को 'घस्'[150] इत्यादि आदेश न मानकर जरा-जरस् इत्यादि पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र शब्द हैं और उनके अपने-अपने प्रयोगविषय या अभिधान भी निश्चित हैं - ऐसा मानने में ही लाघव है। अर्थप्रतिपत्ति भी स्पष्ट होती है।

अथवा यहां यह कल्पना करना भी असङ्गत प्रतीत नहीं होता कि आचार्य पाणिनि ने जहां लोप, आगम तथा वर्णविकारादि द्वारा रूपान्तर का प्रतिपादन किया है, वे रूप प्राचीन काल में संस्कृत भाषा में स्वतन्त्ररूप से लब्धप्रचार थे। उनका लोक में अप्रयोग हो जाने पर पाणिनि आदि ने उनसे निष्पन्न व्यावहारिक भाषा में अवशिष्ट शब्दों का अन्वाख्यान करने के लिए लोप, आगम, वर्णविकारादि की कल्पना की है। ऐसी स्थिति में पाणिनि ने जहां-जहां पा, घ्रा आदि के स्थान में पिब, जिघ्र आदि का आदेश किया है, वहां-वहां सर्वत्र उन्हें स्वतन्त्र धातु समझना चाहिए। समानार्थक दो धातुओं से परे एक का सार्वधातुक में प्रयोग नष्ट हो गया तथा दूसरे का आर्धधातुक में। वैयाकरणों ने अन्वाख्यान के लिए "नष्टाश्वदग्धरथवत्" न्याय से दोनों को एक साथ जोड़ दिया। इस प्रकार वर्णलोप, वर्णागम, वर्णविकार तथा स्थान्यादेशभावादि के द्वारा वैयाकरण जिन रूपों को निष्पन्न करते हैं, वे रूपान्तर भी मूलरूप में स्वतन्त्र धातुएं ही हैं। इस तरह से भी शब्दों की अनित्यता नहीं रहती। शेखरकार ने भी उक्त बुद्धिविपरिणामवाद का संकेत किया है।[151] स्थान्यादेशभाव के विषय में अगला भावाभावातिदेश न्याय भी अवलोकनीय है।

29. *कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम् न्याय/भावाभावातिदेश न्याय*

"कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम्। तद् यथा- उशीनरवन्मद्रेषु यवाः। सन्ति न सन्तीति। मातृवदस्याः कलाः। सन्ति, न सन्तीति। एवमिहापि स्थानिवद्भवति, स्थानिवन्न भवतीति वाक्यशेषं समर्थयिष्यामहे"।।[152]

"अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इस स्थानिवद्भावविधायक सूत्र में 'स्थानिवत्' यह 'वति' प्रत्यय का निर्देश किया गया है- 'स्थानिना तुल्यं वर्तते इति स्थानिवत्'। अब इस 'वति' प्रत्यय के निर्देश में वक्ता की अपना इच्छा है कि वह विधि या निषेध रूप में किसी भी प्रकार से वाक्यार्थयोजना कर ले। जैसे- 'मद्रदेश में यव (जौ) उशीनर देश के समान हैं' - ऐसा कहने पर यह समझा जाता है कि यदि उशीनर देश में यव विद्यमान हैं तो मद्रदेश में भी यव विद्यमान हैं और यदि उशीनर देश में यव नहीं हैं तो मद्रदेश में भी नहीं हैं। इसी प्रकार 'इस कन्या की कलाएं माता के समान हैं' - ऐसा कहने पर यह समझा जाता है कि यदि माता में कलाएं हैं तो इस कन्या में भी हैं और यदि इसकी माता में नहीं हैं तो कन्या में भी नहीं हैं। यही लोकव्यवहार की बात शास्त्र में भी है। फलतः परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् होता है या स्थानी के तुल्य होता है- ऐसा कहने पर लक्ष्यानुरोधात् यदि स्थानी में कोई कार्य होता है तो आदेश में भी वह अतिदिष्ट (भावतिदेश) हो जाता है और यदि स्थानी में कोई कार्य नहीं होता तो वह आदेश में भी अतिदिष्ट नहीं होता (अभावातिदेश)- ऐसा विधि-निषेध रूप वाक्यार्थ समझ लिया जाता है। उससे पट्व्या, मृदव्या यहां 'पटु+ ई +

आ', 'मृदु + ई + आ' इस अवस्था में यदि पहले परत्वात् ईकार को यणादेश कर लें तो उसके स्थानिवद्भाव होने से पूर्व उकार को भी यण् हो जाता है। स्थानी ईकार में जब यण् की सत्ता है तो भावातिदेश से आदेशभूत यकार परे रहते भी यण् हो जाएगा। इसके विपरीत 'वाय्वोः' 'अध्वर्व्योः' यहां स्थानी उकार परे रहते जब यलोप नहीं होता तो अभावातिदेश से आदेशभूत वकार परे रहते भी यलोप नहीं होगा।

भाष्यकार ने ही "पूर्ववत्सनः" सूत्र के भाष्य में भी 'पूर्ववत्' इस 'वति' प्रत्यय के निर्देश से उक्त न्याय का स्मरण कराया है। तदनुसार 'पूर्ववद् भवति, पूर्ववन्न भवति' इस प्रकार भावातिदेश के साथ अभावातिदेश भी हो जाएगा तो सूत्रार्थ होगा कि जैसे "नानोर्ज्ञः", "प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः"[153] इन दोनों पूर्वसूत्रों से सन्नन्त में आत्मनेपद नहीं होता वैसे ही "शदेःशितः", "म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च"[154] इन उत्तर सूत्रों में प्रोक्त 'शद्' और 'मृङ्' धातुओं से भी सन्नन्त में आत्मनेपद नहीं होता, यथा- 'शिशत्सति', 'मुमूर्षति'।

इसी प्रकार "यूनि लुक्"[155] सूत्र के भाष्य में भी युवा को वृद्धवत् अतिदेश करने में 'वति' प्रत्यय के निर्देश से प्रकृत न्याय के आधार पर 'युवा वृद्धवत् होता है और वृद्धवत् नहीं भी होता'- यह भाव और अभाव दोनों का अतिदेश बन जाता है। फलतः जैसे- गोत्र में युवा प्रत्यय नहीं होता उसी प्रकार प्रागुदीव्यतीय अधिकार में युवा में भी युवा प्रत्यय नहीं होता। उससे "औपगवेर्यूनश्छात्राः औपगवीयाः" यहां युवा में "शेषे"[156] से विहित शैषिक अण् प्रत्यय नहीं होगा। फलतः "वृद्धाच्छः"[157] से छ हो जाता है।

इसी प्रकार "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कादनूङ्" सूत्रभाष्य[158] में भी इस न्याय का उपन्यास इसीलिए किया गया है कि जिससे तृतीयादि विभक्ति परे होने पर भाषितपुंस्क शब्द में जो पुंवद्भाव का अतिदेश किया गया है, उससे गालव आचार्य के मत में, 'ग्रामण्या ब्राह्मणकुलेन' इत्यादि नपुंसकलिङ्ग के विशेषण ग्रामणी शब्द में "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य"[159] से प्राप्त ह्रस्व और "इकोऽचि विभक्तौ"[160] से प्राप्त नुमागम नहीं होते। क्योंकि पुंवत् शब्द में जो 'वति' प्रत्यय का निर्देश है, वह "उशीनरवन्मद्रेषु यवाः" इस लौकिक न्यायानुसार इस अर्थ का वाचक होगा कि भावाभावातिदेश द्वारा भाषितपुंस्क को पुंवत् कहने से जैसे पुंलिङ्ग में ह्रस्व और नुमागम नहीं होते वैसे ही भाषितपुंस्क नपुंसकलिङ्ग में भी नहीं होते। इस प्रकार "ग्रामण्या ब्राह्मणकुलेन" इस नपुंसक के विशेषण ग्रामणी शब्द में पुंवद् विधान द्वारा ह्रस्व और नुमागम का निषेध सिद्ध हो जाता है। ध्यातव्य है कि इस भावाभावातिदेश को स्पष्ट करने के लिए हरदत्त ने अन्य स्वोपज्ञ उदाहरणों का भी प्रयोग किया है। वे भी अवश्य पठनीय हैं जो इस प्रकार हैं-

"यथा चोलवत् कश्मीरेषु व्रीहयः, मरुभूमिवदस्मिन् प्रदेशे जलमित्यादौ दृष्टान्ते प्रसिद्धस्य भावाभावस्य वा यथादर्शनमतिदेशः"।[161]

"अचः परस्मिन्" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में भावाभावातिदेशों को समझाने के लिए इन न्यायों का उपन्यास हुआ है। प्रथम न्याय का तात्पर्य यह है कि जैसे चोल देश

में धान होते हैं, वैसे काश्मीर में भी होते हैं। इसी तरह 'मरुभूमिवद् अस्मिन् प्रदेशे जलम्' यहां अभाव का अतिदेश है अर्थात् जैसे मरुभूमि में जल का अभाव है वैसे ही इस प्रदेश में भी जल नहीं है। यद्यपि भाष्य में भी भावाभावातिदेशसम्बन्धी न्याय बहुशः प्रस्तुत हुआ है तथापि स्वोपज्ञ उदाहरणान्तरों से विषय स्पष्ट करना पदमञ्जरीकार की शैली है। परन्तु उक्त दोनों के उदाहरणों में इतना अन्तर अवश्य अवधेय है कि जहां भाष्यकार के उदाहरणों से भावाभाव का एक साथ अतिदेश स्पष्ट सिद्ध होता है जो कि अभीष्ट भी है, वहां हरदत्त के उदाहरणों में यह सामर्थ्य नहीं है। इनका एक उदाहरण भावातिदेश को बताता है तथा दूसरा अभावातिदेश को ही। इसीलिए वे स्वयं ही प्रकृत सूत्र पर पूर्वोक्त अपने उदाहरणों को विषम उपन्यासः कहकर अयुक्त घोषित करते हैं-

"विषम उपन्यासः- युक्तं तत्र भावस्यैवाभावस्यैव च प्रसिद्धत्वाद्, इह तूदाहरणभेदेन भावाभावयोः प्रसिद्धावपि 'स्थानिवदादेशः' इत्युक्तेऽश्रुतक्रियापदेषु वाक्येषु भवतीत्येवाध्याहारस्य प्रसिद्धत्वाद् भावातिदेशः स्याद् इत्यलमतिप्रबन्धेन"।[162]

इस न्याय का अर्थ है कि यह जो आपने "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" इस सूत्र पर भाव और अभाव दोनों का अतिदेश माना है, आपका यह भाव और अभाव के अतिदेश का दृष्टान्त ठीक नहीं है। क्योंकि उक्त दृष्टान्तों में तो जैसे चोल देश में व्रीहि होते हैं, इसीलिए कश्मीर में भी होंगे - ऐसा भावातिदेश होता है। और मरुभूमि में जल नहीं होता, इसलिए इस देश में भी नहीं होगा-इस दृष्टान्त में अभाव का अतिदेश है। इस तरह भाव और अभाव दोनों का एक साथ अतिदेश इन दृष्टान्तों से नहीं सिद्ध होता जबकि "अचः परस्मिन्" सूत्र में तो विधि ग्रहण के सामर्थ्य से भाव और अभाव दोनों का एक साथ अतिदेश होना इष्ट है। शास्त्रीय व्याख्या की दृष्टि से 'पट्व्या' और 'मृद्व्या' यहां पर जैसे पट्वी और मृद्वी शब्दों को इकार परे रहते यण् होता है ऐसे ही उसके स्थान में आदेश हुए 'य्' परे रहते भी हो जाता है। क्योंकि जो कार्य स्थानी में होता है वही उसके स्थान में होने वाले आदेश में भी होता है। इस प्रकार यहां भावातिदेश होता है। इसके विपरीत 'वाय्वोः' और 'अध्वर्व्योः' इन शब्दों में उकार परे रहते जैसे वायु और अध्वर्यु शब्दों के यकार का लोप नहीं होता, ऐसे ही उसके स्थान में आदेश हुए वकार परे रहते भी 'वाय्वोः' 'अध्वर्व्योः' में यकार का लोप नहीं होता-यह अभावातिदेश है। इस प्रकार ये दोनों ही कार्य होना और न होना एक साथ "अचः परस्मिन्" सूत्र के अतिदेश से होते हैं किन्तु आपके पूर्वोक्त चोलवत् काश्मीरेषु व्रीहयः', "मरुभूमिवदस्मिन् प्रदेशे जलम्" इन दृष्टान्तों में एक साथ भाव और अभाव का ऐसा अतिदेश नहीं सिद्ध होता। इस विषय में भर्तृहरि की निम्न कारिका भी अवश्य द्रष्टव्य है-

"यथाभावमुपाश्रित्य तदभावोऽनुगम्यते।
तथाभावमुपाश्रित्य तद्भावोऽनुगम्यते॥
नाभावो जायते भावो नैति भावोऽनुपाख्यताम्।
एकस्मादात्मनोऽनन्यौ भावाभावौ प्रकल्पितौ॥"[163]

30. वाराणसीजित्वरी न्याय/बालवायविदूर न्याय/औपचारिक न्याय

"तद् यथा- वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति एवं वैयाकरणा बालवायं विदूर इत्युपाचरन्ति"।[164]

"विदूराञ्ञ्यः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि जिस प्रकार केवल बनिए लोग ही मङ्गलार्थ वाराणसी (बनारस) नगरी को जित्वरी शब्द से व्यवहृत करते हैं अर्थात् उसे जित्वरी (जयशील) कहते हैं, अन्य लोग नहीं।[165] इस रूढिवशात् एकदेशप्रसिद्ध शब्द की तुलना वैयाकरणों के भोजनापर पर्याय 'प्रत्यवसान' शब्द से की जा सकती है। क्योंकि इस अर्थ में यह शब्द केवल वैयाकरणनिकाय में ही प्रसिद्ध है, सर्वत्र नहीं।[166] इसी प्रकार जित्वरी के समान बालवायापर पर्याय विदूर को भी बालवाय के समान पर्वतविशेष का वाचक मान लिया जाए - ये दोनों पक्ष वैयाकरणों को अभिमत हैं। 'विदूरात् बालवायापरपर्यायात् प्रभवति इति वैदूर्यो मणिः' यह सूत्र का उदाहरण है। यहां वाराणसी के लिए बनियों में रूढिवशात् प्रसिद्ध जित्वरी शब्द लोकव्यवहारज्ञान का साधन है अतः भाष्यकार का उक्तवचन लोकन्याय में समाविष्ट हो जाता है। इस जित्वरी न्याय से यह सिद्ध होता है कि रूढ़ियां या प्रसिद्धियां नियतपुरुषापेक्ष या देश और पुरुष के विषय में ही नियत होती हैं। इस विषय में भर्तृहरि का कथन है-

"भिन्नाविजियजी धातू नियतौ विषयान्तरे।
कैश्चित् कथंचिदुद्दिष्टौ चित्रं हि प्रतिपादनम्॥
एवं च बालवायादि जित्वरीवदुपाचरेद्।
भेदाभेदाभ्युपगमे न विरोधोऽस्ति कश्चन॥"[167]

जित्वरीविषयक उक्त न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[168]

31. आद्यः सन् सर्वस्यानाद्यस्य निवर्तको भवति न्याय

"लोकवद् हलादिशेषे सिद्धम्। तद् यशा लोके ईश्वर आज्ञापयति - ग्रामाद् ग्रामान् मनुष्या आनीयन्ताम्। प्रागाङ्गं ग्रामेभ्यो ब्राह्मणा आनीयन्ताम् इति। येषु तत्र ग्रामेषु ब्राह्मणा न सन्ति, न तर्हीदानीं ततोऽन्यस्यानयनं भवति। यथा तत्र क्वचिदपि ब्राह्मणस्य सत्ता सर्वत्राब्राह्मणस्य निवर्तिका भवति। एवमिहापि क्वचिदपि हलाद्यः सन् सर्वस्यानाद्यस्य हलो निवर्तको भवति।"[169]

"अजादेर्द्वितीयस्य" सूत्र के भाष्य में शङ्का की गई है कि जिन धातुओं के आदि

में हल् है, जैसे- 'पच्' 'पठ्' आदि, उन्हीं में "हलादिः शेषः"[170] से अनादि हल् की निवृत्ति होनी चाहिए। किन्तु जो अजादि धातु हैं, जैसे 'अट्' 'अश्' आदि, उनमें अनादि हल् की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। क्योंकि उनमें आदि हल् संभव ही नहीं है तो उसका समाधान करते हुए भाष्यवार्तिककार 'लोकवद् हलादिशेषे' यह लोक न्याय उपस्थित करते हैं कि हलादिशेष में भी लोक व्यवहार के समान कार्य सिद्ध हो जाएगा। जैसे लोक में राजा आज्ञा देता है कि गांव-गांव से मनुष्यों को लाओ। किन्तु अङ्ग देश से पूर्व गांवों से ब्राह्मणों को लाओ। अब वहां जिन गांवों में ब्राह्मण नहीं होते वहां ब्राह्मणेतर मनुष्यों का आनयन नहीं होता। यदि कहीं पर भी ब्राह्मण है तो वही लाया जाएगा। ब्राह्मण से भिन्न मनुष्य सर्वथा नहीं लाया जाएगा। भाव यह है कि जिस प्रकार किसी एक स्थान पर भी विद्यमान ब्राह्मण की सत्ता ब्राह्मणेतर मनुष्यों की निवर्तक होती है उसी प्रकार "हलादिः शेषः" सूत्र के आधार पर कहीं पर भी, किसी धातु में भी, विद्यमान आदि हल् सभी अनादि हलों की निवृत्ति कर देगा। उससे 'पपाच', 'पपाठ' इन हलादि धातुओं के समान 'आटतुः' 'आटुः' इत्यादि अजादि धातुओं में भी अनादि हल् की निवृत्ति सिद्ध हो जाएगी अर्थात् यह जो 'पपाच' इत्यादि में 'पच्' धातु के अभ्यास का पकार आदि हल् है, यह प्रकृत लोकन्याय के आधार पर आदि में न आने वाले 'आटतुः' 'आटुः' आदि में टकार का भी निवर्तक हो जाएगा।

32. आर्यावर्तशिष्ट न्याय

"कः पुनरार्यावर्तः? प्रागादर्शात्। प्रत्यक् कालकवनात्, दक्षिणेन हिमवन्तम्, उत्तरेण पारियात्रम्। एतस्मिन्नार्यावर्ते आर्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपाः अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्रभवन्तः शिष्टाः। यदि तर्हि शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्, किमष्टाध्याय्या क्रियते? शिष्टपरिज्ञानार्थाष्टाध्यायी। कथं पुनरष्टाध्याय्या शिष्टाः शक्या विज्ञातुम्? अष्टाध्यायीमधीयानोऽन्यं पश्यत्यनधीयानं ये वास्यां विहिताः शब्दास्तान् प्रयुञ्जानम्। स पश्यति-नूनमस्य देवानुग्रहः स्वभावो वा योऽयं न चाष्टाध्यायीमधीते ये चास्यां विहिताः शब्दास्तांश्च प्रयुङ्क्ते। नूनमयमन्यानपि जानातीति। एवमेषा शिष्टज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी इति।"[171]

"पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने आर्यावर्त देश, शिष्टजन तथा अष्टाध्यायी के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। इसलिए यह लोकप्रसिद्ध शब्दों का विशेष लक्षण भी उपादेय होने से लोकन्यायों में संगृहीत कर लिया गया है। यहां एक बात अवश्य है कि भाष्यकार पतञ्जलि ने आर्यावर्त का उक्त लक्षण बोधायन धर्मसूत्र से लिया प्रतीत होता है।[172] और ऐसी संभावना है कि बोधायन और पतञ्जलि दोनों ने ही मनु द्वारा संकेतित मध्यदेश ही आर्यावर्त के रूप में स्वीकार किया है।[173] ऐसी स्थिति में भाष्योक्त "प्रागादर्शात्" यह पाठ विचारणीय हो जाता है। संभवतः यहां मूल पाठ "प्रागदर्शनात्" ही था जैसा कि 'प्राग्विनशनात्' इस मनुस्मृति के पाठ से ज्ञापित

होता है। क्योंकि विनशन और अनशन दोनों शब्द समानार्थक हैं तथा सरस्वती नदी जहां अन्तर्हित हो जाती है, उस देश के वाचक हैं। चिन्नस्वामी शास्त्री भी इस विषय में सहमत हैं। यह न्याय इससे पूर्व "शूद्राणामनिरवसितानाम्" सूत्रभाष्य में भी उद्धृत हुआ है।

33. ग्रामनगरविधि न्याय / अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः अभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः न्याय / भक्ष्याभक्ष्यधर्मनियम न्याय

"अन्यो ग्रामोऽन्यन्नगरम्। कथं ज्ञायते ? एवं हि कश्चित् कंचित् पृच्छति कुतो भवानागच्छति? ग्रामात्। स आह न ग्रामान् नगरादिति। ननु च भो य एव ग्रामस्तन्नगरम्। कथं ज्ञायते? लोकतः। ये हि ग्रामे विधयो नेष्यन्ते साधीयस्ते नगरे न क्रियन्ते। तद् यथा- अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटोऽभक्ष्यो ग्राम्यशूकर इत्युक्ते सुतरां नागरोऽपि न भक्ष्यते। तथा ग्रामे नाध्येयमिति साधीयो नगरेऽपि नाधीयते। तस्माद् य एव ग्रामस्तन्नगरम्।

कथं यदुक्तम्? एवं हि कश्चित् कंचित् पृच्छति कुतो भवान् आगच्छति? ग्रामात्। स आह - न ग्रामान् नगरादिति। संस्त्यायविशेषमसावाचष्टे। संस्त्यायविशेषा ह्येते - ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति॥"[175]

"प्राचां ग्रामनगराणाम्" सूत्रप्रोक्त प्रकृत न्याय से लोकप्रसिद्ध ग्राम और नगर की समानार्थकता सूचित होती है। अवान्तरविशेष होने पर भी व्यवहार में प्रायः ग्राम और नगर दोनों तुल्यार्थक ही माने जाते हैं। इसलिए "विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः"[176] इस सूत्र में ग्राम के साथ नगर में भी एकवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त होने पर "नगराणां प्रतिषेधो वक्तव्यः"[177] इस वार्तिक द्वारा निषेध को रोककर एकवद्भाव का विधान किया गया है। ग्राम और नगर के एकार्थक होने से ही "उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात्" "वाहीकग्रामेभ्यश्च", "दिक् शब्दाग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु"[178] इन सूत्रों में पृथक् नगर ग्रहण नहीं किया। यदि ग्राम और नगर भिन्न-भिन्न माने जाएं तो उक्त ग्राम वाले सूत्रों में नगर ग्रहण भी करना पड़ेगा। क्योंकि उक्त सूत्रों से विहित कार्य ग्राम के समान नगर में भी अभीष्ट हैं। इसीलिए आचार्य ने इनमें नगर ग्रहण नहीं किया। ऐसी स्थिति में "प्राचां ग्रामनगराणाम्" इस सूत्र में ग्राम ग्रहण से नगर का ग्रहण भी सिद्ध हो जाने से फिर नगर ग्रहण करना व्यर्थ हो जाता है। भाष्यकार का कथन है-

"इदं चतुर्थं ज्ञापकार्थम्। तत्रातिनिर्बन्धो न लाभः। तस्माद् यस्मिन्नेव ग्रामग्रहणे नगरग्रहणं नेष्यते तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः।"[179]

ग्राम में प्रोक्त विधियां जब नगर में भी निर्बाध प्रवृत्त होती हैं तो इस लोकप्रसिद्ध व्यवहार या न्याय से दोनों का अभेद ही मानना न्यायसंगत है। ये दोनों ही आर्यों के निवास थे। इनमें नगर का ही छोटा रूप ग्राम है और इससे भी छोटे खेड़े को खेट कहते हैं। झोंपड़ी या गोशाला वाले निवास को घोष कहते हैं। परकोटा या खाई आदि से घिरा हुआ नगर ही संवाह है जिसे कस्बा भी कहा जा सकता है।[180] प्रदीपकार के अनुसार वणिक्प्रधान नगर संवाह होते थे।

(2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित ग्राम और नगरसम्बन्धी लोकन्याय

1. वाक्यान्यपि द्विष्ठानि भवन्ति न्याय/अलम्बुसानां याता न्याय[181]
2. अवयवार्थवत्वात् संघातार्थवत्वम् न्याय[182]
3. ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[183]
4. ब्राह्मणग्राम न्याय[184]
5. गुणप्रापण न्याय/नानालिङ्गकरण न्याय[185]
6. निर्लुठितगर्भ न्याय[186]
7. अकथितशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[187]
8. येन येन शब्देनाभिसम्बध्यते तावति तावति क्रिया परिसमाप्यते न्याय[188]
9. गन्धर्वनगर न्याय[189]
10. पुराणि राज्ञां विनयन्ति कोपम् न्याय[190]
11. अनवस्थित (दूरशब्दपदार्थक) न्याय[191]
12. तर्कुग्राम न्याय[192]
13. चौरदग्धग्राम न्याय[193]
14. अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य न्याय[194]
15. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः न्याय[195]
16. तन्त्राद्यावृत्त्येकशेष न्याय[196]

सन्दर्भसूची

1. महा. भा. 1 सू. 1.4.24 पृ. 327.
2. तुलना करो, वा. प. 3.7.138-39.

"द्रव्यत्वभावो न ध्रौव्यमिति सूत्रे प्रतीयते।
अपायविषयं ध्रौव्यं यत्तु तावद्विवक्षितम्॥
सरणे देवदत्तस्य ध्रौव्यं पाते तु वाजिनः।
आविष्टं यदपायेन तस्याध्रौव्यं प्रचक्षते॥"

3. तुलना करो, प.ल.म., निपातार्थनिर्णय पृ. 212.

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

यहां उक्त उदाहरणों में नञ्तत्पुरुष 'अल्प' अर्थ में जानना चाहिए।

4. महा. भा. 1 सू. 2.3.50 पृ. 463.
5. वही. सू. 1.4.32 पृ. 330 - ''क्रियापि कृत्रिमं कर्म''
6. वही. भा. 2 सू. 3.2.110 पृ. 118.
7. तुलना करो, वा. प. 1.137

''सतोऽविवक्षा पारार्थ्यं व्यक्तिरर्थस्य लैङ्गिकी।

इति न्यायो बहुविधस्तर्केण प्रविभज्यते॥''

8. महा. भा. 1 सू. 2.3.63 पृ. 464; भा. 3 सू. 6.3.42 पृ. 157; स्फोट चन्द्रिका, पृ. 13.
9. वही. 1 सू. 1.2.59 पृ. 230-31.
10. वही. भा. 2 सू. 5.1.16 पृ. 342-43.
11. न्यास. (का. भा. 4 सू. 6.1.133 पृ. 608)
12. वै. भू. सा. नामार्थनिर्णय, कारिका सं. 27.
13. पा. 8.2.46.
14. पा. 6.4.77.
15. न्यास. (का. भा. 6 सू. 8.3.10 पृ. 491) : श. कौ. भा. 1 सू. 'अइउण्' पृ. 30; 'ऋलृक्' सूत्र पृ. 38; सू. 1.1.15 पृ. 133; सू. 1.1.16 पृ. 136; सू. 1.1.20 पृ. 141; वै. भू.सा. नामार्थ निर्णय पृ. 330; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 81 पृ. 203; सू. 181 पृ. 347, सू. 182 पृ. 348.
16. महा. प्र. भा. 2 सू. 1.2.10 पृ. 22.
17. वही. सू. 2.2.24 पृ. 717; भा. 3 सू. 3.2.111 पृ. 268; भा. 4 सू. 6.3 46 पृ. 623; सू. 6.4.160 पृ. 796; प.मं. (का.भा. 1 सू. 3.2.53 पृ. 359).
18. महा. भा. 3 सू. 4.2.129 पृ. 299.
19. द्र. पृ. 542.
20. द्र. पृ. 443.
21. द्र. पृ. 458.
22. महा. भा. 1 सू. 1.1.72 पृ. 184.
23. पा. 5.3.71.
24. तुलना करो, परि. सं. 89 - ''तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते''।
25. तुलना करो, - ''यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम् - देवदत्तस्य पुत्रः देवदत्तायाः पुत्र इति''।
26. पा. 7.4.10.
27. महा. भा. 1 सू. 1.1.27 पृ. 89; भा. 3 सू. 7.1.54 पृ. 259; न्यास (का.भा. 1 सू. 1.1.32 पृ. 140; भा. 5 सू. 6.2.172 पृ. 165; सू. 7.1.11 पृ. 541; सू. 7.2.43 पृ. 723); महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.47 पृ. 354; सू. 1.1.69 पृ. 531; प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.32 पृ. 140; भा. 6 सू. 7.3.1 पृ. 5;7); श. र. (प्रौ. म.) सू. 2580 पृ. 470; महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.2.45 पृ. 75; सू. 2.3.21 पृ. 795; भा. 4 सू. 6.1.168 पृ. 505; भा. 5 सू. 7.1.52 पृ. 52; सू. 7.3.92 पृ. 234; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 37 पृ. 111; सू. 217 पृ. 408; भा. 3 सू. 2543 पृ. 1791; सू. 3714 पृ. 2253; बा. म. भा. 1 सू. 176, पृ. 171; सू. 217, पृ. 212; सू. 387 पृ. 400.

28. महा. प्र. उ. भा. 1 अइउण् सूत्र. पृ. 68.
29. ध्यान रहे कि व्याख्याकारों के अनुसार वीची बड़ी लहर को कहते हैं तथा तरङ्ग छोटी लहर को। स्पष्ट है कि प्रथम लहर बड़ी होती है तथा उसके आघातजन्य परिणामस्वरूप उठने वाली लहरें छोटी होती हैं।
30. भाषापरिच्छेद, 165-166.
31. वेदान्तीमहादेवकृत सांख्यसूत्र (5.103) की व्याख्या।
32. न्या. मं. पृ. 214; 228; स्फोटचन्द्रिका, पृ. 5.
33. प. ल. म. स्फोटनिरूपण, पृ. 87.
34. महा. भा. 1 सू. 1.4.109, पृ. 356 – ''एकैकवर्णवर्तिनी वाक् न द्वौ युगपद् उच्चारयति। गौरिति गकारे यावद् वाग् वर्तते न तावद् औकारे न विसर्जनीये। यावद् औकारे न तावद् गकारे विसर्जनीये च। यावद् विसर्जनीये न तावद् गकारे औकारे च, उच्चरितप्रध्वंसित्वात्। उच्चरितप्रध्वंसिनो वर्णाः''।
35. द्र. पृ. 62.
36. द्र. पृ. 621.
37. द्र. पृ. 368.
38. द्र. पृ. 622.
39. द्र. पृ. 48.
40. द्र. पृ. 458; 460.
41. द्र. पृ. 177.
42. महा. भा. 1, अइउण् सूत्र, पृ. 17.
43. वही. पृ. 18.
44. वही. पृ. 16-17.
45. पा. 6.1.87.
46. पा. 3.2.2.
47. महा. भा. 1., सू. 1.1.20 पृ. 76 ''अनैमित्तिको ह्यनुबन्धलोपस्तावत्येव भवति।''
48. वही. अइउण् सूत्र, पृ. 18.
49. महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.3.9, पृ. 214.
50. महा. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र, पृ. 18.
51. वा. प. 1.73

"पदभेदेऽपि वर्णानामेकत्वं न निवर्तते।
वाक्येषु पदमेकं च भिन्नेष्वप्युपलभ्यते॥"

52. महा. भा. 1 सू. 1.2.64 पृ. 243; भा. 2 सू. 3.2.123 पृ. 124; सू. 4.1.3 पृ. 197; महा. प्र. भा. 2 सू. 1.2.64 पृ. 147; प. मं. (का. भा. 3 सू. 4.1.63 पृ. 367); स्फोट-चन्द्रिका पृ. 8.
53. महा. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र, पृ. 19.
54. तुलना करो, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका सं. 168 - "तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपिदर्शनात्"।
55. महा. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र, पृ. 18.
56. पा. 3.2.1.
57. महा. प्र. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र. पृ. 63; सू. 1.1.20 पृ. 243; प. मं. (का. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र पृ. 24); श. कौ. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र. पृ. 35, 36; महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 413. ध्यातव्य है कि यहां प्रदीपकार तथा पदमञ्जरीकार ने "इह शिखी भव" के स्थान पर "इह नग्नो भव" और "इह तूष्णीको भव" ऐसा स्वल्प परिवर्तन भी किया है।
58. महा. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र, पृ. 16-17.
59. पा. 6.4.94. द्र. प्रकृत ग्रन्थ पृ. 135.
60. पा. 6.1.168.
61. तुलना करो :
(क) "दत्तमेकधा सहस्रगुणमुपलभ्यते"।
(ख) वा. प. 1.82.
"यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति।
प्रत्यावृत्ति न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते"॥
62. का. भा. 5 सू. 6.4.96 पृ. 449; न्यास . (का. भा. 5 सू. 6.4.96 पृ. 449); महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.57 पृ. 426; भा. 5 सू. 8.1.1 पृ. 289; श. कौ. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र. पृ. 35; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 2 सू. 2110 पृ. 651-52; भा. 3 सू. 2161 पृ. 13); बृ. श. र. सू. 1.2.64 पृ. 295; महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 2.1.1 पृ. 756; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 184 पृ. 360.
63. महा. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र पृ. 17.
64. पा. 4.4.7.
65. महा. भा. 1 सू. 1.1.7 पृ. 59.
66. द्र. वही. सू. 1.1.7 पृ. 59 - "ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः - अस्त्येव शालासमुदाये वर्तते। तद् यथा - ग्रामो दग्ध इति। अस्ति वाटपरिक्षेपे वर्तते। तद् यथा - ग्रामं प्रविष्ट इति।

अस्ति मनुष्येषु वर्तते। तद् यथा - ग्रामो गतो ग्राम आगत इति। अस्ति सारण्यके, ससीमके, सस्थण्डलिके वर्तते। तद् यथा - ग्रामो लब्ध इति। तद् यः सारण्यके, ससीमके, सस्थण्डलिके वर्तते तमभिसमीक्ष्यैतत्प्रयुजयते-अनन्तराविमौ ग्रामाविति"। इस सन्दर्भ की विस्तृत व्याख्या प्रकृत ग्रन्थ के पृ. 620 पर देखें।
67. महा. प्र. भा. 4 सू. 6.4.19 पृ. 682; प.मं. (का. भा. 5 सू. 6.4.19 पृ. 360).
68. द्र. पृ. 171; 172; 207.
69. न्यास (का. भा. 1 सू. 1.1.7 पृ. 89).
70. सर्वदर्शनसंग्रह, अक्षपाददर्शन पृ. 98; भामती सू. 3.4.20; न्या. वा. ता. टी. पृ. 72; 90; न्यायमकरन्द टीका पृ. 201; 215 इत्यादि।
71. महा. प्र. भा. 5 सू. 7.1.7 पृ. 60.
72. पा. 1.4.95.
73. पा. 1.4.1 "आकडारादेकासंज्ञा"।
74. महा. भा. 1 सू. 1.1.15 पृ. 71.
75. पा. 2.4.77.
76. पा. 6.1.45.
77. परि. सं. 106.
78. महा. भा. 1 सू. 1.1.21 पृ. 77.
79. तुलना करो, परि. सं. 30, 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्'।
80. 'अमुख्ये मुख्यव्यवहारो व्यपदेशिवद्भावः'।
81. ग्राम शब्द की सोदाहरण बह्वर्थता के विषय में प्रस्तुत ग्रन्थ का पृ. 620 देखें।
82. द्र. महा. भा. 1 सू. 1.1.21 पृ. 76 'सत्यन्यस्मिन् यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते। सत्यन्यस्मिन् यस्मात्परं नास्ति पूर्वमस्ति सोऽन्त इत्युच्यते।'
83. वही. पृ. 77. भाष्यवार्तिककार ने कहा भी है- "अपूर्वानुत्तरलक्षणत्वादाद्यन्तयोः सिद्धमेकस्मिन्। अपूर्वलक्षण आदिः। अनुत्तरलक्षणोऽन्तः। एतच्चैकस्मिन्नपि भवति"।
84. पा. 6.1.1.
85. पा. 7.3.102.
86. प्रकृत सूत्र के प्रत्याख्यान के विशेष अध्ययनार्थ द्र. - पा. म. प्र. सू. पृ. 308-14.
87. (क) महा. प्र. भा. 4 सू. 6.1.1 पृ. 282; प. मं. (का. भा. 4 सू. 6.1.1 पृ. 438); श. कौ. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 147; बृ. श. शे. भा. 2 सू. 1091 पृ. 1240; भा. 3 सू. 2175 पृ. 1598.
(ख) भर्तृहरि ने उक्त व्यपदेशिवद्भाव को निम्न प्रकार से व्याख्यात किया है जोकि द्रष्टव्य है-
"व्यदेशिवदेकस्मिन् बुद्ध्या नानार्थकल्पना।
तया कल्पितभेदः सन्नर्थात्मा व्यपदिश्यते"॥

"प्रयोगभेदाद् धातूनां प्रकल्प्य बहुरूपताम्।

भेदाभेदावुपादाय क्वचिदेकात्त्वमुच्यते"॥ (वा. प. 3.14. 16; 18)

88. न्यास (का. भा. 1 सू. 1.1.68 पृ. 239).
89. (क) न्यास. (का. भा. 6 सू. 8.2.32 पृ. 397); महा. प्र. भा. 4 सू. 6.1.45 पृ. 351; श. कौ. भा. 1 पस्पशा. पृ. 28; महा. प्र. उ. भा. 4 सू. 6.3.5 पृ. 586; भा. 5 सू. 8. 2.32 पृ. 392; बृ. श. शे. भा. 2 सू. 552 पृ. 788; सू. 606 पृ. 915; सू. 1205 पृ. 1295.
(ख) सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाक दर्शन, पृ. 2; शाङ्कर दर्शन पृ. 151.
90. प. मं. (का.भा. 4 सू. 6.1.1 पृ. 438).
91. तुलना करो, महा. भा. 1 अ इ उ ण् सूत्र, पृ. 17 - "तद् यथा लोके ऋषिसहस्रमेकां कपिलामेकैकशः सहस्रकृत्वो दत्त्वा तया सर्वे ते सहस्रदक्षिणाः सम्पन्नाः।"
92. परि. सं. 30.
93. न्यास. (का. भा. 5 सू. 6.3.6 पृ. 199; भा. 6 सू. 8.2.32 पृ. 396); महा. प्र. भा. 4 सू. 6.1.1 पृ. 282; महा. प्र. उ. भा. 5 सू. 8.2 32 पृ. 392. इस सन्दर्भ में विशेष अध्ययन के लिए अतिदेश न्याय (पृ. 107) भी देखा जा सकता है।
94. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.2.45 पृ. 338).
95. तुलना करो, मीमांसाश्लोकवार्तिक, चोदना सूत्र सं. 6-

"अत्यन्तासत्यप्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि।

तेनोत्सर्गे स्थिते तस्य दोषाभावात् प्रमाणता"॥

96. तुलना करो, सुभाषितरत्नभाण्डागार, अद्भुतरसनिर्देश, श्लोक 4-

"एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।

कूर्मक्षीरचये (मृगतृष्णाम्भसि) स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः॥"

97. योगदर्शन, 1.9.
98. (क) महा. प्र. भा. 3 सू. 3.1.2 पृ. 15; सू. 4.1.3 पृ. 444, भा. 4 सू. 5.2.94 पृ. 148; श. कौ. भा. 2 सू. 2.1.6 पृ. 163; प. ल. म. शक्तिनिरूपण पृ. 37;
(ख) सर्वदर्शनसंग्रह, अक्षपाददर्शन पृ. 97; सांख्यदर्शन पृ. 119.
99. प्रौ. म. सू. 2631 पृ. 649; प. ल. म. आकाङ्क्षादिविचार, पृ. 118.
100. महा. भा. 1 सू. 1.1.44 पृ. 102.
101. वही. सू. 1.1.49 पृ. 112. यह न्याय महा. भा. 1 सू. 1.3.2 पृ. 260 पर भी उद्धृत हुआ है।
102. पा. 6.4.89;34.
103. द्र. वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, नामार्थनिरूपण, पृ. 116 - "सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्"।

104. महा. भा. 1 सू. 1.1.51 पृ. 127.
105. प्रस्तुत प्रसङ्ग में लोक में इतना विशेष है कि वहां ऐसी मर्यादा या व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है कि पिता के घर में तो बालक पिता के प्रधान होने से उसके नाम से प्रसिद्ध होता है तथा मामा आदि माता के घर में वह माता के प्रधान होने से उसके नाम से परिचित कराया जाता है अर्थात् यह बालक अमुक लड़की का लड़का है– इस प्रकार परिचित कराया जाता है।
106. महा. भा. 1 सू. 1.1.57 पृ. 148.
107. पा. 7.3.1.
108. पा. 6.1.88.
109. पा. 7.1.70.
110. पा. 7.1.98.
111. पा. 6.1.87.
112. पा. 6.4.130.
113. पा. 6.4.132.
114. का. भा. 4 सू. 6.1.111 पृ. 584; भा. 5 सू. 8.3.41 पृ. 457; न्यास. (का. भा. 1 सू. 1.1.51 पृ. 179); महा. प्र. भा. 4 सू. 6.1.85 पृ. 404; प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.51 पृ. 178; भा. 4 सू. 6.1.85 पृ. 549; भा. 6 सू. 8.3.41 पृ. 524); लौ. न्या. र. पृ. 26, 39.
115. महा. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 133.
116. पा. 2.4.52.
117. का. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 186 - "धात्वङ्गकृत्तद्धिताव्ययसुप्तिङ्पदादेशाः प्रयोजनम्"।
118. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 182-83).
119. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.56, पृ. 402; भा. 5 सू. 7.1.37 पृ. 43; महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.5 पृ. 170; सू. 1.1.56 पृ. 401; 402.
120. महा. भा. 1 सू. 1.1.56, पृ. 133.
121. का. भा. 1 सू. 1.2.57 पृ. 364 - "यश्चार्थो लोकतः सिद्धः किं तत्र शास्त्रीयेण यत्नेन"।
122. पा. 1.3.28.
123. महा. भा. 1 सू. 1.1.56, पृ. 134.
124. परि. सं. 101.3
125. तुलना करो, वा. प. 1.63 -

"सामान्यमाश्रितं यद्यदुपमानोपमेययोः।

तस्य तस्योपमानेषु धर्मोऽन्यो व्यतिरिच्यते॥"

126. पा. 7.2.35.
127. महा. भा. 1 सू. 1.1.20 पृ. 76 - "अनैमित्तिको ह्यनुबन्धलोपस्तावत्येव भवति"।
128. पा. 7.2.37.
129. पा. 8. 2. 28.
130. महा. प्र. भा. 2 सू. 1.2.1 पृ. 6; 2.3.35 पृ. 774, प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.56, पृ. 190; 193; भा. 5 सू. 6.3.68 पृ. 237); श. कौ. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 208; महा. प्र. उ. भा. 4 सू. 6.4.22 पृ. 687.
131. श. कौ. भा. 2 सू. 3.1.36 पृ. 344.
132. महा. भा. 1 सू. 1.1.56, पृ. 135-36.
133. पा. 7.2.76.
134. महा. भा. 3 सू. 6.3.68 पृ. 166; प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 186).
135. महा. प्र. भा. 5 सू. 8.1.72 पृ. 350.
136. पा. 8.1.55.
137. महा. भा. 1 सू. 1.1.56, पृ. 137.
138. तुलना करो, गीता, 2.16

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥"

139. तुलना करो, महा. भा. 1 सू. 1.1.20, पृ. 75 "शब्दान्तरैरिह भवितव्यम्। तत्र शब्दान्तराच्छब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता। आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्त्यनागमकानां सागमकाः। तत्कथम्?

सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥"

140. पा. 2.4.52.
141. महा. भा. 1 सू. 1.1.56, पृ. 137.
142. तुलना करो, वा. प. 2. 238-

"उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥"

143. पा. 6.1.63- 'पद्दन्नोमास् हन्निशसन् यूषन् दोषन्'.
144. पा. 7.2.101 "जराया जरसन्यतरस्याम्"
145. पा. 2.4.52 'अस्तेर्भूः'
146. पा. 2.4.53 "ब्रुवो वचिः"
147. पा. 2.4.54 "चक्षिङः ख्याञ्"

148. पा. 2.4.41 "वेञो वयिः"
149. पा. 2.4.56 "अजेर्व्यघञपोः"
150. पा. 2.4.37 "लुङ्सनोर्घस्लृ"
151. बृ. श. शे. भा. 1 सू. 54, पृ. 169.
152. महा. भा. 1 सू. 1.1.57 पृ. 147.
153. पा. 1.3.58-59.
154. पा. 1.3.60-61.
155. महा. भा. 2 सू. 4.1.90, पृ. 244.
156. पा. 4.2.92.
157. पा. 4.2.114.
158. महा. भा. 3 सू. 7.1.74, पृ. 267.
159. पा. 1.2.47.
160. पा. 7.1.73.
161. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.57, पृ. 202-3).
162. वही.
163. वा. प. 3.3.60-61.
164. महा. भा. 2 सू. 4.3.84, पृ. 313.
165. यह "नियतविषयाः शब्दा दृश्यन्ते" न्याय से अवश्य तुलनीय है।
166. पा. 1.4.52 "गतिबुद्धि-प्रत्यवसान"।
167. वा. प. 2. 178-79.
168. न्यास. (का. भा. 3 सू. 4.3.84 पृ. 674); महा. प्र. भा. 3 सू. 4.3.84, पृ. 712; प. मं. (का. भा. 3 सू. 4.3.84, पृ. 674); श. कौ. भा. 1 सू. 1.1.56, पृ. 206; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 2 सू. 1464, पृ. 427).
169. महा. भा. 3 सू. 6.1.2, पृ. 7-8.
170. पा. 7.4.60.
171. महा. भा. 3 सू. 6.3.109, पृ. 174.
172. द्र. बोधायन धर्मसूत्र... 1.2.10- "प्रागदर्शनात् प्रत्यक्कालकवनात् दक्षिणेन हिमवन्तं उदक् पारियात्रमेतदार्यावर्तं तस्मिन् य आचारः स प्रमाणम्"।
173. द्र. मनु. 2.21-

"हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः॥"

174. पा. 2.4.10.
175. महा. भा. 3 सू. 7.3.14, पृ. 320.

176. पा. 2.4.7.
177. पा. 2.4.7 पर वार्तिक
178. पा. 4.2.109; 117; 6.2.103.
179. महा. भा. 3 सू. 7.3.14, पृ. 321.
180. इस विषय में विशेष अध्ययनार्थ देखें, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, अध्याय 2, परिच्छेद 5, पृ. 73; पतञ्जलिकालीन भारतवर्ष, अध्याय 7, पृ. 185. ग्राम और नगर सम्बन्धी यह चर्चा पा. 2.4.10 सूत्रभाष्य में भी देखी जा सकती है (द्र. प्रकृत ग्रन्थ, पृ. 85).
181. द्र. पृ. 289.
182. द्र. पृ. 200.
183. द्र. पृ. 620.
184. द्र. पृ. 111.
185. द्र. पृ. 325.
186. द्र. पृ. 153.
187. द्र. पृ. 632.
188. द्र. पृ. 154.
189. द्र. पृ. 452.
190. द्र. पृ. 548.
191. द्र. पृ. 638; 639.
192. द्र. पृ. 112.
193. द्र. पृ. 464.
194. द्र. पृ. 135.
195. द्र. पृ. 99.
196. द्र. पृ. 295.

तृतीय उद्योत

सामाजिक न्याय

क (1) समाजसंगठनसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिरपि शब्द उच्यते न्याय

"अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद् यथा- शब्दं कुरु। मा शब्दं कार्षीः। शब्दकार्ययं माणवकः इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते"।[1]

यहां पर भाष्यकार 'शब्द' का मुख्य या वास्तविक और वैयाकरणसम्मत लक्षण तो पहले "येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः"[2] इत्यादि शब्दों से कह चुके हैं अर्थात् प्रदीपकार के अनुसार पदस्फोट या वाक्यस्फोट के रूप में जो अर्थ का वाचक, बोधक या प्रत्यायक है, वह 'शब्द' है। इसके अनन्तर अब 'अथवा' कहकर लोकन्याय का आश्रयण करते हुए 'शब्द' का यह दूसरा व्यावहारिक लक्षण करते हैं कि जिसका लोक में प्रसिद्ध अर्थ है, वह ध्वनि या आवाज भी शब्द होता है। क्योंकि ध्वनि के सम्बन्ध में ही कहा जाता है- "शब्द कर। शब्द न कर। यह बालक शब्द करने वाला है" इत्यादि। इस प्रकार 'ध्वनि' के अर्थ में भी 'शब्द' शब्द का प्रयोग लोक में होता है। ध्यातव्य है कि भाष्यकार के उक्त कथन से 'ध्वनि' और 'स्फोट' ये दो 'शब्द' के लक्षण सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु उनमें 'स्फोट' व्यङ्ग्य है, नित्य है, और अर्थबोधक है जबकि 'ध्वनि' 'स्फोट' का व्यञ्जक है, अनित्य है और अर्थप्रत्यायन के सामर्थ्य से रहित है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भाष्यकार अपने शास्त्रीय सिद्धान्त के साथ-साथ लोकप्रसिद्ध व्यवहार का भी परित्याग नहीं करते। शब्द के इन दोनों भेदों के विषय में कुछ और जानने के लिए "तपरस्तत्कालस्य"[3] सूत्र का भाष्य भी देखा जा सकता है।

2. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः न्याय/त्रयो च शब्दानां प्रवृत्तिः न्याय

"चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः - जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रिया शब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः .... त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः - जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः"।[4]

"ऋलृक्" सूत्रभाष्य में भाष्यकार यह न्याय प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि लोक में चार प्रकार के शब्दों की प्रवृत्ति देखी जाती है। सर्वप्रथम कुछ जाति वाचक शब्द,

जैसे- गौः, अश्वः, पुरुषः इत्यादि । इन गौ आदि व्यक्तियों में गोत्व आदि जाति समाविष्ट है। इसलिए ये शब्द द्रव्योपसर्जन जातिवाचक हैं। गुणवाचक शब्द, जैसे- शुक्लः, नीलः, कृष्णः आदि। शुक्लतादि गुणों के वाचक होने के कारण ये शब्द गुणवाचक हैं। क्रियावाचक शब्द, जैसे- पाचकः, पाठकः, अध्यापकः, लेखकः आदि। पकाना, पढ़ाना, लिखना आदि क्रियाओं के वाचक होने से ये शब्द क्रियावाचक हैं। यदृच्छाशब्द वे कहलाते हैं जो बिना किसी गुण, क्रिया आदि सम्बन्ध के मनुष्य के द्वारा अपनी मनमानी इच्छा से प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे- डित्थ, डवित्थ, लृफिड, कैयट, जैयट, उव्वट, लोल्लट आदि। केवल स्वेच्छा से रखे हुए ये नाम यदृच्छा शब्द कहलाते हैं। क्योंकि इन डित्थ आदि शब्दों से किसी गुण, क्रिया आदि यौगिक गुणों या धर्मों का भान नहीं होता। इस प्रकार लोक में उक्त चार प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते हैं।[5] लोक में यदृच्छा शब्द भी होते हैं– इसको सिद्ध करने के लिए प्रदीपकार भी भाष्योक्त यर्वाण-तर्वाण शब्दों को ही उदाहरण बनाकर आहोपुरुषिका न्याय को प्रस्तुत करते हैं-

3. आहोपुरुषिका न्याय / यर्वाणतर्वाण न्याय

आहोपुरुषिकामात्रमिति - अहो अहं पुरुष इति यस्याभिमानः सोऽहोपुरुष उच्यते। यथा यर्वाणस्तर्वाणो नामर्षयो बभूवुरित्युक्तम् तस्य भावो मनोज्ञादित्वादुञ्।"[6]

यह न्याय प्रदीपकार ने भाष्य में "वस्वेकाजाद्घसाम्" सूत्र की व्याख्या में कहा है। इस न्याय से यह सूचित होता है कि जहां जाति, गुण और क्रिया के वाचक शब्द होते हैं, वहां चौथे प्रकार के यदृच्छा शब्द भी होते हैं। यदृच्छा शब्दों में कोई जाति, गुण या क्रिया का विशिष्ट अर्थ नहीं होता अर्थात् किसी यौगिक अर्थ का बोध नहीं होता अपितु जिसका वह नाम है, उसी का वे शब्द बोध कराते हैं। तदनुसार यदृच्छा शब्दों में यह नहीं देखा जाता कि किस गुण, क्रिया या विशेषता के आधार पर यर्वाण या तर्वाण नाम रखे गए। भाष्यकार ने भी "अथ शब्दानुशासनम्" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में स्वयं लिखा है कि ये यर्वाण और तर्वाण नाम के कतिपय ऋषि हुए। वे सदा साधु शब्दों का प्रयोग करते थे और यज्ञों में भी वेदमन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करते थे। साथ ही कर्मकाण्ड की प्रक्रिया को भी भलीभांति निभाते थे। किन्तु सामान्य व्यावहारिक अवस्था में जब कोई उनसे उनका नाम पूछता था तो वे यद्वान् तथा तद्वान् ऐसा शुद्ध शब्द प्रयोग करने के स्थान पर अपनी मौज में, आहोपुरुषिकामात्र में, हास-परिहास में कह देते थे कि हमारा नाम यर्वाण या तर्वाण है। यर्वाण तथा तर्वाण शब्दों का कुछ अर्थ नहीं है अपितु यद्वान् तथा तद्वान् ही सार्थक शब्द हैं। इनका तो कुछ अर्थ निकलता भी है। यर्वाण तथा तर्वाण तो केवल यदृच्छा शब्द हैं।[7] इसी प्रकार कैयट, जैयट, उव्वट, लोल्लट, मम्मट इत्यादि अनेक शब्द हैं जो कि यर्वाण-तर्वाण न्याय से संगृहीत हो जाते हैं अर्थात् आहोपुरुषिकामात्र या यदृच्छाभाव के प्रदर्शन के लिए यर्वाण-तर्वाण न्याय का प्रयोग होता है। अन्यत्र भी यह न्याय प्रयुक्त हुआ

है।[8] यादृच्छिक प्रयोग के रूप में प्रियतद्धिता दक्षिणात्याः न्याय को उपन्यस्त करते हुए नागेश भी कहते हैं-

4. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः न्याय

"आर्धधातुकसंज्ञायां संज्ञित्वेन भवानार्धधातुकीयानित्यर्थः। आर्धधातुक इति वदार्धधातुकानिति वक्तव्ये आर्धधातुकीयानित्युक्तिः प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या इति न्यायेन बोध्यम्"।[9]

यह शास्त्रीय न्याय भी यादृच्छिक प्रयोग होने से न्यायों में सम्मिलित कर लिया गया है। "सार्वधातुकमपित्" सूत्र के भाष्य में इसे उद्द्योतकार ने भाष्यकार द्वारा प्रयुक्त "आर्धधातुकीयाः" इस शब्द की व्याख्या के प्रसङ्ग में उद्धृत किया है। वे लिखते हैं कि "आर्धधातुकान्" ऐसा न कहकर जो भाष्यकार ने "आर्धधातुकीयान्" ऐसा कहा है, वह उनके द्वारा अपने "प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः" इस न्याय के अनुसार कहा गया जानना चाहिए। एक प्रकार से नागेश ने इसको न्याय ही मान लिया है कि दक्षिण के लोगों को तद्धित के प्रयोग बहुत प्रिय थे। तभी तो वे "आर्धधातुक" की जगह "आर्धधातुकीय" में तद्धित 'छ' प्रत्यय का प्रयोग करते हैं। अन्यत्र भी भाष्यकार ने दाक्षिणात्यों के लिए इस न्याय का प्रयोग किया है, जैसे- "अथ शब्दानुशासनम्" इस सूत्र के भाष्य में वार्तिककार ने "यथा लौकिकवैदिकेषु" यह वार्तिक बनाया है। इसमें लोक-वेद शब्दों के स्थान में उन्होंने लौकिक-वैदिक इन तद्धितान्त शब्दों का प्रयोग किया है जिस पर भाष्यकार लिखते हैं- "प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते।" इससे व्याख्याकारों के अनुसार ज्ञात होता है कि उक्त वार्तिक बनाने वाले कात्यायन भी दाक्षिणात्य ही थे। क्योंकि इसमें दाक्षिणात्यों को ही तद्धित प्रयोगों का प्रिय बताया गया है।[10] परन्तु यह तो भगवान ही जाने कि तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग दाक्षिणात्य को ही अधिक प्रिय था या औरों को भी।[11] हम तो समझते हैं कि शब्दसौष्ठव के लिए तद्धित प्रत्ययों का यादृच्छिक प्रयोग कुछ लोग कर ही देते हैं। भाष्यकार ने भी तो "सार्वधातुकमपित्[12]" आदि सूत्रों के भाष्य में "आर्धधातुक" शब्द के स्थान पर "आर्धधातुकीय" इस तद्धित प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग किया ही है। इस न्याय का प्रयोग अन्यत्र स्वल्प ही है।[13]

अब भाष्यकार शास्त्र को प्रधानता देते हुए[14] अपनी तरफ से लोकव्यवहार में कुछ संशोधन करते हुए आगे कहते हैं कि शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार की न मानकर केवल तीन प्रकार की ही माननी चाहिए। क्योंकि मुख्य रूप से जातिशब्द, गुणशब्द और क्रियाशब्द ये तीन ही शब्द प्रयोग में आते हैं। चौथा यदृच्छा शब्द नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए। क्योंकि जो भी नाम आदि लोक में रखे जाएं, वे सब न्याय्य होने चाहिएं।[15] न्याय्य का अर्थ है - प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न तथा किसी गुण, क्रिया आदि से सम्बद्ध होना। अपनी इच्छा या मनमर्जी से रखे हुए नाम जिनमें कोई गुण आदि अर्थ अन्वित नहीं होता, वे नहीं रखने चाहिएं।

इस प्रकार यदृच्छाशब्दों को न मानने पर उनके लिए "ऋलृक्" सूत्र में लृकार का उपदेश करना व्यर्थ हो जाता है। इस विषय में भाष्यकार तथा वार्तिककार दोनों ही सहमत हैं कि यदृच्छाशब्दों का बहिष्कार ही होना चाहिए। फिर भी लोक में जो यदृच्छाशब्दों का प्रचुर प्रयोग दीखता है, उसमें सुधार आवश्यक है। और भाष्यवार्तिककार के अनुसार उसका अभ्युपाय यह है कि उन यदृच्छाशब्दों को यथाकथञ्चित् प्रकृति-प्रत्यय के योग से सम्बद्ध बनाकर संस्कृत भाषा में प्रयुक्त करना चाहिए। फलतः 'लृफिड' की जगह 'ऋफिड' की कल्पना कर लेनी चाहिए। क्योंकि लोक में 'ऋ' धातु का प्रयोग प्रसिद्ध है। अतः उसी से औणादिक 'फिड' प्रत्यय करके 'ऋफिड' यह प्रयोग बन जाएगा[16] और वह अन्वितार्थ भी होगा। इसके विपरीत 'लृफिड' का कोई अर्थ नहीं है। ऐसे ही व्यर्थ अपनी मनमानी से रखे शब्दों को न मानना ही न्याय्य है। इस प्रकार भाष्यकार ने लोक में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की प्रवृत्ति में संशोधनमात्र करके दिखाया है। लोकव्यवहार का सर्वथा निराकरण नहीं किया है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[17] यदृच्छाशब्दों के प्रसङ्ग में अगला लोकन्याय भी दर्शनीय है।

5. शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति न्याय

"समाने चार्थे शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति। तद् यथा- देवदत्त-शब्दो देवदिण्णशब्दं निवर्तयति न गाव्यादीन्"।[18]

लोकव्यवहार भी बहुविध है और विवादास्पद है। यहां लोकव्यवहारवादी "ऋलृक्" सूत्रभाष्य में यह शङ्का करता है कि समान विषय में ही लोक में बाध्यबाधकभाव होता है। तदनुसार समान विषय या तुल्य प्रवृत्तिनिमित्तक शब्द में ही शास्त्रान्वित अर्थात् शास्त्र से अनुमोदित, बोधित साधु शब्द अशास्त्रान्वित अर्थात् जो शास्त्र से अनुमोदित, बोधित नहीं है, इसलिए असाधु शब्द है, उसका निवर्तक होता है। जैसे 'देवदत्त' यह साधु शब्द 'देवदिण्ण' इस असाधु शब्द का निवर्तक है। क्योंकि दोनों का समान विषय है। 'गावी', 'गोणी' आदि असाधु शब्दों का वह निवर्तक नहीं है। क्योंकि वह उसका समानविषय नहीं है। 'गावी' आदि अपशब्दों का समान विषय तो 'गो' शब्द है। अतः 'गो' शब्द से जैसे उसके समान विषय गावी आदि अपशब्दों का निवृत्ति होती है, भिन्नार्थ डित्थादि की नहीं, ऐसे ही 'देवदत्त' शब्द से उसके समान विषय 'देवदिण्ण' इस अपशब्द की ही निवृत्ति होती है, भिन्नार्थ शब्द की नहीं।

यहां शङ्का करने वाले लौकिक मनुष्य का यह आशय है कि हमने तो 'लृफिड' इस यदृच्छाशब्द को अव्युत्पन्न मानकर इसका अन्वाख्यान किया है और आप व्युत्पत्ति पक्ष का आश्रयण करके 'लृफिड' शब्द में व्युत्पत्ति ढूंढना चाहते है और इसके अभाव में इसका प्रत्याख्यान करते हैं। इस तरह हम दोनों का विषय समान नहीं है। हमारे समान आप भी अव्युत्पत्तिपक्ष को लेकर ही 'लृफिड' का प्रत्याख्यान करें तो हम आपकी बात मानें। किन्तु ऐसा संभव नहीं है। उस अवस्था में लृकार का प्रत्याख्यान नहीं किया

जा सकता।[19] इस शङ्का का समाधान भाष्यकार दूसरे लोकन्याय से उपस्थित करते हैं जोकि आगे द्रष्टव्य है।

6. "पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति"।[20]

"चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" को मानकर तो "ऋलक्" सूत्र में लृकारोपदेश को स्थापित किया था और बाद में "न सन्ति यदृच्छाशब्दाः" कहकर भाष्यकार ने उसका प्रत्याख्यान कर दिया। इस सैद्धान्तिक पूर्वापर विरोध को दूर करने के लिए भाष्यकार अपने **ब्रह्मास्त्ररूप प्रसिद्ध** न्याय को उपस्थित करते हुए कहते हैं कि समान विषय का परित्याग करके विरुद्ध पक्ष के आश्रयण से भी समाधान किए जाते हैं। इसलिए व्युत्पत्ति पक्ष का आश्रयण करके 'लृफिड' आदि यदृच्छा शब्दों का प्रत्याख्यान किया जा सकता है। न केवल यहीं नहीं अपितु अन्यत्र भी **पक्षान्तर का अवलम्बन करके परिहार किया गया है**, जैसे "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ"[21] इस एकशेषविधायक सूत्र का व्यक्तिपक्ष को लेकर आरम्भ है किन्तु जातिपक्ष को लेकर इसी का खण्डन कर दिया गया है। यहां यह नहीं कहा जा सकता कि जब व्यक्तिपक्ष को लेकर उक्त सूत्र का आरम्भ है तो व्यक्तिपक्ष को लेकर ही उसका खण्डन होना चाहिए। यह कैसे हो सकता है? यदृच्छा शब्दों को स्वीकार कर लेने पर तो सूत्र का आरम्भ है अर्थात् 'ऋलृक्' सूत्र में लृकार का उपदेश किया गया है किन्तु इसके विरुद्ध यदृच्छाशब्दों की सत्ता न मानने पर लृकार का प्रत्याख्यान स्वतः सिद्ध हो जाता है। लोक में भी यह देखा गया है कि अपनी बात को सिद्ध करने के लिए जो भी पक्ष उपयुक्त प्रतीत हो यथावसर उसी का आश्रयण कर लिया जाता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि दूसरे पक्ष का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है अपितु आवश्यकता पड़ने पर उसे भी स्वीकार किया जा सकता है। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी पर्याप्त प्रयुक्त हुआ है।[22] इस विषय में अग्रिम न्याय भी अवलोकनीय है।

7. शिष्टानुकरण न्याय/अशिष्टाप्रतिषिद्ध न्याय/अविहितमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति न्याय

"लोके तावद् य एवमसौ ददाति, य एवमसौ यजते, य एवमसावधीत इति। तस्यानुकुर्वन् दद्याच्च, यजेच्चाधीयीत च सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते ...... अशिष्टाप्रतिषिद्धं य एवमसौ हिक्कति, य एवमसौ हसति, य एवमसौ कण्डूयति इति तस्यानुकुर्वन् हिक्केच्च, हसेच्च, कण्डूयेच्च नैव तद् दोषाय स्यान्नाभ्युदयाय। यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्ति, एवमसौ सुरां पिबति इति तस्यानुकुर्वन् ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबति सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्"।[23]

"ऋलृक्" सूत्र के भाष्य में लृकारोपदेश के दूसरे प्रयोजन अशक्तिजानुकरण का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं कि लोक में देखते हैं कि यह जो कोई दान देता है, यह जो यज्ञ करता है, यह जो पढ़ता है, उसका अनुकरण करता

हुआ यदि कोई दान दे, यज्ञ करे और पढ़े तो वह भी पुण्य को प्राप्त करता है। यहां दान, यज्ञ और अध्ययन ये तो विहित कर्म हैं। अतः इनका अनुकरण करने वाला तो वास्तव में **पुण्यभाक्** है। किन्तु अब जो कर्म न विहित हैं और न निषिद्ध हैं, उनके अनुकरण का उदाहरण देते हैं कि यह जो कोई हिचकी लेता है, यह जो हंसता है, यह जो खुजलाता है, उसका अनुकरण करता हुआ यदि कोई हिचकी ले, हंसे और खुजलाए तो वह **न पुण्यभाक्** होता है और **न पापभाक्**। किन्तु इसके विपरीत यह जो कोई ब्राह्मण की हत्या करता है, यह जो शराब पीता है, उसका अनुकरण करता हुआ यदि कोई ब्राह्मण की हत्या करे या शराब पी ले तो मैं समझता हूं कि वह भी पतित या पापी है।[24]

उपर्युक्त लोकन्याय में तीन प्रकार के अनुकरण बताए गए हैं- 1. विहित, 2. निषिद्ध, 3. न विहित न निषिद्ध। इनमें विहित कर्मों का अनुकरण तो अनुकार्य के समान साधु है, उत्तम है, पुण्य फल देने वाला है। जो कार्य अशिष्टाप्रतिषिद्ध अर्थात् न विहित हैं और न निषिद्ध हैं, जैसे हिचकी लेना आदि, उनका अनुकरण न पुण्य वाला है और न पाप वाला। किन्तु जो ब्राह्मणहत्या आदि सर्वथा निषिद्ध कर्म हैं, उनका अनुकरण तो अनुकार्य के समान निन्दनीय तथा पतित करने वाला है। इन दृष्टान्तों को देते हुए वार्तिककार का तात्पर्य यह है कि जब वृद्धा ब्राह्मणी की अशक्ति से 'ऋतक्' इस साधु शब्द के स्थान में 'लृतक' यह असाधु शब्द मुख से निकल गया तो उस असाधु शब्द का अनुकरण भी असाधु ही मानना चाहिए। यद्यपि अनुकरण करने वाले का स्वयं कोई दोष नहीं है, वह स्वयं तो शुद्ध बोल सकता है तो भी जिसका वह अनुकरण कर रहा है, वह अनुकार्य शब्द तो असाधु है। इसलिए अनुकार्य के असाधु होने से अनुकरण भी असाधु क्यों न माना जाए? जैसे ब्रह्महत्या करने वाले का अनुकरण करने वाला भी पापी है, वैसे ही असाधु शब्द का अनुकरण करने वाला भी पापभाक् है, ऐसा वार्तिककार कात्यायन का मन्तव्य है। इसके आधार पर 'ऋलृक्' सूत्र में लृकार का उपदेश अनुकरणार्थ करना व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि 'ब्राह्मण्य् लृतक इत्याह' यहां 'लृतक' यह असाधु शब्द का अनुकरण होने से असाधु ही है। सम्प्रति उक्त लोकन्याय के विरुद्ध भाष्यकार आगे दूसरा लोकन्याय उपस्थित करते हैं।

8. करणानुकरण न्याय

"विषम उपन्यासः। यश्चैवं हन्ति, यश्चानुहन्ति उभौ तौ हतः। यश्चापि पिबति, यश्चानुपिबति, उभौ तौ पिबतः। यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्ति, एवमसौ सुरां पिबति इति तस्यानुकुर्वन् स्नातानुलिप्तो माल्यगुणकण्ठः कदलीस्तम्भं छिन्द्यात् पयो वा पिबेत्, न स मन्ये पतितः स्यात्"।[25]

भाष्यकार कहते हैं कि उक्त लौकिक दृष्टान्त के आधार पर जो वार्तिककार ने अपना मन्तव्य दिया है, वह विवादास्पद है। यह ठीक है कि पहले जो पीता है

फिर उसका अनुसरण करके, जो पीछे पीता है, वे दोनों ही पीते हैं। अथवा जो पहले मारता है फिर उसका अनुसरण करके, जो पीछे मारता है, वे दोनों ही मारते हैं। किन्तु जो पहले ब्राह्मण की हत्या करता है या शराब पीता है, उसका अनुकरण करने वाला यदि कोई नहा-धोकर गले में शुद्ध सुगन्धित माला डालकर केले को या वृक्ष को काट डाले अर्थात् उसकी हत्या कर दे अथवा शराब की जगह दूध पी ले तो वह कैसे पतित हो सकता है? मैं नहीं समझता कि वह पतित हो सकता है। क्योंकि **अनुकरण, अनुकरण में भेद है**। पहले ने ब्रह्महत्या की। अनुकरण करने वाले ने केवल **हत्या का अनुकरण** किया, ब्रह्महत्या का नहीं। उसने ब्राह्मण की जगह कदलीवृक्ष का छेदन या हनन कर दिया। शराब की जगह दूध पी लिया। केवल **पानमात्र में अनुकरण** किया।

भाव यह है कि अनुकरण केवल '**अनुकरणं पश्चात्करणम्**' मात्र ही नहीं होता अपितु उसमें **क्रियासादृश्य** भी होना चाहिए। किन्तु लोक में दोनों तरह के अनुकरण देखते में आते हैं। इसलिए लोकन्याय को आधार बनाकर भाष्यकार कहते हैं कि अनुकार्य ब्राह्मणी के 'लृतक' इस प्रकार असाधु शब्द का उच्चारण करने पर भी उसका अनुकरण कैसे असाधु हो सकता है ? अनुकरण करने वाले ने स्वयं तो असाधु शब्द नहीं कहा। उसने तो केवल उस असाधु शब्द को बोलकर बताया मात्र है। ऐसी अवस्था में '**ब्राह्मण्य् लृतक इत्याह**' यह अनुकरण कदापि असाधु नहीं हो सकता। इसमें 'लृतक' का लृकार परे रहते 'यण्' करने के लिए "ऋलृक्" सूत्र में लृकार का उपदेश करना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार भाष्यकार के मत में **अनुकरणार्थ लृकारोपदेश** करना युक्तिसंगत तथा लोकन्याय सिद्ध है। इस प्रसङ्ग में अगला लोकन्याय भी पठनीय है।

9. न ह्यपशब्दपदार्थकःशब्दोऽपशब्दो भवति न्याय

"न चापशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम् - यो हि मन्यते अपशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवतीति, अपशब्द इत्येव तस्यापशब्दः स्यात्। न चैषोऽपशब्दः"।[26]

अपशब्द के अर्थ को बताने के लिए प्रयुक्त किया हुआ **शब्द अपशब्द नहीं होता**— यह बात अवश्य माननी भी चाहिए। यदि अपशब्द के अर्थ को प्रकट करने वाला शब्द भी अपशब्द माना जाए तब तो स्वयं **'अपशब्द'** यह शुद्ध शब्द भी अपशब्द हो जाएगा। क्योंकि वह अपशब्दों को बताता है जबकि वैसे यह शुद्ध शब्द है, अपशब्द नहीं। ब्राह्मणी के द्वारा बोले गए 'लृतक' इस अपशब्द को यदि इसी अपशब्द का अनुकरण करके (उसी रूप में) नहीं बताया जाएगा तो फिर यह पता कैसे चलेगा कि यह अनुकरण किस अपशब्द का है। अपशब्द को बताने के लिए अनुकरण में अपशब्द का उच्चारण 'नान्तरीयक' है, वह **अविनाभाव सम्बन्ध** से अनुकरण में अवश्य आएगा। किन्तु उसके आने मात्र से वह **अनुकरणवाक्य अपशब्द नहीं बन सकता**।

जैसे 'इसने झूठ बोला' यह कहते हुए मैं थोड़ा ही झूठ बोल रहा हूं। मैं तो उसके बोले हुए झूठ को सूचित कर रहा हूं। किन्तु बिना 'झूठ' शब्द का उच्चारण किए यह कैसे प्रतीत होगा कि इसने झूठ बोला। इस प्रकार इस दूसरे लोकन्याय से भाष्यकार ने लृकार के उपदेश को अनुकरणार्थ सार्थक सिद्ध कर दिया है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[27] इस विषय में अगला लोकन्याय भी दर्शनीय है।

10. सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लट्द्वानुकृष्यते (लट्द्वानुकर्षण) न्याय / गिरिमुत्पाट्य मूषिकोद्धता न्याय

"स एष सूत्रभेदेन लृकारोपदेशः प्लुत्याद्यर्थः सन् प्रत्याख्यायते सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लट्द्वानुकृष्यते"।[28]

वार्तिककारद्वारा प्रोक्त लृकारोपदेश के प्लुत्यादि प्रयोजनों के लिए वस्तुतः आवश्यक होते हुए भी जो सूत्रभेद करके उसका प्रत्याख्यान किया जा रहा है, इस पर तात्कालिक उनकी लोकभाषा में टिप्पणी करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह प्रत्याख्यानरूपलाघव तो बहुत बड़े बांस के वृक्ष पर चढ़कर उससे छोटा सा लट्टू खींचा जा रहा है[29] जो कि प्लुत, द्विर्वचनादि प्रयोजनों के होते हुए भी लृकार के उपदेश का खण्डन किया जा रहा है। लोक में इससे मिलता-जुलता एक बड़ा प्रसिद्ध न्याय है - "गिरिमुत्पाट्य मूषिकोद्धता न्याय"[30] अर्थात् खोदा पहाड़ निकली चुहिया। भाव यह है कि प्रयत्न बहुत अधिक किया किन्तु लाभ थोड़ा सा ही हुआ जबकि सभी मनुष्य थोड़े प्रयत्न से अधिक लाभ चाहते हैं।[31] यही भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में मुखसुख या प्रयत्नलाघव कहा जाता है। लेकिन यहां तो इससे उलटा ही हुआ। लोक में सभी तरह के न्याय हैं। भाष्यकार लोक के आधार पर अन्यत्र कहते हैं- "फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम्। न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः इति"।[32] यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[33]

11. अनुपदिष्टं सत् कथं शक्यं विज्ञातुम् न्याय / असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम् न्याय

"मात्राकालोऽत्र गम्यते। न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति। अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुम्। असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम्"।[34]

"एओङ्, ऐऔच्" सूत्रभाष्य में भाष्यकार प्रकृतन्याय का अवतरण करते हुए कहते हैं कि जिस चीज का उपदेश नहीं किया गया है, वह कैसे जानी जा सकती है और जो असत् है, अविद्यमान है, उसका प्रतिपादन कैसे हो सकता है? लोक में यह देखा जाता है कि जिस बात का उपदेश पुराने लोगों ने किया है उसे ही लोग मानते हैं तथा जो वस्तु है ही नहीं, उसे कोई नहीं मानता। 'शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र' आदि असत् वस्तुएं हैं। अतः उनकी सत्ता कोई स्वीकार नहीं करता। यथार्थ बात को ही सब लोग मानते हैं।

यहां इस लोकन्याय को दिखाने में भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि व्यञ्जन की मात्रिकता शास्त्र में कहीं उपदिष्ट नहीं की गई है। व्यञ्जन को तो अर्धमात्रिक ही माना जाता है। 'कुक्कुटः', 'पिप्पली', 'पित्तम्' यहां क्रमशः दो ककार, पकार और तकारों का संयोग होने से यद्यपि मात्राकाल की प्रतीति अवश्य होती है। किन्तु एक व्यञ्जन में मात्राकाल के प्रत्यायन की शक्ति नहीं है। क्योंकि वह अर्धमात्रिक ही होता है। वर्णैकदेशवादी तुल्यरूपवाले दो वर्णों के संयोग को एक ही वर्ण मानता है। उसके मत में 'कुक्कुटः' इत्यादि में एक ही ककारादि वर्ण है। किन्तु मात्राकाल की प्रतीति को वह भी अन्यथासिद्ध नहीं कर सकता। इसलिए अगत्या, विवश या लाचार होकर उसे भी यहां दो ही ककारादि वर्ण मानने होंगे। अन्यथा एक वर्ण मानने पर कदापि मात्राकाल नहीं प्रतीत होगा। क्योंकि व्यञ्जन को मात्रिक किसी ने नहीं माना है और मात्रा की प्रतीति हो रही है, इसलिए वह भी दो व्यञ्जनों की सत्ता का अपलाप नहीं कर सकता।

भाव यह है कि जब व्यञ्जन एकमात्रिक है ही नहीं तो उसे कैसे माना जा सकता है? दो व्यंजन तो एक मात्रा की प्रतीति मिलकर कर देते हैं। इसलिए यहां दो ही व्यञ्जन स्वीकार किए जाते हैं। अपनी मनमानी नहीं चलेगी अपितु जो शास्त्र कहेगा वही माना जाएगा।[35] इसी आशय से भाष्यकार ने उक्त न्याय का निर्देश किया है। सत् के विषय में ही विचार हो सकता है, असत् के विषय में नहीं - इसको लेकर अग्रिम न्याय प्रस्तुत है-

12. सता ह्यभिसम्बन्धः शक्यते कर्तुम् न्याय

"सता ह्यभिसम्बन्धः शक्यते कर्तुम्। न चात्र ङकारककारावितौ पश्यामः। तद् यथा- चित्रगुर्देवदत्तः इति यस्य ता गावो भवन्ति स एव ताभिः शक्यतेऽभिसम्बन्द्धुम्"।[36]

"गाङ् कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि जो विद्यमान वस्तु है, उसके साथ ही सम्बन्ध किया जा सकता है। अविद्यमान के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। यहां "गाङ्कुटादि" सूत्र में गाङ् कुटादि से परे विहित ञित्, णित् भिन्न प्रत्यय में इत्संज्ञक ङकार को हम नहीं देखते। अतः वह ङित् कैसे हो सकता है? अर्थात् जब उसमें ङकार है ही नहीं तो उसे इत्संज्ञक मानकर ङित् कैसे कर सकते हैं ? इसी प्रकार "असंयोगाल्लिट् कित्"[37] सूत्र में पित्भिन्न लिट् को कित् कैसे कह सकते हैं? क्योंकि इसमें इत्संज्ञक ककार है ही नहीं। जैसे लोक में 'चित्रगु देवदत्त है-' ऐसा कहने पर जिसके पास चित्रविचित्र गाएं हैं, वही देवदत्त चित्रगु कहा जा सकता है। जिसके पास चित्र-विचित्र गाएं हैं ही नहीं उसे चित्रगु कैसे कह सकते हैं? चित्रविचित्र गाएं होने पर ही उनके साथ देवदत का सम्बन्ध बन सकता है। फलतः तभी वह चित्रगु कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार ङित्-कित् विधान में शङ्का करके तद्वतिदेश से उसका समाधान करने के लिए भाष्यकार अगला अन्तरेणापि

वतिमतिदेशो गम्यते न्याय उपस्थित करते हैं जोकि यथास्थान द्रष्टव्य है।[38]

13. सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयान् न्याय

"प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमग्रहणेषु न। .... लोपश्च बलवत्तरः। लोपः खल्वपि तावद् भवति"।[39]

प्रत्याहाराह्निक में "हयवरट्" सूत्र पर भाष्यवार्तिककार शङ्का करते हैं कि इन प्रत्याहारों में अनुबन्धों का ग्रहण क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में इन्होंने "आचार्याचारात्" तथा "अप्रधानत्वात्" इत्यादि अनेक युक्तियां प्रस्तुत की हैं। प्रकृत सन्दर्भ में अनुबन्धों के लोप को भी युक्तिरूप में प्रस्तुत करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि परत्वात् या नित्य होने से प्रत्याहारसंज्ञाविधानकाल में ही अनुबन्धों का लोप हो जाने से ये प्रत्याहारों में गृहीत नहीं हो सकते। वस्तुतः ये अनुबन्ध केवल उच्चारणकाल में ही विद्यमान होते हैं[40] और अपनी इत्संज्ञा से प्रतिबद्ध कार्य को अविद्यमान होकर ही प्रतिपादित करते हैं, स्वतः कार्यभाक् या स्वयं इनको कोई कार्य नहीं हुआ करता।

भाव यह है कि जैसे लोक में मृत्यु एक पारमार्थिक या चरम सत्य है और उसके आने से पूर्व ही सारे अन्य कार्य सम्पन्न होते हैं। मृत्यु उपस्थित होने पर तो प्रारब्ध कार्य भी पूरे नहीं होते, तद्यथा- "प्राप्ते सन्निहिते मरणे न हि न हि रक्षति डुकृञ् करणे"। ऐसे ही यहां शास्त्र में भी मृत्युरूप लोपविधि ही बलवान् होती है। फलतः अनुबन्धों का उच्चारण होने पर प्रत्याहार बनने से पूर्व ही उनका लोप हो जाता है तो प्रत्याहारों में उनका ग्रहण नहीं होता। स्मरणीय है कि यह परिभाषा "नाग्लोपि शास्" सूत्रस्थ 'अक्' इस प्रत्याहारग्रहण से ज्ञापित होती है। भाष्य में तो केवल "वृद्धेर्लोपो बलीयान्" ऐसा ही संकेत मिलता है।

14. प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते न्याय / प्रसज्यप्रतिषेध न्याय

"इमानि च भूयस्तन्निमित्तग्रहणस्य प्रयोजनानि-हतो, हथ, उपोयते, औयत, लूयमानिः, पौयमानिः, नेनिक्ते इति। नैतानि सन्ति प्रयोजनानि। इह तावत् हतो हथ इति। प्रसक्तस्याभिनिर्वृत्तस्य प्रतिषेधेन निवृत्तिः शक्या कर्तुम्। अत्र च धातूपदेशावस्थायामेवाकारः"।[41]

"क्ङिति च" सूत्रभाष्य में भाष्यकार वार्तिककारप्रोक्त तन्निमित्तग्रहण के अपनी तरफ से भी कुछ अतिरिक्त प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि हतः, हथः इत्यादि भी तन्निमित्तग्रहण के प्रयोजन हैं। तन्निमित्तग्रहण से तात्पर्य है कि जहां कित्, ङित्, गित् को निमित्त मानकर इग्लक्षण गुणवृद्धि प्राप्त होते हैं, वे प्रकृत सूत्र से निषिद्ध हो जाते हैं। तदनुसार हतः, हथः इत्यादि में 'हन्' धातु का जो अकार गुण है, वह कित् ङित् को निमित्त मानकर नहीं हुआ है। अतः प्रस्तुत सूत्र से उपदेशावस्था से ही विद्यमान गुणसंज्ञक इस अकार की निवृत्ति नहीं होती। यदि इस सूत्र में तन्निमित्तग्रहण नहीं किया जाता है तो जैसे 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः'[42] सूत्र से 'शप्' की निवृत्ति हो जाती है वैसे ही यह गुणसंज्ञक अकार भी इस विशेष सूत्र से निवृत्त हो जाता—यह आशय

है।

अब भाष्यकार इन प्रयोजनों को स्वयं ही खण्डन करते हुए कहते हैं कि तन्निमित्तग्रहण के ये कोई प्रयोजन नहीं है। यहां यह कहना कि फिर हतः, हथः इत्यादि में अकार की निवृत्ति क्यों नही होती तो इसका उत्तर है कि जो कार्य किसी सामान्य लक्षण से प्राप्त या प्रसक्त या अनभिनिर्वृत्त होता है, उसकी ही प्रतिषेध के द्वारा निवृत्ति की जा सकती है, किसी के द्वारा सर्वथा अप्राप्त कार्य की नहीं। ऐसी स्थिति में हतः, हथः इत्यादि में तन्निमित्तग्रहण के अभाव में भी गुणसंज्ञक अकार की निवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि यहां तो उपदेशावस्था में ही स्वयं 'हन्' धातु में अपना स्वाश्रय अकार उपदिष्ट या विद्यमान है, लाक्षणिक या किसी अन्य सूत्र की सहायता से आया हुआ नहीं। फलतः अन्यथासिद्ध होने से ये उदाहरण तन्निमित्तग्रहण के प्रयोजन नहीं बनते हैं। ध्यान रहे कि भाष्यकार ने उपर्युक्त न्याय को प्रस्तुत करते हुए लोकव्यवहार को ही मान्यता दी है। क्योंकि लोक में भी जब किसी को कहीं से कोई वस्तु मिल रही हो तभी उसका निषेध करना चरितार्थ होता है। यदि किसी को कहीं से कोई वस्तु मिल ही नहीं रही है तो उसका निषेध नहीं किया जाता। इस न्याय को ही प्रसज्य प्रतिषेध न्याय भी कहते हैं।

15. अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते न्याय / अतिदेश न्याय

"अन्तेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद्यथा- एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह। तेन मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति। एवामिहापि असंख्यां संख्येत्याह, संख्यावदिति गम्यते"।[43]

"बहुगणवतुडति संख्या" सूत्र के भाष्य में कृत्रिमाकृत्रिमन्याय से अकृत्रिम एक, द्वि आदि संख्यावाची शब्दों की संख्यासंज्ञा प्राप्त न होने पर उसे विधान करने के लिए भाष्यकार प्रकृत न्याय को उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि बिना 'वति' प्रत्यय लगाए भी अतिदेश की प्रतीति हो जाती है।[44] जैसे लोक में किसी को ब्रह्मदत्त न होते हुए भी यदि '**यह ब्रह्मदत्त है**' ऐसा कहा जाए तो उससे हम समझते हैं कि यह ब्रह्मदत्त के सदृश है। इसी प्रकार सूत्रकार के द्वारा बहु, गण, वतु, डति इनको कहा गया है कि ये चारों संख्याएं हैं। उससे यह जाना जाएगा कि ये संख्या के समान हैं। ऐसी स्थिति में जैसे एक, द्वि आदि अकृत्रिम शब्द स्पष्ट संख्याएं प्रसिद्ध हैं वैसे ही बहु, गण, वतु, डति इन कृत्रिम अप्रसिद्ध शब्दों को संख्या कहने से ये भी संख्या के समान समझ लिए जाएंगे। इस प्रकार 'संख्यावत्' में 'वति' निर्देश को हटाकर केवल संख्या कहने से भी संख्या के अतिदेश की प्रतीति हो जाएगी। इस तरह भाष्यकार के अनुसार "बहुगणवतुडति संख्या" सूत्र को संज्ञासूत्र न मानकर अतिदेशसूत्र मानने में भी कोई दोष नहीं आता।

इसी प्रकार भाष्यकार के अनुसार "गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्"[45] सूत्रप्रोक्त ङित्,

कित् ये दोनों तद्वतिदेश हैं[46] अर्थात् ङित्, कित् का अर्थ यहां ङित्, कित् के समान है। फलतः गाङ् कुटादि से परे ञित्-णित् भिन्न प्रत्यय ङित् के समान होता है या उसे ङित् मान लिया जाता है। इसी तरह असंयोगान्त धातु से परे विहित लिट् प्रत्यय कित् के समान होता है या उसे कित् मान लिया जाता है अर्थात् जो कार्य इत्संज्ञक ङकार, ककार में होते हैं, वे उक्त सूत्रों से विहित प्रत्यय को भी ङित्, कित् मानकर हो जाते हैं। भाव यह है कि जो ङित् नहीं है, उसे ङित् कहने पर प्रकृत न्याय से यह समझ लिया जाता है कि वह ङित् के समान है। इसी तरह जो कित् नहीं है उसे कित् कहने से प्रकृत न्याय से वह कित् के समान समझा जाएगा। फलतः ङिद्वत्, किद्वत् इस प्रकार 'वति' प्रत्यय का निर्देश न करके केवल ङित्, कित् इतना कहने पर भी प्रकृत न्याय से अतिदेश की प्रतीति हो जाएगी। इस प्रकार उक्त सूत्र भी ङित् कित् के अतिदेश का विधान करने से भाष्यकार के मत में संज्ञासूत्र के स्थान पर अतिदेशसूत्र कहा जाता है।

इसी प्रकार "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" सूत्र के भाष्य[47] में भाष्यवार्तिककार 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च'[48] इस सूत्र से विहित 'कि', 'किन्' प्रत्ययों को लिड्वदतिदेश द्वारा लादेश मानकर "पपिः सोमं ददिर्गाः"[49] इत्यादि प्रयोगों में षष्ठी विभक्ति का निषेध स्वीकार करते हैं जोकि सिद्धान्तपक्ष है। यद्यपि 'कि', 'किन्' प्रत्यय लकार के स्थान में विहित आदेश नहीं है फिर भी प्रकृतन्याय के आधार पर बिना वतिनिर्देश के भी उन्हें लिड्वत् कार्य का अतिदेश करके लादेश मान लिया जाता है।

इसी प्रकार "गोतो णित्" सूत्र के भाष्य[50] में भी इस न्याय का उपन्यास इसलिए किया गया है कि जिससे गो शब्द से परे सर्वनामस्थान को णिद्वत् कार्य हों सकें। क्योंकि सर्वनामस्थान के अणित् होने पर भी जो उसे णित् कहा है, वह उक्त न्याय से णिद्वत् अर्थात् णित् के समान माना जाएगा तो उसमें णित् के कार्य, वृद्धि आदि, सिद्ध हो जाते हैं। तद्वतिदेश से व्याकरण शास्त्र में अनेक इष्ट कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

ध्यान रहे कि व्याकरणशास्त्र में छह या सात प्रकार के अतिदेश सूत्र उपलब्ध होते हैं, तद् यथा- निमित्तातिदेश, व्यपदेशातिदेश, तादात्म्यातिदेश, शास्त्रातिदेश, कार्यातिदेश, रूपातिदेश तथा अर्थातिदेश। इनमें सर्वप्रथम 'निमित्तातिदेश', जैसे- 'पूर्ववत्सनः'[51] हैं। यहां पहले जिस निमित्त को मानकर धातु से आत्मनेपद विधान किया गया है, सन्नन्त में भी उस धातु से उसी निमित्त को लेकर आत्मनेपद होता है।

'व्यपदेशातिदेश', जैसे- "आद्यन्तवदेकस्मिन्" सूत्र है। यह एक में, असहाय में, 'आदि' और 'अन्त' सम्बन्धी कार्यों का 'अतिदेश' करता है अर्थात् एक में भी 'आदि' और 'अन्त' का व्यवहार या कथन (व्यपदेश) मान लिया जाता है। क्योंकि सामान्यतया

जो अकेला, असहाय, वर्ण है, उसमें 'आदि' और 'अन्त' का व्यवहार नहीं घट सकता। 'आदि' उसे कहते हैं जिसके पूर्व में कुछ न हो, परन्तु परे अवश्य हो तथा 'अन्त' उसे कहते हैं जिससे परे कुछ न हो, किन्तु पूर्व में अवश्य हो। 'आद्यन्त' के ये दोनों लक्षण एक, असहाय, वर्ण में घटने कठिन हैं। क्योंकि वह तो एक ही है। उसके पूर्व और परे कुछ भी नहीं है। यह सूत्र उस एक में भी 'आदि-अन्त' का व्यपदेश कर देगा तो एक, असहाय, वर्ण में भी 'आदि-अन्त' के कार्य हो जाएंगे। तदनुसार जैसे- "आद्युदात्तश्च"[52] यह सूत्र प्रत्यय के 'आदि' अक्षर को उदात्त करता है। अब 'कर्तव्यम्' यहां 'तव्यत्' प्रत्यय में तो 'आदि' अक्षर 'तकार' के होने से उसे आद्युदात्त सिद्ध हो जाता है किन्तु 'औपगवः' (उपगोरपत्यम्) यहां अपत्यार्थक 'अण्' प्रत्यय में एक ही अक्षर के होने से वह 'आदि' नहीं बनता तो उसे आद्युदात्त नहीं प्राप्त होता। इस सूत्र से एक वर्ण में भी 'आदि' का व्यपदेश या व्यवहार करने से वहां भी आद्युदात्त सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस सूत्र के अनेक प्रयोजन हैं जो भाष्यवार्तिकों में स्पष्टतया वर्णित हैं।

'तादात्म्यातिदेश', जैसे- "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे"[53] है। यहां 'आमन्त्रित' परे रहते सुबन्त को 'पराङ्गवद्भाव' द्वारा 'आमन्त्रित' का ही आत्मा बना दिया जाता है। यथा- 'द्रवत्पाणी शुभस्पती'[54] - इस मन्त्र में 'शुभस्' को 'पती' इस 'आमन्त्रित' का अङ्ग मानकर "आमन्त्रितस्य च"[55] से होने वाला आद्युदात्त 'शुभस्' के 'उकार' को होता है।

'शास्त्रातिदेश', जैसे- "कालेभ्यो भववत्"[56] सूत्र है। यहां कालवाची शब्दों के 'सास्य देवता'[57] अर्थ में होने के लिए 'तत्र भवः'[58] इस सूत्र या शास्त्र का ही 'अतिदेश' किया जाता है कि उस "तत्रभवः" शास्त्र में कालवाचियों से, जो प्रातिस्विक प्रत्यय विधान किए हैं, वे ही प्रत्यय यहां "सास्य देवता" अर्थ में भी हों। उससे 'मासो देवता अस्य' यहां 'मास' शब्द से 'कालाठ्ठञ्'[59] होकर 'मासिकम्' बनता है। इसी प्रकार 'प्रावृड् देवता अस्य प्रावृषेण्यः' यहां 'प्रावृष्' शब्द से भी "प्रावृष एण्यः"[60] सूत्र से विहित 'एण्य' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है।

'कार्यातिदेश', जैसे- "स्थानिवदादेशाऽनल्विधौ"[61] "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः"[62] तथा "गोतो णित्"[63] इत्यादि सूत्र हैं। यहां क्रमशः 'स्थानिवद्भाव' के 'अतिदेश' से स्थानिसम्बन्धी कार्य किए जाते हैं। 'कर्मवद्भाव' के 'अतिदेश' से 'चिण्', चिण्वदिट्' इत्यादि कर्मकारक के कार्य किए जाते हैं। 'गो' शब्द से परे 'सर्वनामस्थान' को 'णिद्वद्भाव' मानकर 'णित्' का कार्य "अचो ञ्णिति वृद्धि"[64] किया जाता है।

'रूपातिदेश', जैसे- "तृज्वत्क्रोष्टुः"[65] यह सूत्र है। यहां 'क्रोष्टु' शब्द को 'तृज्वद्भाव' मानकर 'तृजन्त क्रोष्टृ' इस रूप का ही अतिदेश किया जाता है। इसी प्रकार "द्विर्वचनेऽचि"[66] यह सूत्र भी विशेषरूप से 'रूपातिदेश' माना जाता है।

'अर्थातिदेश', जैसे- "स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्"[67] तथा "स्त्री पुंवच्च"[68] इत्यादि सूत्र हैं। यहां स्त्रीत्व अर्थ के स्थान में पुंस्त्व अर्थ का 'अतिदेश' किया जाता है। अस्तु, यह 'अतिदेश' न्याय अन्यत्र भी बहुत प्रयुक्त हुआ है।[69]

16. सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य न्याय[70]

"कृन्मेजन्तः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" यह परिभाषा लिखी है। यह परिभाषा क्या है, एक बहुत ही प्रसिद्ध और रोचक लोकन्याय है। इसका अर्थ है कि जो कार्य एक दूसरे के सम्बन्ध से होता है, वह उन दोनों के सम्बन्ध को नष्ट करने में कारण नहीं होता। क्योंकि यह तो सीधी सी बात है कि जो जिससे बनता है, वह उसका बिगाड़ क्यों करना चाहेगा? अपना हित चाहने वाले का कोई भी मनुष्य बिना स्वार्थादि कारण के अहित नहीं चाहता। यदि कोई ऐसा करता है तो उसे मूर्ख समझा जाता है। अपने उपकारी का उपकार मानना सज्जनता है और उसके उपकार को भुला देना अथवा उसके विरुद्ध कार्य करना बड़ी भारी कृतघ्नता है। लोक में कहावत भी है- **जिस हांडी में खाए, उसमें छेद न करे।** यदि उसी में छेद करेगा तो फिर खाएगा कहाँ से? सुनते हैं कि कोई एक ऐसा मूर्ख मनुष्य (कालिदास?) था जो जिस वृक्ष की शाखा पर बैठा था, उसी को काट रहा था। उसे देखकर कौन उसे बुद्धिमान् कहेगा? ऐसा करने से सर्वत्र उसकी निन्दा तथा मूर्खता पर ही प्रकाश पड़ेगा। इस प्रकार यह न्याय लौकिक होता हुआ शास्त्रीय भी है।

भाष्यकार ने इस न्याय या परिभाषा के अत्यधिक प्रयोजन "कृन्मेजन्तः" सूत्रभाष्य में गिनाए हैं। जहां कहीं भी कुछ दोष इस न्याय के मानने पर आते हैं, वहां उन सब का प्रतिविधान या समाधान भी कर दिया गया है। जैसे- 'इयेष' यहां 'इष्' धातु के लिट् लकार में प्रथम पुरुष का एकवचन 'तिप्' तथा 'तिप्' के स्थान में 'णल्' आदेश होता है। इसके बाद 'णल्' को मानकर 'इष्' को लघूपध गुण होकर 'एष्' बन जाता है। अब 'एष्' बन जाने पर यह गुरुमान् इजादि धातु बन जाता है। फलतः उसके गुरुमान् बनने पर "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः"[71] सूत्र से 'आम्' प्रत्यय होता है। ऐसी स्थिति में 'आम्' प्रत्यय के होने पर 'आमः'[72] सूत्र से 'णल्' का लुक् प्राप्त होता है जोकि अनिष्ट है। उसको रोकने के लिए यह न्याय लगता है। वह इस प्रकार है कि जिस 'णल्' को निमित्त मानकर 'इष्' धातु को 'एष्' बना और वह 'एष्' बनकर इजादि हो जाने से 'आम्' प्रत्यय करके अपने उपकारी उसी 'णल्' का विनाश करे या लुक् करे, यह कहां तक उचित है? वह कभी भी अपने उपकारी का नाश नहीं कर सकता। इसलिए 'इयेष' में 'आम्' प्रत्यय नहीं हो सकता और 'आम्' प्रत्यय के न होने से फिर 'णल्' का लुक् भी नहीं हो सकता। इस न्याय से यह कितनी बड़ी उपलब्धि है कि अपने उपकार करने वाले का कभी अहित नहीं करना चाहिए। इसे ही

शब्दान्तरों से "उपजीव्यविरोधस्यायुक्तत्वम्" ऐसा भी कहा जाता है। खण्डनखण्डखाद्य तथा वेदान्तकल्पतरु आदि में इसको प्रयुक्त देखा जा सकता है।[73] व्याकरणशास्त्र में तो इस लोकन्यायसिद्ध परिभाषा का पुष्कल व्यापार दृष्टिगोचर होता है। अधिकता के कारण ही उन सब का सन्दर्भोल्लेख नहीं किया जा रहा है।

17. ब्राह्मणग्राम न्याय / भूयसा व्यपदेश न्याय / प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति न्याय / पञ्चकारुकी न्याय

"ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् भूयस एव ग्रहणानि भविष्यन्ति। तद् यथा- ब्राह्मग्रामआनीयतामित्युच्यते। तत्र चावरतः पञ्चकारुकी भवति।[74]

"एच इग्घस्वादेशे" इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं कि "ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्" अर्थात् 'ऐ' 'औ' में उत्तर अक्षर इवर्ण, उवर्ण की मात्रा अधिक होने से ह्रस्वविधान में क्रमशः इकार, उकार ही ह्रस्व होंगे, अकार ह्रस्व नहीं होगा। क्योंकि उसकी मात्रा अल्प है। फलतः 'नावमतिक्रान्तम् अतिनुकुलम्' 'रायमतिक्रान्तम् अतिरि कुलम्' यहां 'नौ' और 'रै' शब्दों को नपुंसक में ह्रस्व करते हुए "एच इग् ह्रस्वादेशे" इस सूत्र के बिना भी इक् (इ, उ) ही ह्रस्व होता है, अकार नहीं। इस विषय में भाष्यकार समर्थक लोकन्याय देते हैं कि 'ब्राह्मणग्राम आनीयताम्' (ब्राह्मणों का गांव लाओ) ऐसा कहने पर जिस गांव में बहुतायत से ब्राह्मण होते हैं, वही गाँव लाया जाता है। यद्यपि उस गाँव में भी कम से कम पञ्चकारुकी या पांच शिल्पी तो होते ही हैं अर्थात् कुम्हार, चमार, धोबी, नाई, बढ़ई ये पांच शिल्पी तो प्रायः प्रत्येक गाँव में मिल ही जाते हैं[75] तथापि इनका भूयस्त्व न होने से ये नगण्य हैं। अथवा दूसरे शब्दों में Majority या आधुनिक लोकतन्त्रमूलक बहुमत का ही राज्य या महत्त्व होता है।[76] प्राधान्यख्यापन या भूयस्त्व के महत्त्व को सूचित करने के लिए कैयट भी मल्लग्राम न्याय को उपन्यस्त करते हैं, तद्यथा-

18. मल्लग्राम न्याय

"यद्यपि तत्र वृषभस्यापि संभवस्तथापि मल्लग्रामवद् भूयस्त्वात् स्त्रीभिर्व्यपदेशो भवति"।[77]

इस न्याय का निर्देश प्रदीपकार ने "ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री" इस सूत्र की व्याख्या में किया है। इसका अर्थ है कि जिस प्रकार जिस गांव में मल्ल अथवा पहलवान बहुत हों तो उस गाांव को मल्लग्राम कह देते हैं अर्थात् यह ग्राम तो मल्लों या पहलवानों का है-ऐसा प्रयोग कर देते हैं। अथवा जिस प्रकार जिस गांव में ब्राह्मण अधिक रहते हों, उस गांव को लोग 'ब्राह्मणों का गांव' कह देते है। इसी प्रकार ग्रामीण गाय आदि पशुओं के समुदाय के चरने आदि क्रिया करने पर यद्यपि गायादि में सांड, बैल आदि पुंलिङ्ग पशु भी होते हैं फिर भी अधिक संख्या गाय आदि स्त्रियों की ही होती है। इसलिए स्त्रियों के अधिक होने के कारण वहां स्त्रियों का ही एकशेष न्याय्य है। भाव यह है

कि जो वस्तु जहां अधिक होती है, उसके आधिक्य के कारण ही उस जगह का नाम पड़ जाता है। वैसे भी यह बात तो लोकसिद्ध ही है। क्योंकि आधुनिक समय में भी अनेक ग्रामों के नाम इसी अधिकता के आधार पर रखे दिखाई देते हैं। स्वयं आचार्य पाणिनि द्वारा निष्पादित 'आम्रवण' आदि शब्द भी इसी प्राधान्यख्यापन या भूयस्त्वमूलक न्याय को इङ्गित करते हैं[78] अर्थात् जिस वन में आम अधिक हों उसे 'आम्रवण' कहा जाता है, भले ही उसमें स्वल्प मात्रा में अन्य वृक्ष भी हों। तात्पर्य यह है कि विशिष्टता तथा प्रभुसत्ता सूचित करने के सन्दर्भ में इस न्याय का व्यवहार होता है। अस्तु, उक्त मल्लग्राम न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[79] प्राधान्यख्यापन को लेकर शास्त्र में तर्कुग्रामन्याय का भी प्रयोग मिलता है जैसे-

19. तर्कुग्राम न्याय

"क्षिक्षये ...... वज व्रज गतौ .... इति परस्मैभाषा उदात्ता उदात्तेतः। उदात्तत्वमिदं क्षिवर्जम्। तस्य त्वजन्तत्वादनुदात्तेत्वमित्यागमः। तर्कुग्रामन्यायेनादात्ता इत्युक्तम्"।[80]

भ्वादिगणस्थ 'क्षि' धातु की व्याख्या करते हुए धातुप्रदीपकार मैत्रेयरक्षित प्रकृत न्याय को उपन्यस्त करते हैं कि ये जो अभी उपरि पठित 'क्षि क्षये, क्षि निवासगत्योः, क्षिष् हिंसायाम्, क्षीज् अव्यक्ते शब्दे, वज व्रज गतौ' इत्यादि धातु व्याख्यात हुए हैं, ये सब परस्मैपदसंज्ञक तथा उदात्तेत् हैं। फलतः इन सब को 'इट्' का आगम होता है। यहां यह कहना कि फिर तो 'क्षि क्षये' धातु भी इसके अन्तर्भूत हो जाने से यह भी उदात्तेत् बन जाता है और इसको भी अनिष्ट इडागम प्राप्त होता है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि सामान्य रूप से सभी धातुओं को कहा गया यह उपर्युक्त उदात्तत्वव्यपदेश तर्कुग्राम न्याय से 'क्षि क्षये' धातु को छोड़कर ही समझना चाहिए। जैसे किसी ग्राम में यों तो सामान्यतया अनेक चीजें बनती हैं परन्तु वहां तर्कु अच्छे तथा अधिकमात्रा में बनने से जिस प्रकार उस ग्राम को तर्कुग्राम कह दिया जाता है उसी प्रकार यहां शास्त्र में भी पूर्वोक्त सभी धातुओं में अधिक धातुओं के उदात्तेत् होने से 'क्षिक्षये' धातु के उदात्त न होने पर भी सामान्य कथन के द्वारा उसे भी उदात्त कह दिया गया समझना चाहिए[81] जबकि वस्तुतः वह उदात्त न होकर अनुदात्त है। ऐसी स्थिति में 'क्षिक्षये' धातु के तो अजन्त होने के कारण अनुदात्तेत् हो जाने से इसको "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्"[82] सूत्र से इडागम का निषेध हो जाता है। फलतः उक्त व्याख्यान सुसंगत हो जाता है। अर्थ की दृष्टि से यह न्याय भट्टग्राम न्याय का समानधर्मा है। क्योंकि यह नामकरण भी भट्टों के भूयस्त्व को ही ज्ञापित करता है। इस प्रसङ्ग में अग्रिम लोकन्याय भी अवश्य पठनीय है-

20. बहूनामनुग्रहो न्याय्यः न्याय

"नन्वम्लेच्छत्वादीनां बहुत्वाद् बहूनामनुग्रहो न्याय्यः इति प्रथमतोऽभिधानं युक्तमत आह-मुख्यानीति। प्रधानत्वादेव तेषां प्रथमतोऽभिधानमिति भावः"।[83]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "अथ शब्दानुशासनम्" इस सूत्र के भाष्य में "तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः" इस प्रसङ्ग में लिखा है। इसका अर्थ है कि जहां बहुत सहमत हों वहां उनकी बात माननी चाहिए। तदनुसार व्याकरणशास्त्र के रक्षा आदि मुख्य प्रयोजन कहने के बाद "तेऽसुरा हेलयः" इत्यादि गौण प्रयोजनों का वर्णन किया गया है। यद्यपि गौण प्रयोजन बहुत हैं, फिर भी वे गौण ही हैं, मुख्य नहीं हैं। इसलिए पहले उनका वर्णन नहीं किया गया। वैसे होना यह चाहिए था कि ये गौण प्रयोजन बहुत हैं, इसलिए इस उक्त न्याय के आधार पर इन्हीं का निर्देश पहले कर दिया जाता। किन्तु इसके विपरीत एक दूसरा न्याय भी है जिसे हम सूचीकटाह न्याय कहते हैं। इस न्याय का तात्पर्य यह है कि कोई आदमी किसी लोहार के पास पहले गया और बोला कि इस लोहे का कड़ाह बना दो। कड़ाह बनवाने वाला पहले पहुँचा था। अब उसके दो घण्टे बाद एक दूसरा आदमी लोहार के पास पहुँचा कि इस लोहे की सूई बना दो। यद्यपि सूई बनाना कम समय में हो सकता है तथा कड़ाहा बनाने में समय अधिक लगता है। परन्तु यह जानते हुए भी लोहार पीछे आने वाले सूई बनवाने वाले का काम पहले करता है और पहले आए हुए कड़ाह बनवाने वाले का काम पीछे करता है। इस प्रकार ये परस्पर विरुद्ध न्याय भी लोक में दृष्टिगोचर होते हैं। अपनी-अपनी व्यवस्था से सभी ठीक हैं।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में "बहूनामनुसरणं न्याय्यम्" तथा 'महाजनो येन गतः स पन्थाः"[84] इन दोनों सूक्तिमूलक न्यायों में भी "बहूनामनुग्रहो न्याय्यः" इस उक्त न्याय का भाव अन्तर्निहित है। ये सभी न्याय बहुमतपरक न्याय की महत्ता सूचित करते हैं। उक्त न्याय के सन्दर्भ में निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है-

"बहूनामप्यसाराणां मेलनं कार्यसाधकम्।
तृणैः सम्पाद्यते रज्जुस्तया नागोऽपि बाध्यते॥"[85]

अस्तु, बृहच्छब्देन्दुशेखर में भी स्वल्प शब्दपरिवर्तन के साथ उक्त न्याय मिलता है।[86]

21. यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः न्याय

"अथ स्थाने इति वर्तमाने (षष्ठी स्थानेयोगा) पुनः स्थानग्रहणं किमर्थम्? यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो यथा स्यात्। किं पुनस्तत्? चेता स्तोता। प्रमाणतोऽकारो गुणः प्राप्नोति, स्थानत एकारौकारौ। पुनः स्थानग्रहणादेकारौकारौ भवतः।"[87]

"स्थानेऽन्तरतमः" सूत्रभाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि जब किसी के स्थान में कोई आदेश किया जाता है तो वह आदेश अन्तरतम या सदृशतम होता है। और अन्तरतमता का यह निर्णय स्थान, अर्थ, गुण तथा प्रमाण के सादृश्य के आधार पर किया जाता है अर्थात् किसी के स्थान में कोई तभी आदिष्ट होगा जब वह या

तो स्थान की दृष्टि से या अर्थ की दृष्टि से या गुण अथवा प्रयत्न की दृष्टि से या प्रमाण अथवा मात्रा काल की दृष्टि से स्थानी के पूर्णतया समान हो। परन्तु इनमें भी जब परस्पर विरोध होता है तो प्रकृतपरिभाषा के बल से स्थानकृत आन्तर्य ही बलवान् माना जाता है। "षष्ठी स्थानेयोगा[88]" इस पूर्व सूत्र से 'स्थान' ग्रहण की अनुवृत्ति सिद्ध होने पर भी जो प्रकृत सूत्र में पुनः 'स्थान' ग्रहण किया है - इसका यही निगूढार्थ है। इनमें 'स्थान' का उदाहरण है - 'दध्यत्र'। यहां इकार के तालुस्थानीय होने से उसके स्थान में तत्सदृश तालुस्थानीय यकार ही यण्रूप आदिष्ट होता है, अन्य वकार आदि नहीं। क्योंकि उनका स्थान भिन्न है। अर्थ का उदाहरण जैसे - पाद या दन्त आदि शब्दों के स्थान में समानार्थक होने से तत्तुल्य क्रमशः पद् और दत् आदि आदेश ही होते हैं, नस्, हृत् आदि नहीं।[89] गुण या प्रयत्न जैसे - 'वाग्घरिः'। यहां हकार रूप स्थानी के घोष, नाद, संवार तथा महाप्राणरूप प्रयत्नवाला होने से उसके स्थान में घकार भी वैसे ही तुल्यप्रयत्न वाला होता है।[90] प्रमाण जैसे- "अदसोऽसेर्दादु दो मः"[91] सूत्र से ह्रस्व स्थानी के स्थान में तत्तुल्य ह्रस्व उकार तथा दीर्घ स्थानी के स्थान में तत्तुल्य दीर्घ ऊकार होता है।

ऐसी स्थिति में जैसे लोक में किसी सन्तानरहित पुरुष की मृत्यु होने के कारण उसकी सम्पत्ति को लेने का विवाद उपस्थित होने पर यों तो उसके अनेक दूर-पास के सम्बन्धी, यथा- सगा भाई, चाचा, ताऊ तथा चाचा के पुत्रादि प्रत्याशी होते हैं परन्तु लोक न्याय की दृष्टि से केवल सगा भाई ही उसकी सम्पत्ति का अधिकारी न्याय्य माना जाता है, अन्य नहीं। वैसे ही शास्त्र में भी 'चेता' और 'स्तोता' यहां यद्यपि प्रमाण की दृष्टि से इकार, उकार को अकार गुण प्राप्त होता है तथापि प्रकृत लोकन्यायसिद्ध परिभाषा से स्थानकृत आन्तर्य ही बलवान् होने से इकार को तो एकार तथा उकार को ओकार गुण सिद्ध हो जाता है। स्थानकृत आन्तर्य की बलवत्ता निम्न लौकिक आभाणकों से भी सिद्ध होती है-

(क) ठौड़ पड़ा पत्थर भारी।

(ख) जमे रहो जहां जम गए रहो न डावां डोल।
उखड़े की कौड़ी नहीं जमे के लाखों मोल॥

(ग) "स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशाः नखा नराः।[92]

22. पुनः प्रसङ्गविज्ञान न्याय तथा

23. सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव (सकृद्गति) न्याय

"त्रयादेशे स्रन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः। तिसृणाम्। तिसृभावे कृते त्रेस्त्रय इति त्रयादेशः प्राप्नोति। नैष दोषः। इदमिह सम्प्रधार्यम्-तिसृभावः क्रियतां त्रयादेश इति? किमत्र कर्तव्यम्? परत्वात् तिसृभावः। अन्यथेदानीं तिसृभावे कृते पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् त्रयादेशः कस्मान्न भवति? सकृद्गतौ विप्रतिषेधः यद्बाधितं तद्बाधितमेव"।[93]

"स्थानिवत्" सूत्रभाष्य में भाष्यकार इन दोनों परिभाषाओं को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि 'तिसृणाम्' यहां 'त्रि + आम्' इस अवस्था में "त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ[94]" सूत्र से 'तिसृ' आदेश कर देने पर स्थानिवद्भाव से "त्रेस्त्रयः[95]" सूत्र से पुनः त्रयादेश प्राप्त होता है। इस पर भाष्यकार कहते हैं कि पहले यही निर्णय कर लेना चाहिए कि यहां हमें तिसृभाव करना चाहिए या त्रयादेश। इस पर कहते हैं कि वैसे तो परत्वात् तिसृभाव ही करना चाहिए। पुनः आपत्ति करते हैं कि किन्तु तिसृभाव करने पर पुनः प्रसङ्गविज्ञान न्याय से त्रयादेश क्यों नहीं होगा अर्थात् जैसे लोक में कौआ आदि प्राणी बार-बार रोकने पर भी अनुकूल अवसर मिलने पर एक ही भक्ष्य को बार-बार खाता रहता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी सूत्र की पुनः प्राप्ति या प्रसङ्ग होने पर वह पुनरपि प्रवृत्त हो जाता है।[96] फलतः 'तिसृ' आदेश के बाद भी स्थानिवद्भाव से त्रयादेश की प्राप्ति का प्रसङ्ग है। अतः उसका निषेध कहना चाहिए। भाष्यकार अब इसका वास्तविक समाधान करते हैं कि निषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जैसे लोक में किसी हिंसक प्राणी के द्वारा किसी आदमी के मारे जाने पर वह व्यक्ति पुनः जीवित नहीं होता वैसे ही यहां शास्त्र में भी तुल्यबलविरोध के रहने पर एक बार जो बाधा गया सो बाधा गया—ऐसा जानना चाहिए। वह पुनः प्रवृत्त नहीं होता, भले ही उसकी पुनः प्राप्ति भी क्यों न हो। ऐसी स्थिति में 'त्रि + आम्' इस अवस्था में 'तिसृ' आदेश तथा त्रयादेश के विप्रतिषेध में परत्वात् त्रयादेश को बाधकर तिसृ आदेश के हो जाने पर त्रयादेश पुनः नहीं होगा।

24. देवदत्तहन्तृहत न्याय

"असिद्धवचनात् सिद्धमिति चेन् नान्यस्यासिद्धवचनादन्यस्य भावः। न ह्यन्यस्यासिद्धवचनादन्यस्य प्रादुर्भावो भवति। तद् यथा- न हि देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति। तस्मात् स्थानिवद्वचनम्, असिद्धत्वं च पट्व्या मृद्व्या इति स्थानिवद्भावः। वाय्वोः अध्वर्व्योरित्यसिद्धत्वम्"।[97]

"अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" सूत्र के भाष्य में शङ्का की गई है कि वाय्वोः, अध्वर्व्योः यहां 'वायु + ओस्', 'अध्वर्यु + ओस्' इस अवस्था में "इको यणचि"[98] से उकार के स्थान में वकार यणादेश होने पर वल् परे हो जाने से "लोपो व्योर्वलि"[99] से वायु और अध्वर्यु के यकार का लोप प्राप्त होता है। उसका समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि "असिद्धवचनात् सिद्धम्" अर्थात् आदेश को स्थानिवत् न मानकर असिद्ध माना जाएगा। फलतः यणादेश के असिद्ध होने से वल् परे नहीं मिलेगा तो 'वाय्वोः', 'अध्वर्व्योः' में यकार का अनिष्ट लोप नहीं होगा। इसके विपरीत स्थानिवद्भाव मानने में तो आदेश के स्वाश्रय कार्य की निवृत्ति नहीं होगी। फलतः उस अवस्था में यलोप प्राप्त ही रहेगा। इसलिए यणादेश को असिद्ध ही मानना चाहिए। किन्तु इस पर आगे आपत्ति करते हैं कि यदि आदेश को स्थानिवत् न मानकर असिद्ध माना जाएगा तो

'वाय्वोः', 'अध्वर्य्वोः' ये रूप तो इष्ट सिद्ध हो जाएंगे किन्तु तब 'पट्व्या', 'मृद्व्या' ये रूप नहीं बन सकेंगे। क्योंकि अन्य के असिद्ध कहने से अन्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। 'पट्व्या' में 'पदु + ई + आ' इस अवस्था में 'टा' प्रत्यय परे रहते 'ङीष्' के ईकार को "इको यणचि" से यण् होता है। वह यणादेश असिद्ध हो जाएगा तो उसके असिद्ध होने से उसका स्थानीभूत ईकार कैसे आएगा? वह तो यणादेश द्वारा नष्ट हो चुका है। उस यणादेश को आपने असिद्ध मान लिया तो उससे ईकार परे न मिलने से 'पट्व्या', 'मृद्व्या' में पदु, मृदु शब्दों के उकार को यणादेश न हो सकेगा। जैसे लोक में हम देखते है कि देवदत्त को मारने वाले को मारने पर देवदत्त का पुनरुज्जीवन नहीं होता। वह तो मर चुका है, नष्ट हो चुका है। यह लोकप्रसिद्ध 'देवदत्तहन्तृहतन्याय' कहलाता है। इस लोक न्याय के आधार पर 'ङीष्' के ईकार के स्थान में हुआ यणादेश असिद्ध होने पर भी अपने स्थानीभूत ईकार का पुनरुत्थापन नहीं कर सकता। स्थानिवद्भाव मानने पर तो स्थानी ईकार को मानकर उसके परे रहते पटु, मृदु के उकार को यणादेश सिद्ध हो जाता है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'पट्व्या', 'मृद्व्या' में 'पटु, मृदु + ई + आ' इस अवस्था में दो यणादेश प्राप्त होते हैं। सिद्धान्तरूप में पहले पटु, मृदु के उकार को यणादेश होकर फिर 'ङीष्' के ईकार को यणादेश कर लेते हैं तो उसका स्थानिवत् मानकर फिर पूर्ववर्ती पटु, मृदु के उकार को भी यणादेश सिद्ध हो जाता है[100]। किन्तु यदि पहले 'ङीष्' के ईकार को यणादेश कर लेते हैं तो उसको स्थानिवत् मानकर फिर पूर्ववर्ती पटु, मृदु के उकार को भी यणादेश सिद्ध हो जाता है। पहले 'पर' यणादेश मानने पर तो 'पट्व्या' 'मृद्व्या' यह उदाहरण "अचः परस्मिन्" सूत्र का प्रयोजन बनता है। परन्तु पहले 'पूर्व' यणादेश करने पर फिर स्थानिवद्भाव की कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए 'पट्व्या', 'मृद्व्या' में स्थानिवद्भाव मानना आवश्यक है। वहां असिद्धवचन से काम नहीं चल सकता। हां, 'वाय्वोः', 'अध्वर्य्वोः' में तो असिद्धवचन से इष्ट सिद्ध हो जाता है। अतः वहां तो यण् को असिद्ध मानना समुचित है। इसी प्रकार "षत्वतुकोरसिद्धः" सूत्र भाष्य[101] में भी भाष्यकार ने असिद्धत्ववचन को यथावत् घटित करने के लिए प्रकृत न्याय का उपन्यास किया है। प्रस्तुत देवदत्तहन्तृहत न्याय अन्यत्र भी पर्याप्त उपलब्ध होता है।[102]

25. असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे न्याय

"बहुप्रयोजनैषा परिभाषा। अवश्यमेवैषा कर्त्तव्या। सा चाप्येषा लोकतः सिद्धा। कथम्? प्रत्यङ्गवर्ती लोको लक्ष्यते। तद् यथा- पुरुषोऽयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं कार्याणि तानि तावत् करोति। ततः सुहृदाम्, ततः सम्बन्धिनाम्। प्रातिपदिकं चाप्युपदिष्टं सामान्यभूतेऽर्थे वर्तते। सामान्ये वर्तमानस्य व्यक्तिरुपजायते। व्यक्तस्य सतो लिङ्गसंख्याभ्यामन्वितस्य बाह्येनार्थेन योगो भवति। यथैव चानुपूर्व्याऽर्थानां प्रादुर्भावस्तथैव

शब्दानामपि तद्वत् कार्यैरपि भवितव्यम्"।[103]

"अचः परस्मिन् पूर्व विधौ" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" या असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे"[104] इस व्याकरणशास्त्रीय प्रसिद्ध परिभाषा की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता बताते हुए लिखते हैं कि यह परिभाषा बहुत प्रयोजनों वाली है। यह अवश्य हमें अपने शास्त्रीय कार्यों के लिए स्वीकार करनी चाहिए। इसके साथ यह लोकन्याय से भी सिद्ध है, जैसे- लोक में प्रत्येक मनुष्य अपने अत्यन्त निकटवर्ती पदार्थ में पहले प्रवृत्त होने वाला दृष्टिगोचर आता है। क्योंकि प्रातःकाल उठकर मनुष्य के जो अपने अतिनिकट शरीर इन्द्रियादि हैं, उनकी शुद्धि वह पहले करता है। उसके बाद मित्रों के काम करता है और फिर इष्ट-सम्बन्धियों के काम देखता है अर्थात् बाह्य कार्यों की अपेक्षा अन्दर के काम पहले करता है। इस प्रकार व्यक्ति बहिरङ्ग से पूर्व अन्तरङ्ग कार्यों में प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार शास्त्र में भी प्रतिपदिकसंज्ञक शब्द पहले सामान्य अर्थ को प्रकट करता है। फिर वह सामान्य अर्थ विशेषव्यक्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है अर्थात् पहले स्वार्थ या धर्म, फिर धर्मी या द्रव्य, फिर उस द्रव्य का लिङ्ग और संख्या से योग होता है। स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग और संख्या से युक्त का फिर कर्मादि कारकों से सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार व्यक्ति पहले अन्तरङ्ग वस्तुओं से युक्त होकर बाद में बहिरङ्ग वस्तु से सम्बद्ध हुआ व्यवहार में आता है। जो पदार्थों की आनुपूर्वी या क्रम है, वही शब्दों की भी होनी चाहिए और उसी क्रम से कार्य भी होने चाहिएं। इससे "असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" इस परिभाषा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इस परिभाषा का अर्थ है कि अन्तरङ्गलक्षण कार्य करने में बहिरङ्गलक्षण कार्य असिद्ध होता है अर्थात् पहले अन्तरङ्ग कार्य होता है, उसके पश्चात् यदि बहिरङ्ग कार्य की प्रवृत्ति संभव हो तो वह हो जाता है।[105] यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[106] इस परिभाषा को ही "अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलीयः" इस न्याय के नाम से भी जाना जाता है।

26. निषेधाश्च बलीयांसो भवन्ति न्याय

"सत्येतत् प्रत्यय आसीत् अनया भविष्यत्यनया न भविष्यतीति। लुप्त इदानीं प्रत्यय यावत एवावधेः स्वादौ पदमिति तावत एवावधेः सुबन्तं पदमिति। अस्ति च प्रत्ययलक्षणेन सर्वनामस्थानपरतेति कृत्वा प्रतिषेधाश्च बलीयांसो भवन्तीति प्रतिषेधः प्राप्नोति[107]।"

"न लुमताङ्गस्य" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि 'परमवाक्' यहां प्रत्ययलक्षण से सर्वनामस्थानपरता होने से और "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने"[108] सूत्र के द्वारा प्रसज्यप्रतिषेधार्थकता होने के कारण सर्वनामस्थान परे रहते पदसंज्ञा का निषेध कहा जाने से कुत्व नहीं प्राप्त होता। इसके उत्तर में भाष्यकार आगे कहते हैं कि "स्वादिषु" सूत्र से न सही, हम यहां "सुप्तिङन्तं पदम्"[109] से पदसंज्ञा कर लेंगे तो

उक्त प्रयोग में अभीष्ट कुत्व सिद्ध हो जाएगा। अब इस समाधान पर भाष्यकार आपत्ति करते हैं कि किन्तु आपका यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्यय की विद्यमानता में तो आपका यह कहना ठीक था कि यहां हम "**स्वादिषु**" से पदसंज्ञा नहीं करेंगे अपितु "**सुप्तिङन्तं पदम्**" से करेंगे। परन्तु अब प्रत्यय के लुप्त हो जाने के बाद तो जितनी अवधि या जितने शब्दांश की पदसंज्ञा "**स्वादिषु**" से होती है ठीक उतनी ही अवधि या उतने ही शब्दांश की पदसंज्ञा "**सुप्तिङन्तं पदम्**" से होती है। ऐसी स्थिति में दोनों पदसंज्ञाओं में कोई विभेदक या विनिगमक तत्त्व न होने से प्रत्ययलक्षण द्वारा सर्वनामस्थान को परे मानकर "**प्रतिषेध बलवान् होते है**" इस न्याय से पदसंज्ञा का प्रतिषेध प्राप्त होता है।

भाव यह है कि जैसे लोक में किसी समृद्ध व्यक्ति के घर में सभी भक्ष्य पदार्थ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं और सभी के लिए भोज्य हैं। परन्तु यदि किसी ज्वराक्रान्त रोगी व्यक्ति के विषय में वैद्य के द्वारा दधि आदि का सेवन निषिद्ध कर दिया जाता है तो फिर घर में पुष्कल भोज्य पदार्थ होने पर भी उसे दधि नहीं दी जाती। अथवा इस बात को हम इस लौकिक उदाहरण से भी समझ सकते है कि लोक में **भांजी** (चुगली, पिशुनता या काम बिगाड़ना) बहुत बलवान् होती है। किसी शुभ कार्य में **भांजी (निषेध)** बहुत शीघ्र लगती है जबकि उस कार्य के बनने में बहुत विलम्ब लगता है। वैसे ही यहां शास्त्र में भी, भले ही, सुबन्तत्वप्रयुक्त पदसंज्ञा यहां है। परन्तु यह जो "**स्वादिषु**" प्रयुक्त '**असर्वनामस्थानवाला**' निषेध है, उसके बलवान् होने से यह सुबन्तत्वप्रयुक्त पदसंज्ञा का भी प्रतिषेध करेगा - यह भाव है। इस परिभाषा के मानने पर ही '**स्यन्त्स्यति**' इस उदाहरण में '**स्यन्दू प्रस्रवणे**' धातु को "**न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः**"[110] सूत्रप्रोक्त इण्निषेध अन्तरङ्ग तथा विशेषविहित "**स्वरतिसूतिसूयति**"[111] सूत्रप्रयुक्त वैकल्पिक '**इट्**' को भी बाध लेगा।

27. यथाजातीयकोऽन्त्यस्तथाजातीयकोऽन्त्यात्पूर्व आनीयते न्याय / तुल्यजातीयस्यैव नियमो भवति न्याय

"**अलोन्त्यात् पूर्वोऽलुपधेति वा.... अवचनाल्लोकविज्ञानात् सिद्धम्। अन्तरेणापि वचनं लोकविज्ञानात् सिद्धमेतत्। तद् यथा लोके अमीषां ब्राह्मणानामन्त्यात्पूर्व आनीयतामित्युक्ते यथाजातीयकोऽन्त्यस्तथाजातीयकोऽत्यात्पूर्व आनीयते**"।[112]

"**अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा**" इस उपधासंज्ञाविधायक सूत्रभाष्य में भाष्यकार प्रकृत न्याय उद्धृत करते हुए कहते हैं कि सूत्रस्थ '**अलः**' यहां सन्देह है कि यह '**अल्**' शब्द को पञ्चमी विभक्ति का एकवचन माना जाए या षष्ठी का एकवचन अथवा प्रथमा का बहुवचन? उनमें सिद्धान्त पक्ष तो यह है कि '**अन्त्यात्**' के साहचर्य से '**अलः**' यह पञ्चमी का एकवचन ही माना जाता है।[113] सूत्र का अर्थ है कि अन्तिम अल् से पूर्व की उपधा संज्ञा होती है। किन्तु इस अर्थ में '**शास्**' धातु के अन्तिम अल्

सकार से पूर्व '**शा**' इस वर्णसमुदाय की उपधा संज्ञा प्राप्त होती है जबकि इष्ट है कि सकार से पूर्व केवल आकार की ही हो। उसके लिए "**अलोन्त्यात् पूर्वोऽलुपधा**" ऐसा अतिरिक्त अल् ग्रहण वाला स्पष्ट प्रतिपत्तिपरक न्यास वार्तिककार ने प्रस्तावित किया है जिसका अर्थ है कि अन्तिम अल् से पूर्व अल् अर्थात् एक वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। उससे '**शास्**' में सकार से पूर्व एक अल् वर्ण आकार ही है। अतः उसकी उपधा संज्ञा होने से इष्ट सिद्ध हो जाता है क्योंकि '**शा**' तो अल् समुदाय है, एक अल् नहीं है। इसलिए इसकी उपधासंज्ञा न होकर '**शिष्टः**', '**शिष्टवान्**' यहां "**शास इदङ्हलोः**"[114] सूत्र से '**शास्**' की उपधा आकार को इत्व हो जाता है, पूरे '**शा**' को इत्व नहीं होता।

अब इस पर भाष्यकार पूछते हैं कि तो क्या फिर "**अलोऽन्त्यात् पूर्वोऽलुपधा**" ऐसा सूत्र बना दिया जाए? उत्तर देते हैं कि नहीं, वैसा सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि बिना वैसा सूत्र बनाए यथास्थित सूत्र रहने से भी लोकव्यवहार द्वारा अन्तिम अल् से पूर्व एक अल् की उपधा संज्ञा सिद्ध हो जाएगी। जैसे लोक में कहते हैं - **इन ब्राह्मणों में अन्तिम से पूर्व को लाओ**। अब जैसा अन्तिम होता है वैसा ही उससे पूर्व का लाया जाता है। फलतः ब्राह्मणों में अन्तिम ब्राह्मण है। अतः उससे पूर्व भी ब्राह्मणजातीय ही लाया जाता है, तद्भिन्नजातीय क्षत्रिय आदि नहीं। उसी प्रकार यहां शास्त्र में भी अतिरिक्त '**अल्**' ग्रहण किए बिना ही अलों में अन्तिम जो अल् है, उससे पूर्व भी अल् ही लिया जाएगा, अल्समुदाय नहीं। अतः '**शास्**' में केवल आकार की जोकि अन्तिम अल् से पूर्व अल् है, उपधा संज्ञा हो जाएगी और अल् समुदाय में जो '**शा**' है, उसकी उपधा संज्ञा नहीं होगी। इस तरह यथास्थित सूत्रस्थ एक '**अल्**' ग्रहण ही पर्याप्त होने से अतिरिक्त '**अल्**' ग्रहण अनावश्यक है। यह न्याय अन्यत्र भी देखने में आता है।[115] अब प्रदीपकार भाष्योक्त लोकन्याय के समानान्तर '**ब्राह्मणानामादिमानय न्याय**' से वृद्ध संज्ञा प्रतिपादित करते हुए कहते हैं-

28. ब्राह्मणानामादिमानय

"**यस्य शब्दस्य सकलाजपेक्षया वृद्धिरादिस्तद् वृद्धमिति। यथा पङ्क्तौ ब्राह्मणानामादिमानयेत्युक्ते सतोऽपि शूद्रादीननादृत्य ब्राह्मणजातीयापेक्षया यो ब्राह्मणः आदिः स आनीयते**"।[116]

यह न्याय कैयट ने "**वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्**" सूत्र के भाष्य में "**सिद्धमजाकृतिनिर्देशात्**" इस वार्तिक की व्याख्या में लिखा है। इसका अर्थ है कि जैसे '**पंक्ति में बैठे हुए ब्राह्मणों में से आदि के ले आओ**'- ऐसा कहने पर ब्राह्मणेतर शूद्रादि के विद्यमान होने पर भी ब्राह्मणजाति की अपेक्षा से जो आदि है, वह ब्राह्मण ही लाया जाता है। इसी प्रकार यहां भी अच् की आकृति अर्थात् अच् जाति में जो आदि अच् वृद्धसंज्ञक है, उस शब्दसमुदाय की वृद्ध संज्ञा होती है– ऐसा कहने पर '**गार्गीयाः**' इत्यादि शब्दों में भी आकार को आदि वृद्धसंज्ञक मानकर "**गार्गीयाः**" शब्द

की वृद्ध संज्ञा हो जाती है तो उससे शैषिक अर्थ में "वृद्धाच्छः"[117] से 'छ' प्रत्यय हो जाता है। यह न्याय तो लोक में भी सर्वविदित है। क्योंकि जिस जाति का उपादान किया जाता है, उसी जाति का आदि, मध्य तथा अन्त लिया जाता है। इस प्रकार सर्वत्र प्रसिद्ध होने से यह न्याय विशेष व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता। इसी प्रकार न्यासकार भी "समानजातीयस्यैव हि लोके निर्धारणं प्रसिद्धम्" न्याय से प्रसङ्गान्तर में टि संज्ञा की व्याख्या करते हुए कहते हैं-

29. समानजातीयस्यैव हि लोके निर्धारणं प्रसिद्धम् न्याय

"एवं मन्यते.... समानजातीयस्यैव हि लोके निर्धारणं प्रसिद्धम्। तथाहि- कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमेति द्वितीयं गोशब्दमन्तरेणापि गौरेव प्रतीयते। तस्मादिहापि यद्यपि द्वितीयमज्ग्रहणं नास्ति तथापि समानजातीयोऽजेव निधार्यमाणोऽवसीयत इति"।[118]

"न्यासकार ने "अचोऽन्त्यादि टि" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह बात कही है कि अचों के मध्य में जो अन्त्य अच् है, इससे परे जितना भी शब्द का भाग है, उसकी टि संज्ञा होती है। इस पर फिर वे स्वयं ही यह शङ्का करते हैं कि "अचोन्त्यादि टि" इस सूत्र में तो एक ही अच् शब्द है। अतः फिर अचों के मध्य में जो अन्त्य अच् है, यह दूसरा अच् ग्रहण कैसे ले लिया ? उसका समाधान फिर उन्होंने स्वयं ही किया है और यह न्याय उपस्थित किया है कि लोक में समान जाति वाले का ही निर्धारण होता है। जैसे लोक में कहते हैं कि इन गायों में काली गौ सबसे उत्तम दूध देने वाली है। यद्यपि गाएं तो बहुत हैं परन्तु उनमें काली गाय को छांटकर अच्छा दूध देने वाली कहा गया है। अब यहां यद्यपि वाक्य तो इतना ही था कि इन गायों में काली अच्छा दूध देने वाली है तथापि जैसे गायों के मध्य में छांटी हुई काली वस्तु गौ ही समझी जाती है अर्थात् उसके लिए 'कृष्णा गवां सम्पन्नक्षीरतमा' इस वाक्य में दूसरे गो शब्द के बिना भी कृष्णा शब्द से काली गौ ही समझी जाती है, भैंस आदि नहीं। क्योंकि हम देखते हैं कि समान जाति वाले पदार्थों में समान जाति वाले का ही निर्धारण होता है। अतः यहां भी अन्य जो गाय हैं, उनकी समानजाति वाली यह काली गाय ही है। ऐसी स्थिति में वहां 'कृष्णा' शब्द से जिस प्रकार काली गाय ही छाँटी जाती है, काली भैंस आदि नहीं इसी प्रकार यहा शास्त्रीय "अचोऽन्त्यादि टि" सूत्र में भी अचों के मध्य में जो अन्त्य है, वह अच् ही समझा जाएगा, हल् नहीं। क्योंकि अचों का समानजातीय अच् ही होता है अर्थात दूसरे अच् ग्रहण के बिना भी यहां दूसरा अच् ही समझा जाएगा। इस न्याय का अर्थ तो स्पष्ट ही है कि लोक में समान जाति वालों में समान का ही निर्धारण होता है। निर्धारण को समझाने के लिए न्यासकार ने प्रथम बार इस न्याय का उपन्यास किया है। अतः उससे न्यासकार की लोकव्यवहार ज्ञान में कुशलता प्रतीत होती है। इस सन्दर्भ में अग्रिम लोकन्याय भी अवश्य दर्शनीय है-

30. ब्राह्मणौ प्रथमावानय न्याय

"अजादी विशेष्यौ, प्राथम्यं विशेषणं तेन चाजादित्वाभावात् सु परिहृतः औजसोः प्राथम्यं न विहन्ति। यथा ब्राह्मणाब्राह्मणपङ्क्तौ ब्राह्मणौ प्रथमावानयेत्युक्तेऽब्राह्मणः प्रथमोऽपि चोदनायामनन्तर्भावाद् ब्राह्मणयोर्न प्रथमव्यपदेशविघातहेतुः"[119]।

यह न्याय प्रदीपकार ने "ङे. प्रथमयोरम्" सूत्र के भाष्य में "अजादी यौ प्रथमौ" इस कथन की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि जैसे कोई कहे कि यह ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों मिले हुए हैं। इसमें से आप पहले दो ब्राह्मणों को ले आओ – ऐसा कहने पर लाने वाला पहली पङ्क्ति में बैठे हुए भी ब्राह्मणभिन्न को छोड़ देता है तथा जो ब्राह्मण पहले मिलता है, भले ही वह दूरवर्ती भी क्यों न हो, उसे ही प्रथम संख्या मानकर ले आता है। क्योंकि ब्राह्मणों में तो वही पहला है। दूसरे जो हैं, वे तो ब्राह्मणभिन्न हैं। अतः वे पहले होते हुए भी छोड़ दिए जाते हैं। उसी प्रकार यहां भी 'सु' आदि प्रत्ययों में पहले जो दो अजादि प्रत्यय हैं - ऐसा कहने पर 'सु' को छोड़कर 'औ' और 'जस्' ये दो प्रत्यय ही पहले लिए जाते हैं। 'सु' तो पहला होता हुआ भी अजादि न होने से छोड़ दिया जाता है। इस प्रसङ्ग में अग्रिम लोकन्याय भी अवश्य पठनीय है-

31. अधीयानब्राह्मणानयन न्याय

"तत्र यथा - - - ब्राह्मणा आनीयन्तामन्यत्रानधीयानेभ्यः इत्युक्ते प्रत्यासत्तेर्यदध्ययनं ब्राह्मणानां सम्भवति तदधीयानेभ्य इति गम्यते, न त्वध्येतव्यमात्रमधीयानेभ्य इति, तद्वदिहापि प्रतिषेधोऽपि तस्येव गम्यते यज्जातीयस्य विधौ ग्रहणमिति"।[120]

"अणावकर्मकाद्" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में पदमञ्जरीकार ने यह न्याय दिया है। इस न्याय का अर्थ है कि ब्राह्मणों को बुलाओ, जो पढ़ नहीं रहे हैं, उनको छोड़ दो – ऐसा कहने पर जो ब्राह्मण अध्ययन कर रहे हैं, उन्हीं को बुलाया जाता है, सबको नहीं। इसी प्रकार "अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्" इस सूत्र से 'चेतयति' यहां परस्मैपद ही होगा। 'अणौ' का प्रत्युदाहरण 'चेतयमानं प्रयोजयति इति चेतयते' ऐसा जो लोग देते हैं, वह ठीक नहीं हैं। क्योंकि प्रकृत सूत्र द्वारा "हेतुमति च"[121] से विहित प्रयोजक 'णिच्' का निषेध ही होना चाहिए, न कि स्वार्थिक 'णिच्' का अर्थात् 'अणौ' शब्द से जो णिजन्त में परस्मैपद का निषेध है, वह सव णिचों का ठीक नहीं। क्योंकि प्रस्तुत न्याय से जैसे अध्ययनशील ब्राह्मणों का ही आमन्त्रण है, सबका नहीं वैसे ही यहां भी जिस प्रेरणार्थक 'णिच्' प्रत्ययान्त की विधि है, प्रत्यासत्ति न्याय से निषेध भी फिर उसी का होना चाहिए, स्वार्थिक णिच् का नहीं। अतः 'चेतयति' में परस्मैपद ही होगा।

32. भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न भवति न्याय

"कं पुनर्दीर्घः सवर्णग्रहणेन गृह्णीयात् ? ह्रस्वम्। यत्नाधिक्यान्न ग्रहीष्यति। प्लुतं तर्हि गृह्णीयात्? अनण्त्वान्न ग्रहीष्यति। एवं तर्हि सिद्धे सति यत् अप्रत्यय

इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यः भवत्येषा परिभाषा - भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति''[122]।

''अणुदित्'' सूत्रभाष्य में भाष्यकार उक्त परिभाषा को ज्ञापित करते हुए पूछते हैं कि प्रकृत सूत्र में 'अप्रत्यय' ग्रहण क्यों किया गया है ? यदि 'अप्रत्यय' ग्रहण न किया जाए तो दीर्घ वर्ण सवर्णग्रहण से किसको ग्रहण कर लेगा? उत्तर देते है कि यदि यहां 'अप्रत्यय' ग्रहण नहीं करेंगे तो विधीयमान दीर्घ वर्ण फिर सवर्णग्रहण से ह्रस्व को भी ग्रहण कर लेगा। इस पर कहते हैं कि यह कोई दोष नही है। क्योंकि एक मात्रा रूप यत्न के अधिक्य के कारण दीर्घ वर्ण ह्रस्व को ग्रहण नहीं करेगा। यदि ऐसा होगा तो फिर दीर्घ की एक मात्रा के अधिक्य के रूप यत्न का आनर्थक्य प्रसक्त हो जाएगा। यहां यह कहना कि 'अप्रत्यय' ग्रहण न करने पर विधीयमान दीर्घ वर्ण फिर प्लुत को ग्रहण कर लेगा। अतः उसको रोकने के लिए 'अप्रत्यय' ग्रहण है तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि अण् प्रत्याहार में केवल ह्रस्व वर्णों के ही आने से दीर्घ वर्ण अण् नहीं कहे जा सकते। अतः यहां भी विधीयमान दीर्घ वर्ण प्लुतरूप सवर्णों का ग्रहण नहीं कर सकते। इस प्रकार सब इष्ट निर्दोष सिद्ध होने पर भी जो सूत्र में 'अप्रत्यय' ग्रहण किया गया है, वह इस परिभाषा को सिद्ध करता है कि सूत्र में जो भाग भाव्यमान, विधीयमान या विधेय है, वह अपने सवर्ण का ग्राहक नहीं होता है अर्थात् कर्ता, अर्थ, या उसके कारणरूप हेतु से उसके द्वारा अपने सवर्ण का ग्रहण नहीं होता।

भाव यह है कि जैसे लोक में विधीयमान विवाहादिसम्बन्ध समान गोत्र या वंश वालों में न होकर मातृपक्ष में पांच गोत्र तथा पितृपक्ष या स्वयं के सात गोत्रों को छोड़कर ही होगा वैसे ही यहां शास्त्र में भी विधीयमान प्रत्यय, आगम या आदेश भी स्वजातीय या सवर्णों का ग्रहण नहीं करते। परिणामतः ''त्यदादीनामः[123] सूत्रविहित 'अ' आदेश से तथा ''अत इञ्[124]'' सूत्रप्रोक्त 'इञ्' प्रत्यय से जातिपक्ष में या सवर्ण संज्ञा के होने पर भी अपने सवर्णी दीर्घ-प्लुत अकार, इकार का सर्वथा ग्रहण नही होता। इसी प्रकार 'इमम्' यहां भी 'इदम् + अम्' इस अवस्था में जो मकार को ''त्यदादीनामः'' से अत्व होता है, वह प्रकृत परिभाषा के आधार पर मकारस्थानिक होने से सवर्णग्रहण द्वारा अनुनासिक अकार नही होता अपितु विशुद्ध निरनुनासिक अकार ही होता है। इस परिभाषा के ज्ञापन में ''ज्यादादीयसः[125]'' सूत्रस्थ 'आद्' यह दीर्घोच्चारण ही प्रमाण है। यदि विधीयमान आदेश आदि भी सवर्णग्रहण करते तो फिर इस सूत्र में 'आद्' ग्रहण से ही 'ईयसुन्' के दीर्घ ईकार के स्थान में आन्तरतम्य से दीर्घ आकार ही होता। फलतः 'आद्' यह दीर्घोच्चारण व्यर्थ हो जाता है। किन्तु व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नहीं। अतः व्यर्थ पड़कर 'आद्' यह दीर्घच्चारण ही फिर यह ज्ञापित करता है कि विधीयमान प्रत्यय, आदेश तथा आगम अपने सवर्ण का ग्रहण नहीं करता। यद्यपि 'पयोमुक्'

यहां ''चोः कुः[126]'' इत्यादि स्थलों में भाव्यमान के द्वारा भी सवर्णग्रहण देखा जाता है तथापि इसका कारण तो उक्त विधेय स्थलों में उकारोच्चारणसामर्थ्य ही है। अन्यथा उकारोच्चारण करना ही व्यर्थ हो जाएगा। सम्भवतः इसी स्थिति को देखते हुए भट्टोजिदीक्षित आदि नव्य वैयाकरण इस परिभाषा को केवल प्रथम अण् (अइउण्) तक ही सीमित करते हुए निम्नरूपेण संशोधित करके पढ़ते हैं - ''भाव्यमाणोऽण् सवर्णान्न गृह्णाति[127]। इस सन्दर्भ में अग्रिम न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है, तद् यथा-

33. भाव्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति न्याय

''यदि भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेत्युच्यते तदा अदसोऽसेर्दादु दो मः अमूभ्यामित्यत्र न प्राप्नोति। एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति - भवत्युकारेण भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणमिति यदयं दिव उत् इति उकारं तपरं करोति''।[128]

''तित् स्वरितम्[129]'' सूत्रभाष्य में भाष्यकार वार्तिककार की सहायता से प्रकृत परिभाषा को ज्ञापित करते हुए कहते हैं कि उस सूत्र पर ''तिति प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम् ऐसा कहना चाहिए जिससे 'गिरति' इत्यादि में ''ऋत इद्धातोः[130]'' सूत्रप्रोक्त इत् आदेश स्वरित न हो जाए। इस पर भाष्यकार शङ्का करते हैं कि यह वार्तिक तो अनावश्यक है। क्योंकि यह इत् आदेश तकारान्त न होकर 'इद्' ऐसा दकारान्त है। अतः यहां अनिष्ट स्वरित प्रसक्त नहीं होगा। इस पर पुनः आपत्ति करते हैं कि यदि यह इत् आदेश तकारान्त न होकर दकारान्त है तो फिर सवर्णग्रहण होकर ऋकाररूप दीर्घ स्थानी के स्थान में आन्तरतम्य से दीर्घ आकार आदेश प्राप्त होगा। तकारान्त पक्ष में तो अभीष्ट तत्काल का ही ग्रहण होगा।[131] इसका उत्तर देने के लिए भाष्यकार ने उक्त परिभाषा अवत्तरित की है।

इस पर पुनः शङ्का करते हैं कि किन्तु यदि विधीयमान से सब सवर्णों का ग्रहण नहीं होता है - ऐसा माना जाता है तो फिर 'अमूभ्याम्' इत्यादि में ''अदसोऽसेः''[132] सूत्रप्रोक्त 'अदस्' शब्द से परे ह्रस्व स्वर को ह्रस्व उकार तथा दीर्घ स्वर को दीर्घ ऊकार कैसे सिद्ध हो सकेगा ? क्योंकि यहां साक्षात् तो ह्रस्व उकार ही विधीयमान है। अतः प्रकृत परिभाषा द्वारा भाव्यमान से सवर्णग्रहण न होने के कारण उक्त प्रयोग में दीर्घ स्वर के स्थान में फिर दीर्घ ऊकार कैसे हो सकेगा ? इस तरह उक्त ह्रस्वविधान व्यर्थ हो जाता है। परन्तु व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नहीं। अतः व्यर्थ पड़कर फिर यह उत्वविधान यह ज्ञापित करता है कि उकार तो भाव्यमान होने पर भी सवर्णग्रहण करता ही है। इस विषय में ''दिव उत्''[133] तथा ''ऋत उत्''[134] सूत्रस्थ उकारों को किया गया तपरकरण ही ज्ञापक हैं। क्योंकि यह तपरकरण तत्काल ग्रहण के लिए किया जाता है। अब यदि यह उकार विधीयमान होने से सवर्णग्रहण नहीं करता तो फिर उसमें सवर्णग्रहण को रोकने के लिए तपरकरण की क्या आवष्यकता थी ? ऐसी स्थिति में व्यर्थ पड़कर यह तपरकरण ही फिर यह सिद्ध करता है कि जैसे लोक में सामान्य

रूप से तो विधीयमान विवाहसम्बन्ध मातृपक्ष के पांच गोत्र तथा पितृपक्ष के सात गोत्रों को छोड़कर ही किया जाता है परन्तु अपवादरूप में कभी-कभी इस नियम का अतिक्रमण भी देखा जाता है और वह मान्य भी होता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी सामान्यतया तो भाव्यमान सवर्ण का ग्रहण नहीं करता परन्तु उकार तो विधीयमान होकर भी अपवादस्वरूप सवर्णग्रहण करता ही है।

34. तत्कारी तद्द्वेषी न्याय

"नैष दोषः। नात्र बहुवचनेन निर्देशस्तन्त्रम्। कथं पुनस्तेनैव च नामनिर्देशः क्रियते, तच्चातन्त्रं स्यात्? तत्कारी च भवांस्तद्द्वेषी च। नान्तरीयकत्वादत्र बहुवचनेन निर्देशः क्रियते, - अवश्यं कदाचिद् विभक्त्या केनचिद् वचनेन निर्देशः कर्तव्य इति।"[135]

यह न्याय भाष्यकार ने "स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्" सूत्रभाष्य में उपयुक्त किया है। सूत्रस्थ 'अनुदात्तानाम्' इस बहुवचननिर्देश को देखकर भाष्यकार यह शङ्का करते हैं कि 'आग्निवेश्यः पचति' यहां प्रकृत सूत्र द्वारा स्वरित से परे सभी अनुदात्तों को एकश्रुति नहीं प्राप्त होती। क्योंकि सूत्र में बहुवचननिर्देश के कारण जहां अनेक अनुदात्त होंगे वहीं पर ही स्वरित से परे उनको इस सूत्र से एकश्रुति हो सकेगी, एक या दो अनुदात्तों को नहीं। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि वस्तुतः यहां सूत्रस्थ 'अनुदात्तानाम्' यह बहुवचननिर्देश विवक्षित नहीं है। किन्तु आगे इस पर प्रकृत न्याय से आपत्ति करते हैं कि यह आप कैसी परस्पर विरोधी बात कहते हैं ? क्योंकि इधर आप स्वयं ही बहुवचन का प्रयोग भी कर रहे हैं और उधर स्वयं ही उसको विवक्षित भी नहीं मान रहे हैं। अब उसका अन्तिम समाधान भाष्यकार धान्यपलाल तथा मत्स्य कण्टकरूप अगले नान्तरीयक न्याय से करते हैं कि पद बनाने के लिए किसी न किसी विभक्ति, लिङ्ग या वचन से तो निर्देश करना ही था। अतः बहुवचन से निर्देश कर दिया तो क्या हानि हो गई ? ऐसी स्थिति में इस बहुवचननिर्देश में एकशेष के कारण एकवचन और द्विवचन भी अनुगृहीत हो जाएंगे तो एक या दो अनुदात्तों को भी इस सूत्र से एकश्रुति सिद्ध हो जाएगी। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।

35. अर्थवशाद् वचनविपरिणाम न्याय / दृश्यते खल्वपि वचनविप्रयोगः न्याय

"दृश्यते खल्वपि विप्रयोगः, तद्यथा- अक्षीणि मे दर्शनीयानि, पादा मे सुकुमारा इति। एवं दृष्टविप्रयोगाच्च व्यतिकरः प्राप्नोति। इष्यते चाव्यतिकरः स्यादिति। तच्चान्तरेण यत्नं न सिध्यतीति नियमार्थं वचनम्"।[136]

"बहुषु बहुवचनम्" इस सूत्र का प्रयोजन बताते हुए भाष्यकार कहते हैं कि वचनों में विरुद्ध प्रयोग भी दीखता है, जैसे लोक में आंखों के तथा पैरों के दो होने पर भी 'अक्षीणि मे दर्शनीयानि' अर्थात् मेरी आखें देखने योग्य हैं तथा 'पादा मे सुकुमाराः' अर्थात् मेरे पैर सुकोमल या मुलायम हैं - यहां 'अक्षीणि' और 'पादाः' मे बहुवचन

के प्रयोग होते हैं। इस प्रकार लोकव्यवहार में बहुत्व के बिना भी द्वित्व या द्वित्व में भी बहुवचन देखा जाता है। फलतः एकत्वादि अर्थों में एकवचन, द्विवचन, बहुवचनादि का संकर प्राप्त होता है। इष्ट है कि वचनों का संकर न हो। यह बात बिना यत्न के सिद्ध नहीं होती। इसलिए "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" तथा "बहुषु बहुवचनम्" ये नियम सूत्र बनाए गए हैं जिससे एकत्व अर्थ में एकवचन, द्वित्व अर्थ में द्विवचन और बहुत्व अर्थ में बहुवचन ही हो सके। अर्थ की दृष्टि से प्रकृत वचनविपरिणाम न्याय की हम (अर्थवशाद्) विभक्तिविपरिणाम तथा लिङ्गविपरिणाम के साथ तुलना कर सकते हैं।

36. यत् सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते तदपि लक्षणं भवति न्याय / कमण्डलुपाणि छात्र न्याय

"न ह्यवश्यं तदेव लक्षणं भवति येन पुनः पुनर्लक्ष्यते। किं तर्हि? यत् सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते तदपि लक्षणं भवति। तद् यथा- अपि भवान् कमण्डलुपाणिं छात्रमद्राक्षीदिति। सकृदसौ कमण्डलुपाणिश्छात्रो दृष्टस्तस्य तदेव लक्षणं भवति॥"[137]

"अनुर्लक्षणे" सूत्र में 'लक्षण' शब्द के स्थान में 'हेतु' शब्द रखकर "अनुर्हेतौ" ऐसा सूत्र बनाना चाहिए - यह वार्तिककार का कथन सुनकर भाष्यकार कहते हैं कि यदि 'लक्षण' शब्द से ही 'हेतु' का अर्थ भी संगृहीत हो जाता है तो सूत्र बदलने की क्या आवश्यकता है? फिर तो "अनुर्लक्षणे" यही यथान्यास सूत्र ठीक है। 'लक्षण' से 'हेतु' भी व्याप्त है। क्योंकि लक्षण केवल वही नहीं होता जिससे बार-बार लक्षित हो अपितु वह भी लक्षण ही होता है जो एक बार भी किसी को लक्षित करने में निमित्त बनता हो।[138] जैसे लोक में पूछते हैं कि आपने कमण्डलु हाथ में लिए हुए छात्र को देखा है? यहां कभी किसी समय एकबार ही हाथ में कमण्डलुवाला छात्र दीखने पर यह प्रश्न बन जाता है कि उक्त लक्षणवाला छात्र आपने देखा है या नहीं? ध्यान रहे कि जिसके हाथ में प्रायः कमण्डलु रहता है, उस छात्र का लक्षण या परिचायक तो कमण्डलु है ही परन्तु एकाध बार कमण्डलु हाथ में रखने पर भी वह कमण्डलु उस छात्र का सदा के लिए लक्षण बन जाता है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में यदि एक बार भी शाकल्य की संहिता के पाठ के बाद वर्षा हो जाती है तो उस वर्षा का लक्षण वह संहिता का पाठ बन जाता है। जैसे संहिता का पाठ वर्षा का हेतु है, कारण है, वैसे ही वह वर्षा का लक्षण भी है, निशानी या चिह्न भी है। इसलिए "अनुर्लक्षणे" सूत्र से ही काम चल जाने पर "अनुर्हेतौ" बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी उद्धृत हुआ है।[139]

37. भवति विशेषः स्वस्मिन् भ्रातरि पितृव्यपुत्रे च न्याय

"कानि पुनः समर्थतराणि? यानि द्वन्द्वभावीनि। कुत एतत्? एषां ह्याशुतरा वृत्तिः। प्राप्नोति। तद्यथा- समर्थतरोऽयं माणवकोऽध्ययनायेत्युच्यते। आशुतरग्रन्थ इति गम्यते।

अपर आह-समर्थतराणां वा पदानां समासो भविष्यति। कानि पुनः समर्थतराणि? यानि द्वन्द्वभावीनि। कुत एतत्? एतानि समानविभक्तिकानि। अन्यविभक्तिः राजा। भवति विशेषः स्वस्मिन् भ्रातरि पितृव्यपुत्रे च।[140]

"समर्थः पदविधिः" सूत्र के भाष्य में भाष्यवार्तिककार कहते हैं 'राज्ञः गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च' इस विग्रह में समास का रूप क्या होगा? क्योंकि यहां दो समास एक साथ प्राप्त होते हैं। 'राज्ञः' इस षष्ठ्यन्त का 'गो' शब्द के साथ षष्ठीतत्पुरुषसमास और 'गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च' इन तीनों का इतरेतरयोगरूप द्वन्द्वसमास है। वैसे तो दोनों में ही सापेक्षता होने से असमर्थता है और "सापेक्षमसमर्थं भवति"[141] इस वचन से यहां अनेक सम्बन्धियों की विवक्षा में परस्पर सबके सापेक्ष होने के कारण समास प्राप्त ही नहीं। इसलिए वार्तिककार ने "प्रचये समासप्रतिषेधः"[142] इस वचन द्वारा यहां समास का निषेध होना ही अभीष्ट माना है। फिर भी यदि समास करना ही इष्ट हो तो यहां "गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च" इनका पहले द्वन्द्व समास होकर पीछे से 'गवाश्व पुरुषाः' का 'राज्ञः' इस षष्ठ्यन्त से षष्ठीतत्पुरुषसमास माना जाता है। क्योंकि 'राज्ञः गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च इति राजगवाश्वपुरुषाः' यह समास का रूप अभीष्ट है। यदि पहले षष्ठी तत्पुरुष कर लें तो 'राजगवी' बनेगा। उसका 'अश्वपुरुष' इस द्वन्द्व के साथ सम्बन्ध होने पर अभीष्टार्थ की प्रतीति सर्वथा असंभव है। इसलिए उक्त विग्रह में तत्पुरुष से पहले द्वन्द्वसमास स्वीकार किया गया है।

इसी बात को सिद्ध करने के लिए भाष्यकार कहते हैं कि दोनों समासों में जिसके समर्थतर पद हैं अर्थात् दूसरे की अपेक्षा जिसके पद अर्थबोधन में अधिक शक्त हैं, उन पदों का पहले समास हो जाएगा। इस पर पूछते हैं कि किसके पद अधिक समर्थ हैं? तो उत्तर देते हैं कि जो द्वन्द्वसमास में आते हैं अर्थात् द्वन्द्वसमास में वर्तमान पद तत्पुरुष की अपेक्षा अर्थबोधन में समर्थतर हैं। क्योंकि इन पदों की वृत्ति शीघ्र बन जाती है। द्वन्द्व समास में सब पद प्रथमाविभक्त्यन्त होते हैं। प्रथमा विभक्ति प्रातिपदिक के स्वरूपनिर्देश में होती है। प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा विभक्ति का विधान होता है।[143] अन्य द्वितीयादि विभक्तियां तो कर्मादिकारकों की अपेक्षा करके होती हैं। इसलिए वे प्रथमा की अपेक्षा बहिरङ्ग हैं। प्रथमा सबसे अन्तरङ्ग है।[144] इसलिए प्रथमाविभक्त्यन्त पदों वाला द्वन्द्वसमास ही पहले होगा। तत्पुरुष समास में तो षष्ठी विभक्ति व्यतिरेक में होती है जो सर्वथा बहिरङ्ग है।

इसके लिए भाष्यकार लौकिक उदाहरण उपस्थित करते हैं कि जैसे लोक में 'समर्थतरोऽयं माणवकोऽध्यनाय' ऐसा कहते हैं अर्थात् यह बालक अन्यों की अपेक्षा पढ़ने में अधिक समर्थ है। यह अतिशीघ्र ग्रन्थों का बोध कर लेता है, आशुतर ग्रन्थ है। उस बालक में उक्त विशेषता देखकर ही ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार यहां तत्पुरुष और द्वन्द्व समास में भी द्वन्द्व के पद आशुतर अर्थ का बोध कराने वाले हैं।

इसलिए पहले द्वन्द्वसमास ही होगा। बाद में षष्ठीतत्पुरुषसमास होकर 'राजगवाश्वपुरुषाः' यह इष्ट रूप बन जाएगा।

इसी बात को दूसरे आचार्य यूं कहते हैं कि उक्त विग्रह में समर्थतर पदों का समास पहले हो जाएगा। पूछते हैं कि कौन से पद समर्थतर हैं? उत्तर है कि जो द्वन्द्व समास में आने वाले हैं। क्योंकि ये पद समानविभक्ति वाले हैं। 'गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च' यहां इन सब में एक प्रथमा विभक्ति ही है। षष्ठीतत्पुरुषसमास में तो 'राज्ञः' यह षष्ठी है जो प्रथमान्तों से भिन्न है। अपने सगे भाई और चाचा के बेटे (चचेरे भाई) में कुछ भेद तो होता ही है। सगा भाई समानोदर वाला होने से अधिक निकटतर है। चाचा का बेटा उसकी अपेक्षा दूर है। यद्यपि भाई वह भी है तथापि वह चचेरा भाई कहलाता है, सगा नहीं। इसलिए "राज्ञः गौश्च अश्वश्च पुरुषश्च" इस विग्रह में द्वन्द्व और तत्पुरुष की प्रतिस्पर्धा में आशुतरपदवाला होने से द्वन्द्व और समास पहले होकर बाद में षष्ठीतत्पुरुषसमास होगा तो 'राजगवाश्वपुरुषाः' यह अभीष्ट रूप बन जाएगा। आगे चलकर "समुदायसामर्थ्याद्वा सिद्धम्"[145] इस वार्तिक द्वारा बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि उक्त विग्रह में 'राज्ञः' इस षष्ठ्यन्त 'राजन्' शब्द का केवल गौ से सामर्थ्य नहीं है अपितु गौ, अश्व तथा पुरुष इन तीनों के साथ है। इसलिए गौ, अश्व, पुरुष इस समुदाय को साथ लेकर ही 'राजन्' शब्द का उनके साथ समास संभव है, केवल अवयव रूप गौ के साथ नहीं। उससे द्वन्द्वसमास पहले करना अनिवार्य हो जाता है।

ध्यान रहे कि एक तरफ तो भाष्यकार सगे भाई तथा चचेरे भाई में अन्तर मानते हैं वहीं दूसरी तरफ ये धर्मशाला में रात्रिभर विश्राम करने वाले यात्रियों के समान नौ मास माता के उदर में रहने वाले दो भाइयों में विद्यमान सम्बन्ध को भी सन्दिग्ध मान रहे हैं। इस विषय में शास्त्रीय प्रसङ्ग तो यद्यपि भिन्न है तथापि लोकव्यवहाराश्रित भाष्यकारीय निदर्शन तुल्य होने से अग्रिम न्याय भी यहीं प्रस्तुत है, तद् यथा-

38. सार्थिकानामेकप्रतिश्रये उषितानां न कश्चित् परस्परं सम्बन्धो भवति (सार्थिकप्रतिश्रयसम्बन्ध) न्याय / प्रपामेल न्याय

"अस्तु तर्ह्ययमेव विग्रहोऽर्ध तृतीयमनयोरिति। ननु चोक्तं षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते इति। नैष दोषः। इदं तावदयं प्रष्टव्यः-अथेह देवदत्तस्य भ्रातेति कः षष्ठ्यर्थः इति? तत्रैतत् स्यादेकस्मात् प्रादुर्भाव इति। एतच्च वार्तम्। तद् यथा- सार्थिकानामेकप्रतिश्रये उषितानां प्रातरुत्थाय प्रतिष्ठमानानां न कश्चित् परस्परं सम्बन्धो भवति। एवञ्जातीयकं भ्रातृव्यं नाम। अत्र चेद् युक्तः षष्ठ्यर्थो दृश्यते इहापि युक्तो दृश्यताम्"।[146]

"अनेकमन्यपदार्थे" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार पूछते हैं कि 'अर्धतृतीयाः शब्द में क्या समास है और क्या इसका विग्रह है? उत्तर देते हैं कि यहां बहुव्रीहिसमास है और 'अर्ध तृतीयमेषाम्' यह इसका विग्रह है। फिर पूछते हैं कि यदि 'अर्धं तृतीयमेषाम्'

यह विग्रह है तो 'एषाम्' इस समासार्थ में अन्यपदार्थ क्या बना? क्योंकि बहुव्रीहिसमास अन्यपदार्थ में होता है।[147] यहां तो दो पूरे और तीसरा आधा यह अवयवरूप समुदाय ही समास का अर्थ दीखता है। समस्यमान अर्धतृतीय शब्द से अन्य पद का अर्थ तो प्रकट नहीं होता। जिस समुदाय में आधा तीसरा और दो पूरे हैं, वही तो अर्धतृतीय होता है। इसके अतिरिक्त अन्यपदार्थ क्या है तो इसका उत्तर देते हैं- "**अवयवेन विग्रहः समुदायः समासार्थः**"[148] अर्थात् यहां जिन अर्ध और तृतीय शब्दों का समास है, वे ही समुदायरूप समासार्थ के अवयव हैं। इसलिए समुदाय के अवयवों को लेकर विग्रह हो जाएगा। समुदाय और अवयवों में कभी भेदविवक्षा तथा कभी अभेदविवक्षा भी होती है। यहां भेदविवक्षा करके समासार्थ समुदाय को उसके अवयवों से भिन्न मानकर अन्यपदार्थ की उपपत्ति हो जाएगी। फिर कहते हैं-

'अर्धं तृतीयमेषाम्' इस विग्रह के स्थान में 'अर्धं तृतीयमनयोः' ऐसा विग्रह मान लिया जाएगा। परन्तु इसमें यह दोष आता है कि तब समास का अर्थ द्वित्व हो जाएगा। जिन दो में तीसरा आधा है, वे 'अर्धतृतीय' शब्द से व्यपदिष्ट दो हुए। उन दो का ही क्रियान्वयन होगा, तीसरे आधे का नहीं।

इसके अतिरिक्त आधे का उन दो से क्या सम्बन्ध है ? क्योंकि वह आधा तो तीसरा है। दो से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिए 'अनयोः' यह षष्ठी सम्बन्ध के अभाव में कैसे हो सकेगी? इस प्रकार 'अर्धं तृतीयमनयोः' इस द्विवचनान्त विग्रह में अन्यपदार्थ बनने पर भी अर्ध और तृतीय का 'अनयोः' के साथ षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध सर्वथा ही नहीं बनता।

इस दोष का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं। हम पूछते हैं कि '**देवदत्तस्य भ्राता**' (देवदत्त का भाई) यहां 'देवदत्त' इस षष्ठ्यन्त का 'भ्राता' के साथ क्या सम्बन्ध है ? 'देवदत्त का भाई' देवदत्त का क्या लगता है? स्वस्वामिभाव, जन्यजनकभाव या गुरुशिष्यभाव आदि कोई सम्बन्ध देवदत्त का उसके भाई के साथ नहीं है। फिर सम्बन्ध के अभाव में 'देवदत्त' शब्द से षष्ठी कैसे हुई? यदि कहो कि और तो कोई सम्बन्ध नहीं बनता, परन्तु हां, एक माता के पेट से पैदा होना दोनों में समान है। इतने मात्र से देवदत्त का भाई के साथ सम्बन्ध हो जाता है। परन्तु यह एक निःसार बात है। क्योंकि भाष्यकार के अनुसार जिस तरह बहुत से यात्री या पथिक एक धर्मशाला या आश्रम आदि में रात भर रहे और प्रातः उठकर चल दिए। कोई कहीं गया और कोई कहीं। उनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता - यह प्रत्यक्ष लोकव्यवहार हम देखते हैं। इसी तरह भ्रातृत्व भी किसी सम्बन्ध का परिचायक नहीं है। कौन किसका भाई है? भाई होने से क्या विशेषता हो जाती है? स्पष्ट है कि पुत्र, शिष्य आदि के सम्बन्ध तो फिर भी विदित हैं किन्तु भ्रातृत्व का सम्बन्ध तो धर्मशाला में रहे हुए यात्रियों के समान है। फिर भी यदि भ्रातृत्व में समानोदरशायित्वरूप या

समानोदरजन्यत्वरूप सम्बन्ध को मानकर 'देवदत्तस्य भ्राता' में षष्ठी की जाती है तो यहां 'अर्धं तृतीयमनयोः' इस विग्रह में भी दो के साथ तीसरे आधे का 'एकसाथ विवक्षा रूप सम्बन्ध' कल्पित करके षष्ठी कर सकते हैं। इस प्रकार षष्ठ्यर्थ की उपपत्ति होने पर भी 'अनयोः' इस द्विवचनान्त समासार्थ में तृतीय अर्थ का क्रियान्वयन नहीं हो सकता, यह दोष तो अपरिहार्य है ही। इसलिए उक्त विग्रह न करके 'अर्धं तृतीयमेषाम्' यह बहुवचनान्त विग्रह करना ही ठीक है। इस विग्रह में कथित दोष का समाधान पहले हो चुका है।

39. नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः न्याय / नञिवयुक्त न्याय / अब्राह्मणानयन न्याय

"नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः। नञ्युक्तमिवयुक्तं चान्यस्मिन् तत्सदृशे कार्यं विज्ञायते। तथा ह्यर्थो गम्यते। तद् यथा- अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशं पुरुषमानयति, नासौ लोष्टमानीय कृती भवति। एवमिहापि अकर्तरीति कर्तृप्रतिषेधादन्यस्मिन् अकर्तरि कर्तृसदृशे कार्यं विज्ञास्यते। किं चान्यदकर्तृ कर्तृसदृशम्? कारकम्।"[149]

"अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार लोकन्यायसिद्ध व्याकरण शास्त्रीय परिभाषा द्वारा 'अकर्तरि' इस पद में प्रसज्यप्रतिषेध न मानकर पर्युदास सिद्ध करते हुए कहते हैं कि नञ् से युक्त तथा इव से युक्त शब्दों में तद्भिन्न तत्सदृश में कार्य होता है। यहां 'अकर्तरि' शब्द नञ् से युक्त है। इसलिए कर्ताभिन्न कर्ता के सदृश में कार्य होगा। कर्ताभिन्न और कर्तासदृश केवल कारक ही हो सकता है। इसलिए 'अकर्तरि' ग्रहण से स्वतः ही कारक का बोध हो जाएगा तो 'कारक' ग्रहण सूत्र में व्यर्थ है। क्योंकि पर्युदासपक्ष में तद्भिन्न तत्सदृश के ग्रहण से ही अर्थ का बोध होता है।[150] जैसे- 'अब्राह्मणमानय' ऐसा कहने पर ब्राह्मणभिन्न ब्राह्मणसदृश क्षत्रिय आदि पुरुष ही लाया जाता है, लोष्ट या मिट्टी के ढेले को लाकर कोई भी कृतकार्य नहीं होता। यद्यपि लोष्ट भी ब्राह्मणभिन्न है किन्तु वह ब्राह्मणसदृश नहीं है। ब्राह्मण मनुष्य है, उसका सादृश्य लोष्ट में नहीं है। इसलिए ब्राह्मणसदृश न होने से लोष्ट नहीं लाया जाता अपितु ब्राह्मणभिन्न ब्राह्मणसदृश कोई मनुष्य (क्षत्रियादि) ही लाया जाता है।

इसके विपरीत प्रसज्यप्रतिषेध इससे सर्वथा भिन्न होता है। वह क्रिया से सम्बद्ध होकर क्रिया का निषेध करता है।[151] उस पक्ष में 'अकर्तरि' शब्द का अर्थ 'कर्ताकारक में 'घञ्' प्रत्यय नहीं होता - यह होगा। इसी प्रकार 'अब्राह्मणमानय' का अर्थ पर्युदासपक्ष में ब्राह्मणभिन्न को लाओ - यह होता है और प्रसज्यप्रतिषेध में 'ब्राह्मण को न लाओ' - ऐसा होता है। किन्तु प्रसज्यप्रतिषेध मानने पर 'अब्राह्मणमानय', 'अकर्तरि' इत्यादि में असमर्थ समास मानना पड़ेगा। क्योंकि उस पक्ष में 'नञ्' का सम्बन्ध द्रव्य से न

होकर क्रिया से होता है जिसके साथ समास संभव नहीं है। यहां भाष्यकार ने 'नञिवयुक्तन्याय' के प्रदर्शन से पर्युदास पक्ष को स्वीकार किया है जोकि सर्वथा समुचित है। प्रसज्यप्रतिषेध में तो 'अकर्तरि' में समास ही अनुपपन्न है। 'अश्राद्धभोजी', 'अलवणभोजी', 'असूर्यम्पश्या', 'अनपुंसकस्य', 'अपुनर्गेयाः श्लोकाः' इत्यादि प्रसज्यप्रतिषेध के समास तो अपवादरूप ही हैं[152] जोकि शिष्टप्रयुक्त होने से ही स्वीकार्य हैं।

इसी प्रकार "आदेच उपदेशेऽशिति" सूत्र भाष्य[153] में भी भाष्यकार ने 'अशित्' शब्द में प्रसज्यप्रतिषेध न होकर पर्युदास है - यह बताने के लिए इस न्याय का उपन्यास किया है। ध्यान रहे कि अन्तिम सिद्धान्त रूप में तो 'अशिति' को प्रसज्यप्रतिषेध ही स्वीकार किया गया है - "शिति न भवति इति"। यह न्याय अन्यत्र भी पर्याप्त व्यवहृत हुआ है।[154]

40. नान्तरीयक न्याय/धान्यपलाल न्याय/मत्स्यकण्टक न्याय/ब्राह्मणानां पूर्व आनीयतामित्युक्ते सर्वपूर्व आनीयते न्याय

"नान्तरीयकत्वादत्र द्विवचनेन निर्देशः क्रियते। अवश्यं कयाचिद् विभक्त्या केनचिद्वचनेन निर्देशः कर्त्तव्यः। तद् यथा- कश्चिदन्नार्थी शालिकलापं सतुषं सपलालमाहरति नान्तरीयकत्वात्। स यावदादेयं तावदादाय तुषपलालान्युत्सृजति। तथा कश्चिन् मांसार्थी मत्स्यान् सशकलान् सकण्टकानाहरति नान्तरीयकत्वात्। स यावदादेयं तावदादाय शकलकण्टकान्युत्सृजति। एवमिहापि नान्तरीयकत्वाद् द्विवचनेन निर्देशः क्रियते। न ह्यत्र निर्देशस्तन्त्रम्।

एवमपि लोकविज्ञानान्न सिध्यति। तद् यथा लोके ब्राह्मणानां पूर्व आनीयतामित्युक्ते सर्वपूर्व आनीयते। एवमिहापि सर्वपूर्वायाः क्रियायाः प्राप्नोति। नैष दोषः। सर्वेषामत्र व्रजिक्रियां प्रति पौर्वकाल्यम्। स्नात्वा, व्रजति, पीत्वा व्रजति, भुक्त्वा व्रजतीति। एवं च कृत्वा प्रयोगोऽनियतो भवति। स्नात्वा, भुक्त्वा पीत्वा व्रजति। पीत्वा, स्नात्वा, भुक्त्वा व्रजतीति।"[155]

"समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" सूत्र के भाष्य में भाष्यवार्तिककार पहले 'समानकर्तृकयोः' इस द्विवचननिर्देश पर आक्षेप करते हैं कि द्विवचननिर्देश से तो केवल दो क्रियाओं की पूर्वकालता में ही 'क्त्वा' प्रत्यय प्राप्त होगा। फलतः 'स्नात्वा, भुक्त्वा, पीत्वा व्रजति' इत्यादि बहुत सी क्रियाओं की पूर्वकालता में 'क्त्वा' नहीं प्राप्त होगा। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि नान्तरीयक न्याय के अनुसार कोई न कोई निर्देश करना आवश्यक होने से यहां 'समानकर्तृकयोः' यह द्विवचन से निर्देश किया है अर्थात् किसी न किसी विभक्ति या वचन से तो निर्देश करना ही है। वह अन्य विभक्ति या वचन से निर्देश न कर षष्ठी या सप्तमी के द्विवचन से निर्देश कर दिया है। वस्तुतः यह द्विवचननिर्देश मुख्य तात्पर्य का विषय नहीं है,

केवल निर्देशमात्र है अर्थात् यह द्विवचन यहां विवक्षित नहीं है अपितु द्विवचन के साथ बहुवचन भी समझ लेना चाहिए। इस विषय में भाष्यकार लौकिक दृष्टान्त देते हैं - अन्नार्थी और मांसार्थी का। यह लोकन्याय अन्य सूत्रों में यथास्थान व्याख्यात हो चुका है अतः वहीं द्रष्टव्य है।[156] यहां तो केवल 'समानकर्तृकयोः' इस द्विवचननिर्देश के समर्थन के लिए इसका उपन्यास किया गया है।

यहां दूसरा आक्षेप 'पूर्वकाले' पर है। लोकविज्ञान के आधार पर 'स्नात्वा, भुक्त्वा, पीत्वा व्रजति' इन तीनों में पूर्वकालता नहीं बनती अपितु केवल सबसे पूर्व पठित 'स्नात्वा' में ही बनती है। क्योंकि लोक में हम देखते हैं 'इन ब्राह्मणें में पहला बुलाओ'- ऐसा कहने पर सबसे पहला ब्राह्मण ही बुलाया जाता है, अवान्तरवर्ती पहले ब्राह्मण नहीं बुलाए जाते। इसी प्रकार यहां भी जो सर्वप्रथम पूर्व है, उस 'स्नात्वा' में ही पूर्वकालता होकर उसी से 'क्त्वा' प्राप्त होता है, अन्यों से नहीं । इसका भी समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि 'स्नात्वा, भुक्त्वा, पीत्वा व्रजति' यहां 'स्नात्वा' आदि सभी की 'व्रजति' क्रिया के प्रति पूर्वकालता है, केवल 'स्नात्वा' की ही नहीं । क्योंकि 'स्नात्वा व्रजति', 'भुक्त्वा व्रजति', 'पीत्वा व्रजति' यह अर्थ यहां विवक्षित है अर्थात् स्नान करके जाता है, भोजन करके जाता है तथा पान करके जाता है। सभी की पूर्वकालता मानने पर किसी को भी पहले बोल सकते हैं। फलतः 'स्नात्वा, भुक्त्वा, पीत्वा व्रजति' की तरह 'पीत्वा, स्नात्वा, भुक्त्वा व्रजति' यह भी प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार प्रयोग के अनियत होने से सभी की पूर्वकालता सिद्ध हो जाती है।

पदमञ्जरीकार भी प्रकृत सूत्र की व्याख्याप्रसङ्ग में इस न्याय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे लोक में 'इन ब्राह्मणों में पहले को ले आओ' - ऐसा कहने पर जो सबसे पहला ब्राह्मण होता है, वही लाया जाता है, उससे भिन्न अन्य ब्राह्मण की अपेक्षा जो ब्राह्मण पूर्व है, वह नहीं लाया जाता। इसी प्रकार "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" इस सूत्र से पूर्वकाल में होने वाली क्रिया के कहने में 'क्त्वा' प्रत्यय विधान किया गया है। ऐसी स्थिति में 'स्नात्वा, पीत्वा, भुक्त्वा, दत्त्वा, व्रजति' इस वाक्य में मुख्य 'व्रजति' क्रिया से पूर्व आने वाली स्नान, पान, भोजन आदि जो क्रियाएं हैं, वे चाहे कितनी भी हों, वे सब अन्तिम 'व्रजति' क्रिया से पूर्व होने वाली होने से उन सब में 'क्त्वा' प्रत्यय सिद्ध हो जाता है। यहां 'पूर्वकाल' शब्द से केवल एक ही क्रिया के पूर्वकाल में होने से 'क्त्वा' नहीं होगा अपितु सभी क्रियाएं जो मुख्य क्रिया से पहले आने वाली हैं, उन सब में 'क्त्वा' हो जाएगा। इसलिए यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि जो सबसे पहली 'स्नात्वा' यह क्रिया है, उसी में 'क्त्वा' प्रत्यय होना चाहिए और में नहीं। यहां तो सभी क्रियाएं 'व्रजति' क्रिया से पूर्व हैं, इसलिए वे सभी 'क्त्वा' प्रत्यय के योग्य हैं। इस विषय में भर्तृहरि लिखते हैं-

"यथानेकमपि क्त्वान्तं तिङन्तस्य विशेषकम्।
तथा तिङन्तं तत्राहुस्तिङन्तस्य विशेषकम्॥"[157]

41. सन्नियोगशिष्ट न्याय

"सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः। तद् यथा- देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिदं कर्त्तव्यम्। देवदत्तापाये यज्ञदत्तोऽपि न करोति।"[158]

"पूतक्रतौरै च" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार सन्नियोगशिष्टन्याय उपस्थित करते हैं। इसका अर्थ है कि जो एक साथ कहे गए हैं, उनमें एक का अभाव होने पर दूसरे का भी अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है, जैसे- 'पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स पञ्चेन्द्रः' यहां देवता अर्थ में "सास्य देवता"[159] से 'अण्' प्रत्यय होता है। तद्धितार्थ में द्विगु समास होने पर 'अण्' प्रत्यय का "द्विगोर्लुगनपत्ये"[160] से लुक् हो जाता है। इसके बाद "लुक् तद्धितलुकि"[161] से इन्द्राणी शब्द में विद्यमान स्त्री प्रत्यय 'ङीष्' का भी लुक् हो जाता है। ऐसी स्थिति में 'ङीष्' की निवृत्ति के साथ तत्सन्नियोगशिष्ट 'आनुक्' आगम की भी उक्त न्याय से निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि "इन्द्रवरुणभवशर्वेन्द्र"[162] इत्यादि 'ङीष्' विधायक सूत्र से 'ङीष्' के साथ ही 'आनुक्' आगम का भी विधान होता है। इसलिए 'ङीष्' और 'आनुक्' ये दोनों सन्नियोगशिष्ट हैं या एक साथ कहे गए हैं। लोक में हम देखते हैं कि जो काम देवदत्त-यज्ञदत्त दोनों ने करना है, उस काम को देवदत्त के अभाव में यज्ञदत्त भी नहीं करता।

ध्यान रहे कि लौकिक होता हुआ यह न्याय शास्त्रज्ञापकसिद्ध भी है।[163] इसीलिए "बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्"[164] सूत्र में केवल 'छ' मात्र का लुक् करने के लिए इसमें 'छ' ग्रहण किया गया है। अन्यथा उक्त न्याय से 'छ' प्रत्यय सन्नियोगशिष्ट 'कुक्' आगम का भी लुक् हो जाता। यह बिल्व शब्द नडादिगण में पठित है। उससे 'बिल्वाः सन्ति यस्यां सा बिल्वकीयाः' इस चातुरर्थिक अर्थ में "नडादीनां कुक् च"[165] से 'छ' प्रत्यय तथा उसके साथ 'कुक्' का आगम भी सन्नियोगशिष्ट होता है। इसके बाद 'बिल्वकीयायां भवाः बैल्वकाः' यहां भव अर्थ में 'अण्' प्रत्यय परे रहते "बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्" से 'छ' मात्र का लुक् होता है, सन्नियोगशिष्ट कुक् की निवृत्ति नहीं होती। अवधेय है कि उक्त सूत्र में तो इस न्याय का स्वरूप - "सन्नियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः"[166] ऐसा है। वस्तुतः इनमें शब्द का ही भेद है। अर्थ तो दोनों का एक है। यहां अपाय शब्द है और वहां अभाव शब्द है। व्याकरणशास्त्र में इस न्याय का प्रचुर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[167] जैसे लोक में एक ही बात को लेकर भिन्न-भिन्न व्यवहार दिखाई देते हैं वैसे ही शास्त्र भी उसका अपवाद नहीं है। अब कैयट पूर्वोक्त सन्नियोगशिष्ट न्याय का विरोधी न्याय प्रस्तु करते हैं-

42. यमलकयोरेकविनाशेऽपि नापरस्य विनाशः न्याय

"यद्यपि स्त्रीप्रत्ययेन सहागमादेशानां विधानं तथापि विधानोत्तरकालं स्त्रीप्रत्यये लुप्तेऽपि तेषां श्रवणं प्रसज्येत। तन्निवृत्तौ प्रमाणाभावात् यथा यमलकयोरेकविनाशेऽपि नापरस्य विनाशः इति भावः।"[168]

यह न्याय प्रदीपकार ने "पूतक्रतौरै च" सूत्र के भाष्य में "लिङ्गसन्नियोगेन सर्वत्रागमादेशानां वचने लिङ्गलुकि तत्कृतप्रसङ्गः" इस वार्तिक की व्याख्या में लिखा है। इसका अर्थ है कि जिस प्रकार दो जुड़वा पुत्रों के मध्य में एक का विनाश हो जाने पर भी दूसरे का विनाश नहीं होता इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी 'पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स पञ्चेन्द्रः' यहां इन्द्राणी शब्द में स्त्री प्रत्यय 'ङीष्' का "लुक् तद्धितलुकि"[169] से लुक् हो जाने पर भी 'आनुक्' आगम का श्रवण रहना चाहिए अर्थात् सन्नियोगशिष्टन्याय के आधार पर 'ङीष्' के साथ ही 'आनुक्' आगम की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार की शङ्का को सिद्ध करने के लिए इस न्याय का प्रयोग किया गया है। भाष्योक्त पूर्वोक्त उदाहरणों के आधार पर ही हरदत्त भी इतरेतरयोग को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

43. इतरेतरयोग न्याय

"इतरेतरयोगस्तु परस्परापेक्षाणामवयवभेदानुपगमेन समुदायरूपतामापन्नानामेकस्मिन्नर्थेऽन्वये सति भवति, यथा देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिदं कार्यमिति। तथैकापायेऽपि तद्भवति।"[170]

पदमञ्जरीकार ने यह न्याय "चार्थे द्वन्द्वः" इस सूत्र की व्याख्या में 'इतरेतरयोग' को समझाते हुए दिया है। इसका अर्थ है कि जैसे कोई कहे कि यह कार्य देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों ने करना है। अब उस कार्य को देवदत्त और यज्ञदत्त इनमें से एक के न होने पर भी किया जाता है। यद्यपि उस कार्य के प्रति दोनों एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं परन्तु उनमें से यदि एक का भी अभाव होगा तो भी उस कार्य को तो कोई सा करेगा ही। इसी प्रकार इतरेतरयोग द्वन्द्व में भी सब पद एक दूसरे की अपेक्षा से रहते हैं। इसलिए द्वन्द्वसमास बन जाता है। यदि इन पदों में कोई भी पद दूसरे की अपेक्षा न करे तो द्वन्द्वसमास नहीं होता। इसको समझाने के लिए ही यह न्याय प्रस्तुत किया गया है। न्यासकार ने भी इस न्याय को इसी स्थल पर उद्धृत किया है।

44. पितामहदारक न्याय

"एवं हि दृश्यते लोके पितामहस्योत्सङ्गे दारकमासीनं कश्चित् पृच्छति - कस्यायमिति। स आह-देवदत्तस्य यज्ञदत्तस्य वेति। उत्पादयितारं व्यपदिशति नात्मानम्"।[171]

"एको गोत्रे" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार अपत्य का सम्बन्ध उसके उत्पादक से है, अन्य से नहीं अर्थात् जिसने उसे उत्पन्न किया है, वह उसी का अपत्य है,

अन्य का नहीं - यह सिद्ध करते हुए कहते हैं कि लोक में ऐसा देखा जाता है कि दादा की गोदी में बैठे हुए बालक को देखकर कोई पूछता है- यह किसका बालक है? दादा कहता है कि देवदत्त या यज्ञदत्त का। इस तरह वह उस बालक के उत्पादक पिता का नाम लेता है, अपना नहीं। क्योंकि वह तो उसके उत्पादक पिता का उत्पादक है अर्थात् दादा है। सिद्धान्त पक्ष में तो अपत्य का सम्बन्ध सभी से है। **वह दादा का भी अपत्य है**- यह भाष्य में स्थिर किया गया है। पदमञ्जरीकार ने भी उक्त न्याय का उपन्यास किया है।[172]

45. द्वितीयतृतीय न्याय / अद्वितीय न्याय

न वा प्रथमविज्ञाने द्वितीयाप्राप्तिरद्वितीयत्वात्। न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? प्रथमविज्ञाने हि सति द्वितीयस्याप्राप्तिः स्यात्। किं कारणम्? अद्वितीयत्वात्। न हीदानीं प्रथमद्विर्वचने कृते द्वितीयो द्वितीयो भवति। कस्तर्हि? तृतीयः। तद् यथा- द्वयोरासीनयोस्तृतीय उपजायमाने न द्वितीयो द्वितीयो भवति। कस्तर्हि? तृतीयः''।[173]

''अजादेर्द्वितीयस्य'' सूत्रभाष्य में भाष्यकार ने प्रकृत सूत्र को ''एकाचो द्वे प्रथमस्य'' सूत्रप्रोक्त प्रथम द्विर्वचन का अपवाद कहते हुए पूर्वपक्षरूप में इस पर यह शङ्का की है कि यह द्वितीयद्विर्वचन प्रथम द्विर्वचन का बाधक या अपवाद कैसे हो सकता है? अन्य (द्वितीय अच्) को कहा हुआ कार्य अन्य (प्रथम अच्) को कहे हुए कार्य को कैसे रोक सकता है? क्योंकि **दोनों कार्य सम्भव न होने पर ही उनमें बाध्यबाधकभाव हुआ करता है**, जबकि यहां तो प्रथम द्विर्वचन तथा द्वितीय द्विर्वचन दोनों संभव हो सकते हैं। इस पर अब भाष्यवार्तिककार उनमें बाध्यबाधकभाव बनाने के लिए और प्रकृत सूत्र को सुसङ्गत सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि प्रथम द्विर्वचन होने पर फिर प्रकृत सूत्रप्रोक्त द्वितीय द्विर्वचन की प्राप्ति या संभावना नहीं रहती। क्योंकि जैसे लोक में दो व्यक्तिगों के मध्य में तीसरे व्यक्ति के आ जाने पर फिर वह दूसरा व्यक्ति संख्यागणना की दृष्टि से दूसरा नहीं रहता अपितु तीसरा बन जाता है।[174]

प्रकृत प्रसङ्ग में अकबर और बीरबल का निम्न संवाद भी अवश्य स्मरणीय है जिसमें अकबर के द्वारा एक रेखा को बिना मिटाए छोटा करने के लिए कहने पर बीरबल उस रेखा के पास एक लम्बी रेखा खींच देता है जिसकी अपेक्षा से पहली रेखा बिना मिटाए ही स्वतः छोटी बन जाती है। ऐसे ही यहां भी भाष्यकार ने दूसरे को तीसरा बनाने के लिए उससे पूर्व एक और व्यक्ति को उपस्थित कल्पित कर दिया है।

ऐसे ही यहां भी प्रथमद्विर्वचन होने पर जो औपदेशिक या मूल द्वितीय अच् था, वह दूसरा न रहकर अब तीसरा बन जाता है। फलतः प्रकृत सूत्र से उसको द्वित्व न प्राप्त होकर तथाकथित या द्विरुक्त रूप द्वितीय अच् को ही द्वित्व प्राप्त होता है जोकि अनिष्ट है। इस तरह दोनों कार्य संभव न होने से द्वितीयद्विर्वचन प्रथमद्विर्वचन

को बाध लेगा—यह भाष्यकार का आशय है। स्मरण रहे कि कैयट के अनुसार यदि नियोगतः प्रथम द्विर्वचन पहले ही हो—तभी यह विरोध उपस्थित होता है। इसके विपरीत यदि पहले द्वितीय द्विर्वचन होता है तब तो प्रथम द्विर्वचन की प्राप्ति बनी ही रहती है। इष्ट है कि वह न हो। वस्तुतः यहां **अनवकाश होने के कारण** द्वितीयद्विर्वचन प्रथमद्विर्वचन को बाध ही लेता है—यही सिद्धान्त है।

46. न हि द्विपुत्र आनीयतामित्युक्ते त्रिपुत्र आनीयते न्याय

''अद्विप्रभृत्युपसर्गस्येति वक्तव्यम्। इहापि प्रतिषेधो यथा स्यात्- समुपाभिच्छादः। तत् तर्हि अद्विप्रभृत्युपसर्गस्येति वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। यत्र त्रिप्रभृतयः सन्ति द्वावपि तत्र स्तः। तत्राद्व्युपसर्गस्येत्येव सिद्धम्। न वा एष लोके सम्प्रत्ययः। न हि द्विपुत्र आनीयतामित्युक्ते त्रिपुत्र आनीयते। तस्माद् अद्विप्रभृत्युपसर्गस्येति वक्तव्यम्।''[175]

''छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य'' सूत्र के भाष्य में वार्तिककार कहते हैं कि ''अद्व्युपसर्गस्य'' के स्थान में 'अद्विप्रभृत्युपसर्गस्य' कहना चाहिए जिससे न केवल दो उपसर्ग वाले ण्यन्त 'छादि' धातु को 'घ' प्रत्यय परे रहते ह्रस्व का निषेध हो प्रत्युत दो से लेकर तीन-चार आदि सभी उपसर्गों का योग होने पर ण्यन्त 'छादि' धातु को 'घ' परे रहते ह्रस्व का निषेध हो सके, जैसे- ''समुपाभिच्छादः''। यहां सम्, उप् और अभि ये तीन उपसर्ग हैं, केवल दो नहीं हैं। इसलिए दो से अधिक होने पर भी ह्रस्व का निषेध हो गया।

इस पर भाष्यकार आगे विचार करते हैं कि तो क्या फिर 'अद्विप्रभृत्युपसर्गस्य' ऐसा पढ़ा जाए? उत्तर देते हैं कि 'अद्विप्रभृत्युपसर्गस्य' पढ़ने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि जहां तीन हैं, वहां दो भी अवश्य हैं ही। इसलिए 'अद्व्युपसर्गस्य' से ही काम चल जाएगा। फलतः तीन में दो को भी मानकर ह्रस्व का निषेध हो जाएगा। इस पर लोकप्रसिद्ध न्याय का विरोध दिखाते हुए कहते हैं- ''न वा एष लोके सम्प्रत्ययः'' इत्यादि अर्थात् लोक में ऐसा व्यवहार नहीं है। फलतः दो पुत्र वाले को लाओ - ऐसा कहने पर लोक में तीन पुत्र वाला नहीं लाया जाता अपितु जिसके केवल दो ही पुत्र हैं, वही लाया जाता है। इसलिए 'अद्व्युपसर्गस्य' के स्थान में 'अद्विप्रभृत्युपसर्गस्य' ऐसा पढ़ना ही चाहिए जिससे 'समुपाभिच्छादः' इत्यादि तीन उपसर्गयुक्त 'छादि' धातु को भी 'घ' परे रहते ह्रस्व का निषेध सिद्ध हो जाए। लोक में प्रसिद्ध है- ''गोण्यप्युत्तरा संख्या पूर्वां संख्यां बाधते''। इसी न्याय को यूं भी कहा जा सकता है- ''न हि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभते''। यह न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[176]

47. अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य न्याय

''क्रियते न्यास एव। अविभक्तिको निर्देशः- अदस ओ इति। ओकारात् परः प्रतिषेधः पूर्वभूतः। ततः सकारस्ततो रेफ इति। अथवा नैवं विज्ञायते- अदसोऽसकारस्येति, कथं तर्हि? अकारोऽस्य सकारस्य सोऽयमसिः असेरिति। यद्येवम्, अमुमुयङ् इति

न सिध्यति, अदद्रचङ् इति प्राप्नोति। अदमुयङ् इति भवितव्यम्। अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवतीति।''[177]

''अदसोऽसेर्दादु दो मः'' सूत्रभाष्य में वार्तिककार ने ''अदसोऽनोस्रेः'' यह वार्तिक पढ़ा है। इसका अर्थ है कि ओकार, सकार और रेफरहित अदस् शब्द को ही मुत्व होता है - ऐसा कहना चाहिए। इस पर भाष्यकार टिप्पणी करते हैं कि इस सूत्र में 'अदसो' यह षष्ठी का रूप नहीं है अपितु 'अदस् ओ' इस प्रकार अविभक्तिक निर्देश है। ओकार से परे 'असेः' (असि) के अकार का पूर्वरूप हो रहा है। यह अकार निषेधार्थक नञ् का है। फलतः 'अदस् + ओ + अ = अदसो' ऐसा सूत्रच्छेद समझना चाहिए। इसके बाद अवशिष्ट 'सेर्' इस पद में इकार को उच्चारणार्थ मानकर सकार और रेफ बचते हैं।[178] इस प्रकार यह सूत्रार्थ निर्गलित हुआ कि अदस् शब्द के ओकार, सकार और रेफ को छोड़कर मुत्व होता है। इनमें सर्वप्रथम ओकार, जैसे- 'अदोऽत्र'। सकार जैसे- 'अदस्यति'। रेफ जैसे- 'अदः'। ऐसी स्थिति में वार्तिकप्रोक्त अर्थ यथान्यास सूत्र से ही सिद्ध हो जाने कारण उक्त वार्तिक अन्यथासिद्ध बन जाता है।

अब 'असेः' में भाष्यकार दूसरी कल्पना यह करते हैं 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' इस सूत्र का यह अर्थ नहीं है कि सकारान्त रहित अदस् शब्द को मुत्व होता है अपितु यह अर्थ है कि जिस सकार को ''त्यदादीनामः''[179] से अत्व हो चुका है, वह 'असि' है। उस 'असि' अर्थात् अत्व वाले 'अदस्' (अद) शब्द को मुभाव होता है। ऐसी स्थिति में 'अदः अञ्चति' इस अर्थ में 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'अञ्चति' शब्द परे होने पर जब विष्वग्देवयोश्च टेरद्रयञ्चतावप्रत्यये''[180] सूत्र से 'अदस्' को 'अद्रि' आदेश होगा तब 'अद्रि' के दकार को भी मुभाव होकर 'अमुमुयङ्' यह रूप बनेगा।[181]

इस प्रसङ्ग में दूसरे व्याख्याकार ''अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य''[182] अर्थात् अन्त्यसदेश तथा अनन्त्यसदेश दोनों को यदि एक प्रयोग में एक साथ कार्य प्राप्त हो तो वह कार्य अन्त्यसदेश को ही हो- इस परिभाषा का आश्रयण करते हैं। इनका कहना है कि जैसे लोक में किसी गांव में कोई चोर चोरी करने जाता है। परन्तु उस गांव में आर्थिकरूपेण समृद्ध दो व्यक्ति ही हैं जिनमें एक का घर तो गांव के बाहर वाले किनारे पर स्थित है तथा दूसरे का गांव के मध्यभाग में। अब वह चोर सोचता है कि उसे कौन से व्यक्ति के घर में चोरी करनी चाहिए तो पर्याप्त पर्यालोचन करने पर वह निर्णय करता है कि गांव के किनारे पर स्थित व्यक्ति के यहां ही चोरी करनी चाहिए। क्योंकि चोरी करने पर या लोगों के जाग जाने पर भागने के लिए यहां पर ही अधिक सुविधा है। वस्तुतः यह उचित भी है। वैसे ही यहां शास्त्र में भी अन्त्य सदेश और अनन्त्यसदेश दोनों को यदि एक प्रयोग में एक साथ आदेश प्राप्त हो तो वह अन्त्यसदेश को ही होता है। परिणामतः इन व्याख्याकारों के मत में पूर्वोक्त लोकन्यायसिद्ध परिभाषा के वचन से अदस् के अन्त्यसदेश या अन्त के निकटवर्ती अद्रि के दकार

को ही मुत्व होकर 'अदमुयङ्' यह इष्ट रूप बनता है।[183] परन्तु दूसरे वैयाकरण जहां ''त्यदादीनामः'' से अत्व हुआ है, वहीं मुत्व इष्ट मानते हैं। इस प्रकार इनके मत में अद्रि आदेश में मुत्व नहीं होगा तो अदद्र्यङ् ऐसा रूप बनेगा।[184] इस तरह वे अद्रि आदेश में उक्त तीन रूप बन जाते हैं।

48. भवति हि धर्मभेदादपि धर्मिणो भेदव्यवहारः न्याय

''भवति हि धर्मभेदादपि धर्मिणो भेदव्यवहारः। तथा हि वक्तारो वदन्ति - परुद् भवान् पटुरासीत्, पटुतरश्चैषमः, पटुतमः परारि, सोऽन्य एवासि संवृतः''।[185]

यह न्याय ''वस्वेकाजाद्घसाम्'' सूत्र की व्याख्या में न्यासकार ने दिया है। आवृत्ति भेद से एक अच् वाला धातु भी अनेक अच् वाला कह दिया जाता है[186] - इस बात को सिद्ध करने के लिए न्यासकार यह न्याय प्रस्तुत करते हैं। इसका अर्थ है कि धर्म के भेद से धर्मी में भी भेद मान लिया जाता है। जैसे लोग कह देते हैं कि पहले साल आप चतुर थे और इस साल आप चतुरतर हो गए हैं और अगले साल तो आप और चतुरतम हो जाएंगे। इस प्रकार आप वही एक होते हुए भी और ही जैसे प्रतीत होते हैं। भाव यह है कि एक ही वस्तु अपने धर्म भेद से अनेक कह दी जाती है। भाष्यकार ने भी ''परुद् भवान् पटुरासीत् पटुतरश्चैषमः'' ये वाक्य लिखे हैं।[187] इस प्रकार लोक व्यवहार ही इन न्यायों की सत्ता का आधार है। न्यासकार ने अन्यत्र भी इस न्याय का प्रयोग किया है।[188] कहीं-कहीं पर प्रकृत न्याय का विरोधी न्याय भी मिलता है जैसा कि कैयट लिखते हैं-

49. अनेकस्मिन्नप्येकव्यवहारो दृश्यते न्याय

''तथानेकस्मिन्नप्येकव्यवहारो दृश्यते, यथा भिन्नापि क्रिया निवृत्तभेदा आख्यातेनाभिधीयते इत्येकोच्यते।''[189]

यह न्याय प्रदीपकार ने ''अतिशायने'' सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि अनेक वस्तुओं में भी एक जैसा व्यवहार दीखता है। जैसे भिन्न-भिन्न कर्त्ताओं द्वारा की हुई क्रिया भिन्न होती हुई भी तिङन्त द्वारा एक ही कही जाती है।[190] वार्तिककार ने भी कहा है - ''न तिङन्तान्येकशेषारम्भं प्रयोजयन्ति क्रियाया एकत्वात्''। इसका अर्थ है - तिङन्त क्रियाओं में एकशेष नहीं होता, क्योंकि क्रिया भिन्न-भिन्न कर्त्ताओं द्वारा की गई भी एक ही रहती है।

50. अन्धपरम्परा न्याय

''कथं पुनरिदमाचार्येण पाणिनिनावगतमेते साधव इति? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन। अपिशलिना तर्हि केनावगतम्? ततः पूर्वेण व्याकरणेन। यद्येवम्, अन्धपरम्पराप्रसङ्गः, तद् यथा शुक्लं क्षीरमित्यन्धेनोक्ते, केनेदमवगतमिति पृष्टो यदान्धान्तरं मूलं निर्दिशति, सोऽप्यन्धान्तरम्, तदा नैतद्वचः शौक्ल्ये प्रमाणं भवति, तादृगेतद्। नैष दोषः, सर्वे एव हि ते स्वे स्वे काले गाव्यादिभ्यो विविक्तान् गवादिशब्दान् प्रत्यक्षत एवोपलभन्ते।

चत्वारो वेदा ऋग्यजुःसामाथर्वलक्षणाः...... एतावान् प्रयोगस्य विषयः। श्रवणेन्द्रियगोचराश्च शब्दा इति नास्त्यन्धपरम्पराप्रसङ्गः। यस्मात् स्वे स्वे काले शब्दाः प्रत्यक्षतो गृह्यन्ते, पूर्वपूर्वव्याकरणवशेन तु तस्मिंस्तस्मिन् काले सत्तानुसन्धीयते इत्येतावत् .... न हि चक्षुष्मति मूले कथिते पयसः शौक्ल्यमप्रमाणं भवति"।[191]

"अथ शब्दानुशासनम्" सूत्र की व्याख्या में पदमञ्जरीकार हरदत्त कहते हैं कि शब्दानुशासन करते हुए आचार्य पाणिनि ने यह कैसे जान लिया कि ये साधु शब्द हैं और इनसे भिन्न अपशब्द हैं? यहां शास्त्र में साधु शब्दों को 'शब्द' शब्द कहा गया है और असाधु शब्दों को 'अपशब्द' कहा गया है। यदि आप यह कहें कि पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य आपिशलि के व्याकरण से पाणिनि को साधु शब्दों का ज्ञान हुआ है। फिर उसमें प्रश्न उठता है कि आपिशलि आचार्य ने कैसे जाना कि ये साधु शब्द हैं और ये असाधु? आप कहेंगे कि आपिशलि ने अपने से पहले व्याकरणकर्ता आचार्यों से जाना। किन्तु इस प्रकार तो 'अन्धपरम्परा' हो जाएगी। जैसे- किसी अन्धे ने दूसरे अन्धे को कहा कि दूध सफेद होता है। उससे किसी दूसरे अन्धे ने पूछा कि तुम्हें कैसे पता चला कि दूध सफेद होता है? उसने किसी दूसरे अन्धे का नाम ले दिया कि मुझे उसने बताया है कि दूध सफेद होता है। इस प्रकार एक अन्धे के बाद दूसरा अन्धा दूध के सफेद होने में प्रमाणभूत हो जाएगा जो कि सर्वथा अयुक्त है।[192] भाव यह है कि जैसे दूध को सफेद कहने में अन्धे की बात कैसे प्रमाण हो सकती है वैसे ही आपकी यह बात भी कि आचार्य पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से साधु-शब्दों का ज्ञान हुआ- अन्धानुकरण या 'अन्धपरम्परा' जैसी ही है।

अब इस शङ्का का उत्तर पदमञ्जरीकार देते हैं कि ऐसी बात नहीं है। ये पाणिनि आदि आचार्य अपने-अपने समय में गावी, गोणी आदि अपशब्दों को छोड़कर गो आदि साधु शब्दों का स्वयं प्रयोग करते थे। चार वेद, छह शास्त्र आदि में भी साधु शब्दों का ही अन्वाख्यान हुआ है। पहले-पहले व्याकरणशास्त्र को देखकर आगे-आगे आने वाले आचार्यों ने साधु शब्दों का ही दर्शन किया है। इसलिए यहां पाणिनीय व्याकरण में साधु शब्दों के अन्वाख्यान में 'अन्धपरम्परा' का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि यदि मूल पुरुष आंखों वाला अर्थात् अन्धा न हो तो दूध को सफेद कहने में वह अप्रमाण कैसे हो सकता है? भाव की दृष्टि से अन्धगज न्याय, गतानुगतिकता न्याय, गड्डलिका प्रवाह तथा भेड़चाल न्याय भी प्रायः इसी कोटि के हैं। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी पर्याप्त उपलब्ध होता है।[193]

51. ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय

"वैदिकानां लौकिकत्वेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं पृथग् ग्रहणम्, यथा- ब्राह्मणा आगताः, वसिष्ठोऽप्यागत इति"।[194]

"अथ शब्दानुशासनम्" सूत्रभाष्यस्थ "केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां

च" - इस कथन की व्याख्या करते हुये पदमञ्जरीकार कहते हैं कि यद्यपि वैदिक शब्द भी लोक में प्रयुक्त होने से लौकिक कहे जा सकते हैं[195] फिर भी वैदिक शब्दों की प्रधानता प्रकट करने के लिये "वैदिकानाम्" यह अलग कहा गया है। जैसे कोई कहे कि सब ब्राह्मण आ गए? वसिष्ठ ब्राह्मण भी आ गए या नहीं? यहां वसिष्ठ के ब्राह्मण होने पर भी जो उसके विषय में अलग पूछा गया कि वसिष्ठ भी आ गए या नहीं, यह वसिष्ठ की अन्य ब्राह्मणों से प्रधानता प्रकट करने के लिए है। इसी प्रकार वैदिक शब्दों के लोक में प्रयुक्त होने पर भी जो पृथक् "वैदिकानाम्" इस रूप में पूछा गया है, वह वैदिक शब्दों की प्रधानता को सूचित करता है। यहां के अतिरिक्त व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र भी इस न्याय का प्रचुर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। इस न्याय का आश्रयण करते हुए वैयाकरणों ने अनेक इष्टों का साधन किया है जो कि यथास्थान द्रष्टव्य है।[196] सामान्य के साथ विशेष का कथन करने से प्राधान्य सूचित करने के प्रसङ्ग में व्याकरणशास्त्र में गोबलीवर्द न्याय का भी उपयोग किया जाता है, तद् यथा-

52. गोबलीवर्द न्याय

"छन्दोब्राह्मणानीति। गोबलीवर्दन्यायेन छन्दःशब्देन मन्त्राणां ग्रहणम्। यथा जुष्टार्पिते च छन्दसीति ब्राह्मणानां ग्रहणं 'नित्यं मन्त्र' इति मन्त्रग्रहणात्। छन्दोग्रहणेनैव तु ब्राह्मणानां ग्रहणे सिद्धे ब्राह्मणविशेषप्रतिपत्त्यर्थं पुनर्ब्राह्मणग्रहणं कृतम्। तेन याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानीति तद्विषयता न भवति।[197]"

यह न्याय प्रदीपकार ने "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" सूत्रभाष्य की व्याख्या में उद्धृत किया है। "अधीयानविदुषोश्छन्दोब्राह्मणानि" इस वार्तिक की व्याख्या में कैयट लिखते हैं कि यहां गोबलीवर्दन्याय से 'छन्दस्' शब्द से 'मन्त्रों' का ग्रहण समझना चाहिए। जैसे "जुष्टार्पिते च छन्दसि"[198] इस सूत्र में 'छन्दस्' ग्रहण से 'ब्राह्मणों' का ग्रहण है क्योंकि इसके बाद आने वाले "नित्यं मन्त्रे"[199] इस सूत्र में 'मन्त्र' ग्रहण किया है, उस से ज्ञापित होता है कि फिर पूर्ववर्ती सूत्र में 'छन्दस्' ग्रहण से 'ब्राह्मण' ग्रन्थ समझने चाहिएं। वास्तविकता यह है कि 'छन्दस्' शब्द के दोनों अर्थ हैं - मन्त्र और ब्राह्मण। किन्तु पूर्वोक्त वार्तिक में 'छन्दस्' शब्द का अर्थ मन्त्र ही है - यह बताने के लिए उसके साथ 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग किया है।

किन्तु यहां यह शंका पैदा होती है कि 'छन्दस्' शब्द के ही 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' ये दोनों अर्थ होने के कारण उससे ही ब्राह्मणों का भी ग्रहण सिद्ध हो सकता है। फिर सूत्र में पुनः 'ब्राह्मण' ग्रहण क्यों किया गया है तो इसका उत्तर है कि ब्राह्मणविशेष की प्रतिपत्ति के लिए पूर्वोक्त वार्तिक में पुनः 'ब्राह्मण' ग्रहण किया गया है। इससे 'याज्ञवल्क्यानि ब्राह्मणानि' यहां तद्विषयता नहीं होती - इस बात को सिद्ध करने के लिए कैयट ने उक्त न्याय दिया है जिसका भाव है कि गौ इस सामान्य शब्द के

ही स्त्री गौ और पुंलिङ्ग गौ ये दोनों अर्थ सिद्ध होने पर भी जो साथ में 'बलीवर्द' यह पुंलिङ्ग विशेष ग्रहण किया है, वह इस बात का ज्ञापक है कि यहां गो शब्द पुलिङ्ग गौ अर्थात् बैल का ही वाचक है। इस प्रकार जहां सामान्य के साथ विशेष का प्रयोग होता है, वहां वह विशिष्ट पद विशेष अर्थ के बोध के लिए ही होता है। परिणामतः पूर्वोक्त वार्तिक में 'छन्दस्' इस सामान्य ग्रहण से मन्त्र एवं ब्राह्मण ये दोनों अर्थ सिद्ध होने पर भी जो 'ब्राह्मण' यह विशेष ग्रहण किया है, वह याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त ब्राह्मणविशेषों के बोध के लिए ही है।

इसी प्रकार पस्पशाह्निक में "चत्वारि शृङ्गाः"[200] इस वेदमन्त्र की "नामाख्यातोपसर्ग निपाताश्च" इस भाष्यकारोक्त व्याख्या में नागेश ने पाणिनीय मतानुसार उपसर्गों का निपातों में ही अन्तर्भाव होने से दोनों का पृथक्-पृथक् उपादान गोबलीवर्दन्याय से ही सुसंगत माना है। इसी प्रकार "हलन्त्यम्" सूत्रस्थ प्रौढमनोरमा में 'उपदेश' शब्द की व्याख्या करते हुए जब-

"धातुसूत्रगणोणादि वाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमाः प्रत्ययादेशा उपदेशाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

यह वचन पढ़ा गया तो सूत्र शब्द से ही उणादि एवं लिङ्गानुशासन का ग्रहण सिद्ध होने पर भी यहां इनका पुनर्ग्रहण प्रकृत न्यायानुरोध से ही समझना चाहिए। ध्यातव्य है कि जहां एक तरफ तो नागेश भट्ट ने प्रकृत न्याय को सामान्यविशेषभाव ज्ञापित करने में तात्पर्यग्राहक माना है वहीं दूसरी तरफ इन्होंने लघुमञ्जूषा के प्रातिपदिकार्थ निरूपण प्रकरण में भाष्यप्रामाण्य से प्रकृत न्याय के प्रतिपाद्य सामान्यविशेषभाव का खण्डन किया है। इस न्याय का प्रयोग करते हुए मल्लिनाथ भी कहते हैं- "अधिगतमात्मकुलोचितं सनगरं नगरजनसहितं प्रकृतिमण्डलं जानपदमण्डलम् .. .. अत्र प्रकृतिशब्देन प्रजामात्रवाचिना नगरशब्दयोगाद् गोबलीवर्दन्यायेन जानपदमात्रमुच्यते"।[201]

गोबलीवर्दन्याय का समानान्तर कुरुपाण्डव न्याय भी देखा जा सकता है। क्योंकि पाण्डवों के भी मूलतः कुरुवंशी होते हुए भी जो उनका पृथक् ग्रहण किया गया है, वह उनके महत्त्वख्यापन में ही अनुग्राहक है। प्रकृत गोबलीवर्द न्याय अन्यत्र भी बहुत्र उपलब्ध होता है।[202]

53. गुणशब्दानां शब्दार्थ एव स्त्रीत्वम् न्याय / पटुरानीयताम् न्याय

"एवं पटुप्रभृतीनां गुणशब्दानामपि शब्दार्थ एव स्त्रीत्वम्। तथा च पटुरानीयतामित्युक्ते स्त्रियमप्यानीय कृती भवति।"[203]

"यू स्त्र्याख्यौ नदी" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में पदमञ्जरीकार ने यह न्याय दिया है। इस न्याय का अर्थ है कि जो पटु अर्थात् चतुर है, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, वह लाया जाए - ऐसा कहने पर दोनों ही लाए जाते हैं। यद्यपि पटु शब्द का अर्थ स्त्रीलिङ्ग में ही निश्चित नहीं है, यह तो विशेषण शब्द है। पटु स्त्री भी हो सकती है और पुरुष भी। क्योंकि जो विशेषण शब्द होते हैं, वे अपने विशेष्य के लिङ्ग के साथ चलते हैं। जब स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा होती है तो वहां स्त्रीलिङ्ग के कार्य हो जाएंगे और जब पुंलिङ्ग की विवक्षा होती है तो पुंलिङ्ग के कार्य हो जाएंगे। ऐसी स्थिति में पटु शब्द को भी स्त्रीत्व अर्थ वाला मानकर "यू स्त्र्याख्यौ नदी" से नदी संज्ञा सिद्ध हो जाती है। यहां 'आख्या' ग्रहण का प्रयोजन यही है कि जिस शब्द का अपना अर्थ स्त्रीत्व हो उसी की नदी संज्ञा होती है और जो किसी दूसरे शब्द के योग से स्त्रीत्व का बोध कराता है, उसकी नदी संज्ञा नहीं होती। यह न्याय अन्यत्र कम ही दृष्टिगोचर होता है।[204]

54. सामान्यनिर्देशेन तद्धर्मभूता व्याप्तिरुच्यते न्याय

"ननु यः कश्चित् पदविधिरिति सामान्यनिर्देशेनैव तद्धर्मभूता व्याप्तिरुक्ता, किं पुनः सर्वग्रहणेन? नैतदस्ति; यः कश्चिद् ब्राह्मण आनीयतामित्युक्ते क्षत्रियादिनिवृत्तिः प्रतीयते, न व्याप्तिः"।[205]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने काशिकाकार की "समर्थः पदविधिः" सूत्र की व्याख्या में 'स सर्वः' यहां 'सर्वग्रहण' के प्रत्याख्यान के निराकरण के लिए पूर्वपक्ष के रूप में दिया है। इसका अर्थ है कि यदि किसी ने किसी से कहा कि जो कोई भी ब्राह्मण हो उसे ले आओ - ऐसा कहने पर जितने भी मनुष्य हैं, उनमें ब्राह्मण को ही लाया जाता है, क्षत्रिय आदि को नहीं। इस प्रकार यहां ब्राह्मणशब्द क्षत्रिय आदि की निवृत्ति के लिए है न कि सब ब्राह्मणों की व्याप्ति के लिए। यद्यपि उक्त वाक्य से जो कोई भी ब्राह्मण मिले, उन सब को ले आओ - यह अर्थ लिया जाता है। अतः यहां बिना 'सर्वः' शब्द के भी सारे ब्राह्मण लाए जाते हैं। किन्तु वक्ता का विवक्षित यहां जो ब्राह्मणेतर क्षत्रियादि की निवृत्ति है, उसके लिए ही यह ब्राह्मण शब्द है। सब ब्राह्मणों से उसका तात्पर्य नहीं है। इसी प्रकार इस सूत्र में 'समर्थः' पद भी 'जो कोई भी पदसम्बन्धी विधि सुनाई देती है, वह सारी समर्थ अर्थ के बोधन में शक्त समझनी चाहिए' इस अर्थ में तात्पर्यग्राहक है। इसलिए काशिकाकार ने जो यह 'स सर्वः समर्थो वेदितव्यः' वाक्य लिखा है, उसमें जो सर्व शब्द का ग्रहण किया है, वह ठीक ही है।

55. ब्राह्मणशतभोजन न्याय / अभिधानप्रकार न्याय

"संभिन्नोभयरूपः पांसूदकवदविभागापन्नो वृत्तावर्थः। तेन राज्ञः पुरुषमानय राजपुरुषमानयेति यद्यप्येक एवानीयते इति कार्ययोगिनोऽभेदस्तथाप्यभिधानप्रकारो भिद्यते, यथा ब्राह्मणाः शतं भोज्यन्ताम्, ब्राह्मणानां शतं भोज्यतामिति"।[206]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "समर्थः पदविधिः" इस सूत्र की व्याख्या में समास, वृत्ति और वाक्य में अर्थ की पांसूदकवत् समानता होने पर भी उनके कहने के प्रकार भेद को दिखाने के लिए उद्धृत किया है। इस का अर्थ है कि सौ ब्राह्मणों को भोजन

कराओ - इसी बात को दूसरे ढंग से यूं भी कह सकते हैं कि ब्राह्मणों की सौ संख्या को भोजन कराओ। सौ संख्या तो अमूर्त होने से भोजन नहीं कर सकती। इसलिए सौ संख्या वाले ब्राह्मणों को ही भोजन कराया जाएगा। इस प्रकार यद्यपि दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ है, फिर भी बोलने के प्रकार में भेद है। इसी प्रकार 'राजपुरुषमानय' इस वाक्य में राजपुरुष शब्द समास का है। इसका अर्थ है कि राजपुरुष को लाओ। इसी को वाक्य से कहें तो राजा के पुरुष को लाओ - ऐसा भी कह सकते हैं। दोनों वाक्यों में अर्थ समान ही है किन्तु राजपुरुष इस समस्त वाक्य में और राजा का पुरुष इस वाक्य में कहने के प्रकार का ही भेद है। यही न्याय ब्राह्मणभोजनन्याय नाम से भी व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र दृष्टिगोचर होता है।[207] अभिधानप्रकार का वैलक्षण्य देखने के लिए अगला न्याय भी अवश्य अवलोकनीय है-

56. चङ्क्रम्यमाणोऽधीष्व न्याय / अभिधानप्रकार न्याय

"ननु कंसपात्री साधनमेवागमने न भवति, भुजिक्रियायां तु साधनं ध्रुवा च, तत्र परत्वादधिकरणसंज्ञेति आकडारसूत्र उक्तम्। एवं तर्हि वस्तुस्थित्यात्रागमनं प्रधानं तदङ्गं तु भोजनम्। शब्दात्तु विपरीतो गुणप्रधानभावः प्रतीयते। तदुक्तं हरिणा-

"चङ्क्रम्यमाणोधीष्वात्र जपंश्चङ्क्रमणं कुरु।
तादर्थ्यस्याविशेषेऽपि शब्दाद् भेदः प्रतीयते॥"[208]

यह न्याय प्रदीपकार ने "ध्रुवमपायेऽपादानम्" सूत्र के भाष्य में 'ग्रामादागच्छन् कंसपात्र्यां पाणिनौदनं भुङ्क्ते' इस वाक्य की व्याख्या में लिखा है। इसका अर्थ है कि कोई मनुष्य गांव से आता हुआ थाली में रखे हुए चावल को अपने हाथ से खा रहा है। यहां बोलने में तो आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि चावल खा रहा है - इस प्रकार यह क्रिया मुख्य है। इसी प्रकार चावल खाने के साथ सम्बद्ध थाली और हाथ ये भी मुख्य प्रतीत होते हैं। परन्तु जब वास्तविक वाक्यार्थ का पर्यालोचन करते हैं तो 'ग्रामादागच्छन्' यह क्रिया ही प्रधान है। क्योंकि जब वह गांव से आता है तो उस समय आते हुए थाली में चावल खाने के लिए ले आता है। मुख्य रूप से तो उसका कार्य गांव से आना है और गांव से आते हुए उसका थाली में चावल रखकर हाथ से खाना गौण है। किन्तु वाक्य का प्रयोग गुणप्रधानभाव की दृष्टि से कुछ विपरीत ढंग से हो गया है। जैसे भोजन के लिए गांव में घुसता है - इस वाक्य में भोजन क्रिया गौण है और गांव में घुसना मुख्य है। पहले गांव में घुसेगा तभी तो वह भोजन करेगा। किन्तु वाक्यप्रयोग कुछ सन्देह में डालने वाला होता है कि पहले भोजन क्रिया है और पीछे से गांव में प्रवेश। इसी बात को ध्यान में रखकर वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने इस न्याय को कारिका रूप में उद्धृत किया- "चङ्क्रम्यमाणोऽधीष्वाऽत्र" इत्यादि।[209] इसका अर्थ है कि कोई किसी से कहता है कि तू यहां घूमता हुआ पढ़ या पढ़ते हुए घूम। इसमें पढ़ना मुख्य है या घूमना -

यह प्रश्न है। जब दोनों क्रियाएं एक साथ हो रही हैं तो उसमें एक गौण और दूसरी मुख्य कैसे हो सकती है? जब पढ़ रहा है तो घूमना भी साथ में कर रहा है और जब घूम रहा है तो साथ में पढ़ता भी जाता है। इस प्रकार वस्तुस्थिति में दोनों क्रियाएं एकसाथ होती हुई भी शब्द से भिन्न प्रतीत होती हैं। किसी ढंग से कह लीजिए, चाहे पढ़ता हुआ घूम रहा है या घूमता हुआ पढ़ रहा है, बात एक ही है। कहना यूं चाहिए था कि वह पढ़ता है और साथ में घूमता भी जाता है या वह घूमता है तथा साथ में पढ़ता भी जाता है। इस प्रकार यह न्याय शब्दप्रयोग की विचित्रता को सूचित करता है। जैसे कोई कहे कि वह सोते हुए स्वप्न ले रहा है। यहां पर वास्तविक बात तो यह है कि पहले वह सोएगा तथा फिर स्वप्न देखेगा। पहले स्वप्न लेकर फिर कैसे सोएगा? क्योंकि 'क्त्वा' प्रत्यय पूर्वकाल की क्रिया में होता है, उत्तरकाल की क्रिया में नहीं। उत्तरकाल की क्रिया में तो 'तुमुन्' होता है।[210] फिर भी शब्दशक्ति इतनी विलक्षण है कि ऐसा प्रयोग हो जाता है।[211] इसी तरह अग्रिम न्याय भी यहां बड़ा प्रासङ्गिक है-

57. वनवृक्ष न्याय / समुदायावयवसंख्याभिधान न्याय / अभिधानप्रकार न्याय

"तत्र लिङ्गवचनं च स्वभावसिद्धमेव न यत्नप्रतिपाद्यम्, यथा- आपः, दाराः, गृहाः, सिकताः, वर्षा इति। युक्तवद्भावमारभमाणोऽपि नात्र कञ्चिद् यत्नं करोति, तदवश्यं शब्दस्वभाव एवाश्रयणीयः। कश्चिद्धि शब्दः स्वभावात् समुदायासंख्यामभिधत्ते, कश्चिदवयवसंख्याम्, यथा- वनं वृक्षा इति"।[212]

"तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्" सूत्रस्थ काशिका की व्याख्या में पदमञ्जरीकार कहते हैं कि यह जो आचार्य के द्वारा बिना विशेष यत्न किए ही "लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने"[213] सूत्र से युक्तवद्भाव का आरम्भ किया गया है, वह वस्तुतः स्वभावसिद्ध होने से अशिष्य ही है। क्योंकि 'आपः' आदि उपर्युक्त शब्दों में जो लिङ्गवचन की व्यवस्था देखी जाती है, वह यत्नप्रतिपाद्य न होकर शब्दशक्तिस्वभाव से सिद्ध है। अतः शब्दों के लिङ्गवचन की इस व्यवस्था के विषय में शास्त्र के अकिञ्चित्कर होने से शब्दशक्तिस्वभाव का ही आश्रयण करना चाहिए। तदनुसार कोई शब्द तो स्वाभाविक रूप से समुदाय की संख्या का ही अभिधान करता है, अवयव की नहीं, जैसे- वनम्, वने, वनानि। क्योंकि वृक्षसमुदाय का नाम वन होता है। अतः वन शब्द तो समुदाय संख्या को बता रहा है जबकि कोई शब्द अवयव की संख्या को अभिहित करता है, समुदाय की नहीं, जैसे- वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः। क्योंकि वृक्ष वन का एक अवयव है। अतः वृक्ष शब्द यहां अवयवसंख्या को सूचित कर रहा है।[214] इस तरह लिङ्गसंख्या को स्वाभाविक मान लेने से फिर शास्त्र द्वारा युक्तवद्भावविधान करना व्यर्थ हो जाता है।

58. अगतिकगति न्याय

"एकदेशिसमासो नारभ्यते। कर्मधारय एवायम्–पूर्वश्चासौ कायश्च, अर्धं चासौ

पिप्पली चेति। ततश्च प्राधान्यादेवोत्तरपदार्थस्य लिङ्गं भवति। न च षष्ठीसमास बाधनार्थमेकदेशिसमासोऽवश्यमारब्धव्य इति वाच्यम्, इष्टत्वादनभिधानाच्च। तथाहि-द्वितीयतृतीयेत्यत्रान्यतरस्याङ्ग्रहणात् सूत्रकारस्यापि षष्ठीसमास इष्टः, अर्धशब्देनापि षष्ठीसमासो भाष्यकाराणामिष्ट इति प्रागेवोक्तम्। पूर्वापरम् इत्यत्र त्वनभिधानात् षष्ठीसमासो न भविष्यतीति। इदञ्च प्रत्याख्यानं दुर्बलम्, अनभिधानाश्रयणमगतिकगतिरिति सन्प्रत्ययविधौ भाष्य एवोक्तत्वात्"।[215]

"परवल्लिङ्गम्" सूत्रव्याख्या में शब्दकौस्तुभकार कहते हैं कि कुछ व्याख्याकारों के अनुसार भाष्यकार के प्रामाण्य से एकदेशितत्पुरुषसमास का विधान करने वाले तीनों ही सूत्र प्रत्याख्येय हैं। क्योंकि 'पूर्वकायः' इत्यादि में कर्मधारयसमास मानकर अभीष्ट अर्थ तथा रूप सिद्ध किया जा सकता है। यहां यह कहना कि 'कायस्य पूर्वं कायपूर्वम्' इस प्रकार षष्ठीसमास को रोकने के लिए यह एकदेशिसमास अवश्य आरम्भ करना चाहिए तो यह ठीक नहीं। क्योंकि यह समास भी अभीष्ट है तथा इसका भी लोक में अभिधान है। "द्वितीय तृतीय"[216] सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण करने से सूत्रकार को भी यहां षष्ठीसमास अभीष्ट ज्ञापित होता है और इसी प्रकार भाष्यकार आदि को 'अर्ध' शब्द[217] के साथ भी षष्ठी समास इष्ट है, यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है।

यदि यहां यह कहा जाए कि फिर तो "पूर्वापरम्" यहां भी षष्ठीसमास प्राप्त होगा जोकि अनिष्ट है तो ठीक नहीं। क्योंकि यहां अनभिधानात् षष्ठीसमास की निवृत्ति मान ली जाएगी। इस पर भट्टोजिदीक्षित कहते हैं कि इन व्याख्याकारों का ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है। वास्तव में एकदेशिसमासविधायक सूत्रों का यह प्रत्याख्यान अत्यन्त दुर्बल है। क्योंकि एक स्थान पर अभिधान मानना तथा दूसरे स्थान पर अनभिधान मानना कुछ उचित नहीं प्रतीत होता। वैसे भी अभिधान बड़ा दुर्ज्ञान है।[218] वस्तुतः यदि देखा जाए तो अनभिधान का आश्रयण करके किसी सूत्र का खण्डन करना तो अगतिकगति, विवशता या लाचारी ही होती है जैसा कि 'सन्' प्रत्ययविधायक सूत्रभाष्य में भाष्यकार ने भी स्वयं स्वीकार किया है।[219] जहां कोई अन्य उपाय या गति मुक्ति के लिए शेष न रहे वहां डूबते को तिनके का सहारा (कुशकाशावलम्बन) न्याय से अगत्या जो किया जाता है, वह अगतिकगति न्याय कहलाता है। लोक में भी कई बार ऐसी ही विवशतापूर्ण स्थिति उपस्थित देखी जाती है। प्रकृत न्याय के साथ गतानुगतिक न्याय अवश्य स्मरणीय है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[220]

59. कृत्वाचिन्ता न्याय

"अर्थापयताविति - आपुगागमे चेति। इदं च लुङि अस्याभिधानं कृत्वाचिन्तयाङ्गीकृत्य। वस्तुतस्त्वत्रानभिधानमेव। आपुडागम इति भाष्योक्तपक्षान्तरे ह्रस्वाभावेनानयोरप्राप्तौ फलभेदापत्तेः"।[221]

यह न्याय प्रौढमनोरमा की व्याख्या में शब्दरत्नकार ने भ्वादिगणस्थ 'कम्' धातु की प्रयोगसिद्धि करते हुए दिया है। इस न्याय का अर्थ यह है कि जो वस्तु एक बार कर दी गई या बना दी गई, फिर भी इस पर विचार तो करना ही चाहिए या भले ही किसी वस्तु के बना देने पर तद्विषयक कोई शङ्का नहीं रहती तथापि शिष्यबुद्धि व्युत्पादनहेतु तद्विषयक सकलविचारोपन्यासार्थ तो विचार करना ही चाहिए अर्थात् जब कोई वस्तु बना दी जाती है तो फिर उसका कुछ उपयोग भी होना चाहिए - ऐसा मानकर जहां विचार प्रवृत्त होता है उसे कृत्वाचिन्ता न्याय कहा जाता है। अथवा पहले तो सूत्र बना देना और फिर उस पर पदकृत्यपूर्वक प्रयोजन विचारित करना भी इस न्याय का निगूढार्थ हो सकता है। इसी प्रकार 'अर्थापयति' इस प्रयोग में भी 'अर्थमाचष्टे' इस अर्थ में 'अर्थ' शब्द से "सत्यापपाशरूपवीणा"[222] इत्यादि सूत्र से 'णिच्' प्रत्यय और 'अर्थ' शब्द को 'आपुक्' आगम होता है। तदन्तर लट् लकार में 'शप्', 'तिप्', 'सार्वधातुकगुण' तथा अयादेश होने पर उक्त रूप बन जाता है।

ध्यातव्य है कि उक्त 'अर्थापयति' इस लट् में तो कोई समस्या नहीं है परन्तु इस 'अर्थापयति' का लुङ् में क्या रूप बने - यहां सन्देह हो जाता है। इसका निर्णय करने के लिए शब्दरत्नकार हरिदीक्षित इस कृत्वाचिन्ता न्याय का निर्देश करते हैं। इनका आशय यह है कि जब हमने 'अर्थ' शब्द से 'णिच्' प्रत्यय और आपुगागम स्वीकार कर लिया तो फिर इस 'अर्थ' धातु के लट् के समान लुङ् में भी रूप अवश्य बनने चाहिएं। ऐसी स्थिति में लुङ् में भी इस 'अर्थापयति' का अभिधान मानते हुए भट्टोजिदीक्षित कहते हैं-

"ऊर्णौ दीर्घोऽर्थापयतौ द्वयं स्यादिति मन्महे"।[223]

इसका अर्थ है कि यद्यपि 'ऊर्णु' धातु से 'णिच्' प्रत्यय में लुङ् लकार प्रथमपुरुष एकवचन में 'और्णूनवत्' और पक्षान्तर में 'और्णुनवत्' ये दोनों रूप बन जाते हैं तथापि इनमें भट्टोजिदीक्षित के मत में तो 'और्णूनवत्' यहां अभ्यास में दीर्घ ऊकार ही होता है जबकि सायणमाधव ने 'और्णुनवत्' यह ह्रस्व अभ्यासवाला रूप ही इष्ट माना है। क्योंकि "दीर्घो लघोः"[224] इस सूत्र से यहां अभ्यास को दीर्घ नहीं होगा। कारण कि चङ्परक णि परे रहते अङ्ग पूरा नहीं है। पूरा अङ्ग तो 'ऊर्णु' है तथा उसका अवयव 'णु' है। इसलिए, इनके मत में, यहां दीर्घ नहीं होगा। जहां तक 'अर्थापयति' का सम्बन्ध है, यदि प्रकृत कृत्वाचिन्ता न्याय से 'अर्थापयति' का प्रयोग लुङ् में भी स्वीकार किया जाएगा तो फिर सन्वद्भाव तथा दीर्घ दोनों होकर 'आर्तीथपत्' यह रूप लुङ् लकार में होगा- ऐसा भट्टोजिदीक्षित तथा हरिदीक्षित इन दोनों का मत है।

इस न्याय को समझने के लिए हम एक उदाहरण और ले सकते हैं। तद् यथा- "एओङ्", "ऐऔच्" ये प्रत्याहारसूत्र हैं। पहले इनका अतपररूप में पाठ कर दिया और अब बाद में इनके तपरत्व - अतपरत्व पक्ष पर विचार करना. नागेश के अनुसार,

कृत्वाचिन्ता न्याय का ही विषय है।[225] अथवा इसका यह भाव भी हो सकता है कि किसी भी कार्य को कई बार तो चिन्तनपूर्वक किया जाता है अतः वह तो सुविचारित या प्रेक्षापूर्वकरण न्याय कहा जाता है और इसके विपरीत कई बार कार्य को पहले करके फिर बाद में उसके औचित्य-अनौचित्य का चिन्तन किया जाता है। प्रकृत न्याय उक्त द्वितीय पक्ष में संगृहीत होता है। इस न्याय का विलोम "इह यो मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते" इत्यादि भाष्यसन्दर्भों में देखा जा सकता है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[226]

60. संज्ञापूर्वकोविधिरनित्यः न्याय[227]

संज्ञापूर्वक जो विधि होती है अर्थात् **जिस विधिसूत्र की प्रवृत्ति में संज्ञा की अपेक्षा है, वह अनित्य होती है**, अर्थात् कभी वह कार्य होता है और कभी नहीं भी, जैसे लोक में कहा जाता है कि यह कार्य देवदत्त को करना है - अब यदि देवदत्त उपलब्ध है तो वह कार्य हो जाता है, अन्यथा उसके अभाव में वह कार्य नहीं होता। क्योंकि उस कार्य का सम्पादन देवदत्त इस संज्ञापूर्वक विहित है। यदि वह कार्य देवदत्तरूप संज्ञापूर्वक विहित नहीं होता अपितु किसी के द्वारा भी विहित होता तो वह कार्य अनित्य नहीं होता। जिस किसी के द्वारा भी वह अवश्य ही सम्पन्न कर लिया जाता। इसी प्रकार शास्त्र में भी संज्ञा का उल्लेख करके जो कार्य विधान किया गया है वह लक्ष्यानुरोध से अनित्य समझना चाहिए। इस विषय में "ओर्गुणः"[228] सूत्रस्थ 'गुण' ग्रहण ही ज्ञापक है, अन्यथा "ओर्गुणः" के स्थान पर "ओरोत्" ऐसा ही पढ़ दिया जाता और उसमें लाघव भी अधिक था। परन्तु उक्त न्यायसिद्ध परिभाषा को ज्ञापित करने के लिए आचार्य ने ऐसा नहीं किया। इस न्याय को मानने पर ही 'स्वायम्भुवम्' यहां "ओर्गुणः" न होकर 'उवङ्' सिद्ध हो जाता है, अन्यथा 'स्वायम्भवम्' ऐसा रूप बनता।[229] ध्यान रहे कि यह परिभाषा वहीं लगती है जहां विधेयकोटि में संज्ञा का उल्लेख हो।

61. आगमशास्त्रमनित्यम् न्याय

"तथा नि लोट् इत्येव सिद्धे आनिग्रहणात् आगमशास्त्रमनित्यम्। तेन सागरं तर्तुकामस्येत्यादि सिद्धम्"।[230]

परिभाषेन्दुशेखरकार लिखते हैं कि 'प्रभवाणि' इत्यादि में णत्व के लिए यद्यपि "आनि लोट्"[231] सूत्र के स्थान पर "नि लोट्" केवल इतना ही सूत्र पर्याप्त हो सकता है। क्योंकि आडागम तो "यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते"[232] इस नियम से 'नि' ग्रहण द्वारा ही गृहीत हो सकता था। इस तरह आकारग्रहण व्यर्थ प्रतीत होता है। किन्तु व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नहीं। अतः व्यर्थ पड़कर यह 'आड्' ग्रहण यह ज्ञापित करता है कि आगम शास्त्र अनित्य होता है।

यहां यह कहना कि 'नि' उपसर्ग का ग्रहण रोकने के लिए 'नि' लोट् के स्थान पर आड् विशिष्ट "आनि लोट्" ऐसा कहा गया है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि

"नेर्गदनद"[233] इत्यादि सूत्रस्थ पुनः 'नि' ग्रहण से यह आशंका निर्मूल हो जाती है। यदि यह 'नि' ग्रहण उपसर्ग का माना जाता तो उक्त सूत्र में पुनः 'नि' ग्रहण व्यर्थ हो जाता।

भाव यह है कि जैसे लोक में मनुष्यों के शरीर में होने वाले अयाचित कूब आदि वैशिष्ट्य किन्हीं के ही शरीर में होते हैं (अनित्य), सब में नहीं। अथवा जैसे लोक में ही धन-सम्पत्ति या रोग आदि अनित्य होते है अर्थात् सर्वथा स्थायी धर्म नहीं होते। इसलिए कभी कोई व्यक्ति भिक्षाटन करता है तो कभी वही व्यक्ति राजा भी हो जाता है तथा इसी प्रकार रुग्ण व्यक्ति कार्य करने में असमर्थ होता है परन्तु रोग दूर होने पर वही व्यक्ति सब कार्य कर सकता है। ऐसे ही यहां शास्त्र में भी आगम शास्त्र से विहित कार्य भी अनित्य होता है। फलतः "सागरं तर्तुकामस्य" यहां 'तर्तुम्' में सेट् 'तॄ' धातु को भी 'तुमुन्' परे रहते इडागम नहीं होता। इसी तरह "अपि शाकं पचानस्य" यहां 'पचानस्य' में तथा 'कामयानसमवस्थया तुलाम्'[234] यहां 'कामयानः' में भी उभयत्र "आने मुक्"[235] सूत्रप्रोक्त मुगागम नहीं होता। ध्यान रहे कि भाष्य में अपठित होने से नागेश इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करते। अतः इनकी दृष्टि में तो उक्त प्रयोग असाधु ही है।

62. अतिदेशिकमनित्यम् न्याय

"एवमतिदेशिकमनित्यमित्यादि भाष्यानुक्तं बोध्यम्"।[236]

इस परिभाषा को लेकर नागेश लिखते हैं कि यह भाष्य में अपठित है। इसका अर्थ है कि "अतस्मिन् तद्बुद्धिः" अर्थात् जो वस्तुतः तो वह है नहीं परन्तु उसे वैसा मान लिया जाता है, वह अतिदेश कहलाता है। और जो कार्य अतिदेश से प्राप्त होता है, वह अनित्य होता है अर्थात् कभी होता है, कभी नहीं भी। "लोटो लङ्वत्"[237] सूत्र में 'वत्करण' इसका ज्ञापक है। अन्यथा "ङ् लोट्" केवल इतना सूत्र बना देने पर भी तामादि आदेशरूप तथा सलोप रूप कार्य सिद्ध हो सकते थे। परन्तु "ङ् लोट्" कहने से होने वाला ङित्व नित्य होता है। इष्ट है कि लक्ष्यानुरोधात् यह ङित्व कहीं हो और कहीं न हो। अतः 'वत्करण' अनर्थक हो जाता है। किन्तु व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नहीं। इसलिए व्यर्थ पड़कर यह 'वत्करण' यह ज्ञापित करता है कि लोट् को होने वाला ङित्त्व अनित्य होता है।

भाव यह है कि जैसे लोक में "मातृवत् परदारेषु"[238] इत्यादि कथन करने पर भी आरोपित माता में अपनी सगी माता वाला पूर्णतया सर्वथा व्यवहार नहीं देखा जाता। फलतः न तो व्यक्ति इस अतिदिष्ट माता को अपनी सारी कमाई ही देता है और न ही उसकी उस तरह से सेवा करता है जैसे अपनी सगी माता की। वैसे कभी-कभी इसका अपवाद भी देखा जाता है। अथवा जैसे दत्तक पुत्र कभी तो औरस पुत्र के समान सुखदायी होता है और कभी नहीं भी। इस तरह जो वस्तु आरोपित या अतिदिष्ट होती

है वह अनित्य होती है ऐसे ही यहां शास्त्र में भी अतिदेश से प्राप्त कार्य अनित्य होता है। फलतः 'जुह्वतु' में 'हु' धातु से लोट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में 'झि' प्रत्यय परे रहते सार्वधातुक संज्ञा में शप्, श्लु, तथा द्वित्व करने पर "लोटो लङ्वत्" सूत्रप्रोक्त ङित्त्व के अनित्य होने से "सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च"[239] सूत्र से 'झि' को 'जुस्' आदेश नहीं होता अर्थात् प्रकृत सूत्रप्रोक्त ङित्त्व के अनित्य होने से वह कुछ तामादि आदेशरूप कार्यों के लिए तो निमित्त बन जाता है और 'जुस्' आदेशरूप कुछ अन्य कार्यों के लिए निमित्त नहीं बनता। इसी प्रकार 'यान्तु', 'वान्तु' में भी इस परिभाषा के नियम से ही "लङः शाकटायनस्य"[240] सूत्र से 'झि' को 'जुस्' नहीं होता।

परन्तु नागेश प्रकृत परिभाषा के इन प्रयोजनों को नहीं मानते। वे "विदो लटो वा"[241] सूत्रस्थ 'वा' ग्रहण को अनुवृत्ति से व्यवस्थितविभाषा[242] मानकर इनको सिद्ध कर लेते हैं। वस्तुतः 'सिच्' के साहचर्य से अभ्यस्त को भी उसी को 'जुस्' होगा जो अतिदिष्ट ङित्त्व वाला नहीं होगा अपितु वास्तविक ङित्त्व वाले लकार के स्थान में आया होगा - यह अर्थ स्वीकार करने पर फिर उक्त दोष नहीं रहता और यह परिभाषा अन्यथासिद्ध हो जाती है।

क (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित समाजसंगठनसम्बन्धी लोकन्याय

1. नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति न्याय[243]
2. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् न्याय[244]
3. समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते न्याय[245]
4. आदित्यदर्शन न्याय[246]
5. आकृति (ब्राह्मणो न हन्तव्यः) न्याय[247]
6. माठरकौण्डिन्य न्याय[248]
7. संघातार्थवत्वादवयवार्थवत्वम् न्याय[249]
8. इह मुण्डो भव, इह जटिलो भव, इह शिखी भव न्याय / नानालिङ्गकरण न्याय[250]
9. आचार्याचार न्याय / औपचारिक संज्ञाकरण न्याय[251]
10. देवदत्तशाला ब्राह्मणानयन न्याय[252]
11. प्रत्यवयवं वाक्य परिसमाप्तिः न्याय[253]
12. समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः न्याय[254]
13. उभयथा वाक्यपरिसमाप्तिः न्याय[255]
14. देवदत्तादिसहाध्ययननिषेध (व्यवायोपलक्षण) न्याय[256]
15. वृषलप्रवेशनिषेध न्याय[257]
16. भेदका गुणाः न्याय[258]

17. सम्बन्धिशब्द न्याय[259]
18. अतज्जातीयं हि लोके व्यवधायकं भवति न्याय[260]
19. व्यपदेशिवदेकस्मिन् न्याय / देवदत्तस्य एक एव पुत्रः न्याय[261]
20. भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि (तद्गुणसंविज्ञान) न्याय[262]
21. वस्नक्रीतगो न्याय/अर्थयोगायोगस्वभाव न्याय[263]
22. वाक्यैकदेश न्याय/पदैकदेश न्याय/संज्ञैकदेश न्याय[264]
23. यथासंख्य न्याय/संख्यातानुदेश न्याय[265]
24. तक्रकौण्डिन्य न्याय[266]
25. सम्बन्धानुवृत्ति न्याय[267]
26. यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम् न्याय/देवदत्तदेवदत्तापुत्र न्याय[268]
27. अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति न्याय[269]
28. पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान् न्याय[270]
29. पितापुत्र न्याय[271]
30. सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः न्याय[272]
31. वक्तुश्चिराचिरवचनाद्वृत्तयो विशिष्यन्ते न्याय/अध्वगमन न्याय[273]
32. अन्येन चान्यस्य विधिर्भवति न्याय/अन्यप्रतिविधान न्याय[274]
33. आदिशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[275]
34. गुणप्रापण न्याय/नानालिङ्गकरण न्याय[276]
35. न हि लोके भ्रातानीयतामित्युक्ते स्वसानीयते न्याय[277]
36. अर्थाद् (अर्थवशाद्) विभक्तिविपरिणाम न्याय[278]
37. निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते न्याय[279]
38. अन्यनिर्देशस्तु निवर्त्तको भवति (निवर्तक) न्याय[280]
39. क्रियया क्रियाया निवृत्तिर्भवति, द्रव्येण च द्रव्यस्य न्याय[281]
40. परशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[282]
41. देवदत्तशालाब्राह्मणानयन न्याय[283]
42. बौद्धापाय (चौरवृकदस्युभय) न्याय[284]
43. तन्त्रशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[285]
44. सत्त्वशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[286]
45. उक्तार्थानामप्रयोगः न्याय[287]
46. उक्तार्थानामपि प्रयोगो दृश्यते न्याय[288]

रूप में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग स्पष्ट है। इस प्रकार तीनों लिङ्गों में नपुंसकलिङ्ग के प्रधान होने से "प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः"[334] इस न्याय के अनुसार नपुंसक का ही एकशेष सिद्ध हो जाएगा तो यह सूत्र व्यर्थ है। नपुंसक की प्रधानता सिद्ध करने के लिए कैयट भी उदाहरणान्तरमूलक अन्य राजगमन लोक न्याय प्रस्तुत करते हैं-

2. राजगमन न्याय

"यथा लोके बहुषु गच्छत्सु राजा गच्छतीति प्रधानं राजा व्यपदिश्यते। राज्ञश्च प्राधान्यं तदधीनप्रवृत्तिनिवृत्तित्वादन्येषाम्। इह तु नपुंसकस्य किं कृतं प्राधान्यमिति प्रश्नः।"[335]

यह न्याय प्रदीपकार ने "प्रधाने कार्यसंप्रत्ययाच्छेषः" इस कथन की व्याख्या में लिखा है। इसका अर्थ है कि जैसे लोक में बहुत से मनुष्य जा रहे हों और उनके साथ उनका राजा भी हो तो राजा के प्रधान होने से लोग यही कहते हैं कि राजा जा रहा है। राजा के जाने से ही अन्य साधारण लोगों का भी जाना समझा जाता है। इस न्याय का तात्पर्य यही है कि जहां प्रधान और अप्रधान दोनों का सम्बन्ध हो तो वहां प्रधान का ही कार्य मुख्य रूप से समझा जाता है। इसी प्रकार यहां भी "नपुंसकमनपुंसकेन" इस सूत्र में नपुंसक की प्रधानता होने से उसी का एकशेष होगा, स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग का नहीं। क्योंकि सामान्य अवस्था में रहना यही नपुंसकलिङ्ग की पहचान है। पुंलिङ्ग में तो वृद्धि और स्त्रीलिङ्ग में ह्रास ये दोनों होते हैं। सामान्य स्थिति तो नपुंसक की है और वह सर्वत्र समान है। समान होने से वह प्रधान है। इसलिए नपुंसक का ही एकशेष होगा। वैसे भाष्यकार ने तो नपुंसक की प्रधानता का अन्य ही कारण लिखा है। फिर भी प्रदीपकार द्वारा निर्दिष्ट यह न्याय भी विचारणीय ही है। अनिर्ज्ञात अर्थ के प्रसङ्ग में अग्रिम लोकन्याय भी अवश्य दर्शनीय है।

3. अनिर्ज्ञातेऽर्थे बहुवचनं प्रयोक्तव्यम् न्याय

"द्वित्रा इति कोऽयं समासः? बहुव्रीहिरित्याह। कोऽस्य विग्रहः? द्वौ वा त्रयो वेति। भवेद् यदा बहूनामानयनं तदा बहुवचनमुपपन्नम्, यदा तु खलु द्वावानीयेते तदा न सिध्यति। तदापि सिद्धम्। कथम्? केचित्तावदाहुः - अनिर्ज्ञातेऽर्थे बहुवचनं प्रयोक्तव्यमिति। तद् यथा- कति भवतः पुत्राः। कति भवतो भार्या इति। अपर आह-द्वौ वेत्युक्ते त्रयो वेति गम्यते। त्रयो वेत्युक्ते द्वौ वेति गम्यते। सैषा पञ्चाधिष्ठाना वाक्। तत्र युक्तं बहुवचनम्।"[336]

"संख्ययाव्यासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार पूछते हैं कि 'द्वित्राः' यहां कौन सा समास है और उसका क्या विग्रह है? उत्तर देते हैं कि यहां बहुव्रीहि समास है और "द्वौ वा त्रयो वा" यह उसका विग्रह है। इस पर शङ्का करते हैं कि जब बहुतों को बुलाना अभीष्ट हो तो तब तो 'द्वित्राः' यह बहुवचन ठीक

है किन्तु जब केवल दो को ही बुलाना विवक्षित हो तब 'द्वित्राः' यह बहुवचन ठीक नहीं जंचता। क्योंकि दो के अर्थ में द्विवचन ही युक्त है, बहुवचन नहीं। इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि दो के बुलाने में भी बहुवचन हो जाएगा। कैसे? उत्तर में लोकप्रयुक्त व्यवहार को उपन्यस्त करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि कुछ लोग अविज्ञात अर्थ में बहुवचन का प्रयोग करते हैं अर्थात् जिस अर्थ का पूर्णतया ज्ञान नहीं है, उसके विषय में बहुवचन का प्रयोग लोक में देखा जाता है, जैसे- 'आपके कितने पुत्र हैं?' इस वाक्य में एक या दो पुत्रों के होते हुए भी, परन्तु अविदित होने के कारण, बहुवचन का प्रयोग होता है। इसी प्रकार 'आपकी कितनी स्त्रियां हैं?' यहां भी एक या दो स्त्रियों के होते हुए भी, सुविज्ञात न होने के कारण, बहुवचन का प्रयोग देखा जाता है।

दूसरा इसी बात को यूं कहता है कि 'द्वित्राः' में 'द्वौ वा त्रयो वा' इस विग्रह द्वारा 'द्वौ वा' कहने से तीन भी और 'त्रयो वा' कहने से दो भी प्रतीत होते है। तीन और दो मिलकर पांच हो जाते है। पांच संख्या बहुत्व की द्योतक है ही। इसलिए 'द्वित्राः' में बहुवचन उपपन्न हो जाता है। इस सन्दर्भ में अग्रिम न्याय भी द्रष्टव्य है-

4. निर्लुठितगर्भ न्याय

"का पुनः क्रिया? ईहा। का पुनः ईहा? चेष्टा। का पुनश्चेष्टा? व्यापारः। सर्वथा भवान् शब्दैरेव शब्दानाचष्टे, न किञ्चिदर्थजातं निदर्शयत्येवंजातीयका क्रियेति। क्रिया नामेयमत्यन्तापरिदृष्टाऽशक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्, यथा- गर्भो निर्लुठितः। साऽसावनुमानगम्या। कोऽसावनुमानः? इह सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कदाचित् पचतीत्येतद् भवति, कदाचिन्न भवति। अथवा यया देवदत्त इह भूत्वा पाटलिपुत्रे भवति सा नूनं क्रिया"।[337]

"भूवादयो धातवः" सूत्र के भाष्य में "क्रियावचनो धातुः" वार्तिकस्थ क्रिया पद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार संवादशैली में कहते हैं कि क्रिया क्या होती है? उत्तर है - ईहा। यह ईहा क्या होती है? उत्तर है- चेष्टा। यह चेष्टा क्या होती है? उत्तर है- व्यापार। आप तो शब्दों को शब्दान्तरों से कह रहे हैं। किसी पिण्डीभूत वस्तुरूप अर्थ को दिखाकर यह नहीं कहते कि यह क्रिया होती है। इस पर भाष्यकार आगे कहते हैं कि वास्तव में क्रिया नाम की वस्तु अत्यन्त अमूर्त या अदृश्य होती है, जैसे कुक्षिस्थ गर्भ प्रत्यक्ष नहीं होता। अथवा जैसे कुक्षि से निर्गत गर्भ ही प्रत्यक्ष होता है, उससे पूर्व नहीं वैसे ही क्रिया भी प्रत्यक्ष नहीं होती अपितु वैसे ही केवल अनुमानगम्य होती है जैसे उदर की स्थूलता को देखकर उसके अन्दर विद्यमान गर्भ का अनुमान होता है और वह अनुमान यही है कि सभी साधनों के विद्यमान होने पर भी वक्ता कभी 'पचति' क्रिया का प्रयोग कर देता है और कभी नहीं करता। इसलिए जिस साधन के विद्यमान होने पर वक्ता 'पचति' क्रिया का प्रयोग करता है, उस साधन को अवश्य

ही क्रिया मानना चाहिए। अथवा जिस साधन से देवदत्त यहां होकर फिर पटना पहुंच जाता है, वह निश्चयेन क्रिया है। अथवा जैसे कोख को स्थूल देखकर गर्भ का अनुमान होता है वैसे ही क्रिया भी गमनादि परिणाम को देखकर बाद में अनुमान की जाती है, प्रत्यक्ष नहीं।

उपर्युक्त लौकिक उदाहरण के माध्यम से ही भाष्यकार अब विवक्षावशात् क्रिया की वर्तमानता में भी भूतकालता सिद्ध करते हुए अगला न्याय कहते हैं-

5. येन येन शब्देनाभिसम्बध्यते तावति तावति क्रिया परिसमाप्यते न्याय

"क्रिया नामेयमत्यन्तापरिदृष्टानुमानगम्या न शक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्। यथा गर्भो निर्लुठितः। सासौ येन येन शब्देनाभिसम्बध्यते तावति तावति परिसमाप्यते। तद् यथा कश्चित् पाटलिपुत्रं जिगमिषुरेकमहर्गत्वाह - इदमद्यगतमिति। न च तावतास्य व्रजिक्रिया परिसमाप्ता भवति। यत्तु गतं तदभिसमीक्ष्यैतत् प्रयुज्यते-इदमद्य गतम् इति। एवमिहापि यत् कृतं तदभिसमीक्ष्यैतत् प्रयुज्यते-प्रकृतः कटं देवदत्त इति। यदा हि वेणिकान्तः कटोऽभिसमीक्षितो भवति प्रकरोति कटमित्येव तदा भवति।"[338]

"निष्ठा" सूत्र के भाष्य में क्रिया की भूतकालिकता सिद्ध करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह क्रिया नामक ऐसी वस्तु है जो सर्वथा अदृष्ट है, केवल अनुमान से गम्य है। यह वैसे ही कोई आकृति या शकल बनाकर नहीं दिखाई जा सकती जैसे माता के गर्भ में पड़ा हुआ बच्चा नहीं जाना जा सकता कि वह स्त्रीलिङ्ग है या पुंलिङ्ग है। इसी तरह वह यह क्रिया जिस-जिस शब्द से सम्बद्ध होती जाती है उतने-उतने में ही समाप्त होती जाती है। पूर्ण क्रिया तो अन्त में ही समाप्त होती है परन्तु उसकी अवान्तर गुणभूत क्रियाएं बीच-बीच में ही समाप्त होती जाती हैं। उससे भूतकालता बन जाएगी। जैसे कोई पटना जाना चाहता हुआ एक दिन जाकर कह देता है कि आज इतना गमन हुआ। उतने मात्र से ही उसकी गमन क्रिया समाप्त नहीं होती किन्तु जितना वह जा चुका है, उसको विचार कर वह कह देता है कि आज इतना जा चुका हूं।

इसी प्रकार यहां भी जितना कट देवदत्त बना चुका है, उसको विचार कर यह प्रयोग हो जाता है कि 'प्रकृतः कटं देवदत्तः'' (देवदत्त ने कट बनाया है)। जब तो पूरा कट उसकी अन्तिम सीमा तक बनाना अभीष्ट होता है, उसको विचार कर 'प्रकरोति कटं देवदत्तः' (देवदत्त कट को बना रहा है) ऐसा प्रयोग होता है। ये दोनों ही प्रयोग कट बनाने वाले के विचार या विवक्षा पर निर्भर हैं। इसलिए क्रिया की वर्तमानता में भूतकालता भी रहती है- यह सिद्ध हो जाता है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है[339] इस प्रसङ्ग में अगला लोकन्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है, तद् यथा-

6. न हि कश्चित् कूपोऽस्तीति प्रयोक्तव्ये कूपोऽभूदिति प्रयुङ्क्ते न्याय / पाटलिपुत्राध्वगमन न्याय

"असिद्धश्च विपर्यासः। न हीह कश्चित् कूपोऽस्तीति प्रयोक्तव्ये कूपोऽभूदिति प्रयुङ्क्ते। किं पुनः कारणम्? न वा भाष्यन्ते, असिद्धश्च विपर्यासः। इह हि किञ्चिदिन्द्रियकर्म, किञ्चिद् बुद्धिकर्म। इन्द्रियकर्म समासादनम्, बुद्धिकर्म व्यवसायः। एवं हि कश्चित् पाटलिपुत्रं जिगमिषुराह - योऽयमध्वा गन्तव्य आपाटलिपुत्रादेतस्मिन् कूपो भविष्यति। अनद्यतने कूपो भवितेति। समासाद्य कूपोऽस्तीति। समासाद्यातिक्रम्य कूपोऽभू दिति। समासाद्यातिक्रम्योषित्वा कूप आसीदिति। समासाद्यातिक्रम्योषित्वा विस्मृत्य कूपो बभूवेति। तद् यदिदिन्द्रियकर्म तदैता विभक्तयो यदा हि बुद्धिकर्म तदा वर्तमाना भविष्यति।"[340]

"क्षिप्रवचने लृट्" सूत्र के भाष्य में भाष्यवार्तिककार कहते हैं कि शब्दों का विपर्यास, विपरीत प्रयोग, असिद्ध है, सिद्ध नहीं होता। सब शब्द अपने-अपने काल में ठीक बोले जाते हैं। यहां कोई 'कूपोऽस्ति' (कूआ है) इस प्रयोग के स्थान में "कूपोऽभूत्" (कूआ था) - ऐसा प्रयोग नहीं करता। पूछते हैं कि क्या कारण है जो शब्दों के प्रयोग में न विकल्प और न विपर्यास दीखता है? उसका उत्तर देते हुए भाष्यकार लोकप्रयुक्त वाक्यों को उद्धृत करते हैं कि यहां शब्दप्रयोग में कुछ तो इन्द्रिय कर्म हैं अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार कारण है। कुछ बुद्धिकर्म हैं अर्थात् बुद्धि द्वारा विचार करने का व्यापार कारण है। इन्द्रियों का व्यापार वस्तु की प्राप्ति कराना है और बुद्धिकर्म विचार करना है। कोई पटना जाना चाहता हुआ यूं कहता है कि यह जो मार्ग पटना तक जाएगा उसमें कूआ होगा - 'कूपो भविष्यति'। यदि अद्यतन से भिन्न विवक्षा है तो 'कूपो भविता' यहां लुट् लकार का प्रयोग होगा। क्योंकि "अनद्यतने लुट्"[341] से अद्यतनभिन्न भविष्यत्काल में लुट् लकार का विधान है, लृट् का नहीं। कूएं को प्राप्त करके तथा लांघ करके "कूपोऽभूत्" (कूआ था) ऐसा प्रयोग होता है। कूएं को प्राप्त करके, फिर लांघकर, कुछ समय वहां निवास करके 'कूप आसीत्' (कूआ था) - ऐसा प्रयोग होता है। कूएं को प्राप्त कर, फिर लांघकर, निवास के बाद भूलकर 'कूपो बभूव' (कभी कूआ मिला था) - ऐसा प्रयोग होता है।

ऐसी अवस्था में जब चक्षुरादि इन्द्रियों का व्यापार विवक्षित होगा तब कालानुसार 'कूपो भविष्यति' इत्यादि प्रयोग हो जाएंगे और जब उन सब क्रियाओं का बुद्धि से विचार होगा तो वर्तमानकालिक 'कूपोऽस्ति' (कूआ विद्यमान है) - ऐसा प्रयोग होगा। क्योंकि अतीत, अनागत सभी कूओं की सत्ता तो उसकी बुद्धि में विद्यमान है ही। और वैसे भी अर्थ तो मानस व्यापार है। फलतः बुद्धि में तो असत् वस्तु भी सत् बन जाती है। इस प्रकार अर्थ की बुद्धिस्थ सत्ता मानने पर सभी काल वर्तमान में समाविष्ट हो जाएंगे तो "अस्त्यर्थानां भवन्त्यर्थे सर्वा विभक्तयः कर्तुर्विद्यमानत्वात्"[342] इस वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

यह क्रिया अनेक अवान्तर गुणभूत एवं साधारण क्रमजन्मा व्यापारों का समूहरूप

होती है। इसमें जहां मुख्य व्यापार के लिए क्रियाशब्द व्यवहृत होता है, वहां कई बार गौण व्यापारों के लिए भी क्रिया पद का व्यवहार देखा जाता है। वह व्यवहार कैसे होता है - इस विषय में अग्रिम सर्पदर्शन न्याय तात्पर्यग्राहक है, तद् यथा-

7. सर्पदर्शन न्याय

"न हि स्वज्ञानप्रभृति परज्ञानपर्यन्तमेकः क्षणोऽस्ति। समूहरूपत्वे त्ववयवान्तरावच्छेदेन स्वानुभूतां वर्तमानतामवयवान्तरावच्छेदेन बोधयितुं तदुपपत्तेः बिलाद् बिलं प्रविशति सर्पे किञ्चिदवयवावच्छेदेन सर्पमनुभवतोऽवयवान्तरावच्छेदेन तं दर्शयितुं सर्पं पश्येति प्रयोगवत्।"[343]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "भूवादयो धातवः" इस सूत्र के भाष्य में क्रिया की व्याख्या में उसकी समूहरूपता को सिद्ध करने के लिए उपन्यस्त किया है। इसका अर्थ है कि जैसे एक बिल से दूसरे बिल में घुसते हुए सर्प को देखकर कोई किसी को कहता है कि देखो तो, इस सांप को देखो। यद्यपि सारा सांप तो इकट्ठा नहीं देखा जा सकता। क्योंकि सांप का कुछ भाग तो बिल में घुस चुका है और कुछ घुसता जा रहा है और कुछ घुसना बाकी है। इस प्रकार पूरे सांप को तो एक साथ देखना अत्यन्त कठिन है फिर भी जितना भाग जितने समय के लिए दिखाई देता है, उसी को देखकर यह प्रयोग हो जाता है कि तू सांप को देख। इसी प्रकार पाक आदि क्रियाएं भी अति सूक्ष्म होने के कारण यद्यपि एक साथ पूरी वर्णन की जा सकतीं या फिर पूरी तरह से प्रत्यक्ष नहीं की जा सकतीं। फिर भी उनके किसी एक हिस्से को लेकर, उसकी विवक्षा करके, यह प्रयोग हो जाता है यह पढ़ता है, यह पकाता है इत्यादि।

8. अनिर्दिश्यमानस्यापि गुणस्य लोके भवति सम्प्रत्ययः न्याय/चन्द्रमुखी देवदत्ता न्याय

"अनिर्दिश्यमानस्यापि गुणस्य लोके भवति सम्प्रत्ययः तद् यथा- चन्द्रमुखी देवदत्तेति बहवश्चन्द्रे गुणाः। या चासौ प्रियदर्शनता सा गम्यते"।[344]

"उपमानानि सामान्यवचनैः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि अनिर्दिष्ट अथवा अकथित गुण का भी लोक में परिज्ञान हो जाता है, जैसे- 'चन्द्रमुखी देवदत्ता' ऐसा कहते हैं। इसका अर्थ है कि यह देवदत्ता नाम की लड़की चन्द्रमुखी है अर्थात् चांद के समान मुख वाली है। यहां यद्यपि चांद में बहुत से गुण हैं फिर भी जो देखने में उसकी प्यारी सुन्दरता है, वह सौन्दर्य गुण उस देवदत्ता के मुख में समझ लिया जाता है। भाव यह है कि 'चांद के समान मुख वाली' कहने पर भी चांद में विद्यमान अनेकों गुणों में से उस का केवल सौन्दर्य गुण, अनिर्दिष्ट होने पर भी, विशेष रूप से समझा जाता है। इसी प्रकार 'शस्त्रीश्यामा' (शस्त्री अर्थात् तलवार के समान काली या सांवली) यहां शस्त्री में विद्यमान अनेक गुणों के होते हुए भी 'देवदत्ता' में विशेष रूप से श्याम गुण ही, अनिर्दिष्ट हुआ भी, समझ लिया जाएगा। यह उपमा का लोकप्रसिद्ध

उदाहरण है। जैसे शस्त्री श्यामा है वैसे ही देवदत्ता भी श्यामा है। इस प्रकार एक ही 'श्यामा' शब्द के प्रयोग से दोनों का श्यामत्व समास की महिमा से प्रकट होता है। यह न्याय पदमञ्जरी में भी उद्धृत हुआ है।[345]

9. मातृवत्स न्याय

"येषामेव प्रत्ययानां देशो नियम्यते त एव नियतदेशाः स्युः। य इदानीमनियतदेशः स कदाचित् पूर्वः कदाचिदपरः, कदाचिन्मध्ये स्यात्। तद् यथा- मातुर्वत्सः कदाचिग्रतः, कदाचित्पृष्ठतः, कदाचित्पार्श्वतो भवति। पर एव यथा स्यादित्येवमर्थं परवचनम्।"[346]

"परश्च" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार 'पर' ग्रहण का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि यदि आप 'पर' ग्रहण के बिना "विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु" "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः"[347] इन ज्ञापकों से शेष प्रत्ययों का 'पर' होना सिद्ध करेंगे तो वह बात बनती नहीं। क्योंकि जिन प्रत्ययों का स्थान निश्चित कर दिया गया है, वे ही निश्चित स्थान पर होंगे। अन्यों के निश्चित स्थान का कोई नियम न होने से वे सर्वत्र प्राप्त होंगे। फलतः वे कभी पूर्व, कभी पर और कभी मध्य में भी हो सकते हैं। "विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु" सूत्र से विहित 'बहुच्' प्रत्यय तो 'पुरस्तात्' कहने से प्रकृति से पूर्व में ही होगा। किन्तु इनसे भिन्न जिन प्रत्ययों का स्थान निश्चित नहीं किया गया है, उनके लिए "परश्च" इस सूत्र के बिना क्या व्यवस्था होगी? फलतः वे कभी प्रकृति से पूर्व, कभी परे तथा कभी मध्य में भी प्राप्त हो सकते हैं।

इस विषय में भाष्यकार बहुत सुन्दर माता का दृष्टान्त देते हैं कि जैसे माता का बच्चा कभी माता के आगे बैठ जाता है, कभी पीठ पीछे हो जाता है, कभी उसकी गोद में तथा कभी उसके आस-पास बैठता है। क्योंकि उसके लिए माता के पास उठने-बैठने में स्थान का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसी प्रकार प्रत्यय भी धातु आदि प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। प्रकृति उनकी मातृस्थानीय है। प्रत्यय वत्ससदृश हैं। ये भी अपनी इच्छानुसार प्रकृति के पास, जहां चाहें, बैठ सकते हैं - कोई आगे, कोई पीछे, कोई बीच में और कोई आस-पास। इन प्रत्ययों की स्वतन्त्र इच्छा को रोककर "परश्च" सूत्र द्वारा यह नियम किया जाता है कि जिन प्रत्ययों का कोई स्थान निश्चित नहीं किया गया है, वे सब प्रत्यय प्रकृति से परे ही हों, आगे-पीछे या बीच में नहीं। यह नियम केवल प्रत्ययों के लिए ही नहीं है अपितु प्रकृति के लिए भी है कि प्रकृति प्रत्ययपरक ही प्रयुक्त हो[348] और प्रत्यय प्रकृति से परे ही प्रयुक्त हो। उससे केवल प्रकृति का तथा केवल प्रत्यय का प्रयोग निरस्त हो जाता है। एतन्मूलक ही व्याकरण शास्त्र में भाष्यकारादि कहते हैं- "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः इति।"[349]

10. वण्ठरण्डाकल्प न्याय

"उत्तरार्थं तर्हि। इङश्चेति सर्वेभ्योऽपि यथा स्यात्। ननु चायमिङ् एक एव

वण्ठरण्डाकल्पः सर्वेषु साधनेषु यथा स्यात्''।[350]

यह न्याय भाष्यकार ने ''**परिमाणाख्यायां सर्वेभ्यः**'' सूत्रस्थ '**सर्व**' ग्रहण का प्रयोजन बताते हुए उद्धृत किया है। यहां वे लिखते हैं कि '**परिमाणाख्यायाम्**' सूत्र में '**सर्वग्रहण**' उत्तर सूत्रों के लिए किया गया है जिससे सभी धातुओं से '**घञ्**' प्रत्यय हो जाए। इसका प्रयोजन बताते हुए वे ''**इङश्च**''[351] सूत्र का उपन्यास करते हैं अर्थात् ''**इङश्च**'' इस उत्तर सूत्र में भी '**सर्व**' ग्रहण के आधार पर '**घञ्**' हो जाए - इसलिए '**सर्वग्रहण**' करना चाहिए। किन्तु '**इङ्**' धातु के एक होने के कारण उसमें '**सर्वग्रहण**' घटित नहीं होता। इसलिए इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि इस सूत्र में जो केवल एक '**इङ्**' धातु ही निर्दिष्ट है वह **वण्ठरण्डाकल्प** है अर्थात् जिसकी स्त्री मर जाए उसे संस्कृत में **वण्ठ** तथा हिन्दी में **रण्डवा** कहते हैं। और रण्डा, जिसका पति मर जाए, उस '**राण्ड**' **स्त्री** का नाम है। इस प्रकार यह '**इङ्**' धातु **राण्ड-रण्डुवे के समान अकेला ही है।** इसलिए यद्यपि यहां '**सर्वग्रहण**' की अनुवृत्ति करने का कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा तथापि यहां '**सर्व**' शब्द का अर्थ '**सब धातुओं से**' नहीं लिया जाएगा अपितु सभी कारकों में '**इङ्**' धातु से '**घञ्**' हो जाता है अर्थात् न केवल **भाव** में ही प्रत्युत **कर्त्ताभिन्न सभी कारकों** में '**इङ्**' धातु से '**घञ्**' प्रत्यय होता है - यह '**सर्वशब्द**' का अर्थ यहां इष्ट है। प्रौढमनोरमा तथा इसकी शब्दरत्नटीका में भी उक्त न्याय प्रयुक्त हुआ है।[352]

11. अर्धजरतीय न्याय

अस्थानिवत्वे दोषो वृद्धिस्ते न प्राप्नोति। औडुलोम्या शारलोम्येति। न चेदानीमर्धजरतीयं लभ्यं वृद्धिर्मे भविष्यति स्वरो नेति। तद् यथा- अर्धं जरत्या काम्यतेऽर्धं नेति।''[353]

''**अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोःष्यङ् गोत्रे**'' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार बहुत सुन्दर **श्लोकोच्चारण द्वारा** यह विचार करते हैं कि '**ष्यङ्**' को '**अण्**' और '**इञ्**' के स्थान में **आदेश** माना जाए या '**अण्**' और '**इञ्**' से परे **स्वतन्त्र प्रत्यय** माना जाए? **आदेश** मानने वाला कहता है कि मेरे पक्ष में '**वराहस्यापत्यं स्त्री वाराह्या**', '**उडुलोम्नोऽपत्यं स्त्री औडुलोम्या**' इत्यादि सूत्र के उदाहरणों में अभीष्ट अन्तोदात्त स्वर ही रहेगा, '**इञ्**' के ञित्व से होने वाला ''**ञ्नित्यादिर्नित्यम्**''[354] से अनिष्ट आद्युदात्त नहीं होगा। क्योंकि '**इञ्**' के ञकार की इत्संज्ञा किए बिना ही सम्पूर्ण '**इञ्**' के स्थान में '**ष्यङ्**' आदेश मान लिया जाएगा। उससे '**ष्यङ्**' में स्थानिवद्भाव से '**इञ्**' प्रत्यय का आद्युदात्त स्वर होकर '**टाप्**' प्रत्यय के सवर्णदीर्घ होने पर ''**एकादेश उदात्तेनोदात्तः**''[355] से उदात्त ही रहेगा तो '**वाराह्या**' आदि शब्द अन्तोदात्त बन जाएंगे जोकि इष्ट है।

यही बात वह ''**सानुबन्धकस्यादेशो मम भिन्नो भविष्यति**''[356] इस श्लोकांश से कहता है। इस पर प्रत्यय मानने वाला आक्षेप करता है कि यदि '**इञ्**' के ञकार की इत्संज्ञा किए बिना ही अनुबन्ध रहित '**इञ्**' प्रत्यय के स्थान में '**ष्यङ्**' आदेश

माना जाएगा तो '**वाराह्या**' आदि में अन्तोदात्त स्वर सिद्ध होने पर भी ''**तद्धितेष्वचामादेः**''[357] से ञित्, णित् प्रत्यय परे होने रहते होने वाली आदिवृद्धि न हो सकेगी। वह कहता है- ''**अस्थानिवत्वे दोषस्ते वृद्धिरत्र न सिध्यति**''।[358] यहां आप **अर्धजरतीय न्याय** का आश्रयण नहीं कर सकते कि जिससे आधा काम तो हो जाए और आधा न हो अर्थात् '**वाराह्या**' में '**इञ्**' के ञित् से वृद्धि तो हो जाए और ''**ञ्नित्यादिर्नित्यम्**'' से प्राप्त आद्युदात्त स्वर न हो। यदि ञित् न मानकर स्वर रोका जाता है तो वृद्धि भी रुक जानी चाहिए।

अर्धजरतीय शब्द का अर्थ है- '**जरत्या अर्धमिति अर्धजरती। तत्सम्बन्धि कार्यम् अर्धजरतीयम्**' यहां ''**समासाच्च तद्विषयात्**''[359] सूत्र से '**छ**' प्रत्यय होता है। **जरती का अर्थ बूढ़ी या बुढ़िया है।** उसका आधा अङ्ग तो चाहें **और** आधा न चाहें - यह कैसे हो सकता है? कामी लोग उसके मुख को तो विकृत होने से नहीं चाहते किन्तु भोग योग्य अन्य अङ्ग को चाहते हैं - यही **अर्धजरतीय न्याय** है।[360] जहां इस प्रकार वादी और प्रतिवादी का आधा मत लिया जाए और आधा छोड़ दिया जाए - वहां इस न्याय की प्रवृत्ति होती है।[361]

वस्तुतः यह न्याय एक पौराणिक कथा पर आधारित है। तदनुसार एक वृद्ध ब्राह्मण मेले में अपनी गाय को बेचने गया और साधुतावश उसने अपनी गाय को अवितथरूप में बूढ़ी कह दिया। अब जब उस बूढ़ी गाय का कोई ग्राहक नहीं आया तो किसी ने दया करते हुए उस वृद्ध ब्राह्मण से कहा कि आप इसे बूढ़ी गाय न कहें अपितु प्रतिवर्ष वत्स देने वाली दुधारू गाय कहकर बेचें। लोग इस पर मुग्ध होगें तभी यह बिकेगी, अन्यथा नहीं। तब ब्राह्मण ने सोचा कि मैं पहले तो अपने मुख से इसे बूढ़ी कह चुका हूं अतः अब इसे तरुणी कैसे कहूं? ऐसी स्थिति में उसने विचार किया कि यह गाय आत्मांश में, क्योंकि आत्मा बुद्ध पुरुष है तो जरती, बूढ़ी या परिपक्व हो सकती है तथा शरीरांश में तरुणी सम्भव है। परिणामतः अगला ग्राहक आने पर उसने उसी गाय को अर्धजरती तथा अर्धतरुणी बतलाया और गाय बिक गई। इस तरह किसी का मत आधा ग्रहण करना और आधा ग्रहण न करना ही इस न्याय का विषय है।

प्रकृत प्रसङ्ग में भी '**ष्यङ्**' को प्रत्यय मानने वाले ने उसको आदेश मानने वाले पर इस न्याय का प्रयोग किया है जोकि न्याय्य है। उक्त न्याय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। व्याकरणशास्त्र में यह **अर्धजरतीय न्याय** अनेकत्र प्रयुक्त देखा जा सकता है।[362] व्याकरणेतर शास्त्रों में इसी का समानार्थक **अर्धवैशस न्याय** भी दृष्टिगोचर होता है। उन ग्रन्थों में भी यह न्याय प्रचुर व्यवहृत हुआ है।

12. अभिवर्धमानगर्भ न्याय

''**इमावैचौ समाहारवर्णौ, मात्रावर्णस्य, मात्रेवर्णोवर्णयोः, प्लुत उच्यमान उभयविवृद्धिः प्राप्नोति। तद् यथा - अभिवर्धमानो गर्भः सर्वाङ्गपरिपूर्णो वर्धते''।**[363]

यह न्याय भाष्यकार ने "प्लुतावैच इदुतौ" सूत्र के भाष्य में लिखा है। इसका अर्थ है कि बढ़ता हुआ गर्भ सारे अङ्गों की वृद्धि के साथ ही बढ़ता है, यह नहीं कि किसी अवयव में बढ़ता है और किसी में नहीं। भाव यह है कि सारे अवयवों की एक साथ ही वृद्धि होती है। इसी प्रकार 'ऐ' 'औ' इन दोनों अक्षरों में भी एक मात्रा अवर्ण की है और एक मात्रा 'इ', 'उ' की है। अब 'इ', 'उ' को प्लुत करेंगे तो अवर्ण को भी प्लुत प्राप्त होगा। फलतः 'ऐ', 'औ' इन दोनों में चार मात्रा वाला प्लुत होगा। भाष्यकार ने तो चार मात्रा वाला प्लुत ही स्वीकार किया है। जैसे - ऐ३तिकायन। औ३पगव। यहां 'ऐ', 'औ' में चार मात्रा वाला प्लुत है।

13. सीतारावण न्याय

द्वयोश्च परस्पराकाङ्क्षायां सम्बन्धो न त्वन्यतराकाङ्क्षायां सीतारावणयोरिवेति सत्यामपि संज्ञाया आकाङ्क्षायां प्रकृत्यादीनां विशेषणत्वादनाकाङ्क्षत्वात् संज्ञासम्बन्धाऽभाव इत्युक्तं भवति।'[364]

यह न्याय प्रदीपकार ने "प्रत्ययः" सूत्रभाष्य की व्याख्या में उद्धृत किया है। यहां भाष्य में यह शङ्का की गई है कि प्रकृति, उपपद आदि की प्रत्यय संज्ञा क्यों नहीं होती तो इसका उत्तर भाष्यकार ने स्वयं दिया है कि निमित्त निमित्ती के कार्य के लिए हुआ करते हैं। प्रकृति आदि सनादि प्रत्ययों की उत्पत्ति में निमित्त हैं। अतः उनकी कोई और आकाङ्क्षा न होने से प्रत्ययसंज्ञा 'सन्' आदि निमित्तियों की ही होगी। क्योंकि कैयट के अनुसार परस्पर आकाङ्क्षा रखने वाले दो पदार्थों का ही सम्बन्ध हो सकता है। जहां एक तो दूसरे को चाहे और दूसरा पहले को न चाहे- ऐसी अन्यतर आकाङ्क्षा होती है वहां सम्बन्ध नहीं होता, जैसे - रावण तो सीता को चाहता था परन्तु सीता रावण को नहीं चाहती थी। ऐसी स्थिति में इन दोनों का सम्बन्ध नहीं हो सकता था । इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी प्रत्ययसंज्ञा की आकाङ्क्षा होने पर भी प्रकृति आदि के विशेषण या गौण होने से तथा निराकाङ्क्ष होने के कारण प्रत्ययसंज्ञा के साथ उनके सम्बन्ध का अभाव ही रहेगा अर्थात् प्रत्ययसंज्ञा निराकाङ्क्ष एवं निमित्तभूत प्रकृति आदि की न होकर साकाङ्क्ष, मुख्य एवं निमित्ती 'सन्' आदि की ही होगी। साहित्य में यही अन्यतरआकाङ्क्षासम्बन्ध रसाभास के नाम से जाना जाता है।

ख (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित नारीसम्बन्धी लोकन्याय

1. गम्यागम्याखेदविगम (धर्मनियम) न्याय[365]
2. असूतासोष्यमाण प्रथमगर्भहता (व्यपदेशिवदेकस्मिन्) न्याय[366]
3. देवदत्तास्थगर्भ न्याय/तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते न्याय[367]
4. कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम् (भावाभावातिदेश) न्याय[368]
5. अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति न्याय[369]

6. अभिरूपकन्यादान न्याय[370]
7. सतोऽप्यविवक्षा भवति न्याय/अनुदरा कन्या न्याय[371]
8. नटभार्या न्याय/नटाङ्गना (शैलूषी) न्याय[372]
9. वृद्धकुमारीवरवाक्य न्याय[373]
10. ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्य (वृद्धकुमारी) न्याय[374]
11. तादर्थ्यात् ताच्छब्द्य (इन्द्रार्था स्थूणा) न्याय[375]
12. तुल्यकन्यादान न्याय[376]
13. व्युत्क्रमणेनापि लोके सम्बन्धो दृश्यते न्याय/कन्याब्रह्मचारिणौ दण्डकन्दुकहस्तौ न्याय[377]
14. अरुन्धतीप्रदर्शन न्याय[378]
15. वन्ध्यासुत न्याय[379]
16. षोडशीग्रहणाग्रहण न्याय[380]
17. यूनि लब्धे तु युवतिर्जरठे रमते कथम् न्याय[380a]

ग (1) गृहसामग्रीसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. प्रासादवासी न्याय

"मुखग्रहणं शक्यमकर्तुम्। केनेदानीमुभयवचनानां भविष्यति? प्रासादवासिन्यायेन। तद् यथा- केचित् प्रासादवासिनः, केचिद् भूमिवासिनः, केचिदुभयवासिनः। तत्र ये प्रासादवासिनो, गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन। ये भूमिवासिनो, गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन। ये तूभयवासिनो, गृह्यन्त एव ते प्रासादवासिग्रहणेन भूमिवासिग्रहणेन च। एवमिहापि केचिन्मुखवचनाः, केचिन्नासिकावचनाः, केचिदुभयवचनाः। तत्र ये मुखवचनाः, गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन, ये नासिकावचना, गृह्यन्ते ते नासिकाग्रहणेन। य उभयवचना, गृह्यन्त एव ते मुखग्रहणेन नासिकाग्रहणेन च"।[381]

"मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः" इस सूत्र के भाष्य में यह 'प्रासादवासी न्याय' प्रयुक्त हुआ है। यह न्याय भी अत्यन्त लोकप्रसिद्ध ही है। इसका उपयोग आचार्य पाणिनि अपने शास्त्र में करते हुए कहते हैं कि यदि "मुखनासिका" सूत्र में मुखग्रहण नहीं करेंगे तो केवल नासिका वचनों की ही अनुनासिक संज्ञा प्राप्त होगी जोकि अनिष्ट है।[382] हम चाहते हैं कि मुखवचन और नासिकावचन दोनों वर्णों की अनुनासिक संज्ञा हो, न केवल नासिकावचन की ही। उसके लिए सूत्र में 'मुख' ग्रहण करना आवश्यक है। और इसके विपरीत सूत्र में यदि केवल 'मुख' ग्रहण ही करते हैं तो क, च, ट, त, प इत्यादि केवल मुखवचन वर्णों की अनिष्ट अनुनासिक संज्ञा प्राप्त होती है। उसकी व्यावृत्ति के लिए मुख के साथ नासिका ग्रहण भी अत्यन्त आवश्यक है। इस पर भाष्यकार 'प्रासादवासी न्याय' के आधार पर 'मुख' ग्रहण के बिना भी 'नासिकावचनः' इतने मात्र सूत्र से मुखवचन वर्णों का भी ग्रहण करके 'मुख' ग्रहण का खण्डन कर

देते हैं। इसी विषय में भाष्यकार प्रश्नोत्तर करते हैं कि 'मुख' ग्रहण के बिना मुख और नासिका दोनों से बोले जाने वाले वर्ण की अनुनासिक संज्ञा कैसे सिद्ध होगी तो इसका उत्तर देते हैं कि 'प्रासादवासी न्याय' से। यह न्याय अत्यन्त स्पष्ट है। भाष्य के शब्द निगद व्याख्यात हैं जिनका अर्थ यह है कि जैसे कुछ लोक प्रासाद अर्थात् महल में रहते हों और कुछ भूमि पर रहते हों और कुछ दोनों में ही रहते हों। ऐसी स्थिति में जो केवल महल में ही रहते हैं, वे प्रासादवासी कहलाएंगे, और जो भूमि पर रहते हैं, वे भूमिवासी कहलाएंगे। परन्तु जो महल और भूमि दोनों पर रहते हैं, वे प्रासादवासी और भूमिवासी दोनों ही कहे जा सकते हैं। इस प्रकार जब हम प्रासादवासियों को बुलाएंगे तो उससे केवल प्रासाद में रहने वाले तो आएंगे ही किन्तु उनके साथ जो प्रासाद और भूमि दोनों पर रहते हैं, वे भी आ जाएंगे। इसी प्रकार भूमिवासियों को बुलाने पर केवल भूमिवासी तो आएंगे ही, किन्तु उनके साथ जो भूमि और प्रासाद दोनों में रहते हैं, वे भी आ जाते हैं।[383] वैसे ही यहां शास्त्र में भी मुख और नासिका दोनों से एक साथ बोले जाने वाले वर्ण मुख या नासिका में से किसी एक के ग्रहण से भी गृहीत हो जाएंगे तो 'मुख' ग्रहण के बिना भी काम चल जाएगा। इसलिए सूत्र में 'मुख' ग्रहण करना व्यर्थ है। प्रासादवासी न्याय को ही उदाहरणान्तरमूलक भ्राष्ट्रोखा न्याय से स्पष्ट करते हुए कैयट भी कहते हैं-

2. भ्राष्ट्रोखा न्याय

"यदा तु सर्व एव वर्णो मुखेनोच्चार्यते नासिकया च, तदा प्रासादवासिन्यायेन भाष्यकारो मुखग्रहणं प्रत्याचष्टे। यथा भ्राष्ट्रेणोखया च पक्वः सूपः उभाभ्यां व्यपदिश्यते।"[384]

इसका भाव यह है कि जैसे हम किसी उखा अर्थात् बर्तन में दाल आदि पकाने के लिए उसे किसी चूल्हे पर रख दें तो दाल के पकाने में दोनों का ही सहयोग है - बर्तन का भी और अग्नि का भी। इसलिए कह सकते हैं कि यह दाल बर्तन और चूल्हे दोनों ने पकाई है। इस प्रकार उभयशक्तिसम्पन्न या उभयान्वयी ऐसे अनेक स्थलों पर इस न्याय का प्रयोग हो सकता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में उक्त न्याय देने का यह तात्पर्य है कि "मुखनासिका" इत्यादि सूत्र में 'मुख' ग्रहण की आवश्यकता नहीं है, वह प्रत्याख्येय है। क्योंकि जब सारे ही वर्ण मुख और नासिका दोनों से मिलकर उच्चारित होते हैं तो उक्त दोनों न्यायों के आधार पर केवल 'नासिका' ग्रहण से भी उन सब वर्णों का बोध या ग्रहण हो सकता है। फलतः सूत्र में 'मुख' ग्रहण व्यर्थ है। यह प्रासादवासी न्याय व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[385]

3. भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि (तद्गुणसंविज्ञान) न्याय / दण्डी विषाणी चानीयताम् न्याय / अतद्गुणसंविज्ञान न्याय / चित्रगुरानीयताम् न्याय

बहुव्रीहिरयमन्यपदार्थे वर्तते। तेन यदन्यत् सर्वशब्दात् तस्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्नोति। तद् यथा- चित्रगुरानीयतामित्युक्ते यस्य ता गावो भवन्ति स आनीयते, न गावः। नैष दोषः। भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि। तद् यथा- चित्रवाससमानय, लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति इति तद्गुण आनीयतेः तद्गुणाश्च प्रचरन्ति"।[386]

"सर्वादीनि सर्वनामानि" सूत्र के भाष्य में यह प्रश्न किया गया है कि 'सर्वादीनि' शब्द में क्या समास है? उत्तर दिया गया है कि 'सर्व आदिर्येषां तानि सर्वादीनि' इस प्रकार बहुव्रीहि समास है। इस पर कहते हैं कि किन्तु बहुव्रीहि समास में तो अन्य पदार्थ की प्रधानता होती है। ऐसी स्थिति में सर्व शब्द जिनके आदि में है वे तो विश्व आदि शब्द हैं। अतः सर्व शब्द को छोड़कर शेष विश्व आदि शब्दों की ही सर्वनामसंज्ञा प्राप्त होती है, जैसे- लोक में 'चित्रगुरानीयताम्' ऐसा कहने पर जिसकी चित्र-विचित्र गाय हैं, जो चित्र-विचित्र गायों का स्वामी है, वह अन्यपदार्थ पुरुष ही लाया जाता है, स्वयं गाय नहीं लायी जातीं। क्योंकि बहुव्रीहिसमास में 'चित्रा गावो यस्य' इस प्रकार 'यस्य' इस षष्ठी का अर्थ प्रधान है और वह पुरुष है। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार प्रकृत लोकन्याय उपस्थित करते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि बहुव्रीहि समास में 'तद्गुणसंविज्ञान' भी होता है[387] अर्थात् उस अन्य पदार्थ के जो गुण, उपलक्षण या विशेषण होते हैं, उनका भी कार्य में उपादान होता है। इस प्रकार बहुव्रीहिसमास अन्यपदार्थप्रधान होता हुआ भी दो प्रकार का होता है- तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान। 'चित्रगुरानीयताम्' यह उदाहरण 'अतद्गुणसंविज्ञान' बहुव्रीहि का है। इसमें अन्यपदार्थ पुरुष के जो उपलक्षण चित्र-विचित्र गाय हैं, उनका ग्रहण नहीं होता। केवल पुरुष ही लाया जाता है, चित्र-विचित्र गायों का तो उसके साथ केवल सम्बन्धमात्र है।

अब भाष्यकार 'तद्गुणसंविज्ञान' बहुव्रीहि का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जैसे 'चित्रवाससमानय' (चित्र-विचित्र कपड़े वाले को लाओ) और 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' (लाल पगड़ी वाले ऋत्विक् लोग यज्ञशाला में घूम रहे हैं) यह कहा जाता है। यहां 'चित्रवाससमानय' कहने पर वही पुरुष लाया जाता है जिसके चित्र-विचित्र कपड़े स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हों और 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' ऐसा कहने पर ऋत्विक् भी वही लिए जाएंगे जिनकी पगड़ियां स्पष्ट लाल दिखाई दे रही हों, यह नहीं कि जिनके घरों में लाल पगड़ियां या चित्र-विचित्र कपड़े कपड़े रखे हैं, वे लिए जाएं। वस्तुतः चित्र-विचित्र कपड़े तथा लाल पगड़ियों से संयुक्त अन्य पदार्थ यहां विवक्षित है। अतः यह 'तद्गुणसंविज्ञान' बहुव्रीहि है। इसी प्रकार प्रकृत 'सर्वादीनि' शब्द में भी लक्ष्यानुरोधात् 'तद्गुणसंविज्ञान' बहुव्रीहि मानकर सर्वशब्द को अन्यपदार्थ के साथ ले लिया जाएगा तो उसकी भी सर्वनामसंज्ञा सिद्ध हो जाएगी। इसी प्रकार "नडादिभ्यः फक्"[388] तथा "गर्गादिभ्यो यञ्"[389] इत्यादि सूत्रों में नड तथा गर्ग आदि भी ले लिए

जाते हैं। अन्यत्र भी यह न्याय पर्याप्त रूप में उपलब्ध होता है।[390] नागेश भी 'नागयज्ञोपवीती भोजन न्याय' के द्वारा 'तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि' को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

4. नागयज्ञोपवीती भोजन न्याय

''सर्वादीनीति- तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः . . . नागयज्ञोपवीती भोज्यतामित्यादौ यज्ञोपवीतस्य कार्यित्वाभावेऽपि तत्सन्निहितत्वमस्त्येवेति बोध्यम्''।[391]

यह न्याय बृहच्छब्देन्दुशेखरकार ने ''सर्वादीनि'' सूत्र की व्याख्या में 'सर्वादि' शब्द में 'तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि' समास पर विचार करते हुए दिया है। इसका अर्थ है कि बहुव्रीहि दो प्रकार का होता है - तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान। यहां सूत्रस्थ 'सर्वादीनि' शब्द में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है अर्थात् 'सर्व शब्द है आदि में जिनके' यह 'सर्वादि' इस बहुव्रीहि समास का अर्थ है। नागेश आगे कहते हैं कि किन्तु सर्वशब्द सर्व से भिन्न विश्व आदि अन्य शब्दों के आदि में है। इसलिए अतद्गुणसंविज्ञान पक्ष में सूत्रस्थ 'सर्वादि' ग्रहण से स्वयं सर्व शब्द का ग्रहण नहीं होना चाहिए। परन्तु लक्ष्यानुरोधात् जब 'सर्वादि' शब्द में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि मानेंगे तो सर्व शब्द जिनके आदि में है, उनके साथ-साथ स्वयं सर्व शब्द की भी सर्वनामसंज्ञा हो जाएगी। इसी बात को उदाहरणान्तर से और अधिक स्पष्ट करने के लिए शेखरकार ने 'नागयज्ञोपवीती भोज्यताम्' यह न्याय दिया है। इसका अर्थ है कि 'शेषनागरूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले को भोजन कराओ' ऐसा कहने पर जिसके गले में माला के रूप में शेषनागरूपी यज्ञोपवीत पड़ा है, उसी को भोजन कराया जाता है, अन्य को नहीं। वहां यज्ञोपवीत केवल उपलक्षणमात्र है।

इसके विपरीत शेषनागरूपी यज्ञोपवीत को जो केवल अपने पास रखता है या कभी धारण करता है और कभी नहीं भी, उसे 'नागयज्ञोपवीती' यहां नहीं कहा गया है अपितु जो साक्षात् नागयज्ञोपवीत को धारण किए हुए है जिसके गले में स्पष्ट रूप से नागरूपी यज्ञोपवीत पड़ा हुआ है, उसी को भोजन कराया जाएगा। इस प्रकार जैसे उक्त दृष्टान्त में नागयज्ञोपवीत के स्वयं कार्यभाक् न होने पर भी भोजनक्रिया में इसका सन्निहितत्व अपरिहार्य है वैसे ही यहां सर्वनामसंज्ञा में भी विश्व आदि शब्दों के साथ सर्व शब्द का सन्निहितत्व भी परमावश्यक है अर्थात् स्वयं सर्वशब्द की भी सर्वनाम संज्ञा होती है।

तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि को लेकर ''एकाचो द्वे प्रथमस्य''[392] सूत्र के भाष्य में भी यह शङ्का की गई है कि यदि सूत्रस्थ 'एकाच्' शब्द में बहुव्रीहि समास है तो बहुव्रीहि समास के अन्यपदार्थप्रधान होने से एक अच् वाला जो अन्यपदार्थ है, उसे ही द्वित्व होगा, स्वयं एक अच् को द्वित्व नहीं होगा। उस अवस्था में 'पपाच' यहां 'पच्' इस एकाच् समुदाय में एक अच् वाले जो प और च हैं, उनमें प्रथम एकाच् प को ही द्वित्व प्राप्त होगा जोकि अनिष्ट है। इसका उत्तर देते हुए भी भाष्यकार पूर्वोक्त लोकन्याय

को उपस्थित करते हैं कि एक अच् वाले समुदाय में स्वयं एक अच् को भी द्वित्व सिद्ध हो जाएगा। क्योंकि बहुव्रीहिसमास में तद्गुणसंविज्ञान भी आचार्य पाणिनि ने माना है।[393] तद्गुणसंविज्ञान से तात्पर्य है कि उस अन्यपदार्थ के जो गुण है, अवयव हैं या विशेषण हैं अर्थात् विग्रहवाक्य में आने वाले वर्तिपदार्थ हैं, उनका भी कार्य में संविज्ञान होता है। फलतः वे गुण भी अन्य पदार्थ में ले लिए जाते हैं। इसलिए 'एकाच्' इस अन्यपदार्थ वाले बहुव्रीहि में भी तद्गुणसंविज्ञान होकर एक अच् से युक्त ही एकाच् समुदाय लिया जाएगा तो 'पपाच' में भी एक अच् से युक्त 'पच्' को ही द्वित्व होगा, केवल हल् को नहीं। इस सन्दर्भ में देवदत्तशालाब्राह्मणानयन न्याय भी उपोद्बलक है, तद् यथा-

5. देवदत्तशालाब्राह्मणानयन न्याय

''मतुबपि मत्वर्थे वर्तते। तद् यथा- देवदत्तशालायां ब्राह्मणा आनीयन्तामित्युक्ते यदि देवदत्तोऽपि ब्राह्मणो भवति सोऽप्यानीयते''।[394]

''तसौ मत्वर्थे'' सूत्र के भाष्य में 'मत्वर्थ' ग्रहण पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे ''अस्मायामेधास्रजो विनिः''[395] सूत्रप्रोक्त 'विनि' प्रत्यय के मत्वर्थीय होने से इसके परे होने पर 'यशस्वी', 'तेजस्वी' इत्यादि में प्रकृत सूत्र से भसंज्ञा सिद्ध हो जाती है वैसे ही 'पयस्वान्', 'यशस्वान्' यहां स्वयं 'मतुप्' प्रत्यय परे होने पर भी भसंज्ञा सिद्ध हो जाएगी। क्योंकि स्वयं 'मतुप्' प्रत्यय भी मत्वर्थ माना जाता है, जैसे लोक में 'देवदत्त की शाला (घर) में ब्राह्मणों को लाओ' - ऐसा कहने पर यदि देवदत्त भी ब्राह्मण है तो वह भी लाया जाता है। इसलिए मत्वर्थ कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि मत्वर्थ में ही भसंज्ञा होती है और स्वयं 'मतुप्' में नहीं। मत्वर्थ में स्वयं 'मतुप्' के भी समाविष्ट होने से उसके परे होने पर भी भसंज्ञा सिद्ध हो जाएगी। फलतः 'पयस्वान्' इत्यादि में ''ससजुषोः रुः''[396] सूत्र से पदान्त सकार को रुत्वादि होकर 'पयोवान्' इत्यादि अनिष्ट रूप नहीं बनेंगे। क्योंकि यह सत्त्व भसंज्ञा में न होकर पदसंज्ञा में ही होता है। इसी विषय को विरोधी या व्यतिरेकी देवदत्तशालाभेदन न्याय के द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हुए कैयट भी कहते हैं-

6. देवदत्तशालाभेदन न्याय

''यत्र रूपान्तरेणोपलक्षणत्वं रूपान्तरेण च कार्ययोगः प्रतिपाद्यते तत्रोपलक्षणस्याप्युपलक्ष्यरूपसद्भावे सति कार्ययोगो भवति। तद् यथा- देवदत्तशालायां ब्राह्मणा आनीयन्तामित्युक्ते सति ब्राह्मण्ये देवदत्तस्याप्यानयनं भवति। कार्यनिमित्तरूपान्तराभावे तु न भवत्युपलक्षणस्य कार्ययोगः। यथा- देवदत्तशाला भिद्यतामिति''।[397]

इसका अर्थ है कि 'देवदत्त के घर को तोड़ दो' - ऐसा कहने पर उसका घर ही तोड़ा जाता है, स्वयं देवदत्त नहीं तोड़ा जाता। किन्तु इसी के साथ दूसरा पूर्वोक्त

वाक्य है - **'देवदत्त के घर में सब ब्राह्मणों को बुलाओ'** - यहां जब अन्य सब ब्राह्मण आते हैं तो देवदत्त भी यदि ब्राह्मण है और स्वशालास्थ है तो वह भी अन्य ब्राह्मणों के साथ लाया जाता है। उक्त दोनों वाक्यों में यही विचारना है कि **देवदत्त का घर तोड़ो** - ऐसा कहने पर देवदत्त नहीं तोड़ा जाता। क्योंकि भेदनक्रिया में शाला का ही सम्बन्ध या सम्भव है। अतः उस शाला से उपलक्षित जो देवदत्त है, उसका भेदन नहीं होता। कारण कि वह स्वयं शाला नहीं है। और दूसरा वाक्य जो **देवदत्त के घर में सब ब्राह्मणों को बुलाओ'** है, वहां ब्राह्मणत्वरूप समवायसम्बन्ध से उपलक्षित जो देवदत्त है, वह ब्राह्मणों के साथ अवश्य लाया जाता है, क्योंकि वह भी ब्राह्मण है।

भाव यह है कि भेदनक्रिया तो केवल शाला में ही की जाएगी, क्योंकि शाला में ही भेदन का सम्भव है। देवदत्त का भेदन विवक्षित् नहीं है अर्थात् वक्ता केवल देवदत्त के घर को ही गिराना चाहता है, स्वयं देवदत्त को नहीं। तब उस अवस्था में भेदनक्रिया में घर के साथ-साथ देवदत्त का सम्बन्ध कैसे हो? इस विषय में कैयट लिखते हैं - **''रूपान्तरेण''** इत्यादि अर्थात् जहां **रूपान्तर से तो उपलक्षणता** तथा **रूपान्तर से उसका कार्ययोग** प्रतिपादित किया जाता है वहां उपलक्षण का भी उपलक्ष्य का रूप हो जाने के बाद फिर उसमें भी कार्य का योग हो जाता है। जैसे उक्त उदाहरण में ही आपाततः यद्यपि 'देवदत्त की शाला तोड़ो' कहने पर तो देवदत्त उपलक्षण या विशेषण है तथापि दूसरे वाक्य में **'ब्राह्मणों को बुलाओ'** कहने पर उसके ब्राह्मण होने से वही उपलक्ष्य या विशेष्य भी बन जाता है। इस तरह देवदत्त के उपलक्षण होने पर भी बाद में उसके उपलक्ष्यरूप बन जाने से उसका आनयन (कार्ययोग) हो जाता है। दूसरे शब्दों में - देवदत्तशालारूप से तो उसकी उपलक्षणता है तथा ब्राह्मण होने के कारण ब्राह्मणत्वरूप से यह उपलक्ष्य भी बन जाता है। अतः आमन्त्रणक्रिया में तो उसका क्रियायोग हो जाता है। ऐसी बात 'देवदत्तशाला भिद्यताम्' यहां नहीं है। क्योंकि देवदत्त स्वयं शाला नहीं है। यदि देवदत्त भी शाला होता तो उसका भी भेदन अवश्य होता।

पदमञ्जरीकार भी इस पर विशेष विचार करते हुए कहते हैं कि 'तदस्यास्ति' तथा 'तदस्मिन्नस्ति'[398] ये दोनों 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ हैं। अतः जैसे **'देवदत्त शाला में ब्राह्मणों को लाओ'** - ऐसा कहने पर देवदत्त भी यदि ब्राह्मण है तो वह भी अन्य ब्राह्मणों के साथ लाया जाता है वैसे ही यहां भी मत्वर्थ ग्रहण से 'विनि' आदि के साथ-साथ स्वयं या केवल 'मतुप्' का भी ग्रहण हो जाता है। इसे ही व्याकरणशास्त्र में **''बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि''**[399] इस परिभाषा से दर्शाया गया है। तात्पर्य यह है कि जहां अन्यपदार्थ के साथ उसके उपलक्षणों, विशेषणों या गुणों का संयोग या समवाय अन्यतर सम्बन्ध वाच्य होता है और वह अविरुद्ध होता है वहां तो उसका भी क्रिया में अन्वय (तद्गुणसंविज्ञान) हो जाता है, जैसे- **'दण्डी विषाणी चानीयताम्'**

ऐसा कहने पर दण्डयुक्त और विषाणयुक्त प्राणी (पुरुष) ही लाया जाता है, इनसे रहित नहीं। क्योंकि दण्ड और विषाण शब्दों से **संसर्गरूप मत्वर्थीय** अर्थ में 'इनि' प्रत्यय हुआ है। और **संसर्ग सदा द्विष्ठ हुआ करता है**। अतः पुरुष के साथ अविरुद्ध दण्ड और विषाण का भी आनयन होता है। परन्तु जहां उपलक्ष्य या विशेष्य का अपने उपलक्षण या विशेषण के साथ संयोग या समवाय अन्यतर सम्बन्ध वाच्य नहीं होता और कार्ययोग में विरोध होता है वहां उनका कार्ययोग नहीं होता (अतद्गुणसंविज्ञान), जैसे- **'चित्रगुरानीयताम्'** ऐसा कहने पर चित्र-विचित्र गायों का स्वामी विशेष्य ही लाया जाता है, स्वयं चित्र-विचित्र गाय नहीं।[400]

यहां **तद्गुणसंविज्ञान एवं अतद्गुणसंविज्ञानमूलक देवदत्तशाला तथा चित्रगुपरक** प्रस्तुत दोनों लोकन्याय उपन्यस्त करने का संक्षिप्त भाव यह है कि पहले तो **''तसौ मत्वर्थे''** सूत्र में 'अर्थ' ग्रहण का प्रयोजन पूछा गया। इसके बाद पुनः शङ्का की गई है कि 'अर्थ' ग्रहण करने पर तो फिर 'विनि' इत्यादि 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ रखने वाले प्रत्ययों की ही भसंज्ञा हो सकेगी, स्वयं 'मतुप्' की नहीं जोकि इष्ट है। इसका उत्तर देवदत्तशालामूलक लोकन्याय से दे दिया गया जोकि ऊपर पर्याप्त व्याख्यात हो चुका है। दूसरे न्याय का तात्पर्य है कि जहां संयोग या समवाय से उपलक्ष्य का उपलक्षण से पृथक् रूप नहीं होता वहीं उपलक्षण का कार्य से योग नहीं होता। किन्तु जहां उपलक्ष्य का अलग से रूप सम्भव है वहां तो उपलक्षण का कार्य से योग हो ही जाता है। उक्त न्याय में संयोग या समवाय से चित्र-विचित्र गाय रूप उपलक्षणों का रूप पृथक् से सम्भव है। अतः अन्यपदार्थरूप उपलक्ष्य ही लाया जाता है, स्वयं चित्र-विचित्र गाय नहीं। इसी प्रकार यह 'देवदत्तशालाब्राह्मणनयन न्याय' प्रदीपकार ने **''सर्वादीनि सर्वनामानि''** सूत्रस्थ **'सर्वादि'** शब्द के व्याख्याप्रसङ्ग में भी उद्धृत किया है।[401]

अथवा इस बात को यूं भी समझा जा सकता है कि किसी विभागाध्यक्ष द्वारा मीटिंग बुलाने पर उस मीटिंग में जहां अन्य सदस्य उपस्थित होते हैं वहां स्वयं विभागाध्यक्ष भी तो उसमें उपस्थित होता ही है वैसे ही यहां सर्वनामसंज्ञा में भी सर्व शब्द का ग्रहण जानना चाहिए। अथवा जैसे वेदान्तियों के **अनुसार** एक बार दस आदमी नदी पार करने निकले। पार जाने से पहले उन्होंने सोचा कि नदी में हममे से कोई डूब न जाए - इसलिए क्यों न स्वयं को गिन लें। वे पूरे दस थे। नदी पार जाने के बाद उन्होंने सबने बारी-बारी से फिर गिन कर देखा तो वे नौ निकले। हममे से कौन डूब गया - यह सोचकर वे रोने लगे। वास्तव में वे सारे गिनते समय स्वयं को छोड़ देते थे। तभी एक व्यक्ति कम हो जाता था। इतने में एक बुद्धिमान् व्यक्ति वहां आया और रहस्य खोलते हुए उसने कहा- ''दशमस्त्वमसि''। वैसे वेदान्त में तो इस दृष्टान्त से दूसरा अर्थ सिद्ध किया गया है परन्तु यहां भी इससे इतना तो हम समझ ही सकते हैं कि जैसे वहां स्वयं को भूलने से दस संख्या पूरी नहीं होती वैसे ही यहां भी बिना सर्व शब्द के सर्वनामसंज्ञा अव्याप्त ही रहेगी।

इस न्याय का शास्त्र में अन्यत्र भी यथास्थान व्यवहार दिखाई देता है।[402] ध्यान रहे कि भाष्यकार की यह शैली है कि वे एक बात को भी यथासंभव अनेक लौकिक तथा शास्त्रीय उदाहरणों एवं दृष्टान्तों से पुष्ट करते हैं। जैसे प्रकृत में ही तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार चित्रवासस्, लोहितोष्णि तथा देवदत्त-शालाब्राह्मणानयन न्यायों को उपस्थित करते हैं। उत्तरवर्ती टीकाकारों ने भी इस भाष्यकारीय शैली को 'नागयज्ञोपवीती भोजन' आदि न्यायों से और आगे बढ़ाया है। सर्वनामसंज्ञा के प्रसङ्ग में ही अभिव्यक्तपदार्थ न्याय को उद्धृत करते हुए हरदत्त भी कहते हैं-

7. अभिव्यक्तपदार्थ न्याय

संज्ञाप्रतिषेधस्तावन्न वक्तव्यः-

अभिव्यक्तपदार्था ये स्वतन्त्रा लोकविश्रुताः।

शास्त्रार्थस्तेषु कर्तव्यः शब्देषु न तदुक्तिषु।

तत्र यथा बाहुर्नाम कश्चित् तस्यापत्यं बाहवः, बाह्वादिभ्यश्च इतीञ् न भवति संज्ञा .... एवमिहापि संज्ञाभूतानां सर्वादीनां संज्ञा, तन्निबन्धनं च कार्यम्"।[403]

"सर्वादीनि सर्वनामानि" सूत्र पर पदमञ्जरीकार ने 'संज्ञोपसर्जन प्रतिषेधः' यह भाष्यवार्तिक दिया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इस वार्तिक में जो संज्ञाओं की सर्वनाम संज्ञा का निषेध किया गया है, वह निषेध नहीं करना चाहिए- ऐसा कहा गया है। उसकी सिद्धि के लिए उन्होंने यह 'अभिव्यक्तपदार्थाः' न्याय उपस्थापित किया है। इसका अर्थ है कि जो शब्द प्रसिद्ध अर्थ वाले और सर्वत्र स्पष्ट हैं, स्वतन्त्र है, उन्हीं शब्दों में शास्त्र का कार्य होना चाहिए। जो व्यर्थ स्वकपोलकल्पित शब्द हैं, उनमें शास्त्र का कार्य नहीं करना चाहिए। जैसे किसी का नाम बाहु है, यह यादृच्छिक या स्वकपोलकल्पित है अर्थात् लोक में कहीं भी यह नामरूप में प्रसिद्ध नहीं है। अतः उसका अपत्य कहने में बाहु शब्द से "तस्यापत्यम्"[404] से विहित 'अण्' प्रत्यय ही होगा, "बाह्वादिभ्यश्च"[405] इस सूत्र से विहित विशेष 'इञ्' प्रत्यय नहीं होगा तो 'बाहविः' यह रूप नहीं बनेगा प्रत्युत 'बाहवः' रूप ही बनेगा। इसी प्रकार किसी का नाम श्वशुर है जो अन्यत्र लोक में कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है और न ही उसका अर्थ स्पष्ट होता है। उसमें अपत्य अर्थ में "राजश्वशुराद्यत्"[406] से 'यत्' प्रत्यय नहीं होगा तो 'श्वशुर्यः' रूप नहीं बनेगा। 'श्वशुर्यः' तो वहां बनेगा, जो श्वशुर का अपत्य होगा अर्थात् जो श्वशुर शब्द संज्ञा नहीं है अपितु कन्या और वर के सम्बन्धी माता-पिता हैं, जो वस्तुतः श्वशुर के रूप में प्रसिद्ध या कहलाते हैं, उन्हीं से 'यत्' प्रत्यय होकर 'श्वशुर्यः' रूप बनेगा। इसी प्रकार यहां भी "सर्वादीनि सर्वनामानि" सूत्र से होने वाली सर्वनाम संज्ञा भी किसी व्यक्तिविशेष के नाम की नहीं होगी। फलतः उसमें सर्वनामसंज्ञा के विशेष कार्य नहीं होंगे। जैसे किसी का नाम सर्वमित्र है, उसे हम सर्व शब्द से पुकारते हैं। अब 'उस सर्व के लिए कोई चीज दो' इस अर्थ में 'तस्मै सर्वाय इदं वस्तु दीयताम्' ऐसा यहां 'सर्वाय' ही प्रयोग

होगा, चतुर्थी के एकवचन में 'सर्वस्मै' नहीं होगा। 'सर्वस्मै' तो वहीं होगा जब सब का वाचक सर्वनाम 'सर्व' शब्द वहां होगा, किसी विशेष का वाचक नहीं। इस तरह 'अभिव्यक्त पदार्थाः' इस न्याय के आधार पर किसी व्यक्तिविशेष की संज्ञा में सर्वनाम संज्ञा होगी ही नहीं तो उसका प्रकृत वार्तिक से निषेध करना व्यर्थ है। इस न्याय का व्याकरणशास्त्र में पर्याप्त व्यापार है।[407] शास्त्रीय होते हुए भी इस न्याय को वैयाकरणों ने लौकिक बना दिया है।

8. अधिकार न्याय / प्रदीपन्याय / रज्जुकाष्ठ न्याय / लोहचुम्बक न्याय

"अधिकारो नाम त्रिप्रकारः। कश्चिदेकदेशस्थः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति। अपरोऽधिकारो यथा रज्ज्वाऽयसा वा बद्धं काष्ठमनुकृष्यते तद्वदनुकृष्यते चकारेण। अपरोऽधिकारः प्रतियोगं तस्याऽनिर्देशार्थ इति योगे योग उपतिष्ठते। तद् यदैष पक्षः - अधिकारः प्रतियोगं तस्याऽनिर्देशार्थ इति तदा यदेवादः पुरस्तादवयवषष्ठ्यर्थमेतदुत्तरत्रानुवृत्तं सत् स्थाने योगार्थं भविष्यति"।[408]

"षष्ठी स्थानेयोगा" सूत्रभाष्य में भाष्यकार अधिकारों के कार्यभेद का निरूपण करते हुए कहते हैं कि अधिकार तीन प्रकार का होता है।[409] कोई अधिकार तो परिभाषारूप होकर एक ही स्थान पर बैठा हुआ सारे शास्त्र में व्यापार करता है, जैसे चमकता हुआ एक दीपक भवन के कोने में रखा हुआ ही सारे भवन को प्रकाशित करता है। परिभाषारूपी अधिकार भी एक स्थान पर रहता हुआ ही अपने कार्य से सब शास्त्र को प्रभावित करता है। दूसरा अधिकार वह है जो चकार लगाने से खिंचा चला आता है, जैसे रस्सी या लोहे से बंधी हुई लकड़ी खिंची चली आती है। तीसरा अधिकार जो मुख्य रूप से अधिकारसूत्र कहलाता है, उसका कार्य यह है कि वह प्रत्येक सूत्र में निर्दिष्ट नहीं होता, फिर भी एक बार निर्दिष्ट किया हुआ ही स्वरित के बल से प्रत्येक सूत्र में उपस्थित होता जाता है।

यह बात भाष्यकार ने इसलिए लिखी है कि "शास इदङ्हलोः"[410] इस सूत्र में "शासः" यह अवयव षष्ठी है और "उपधायाः" यह स्थानषष्ठी है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होता है कि "शास्" धातु की जो उपधा, उसके स्थान में इकार होता है। प्रकृत सूत्र में "शासः" में अवयव षष्ठी है, स्थानषष्ठी नहीं। अतः "शास्" धातु के स्थान में इकार नहीं होता अपितु 'शास्' की उपधा के स्थान में इकार होता है। किन्तु इससे अगले "शा हौ"[411] इस सूत्र से 'शा' आदेश करने के लिए "शासः" इस अवयव षष्ठी को स्थानषष्ठी बनाना पड़ता है। फलतः "शा हौ" सूत्र का अर्थ होता है कि 'शास्' धातु के स्थान में 'शा' आदेश होता है। इस प्रकार एक ही षष्ठी जो कहीं स्थानषष्ठी और कहीं अवयवषष्ठी बन जाती है, वह अधिकार के कारण ही बन जाती है, अर्थात् जहां अवयवसम्बन्धी कार्य होगा वहां अवयवषष्ठी का अधिकार हो जाएगा और जहां

स्थानसम्बन्धी कार्य होगा वहां स्थानषष्ठी हो जाती है। इसी बात को हम "एकमपि हि वस्त्वावर्त्यमानमनेकत्रोपयुज्यते" न्याय से भी कह सकते हैं।

9. एकमपि हि वस्त्वावर्त्यमानमनेकत्रोपयुज्यते न्याय

"एकमपि हि वस्त्वावर्त्यमानमनेकत्रोपयुज्यते, यथैकं भाजनमसहभुजामनेकेषां भुजिक्रियायाम्, तथेदङ्गग्रहणमावर्त्यते"।[412]

"हल्" सूत्र की व्याख्या करते समय न्यासकार कहते हैं कि एक ही वस्तु आवृत्ति को प्राप्त होकर अनेक जगह उपयोग में आती है, जैसे- एक ही भाजन, खाने का बर्तन, अलग-अलग खाने वालों में आवृत्त होकर अनेक बन जाता है। इसका तात्पर्य यहां यह लिया गया है कि "अङ्गस्य", "हलः"[413] यहां "हलः" सूत्र में ऊपर से "अङ्गस्य" की आवृत्ति आने पर यह दो प्रकार के अर्थों में विभक्त हो जाता है। तदनुसार "अङ्गस्य" का अर्थ होगा कि अङ्ग का अवयव जो हल्, उससे परे जो सम्प्रसारण, तदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है। इस तरह एक ही "अङ्गस्य" यह षष्ठी आवृत्त होकर अवयवषष्ठी भी बन जाती है और स्थानषष्ठी भी। इसी को आवृत्ति के द्वारा अनेकता भी कहा जाता है, जैसे- एक ही कपिला गौ को हजार ब्राह्मणों को दान दिया तो वह एक ही गौ एक के बाद दूसरे को दी जाने के कारण हजार गायों की दक्षिणा बन जाती है। इस प्रकार शास्त्र और लोक में ऐसे अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। प्रकृत न्याय को पदमञ्जरीकार ने इस प्रकार कहा है-

"आवर्तमानं वस्त्वेकमप्यनेकस्य शेषताम्।
भजते भाजनं यद्वन् नृणामसहभोजने॥"

ध्यातव्य है कि यहां भाष्यकार ने अधिकारसूत्रों के ये उक्त भेद पारमार्थिक भेद की दृष्टि से नहीं कहे हैं अपितु संज्ञाओं और परिभाषाओं के यथोद्देश तथा कार्यकाल पक्ष को लेकर ही कहे गए समझने चाहिएं।[414] प्रदीपसादृश्यमूलक उक्त न्याय महाभाष्य के साथ-साथ शाबर भाष्य में भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[415] इस दृष्टि से एक वस्तु के अनेकत्र उपयोग के सन्दर्भ में 'नर्तक न्याय' भी देखा जा सकता है। क्योंकि वह भी अकेला ही अनेक का मनोरञ्जन करता है।

अब भाष्यकार अधिकार और परिभाषा में अन्तर दिखाते हुए अगला प्रदीप नामक लोकन्याय उपन्यस्त करते हैं-

"कः पुनरधिकारपरिभाषयोर्विशेषः? अधिकारः प्रतियोगं तस्याऽनिर्देशार्थ इति योगे योग उपतिष्ठते। परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्। तद् यथा- प्रदीपः सुप्रज्वलित एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति"।[416]

"समर्थः पदविधिः" इस परिभाषासूत्र के भाष्य में भाष्यकार अधिकार और परिभाषा का भेद प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि अधिकार सूत्र तो अनुवृत्ति द्वारा प्रत्येक

सूत्र में उपस्थित होता है अर्थात् जहां तक उसका अधिकार है वहां तक वह प्रत्येक सूत्र में उपस्थित होकर अपना कार्य करता है। फलतः प्रत्येक सूत्र में उसका अलग निर्देश या पाठ करने की आवश्यकता नहीं है। वह स्वरित द्वारा[417] अधिकृत होकर स्वतः ही सर्वत्र उपस्थित होता है। इसके विपरीत परिभाषा तो एक स्थान में स्थित हुई ही सारे शास्त्र को प्रकाशित करती है। यह अनुवृत्ति द्वारा प्रत्येक सूत्र में उपस्थित नहीं होती अपितु जहां उसका बोधक लिङ्ग मिलेगा वहीं पहुंच जाएगी।

यह "समर्थ" सूत्र भी परिभाषा सूत्र है इसलिए जहां भी पदसम्बन्धी विधि दृष्टिगोचर होगी वहीं वह समर्थ के आश्रित मानी जाएगी। परिभाषासूत्र व्यवधान में अथवा पूर्व-पर सर्वत्र अपने लिङ्ग को देखकर प्रवृत्त हो जाता है। अधिकार सूत्र की तरह उसमें नैरन्तर्य या अव्यवधान की अपेक्षा नहीं होती। इस विषय में भाष्यकार पूर्वोक्त लोकप्रसिद्ध दीपक का दृष्टान्त देते है कि जैसे दीपक अच्छी तरह प्रकाशित हुआ घर के एक कोने में रखा हुआ ही समस्त घर को प्रकाशित कर देता है अर्थात् सारे घर में दीपक को घुमाने की आवश्यकता नहीं प्रत्युत वह एक जगह स्थित हुआ ही सारे मकान को जगमगा देता है[418] वैसे ही परिभाषा सूत्र भी एक स्थान में स्थित होता हुआ ही समस्त शास्त्र में अपना व्यापार करता है। दीपक के इस दृष्टान्त से परिभाषा का लक्षण स्पष्ट हो जाता है कि यह अधिकार की अपेक्षा अधिक व्यापक है। परिभाषा का काम नियमन करना है[419] अर्थात् जहां जैसा नियम चाहिए वहां वह एक बार कहा हुआ ही समस्त शास्त्र में व्यापृत होता है। प्रकृत प्रदीपमूलक दृष्टान्त को लोकप्रसिद्ध मानकर लोकव्यवहारनुकूल ही शास्त्रीय कार्य का संचालन होता है - इससे यह सिद्ध हो जाता है। सूत्रों के अधिकार के विषय में भाष्यकार निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते न्याय द्वारा आगे भी विचार करते हुए कहते हैं -

10. निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते न्याय

"किं गतमेतदियता सूत्रेण? गतमित्याह। कुतः? लोकतः। तद् यथा लोकेऽधिकृतोऽसौ ग्रामे, अधिकृतोऽसौ नगरे इत्युच्यते यो यत्र व्यापारं गच्छति। शब्देन चाप्यधिकृतेन कोऽन्यो व्यापारः शक्योऽवगन्तुमन्यदतो योगे योग उपस्थानात्। न वैतत् प्रयोजनमस्ति। किं कारणम्? निर्दिश्यमानाधिकृतत्वाद् यथा लोके। निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते। तद् यथा- देवदत्ताय गौर्दीयतां यज्ञदत्ताय विष्णुमित्रायेति। गौरिति गम्यते। एवमिहापि पदरुजविशस्पृशो घञ्। सृ स्थिरे। भावे। घञिति गम्यते।"[420]

"स्वरितेनाधिकारः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार स्वरितत्वप्रतिज्ञायुक्त अधिकार की आवश्यकता बताते हुए कहते हैं कि क्या यह बात इस सूत्र से स्वतः निकल आएगी कि एक स्थान पर पढ़ने से ही प्रत्येक योग में उस स्वरितेत् शब्द की अनुवृत्ति या उपस्थिति हो जाएगी और प्रत्येक योग में वह स्वरितेत् शब्द पुनः नहीं पढ़ना पड़ेगा तो उत्तर देते हैं कि हां, निकल आएगी। पूछते हैं कि कैसे? तो उत्तर देते है कि उक्त

बात लोक से निकल आएगी। जैसे लोक में कहते हैं कि **यह आदमी इस गांव में अधिकृत है, यह व्यक्ति इस नगर में अधिकृत है**। इस कथन से उसका अभिप्राय यही होता है कि उस गांव या नगर में उसका अधिकार है, व्यापार है या उसकी बात मानी जाती है। जिस प्रकार एक ही **इन्द्र** शब्द विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न स्थानों पर उच्चारित होकर भी सबकी आहुतियों के ग्रहण के लिए **अधिकारवशात्** एक साथ ही इन्द्र देवता को उपस्थित कर देता है उसी प्रकार शब्द का भी अधिकार होने पर उसका और क्या व्यापार हो सकता है सिवाय इसके कि वह प्रत्येक योग में अलग-अलग उपस्थित हो अर्थात् एक जगह पठित होकर भी वह **अधिकार के बल से योग-योग में अपना व्यापार करे**।[421]

यहां यदि यह कहा जाए कि वह लोकन्याय तो निम्न दूसरे लोकन्याय से बाधित हो जाता है। लोक में देखते हैं कि जिसका निर्देश किया गया है, वह **अधिकृत** होता है। फलतः उसी का **अधिकार** समझा जाता है, जैसे- '**देवदत्त को गौ दीजिए, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र को भी दीजिए**' ऐसा कहने पर यहां यज्ञदत्त और विष्णुमित्र को भी **गौ** का ही दान समझा जाता है, अन्य वस्तु का नहीं। क्योंकि जिसका निर्देश देवदत्त में किया गया है, उसी का अधिकार यज्ञदत्त और विष्णुमित्र में भी जाता है। इसी तरह शास्त्र में भी "पदरुजविशस्पृशो घञ्"[422] यहां 'घञ्' का निर्देश किया गया है। अब वही अधिकृत होकर "सृ स्थिरे"[423] और "भावे"[424] इन उत्तर सूत्रों में भी अनुवृत्त होगा तो इनसे भी 'घञ्' प्रत्यय ही होगा और कोई 'इनुण्' आदि प्रत्यय नहीं। इस प्रकार लोकव्यवहार से ही सिद्ध होने पर यह स्वरितत्वप्रयुक्त अधिकार सूत्र व्यर्थ प्रतीत होता है। परन्तु इस पर भाष्यवार्तिककार निवर्तक न्याय से आगे आपत्ति करते हैं :-

11. अन्यनिर्देशस्तु निवर्तको भवति (निवर्तक) न्याय

अन्यनिर्देशस्तु निवर्तकस्तस्मात् परिभाषा। अन्यनिर्देशस्तु लोके निवर्तको भवति। तद् यथा- देवदत्ताय गौर्दीयतां यज्ञदत्ताय कम्बलो विष्णुमित्राय चेति। कम्बलो गोर्निवर्तको भवति। एवमिहापि अभिविधौ भावे इनुण् घञो निवर्तकः स्यात्। तस्मात् परिभाषा कर्तव्या"।[425]

इसका भाव यह है कि किन्तु पहले से भिन्न का निर्देश होने पर फिर उस पहले की बाधा होनी भी संभव है, जैसे लोक में ही- '**देवदत्त को गौ दीजिए, यज्ञदत्त को कम्बल तथा विष्णुमित्र को भी कम्बल दीजिए**' ऐसा कहने पर प्रथमनिर्दिष्ट गौ के दान की पिछले कहे हुए दूसरे कम्बल के दान से बाधा हो जाती है अर्थात् यज्ञदत्त को प्रथम निर्दिष्ट गौ नहीं दी जाती अपितु बाद में अन्यनिर्दिष्ट कम्बल दिया जाता है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी पहले 'घञ्' का निर्देश करने पर बाद में "**अभिविधौ भाव इनुण्**"[426] सूत्र से '**इनुण्**' का निर्देश करने से 'घञ्' की बाधा प्राप्त होती है। फलतः 'इनुण्' से आगे आने वाले "**आक्रोशेऽवन्योर्ग्रहः**"[427] इत्यादि सूत्रों में अभीष्ट

'घञ्' नहीं प्राप्त होता। इसके लिए प्रकृत स्वरितत्वप्रतिज्ञायुक्त परिभाषारूप में पठित "**स्वरितेनाधिकारः**" यह अधिकार सूत्र बनाना अत्यन्त आवश्यक है जिससे जहां-जहां **स्वरितत्व प्रतिज्ञा है वहां-वहां अधिकार का ज्ञान हो सके, सर्वत्र सब प्रसक्त न हों**।[428]

ध्यातव्य है कि यहां यह जो भाष्यवार्तिककार ने "**निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते**" इस न्यायपूर्ण कथन का बाधक "**अन्यनिर्देशस्तु निवर्तकस्तस्मात् परिभाषा**" यह वचन पढ़ा है, यह **सोपाधिक** जानना चाहिए। इसके सन्दर्भ में इतना विशेष अवश्य स्मरणीय है कि कुछ उत्तरवर्ती व्याख्याकारों के अनुसार अन्यनिर्देश वहां पर पूर्वनिर्दिष्ट का बाधक नहीं होगा जहां एक तो **दोनों निर्देश भिन्नजातीय होंगे**, जैसे- '**दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां कम्बलः कौण्डिन्याय**' इस वाक्य में दही तथा कम्बल का दान दोनों भिन्नजातीय हैं। अतः कम्बलदान ब्राह्मण होने के कारण कौण्डिन्य को दिए जाने वाले दधिदान का बाधक नहीं होगा।[429] अथवा यदि दूसरे या **दोनों निर्देश भिन्नार्थक** हों तो वहां भी अन्यनिर्देश पूर्वनिर्दिष्ट के अधिकार को बाधित नहीं करता, जैसे- '**ब्राह्मणेभ्यो भोक्तुं दधि दीयतां कौण्डिन्याय तैलं स्नानाय**' इस वाक्य में प्रथम चरण का अर्थ अपने आप में निराकाङ्क्ष या पूर्ण है तथा दूसरे चरण का अपने में। दोनों वाक्यांश अपने आप में पूर्ण होने से भिन्नार्थक हैं। अतः यहां भी अन्यनिर्देशरूप तैलदान से पूर्वनिर्दिष्ट रूप दधिदान की बाधा नहीं होती।[430] अथवा वहां भी अन्यनिर्देश पूर्वनिर्दिष्ट का निवर्तक नहीं होता जहां **कालभेद** से दो वाक्य या नाना **वाक्य** बोले गए हों, जैसे- पूर्वाह्ण में ब्राह्मणभोजनप्रकरण के समय तो '**दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयताम्**' यह वाक्य बोल दिया तथा अपराह्ण में '**तक्रं कौण्डिन्याय**' यह कह दिया। इस तरह दोनों निर्देशों के भिन्न-भिन्न काल के होने से अन्यनिर्देशरूप तक्रदान से पूर्वनिर्दिष्टरूप दधिदान की निवृत्ति नहीं होती। ध्यान रहे कि तक्रकौण्डिन्य न्याय में तो दोनों निर्देशों का उच्चारण अभिन्नकाल वाला है जबकि यहां दोनों निर्देश भिन्नकाल वाले हैं। अतः वहां तो तक्र से दधि की बाधा हो जाती है।[431] प्रस्तुत "**निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते**" न्याय व्याकरण शास्त्र में बहुत्र प्रयुक्त देखा जा सकता है।[432] **अधिकारसूत्रों की बलवत्ता के विषय में भाष्यकार** आगे कहते हैं-

12. दुर्बलबलवद्भारोद्वहन न्याय

"**कथं पुनरधिकः कारः इत्यनेन पूर्वविप्रतिषेधाः शक्या न पठितुम्? लोकतः। तद् यथा- लोकेऽधिकमयं कारं करोतीत्युच्यते। योऽयं दुर्बलः सन् बलवद्भिः सह भारं वहति। एवमिहाप्यधिकमयं कारं करोतीत्युच्यते योऽयं पूर्वः सन् परं बाधते।**"[433]

"स्वरितेनाधिकारः" सूत्र के भाष्य में '**अधिकार**' शब्द के भाष्यकार ने तीन अर्थ किए हैं। '**अधिकारः अधिकारगतिः, अधिकारः अधिकं कार्यम्, अधिकारः अधिकः कारः**' - ये तीनों ही अर्थ अत्यन्त आवश्यक हैं। उनमें '**अधिकः कारः अधिकारः**' इस तीसरे अर्थ का प्रयोजन यहां बताया है कि ये जगह-जगह जो पूर्वविप्रतिषेध पढ़ने

पड़ते हैं, वे नहीं पढ़ने पड़ेगें। जैसे- "**गुणवृद्धचौत्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन**" और "**नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन**"[434] यहां '**नुम्**' और '**नुट्**' पर **स्वरितत्व प्रतिज्ञा** करके अधिकार होगा तो वह "**अधिकः कारः**" इस अर्थ के अनुसार अधिक कार्य करेगा। उससे "**विप्रतिषेधे परं कार्यम्**"[435] इस सूत्र से विहित **परविप्रतिषेध** की बाधा होकर **लक्ष्यानुरोधात् पूर्वविप्रतिषेध** भी कहीं पर हो जाएगा।

इस पर भाष्यकार पूछते हैं कि "**अधिकः कारः**" इस अर्थ से **पूर्वविप्रतिषेध** का वचन कैसे गतार्थ हो जाएगा? वे **पूर्वविप्रतिषेध** क्यों नहीं पढ़ने पड़ेंगे? तो उत्तर देते हैं कि लोक से अर्थात् जैसे लोक में कहते हैं कि यह अधिक काम करता है जो दुर्बल होता हुआ भी बलवान् मनुष्यों के साथ काम करता है या बोझ ढ़ोता है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी यह अधिक कार करता है, इसलिए अधिकार है जो पूर्व होता हुआ भी पर को बाधता है। सामान्यतया विप्रतिषेध में 'पर' का ही कार्य होना चाहिए और होता भी है किन्तु '**अधिकार**' शब्द के "**अधिकः कारः**" इस तीसरे अर्थ से कहीं-कहीं **परविप्रतिषेध** की बाधा होकर **पूर्वविप्रतिषेध** द्वारा पूर्व का कार्य भी हो जाता है। वैसे भाष्य में अभ्युपायान्तर के रूप में 'पर' शब्द को इष्टवाची मानकर भी उक्त प्रयोजन सिद्ध किया गया है।[436] अधिकारसूत्रों की प्रवृत्ति-निवृत्ति को लेकर भी भाष्यकार "**न हि काको वाश्यते**" इस एक सुन्दर प्राचीन कहावत का प्रयोग करते हुए कहते हैं-

13. न हि काको वाश्यते इत्यधिकारा निवर्तन्ते न्याय

"**वाक्याधिकारः क्रियते पदनिवृत्यर्थः। पदाधिकारो निवर्त्यते। न हि काको वाश्यते इत्यधिकारा निवर्तन्ते**"।[437]

"**वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्त**" सूत्रभाष्य में भाष्यकार प्रकृत न्याय को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि यहां वाक्य का अधिकार पद की निवृत्ति के लिए माना गया है। क्योंकि इस सूत्र पर निम्न वार्तिक है- "**वाक्याधिकारः पदनिवृत्यर्थः।**" इस पर भाष्यकार टिप्पणी करते हैं- "**न हि काको वाश्यते**" इत्यादि। इसका अर्थ है कि क्योंकि कौआ बोल उठा, इसलिए अधिकार की निवृत्ति नहीं हो जाती। वास्तव में आज भी लोक में यह साधारण मान्यता है कि यदि कहीं आपके सामने या आसपास कौआ बोल रहा हो तो उससे यह निश्चित होता है कि आज अवश्य कोई आएगा। क्योंकि कौआ बोल रहा है। वैसे व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर भी ऐसा प्रायः देखने में आया है कि जब-जब कौआ बोला तो उस दिन निश्चय ही कोई न कोई व्यक्ति मिलने आ भी जाता है। किन्तु काकतालीय न्याय से यह तो एक संयोग या आकस्मिक घटना ही है। वस्तुतः वैसे इस बात का कोई ठोस वैज्ञानिक आधार नहीं है।

परन्तु प्रकृत न्याय लोकव्यवहार में आज भी प्रचलित है। यदि किसी की मृत्यु का व्यङ्ग्य करना अभीष्ट हो तो प्रायः लोग कह देते हैं कि अमुक पर तो कौआ बैठ गया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी भाष्यकार ने वाक्याधिकार को पद के अधिकार की निवृत्ति का जो कारण लिखा है, उसका यहां व्यङ्ग्य किया गया है। लोक में इस प्रकार

के और भी व्यवहार दृष्टिगोचर होते हैं जोकि अधिकतर कल्पना के आधार पर ही होते हैं, जैसे- किसी आदमी को हिचकी बहुत आ रही है तो लोग कह देते हैं कि अवश्य ही उसे कोई न कोई याद कर रहा है। इसी तरह अपनी दक्षिण नेत्र या भुजा के फड़कने पर[438] यह मानना कि '**अवश्य ही मुझे कुछ इष्टसिद्धि होगी**' - इसी प्रकार के न्याय हैं जो आज भी लोक में प्रसिद्धिप्राप्त हैं। यह न्याय भाष्य में अन्यत्र भी यथास्थान व्यवहृत देखा जा सकता है।[439]

व्याकरण शास्त्र में सूत्रों को छह प्रकार का माना गया है, जैसे-

"**संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।**
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥"

परन्तु इनमें स्वयं अधिकारसूत्र भी चार प्रकार के देखे जाते हैं। इनमें सर्वप्रथम मण्डूकगति अधिकार न्याय जैसे-

14. मण्डूकगति (प्लुति) न्याय

"**अथवा मण्डूकगतयोऽधिकाराः। यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः**"।[440]

"**इको गुणवृद्धी**" सूत्र भाष्य में भाष्यकार प्रकृत न्याय को उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि अनुवृत्ति से आने वाले अधिकार सूत्र मण्डूक के समान गति वाले होते हैं अर्थात् जैसे मण्डूक (मेंढक) उछल-उछल कर चलते हैं और अपने निकट के स्थान को भी छोड़कर आगे उछल जाते हैं उसी प्रकार पूर्व सूत्र से अनुवृत्त अधिकार भी अपने अव्यवहित स्थान को भी लांघकर आगे निकल जाते हैं। यह न्याय लोक में '**मण्डूकप्लुति न्याय**' नाम से भी प्रसिद्ध है। शास्त्र में भी यथास्थान इसका उपयोग आचार्य ने किया है। यहां प्रसङ्ग यह है कि आपाततः "**इको गुणवृद्धी**" सूत्र में '**गुणवृद्धि**' ग्रहण व्यर्थ प्रतीत होता है। क्योंकि "**वृद्धिरादैच्**" और "**अदेङ् गुणः**" इन पूर्वसूत्रों से यहां '**गुणवृद्धि**' की अनुवृत्ति आ ही जाएगी। फलतः "**इकः**" इतना सूत्र ही पर्याप्त है। किन्तु सिद्ध होने पर भी जो पुनः '**गुणवृद्धि**' ग्रहण किया गया है, वह इस बात में तात्पर्यग्राहक समझा जाएगा कि '**गुण**' शब्द से विहित जो गुण और '**वृद्धि**' शब्द से विहित जो '**वृद्धि**', वहीं पर इस '**इक्**' परिभाषा की उपस्थिति होती है, सर्वत्र नहीं। उससे '**द्यौः**', '**पन्थाः**', '**सः**' इत्यादि में क्रम से "**दिव औत्**"[441] से होने वाला '**औ**', "**पथिमथ्यृभुक्षामात्**"[442] से होने वाला '**आ**' तथा "**त्यदादीनामः**"[443] से होने वाला अकार ये तीनों गुणवृद्धिसंज्ञक होते हुए भी '**गुण**' या '**वृद्धि**' शब्द से विहित नहीं है अपितु '**औ**', '**आत्**', '**अ**' इन शब्दों से विहित हैं। अतः प्रकृत परिभाषासूत्र के अनुसार ये '**इक्**' के स्थान में न होकर "**अलोऽन्त्यस्य**"[444] के नियम से अन्तादेश होते हैं - यह इष्ट सिद्ध हो जाता है। इसके लिए "**संज्ञया विधाने नियमः**"[445] इस विशेष वचन के बनाने की आवश्यकता नहीं है।

इस सिद्धान्तपक्ष पर आक्षेप करने वाला कहता है कि किन्तु 'धारा (गङ्गा) प्रवाह न्याय' के आधार पर यदि "वृद्धिरादैच्" और "अदेङ् गुणः" इन पूर्व सूत्रों से यहां 'गुणवृद्धि' ग्रहण की अनुवृत्ति करोगे तब गुण की अनुवृत्ति तो अव्यवहित होने से आ जाएगी। परन्तु वृद्धि की अनुवृत्ति तो व्यवहित है अर्थात् उसकी अनुवृत्ति लाने में तो "अदेङ् गुणः" का व्यवधान है। अब यदि वह वृद्धि ग्रहण की अनुवृत्ति "अदेङ् गुणः" में भी आएगी तो "अदेङ" की वृद्धिसंज्ञा भी प्राप्त होगी जोकि अनिष्ट है। इसका समाधान करने के लिए भाष्यकार द्वारा इस 'मण्डूकप्लुतिन्याय' का आश्रयण किया गया है। फलतः जैसे मेंढक निकटवर्ती स्थान को छोड़कर दूर उछल जाते हैं वैसे ही "वृद्धिरादैच्" से आने वाली 'वृद्धि' की अनुवृत्ति भी अपने निकटवर्ती अव्यवहित "अदेङ् गुणः" को लांघकर सीधी "इको गुणवृद्धी" सूत्र में आ जाएगी तो 'अदेङों' की वृद्धि संज्ञा न होकर इष्ट सिद्ध हो जाएगा। इसी प्रकार "पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्"[446] सूत्रभाष्य में भी प्रकृत न्याय के आधार पर ही उक्त सूत्र में "अपादाने पञ्चमी"[447] सूत्र से 'पञ्चमी' ग्रहण की अनुवृत्ति सिद्ध की गई है। इस तरह अधिकारसम्बन्धी शास्त्रीय कार्यो की सिद्धि के लिए यह मण्डूकप्लुति लोकन्याय अत्यन्त समादरणीय है। यह न्याय व्याकरणशास्त्र में पर्याप्त प्रयुक्त देखा जाता है।[448] अधिकार को लेकर अगला न्याय भी द्रष्टव्य है-

15. गोयूथ न्याय

"तद् यथा- गोयूथमेकदण्डप्रघट्टितं सर्वं समं घोषं गच्छति तद्वदधिकाराः"।[449]

"तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि, तेन निर्वृत्तम्, तस्य निवासः, अदूरभवश्च" इन चारों चातुरर्थिक सूत्रों के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि अधिकार गोयूथ के समान होते हैं। जैसे गायों का झुण्ड एक डण्डे से हांका हुआ एक साथ ही गोशाला में चला जाता है वैसे ही चातुरर्थिक सूत्रों से विहित उक्त चारों अधिकार भी एक साथ ही चले जाएंगे, यह नहीं कि "ओरञ्"[450] इत्यादि सूत्रों में केवल "अदूरभवश्च" के अर्थ का ही अधिकार चले। फलतः "तदस्मन्नितिदेशे तन्नाम्नि", "तेन निर्वृत्तम्", "तस्य निवासः", "अदूरभवश्च" ये चारों सूत्र अलग-अलग होते हुए भी उत्तरवर्ती सूत्रों में गोयूथ के समान एक साथ ही अधिकृत होंगे। इसलिए चारों सूत्रों को चाहे एक अधिकार मान लिया जाए या अलग-अलग अधिकार मान लिया जाए - कहीं पर भी दोष नहीं होगा। प्रस्तुत प्रसङ्ग में डॉ. रामकिशोर शुक्ल ने अपनी पुस्तक में जो गोयूथ न्याय की व्याख्या की है, वह भाष्यप्रयुक्त गोयूथव्याख्यान को देखते हुए उससे संवाद न रखने के कारण कुछ विचारणीय प्रतीत होती है। तद् यथा डॉ. शुक्ल लिखते हैं- "यथा गोयूथः क्षेत्रेषु तृणानि खादन् यदा याति तदा मध्ये यदि किमप्यभक्ष्यं तृणं प्राप्यते तदा स तत् परित्यज्याग्रे गत्वा खाद्यं तृणमत्ति। एवमेव किमप्यधिकारसूत्रं मध्येऽधिकारानर्हसूत्रं परित्यज्य तदर्हसूत्रे स्वीयं पदमुपस्थापयति....."।[451]

अधिकार की प्रवृत्ति को समझने के लिए अगला न्याय भी पठनीय है-

16. नदीस्रोत न्याय / गङ्गाप्रवाह न्याय / धाराप्रवाह न्याय

"यत्रैवार्थित्वमाकाङ्क्षा वा तत्रैवाधिकाराः सम्बध्यन्ते न तु नदी स्रोतोन्यायेनेतिभावः"[452]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः" इस सूत्र के भाष्य में "अनुवर्त्तन्ते च नाम विधयो, न चानुवर्त्तनादेव भवन्ति। किं तर्हि? यत्नाद् भवन्ति" इसकी व्याख्या में लिखा है। इसका अर्थ है कि कोई भी अधिकार केवल अनुवृत्तिमात्र से नहीं होता किन्तु यत्न से होता है। जिस वस्तु का अधिकार करना है, उस वस्तु के लिए विशेष यत्न करना पड़ता है। जहां विशेष आकांक्षा, योग्यता अथवा आवश्यकता होती है, वहीं पर ही अनुवृत्ति द्वारा अधिकारसूत्र को लाया जाता है, यह नहीं कि जैसे नदी का स्रोत बिना आगे-पीछे देखे बेरोक-टोक सब दिशाओं में बढ़ता जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में "विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः" सूत्र में विकल्प से 'यत्' और 'खञ्' दोनों प्रत्ययों का विधान होता है। परन्तु प्रकृत न्याय को बाधकर "धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्"[453] से 'खञ्' प्रत्यय की अनुवृत्ति आती हुई केवल "विभाषा तिलमाषोमा" इसी सूत्र में सम्बद्ध होती है, बीच में आने वाले "व्रीहिशाल्योर्ढक्"[454] और "यवयवकषष्टिकाद्यत्"[455] इन दो प्रत्ययों से सम्बद्ध नहीं होती। क्योंकि वहां उसकी कोई आकांक्षा नहीं है। यह न्याय अधिकारों की पुरुषारम्भ रूप यत्न की विशेष अपेक्षा होने पर ही अनुवृत्ति को सूचित करता है।[456] नदी का स्रोत यह न्याय व्यतिरेकी दृष्टान्त है। जैसे नदी का स्रोत बिना किसी आवश्यकता के निरर्गल बहता रहता है वैसे अधिकार नहीं बहते। नदीस्रोत उसके विरुद्ध दृष्टान्त है। इस न्याय को ही गंगाप्रवाह या नदीप्रवाह न्याय से भी अभिहित किया जाता है।[457] अधिकार सूत्रों की प्रवृत्ति को जानने के लिए अगला न्याय भी उदाहरणीय है-

17. सिंहावलोकित न्याय

"वक्ष्यमाणं शाकल्यग्रहणमिहोपतिष्ठते सिंहावलोकितन्यायेन, सा च व्यवस्थितविभाषा; तेन मणीवादीनां प्रतिषेधो भविष्यति - मणीव, दम्पतीव, रोदसीवेति"।[458]

"ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" इस सूत्र पर पठित "ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः" इस वार्तिकवचन की व्याख्या करते हुए न्यासकार उक्त 'सिंहावलोकित न्याय' का निर्देश करते हैं। वे कहते हैं कि 'सिंहावलोकित न्याय' से आगे आने वाले "सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे"[459] इस उत्तरवर्ती सूत्र में पठित 'शाकल्य' ग्रहण की यहां इस "ईदूदेद्" पूर्वसूत्र में उपस्थिति हो जाएगी। 'शाकल्य' आचार्य का नाम पूजा के लिए है। वस्तुतः वह 'शाकल्य' ग्रहण विभाषा के लिए है और वह विभाषा भी 'व्यवस्थितविभाषा' मानी जाएगी। उससे लक्ष्यानुरोधात् कहीं नित्य ही 'ई', 'ऊ', 'ए'

इन द्विवचनान्त शब्दों की प्रगृह्यसंज्ञा हो जाएगी और कहीं सर्वथा नहीं होगी। परिणामतः उससे 'मणीव' आदि शब्दों में प्रगृह्यसंज्ञा का अभाव सिद्ध हो जाएगा। 'मणीव' आदि शब्द इस प्रकार हैं - 'मणीव', 'दम्पतीव', 'रोदसीव'। 'मणी + इव = मणीव' यहां द्विवचनान्त 'मणि' शब्द दीर्घ ईकारान्त है। उससे परे 'इव' शब्द को अच् परे रहते सवर्णदीर्घ होकर 'मणीव' रूप बन जाता है। यदि यहां प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती, तो 'मणी + इव' इस प्रकार प्रकृतिभाव होकर 'मणी इव' ऐसा रूप बनता।

'सिंहावलोकित' न्याय का अर्थ यह है कि जैसे सिंह शिकार की खोज में आगे चलता-चलता बीच-बीच में पीछे की ओर भी मुड़कर देखता जाता है। क्योंकि यह उसका स्वभाव है।[460] अन्य गौ आदि पशुओं में ऐसा नहीं होता। इस विषय में विनोबा जी कहते थे कि सिंह जो आगे चलता-चलता पीछे की ओर देखता जाता है, वह उसके हिंसक होने का सूचक है। वह क्योंकि हिंसक पशु है, इसलिए उसे भय लगता है कि कहीं कोई पीछे से आ न रहा हो। गौ आदि अन्य पशु चलते-चलते पीछे इसलिए नहीं देखते कि वे हिंसक नहीं है, हिंसक न होने से उन्हें भय नहीं है। परन्तु सिंह का तो यह स्वभाव ही है कि वह आगे चलता हुआ भी पीछे अवश्य देखेगा। वैसे ही व्याकरण शास्त्र में भी जो आगे आने वाले या उत्तरवर्ती शब्दों की पीछे गए या पूर्ववर्ती सूत्रों में अनुवृत्ति कर ली जाती है - ऐसी असाधारण पूर्वोत्तरान्वयी अनुवृत्ति को 'सिंहावलोकित' न्याय से पुकारा जाता है।

वस्तुतः यदि देखा जाए तो इस विधि से अध्याहृत होने वाले शब्दों के लिए अनुवृत्ति शब्द का प्रयोग न होकर अपकर्षण या उत्कृष्ट[461] (उत्कर्षण) शब्द का ही होना चाहिए। क्योंकि अनुवृत्ति या अनुकर्षण का विलोम अपकर्षण ही है। और यहां उल्टी गंगा पहाड़ चढ़ रही है - यह तो स्पष्ट ही है। वैसे सामान्य व्यवहार में जब कोई मनुष्य आगे बढ़ने के साथ-साथ अपने पूर्वकृत्यों पर भी दृष्टिपात करता चले तब उसे प्रकृत न्याय से ही समझाया जाता है। ध्यातव्य है कि डॉ. रामकिशोर शुक्ल ने इस न्याय को 'सिंहदृष्टि' नाम से व्यवहृत किया है और जो इसकी व्याख्या की है, वह भी उतनी ग्राह्य एवं रोचक नहीं प्रतीत होती। तद् यथा वे लिखते हैं- "सिंहो यथा स्वाग्रे स्थितं किमपि लक्ष्यमाकर्षति तथैव यदा कस्मिंश्चित् परवर्तिसूत्रे[462] ....."।

महाकवि कालिदास ने भी उक्त न्याय को बड़े सुन्दर शब्दों में श्लोकबद्ध किया है जो इस प्रकार है-

"शशंस तुल्यसत्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम्।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम्॥"[463]

इस न्याय को ही 'अतिक्रान्तावेक्षण' न्याय भी कहा जाता है। यह न्याय व्याकरणशास्त्र में बहुशः प्रयुक्त हुआ है।[464] इससे इस न्याय की व्यापकता तथा सहजग्राह्यता स्वतः सिद्ध है।

इस तरह संक्षेप में भाव यह है कि उक्त चारों अधिकारों का प्रतिपाद्य सूत्रस्थ किसी एक पद को सूत्रान्तर में पहुंचाना है। परन्तु किसी पर या पूर्वसूत्रस्थ पद का यह आनयन भी अनुवृत्ति, अपकर्षण तथा अनुकर्षण भेद से तीन प्रकार का होता है। जहां पूर्वसूत्रस्थपद बिना कोई विशेष प्रयत्न किए ही स्वरितत्वात् उत्तरसूत्र में ले जाया जाता है, वह अनुवृत्ति कहलाती है। जहां उत्तरसूत्रस्थपद लक्ष्यानुरोधात् पूर्वसूत्र में ले जाया जाता है, वह अपकर्षण कहलाता है। और यह अपकर्षण 'सिंहावलोकितन्याय' के आधार पर किया जाता है। न्यासकार ने इस न्याय का सर्वाधिक प्रयोग किया है। जहां चकारादि के बल से पूर्वसूत्रस्थ पद उत्तरसूत्र में ले जाया जाता है, उसे अनुकर्षण कहा जाता है। इसके अतिरिक्त यह त्रिविध आनयन भी धारावाही (गंगा प्रवाह) और मण्डूकप्लुति आदि भेदों से अनेक प्रकार का हो जाता है। इनमें जहां पूर्वोत्तरसूत्रस्थ पदों को लक्ष्यवशात् जलप्रवाह के समान मध्यपठित सूत्रों को न छोड़ते हुए अर्थात् सभी मध्यवर्ती सूत्रों में भी अनुवृत्त होते हुए ही लाया जाता है, वह 'गंगाप्रवाह न्याय' होता है, जैसे- "प्रत्ययः परश्च"[465] इत्यादि। जहां पूर्वसूत्रस्थ पद को मेंढ़कों के उछलने के समान मध्यवर्ती सूत्रों को लांघते हुए लाया जाता है, वह 'मण्डूकप्लुति न्याय' कहलाता है, जैसे- "इको यणचि"[466] सूत्रस्थ अच् पद की "आद् गुणः"[467] सूत्र में अनुवृत्ति। तीसरा प्रकार 'गोयूथ न्याय' है जिसमें एक साथ कई सूत्रों का अधिकार या अनुवृत्ति होती है। इस भेद के उदाहरण ऊपर व्याख्यात हो चुके हैं।

अधिकारों के विषय में कुछ विशेष स्मरणीय यह है कि न्यासकार के अनुसार यहां व्याकरणशास्त्र में कुछ विधियां तो केवल स्वार्थ ही होती हैं, परार्थ नहीं, जैसे- "अण् कुटिलकायाः"[468] सूत्रप्रोक्त कुटिलका शब्द से विधीयमान 'अण्' प्रत्यय स्वार्थ ही है। कुछ विधियां स्वार्थ भी होती हैं और परार्थ भी, जैसे- "पदरुजविशस्पृशो घञ्"[469] सूत्रप्रोक्त पदादियों से विधीयमान 'घञ्' प्रत्यय स्वार्थ भी है और स्वरित लिङ्ग के आसङ्ग से उत्तरसूत्रों में अनुवृत्त होने के कारण परार्थ भी है। कुछ अधिकाररूप विधियां केवल परार्थ ही देखी जाती है, जैसे "समर्थानां प्रथमाद्वा"[470]। इसके साथ ही कुछ अधिकारसूत्र अधिकार होने के साथ लक्षण या विधिसूत्र का भी कार्य करते हैं, जैसे "शेषे"[471]। परन्तु अधिकारसूत्रों की यह स्थिति कुछ अधिक स्पष्ट नहीं है। क्योंकि "प्रत्ययः"[472] इत्यादि अधिकारसूत्र लक्षण का कार्य नहीं करते। अनेकत्र लक्ष्यानुरोधात् शास्त्रीय अधिकार के न होने पर भी लौकिकापेक्षालक्षण अधिकारसम्बन्ध भी मान लिया जाता है अर्थात् वहां लौकिक अधिकार ही अभ्युपगत होता है, शास्त्रीय नहीं। फलतः वहां लौकिक अनुवृत्ति ही विवक्षित होती है, स्वरितत्वनिबन्धना शास्त्रीय अनुवृत्ति नहीं।

प्रायः अधिकारसूत्रों की अनुवृत्ति उत्तरत्र ही देखी जाती है। परन्तु सिंहावलोकित न्याय से यह लक्ष्यानुरोधात् पूर्वत्र भी देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त यह अधिकार अनेक प्रकार का होता है अर्थात् अनेक बातों का अधिकार देखा जाता है, जैसे-

प्रत्यय का अधिकार[473], विशेषण का अधिकार[474], स्थानी का अधिकार[575], प्रकृति का अधिकार[476], निमित्त का अधिकार[477] तथा आदेश का अधिकार[478]। इसके साथ ही यह अधिकार शास्त्र में और दो प्रकार का भी माना जाता है - **शब्दाधिकार** तथा **अर्थाधिकार**। शब्दाधिकारपक्ष में तो जिस शब्द पर स्वरित चिन्ह लगा होता है उसी की अनुवृत्ति होती हैं जबकि दूसरे पक्ष में उस शब्द की शब्द के साक्षात् अव्यवहित उच्चरित न होने पर भी अर्थ से आक्षिप्त अनुवृत्ति हो जाती है। उदाहरण के रूप में जैसे "दामहायनान्ताच्च"[479] यह सूत्र है। इसमें "संख्याव्ययादेर्ङीप्"[480] इस पूर्वसूत्र से केवल संख्या ग्रहण अनुवृत्त होता है, अव्ययग्रहण नहीं जबकि पूर्वसूत्र में ये दोनों ग्रहण द्वन्द्वसमास के अवयव हैं। अतः समास या द्वन्द्वार्थ के एक होने से यहां अर्थाधिकारपक्ष में उसके एकदेश केवल संख्याग्रहण की अनुवृत्ति सम्भव नहीं है इसलिए यहां शब्दाधिकारपक्ष को माना जाता है। इसी प्रकार जैसे- "छे च"[481] सूत्र है। इसमें पूर्वसूत्र से "ह्रस्वस्य तुक्" ग्रहण की अनुवृत्ति आती है। अर्थाधिकार पक्ष में तो "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्"[482] सूत्रस्थ 'कृत्' ग्रहण से अर्थानुरोधात् आक्षिप्त प्रकृत ह्रस्वान्त धातु की अनुवृत्ति होगी जबकि शब्दाधिकारपक्ष में केवल 'ह्रस्व' शब्द ही अनुवृत्त होगा जोकि इष्ट है। इस प्रकार अधिकारविषयक ये दोनों ही पक्ष शास्त्र में लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं। इनमें कोई विरोध उपस्थित नहीं होता।

18. यथोद्देश न्याय

19. कार्यकाल न्याय

"किमतो यत् सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु, संज्ञाविधावसिद्धः। तस्यासिद्धत्वात् तत्काला एव भवन्ति। संज्ञाविधौ च सिद्धः। कथम्? कार्यकालं हि संज्ञापरिभाषम्, यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम्। प्रगृह्यः प्रकृत्या इत्युपस्थितमिदं भवति - ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यमिति"।[483]

जैसाकि पहले अधिकार और परिभाषा का स्वरूप स्पष्ट किया जा चुका है, इस प्रसङ्ग में परिभाषा के विषय में कुछ यह विशेष भी जान लेना आवश्यक है कि संज्ञा और परिभाषों के बारे में यथोद्देश और कार्यकाल ये दो पक्ष भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। वैसे तो उक्त दोनों न्याय महाभाष्य में मिलते हैं परन्तु नागेश ने परिभाषेन्दुशेखर में इन्हें अच्छा व्याख्यात किया है। वस्तुतः "यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्" तथा "कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्" ये दोनों न्याय लोकव्यवहारसिद्ध व्याकरणशास्त्रीय परिभाषाएं है। तदनुसार जैसे लोक में नापित दो प्रकार के दृष्टिगोचर होते हैं। उनमें प्रथम प्रकार के नापित तो वे होते हैं जो केवल अपनी दुकान पर बैठकर ही बाल काटने का कार्य करते हैं। ये घर-घर जाकर लोगों के बाल नहीं काटते हैं। इसके विपरीत द्वितीय प्रकार के नापित वे होते हैं जो लोगों के बाल काटने के लिए हाथ में बाल काटने वाले उपकरणों की सन्दूकची (मञ्जूषा) उठाए हुए ग्राहकों के घरों में या खेतों में या स्वतन्त्ररूप से

भी यायावरीय स्थिति में घूमते रहते हैं। नगरों में न सही, परन्तु ग्रामों में, आज भी न्यूनाधिक मात्रा में इस परम्परा के अवशेष अवश्य देखे जा सकते हैं।[484]

संज्ञा-परिभाषासूत्र भी इसी प्रकार के होते हैं। फलतः **यथोद्देशपक्ष** में तो संज्ञा परिभाषासूत्र प्रथमप्रकारक नापितों के समान सूत्रकार ने उन्हें जहां पढ़ा है, वहीं स्थित होकर ही संज्ञा और नियम को प्रतिबोधित करते हैं जबकि **कार्यकालपक्ष** में ये संज्ञा- परिभाषासूत्र द्वितीयप्रकारक नापितों के समान जिस भी सूत्र में किसी संज्ञा या नियम की आवश्यकता अनुभव होती है, वहां उपस्थित हो जाते हैं और उसके साथ सहयोग या एकवाक्यता स्थापित करके अभीष्ट कार्य को सम्पादित करते हैं।

इनमें प्रथम न्याय का शाब्दिक अर्थ है कि जिस संज्ञा या परिभाषा का जो काल या स्थान सूत्रकार ने पढ़ा है, वहीं रहकर संज्ञासूत्र तो संज्ञा का तथा परिभाषासूत्र परिभाषा या नियम का विधान करते हैं। द्वितीय न्याय ठीक इसके विपरीत है। इसका शाब्दिक अर्थ है कि संज्ञा तथा परिभाषा सूत्रों का वही काल या स्थान होता है जो उनके कार्य का काल या स्थान होता है अर्थात् संज्ञा और परिभाषा सूत्र कार्यविधायक विधिसूत्रों के पास उपस्थित होकर ही संज्ञा या नियम का विधान करते हैं। इस तरह इस पक्ष में विधिसूत्रों का काल या स्थान ही संज्ञापरिभाषा सूत्रों का भी काल या स्थान बन जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में प्रगृह्यसंज्ञाविधायक सूत्र में ईत्, ऊत्, एत् के तपरकरण को लेकर शङ्का की गई है कि यह तपरत्व क्यों किया गया है? इसका उत्तर देते है कि किन्तु तपरकरण से तत्काल उदात्तादि सवर्ण ईकार, ऊकार आदि का भी ग्रहण सिद्ध हो जाता है जबकि "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्"[485] इस सूत्र के आधार पर प्लुतों के असिद्ध होने से उनके तत्काल न होने के कारण उनकी प्रगृह्यसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। इस पर आपत्ति करते हैं कि इससे क्या जो स्वरसन्धि में प्लुत सिद्ध है? **यथोद्देश** पक्ष को लेकर संज्ञाविधि में तो यह प्लुत असिद्ध ही है। अतः इस प्लुत के असिद्ध होने से प्लुत तत्काल या द्विमात्रिक ही होते हैं। आगे पुनः आक्षेप करते हैं कि नहीं, कार्यकालपक्ष में संज्ञाविधि में भी यह प्लुत सिद्ध ही है। क्योंकि **कार्यकालपक्ष** को लेकर जहां कोई कार्य अभिप्रेत होता है वही स्थान या काल संज्ञापरिभाषासूत्रों का भी हो जाया करता है। फलतः "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" प्लुत को प्रकृतिभावविधान करने वाले इस सूत्र में ही "ईददेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" यह प्रगृह्यसंज्ञा सूत्र उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार उक्त दोनों ही परिभाषाएं लोकसिद्ध तथा शास्त्रसम्मत हैं और लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं।[486] इनके विषय में श्लोकरूप में हरदत्त कहते हैं-

"संज्ञाः परार्था अत्यन्तं परिभाषाश्च तद्विधाः।
न स्वातन्त्र्येण तास्तस्मात् कार्यावगतिहेतवः॥
अनेकस्य प्रधानस्य शेषभूता भवन्त्विति।
एताः केवलमाचार्यः पृथग्देशा उपादिशत्॥

विधिवाक्यैस्तु संहत्य यत्र तत्र स्थितैरपि।

बोधयन्त्यः स्वकार्याणि नैकपूर्वाः परा इमाः''॥[487]

20. कुम्भीधान्य धान्य

''यदि पुनरयमिदिद् विधिः कुम्भीधान्यन्यायेन विज्ञायेत। तद् यथा- कुम्भीधान्यः श्रोत्रियः इत्युच्यते। यस्य कुम्भ्यामेव धान्यं स कुम्भीधान्यः। यस्य पुनः कुम्भ्यां चान्यत्र च धान्यं नासौ कुम्भीधान्यः। नायमिदिद् विधिः कुम्भीधान्यन्यायेन शक्यो विज्ञातुम्। इह हि दोषः स्यात्-टुनदि नन्दथुः इति।''[488]

''चुटू'' सूत्र के भाष्य में ''इर उपसंख्यानम्'' इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यदि 'इर्' अर्थात् इकार और रेफ की अलग-अलग इत्संज्ञा मान लें तो क्या हानि है? इसका उत्तर देते हैं कि अलग-अलग इत्संज्ञा मानने में फिर यह इदित् भी बन जाएगा। उससे 'भेत्ता' 'छेत्ता' यहां 'भिदिर्', 'छिदिर्' धातुओं के इदित् हो जाने से अनिष्ट 'नुम्' प्राप्त होगा। उक्त दोष का निराकरण करने के लिए भाष्यकार अब कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि ''इदितो नुम् धातोः''[489] में जो इदित् शब्द है, उसे कुम्भीधान्य न्याय से युक्त मान लेना चाहिए। जैसे लोक में 'कुम्भीधान्यः श्रोत्रियः'' ऐसा कहते हैं अर्थात् यह ब्राह्मण कुम्भीधान्य है। यह कुम्भीधान्य न्याय 'अवधारण' या नियोगतः अर्थ में प्रयुक्त होता है। फलतः जिसका केवल कुम्भी (मटकनी) में ही धान्य है, वह कुम्भीधान्य होता है। जिसका तो कुम्भी में तथा अन्यत्र भी धान्य है, वह कुम्भीधान्य नहीं होता।[490] इसी प्रकार 'नुम्' विधायक सूत्र में भी जिसका केवल इकार इत्संज्ञक गया है, वह इदित् माना जाएगा तो उसके उत्तर में कहते हैं कि 'नुम्' विधायक ''इदितो नुम् धातोः'' सूत्र में इदित् को कुम्भीधान्यन्याय से युक्त नहीं मान सकते। क्योंकि वैसा मानने फिर 'टुनदि' धातु से निष्पन्न 'नन्दथुः' यह रूप नहीं बन सकेगा। 'टुनदि' में 'टु' की और इकार की इत्संज्ञा होती है। 'टु' की इत्संज्ञा होने से जहां ''ट्वितोऽथुच्''[491] से 'अथुच्' प्रत्यय होता है वहां इकार की इत्संज्ञा होने से ''इदितो नुम् धातोः'' से नुम् होता है। यदि इदित् को कुम्भीधान्य न्याय से जिसका केवल एक इकार इत्संज्ञक गया है, वही इदित् है - ऐसा माना जाएगा तो 'टुनदि' में इकार के साथ 'टु' शब्द भी इत्संज्ञक गया है, इसलिए यह धातु इदित् नहीं माना जाएगा। फलतः अभीष्ट 'नुम्' का आगम नहीं हो सकेगा और 'नन्दथुः' यह इष्ट रूप सिद्ध नहीं होगा। अतः इदित् को कुम्भीधान्य न्याय से युक्त नहीं माना जा सकता। अन्यत्र भी यह न्याय दृष्टिगोचर होता है।[492]

21. अर्थाद् (अर्थवशाद्) विभक्तिविपरिणामो भवति न्याय

''अर्थाद्विभक्तिविपरिणामो भविष्यति। तद् यथा- उच्चानि देवदत्तस्य गृहाणि। आमन्त्रयस्वैनम्। देवदत्तमिति गम्यते। देवदत्तस्य गावोऽश्वा हिरण्यं च। आढ्यो वैधवेयः। देवदत्त इति गम्यते। पुरस्तात् षष्ठीनिर्दिष्टं सदर्थात् द्वितीयानिर्दिष्टं प्रथमानिर्दिष्टं

च भवति। एवमिहापि पुरस्तात् प्रथमानिर्दिष्टं सद् अर्थात् षष्ठीनिर्दिष्टं भविष्यति।''[493]

''तस्य लोपः'' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि 'तस्य' यह षष्ठी का निर्देश है और इससे ''उपदेशेऽजनुनासिक इत्'' इस सूत्र में पठित 'इत्' शब्द का परामर्श है अर्थात् 'तस्य इतः इत्संज्ञकस्य लोपः' अर्थात् उस इत्संज्ञक का लोप होता है - यह इस सूत्र का अर्थ है। अब यहां यह शङ्का की जाती है कि पूर्व से अनुवृत्त 'इत्' शब्द में तो प्रथमाविभक्ति का निर्देश है और यहां प्रकृत सूत्र में षष्ठीविभक्ति अभिप्रेत है। ऐसी स्थिति में इन दोनों का समन्वय कैसे होगा? इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि प्रकृत अर्थ के सामर्थ्य से विभक्तिविपरिणाम हो जाएगा अर्थात् 'तस्य' इस प्रकृत षष्ठी के अर्थ के कारण 'इत्' यह पूर्वसूत्रस्थ प्रथमा षष्ठी में बदल जाएगी। जैसे- लोक में 'देवदत्त के घर ऊँचे हैं, उसे बुलाओ' - ऐसा कहने पर यहां 'देवदत्तस्य' इस षष्ठी के स्थान में 'एनमामान्त्रयस्व' (उसे बुलाओ) यह द्वितीया विभक्ति बदल जाती है अर्थात् 'एनं देवदत्तम्' (उस देवदत्त को) यह द्वितीया का अर्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'देवदत्त की गायें, घोड़े और सुवर्ण आदि धन है। वह आढ्य है। विधवा का पुत्र है - यहां भी 'देवदत्तस्य' यह षष्ठी 'स आढ्यः' इस प्रथमा में बदल जाती है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी 'तस्य' के कारण 'इत्' इस प्रथमा का षष्ठी में विपरिणाम हो जाएगा।

इसी प्रकार ''अनुदात्तङित आत्मनेपदम्''[494] इस सूत्र के भाष्य में भी ''भूवादयो धातवः''[495] से अनुवृत्त 'धातवः' यह प्रथमान्त 'धातु' शब्द प्रकृत न्याय के आधार पर यहां ''अनुदात्तङितः'' इस पञ्चमीविभक्त्यन्त से मिलकर पञ्चम्यन्त बन जाता है। क्योंकि अर्थसामर्थ्य के कारण विभक्तिविपरिणाम हो जाता है। इसी प्रकार ''प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्य''[496] इस सूत्र में विद्यमान ''प्रत्ययस्थात्'' यह पञ्चमीविभक्ति प्रकृत न्याय के आधार पर ''ठस्येकः''[497] सूत्र में पठित 'ठस्य' इस षष्ठीविभक्ति के अर्थ के कारण ''प्रत्ययस्थस्य'' इस षष्ठीविभक्ति में बदल जाएगी तो प्रत्ययस्थ ठकार को इकारादेश होता है - यह अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है।

अर्थवश विभक्तिविपरिणाम के सन्दर्भ में व्याकरणग्रन्थों में प्रयुक्त निम्न न्याय भी तुलनीय हैं-

(क) ''प्रकृतिप्रत्यययोर्विभक्तिविपरिणामेन सम्बन्धः''[498]

(ख) ''पारलौकिकीति लिङ्गविपरिमाणेन सम्बन्धनीयम्''[499]

(ग) पटुपण्डितशब्दौ प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तावित्यत्र एकवचनान्तं प्रकृतं तस्य वचन विपरिणामं कृत्वान्तोदात्ताविति सम्बन्धः कर्तव्यः।[500]

इसी प्रसङ्ग में भाष्यकार द्वारा बहुशः प्रयुक्त ''अवश्यं कयाचिद् विभक्त्या, केनचिद्वचनेन, केनचिद् लिङ्गेन वा निर्देशः कर्त्तव्यः'' इत्यादि नान्तरीयक न्याय भी तात्पर्यग्राहक सिद्ध हो जाता है। उक्त नान्तरीयक न्याय प्रकृत ग्रन्थ में पृ. 286 पर

देखा जा सकता है। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी पर्याप्तरूपेण उपलब्ध होता है।[501]

22. सामर्थ्य न्याय / अयःकीलव्यतिषेक न्याय

"तद् यदा तावदेकार्थीभावः सामर्थ्यं तदैवं विग्रहः करिष्यते - संगतार्थः समर्थः, संसृष्टार्थः समर्थः इतिः। तद् यथा- संगतं घृतम् संगतं तैलमित्युच्यते। एकीभूतमिति गम्यते। संसृष्टार्थः समर्थः इति। तद् यथा- संसृष्टोऽग्निरित्युच्यते। एकीभूत इति गम्यते। यदा व्यपेक्षा सामर्थ्यं तदैवं विग्रहः करिष्यते - सम्प्रेक्षितार्थः समर्थः। सम्बद्धार्थः समर्थः। कः पुनरिह बध्नात्यर्थः। व्यतिषङ्गः। सम्बद्ध इत्युच्यते। यो रज्ज्वाऽयसा वा कीले व्यतिषक्तो भवति। नावश्यं बध्नातिर्व्यतिषङ्ग एव वर्तते? किन्तर्हि, अहानावपि वर्तते। तद् यथा- सम्बद्धाविमौ दम्यावित्युच्यते यावन्योऽन्यं न जहीतः। अथवा भवति चैवं जातीयकेषु बध्नातिर्वर्तते। तद् यथा- अस्ति नो गर्गैः सम्बन्धः। अस्ति नो वत्सैः सम्बन्ध इति। संयोग इत्यर्थः।"[502]

"समर्थः पदविधिः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार एकार्थीभाव और व्यपेक्षा इन दो प्रकार के सामर्थ्यों को सूत्र से ही सिद्ध करते हुए लोकप्रयुक्त उदाहरणों का भी आश्रयण करते हैं। वे कहते हैं कि जब एकार्थीभाव को सामर्थ्य माना जाएगा तो 'समर्थ' शब्द में 'संगतार्थः समर्थः, 'संसृष्टार्थः समर्थः' ऐसा विग्रह किया जाएगा, जैसे लोक में 'संगतं घृतम्', 'संगतं तैलम्' (यह घी या तेल संगत है, मिश्रीभूत है, एक हो गया है) - ऐसा प्रयोग होता है। उससे 'समर्थ' शब्द में संगत होना, एकीभूत हो जाना - यह अर्थ स्पष्ट होता है। एकार्थीभाव में भी दोनों पदों का अर्थ एकीभूत हो जाता है। जिसमें एकपद, एक विभक्ति, तथा एकस्वर का श्रवण होता है वही समास कहलाता है।[503] 'संसृष्टोऽग्निः' ऐसा कहने पर यह अग्नि संसृष्ट है, एकाकार हो गया है - इस अर्थ की प्रतीति होती है। उक्त विग्रहों से एकार्थीभावरूप सामर्थ्य सिद्ध हो जाता है।

अब रहा व्यपेक्षारूप सामर्थ्य, उसकी सिद्धि के लिए 'समर्थ' शब्द में 'सम्प्रेक्षितार्थः समर्थः, सम्बद्धार्थः समर्थः,' ऐसा विग्रह किया जाएगा। जहां दोनों पद एक दूसरे के अर्थ की उपेक्षा या आकाङ्क्षा करते हैं[504] किन्तु एक नहीं हो पाते, वहां व्यपेक्षारूप सामर्थ्य है। 'सम्बद्ध' शब्द में 'बन्ध्' धातु का अर्थ परस्पर बन्धना या एक दूसरे को छोड़कर न रहना है। दोनों का आपस में पूरा योग होना ही व्यपेक्षा विशेष अपेक्षा है। व्यतिषङ्ग का अर्थ जुड़ जाना है। जैसे कोई चीज रस्सी या लोहे से कील में जोड़ दी जाती है, वह उस कील से अन्यत्र नहीं जा सकती। 'बन्ध्' धातु का अर्थ भी केवल बंध जाना ही नहीं है अपितु 'न छोड़ना' अर्थ भी है। जैसे कहते हैं कि ये दोनों बछड़े सम्बद्ध हैं, एक दूसरे को नहीं छोड़ते हैं, साथ-साथ ही रहते हैं। 'बन्ध्' धातु का प्रयोग इस प्रकार के अन्य उदाहरणों में भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे-"अस्ति नो गर्गैः सम्बन्धः", "अस्ति नो वत्सैः सम्बन्धः" अर्थात् हमारा गर्ग एवं वत्सों से सम्बन्ध है। यहां सम्बन्ध का अर्थ संयोग है, सन्निकर्ष है।

इस प्रकार समर्थ शब्द से ही भाष्यकार ने व्युत्पत्तिभेद से व्यपेक्षा और एकार्थीभाव ये दोनों सामर्थ्य सिद्ध कर दिए हैं जो कि व्युत्पन्नबुद्धिग्राह्य हैं। 'राजपुरुषः' यह एकार्थीभाव है। राज्ञः पुरुषः यह व्यपेक्षा है। क्योंकि राजा को पुरुष की और पुरुष को राजा की स्वस्वामिभावसम्बन्ध से अपेक्षा है, आकाङ्क्षा है। परस्पर आकाङ्क्षा होने पर दोनों का एकपद होकर 'राजपुरुषः' यह समास रूप एकार्थीभाव है। इन दोनों सामर्थ्यों को अच्छी प्रकार समझाने के लिए ही भाष्यकार ने समर्थ शब्द को लौकिक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है।

23. अन्वाचयशिष्ट न्याय

"सलोपसन्नियोगेनायं क्यङ् विधीयते। तेन यत्रैव सलोपस्तत्रैव क्यङ् स्यात् - पयायते। इह न स्यात् - अपि काकः श्येनायते।, नैतदस्ति। प्रधानशिष्टः क्यङ्, अन्वाचयशिष्टः सलोपः, यत्र च सकारं पश्यसीति। तद् यथा- कश्चिदुक्तो 'ग्रामे भिक्षां चर देवदत्तं चानय' इति। स ग्रामे भिक्षां चरति यदि च देवदत्तं पश्यति तमप्यानयति।"[505]

"कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार शङ्का करते हैं कि प्रकृत सूत्र द्वारा 'क्यङ्' प्रत्यय सलोपसन्नियोगशिष्ट है अर्थात् सलोप के साथ ही 'क्यङ्' होता है। फलतः जहां पर किसी सकारान्त शब्द का सलोप होगा वहीं पर 'क्यङ्' होगा, जैसे- 'पय इवाचरति पयायते' और इसके विपरीत जहां पर यह सकारलोप नहीं होगा, वहां 'क्यङ्' भी नहीं प्राप्त हो सकेगा, जैसे- 'श्येन इवाचरति श्येनायते'। भाष्यकार अब इसका उत्तर देते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि प्रकृत सूत्र द्वारा 'क्यङ्' प्रत्यय तो प्रधानतया अनुशिष्ट या विहित है तथा सलोप अन्वाचयशिष्ट है अर्थात् 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति'' इस न्याय से यहां 'क्यङ्' प्रत्यय तो ग्राम के समान मुख्यरूपेण विधान किया गया है जबकि सलोप तृण के समान गौणरूपेण। जैसे- लोक में किसी ने किसी को कहा- "ग्राम से भिक्षा लाओ और देवदत्त को भी ले आओ"। अब जैसे यहां वह व्यक्ति मुख्यरूप से तो गांव में भिक्षा लाने ही जाता है, देवदत्त को नहीं, परन्तु मार्ग में या गांव में अनायास ही यदि देवदत्त भी दिखाई पड़ जाता है तो वह उसे भी ले आता है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी प्रकृत सूत्र प्रधानरूप से तो 'क्यङ्' को ही विहित करता है परन्तु यदि कहीं किसी सकारान्त शब्द में सकार भी दिखाई दे देता है तो उस गौण का लोपविधान भी यह सूत्र कर देता है। फलतः यहां 'श्येनायते' में 'क्यङ्' होकर इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है। इस प्रसङ्ग में अगला एवकार न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है-

24. एकस्योभयसम्बन्धे हि भवति एवकारः न्याय / एवकार न्याय

"एकस्योभयसम्बन्धे हि भवति एवकारः .... देवदत्तो ग्रामं गच्छतु स एव गामनयत्विति''।[506]

"द्विर्वचनेऽचि" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में पदमञ्जरीकार ने उक्त न्याय उपस्थापित किया है। इस न्याय का अर्थ है कि एक पदार्थ का जब दो पदार्थों के साथ सम्बन्ध होता है तो वहां 'एव' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पदमञ्जरीकार ने इसका निम्न उदाहरण दिया है कि देवदत्त गांव जाए और वही गौ भी लेता आए। यहां एक देवदत्त का दो कार्यों से सम्बन्ध है - गांव जाना और गाय को ले आना। ये दोनों कार्य एक ही देवदत्त से कराने हैं, इसलिए वहां 'एव' शब्द लगा देते हैं। फलतः देवदत्त गांव तो जा ही रहा है, वहा से लौटते समय "ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति" न्याय से वह गाय भी ले आता है। इस प्रकार एवकार को समझाने के लिए पदमञ्जरीकार का यह अपना न्याय है।

25. क्वचिद् गुणो गुणिविशेषको भवति न्याय/कदाचिद् गुणिना गुणो व्यपदिश्यते न्याय/कदाचिद् गुणः प्राधान्येन विवक्षितो भवति न्याय

"क्वचिद् गुणो गुणिविशेषको भवति। तद् यथा- शुक्लः पटः इति। कदाचिद् गुणिना गुणो व्यपदिश्यते। तद् यथा- पटस्य शुक्लः इति। कदाचित् गुणः प्राधान्येन विवक्षितो भवति। तद् यथा- पञ्चोडुपशतानि तीर्णानि। पञ्च वध्रीशतानि तीर्णानि। अश्वैर्युद्धम्। असिभिर्युद्धमिति। न चासयो युध्यन्ते। असिगुणाः पुरुषा युध्यन्ते। गुणस्तु खलु प्राधान्येन विवक्षितो भवति"।[507]

"पङ्क्तिविंशतित्रिंशत्" इत्यादि सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने लोकव्यवहार में प्रसिद्ध गुण-गुणी का प्राधान्य तथा अप्राधान्य निरूपित किया है, जैसे- कपड़ा सफेद है– यहां 'सफेदी' कपड़े का विशेषण होने से अप्रधान है और इसके विपरीत 'कपड़े की सफेदी है' - यहां सफेदी विशेष्य होने से प्रधान है और कपड़ा अप्रधान है। इसी तरह कभी-कभी गुण प्रधानतया विवक्षित होता है, जैसे- 'जहाजों की पांच सौ संख्या तर गई' यहां संख्या (गुण) प्रधान है और 'पांच सौ जहाज तर गए' यहां संख्येय जहाज प्रधान है। इसी प्रकार अश्वों से युद्ध किया तथा तलवारों से युद्ध किया - यहां भी वास्तव में अश्व और तलवार नहीं लड़ती अपितु इन दोनों के क्रमशः अधिकरण और करण के रूप में उपकारक होने से इनके गुण होने पर भी प्रहार क्रिया में ये दोनों प्राधान्येन विवक्षित हैं। इस प्रकार भाष्यकार ने लोकव्यवहार का सम्यक् प्रदर्शन करके गुण-गुणी का गौणमुख्यभाव दिखा दिया है। यह न्याय अन्यत्र भी बहुत उपलब्ध होता है।[508]

26. अवयवक्रिययाऽपि समुदायस्य व्यपदेशो दृश्यते न्याय/दग्धपट न्याय

"कृत्स्नस्य धातोर्लोपे गुणवृद्धिप्रसङ्गाऽभावादनर्थको निषेधः स्यादिति सामर्थ्याद्धात्वेकदेशलोपोऽत्र धातुलोपोऽभिमतः। अवयवक्रिययाऽपि समुदायस्य व्यपदेशदर्शनात्। यथा पटो दग्ध इति। अथवा समुदायशब्दोऽवयवे तद्रूपारोपाद् वर्तते।"[509]

प्रदीपकार "न धातुलोप आर्धधातुके" सूत्र की व्याख्या में उक्त न्याय का उल्लेख करते हैं। इनके अनुसार "न धातुलोप" सूत्र धातु के एकदेश का लोप होने पर गुणवृद्धि

का निषेध करता है। क्योंकि यदि सारे ही धातु का लोप हो जाता है तो वहां फिर गुणवृद्धि का कोई प्रसङ्ग ही नहीं रहेगा। परिणामतः उनका निषेध करने वाली "न धातुलोप" यह निषेधविधि अनर्थक हो जाएगी। अतः सामर्थ्य से फिर यहां धातुलोप का अभिप्राय धातु के एकदेश का लोप है। कहीं-कहीं पर अवयवक्रिया के द्वारा भी पूरे समुदाय का ग्रहण देखा जाता है, जैसे- पट का एकदेश जल जाने पर भी "पटो दग्धः" (पूरा कपड़ा जल गया)– ऐसा व्यवहार होता है। अथवा समुदायशब्द ही अवयवरूप के आरोप से अवयव में प्रयुक्त हो जाता है। इसी प्रकार धातुलोप शब्द भी धात्वेकदेशलोप इस अर्थ में समझना चाहिए।

ध्यातव्य है कि कुछ विद्वान् प्रकृत न्याय की व्याख्या दार्शनिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए प्रकारान्तर से करते हैं कि जैसे अग्नि के द्वारा कपड़े को जला दिए जाने पर भी कपड़े में जलने का चिह्न शेष रह जाता है वैसे ही सभी वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर भी अभिमान शेष रह ही जाता है। भाव की दृष्टि से यह न्याय "समुदायवाचका हि शब्दाः क्वचिदवयवेऽपि वर्तन्ते" इस न्याय की कोटि में आता है। यह न्याय अन्यत्र भी व्यवहृत देखा जा सकता है।[510]

27. न हि प्रदीपेऽनुच्छिन्ने तत्प्रकाश उच्छिद्यते न्याय

"ननु च शास्त्रं शास्त्रेण बाध्यते, न पुनः कार्यं कार्येण, निदानोच्छेदेनैव हि निदानिनः उच्छेदः शक्यते कर्तुम्; न हि प्रदीपेऽनुच्छिन्ने तत्प्रकाश उच्छिद्यते, तत्किमुच्यते - अपवादप्रत्यय इति, एवं तु वक्तव्यम् - अपवादशास्त्रमिति।"[511]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्" इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि जब तक दीपक का उच्छेद नहीं होता तब तक उसका प्रकाश भी उच्छिन्न नहीं हो सकता। क्योंकि कारण के उच्छेद होने पर ही उसके कार्य का उच्छेद किया जा सकता है। इसलिए 'वाऽसरूप' सूत्र में अपवाद प्रत्यय ही विकल्प से उत्सर्ग का बाधक माना जाता है। क्योंकि शास्त्र की ही शास्त्र से बाधा होती है, कार्य की कार्य से बाधा नहीं होती।

28. रक्तपट न्याय

"न च रक्तपटन्यायेनाकाङ्क्षोत्थापनोपस्थापनं युज्यते, स्वत एव साकाङ्क्षे तृजादिविध्यनुपस्थानेनं शेषस्यापि चरितार्थत्वात्। रक्तः पटो भवतीत्यत्र तु पटो भवतीत्यस्य निराकाङ्क्षत्वेऽपि रक्तपदार्थस्य साकाङ्क्षत्वादाकाङ्क्षोत्थापनेनान्वयः"।[512]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "कर्त्तरि कृत्" सूत्र की व्याख्या में दिया है। इसका अर्थ है कि लाल कपड़ा होता है। भाव यह है कि सामान्य कपड़ा तो होता ही है। किन्तु लाल कपड़ा इस वाक्य में लाल विशेषण पट की आकांक्षा रखता है। इसी प्रकार "कर्त्तरि कृत्" इस सूत्र से वे ही कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्ता अर्थ में होंगे जो किसी (कर्ता) के प्रति साकाङ्क्ष होंगे। क्योंकि वहां अर्थ की आकांक्षा है। लेकिन जिन कृत्

प्रत्ययों में पहले ही 'कर्मणि', 'करणे', 'भावे' इत्यादि अर्थों का निर्देश है, वे प्रत्यय निराकांक्ष होने से कर्त्ता अर्थ में नहीं होंगे अर्थात् जहां निराकांक्षित वाक्य में आकांक्षा उत्पन्न कर एकवाक्यता कर ली जाए वहां उक्त न्याय का व्यवहार होता है।

29. न ह्यसति कुड्ये चित्रकर्म/कुड्यं विना चित्रकर्म न्याय

"सिद्धस्य वस्तुनः धर्मान्तरं शक्यते विधातुं नासिद्धस्य, न ह्यसति कुड्ये चित्रकर्म। ततश्च वांनावादय एकेन वाक्येन विधेयाः, अपरेण च तेषामनुदात्तत्वमिति वाक्यभेदः"।[513]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "अनुदात्तं सर्वमपादादौ" इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि वस्तु के सिद्ध होने पर ही उसमें किसी धर्मान्तर का विधान किया जा सकता है, असिद्ध होने पर नहीं। जैसे जब तक भित्ति या दीवार नहीं होगी, तब तक उस पर चित्र नहीं खींचा जा सकता। तदनुसार "अनुदात्तं सर्वमपादादौ" इस सूत्र पर 'सर्व' ग्रहण के सामर्थ्य से वाक्यभेद माना जाता है। एक वाक्य से तो युष्मद्, अस्मद् के स्थान में क्रमशः वां तथा नौ आदि आदेश किए जाते हैं और दूसरे वाक्य से उनका अनुदात्तत्व विधान किया जाता है। जब तक आदेश नहीं हो सकेंगे, तब तक उन्हें अनुदात्तविधान नहीं किया जा सकता। वस्तुतः यह बात ठीक भी है कि आदेश जब विद्यमान होंगे तभी तो उनको अनुदात्तस्वर का विधान हो सकता है। यह सब 'सर्व' शब्द के ग्रहण से होता है। अन्यथा एकवाक्यता के सम्भव होने पर वाक्यभेद को कौन स्वीकार करे? पुरुषारम्भरूप विशेष यत्न से ही विशेष कार्य होता है। न्यायमञ्जरी में भी यह देखा जा सकता है।

30. देहलीदीप न्याय

"उपदेशे इत्युभयान्वयि मध्ये पाठात् देहलीदीपन्यायेन पूर्वोत्तराभ्यां संपद्यते इत्यर्थः। तत्रोत्तरान्वयस्य कर्त्तुं गन्तुमित्यादाविण्निषेधः फलम्, नित्स्वरेण संप्रत्युदात्तत्वात्। पिपक्षति बिभत्सतीत्यादाविण्निषेधस्तु पूर्वान्वयस्य फलम्। द्वित्वे कृते अनेकाच्त्वात्।"[514]

यह न्याय तत्त्वबोधिनीकार ने एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्" सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इनका कहना है कि उक्त सूत्र में 'उपदेश' ग्रहण उभयान्वयी है अर्थात् वह एकाच् और अनुदात्त दोनों के साथ सम्बद्ध है। दूसरे शब्दों में– उपदेश में एकाच् और उपदेश में अनुदात्तेत् धातुओं से परे वलादि आर्धधातुक को यह सूत्र 'इट्' का निषेध करता है।

किन्तु सूत्रोपात्त एक 'उपदेश' ग्रहण दोनों के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है तो इसका उत्तर है कि सूत्र के मध्य में पठित 'उपदेश' ग्रहण देहलीदीप न्याय से पूर्व और उत्तर दोनों से सम्बद्ध हो सकता है अर्थात् जिस प्रकार देहली पर रखा हुआ दीपक घर को भी प्रकाशित करता है और गली को भी, इसी प्रकार यह 'उपदेश' ग्रहण भी एकाच् और अनुदात्त इन दोनों से सम्बद्ध हो सकता है - इसमें कोई विप्रतिपत्ति

नहीं है। यहां 'उपदेश' में 'अनुदात्त' ग्रहण का प्रयोजन है कि 'कर्तुम्', 'गन्तुम्' इत्यादि में 'इट्' का निषेध सिद्ध हो जाता है। क्योंकि उक्त उदाहरणों में 'तुमुन्' के नित् होने से "ञ्नित्यादिर्नित्यम्"[515] सूत्र द्वारा सम्प्रति ये प्रयोग उदात्त हैं जबकि उपदेशावस्था में ये धातु अनुदात्त थे। अतः उपदेश ग्रहण से यहां इण् निषेध सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'पिपक्षति' इत्यादि में 'इट्' का निषेध होना उपदेश में एकाच् ग्रहण का प्रयोजन है। क्योंकि उक्त प्रयोगों में 'पच्' आदि धातु द्वित्व होने के बाद तो अनेकाच् हैं किन्तु उपदेशावस्था में एकाच् हैं। अतः इनमें 'सन्' को 'इट्' का निषेध सिद्ध हो जाता है। अर्थ की दृष्टि से प्रकृत न्याय अन्तर्दीपिका न्याय, मध्यदीपन्याय, रथ्यादीपन्याय तथा जामात्रर्थं श्रपितस्य सूपादेरतिथ्युपकारकत्वम् इत्यादि न्यायों की कोटि का है। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[516] उभयान्वयी पद को लेकर काकाक्षि (गोलक) न्याय को भी प्रयोग करते हुए भट्टोजिदीक्षित कहते हैं–

31. काकाक्षि (गोलक) न्याय

"नवेति विभाषा" इत्यत्रेतिशब्दः काकाक्षिन्यायेनोभाभ्यां सम्बध्यते .... उभयत्र विभाषार्थं चेदं सूत्रम्"।[517]

यह न्याय शब्दकौस्तुभकार ने 'नवेति विभाषा' इस सूत्र के व्याख्यान में दिया है। इसका अर्थ है कि जिस प्रकार कौए की एक ही आंख दोनों का काम कर देती है अर्थात् वह एक ही आंख से बिना गर्दन घुमाए दोनों तरफ देखता हुआ अपना कार्य सिद्ध कर लेता है उसी प्रकार यहां 'नवेति विभाषा' सूत्र में भी 'इति' शब्द 'न' और 'वा' इन दोनों शब्दों के साथ जुड़ जाएगा तो 'न' अर्थात् निषेध और 'वा' अर्थात् विकल्प इन दोनों अर्थों की विभाषा संज्ञा होती है - यह अभीष्टार्थ सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां व्याकरणशास्त्र में केवल विकल्प की विभाषा संज्ञा नहीं होती है अपितु विकल्प के साथ निषेध की भी विभाषा संज्ञा होती है जिससे "विभाषा श्वेः"[518] इत्यादि उभयत्र विभाषाओं में निषेध और विकल्प दोनों प्राप्त हो सकें। क्योंकि यहां दोनों की एक साथ आवश्यकता होती है। प्रकृत न्याय का निगूढार्थ यह है कि जैसे यद्यपि कौए की आंख तो एक ही होती है[519] तथापि कौआ आवश्यकतानुसार उसे एक गोलक से दूसरे गोलक में ले जा सकता है वैसे ही जब किसी शब्द का प्रयोग तो एक बार ही हुआ हो परन्तु आवश्यकतानुसार उसे दो बार पठित मानकर दो के साथ या अन्यत्र भी सम्बद्ध या अध्याहृत कर सकते हैं तो वह काकाक्षि न्याय कहलाता है। इस न्याय का दूसरा नाम काकाक्षिगोलक न्याय भी पाया जाता है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[520] इसी श्लिष्ट प्रसङ्ग में मध्यमणि न्याय से भी शास्त्रीय समस्या को स्पष्ट करते हुए नागेश कहते हैं-

32. मध्यमणि न्याय

"भाष्यकृता तु मध्यमणिन्यायेनोभयसम्बन्धमङ्गीकृत्य भुवः स्थानिवत्त्वप्रतिषेधोऽपि प्रत्याख्यात इति बोध्यम्"।[521]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" सूत्र के भाष्यगत "आहिभुवोरीट्प्रतिषेधः" इस वार्तिक की व्याख्या के प्रसङ्ग में निर्दिष्ट किया है। इसका अर्थ है कि जैसे यदि प्रकाशवान् मणि को मकान और उसकी दहलीज अर्थात् दोनों के मध्य में रख दिया जाए तो वह दोनों को ही एक साथ प्रकाशित कर देता है - मकान के आन्तरिक भाग को भी तथा बाहरी भाग को भी। अथवा जिस प्रकार नासिका के आभूषण में लगे दो मोतियों के बीच में यदि मणि संयोजित कर दी जाए तो जैसे वह मणि दोनों मोतियों को अपनी शोभा से अलंकृत कर देती है उसी प्रकार जहां शास्त्रीय वचन उभयार्थक या द्व्यर्थप्रकाशक है वहां इस न्याय का उपयोग होता है। यहां पर उद्द्योतकार नागेश ने इस न्याय का आश्रयण करके "आहिभुवोरीट्प्रतिषेधः" इस वार्तिक का और 'अस्' के स्थान में होने वाले 'भू' आदेश के स्थानिवत्त्व का जिसका कि वार्तिककार ने निषेध कहा है, उन दोनों का ही अर्थात् 'भू' को 'अस्' मानकर जो उससे परे 'सिच्' को 'ईट्' प्राप्त होता है उस 'ईट्' का और उस 'भू' आदेश के स्थानिवद्भाव का दोनों का खण्डन कर दिया है। यह न्याय अन्यत्र भी व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों में प्रयुक्त देखा जा सकता है।[522]

33. सूचीकटाह न्याय

"एवं सूचीकटाहन्यायेन सोपपात्तिकं वाक्यार्थमुपवर्ण्य फलव्यापारयोरिति प्रतिज्ञातं धातोर्व्यापारवाचित्वं लडाद्यन्ते भावनाया अवाच्यत्वं वदतः प्रभाकरादीन् प्रति व्यवस्थापयति"–

व्यापारो भावना सैवात्पादना सैव च क्रिया।
कृञोऽकर्मकतापत्तेर्न हि यत्नोऽर्थ इष्यते॥"[523]

यह न्याय कौण्डभट्ट ने धात्वर्थनिर्णयप्रसङ्ग में उद्धृत किया है। तदनुसार यद्यपि "फलव्यापारयोर्धातुः" इस प्रथम कारिका के अनुसार फल और व्यापार को धात्वर्थ प्रतिज्ञात करने पर इसके तत्काल बाद ही तर्कों से इस सिद्धान्तरूप प्रतिज्ञा का व्यवस्थापन करना उचित था, वाक्यार्थनिरूपण के बाद नहीं। क्योंकि तब अन्तराल के कारण शिष्य की धात्वर्थविषयक जिज्ञासा का विच्छेद हो सकता है तथापि सूचीकटाहन्याय से ऐसा किया गया जानना चाहिए। जैसे कोई लोहार यद्यपि क्रमप्राप्त पहले कटाह को बना रहा है परन्तु यदि कोई उसे बीच में आकर सूई बनाने को कहे तो वह कटाह को छोड़कर पहले सूई को बना देता है। अब यहां यद्यपि नियम तो यही है कि जो पहले आया है, उसी का काम पहले होना चाहिए तथापि लोकव्यवहार में इस पर उपाधि देखी जाती है। फलतः छोटा-मोटा, अल्पसमयसापेक्ष या अल्पायाससाध्य कार्य तो बीच में या पहले भी कर दिया जाता है। प्रकृत न्याय में उपात्त उपादानों से यह स्पष्ट है कि कटाह तो दो दिन में बनेगा जबकि सूई दस मिनट में बन जाएगी। फलतः जैसे पीछे आने पर भी कम समय में बन सकने के कारण सूई को कटाह

से पूर्व बना दिया जाता है वैसे ही यहां भी फल और व्यापार या धात्वर्थनिर्णय रूप कटाह से पूर्व सूई रूप वाक्यार्थनिर्णयचर्चा कर दी गई समझनी चाहिए।

भाव यह है कि सामान्यतः फल और व्यापार को धात्वर्थ तथा इनके आश्रयरूप कर्म कर्ता को तिङर्थ जानने पर फिर पहले वाक्यार्थ में ही शिष्य की जिज्ञासा का उदय होता है। इसलिए वही पहले निरूपित किया गया है, धात्वर्थ नहीं। धात्वर्थ तो अतिदुरूह होने से उसमें पहले जिज्ञासा नहीं हो सकती। प्रकृत कारिका के द्वारा वैयाकरणसम्मत व्यापार में ही मीमांसक और नैयायिकसम्मत भावना या यत्न आदि संगृहीत होने का वर्णन है। इसका शाब्दिक अर्थ है कि व्यापार ही मीमांसकों की भावना है और वही उत्पादना एवं क्रिया भी है। अतः 'कृ' धातु के अकर्मकदोषदुष्ट बन जाने के कारण व्यापार के स्थानापन्न नैयायिकसम्मत यत्न को धात्वर्थ नहीं माना जा सकता। प्रकृत न्याय से यह निगूढ़ तात्पर्य निर्गलित होता है कि अधिक समय या अधिक श्रमसाध्य कार्य की अपेक्षा अल्पसमय या अल्पश्रमसाध्य कार्य को प्राथमिकता देते हुए बाद में आने पर भी उसे पहले कर दिया जाता है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त मिलता है।[524]

ग (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित गृहसामग्रीसम्बन्धी लोकन्याय

1. कूपखानक न्याय[525]
2. समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते न्याय[526]
3. द्रव्यवच्चोपचार न्याय[526 क]
4. सम्भवी कार्य न्याय[526 ख]
5. रूपसामान्य न्याय/तदेवेदम् न्याय[527]
6. वर्णव्यत्यये अर्थान्तरगमनादर्थवन्तो वर्णाः न्याय[528]
7. संघातार्थवत्वादवयवार्थवत्वम् न्याय[529]
8. लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते न्याय/दश दाडिमानीत्यादि न्याय[530]
9. इतरेतराश्रय न्याय/त्रिविष्टब्धक न्याय[531]
10. काकाधिकरणत्व न्याय / अनुबन्धो ह्यनन्यत्वकरः न्याय[532]
11. सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य न्याय[533]
12. न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते न्याय/न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते न्याय[534]
13. सूत्रशाटक न्याय/भाविसंज्ञाविज्ञान न्याय[535]
14. अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति न्याय/पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान् न्याय[536]

15. तत्सामीप्यात् तद्गुणोपलम्भन न्याय[537]
16. अन्तशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[538]
17. दृश्यते हि पुनरतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थवभावः न्याय/सुराङ्ग-न्याय/रथाङ्गरथ न्याय/तन्तुकम्बल न्याय[539]
18. यत् सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते तदपि लक्षणं भवति न्याय/कमण्डलुपाणि छात्र न्याय[540]
19. निःश्रयणीकाष्ठ न्याय[541]
20. समन्धकारे प्रदीपनिमित्तं दर्शनम् न्याय/कीलप्रतिकील न्याय[542]
21. सार्थिकप्रतिश्रयसम्बन्ध न्याय / प्रपामेल न्याय[543]
22. उत्पन्नः प्रत्ययः प्रत्ययाश्रयाणां कार्याणां निमित्तं भवति नोत्पद्यमानः न्याय/कृतक्रियमाणघट न्याय[544]
23. इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिर्भवति न्याय / सर्वं चेतनावत् न्याय[545]
24. येन येन शब्देनाभिसम्बध्यते तावति तावति क्रिया परिसमाप्यते न्याय[546]
25. तत्सामीप्यात् ताच्छब्द्य न्याय/गङ्गायां घोषः न्याय[547]
26. तत्साहचर्यात् ताच्छब्द्य न्याय/यष्टीः प्रवेशय न्याय[548]
27. द्रव्यगुण न्याय/अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम् न्याय/यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम् न्याय/यस्य गुणान्तरेष्वपि तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम् न्याय/लोहकार्पासतुलाग्र न्याय[549]
28. द्रव्यवत् कर्मचोदना न्याय/एकवाक्यभाव न्याय[550]
29. उभयतस्पाशा रज्जुः न्याय[551]
30. सर्वशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[552]
31. दूरशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[553]
32. तन्त्राद्यावृत्त्येकशेष न्याय[554]
33. न हि मृत्तिकावस्थायां सन्तो घटादयः उत्पद्यन्ते न्याय[555]
34. तुल्यकांस्यपात्रीभोजन न्याय[556]
35. तर्कुग्राम न्याय[557]
36. अग्निरानीयताम् (अग्न्यानयन) न्याय/अचोदितस्यापि नान्तरीयकत्वादुपादानं दृश्यते न्याय[558]
37. तादर्थ्यात् ताच्छब्द्य (इन्द्रार्था स्थूणा) न्याय[559]
38. कुण्डशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[560]
39. न चोत्पन्नानां प्रत्ययानां विकल्पः शक्यते कर्तुम् न्याय[561]

40. पाठक्रमेणैव सम्बन्धो भवति न्याय[562]
41. घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न पश्यति न्याय[563]
42. रज्जुसर्प न्याय[564]

घ (1) वेशभूषासम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. *अवयवावयवोऽपि हि समुदायावयवो भवति न्याय*

"अवयवावयवोऽपि हि समुदायावयवो भवति। तथाहि 'देवदत्तायाः सर्वेऽवयवा अलङ्क्रियन्ताम्' इत्युक्ते देवदत्तावयवस्य येऽवयवा अङ्गुल्यादयस्तेऽप्येलङ्-क्रियन्ते"।[565]

यह न्याय न्यासकार ने "नञ्सुभ्याम्" इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि अवयव के अवयव भी समुदाय के अवयव माने जाते हैं, जैसे-लोक में 'देवदत्ता नामक कन्या के सब अवयवों को सजा दो' - यह कहने पर देवदत्ता का अवयव जो बाहु है, उस बाहु का अवयव जो हाथ है और उस हाथ के भी अवयव जो अंगुली आदि हैं, वे भी देवदत्ता के ही अवयव माने जाकर सजाए जाते हैं। फलतः 'साङ्गुलिर्देवदत्ता' इस अभिधान से युक्त वह अलंकृत हो जाती है। क्योंकि अवयव समुदाय के अन्दर ही होता है। यदि अवयवावयव समुदायावयव नहीं माना जाता तो 'हस्तवती देवदत्ता' यह प्रयोग ही नहीं बनता। भाव यह है कि अवयव समुदाय के बाहर हो नहीं सकता, अतः समुदाय के धर्मो का आरोप उसके अवयवों के अवयवों में भी हो जाता है। इसी प्रकार "नञ्सुभ्याम्" इस सूत्र से बहुव्रीहि समास में 'अयवः' इत्यादि प्रयोगों में होने वाला समास का अन्तोदात्त उसके अवयव उत्तरपद को भी हो जाता है। यद्यपि समास के अवयव समास के ही माने जाने चाहिएं और पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों मिलकर समास होता है। इसलिए समास के अवयव केवल उत्तरपद के अवयव नहीं माने जाने चाहिएं। फिर भी उक्त न्याय से समास के अवयव होने के साथ-साथ उस समास का अवयव जो उत्तरपद है, उसके भी वे अवयव समास माने जाते हैं।

प्रकृत न्याय का निम्न शास्त्रीय उदाहरण भी बड़ा प्रासङ्गिक है। तदनुसार जैसे देवदत्त के अङ्गों का आधिक्य (यथा छः अङ्गुलियां होना) तथा उसके अङ्गों का छेद या हानि (यथा कोई अङ्गुली कट जाना) देवदत्त को उसके व्यपदेश के निमित्त से रहित नहीं करते अपितु वह देवदत्त ही रहता है अर्थात् अवयवावयव भी समुदायावयव ही होता है वैसे ही 'प्रणिदापयति, प्रणिधापयति' .... में भी अन्तरङ्ग होने से पहले 'दा', 'धा' धातुओं की घुसंज्ञा होने पर फिर बाद में उत्पन्न पुगागम न तो उनकी घुसंज्ञा की निवृत्ति करता है और न इनके अर्थवत्त्व की ही। फलतः "नेर्गदनद"[566] सूत्र से णत्व हो जाता है।[567] यह न्याय यहां के अतिरिक्त अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होता

है।[568] नागेश भी यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते न्याय के द्वारा इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

2. यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते न्याय

"यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते। लोकेऽपि देवदत्तस्याऽङ्गाऽऽधिक्ये तद्विशिष्टस्यैव देवदत्तग्रहणेन ग्रहणं दृश्यते।"[569]

यह न्याय बृहच्छब्देन्दुशेखरकार ने 'स्थानिवदादेशो अनल्विधौ' सूत्र की व्याख्या में 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते'[570] इसी न्यायसिद्ध परिभाषा के समर्थन में लिखा है। इसका अर्थ है कि लोक में देवदत्त के अङ्गों के अधिक होने पर भी देवदत्त के ग्रहण से उसका ग्रहण हो जाता है अर्थात् जैसे सामान्यतया मनुष्य के हाथ में पांच अङ्गुलियां होती हैं, अब यदि देवदत्त के हाथ में छह अङ्गुलियां भी हों तो भी वह पांच अङ्गुली वाले सामान्य मनुष्य की तरह मनुष्य ही समझा जाता है और देवदत्त के नाम से ही गृहीत होता है। क्योंकि उसके एक अङ्गुली अधिक है, इसलिए यह देवदत्त नहीं है - ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार शास्त्र में भी 'भविता' इत्यादि प्रयोगों में 'इट्' आगम सहित 'तृच्' प्रत्यय को भी 'तृच्' ही माना जाता है, अन्य प्रत्यय नहीं।

जैसे लोक में एक ही बात को लेकर भिन्न-भिन्न व्यवहार दिखाई देते हैं वैसे ही शास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। फलतः अगला नावयवः समुदायावयवो भवति न्याय पूर्वोक्त न्याय के विरोध में उपस्थित होता है-

3. 'नावयवः समुदायावयवो भवति न्याय

"ह्रस्व एवात्रागमी, न त्वदन्तः। तेन चिच्छितुः चिच्छिदतुः चिच्छिदुरित्यत्र तुगभ्यासस्य ग्रहणेन न गृह्यते इति हलादिःशेषेण न निवर्त्यते। नावयवः समुदायावयवो भवतीति"[571]

इस न्याय का विरोधी न्याय पहले कहा जा चुका है – "अवयवावयवोऽपि हि समुदायावयवो भवति।" प्रकृत न्याय काशिकाकार ने "छे च" सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। वे लिखते हैं कि "छे च" सूत्र से ह्रस्व को होने वाला तुक् का आगम केवल ह्रस्व का ही अवयव है। अतः उसके ग्रहण से ही गृहीत होगा। इसके विपरीत ह्रस्वान्त जो अभ्यास है, वह उसका अवयव नहीं होगा। उससे 'चिच्छिदतुः' यहां 'छिद्' धातु के अभ्यास 'चि' को विहित तुक् आगम अभ्यास का अवयव नहीं माना जाएगा तो "हलादिः शेषः"[572] से उस तुक् की निवृत्ति नहीं होगी। क्योंकि अभ्यास एक समुदाय है, उसका अवयव 'चि' है और उस 'चि' का अवयव ह्रस्व. इकार है। अतः उसको होने वाला तुक् का आगम अभ्याससमुदाय का अवयव नहीं माना जाएगा। परिणामतः तुक् की निवृत्ति न होकर इष्ट सिद्ध हो जाता है। लोक में भी ये दोनों परस्पर विरोधी बातें देखी जाती हैं कि कहीं तो अवयव का अवयव समुदाय का अवयव माना जाता है और कहीं नहीं भी। जैसे- मैं अङ्गुली से किसी वृक्ष की शाखा को छूता

हूं तो कहा जाता है कि मैं शरीर से वृक्ष को छू रहा हूं। यद्यपि शरीर से वृक्ष को नहीं छू रहा हूं बल्कि शरीर या बाहु का अवयव जो हाथ है, उसका अवयव जो अङ्गुली है, उससे मैं वृक्ष के अवयव शाखा को छू रहा हूं, वृक्ष को नहीं। फिर भी अवयव का अवयव समुदाय का अवयव मानकर ऐसा प्रयोग हो जाता है। इसी प्रकार जब वृक्ष हिलता है तो वह अपने अवयवों के साथ हिलता है। क्या कहीं पर अवयवरहित भी हिलता हुआ देखा जा सकता है? इस प्रकार के अनेक उदाहरण इन दोनों न्यायों के सम्बन्ध में लोक में मिल जाते हैं।

घ(2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित वेशभूषासम्बन्धी लोकन्याय

1. स्वर्णकुण्डल न्याय[573]
2. रूपसामान्य न्याय/तदेवेदम् न्याय[574]
3. करणानुकरण न्याय[575]
4. अभेदका अपि गुणा दृश्यन्ते न्याय[576]
5. नानालिङ्गकरण न्याय/देवदत्त! इह मुण्डो भव इह जटिलो भव न्याय[577]
6. तद्गुणसंविज्ञान न्याय/दण्डी विषाणी चानीयताम् न्याय[578]
7. गुणप्रापण न्याय/नानालिङ्गकरण न्याय[579]
8. विशिष्टशब्दोऽयं बह्वर्थः न्यायः[580]
9. छत्रिन्याय[581]
10. मुण्डचौर न्याय[582]
11. रक्तपट न्याय[583]
12. भोगशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[584]
13. ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र न्याय[585]

ङ (1) भोजन (खान-पान) सम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति न्याय

"नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति। यो ह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्"[586]

पस्पशाह्निक में भाष्यकार "वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः "इत्यादि श्लोक के आधार पर पूर्वपक्ष के रूप में यह आपत्ति उठाते हैं कि वाग्योगवित् को साधु शब्दज्ञानप्रयोग से जैसे धर्म या अभ्युदय की प्राप्ति होती है फिर तो वैसे ही उसे अधर्म की प्राप्ति भी अवश्य होनी चाहिए। क्योंकि जो शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों को भी अवश्य ही जानता होगा। और जैसे शब्दज्ञान से धर्म प्राप्त होता है वैसे ही अपशब्दज्ञान से अधर्म भी होना चाहिए प्रत्युत अधर्म अधिक प्राप्त होना चाहिए। क्योंकि शब्द थोड़े

है तथा अपशब्द अनेक। इसके विपरीत जो तो अवाग्योगवित् होगा उसके लिए तो उसका ज्ञान या पता न होना उसके दोषों को ढकने वाला शरण बन जाएगा। इस तरह यहां तक अवाग्योगवित् होना ही अधिक ठीक प्रतीत होता है।

परन्तु अब इस समस्या का समाधान करने के लिए भाष्यकार प्रकृत न्याय्य पक्ष का आश्रयण करते हुए कहते हैं कि नहीं, यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि सर्वथा अज्ञान शरण नहीं हो सकता। कारण कि जो बिना जाने ब्राह्मण की हत्या कर दे या शराब पी ले, मैं समझता हूँ, वह भी पापी है। कोई यह कह कर कि मुझे इसका ज्ञान या पता नहीं था, किसी नियम का भङ्ग कर दे तो वह अज्ञान की शरण लेकर नियमभङ्गरूप दोष से नहीं बच सकता। उसको नियम का ज्ञान होना ही चाहिए। यदि वह नियम का ज्ञान नहीं रखता और नियमभङ्ग करता है तो वह उसका दोषी क्यों नहीं होगा?[587] यह बात लोकव्यवहार में भी देखी जाती है कि कोई अपराध करके उससे बचने के लिए अपराध के अज्ञान का बहाना करके नहीं बच सकता है।[588] वास्तव में यहां भाष्यकार ने अवाग्योगविद् को अपशब्ददोषदूषित होने से रोकने के लिए उसके विषय में जो 'अज्ञानं तस्य शरणम्' ऐसा आपाततः रमणीय प्रतीयमान समाधान कहा था, वह प्रकृत लोकन्याय द्वारा निरस्त कर दिया गया है और वाग्योगविद् को उक्त दोष से बचाने के लिए जो उन्होंने 'विज्ञानं तस्य शरणम्' ऐसा कहा है, यह सटीक एवं अकाट्य है। इसी भाव को आगे चलकर भाष्यकार 'कूपरवानक न्याय' से भी स्पष्ट करेंगे। इस तरह अवाग्योगविद् तो अपशब्ददोषदुष्ट होता है जबकि वाग्योगविद् नहीं।

2. अब्भक्षः। वायुभक्षः न्याय

"अथवा सन्त्येकपदान्यप्यवधारणानि। तद् यथा अब्भक्षो वायुभक्ष इत्यप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षतीति गम्यते। एवमिहापि सिद्ध एव न साध्य इति।"[589]

यह न्याय भाष्यकार ने "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" वार्तिकस्थ सिद्ध पद की व्याख्या में उपन्यन्त किया है। इसका अर्थ है कि अथवा एक या अकेले पद से भी अवधारण या नियम देखा जाता है, जैसे- 'अब्भक्षः' अर्थात् पानी ही पीता है तथा 'वायुभक्षः' अर्थात वायु ही खाता है- ऐसा बोध होता है। दूसरे शब्दों में जैसे उक्त उदाहरणों में बिना एवकार लगाए भी 'ही' वाला नियम देखा जाता है वैसे ही प्रकृत में भी जो सिद्ध है, साध्य कभी नहीं होता- ऐसा अर्थ जान लिया जाता है।

भाव यह है कि उपर्युक्त वार्तिकस्थ सिद्ध शब्द का क्या अर्थ है- इस विषय को लेकर भाष्य में पर्याप्त विस्तृत चर्चा की गई है और वहां नाना युक्ति-प्रत्युक्तियों से सिद्ध शब्द को नित्य का पर्यायवाची प्रतिपादित किया गया है। प्रकृत न्याय की अवतारणा भी इसी सन्दर्भ में हुई है तथा उससे भी अवधारणार्थक एवकार के बिना भी नियमतः शब्दार्थसम्बन्ध की सिद्धता या नित्यता ही सिद्ध की गई है, साध्यता

नहीं। क्योंकि एवकार लगाने पर तो द्विपद अवधारण (नियम) होता है, एवकार वहां उसका द्योतक होता है। परन्तु उस द्योतक के विना भी अर्थानुरोधात् जहां अवधारण का बोध होता है, जैसे प्रकृत न्यायों से हो रहा है, तब वह एकपद अवधारण कहलाता है। ये न्याय अन्यत्र भी देखे जाते है।[590]

3. माठरकौण्डिन्य न्याय

"अथवा पुनरस्तु परोपदेशः - - - - द्विर्वचनेऽपि नेमौ रहौ कार्यिणौ द्विर्वचनस्य। किन्तर्हि? निमित्तमिमौ रहौ द्विर्वचनस्य। तद् यथा - ब्राह्मणा भोज्यन्तां माठरकौण्डिन्यौ परिवेविष्टामिति। नेदानीं तौ भुञ्जाते"।[591]

"हयवरट्" सूत्र भाष्य में भाष्यकार यह न्याय उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि जैसे लोक में देखा जाता है कि सब ब्राह्मण भोजन करें किन्तु माठर और कौण्डिन्य दोनों परोसें– ऐसा कहने पर उस समय वे दोनों भोजन नहीं कर सकते। क्योंकि उन्हें भोजन परोसने का काम दिया गया है। भाव यह है कि माठर और कौण्डिन्य ये दोनों भी ब्राह्मण हैं। सब बाह्मणों को जब भोजन करने के लिए कहा गया तो वे दोनों भी ब्राह्मण होने के नाते भोजन कर सकते हैं। किन्तु आगे साथ ही उन दोनों का विशेषरूप से नामनिर्देश करके उन्हें भोजन परोसने को कहा गया है। अतः अब वे यदि भोजन करते हैं तो परोस नहीं सकते और यदि परोसते हैं तो भोजन नहीं कर सकते। हाँ, अब यह निषेध सार्वत्रिक न होकर परिवेषणकालिक ही है। फलतः वे "सामान्यविशेषयोर्मध्ये विशेषो बलवान्" इस नियम से परोसने के बाद फिर भोजन कर सकते हैं। इस तरह यह न्याय असम्भव में ही प्रवृत्त होता है जबकि तक्रकौण्डिन्य न्याय सम्भव में भी प्रवृत्त होता है।

इस लोकप्रसिद्ध न्याय को भाष्यकार ने यहां इसलिए दिया है कि भद्रह्रदः 'यहां ह्रद शब्द के हकार से परे रेफ को द्वित्व प्राप्त होता है। द्वित्व करने वाला सूत्र "अचो रहाभ्यां द्वे"[592] है। इसका अर्थ है कि अच् से परे जो रेफ और हकार, उनसे परे 'यरों' को द्वित्व होता है। परन्तु इस 'यर्' प्रत्याहार में रेफ भी आ गया है। इसलिए उसे भी द्वित्व होना चाहिए। किन्तु सूत्रस्थ "रहाभ्याम्" इस शब्द द्वारा रेफ और हकार से परे "यर्" को द्वित्व कहा गया है। इस प्रकार 'यरों' को द्वित्व करने में रेफ और हकार निमित्त भी हैं।

अब या तो रेफ को द्वित्व का निमित्त मानें या फिर 'यरों' में आने से उसे द्वित्व या कार्यभाक् करें ? क्या होना चाहिए ? ध्यातव्य है कि रेफ का निमित्तत्व तो सूत्र में साक्षात्कथित या अनुशिष्ट है। अतः उसका तो शीघ्र बोध हो जाता है जबकि कार्यभाक् हो सकने वाले 'यर्' प्रत्याहारान्तर्गत रेफ की प्रतिपत्ति अपेक्षाकृत कुछ काल बाद होती है। इसलिए साक्षात् कहे हुए निमित्तभाव के कारण रेफ को 'यर्' प्रत्याहार में आने पर भी द्वित्व नहीं होता है। इसी प्रकार यहां 'मद्रह्रदः' में भी 'यर' प्रत्याहार में आने

वाला रेफ द्वित्व का निमित्त होता है, वह कार्यी अर्थात् कार्यभाक् नहीं होता।[593] यह माठरकौण्डिन्यन्याय तक्रकौण्डिन्यन्याय के समान व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र भी बहुत प्रयुक्त हुआ है।[594]

4. वर्णव्यत्यये अर्थान्तरगमनात् अर्थवन्तो वर्णाः न्याय

"वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनान् मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति। तद् यथा - कूपः सूपो यूप इति। कूप इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते। सूप इति ककारापाये सकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते। तेन मन्यामहे यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य। यः सूपे सूपार्थः स सकारस्य। यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति"।[595]

"हयवरट्" सूत्रभाष्य में भाष्यकार वर्णों की अर्थवत्ता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि लोक में वर्णस्फोटवादी भी हैं जो वर्णों को अर्थवान् मानते हैं, जैसा कि मीमांसा दर्शन के शाबरभाष्य में शबरस्वामी लिखते हैं– "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः।"[596] इसलिए वर्ण की अर्थवत्ता या वाचकता सिद्ध करने वाला यह न्याय है। इसका अर्थ है कि कूप, सूप, यूप ये तीन शब्द हैं। इनमें कूप में ककार लगने पर किसी अर्थ की प्रतीति होती है। सूप में ककार हटाकर सकार लगने पर किसी दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है और यूप में ककार तथा सकार दोनों हटाकर यकार लगने पर किसी अन्य ही अर्थ की प्रतीति होती है। इससे यह समझा जाता है कि जो कूपः में कूप का अर्थ है, वह ककार का है, जो सूपः में सूप का अर्थ है, वह सकार का है और जो यूप में यूप का अर्थ है, वह यकार का है।[597]

इस प्रकार भाष्यकार और वार्तिककार दोनों ने वर्णों की अर्थवाचकता सिद्ध की है। यह दूसरी बात है कि वह अर्थवत्ता केवल धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात के वर्णों की ही है। सब वर्णों को ये अर्थवान् नहीं मानते।[598] फिर भी यह लोकप्रसिद्ध बात है कि वर्णों के अर्थ होते हैं। जिन वर्णों के अर्थ नहीं होते, वे निरर्थक होते हैं। इसी दृष्टि से वर्णों की अर्थवत्ता भी लोकन्याय के अन्तर्गत मान ली गई है। इस सन्दर्भ में वर्णों की अर्थवत्ता के साधक अगले लोकन्याय भी दर्शनीय हैं :

5. वर्णानुपलब्धौ अतदर्थगतेरर्थवन्तो वर्णाः न्याय

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेर्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति। तद् यथा- वृक्षः ऋक्षः। काण्डीर आण्डीर इति। वृक्ष इति सवकारेण कश्चिदर्थो गम्यते। ऋक्ष इति वकारापाये सोऽर्थो न गम्यते। काण्डीर इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते। आण्डीर इति ककारापाये सोऽर्थो न गम्यते"।[599]

"हयवरट्" सूत्रभाष्य में भाष्यकार वर्णों की अर्थवत्ता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि वृक्ष, ऋक्ष, काण्डीर और आण्डीर ये शब्द हैं। इनमें 'वृक्ष' में वकार लगने पर कोई अर्थ प्रतीत होता है। वकार के हट जाने पर 'ऋक्ष' में वह अर्थ नहीं प्रतीत होता है इसी प्रकार 'काण्डीर' में ककार लगने पर कोई अर्थ प्रतीत होता है किन्तु 'आण्डीर' यहां ककार के हट जाने पर वह अर्थ नहीं प्रतीत होता । इससे ज्ञात होता है कि

वह उस वर्ण का ही माहात्म्य था जो उसके हट जाने पर उस अर्थ की प्रतीति नहीं हुई। फलतः वर्ण अर्थवान् सिद्ध हो जाते हैं। वर्णों की अर्थवत्ता को लेकर भाष्यवार्तिककार आगे भी लोकन्याय उपन्यस्त करते हैं, तद् यथा-

6. संघातार्थवत्वात् अवयवार्थवत्वम् न्याय

"संघातार्थवत्वाच्च मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति। येषां संघाता अर्थवन्तः अवयवा अपि तेषामर्थवन्तः। तद् यथा- एकश्चक्षुष्मान् दर्शने समर्थः, तत्समुदायश्च शतमपि समर्थम्। येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः। तद् यथा - एकोऽन्धो दर्शनेऽसमर्थः, तत्समुदायश्च शतमप्यसमर्थम्। एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था तत्समुदायश्च खारीशतमप्यसमर्थम्"।[600]

"हयवरट्" सूत्रभाष्य में वर्णों की अर्थवत्ता सिद्ध करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि लोक में हम देखते हैं कि जिनके समुदाय अर्थवान् होते हैं, उनके अवयव भी अर्थवान् होते हैं, जैसे एक आंख वाला देखने में समर्थ है वैसे ही उनका सौ संख्यावाला समुदाय भी देखने में समर्थ है। इसी प्रकार जैसे एक तिल तेल देने में समर्थ है तो वैसे ही उसका 64 सेर वाला समुदाय (खारी) भी समर्थ है। इसके विपरीत जिनके अवयव अनर्थक होते हैं, उनके समुदाय भी अनर्थक होते हैं, जैसे एक अन्धा देखने में असमर्थ है तो उनका समुदाय सौ अन्धे भी असमर्थ हैं।[601] इसी प्रकार यदि एक बालू रेत का कण तेल देने में असमर्थ हैं तो वैसे ही (खारी) (64 सेर) बालू रेत के कण भी असमर्थ हैं।[602]

ध्यातव्य हैं कि यहां समुदायों की अर्थवत्ता तो पहले से ही सिद्ध है। अवयवों की अर्थवत्ता पर विचार किया जा रहा है। क्योंकि वर्णसमुदाय, जो पद या वाक्य है, वे तो सभी के मत में अर्थवान् हैं। प्रश्न केवल वर्णों का है जोकि पदों के अवयव हैं। उसके लिए भाष्यकार ने जो "एकश्चक्षुष्मान् दर्शने समर्थः" यह उदाहरण दिया है, मेरी दृष्टि में, वह ठीक नहीं बैठता। उससे अवयवों की अर्थवत्ता सिद्ध होती है जोकि प्रकृत अर्थ में अनिष्ट है। यहां समुदाय की अर्थवत्ता से अवयवों की अर्थवत्ता सिद्ध करनी है, न कि अवयवों की अर्थवत्ता से समुदाय की अर्थवत्ता सिद्ध करनी है। इसलिए इसकी जगह "यथा शतं चक्षुष्मन्तो दर्शने समर्थाः तथा एकश्चक्षुष्मानपि दर्शने समर्थः" और इसी प्रकार "यथा खारीशतं तिलास्तैलदाने समर्थास्तथा एकोऽपि तिलस्तैलदाने समर्थः "ऐसा अन्वयी दृष्टान्त उपन्यस्त करना चाहिए। विद्वान् इस पर विशेष विचार करें।[603] इस सन्दर्भ में अग्रिम लोकन्याय भी अवश्य पठनीय हैं, तद् यथा-

7. अवयवार्थवत्वात् समुदायार्थवत्वम् न्याय। नावयवार्थवत्वात् समुदायार्थवत्वम् न्याय

"अवयवैरर्थवद्भिः समुदाया अप्यर्थवन्तो भवन्ति। तद् यथा लोके आढ्यमिदं नगरम्, गोमदिदं नगरम् इत्युच्यते। न च सर्वे तत्राढ्या भवन्ति सर्वे वा गोमन्तः।

यथा लोके इत्युच्यते। लोके चावयवा एवार्थवन्तो न समुदायाः। आतश्चावयवा एवार्थवन्तो न समुदायाः- यस्य हि यद् द्रव्यं भवति स तेन कार्यं करोति। यस्य च ता गावो भवन्ति स तासां क्षीरं घृतं चोपभुङ्क्ते। अन्यैरेतद् द्रष्टुमप्यशक्यम्। का तर्हीयं वाचोयुक्तिः इह तावद् आढयमिदं नगरमिति। अकारो मत्वर्थीयः आढ्या अस्मिन् सन्ति तदिदमाढ्यमिति। गोमदिदं नगरमिति, मत्वन्तान्मत्वर्थीयो लुप्यते।"[604]

"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि अवयवधर्मो का समुदाय में व्यपदेश होने के कारण अवयवों के अर्थवान् होने पर समुदाय भी अर्थवान् होते हैं, जैसे लोक में कहते हैं कि यह नगर आढ्य (धनवान्) है, यह नगर गोमान् (गायों वाला) है। वहां यद्यपि सब धनवान् तथा गायों वाले नहीं होते तो भी एक-दो होने से सारा नगर ही धनवान् एवं गोमान् कहलाता है। भाष्यकार आगे कहते हैं कि किन्तु जैसे लोक में यह उक्त दृष्टान्त है वैसे ही इसके विपरीत भी दृष्टान्त है। लोक में अवयव ही अर्थवान् हैं, समुदाय नहीं। अवयवों की अर्थवत्ता इसलिए भी माननी चाहिए कि जिसके पास जो चीज होती है, लोक में वही उससे काम कर सकता है, सब नहीं। फलतः जिसके पास गाएं होती हैं, वही उनका घी-दूध खा सकता है, सब नहीं। अन्यों को तो वह देखना भी दुर्लभ है।

अब भाष्यकार इस पर शङ्का करते हैं कि किन्तु यदि लोक में केवल अवयव ही अर्थवान् होते हैं, समुदाय नहीं तो 'आढ्यमिदं नगरम्, (यह नगर धनवान है) गोमदिदं नगरम् (यह नगर गायों वाला है) ये प्रयोग कैसे होते हैं? यहां तो समुदाय ही अर्थवान् कहा जा रहा है। भाष्यकार के मत में इसके उत्तर के विषय में यह कहा जा सकता है कि आढ्यमिदं नगरम्' इस वाक्य में मत्वर्थीय अकार[605] मानकर 'आढ्य हैं जिसमें ऐसा नगर– यह अर्थ लिया जाता है। उससे नगर में एक-दो के आढ्य होने से सारा जनसमुदायरूप नगर आढ्य नहीं हो जाता। 'गोमदिदं नगरम्' में भी एकाध आदमी के गायों वाला होने से सारा नगर गायों वाला नहीं माना जा सकता। इसलिए दोनों ही बातें हैं– अवयवों के अर्थवान् होने से समुदाय अर्थवान् होते भी हैं और नहीं भी। अर्थवत्ता के प्रसङ्ग में अगला लोकन्याय भी अवलोकनीय है, तद् यथा-

8. आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे न्याय

"अन्यद्भवान् पृष्टोऽन्यदाचष्टे। आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे। अर्थवत्ता नोपपद्यते केवलेनावचनादिति भवानास्माभिश्चोदितः केवलस्याप्रयोगे हेतुमाह।"[606]

"अर्थवत्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि आप से पूछा कुछ और है तथा आप उत्तर कुछ और देते हैं। हमने तो आप से आमों के विषय में पूछा और आप कचनारों की बात कहने लगे। तात्पर्य यह है कि जो बात पूछी गई है, उसी का उत्तर देना चाहिए, अपृष्ट या अप्रस्तुत बात नहीं कहनी चाहिए। तदनुसार हमने पूछा था कि प्रकृति या प्रत्यय से अर्थ का कथन न होने से शब्दों की अर्थवत्ता नहीं

बनती तो इसके उत्तर में आप प्रकृति या प्रत्यय में किसी एक का प्रयोग न होने में हेतु देने लगे। हमारे प्रश्न के उत्तर में आपको कहना तो यह चाहिए था कि ठीक है, प्रकृति-प्रत्यय का समुदाय ही अर्थवान् है, केवल प्रकृति या प्रत्यय नहीं।

प्रस्तुत न्याय व्याकरणेतर अनुशासनों भी पर्याप्त उपलब्ध होता है।[607] लेकिन इन सबके मूल स्रोत भाष्यकार पतञ्जलि ही रहे हैं। प्रतीत होता है कि स्वयं पतञ्जलि ने भी उक्त न्याय बौद्धों के सामाञ्आफलसुत्तग्रन्थ से लिया है। क्योंकि उक्त ग्रन्थ में भी ठीक यही कथन मिलता है।[608] वैसे उक्त न्याय का कुछ भाव वैयाकरणखसूची इस प्रसिद्ध उदाहरण से भी गतार्थ हो सकता है जिसमें प्रश्न पूछे जाने पर कोई वैयाकरण उत्तर देने के स्थान पर उसे आकाश में तारे आदि दिखाकर भुलाना चाहता है। यहां वैयाकरण की निन्दा द्योतित करने में समास हुआ है। उस प्रसङ्ग में अग्रिम लोकन्याय भी अवश्य दर्शनीय हैं, तद्यथा-

9. तन्तुकम्बल न्याय। तण्डुलवर्धितक न्याय / बल्वजरज्जु न्याय / रथाङ्गरथ न्याय/ सुराङ्ग न्याय / दृश्यते हि पुनरतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः न्याय

"दृश्यते हि पुनरतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः। तद् यथा एकस्तन्तुस्त्वक्त्राणेऽसमर्थस्तत्समुदायश्च कम्बलः समर्थः।एकश्च तण्डुलः क्षुत्प्रतिघातेऽसमर्थः तत्समुदायश्च वर्धितकं समर्थम्। एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थः तत्समुदायश्च रज्जुः समर्था भवति। विषम उपन्यासः। भवति तत्र या च यावती चार्थमात्रा। भवति हि किंचित् प्रत्येकस्तन्तुस्त्वक्त्राणे समर्थः एकश्च तण्डुलः क्षुत्प्रतिघाते समर्थः, एकश्च बल्वजो बन्धने समर्थः। इमे पुनर्वर्णा अत्यन्तमेवानर्थकाः। यथा तर्हि रथाङ्गानि विहृतानि प्रत्येकं व्रजिक्रियां प्रत्यसमर्थानि भवन्ति तत्समुदाश्च रथः समर्थः। एवमेषां वर्णानां समुदाया अर्थवन्तः, अवयवा अनर्थका इति।"[609]

"अर्थवदधातु" सूत्र के भाष्य में वर्णों की अर्थवत्ता और निरर्थकता पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं- समुदाय के अनुपकारक गुण से अर्थात् अवयव के अर्थवान् न होने पर भी समुदाय की अर्थवत्ता लोक में देखी गई है, जैसे एक धागा तो त्वचा की रक्षा करने में असमर्थ है परन्तु उन धागों का समुदाय (कपड़ा) या कम्बल समर्थ है अर्थात् कम्बल से शरीर का त्राण हो जाता है। इसी प्रकार एक चावल का दाना तो भूख मिटाने में असमर्थ है किन्तु उस चावल का ढेर (समुदाय) समर्थ है। इसी तरह एक तिनका या सन का एक पंजा तो किसी को बांधने में असमर्थ है परन्तु उसी का समुदाय रस्सी अवश्य समर्थ हो जाती है।

यदि यह कहा जाए कि ये धागा, चावल, तिनके आदि के पूर्वोक्त दृष्टान्त ठीक नहीं हैं। क्योंकि कहीं-कहीं पर तो एक धागा भी शरीररक्षा करने में, एक चावल का दाना भी भूख मिटाने में और एक तिनका भी छान (पर्णकुटी) बांधने में समर्थ हो

जाता है। परन्तु ये वर्ण तो सर्वथा ही अनर्थक हैं। भाष्यकार आगे कहते हैं कि अच्छा तो फिर यह दृष्टान्त लीजिए कि जैसे रथ के अलग-अलग पहिए तो चलने में सर्वथा असमर्थ होते हैं किन्तु उन्ही पहियों का समुदायरूप रथ चलने में समर्थ होता है। अथवा जैसे सुरा की एक बूंद तो पीने पर नशा नहीं करती परन्तु उनका समुदाय अर्थात काफी शराब पीने पर नशा हो जाता है। अथवा जैसे तेल और अग्निवर्ति ये दोनों अलग-अलग तो दीप को जलाने में असमर्थ हैं परन्तु इनके संघात में दीप को प्रज्ज्वलित करने का समर्थ हो जाता है वैसे ही इन वर्णों के अवयव तो अनर्थक हैं परन्तु इनका समुदाय अर्थवान् है।[610]

10. प्रत्यवयवं वाक्यपरिसमाप्तिः न्याय

11. समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः/गर्गशतदण्डन न्याय

"प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तिर्दृश्यते। तद्यथा- देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामिति। न चोच्यते प्रत्येकमिति प्रत्येकं च भुजिः परिसमाप्यते। ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः - समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति। तद् यथा - गर्गाः शतं दण्डच्न्तामिति। अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति। न च प्रत्येकं दण्डयन्ति। सत्येतस्मिन् दृष्टान्ते यदि तत्र सह ग्रहणं क्रियते इहापि प्रत्येकमिति वक्तव्यम्। अथ तत्रान्तरेण सहग्रहणं सहभूतानां कार्यं भवति, इहापि नार्थः प्रत्येकमिति वचनेन[611]"।

वृद्धिसंज्ञासूत्रभाष्य में भाष्यकार दो लोकन्यायसिद्ध शास्त्रीय परिभाषाओं पर विचार करते हुए कहते हैं कि लोक में दो न्याय बहुत प्रसिद्ध है– "प्रत्येकं या प्रत्यवयवं वाक्यपरिसमाप्तिः "और" समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः"[612]। इन दोनों लोकन्यायों का भाष्यकार लक्ष्यानुरोध से अपने शास्त्र में भी आश्रयण करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक या अलग-अलग अवयव में भी वाक्यपरिसमाप्ति या वाक्यार्थबोध देखा जाता है। वाक्य शब्द का तात्पर्य यहां वाक्यार्थ से है, जैसे– **देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्ताम्"** यह वाक्य है। इसमें देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र इन तीनों को अलग-अलग भोजन कराया जाता है, यह नहीं कि तीनों को इकट्ठा बुलाकर उनमें से किसी एक को भोजन कराया जाए। भाव यह है कि देवदत्त आदि के समुदाय में प्रत्येक को अलग-अलग ही भोजन कराओ– ऐसा प्रत्येक ग्रहण न करने पर भी प्रत्येक को अलग-अलग ही भोजन कराया जाता है। इसका नाम है - "प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः "अर्थात् 'भोज्यन्ताम्' यह समुदाय की क्रियां बिना प्रत्येक शब्द का प्रयोग किए भी अलग-अलग देवदत्त आदि प्रत्येक में समझी जाती है।

इससे भिन्न **"समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः"** यह न्याय है। लौकिक दृष्टान्त को ही लोकन्याय कहते हैं, जैसे **"गर्गाः शतं दण्डच्न्ताम्"** अर्थात् गर्गों को सौ रुपया दण्ड दो– यहां सौ रुपये का दण्ड सारे गर्गसमुदाय में समझा जाता है अर्थात् प्रत्येक से सौ रुपया नहीं लिया जाता अपितु सम्पूर्ण गर्गसमुदाय पर यह दण्ड है, चाहे कोई

एक समर्थ व्यक्ति ही उक्त दण्ड समुदायरूप में दे दे। दण्ड देने वाले राजाओं को तो सुवर्ण लेने से प्रयोजन है। यदि वह प्रयोजन समुदाय से सवर्ण लेने पर सिद्ध हो जाता है तो उनका अभीष्टार्थ सिद्ध हो जाने से फिर वे प्रत्येक को दण्ड नही देते। यही गर्गशतदण्डन न्याय कहलाता है। इसी प्रकार नाट्यादि किया भी समुदाय में ही परिसमाप्त होती है, अवयव में नहीं।[613] इस प्रकार **"प्रत्येकं वाक्यपरिसमप्तिः"** और **"समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः"** ये दोनों न्याय लोक में लक्ष्यानुरोध से यथावत् व्यवस्थित हैं। यहां व्याकरण शास्त्र में भी इनकी लक्ष्यानुरोध से व्यवस्था है। तदनुसार गुणवृद्धि संज्ञा तो प्रत्येक वर्ण की होती है तथा समाससंज्ञा समुदाय की ही।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में "वृद्धिरादैच्", "अदेङ् गुणः इन वृद्धिगुणविधायक सूत्रों में 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः' यह न्याय प्रवृत्ति होता है। यहां 'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। फलतः 'आदैच्' समुदाय में "आ" ऐ 'औ' इनकी प्रत्येक की अलग-अलग वृद्धिसंज्ञा होती है अर्थात् आ भी वृद्धिसंज्ञक है, 'ऐ' भी और 'औ' भी। इसी प्रकार अदेङ् समुदाय में भी 'अ' 'ए' 'ओ' इनमें प्रत्येक की अलग-अलग गुणसंज्ञा होती है अर्थात् 'अ' भी गुणसंज्ञक है, 'ए' भी और 'ओ' भी। इसके विपरीत "हलोऽनन्तराः संयोगः"[614] सूत्र में अचों के व्यवधान से रहित हल् समुदाय की संयोग संज्ञा होती है। वहां 'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' यह न्याय लगता है, 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः' यह न्याय यहां नहीं लगता। फलतः 'विप्रः' यहां 'प्' और 'र' के हल् समुदाय में 'प्र' शब्द की मिलकर एक ही संयोगसंज्ञा होती है, 'प्' और 'र' की अलग-अलग संयोगसंज्ञा नही। इसी तरह 'चन्द्रः' यहां न, द, र इस हल् समुदाय में 'न' 'द' और 'द' 'र' इन दोनों समुदायों की मिलकर 'न द' और 'द' 'र' ये दो संयोग संज्ञा होती हैं। अथवा लक्ष्यवशात् 'न द र' इन तीनों की मिलकर एक संयोग संज्ञा भी होती है। तात्पर्य यह है कि संयोग संज्ञा में तो हल् समुदाय गृहीत होता है, वह चाहे एक हो या दो, तीन आदि हों। भाष्यकार ने कहा भी है–

"समुदायेऽविशेषेण संयोगसंज्ञा विज्ञास्यते - द्वयोरपि बहूनामपि"[615]

इन दोनों न्यायों की विद्यमानता में यदि कोई वृद्धिगुणसंज्ञाविधायक सूत्रों में 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः' न्याय की विवक्षा नहीं करेगा तो उसके मत में 'प्रत्येकं गुणवृद्धिसंज्ञो भवतः'[616] इस वचन द्वारा 'प्रत्येक' शब्द का ग्रहण करना होगा। इसी प्रकार संयोगसंज्ञा में भी यदि कोई 'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' न्याय की विवक्षा न करके 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः' न्याय की प्रवृत्ति करना चाहेगा तो उसके मत में संयोगसंज्ञा सूत्र में 'सह' शब्द का ग्रहण करना होगा अर्थात् "हलोऽनन्तराः संयोगः सह" ऐसा सूत्र बनाना होगा। और इसके विपरीत जो यदि इन दोनों न्यायों की लक्ष्यानुरोध से प्रवृत्ति मान कर वृद्धिगुणसंज्ञाविधायक सूत्र में 'प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः न्याय को स्वीकार करेगा तथा संयोगसंज्ञाविधायक सूत्र में 'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः न्याय की प्रवृत्ति

मानेगा तो जिस प्रकार सवर्णसंज्ञासूत्र में सम्बन्धिशब्द न्याय द्वारा स्व या अपना ग्रहण के अर्थानुरोधात्‌आक्षिप्त हो जाने से "तस्य" यह वार्तिक व्यर्थ हो जाता है इसी प्रकार प्रकृत प्रसङ्ग में भी न तो 'प्रत्येक' शब्द के ग्रहण की और न ही 'सह' शब्द के ग्रहण की आवश्यकता होगी। इसलिए इन दोनों न्यायों की लक्ष्य को देखकर प्रवृत्ति मानना ही समुचित है। इसीलिए "उभेऽभ्यस्तम्"[617] इस अभ्यस्तसंज्ञाविधायक सूत्र में भी समुदाय में वाक्यपरिसमाप्ति मानकर इष्ट सिद्ध हो जाने से वहां भी 'सह' ग्रहण करना अनावश्यक हो जाएगा।[618] भर्तृहरि ने उक्त दोनों न्यायों को कारिकारूप में इस प्रकार निबद्ध किया है–

"यथैकदेशो भुज्यादिः प्रत्येकमवतिष्ठते।
क्रियैवं द्वन्द्ववाच्येऽर्थे प्रत्येकमवतिष्ठते॥"
"भोजनं फलरूपाभ्यामेकैकस्मिन् समाप्यते।
अन्यथा हि व्यवस्थाने न तदर्थः प्रकल्प्यते॥"
"लक्ष्यस्य लोकसिद्धत्वाच्छास्त्रे लिङ्गस्य दर्शनात्।
अर्थित्वादैक्षु भेदेन वृद्धिसंज्ञा समाप्यते"॥
"शतादाने प्रधानत्वाद् दण्डने शतकर्मके।
अर्थिनां गुणभेदेऽपि संख्येयोऽर्थो न भिद्यते"॥
"देवदत्तादिषु भुजिः प्रत्येकमवतिष्ठते।
प्रतिस्वतन्त्रं वाक्यं वा भेदेन प्रविभज्यते"॥[619]

ये दोनों न्याय अन्यत्र भी पर्याप्त प्रयुक्त देखे जा सकते हैं।[620] इस प्रसङ्ग में अग्रिम न्याय भी द्रष्टव्य है-

12. उभयथा वाक्यपरिसमाप्तिः न्याय / गर्गभोजनत्याग न्याय

कहीं-कहीं अवयव और समुदाय दोनों में भी एक साथ वाक्यपरिसमाप्ति देखी जाती है। इस विषय में भी "अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" सूत्रभाष्य में भाष्यकार कहते हैं–

"उभयथापि वाक्यपरिसमाप्तिर्दृश्यते। तद् यथा - गर्गैः सह न भोक्तव्यमिति, प्रत्येकं च न भुज्यते समुदितैश्च"।[621]

इनके कहने का भाव यह है कि अवयव और समुदाय दोनों में भी वाक्यपरिसमाप्ति देखी जाती है और लक्ष्यानुरोध से दोनों ही व्यवस्थित हैं, जैसे लोक में कहा जाता है कि गर्गों के साथ भोजन न करो। अब वहां गर्गों में 'प्रत्येक के साथ तथा समस्त गर्गसमुदाय के साथ भोजन न करो'– यह तात्पर्य समझा जाता है वैसे ही इस सूत्र में भी उभयथा वाक्यपरिसमाप्ति होती है अर्थात् अट्, कवर्ग, पवर्ग आदि में अलग-अलग

प्रत्येक के व्यवाय में भी और अट्, कवर्ग आदि सबके एक साथ व्यवाय में भी णत्व हो जाता है। देवदत्तादिसहाध्ययननिषेध न्याय द्वारा न्यासकार भी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

13. देवदत्तादिसहाध्ययननिषेध न्याय

"तथाहि.....देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रैः सह नाध्येव्यमित्युक्ते देवदत्तादयो ये सहाध्ययनप्रतिषेधोपलक्षणार्थमुपात्तास्तेषामेकेनाऽपि सह नाधीयते, द्वाभ्याम्, बहुभिश्च। तस्मादिहापि व्यवायोपलक्षणार्थत्वादडादीनां तैर्व्यस्तैः समस्तैश्च व्यवाये णत्वं भवति"[622]।

यह न्याय न्यासकार ने "अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" सूत्र की व्याख्या में 'अट्, कवर्ग' आदि में प्रत्येक के व्यवधान में भी और समुदाय के व्यवधान में भी प्रस्तुत सूत्र नकार को णकार विधान करता है- इस बात को सिद्ध करने के लिए लिखा है। इसका अर्थ यह है कि किसी ने कहा कि देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के साथ पढ़ना नहीं चाहिए। अब इनमें चाहे देवदत्तादि अलग-अलग हों, या सारे एक साथ, उन सब में अध्ययन का निषेध समझा जाता है, यह नहीं कि जब तीनों इकट्ठे हों तभी अध्ययन का निषेध है। भाव यह है कि चाहे इनमें अकेला देवदत्त हो या देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों हों या यदि तीनों मिले हुए हों, प्रत्येक अवस्था में इनके समुदाय का और अवयव का उभयथा अध्ययननिषेध समझा जाता है। इसी प्रकार यहां "अट्कुप्वाङ्" इत्यादि सूत्र में भी चाहे अट्, कवर्ग आदि का अलग-अलग प्रत्येक का व्यवधान हो, या ये अट्, कवर्ग आदि सब मिलकर व्यवधान डाल रहे हों, प्रत्येक अवस्था में इनके व्यवधान में र और ष से परे 'न' को 'ण' हो जाता है। यह बात सिद्धान्त रूप से सभी ने स्वीकार की है कि कहीं पर तो एक-एक का व्यवधान होता है, सभी का नहीं और कहीं पर सारे ही समुदाय का व्यवधान होता है, उसमें उसके अवयव भी सम्मिलित होते हैं। यह न्याय 'प्रत्यवयवं वाक्यपरिसमप्तिः' और 'समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः' इन दोनों न्यायों (उभयथा) का अनुग्राहक है, समर्थक है। केवल न्यासकार ही ऐसा नहीं कहते प्रत्युत इस सूत्र की व्याख्या करने वाले सभी ऐसा स्वीकार करते हैं।

परन्तु ध्यातव्य है कि अट्कुप्वाङ् सूत्र जहां उभयथा वाक्यपरिसमाप्तिः का पोषक है वहां इसके विपरीत "नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि"[623] सूत्र में प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः के अनुसार नुम्, विसर्जनीय और शर् के अलग-अलग प्रत्येक के व्यवाय में ही षत्व होता है, नुम् आदि के समुदित व्यवाय में नहीं अर्थात् वहां केवल– प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः" यह लोकन्याय ही प्रवृत्त होता है। फलतः जैसे "वृद्धिरादैच्" इस वृद्धिसंज्ञा सूत्र में आ, ऐ, औ, इन तीनों की अलग-अलग वृद्धि संज्ञा होती है, आ, ऐ, औ इस समुदाय की एक नहीं वैसे ही यहां नुमादि के समुदित व्यवाय में

षत्व नहीं होता अपितु प्रत्येक के व्यवाय में ही होता है। उदाहरण के रूप में इनमें सर्वप्रथम 'नुम्' का व्यवधान जैसे- सर्पींषि, यजूंषि, हवींषि इत्यादि में 'नुम्' का अनुस्वार होकर उसके व्यवधान में इस सूत्र से मूर्धन्य 'ष्' हो जाता है। इसी तरह विसर्जनीय के व्यवधान में, जैसे सर्पिःषु, यजुःषु, हविःषु यहां भी विसर्ग के व्यवधान में मूर्धन्य 'ष' हो जाता है। और इसी प्रकार शर् प्रत्याहार के व्यवधान में भी 'स्' को 'ष्' होता है, जैसे- सर्पिष्षु, यजुष्षु, हविष्षु। ध्यातव्य है कि यहां सूत्र में इन तीनों का व्यवधान अलग-अलग लिया गया है। अतः यदि ये तीनों मिल जाएंगे, तो इनके समुदाय के व्यवधान में 'ष' नहीं होगा, जैसे निंस्से, निंस्स्व आदि। यहां नुम् का और सकार का दोनों का एक साथ व्यवधान है, इसलिए पिछले 'स्' को 'ष' नहीं होता। इसके विपरीत "हलोऽनन्तराः संयोगः"[624] इस संयोगसंज्ञा सूत्र में तो हलसमुदाय की मिलकर एक संयोगसंज्ञा होती है, अलग-अलग हलों की नहीं। इसी तरह समाससंज्ञा भी समुदाय की ही होती है, अवयव की नहीं। इस प्रकार उक्त दोनों लोकन्याय लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं।[625]

इसी गर्गभोजननिषेधपरक न्याय को इसी सूत्र पर भाष्योक्त अविकल उदाहरण के साथ पदमञ्जरीकार ने भी उदाहृत किया है।[626] इनके कहने का तात्पर्य यह है कि 'गर्गों के साथ भोजन नहीं करना चाहिए' - ऐसा कहने पर चाहे एक गर्ग हो, या अनेक गर्ग, उन सब के साथ भोजन का निषेध समझा जाता है। इसी प्रकार "अट्कुप्वाङ्नुम्व्य- वायेऽपि" सूत्र में भी 'र्' और 'ष्' से परे अटों का और कवर्ग, पवर्ग आदि का चाहे अलग-अलग व्यवधान हो अथवा सबका मिलकर व्यवधान, तो भी 'न्' को 'ण्' हो जाता है। इस तरह यह सूत्र 'उभयथेह वाक्यपरिसमाप्तिः' के अनुसार प्रत्येक और समुदाय में लागू या प्रवृत्त होने वाल न्याय है। इस प्रकार लोक में जैसी व्यवस्था देखते हैं वैसा ही शास्त्र में न्याय बन जाता है। यह न्याय अन्यत्र भी अवलोकनीय है।[627]

14. पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् न्याय

"अथवा पुरस्तादपवादाः . . . . . इत्येवमियं विभाषा न बहुव्रीहौ इत्येतं प्रतिषेधं बाधिष्यते द्वन्द्वे चेत्येतं न बाधिष्यते"।[628]

"विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार 'बहुव्रीहि' ग्रहण को अनावश्यक सिद्ध करते हुए कहते हैं कि इस सूत्र में 'बहुव्रीहि' ग्रहण व्यर्थ है। क्योंकि द्वन्द्वसमास में तो इस 'विभाषा' की प्रवृत्ति "द्वन्द्वे च"[629] इस नित्य निषेध के कारण नहीं होगी। यहां यह कहना कि 'बहुव्रीहि' ग्रहण के अभाव में फिर इस 'विभाषा' की अतिव्याप्ति होकर यह "द्वन्द्वे च" इस को भी बाध लेगी तो ठीक नहीं। क्योंकि जैसे लोक में आम के वृक्ष पर बैठा भूखा व्यक्ति पास और दूर विद्यमान सभी प्रकार के पके आम होने पर भी वह "प्रथमातिक्रमे कारणाभावः" न्याय से अपने सामने लगे

अव्यवहित आमों को खाने का ही यत्न करता है, व्यवहित या दूर वालों को नहीं। क्योंकि उनमें अधिक आयास अपेक्षित होता है। वैसे ही यहां शास्त्र में भी पूर्व में आया हुआ अपवाद अव्यवहित विधि को ही बाधता है, व्यवहित को नहीं। फलतः यह 'विभाषा' भी "न बहुव्रीहौ"[630] इस अव्यवहित निषेध को ही बाधेगा, "द्वन्द्वे च" इस व्यवहित निषेध को नहीं।

भाव यह है कि बाधक शास्त्र के द्वारा जब एक बार प्रसङ्गोपस्थित शास्त्र की बाधा हो गई, वह चरितार्थ हो गया। ऐसी स्थिति में व्यवहित शास्त्र को निराकांक्ष होने से फिर वह नहीं बाध सकता अर्थात् "विप्रतिषेधे" सूत्र को बाधकर प्रवृत्त होने में कोई प्रमाण नहीं है। इसीलिए पूर्वपठित "एत्येधत्यूठ्सु"[631] सूत्रोक्त वृद्धि अपने अनन्तर "एङि पररूपम्"[632] सूत्रोक्त पररूप को ही बाधेगी, व्यवहित "ओमाङोश्च"[633] सूत्रोक्त पररूप को नहीं। फलतः 'अवेहि' में वृद्धि न होकर "ओमाङोश्च" से पररूप ही होता है।

15. तक्रकौण्डिन्य न्याय

"नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति - अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति। किं तर्हि ? लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। लोके हि सत्यपि संभवे बाधनं भवति। तद् यथा - दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय इति। सत्यपि संभवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति। एवमिहापि सत्यपि संभवेऽचामन्त्यात्परत्वं षष्ठीस्थाने योगत्वं बाधिष्यते"।[634]

"मिदचोऽन्त्यात्परः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं कि न तो ईश्वर आज्ञा देते हैं और न धर्मसूत्रकार ही ऐसा पढ़ते हैं कि अपवादों से उत्सर्गों की बाधा होती है।[635] यह तो लोकप्रसिद्ध न्याय है कि लोक में संभव होने पर भी बाधा होती है। असंभव में ही बाधा होती है - यह तो वार्तिककार स्वीकार करते हैं। किन्तु भाष्यकार उनसे आगे बढ़कर कहते हैं कि संभव में भी बाधा होती है। जैसे किसी ने कहा कि सब ब्राह्मणों को दही दे दो और कौण्डिन्य को तक्र (लस्सी) दे दो। यहां सब ब्राह्मणों में कौण्डिन्य भी आ गया। क्योंकि वह ब्राह्मण है और उसको तक्रदान के साथ दधिदान संभव भी है। फिर भी तक्रदान के विशेष कथन से सामान्य कथन दधिदान की बाधा हो जाती है। फलतः कौण्डिन्य को तक्र ही दिया जाता है, दही नहीं।[636]

इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी 'पयांसि', 'यशांसि' में होने वाला "नपुंसकस्य झलचः"[637] से नुमागम 'पयस्', 'यशस्' के अन्तिम अच् से परे भी होना संभव है और "अलोऽन्त्यस्य"[638] के नियम से अन्तिम अक्षर सकार के स्थान में भी होना संभव है। किन्तु सम्भव होने पर भी यह नुमागम प्रकृत लोकन्याय के आधर पर "मिदचोऽन्त्यात्परः" के नियम स अन्तिम अक्षर को बाधकर अन्तिम अच् से परे ही

षत्व नहीं होता अपितु प्रत्येक के व्यवाय में ही होता है। उदाहरण के रूप में इनमें सर्वप्रथम 'नुम्' का व्यवधान जैसे-सर्पींषि, यजूंषि, हवींषि इत्यादि में 'नुम्' को अनुस्वार होकर उसके व्यवधान में इस सूत्र से मूर्धन्य 'ष्' हो जाता है। इसी तरह विसर्जनीय के व्यवधान में, जैसे सर्पिःषु, यजुःषु, हविःषु यहां भी विसर्ग के व्यवधान में मूर्धन्य 'ष' हो जाता है। और इसी प्रकार शर् प्रत्याहार के व्यवधान में भी 'स्' को 'ष्' होता है, जैसे– सर्पिष्णु, यजिष्णु, हविष्णु। ध्यातव्य है कि यहां सूत्र में इन तीनों का व्यवधान अलग-अलग लिया गया है। अतः यदि ये तीनों मिल जांएगे, तो इनके समुदाय के व्यवधान में 'ष' नहीं होगा, जैसे निंस्से, निंस्स्व आदि। यहां नुम् का और सकार का दोनों का एक साथ व्यवधान है, इसलिए पिछले 'स' को 'ष' नहीं होता। इसके विपरीत "हलोऽनन्तराः संयोगः"[624] इस संयोगसंज्ञा सूत्र में तो हल्समुदाय की मिलकर एक संयोगसंज्ञा होती है, अलग-अलग हलों की नहीं। इसी तरह समाससंज्ञा भी समुदाय की ही होती है, अवयव की नहीं। इस प्रकार उक्त दोनों लोकन्याय लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं।[625]

इसी गर्गभोजननिषेधपरक न्याय को इसी सूत्र पर भाष्योक्त अविकल उदाहरण के साथ पदमञ्जरीकार ने भी उदाहृत किया है।[626] इनके कहने का तात्पर्य यह है कि 'गर्गों के साथ भोजन नहीं करना चाहिए' - ऐसा कहने पर चाहे एक गर्ग हो, या अनेक गर्ग, उन सब के साथ भोजन का निषेध समझा जाता है। इसी प्रकार "अट्कुप्वाङ्नुम्व्य- वायेऽपि" सूत्र में भी 'र्' और 'ष्' से परे अटों का और कवर्ग, पवर्ग आदि का चाहे अलग-अलग व्यवधान हो अथवा सबका मिलकर व्यवधान, तो भी 'न्' को 'ण्' हो जाता है। इस तरह यह सूत्र 'उभयथेह वाक्यपरिसमाप्तिः' के अनुसार प्रत्येक और समुदाय में लागू या प्रवृत्त होने वाल न्याय है। इस प्रकार लोक में जैसी व्यवस्था देखते हैं वैसा ही शास्त्र में न्याय बन जाता है। यह न्याय अन्यत्र भी अवलोकनीय है।[627]

14. पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् न्याय

"अथवा पुरस्वादपवादाः . . . . . इत्येवमियं विभाषा न बहुव्रीहौ इत्येतं प्रतिषेधं बाधिष्यते द्वन्द्वे चेत्येतं न बाधिष्यते"।[628]

"विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार 'बहुव्रीहि' ग्रहण को अनावश्यक सिद्ध करते हुए कहते हैं कि इस सूत्र में 'बहुव्रीहि' ग्रहण व्यर्थ है। क्योंकि द्वन्द्वसमास में तो इस 'विभाषा' की प्रवृत्ति "द्वन्द्वे च"[629] इस नित्य निषेध के कारण नहीं होगी। यहां यह कहना कि 'बहुव्रीहि' ग्रहण के अभाव में फिर इस 'विभाषा' की अतिव्याप्ति होकर यह "द्वन्द्वे च" इस को भी बाध लेगी तो ठीक नहीं। क्योंकि जैसे लोक में आम के वृक्ष पर बैठा भूखा व्यक्ति पास और दूर विद्यमान सभी प्रकार के पके आम होने पर भी वह "प्रथमातिक्रमे कारणाभावः" न्याय से अपने सामने लगे

अव्यवहित आमों को खाने का ही यत्न करता है, व्यवहित या दूर वालों को नहीं। क्योंकि उनमें अधिक आयास अपेक्षित होता है। वैसे ही यहां शास्त्र में भी पूर्व में आया हुआ अपवाद अव्यवहित विधि को ही बाधता है, उत्तरविधि को नहीं। फलतः यह 'विभाषा' भी "न बहुव्रीहौ"[630] इस अव्यवहित निषेध को ही बाधेगा, "द्वन्द्वे च" इस व्यवहित निषेध को नहीं।

भाव यह है कि बाधक शास्त्र के द्वारा जब एक बार प्रथमोपस्थित शास्त्र की बाधा हो गई, वह चरितार्थ हो गया। ऐसी स्थिति में व्यवहित शास्त्र को निराकांक्ष होने से फिर वह नहीं बाध सकता अर्थात् "विप्रतिषेध" सूत्र को बाधकर प्रवृत्त होने में कोई प्रमाण नहीं हैं। इसीलिए पूर्वपठित "एत्येधत्यूठ्सु"[631] सूत्रप्रोक्त वृद्धि अपने अनन्तर "एङि पररूपम्"[632] सूत्रप्रोक्त पररूप को ही बाधेगी, व्यवहित "ओमाङोश्च"[633] सूत्रप्रोक्त पररूप को नहीं। फलतः 'अवेहि' में वृद्धि न होकर "ओमाङोश्च" से पररूप ही होता है।

15. तक्रकौण्डिन्य न्याय

"नैवेश्वर आज्ञापयति नापि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति - अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्तामिति। किन्तर्हि ? लौकिकोऽयं दृष्टान्तः। लोके हि सत्यपि संभवे बाधनं भवति। तद् यथा - दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय इति। सत्यपि सभवे दधिदानस्य तक्रदानं निवर्तकं भवति। एवमिहापि सत्यपि संभवेऽचामन्त्यात्परत्वं षष्ठीस्थाने योगत्वं बाधिष्यते"।[634]

"मिदचोऽन्त्यात्परः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं कि न तो ईश्वर आज्ञा देते हैं और न धर्मसूत्रकर ही ऐसा पढ़ते हैं कि अपवादों से उत्सर्गों की बाधा होती है।[635] यह तो लोकप्रसिद्ध न्याय है कि लोक में संभव होने पर भी बाधा होती है। असंभव में ही बाधा होती है - यह तो वार्तिककार स्वीकार करते हैं। किन्तु भाष्यकार उनसे आगे बढ़कर कहते हैं कि संभव में भी बाधा होती है। जैसे किसी ने कहा कि सब ब्राह्मणों को दही दे दो और कौण्डिन्य को तक्र (लस्सी) दे दो। यहां सब ब्राह्मणों में कौण्डिन्य भी आ गया। क्योंकि वह ब्राह्मण है और उसको तक्रदान के साथ दधिदान संभव भी है। फिर भी तक्रदान के विशेष कथन से सामान्य कथन दधिदान की बाधा हो जाती है। फलतः कौण्डिन्य को तक्र ही दिया जाता है, दही नहीं।[636]

इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी 'पयांसि', 'यशांसि' में होने वाला "नपुंसकस्य झलचः"[637] से नुमागम 'पयस्', 'यशस्' के अन्तिम अच् से परे भी होना संभव है और "अलोऽन्त्यस्य"[638] के नियम से अन्तिम अक्षर सकार के स्थान में भी होना संभव है। किन्तु सम्भव होने पर भी यह नुमागम प्रकृत लोकन्याय के आधर पर "मिदचोऽन्त्यात्परः" के नियम स अन्तिम अक्षर को बाधकर अन्तिम अच् से परे ही

होता है। ध्यातव्य है कि 'कुण्डानि' में तो कुण्ड शब्द के अन्तिम अच् से परे तथा अन्तिम अक्षर के स्थान में एक साथ 'नुम्' होना असम्भव है। इसलिए वहां तो असंभव होने से "अलोऽन्त्यस्य" को बाधकर "मिदचोऽन्त्यात्परः" इस नियम की ही प्रवृत्ति होती है।

इसी प्रकार "अजादेर्द्वितीयस्य"[639] सूत्र के भाष्य में भी उक्त न्याय प्रयुक्त हुआ है। वहां इसको उपन्यस्त करने का तात्पर्य यही है कि 'अटिटिषति' इत्यादि में प्रथम एकाच् का द्वित्व सम्भव होने पर भी द्वितीय एकाच को विधीयमान द्वित्व बाध लेता है। इसलिए यहां 'टिस्' शब्द को द्वित्व होता है, 'अट्' शब्द को नहीं। इसी प्रकार नपुंसकस्य झलचः"[640] सूत्र के भाष्य में भी इस न्याय का उपन्यास इसलिए किया गया है कि 'गोमन्ति ब्राह्मणकुलानि' 'श्रेयांसि' 'भूयांसि' इत्यादि नपुंसकलिङ्गों के प्रयोगों में जहां गोमत्, प्रेयस, भूयस् इत्यादि शब्दों के झलन्त और उगित् होने से उपर्युक्त सूत्र से झल्लक्षण नुमागम होता है वहां साथ ही "उगिचां सर्वनामस्थानेऽधातोः"[641] सूत्र से उगिल्लक्षण नुमागम भी प्राप्त होता है। इस तरह उक्त दोनों कार्यों का यहां सम्भव है। किन्तु प्रकृत तक्रकौण्डिन्य न्याय से झल्लक्षण नुमागम उगिल्लक्षण नुमागम को बाध लेगा तो उगिल्लक्षण 'नुम्' न होकर केवल झल्लक्षण 'नुम्' ही हो जाता है। इससे 'गोमन्ति', 'श्रेयांसि' इत्यादि इष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं। वैसे भाष्यकार ने अपनी विशेष वाचोयुक्ति द्वारा दोनों सूत्रों से 'नुम्' करने पर भी उक्त रूपों की सिद्धि कर दी है किन्तु फिर भी लोकन्याय को प्रबल मानते हुए झल्लक्षण 'नुम्' करना ही यहां न्याय्य है, उगिल्लक्षण 'नुम्' नहीं। इसी तरह "तद्धितेष्वामादेः"[642] सूत्र के भाष्य में भी उक्त न्याय को उद्धृत करने का अभिप्राय यह है कि जिससे उक्त सूत्रप्रोक्त आदि अच् को वृद्धि "अत उपधायाः" और "अचो ञ्णिति"[643] इन दोनों सूत्रों से विहित वृद्धि को बाध लेती है। प्रकृत न्याय सम्बन्धी कुछ विशेष अध्ययन के लिए "निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते" यह न्याय अवश्य द्रष्टव्य है।[644] इस तक्रकौण्डिन्य न्याय का व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों में पर्याप्त विस्तृत व्यापार परिलक्षित होता है।[645] उत्सर्गापवाद के विषय में भाष्यकार अन्यत्र भी कहते हैं–

16. उत्सर्गापवाद न्याय / सामान्यविशेष न्याय

"कथं तर्हि इमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः? किञ्चित् सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्, येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत्? उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः कश्चिदपवादः .... सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्य, तद्यथा - कर्मण्यण्। तस्य विशेषेणापवादः, तद्यथा- आतोऽनुपसर्गे क इति"।[646]

पस्पशाह्निक में भाष्यकार पूछते हैं कि जब यह निश्चित हो गया है कि शब्दोपदेश, अपशब्दोपदेश तथा उभयोपदेश में इष्ट एवं लघु होने से शब्दोपदेश ही करणीय है तो वह साधु शब्दोपदेश किस विधि से करना चाहिए? उत्तर देते है कि प्रतिपदपाठ

के स्थान पर कुछ सामान्यविशेषयुक्त लाघवपूर्ण सूत्रशैली अपनानी चाहिए जिससे अत्यल्प प्रयत्न द्वारा ही बड़े से बड़े शब्दसागर को सुगमतया हृदयङ्गम किया जा सके। इस सामान्य-विशेष को ही वैयाकरण क्रमशः उत्सर्ग तथा अपवाद नाम से व्यवहृत करते हैं। फलतः कुछ सामान्य सूत्र बना देने चाहिएं तथा कुछ विशेष। सामान्यकार्यविधायक सूत्र को उत्सर्ग कहते हैं, जैसे - "कर्मण्यण्"[647] तथा उसके बाधक विशेषकार्यविधायक सूत्र को अपवाद कहते हैं, जैसे - "आतोऽनुपसर्गे कः"।[648]

भाव यह है कि जैसे भूखों को भोजन दो (सामान्य) और बुखार से पीड़ितों को दूध (विशेष)- ऐसा कहने पर दोनों ही दान लक्ष्यानुसार व्यवस्थित हैं वैसे ही यहां शास्त्र में भी कुम्भकार इत्यादि में "कर्मण्यण्" यह उत्सर्ग 'अण्' प्रत्यय व्यवस्थित है तथा गोदः इत्यादि में "आतोऽपसर्गे कः "यह 'क' प्रत्यय। यह तो सुविदित ही है कि उत्सर्ग सूत्रअपवादविषय को छोड़कर ही प्रवृत्त होता है।[649] क्योंकि अपने विषय में अपवाद अधीनस्थ उत्सर्ग को बाध लेता है। भाव की दृष्टि से इस न्याय की उपर्युक्त तक्रकौण्डिन्य न्याय के साथ तुलना की जा सकती है। यहां यह भी अवश्य उल्लेख्य है कि आचार्य पाणिनि की यह सामान्यविशेषरूप शैली ही थी जिसने संस्कृत में होने वाले अयाचित परिवर्तनों को रोक दिया। अन्यथा किसी भी वैयाकरण के लिए इतने विशाल वाङ्मय को नियन्त्रित कर पाना सम्भव नहीं होता। इसी विषय में अग्रिम लोकन्याय भी पठनीय है-

17. उपसंजनिष्यमाणनिमित्तोऽप्यपवाद उपसंजातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधते न्याय[650]

यह वचन भी लोकव्यवहारमूलक एक व्याकरणशास्त्रीय परिभाषा है। जैसे लोक में बाद में प्रस्थित होने पर भी द्रुतगामी या एक्सप्रैस गाड़ी पहले चल चुकी हुई साधारण गाड़ी को लांघकर आगे बढ़ जाती है अर्थात् साधारण गाड़ी को रोककर स्टेशन पार करने के लिए पहले एक्सप्रैस गाड़ी को स्थान दिया जाता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी जिस विधि के प्रवृत्त होने के निमित्त अभी आगे चलकर उत्पन्न होने हैं, ऐसा अपवाद भी जिस विधि के प्रवृत्त होने में निमित्त अभी से विद्यमान हैं, ऐसे उत्सर्ग को भी बाध लेता है। परिणामतः 'दधति' यहां 'झि' प्रत्यय के अवयव झकार रूप निमित्त को प्राप्त करके भी झोन्तादेश विधायक "झोन्तः"[651] सूत्र अभ्यस्तसंज्ञारूप निमित्त को अभी जिसने प्राप्त नहीं किया है, ऐसे "अदभ्यस्तात्"[652] सूत्र के द्वारा ही बाध लिया जाता है।

वस्तुतः यह न्याय "अपवादैरुत्सर्गा बाध्यन्ताम्" इस नियम को ज्ञापित करता है। इस नियम का पोषक तक्रकौण्डिन्य न्याय पहले व्याख्यात हो चुका है। प्रकृत न्याय को भी उन दृष्टान्तों के आलोक में ही व्याख्यात जान लेना चाहिए। वैसे भाव की दृष्टि से यह न्याय देवदत्तहन्तृहतन्याय तथा अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः के साथ अवश्य तुलनीय है। अपवाद के विषय मे निम्न परिभाषा भी द्रष्टव्य है-

18. "मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्"[653] न्याय

यह शास्त्रीय परिभाषा भी लोकन्यायप्रसिद्ध है। लोक में पङ्क्ति के मध्य में खड़ा हुआ व्यक्ति अपने से आगे की ओर ही देख सकता है, पीछे की ओर नहीं अथवा जैसे भूखे शेर के आगे और पीछे दोनों ओर भक्ष्य जीवों के विद्यमान होने पर भी वह क्षुधाशान्ति के लिए सामने खड़े जन्तुओं को ही खाने का प्रयास करता है, पीछे खड़े जीवों को नहीं वैसे ही यहां शास्त्र मे भी सूत्रों के मध्य में आए हुए अपवादसूत्र पूर्ववर्ती विधियों की ही बाधते हैं, उत्तरवर्ती विधियों को नहीं। तदनुसार जैसे "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्[654]" यह ङीष् विधायक सूत्र है। इसके बाद फिर "नासिकोदरौष्ठजंघदन्तकर्णश्रृङ्गाच्च[655]" यह ङीष्विकल्पविधायक सूत्र है। इसके बाद "सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च"[656] यह सूत्र है। अब यहां इन तीनों सूत्रों के मध्य में जो ङीष् विकल्पविधायक सूत्र है, वह किस निषेध को बाधे—यह शङ्का पैदा होती है। इसका उत्तर प्रकृत परिभाषा से दिया गया है कि यह ङीष्विकल्प अपने से ठीक अव्यवहित पूर्ववर्ती "असंयोगोधात्" इस निषेध को ही बाधेगा, "सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च" इस उत्तरवर्ती को नहीं। फलतः बिम्बोष्ठी और बिम्बोष्ठा आदि अभीष्ट प्रयोग बन जाते हैं। व्याकरणशास्त्र मे यह परिभाषा पर्याप्त प्रयुक्त देखी जाती है।[657] अपवाद और अन्तरङ्ग के विषय में ही अग्रिम न्याय है-

19. अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यते[658] न्याय

प्रकृत परिभाषा का अर्थ है कि अपवाद यदि कहीं अन्यत्र चरितार्थ हो गया हो तो फिर वह अन्तरङ्ग के द्वारा बाधित हो जाता है। वस्तुतः अपवाद को जो बाधक माना जाता है, उसका कारण उसका निरवकाश होना होता है। परन्तु यदि अपवाद कहीं पर चरितार्थ हो जाता है तो फिर उसमें बाधकता का बीज निरवकाशत्व न रहने से वह किसी को नहीं बाध सकता। भाव यह है कि जैसे लोक में किसी साक्षात्कार के प्रसङ्ग में एक तो अन्तरङ्ग (सिफारिशी) व्यक्ति उपस्थित होता है तथा दूसरा उसकी अपेक्षा अधिक योग्यतासम्पन्न (अपवाद) व्यक्ति। अब इन दोनों में यदि दूसरा अधिक योग्यतायुक्त अपवादस्वरूप व्यक्ति अपनी योग्यता के बल पर अन्यत्र स्थान प्राप्त (चरितार्थ) कर लेता है तो फिर उपर्युक्त साक्षात्कार वाले स्थान पर उसकी बाधा हो जाती है और अन्तरङ्ग (सिफारिशी) व्यक्ति रख लिया जाता है। वैसे ही यहां शास्त्र में भी यद्यपि "अकः सवर्णे दीर्घः"[659] सूत्र "आद् गुणः"[660] सूत्र का अपवाद है अतः 'यज्' धातु के लङ् लकार उत्तम पुरुष एकवचन में अ + यज् + अ (शप्) + इ (इट् प्रत्यय) + इन्द्रम्' यहां अयाज् + अ + इ' इस अवस्था में सवर्णदीर्घ के द्वारा "आद् गुणः" की बाधा प्राप्त होती है तथपि श्री + ईशः इत्यादि में चरितार्थ होने से[661] यह अन्तरङ्ग "आद् गुणः" के द्वारा बाध लिया जाता है तो उक्त प्रयोग में पहले गुण एकादेश होकर इष्ट प्रयोग बन जाता है। बाधक या अपवाद के विषय में अगला न्याय भी उपोद्बलक है-

20. "येन नाप्राप्ते यो विधिराभ्यते स तस्य बाधको भवति"[662] न्याय

व्याकरण शास्त्र में "परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः"[663] यह एक परिभाषा है जिसका अर्थ है कि पर, नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद इनमें पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर बलवान् होता है। प्रकृत परिभाषारूप न्याय से यहां इस अपवाद को स्पष्ट किया गया है कि यत्कर्तृक आवश्यकप्राप्ति में जो विधि या सूत्र आरम्भ किया जाता है, वह उसका बाधक होता है अर्थात् उस सामान्यशास्त्र की विशेषशास्त्र से बाधा होती है जिस सामान्यशास्त्र के उद्देश्य में विशेष शास्त्र का उद्देश्य प्रविष्ट रहता है। उदाहरणार्थ जैसे - "आतोऽनुपसर्गे कः"[664] सूत्र के द्वारा "कर्मण्यण्"[665] की बाधा होती है। क्योंकि "कर्मण्यण्" के व्यापक उद्देश्य में "आतोऽनुपसर्गे कः" का व्याप्य उद्देश्य प्रविष्ट है। फलतः "गोदः" इत्यादि अभीष्ट रूप बनते हैं, "गोदायः" इत्यादि नहीं। इस न्याय के निगूढ भाव को ही पूर्वोक्त तक्रकौण्डिन्य न्याय से भी व्यक्त किया जाता है।[666] इस न्याय का भी व्याकरणशास्त्र में पर्याप्त प्रयोग मिलता है।[667]

21. तप्तभ्राष्ट प्रक्षिप्त तिल न्याय

"स्थानेऽन्तरतमनिर्वर्तके सर्वस्थानिनां निवृत्तिः प्राप्नोति - - - अपि चेष्टाव्यवस्था न प्रकल्पेत। तद् यथा तप्ते भ्राष्ट्रे तिलाः प्रक्षिप्ताः मुहुर्तमपि नावतिष्ठन्ते। एवमिमे वर्णा मुहुर्तमपि नावतिष्ठरेन्।"[668]

"स्थानेऽन्तरतमः" सूत्रभाष्य में इस सूत्र को निर्वर्तक मानने पर दोष उपन्यस्त करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि ऐसा होने पर तो फिर एक के बाद एक आदेश होते चले जाएंगे। फलतः वर्णों की इष्ट व्यवस्था एवं स्थिरता नहीं बन सकेगी, जैसे तपे हुए भाड़ में डाले गए तिल मुर्हुतभर भी स्थिर नहीं रह सकते। सब जलकर भस्म या खाक हो जाते हैं ऐसे ही बिना किसी प्रयोजन के इस सूत्र की प्रवृत्ति मानने पर तो लगातार आदेश पर आदेश होते चले जाएंगे। इस अवस्था में दधि, मधु शब्दों को भी आदेश प्राप्त होते हैं। परिणामतः ये वर्ण क्षणभर भी स्थिर नहीं रह सकेंगे।[669] भाष्यकार का यहां यह आशय है कि यदि "स्थानेऽन्तरतमः" इस सूत्र को स्वतन्त्र रूप से अन्तरतम आदेश का विधायक माना जाएगा तो उक्त दोष उपस्थित होगा। उसके लिए यह लोकप्रसिद्ध अतितप्त भाड़ में पड़े तिलों के विनाश का उदाहरण दिया है। दर्शनशास्त्रों में उक्त तप्तभ्राष्ट्रप्रक्षिप्ततिल न्याय की व्याख्या अन्य प्रकार से की जाती है। उनका कहना है कि जैसे तपे हुए भाड़ में तिल डालने पर वे क्षणभर भी नहीं ठहरते हैं अपितु जल जाते हैं वैसे ही विषयवासना की अग्नि में मनुष्य की सद्वृत्ति जल जाती है। इस प्रसङ्ग में अगला लोकन्याय भी दर्शनीय है:-

22. भुक्तवन्तं प्रति मा भुक्थाः न्याय / भुक्तभोजननिषेध न्याय

"स्थानेन्तरतम इति, अस्तु तर्हि प्रतिपादकम् . . . . . अनर्थकं च। अनर्थकमेतत् स्यात्। यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान् मा भुक्था इति किं तेन कृतं स्यात्।"[670]

"स्थानेऽन्तरतमः" सूत्रभाष्य में इस सूत्र को प्रतिपादक मानने पर भी दोष देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जब सभी जगह आदेश हो जांएगे तो अन्तरतम या अनन्तरतम का प्रश्न ही नहीं रहेगा। ऐसी अवस्था में यह "स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र अनर्थक हो जाएगा। क्योंकि हम लोक में देखते हैं कि जो किसी के भोजन कर चुकने पर यह कहे कि तू भोजन मत करना– यह उसका कहना व्यर्थ होता है। क्योंकि वह तो भोजन कर चुका है। अब उसके निषेध करने से क्या प्रयोजन गतार्थ होता है।[671] भुक्तभोजननिषेध या भुक्तवन्तं प्रति मा भुक्थाः यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[672]

23. अवयवग्रहण न्याय / माषभोजननिषेध न्याय

"अवयवग्रहणात् सिद्धम्। यदत्र ऋवर्णं तदाश्रयं रपरत्वं भविष्यति, तद् यथा- माषा न भोक्तव्या इत्युक्ते मिश्रा अपि न भुज्यन्ते"।[673]

"उरण् रपरः" सूत्र के भाष्य में "एकादेशस्योपसंख्यानम्" इस वार्तिक का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह जो "खट्वर्श्यः" इत्यादि में ऋकारस्थानिक गुण आदि एकादेश को प्रकृत वार्तिक से रपर का उपसंख्यान किया गया है, वह व्यर्थ है। क्योंकि उक्त अभीष्ट रूप तो यहां अवयवगहण न्याय से ही सिद्ध हो जाएगा। यह बात ठीक है कि मालर्श्यः इत्यादि में जो गुण एकादेश हुआ है, वह अकेले ऋकार के स्थान में ही नहीं हुआ है अपितु ऋकार और आकार दोनों के स्थान में एकादेश हुआ है, जबकि रपर केवल ऋकारस्थानिक अण् को ही होगा तथापि इस मिश्रित एकादेश का एक अवयव रूप जो ऋकार है, उसको आधार मानकर ही यहां रपर सिद्ध हो जाता है, जैसे लोक में उड़द नहीं खाने चाहिएं- ऐसा कहने पर जिस प्रकार केवल या अकेले उड़द नही खाए जाते उसी प्रकार किसी अन्य पदार्थ के साथ मिले हुए उड़द भी नहीं खाए जाते अर्थात् उड़दभक्षण एकाकी या मिश्रित सर्वथा निषिद्ध समझा जाता है[674] वैसे ही यहां शास्त्र में भी यह रपर जैसे अकेले ऋकारस्थानिक अण् को होता है वैसे ही मिश्रित एकादेश के स्थानी या एक अवयव रूप ऋकार के स्थान में भी सिद्ध हो जाएगा तो उक्त उपसंख्यान अनावश्यक हो जाता है।

24. अन्येन चान्यस्य विधिर्भवति न्याय/अन्यप्रतिविधान न्याय

"येनेति करण एषा तृतीया। अन्येन चान्यस्य विधिर्भवति। तद् यथा 'देवदत्तस्य समाशं शरावैरोदनेन च यज्ञदत्तः प्रतिविधत्ते। तथा संग्रामं हस्त्यश्वरथपदातिभिः। एवमिहाप्यचा धातोर्यतं विधत्ते। अकारेण प्रतिपदिकस्य इञं विधत्ते।"[675]

"येन विधिस्तदन्तस्य" इस सूत्र के भाष्य में "प्रकृते तदन्तविधिः" इस प्रकार के नूतन न्यास का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि "प्रकृते तदन्तविधिः" ऐसा नूतन न्यास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। "येन विधिस्तदन्तस्य" इस यथास्थित सूत्र से ही काम चल जाएगा। क्योंकि 'येन' यह करण में तृतीया है। करण का अर्थ साधन या विशेषण है। जिस विशेषण से जो विधि की गई है, वह तदन्त

को होती है अर्थात् वह शब्दस्वरूप है अन्त में जिसके उसको कार्य होता है, जैसे लोक में देवदत्त के सहभोज कार्य को यज्ञदत्त शकोरे आदि पात्रों तथा ओदन आदि भोज्य पदार्थों से तैयार करता है। अन्य से अन्य का कार्य होता है। यदि देवदत्त के सहभोज कार्य में यज्ञदत्त सहयोग न दे तो देवदत्त का कन्याविवाहसंस्कार में किया हुआ परिश्रम सम्पन्न न हो सके। विवाहादि में एक दूसरे की सहायता लोग करते ही हैं। इसी तरह यदि देवदत्त को किसी शत्रु से युद्ध करना है तो उसकी सहायता के लिए यज्ञदत्त अपने हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल योद्धाओं को उपस्थित करता ही है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी "अचो यत्"[676] कहकर, अच् को साधन बनाकर, धातु से 'यत्' प्रत्यय का विधान किया जाता हैं। "अत इञ्"[677] द्वारा अकार को साधन बनाकर प्रातिपदिक से 'इञ्' प्रत्यय का विधान किया जाता है। 'येन' शब्द यहां विशेषण को सूचित करता है। विशेषण में तदन्तविधि होती है- यह इस सूत्र का अर्थ है। "अचो यत्' में 'अचः', 'एरच्'[678] में 'एः' तथा "इको झल्"[679] में 'इकः' ये सब धातु आदि के विशेषण हैं। इसलिए इनमें तदन्तविधि होकर, अजन्त, इवर्णान्त, इगन्त इत्यादि अर्थ क्रमशः बन जाते हैं। "इको यणचि"[680] में 'इकः' किसी का विशेषण नहीं है। अतः वहां तदन्तविधि नहीं होती। 'येन विधिः' तो तदन्त को होती है और 'यस्मिन् विधिः' तदादि को होती है। इसी सूत्र पर 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' यह परिभाषा पढ़ी गई है। ये दोनों परिभाषासूत्र या संज्ञासूत्र समझे जाते हैं।

25. न हि भुक्तवान् पुनर्भुङ्क्ते न्याय / भुक्तभोजन न्याय/अदग्धदहन न्याय / अग्निवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय

26. पर्जन्यवर्षण (पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः) न्याय

"न हि दीर्घाणां दीर्घाः प्राप्नुवन्ति। किं कारणम्? न हि भुक्तवान् पुनर्भुङ्क्ते। कृतश्मश्रुश्च पुनः श्मश्रूणि कारयति। ननु च पुनः प्रवृत्तिरपि दृष्टा। भुक्तवानपि पुनर्भुङ्क्ते। कृतश्मश्रुश्च पुनः श्मश्रूणि कारयति। सामर्थ्याद्धि पुनः प्रवृत्तिर्भवति - भोजनविशेषात् शिल्पिविशेषाद्वा। दीर्घाणां पुनर्दीर्घवचने न किंचित् प्रयोजनमस्ति। अकृतकारि खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवत्। तद्यथा पर्जन्यो यावदूनं पूर्णं च सर्वमभिवर्षति"।[681]

"इको झल्" सूत्र के भाष्य में 'इकः' ग्रहण के प्रयोजन पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जो इगन्त धातु पहले से ही दीर्घ हैं, उन्हें दीर्घ नहीं प्राप्त होगा, जैसे– निनीषति यहां 'नी' धातु के दीर्घ होने के कारण फिर दीर्घ करना अनावश्यक है। 'चिचीषति' इत्यादि में तो 'चि' धातु के ह्रस्व होने से उसे "अज्झनगमां सनि"[682] से दीर्घ करना युक्त है। किन्तु दीर्घ को दीर्घ करना अनावश्यक है, जैसे लोक में देखा जाता है कि जो अभी भोजन कर चुका है, वह उसी समय फिर भोजन नहीं करता।[683] इसी प्रकार जो दाढ़ी-मूंछ मुंडवा चुका है, वह उसी समय, अनावश्यक होने

से, दाढ़ी-मुंछ नहीं मुंडवाता। यदि यह कहा जाए कि भोजन किया हुआ भी मनुष्य दोबारा भोजन कर लेता है, इसी तरह दाढ़ी-मूंछ मुंडवाया हुआ भी फिर दाढ़ी-मूंछ मुंडवा लेता है तो इसका उत्तर यह है कि वहां किसी सामर्थ्य के कारण पुनः प्रवृत्ति होती है अर्थात् वहां या तो पहले किए हुए भोजन से बढ़िया भोजन मिल जाता है तो व्यक्ति दोबारा भोजन कर लेता है या पहले दाढ़ी-मुंछ मुंडवाने पर भी अच्छे राजनापित आदि को देखकर मुख के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए दोबारा दाढ़ी-मूंछ मुंडवा लेता है। किन्तु यहां शास्त्र में तो दीर्घों को दोबारा दीर्घविधान करने में कोई सामर्थ्य या प्रयोजन नहीं दिखाई देता। हां, यदि पुनर्विधीयमान दीर्घ पूर्वदीर्घ से कुछ विलक्षण दीर्घतर या दीघतम हो तब तो उक्त सूत्र से दीर्घविधान विधान उचित है, अन्यथा व्यर्थ ही होगा।[684] परन्तु वैसा सम्भव नहीं है।

वैसे भी शास्त्र अकृतकारी होता है अर्थात् जो काम अब तक नहीं किया गया है, उसे करने वाला होता है, जैसे अग्नि उसे ही जलाती है, जो अभी तक या पहले से जला हुआ नहीं है। पहले से जले हुए को अग्नि क्या जलाएगी? इसी प्रकार 'निनीषति' में भी पहले से ही दीर्घ 'नी' को "अज्झनगमां सनि" से दीर्घ करने का क्या प्रयोजन है? 'चिचीषति' में तो ह्रस्व 'चि' को दीर्घ करना युक्तियुक्त है। क्योंकि वहां पहले से दीर्घ नहीं है। अतः उसे दीर्घ करना आवश्यक है।

इस पर 'इक्' ग्रहण का खण्डन करने वाला कहता है कि दीर्घ को भी दीर्घ करने का प्रयोजन यह है कि कहीं गुण न हो जाए। क्योंकि 'निनीषति' में दीर्घ 'नी' को 'सन्' परे रहते सार्वधातुकगुण प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए यह पुनः दीर्घविधान हो जाएगा। दोबारा दीर्घ करने से फिर गुण का निषेध समझा जाएगा कि यहां दीर्घ ही रहे, अन्य गुणादि कार्य न हों। परन्तु शास्त्र जैसे अकृतकारी होता है वैसे ही कृतकारी भी होता है अर्थात् किए हुए में भी शास्त्र कार्य किया करता है, जैसे बादल बिना भेदभाव या भेदबुद्धि के सब जगह बरसता है। जो स्थल न्यून हैं, जहां आवश्यकता है, वहां भी और जो पूर्ण हैं, जल से पहले ही भरे हैं, वहां भी बादल बरसता है। उसी प्रकार शास्त्र में भी होता है अर्थात् पहले से दीर्घ में भी दोबारा दीर्घ का विधान कर देता है। फिर उस दोबारा दीर्घविधान के सामर्थ्य से 'निनीषति' में गुण की बाधा हो जाएगी। इसलिए गुण की निवृत्ति के लिए 'इको झल्' से 'सन्' को कित्त्व करना व्यर्थ है। वैसे आगे चलकर भाष्यकार ने कित्त्व का प्रयोजन णिलोप बताकर "इको झल्" सूत्र को स्वीकार कर लिया है। इस पर्जन्यवर्षणविषयक न्याय के विषय में अन्यत्र कहा भी है-

"पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ॥"[685]

बादल की उक्त कृतकारी प्रवृत्ति के कारण ही यह पर्जन्यवर्षण न्याय समदर्शी

के प्रसङ्ग में भी उद्धृत हो सकता है। इससे पूर्ववर्ती अग्निविषयक न्याय को अकृतकारी प्रवृत्ति वाला होने के कारण अदग्धदहन न्याय के नाम से कहा जाता है। प्रस्तुत दोनों न्याय व्याकरणशास्त्र में पर्याप्त उल्लिखित हुए हैं।[686] शास्त्र या लक्षण की प्रवृत्ति की दिशा को स्पष्ट करने में 'गोवत्सन्याय' भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है, तद्यथा-

27. गोवत्सवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय

"वत्सवत् प्रवृत्त्या कार्यमिह शास्त्रे सम्भवतीति भावः। गविस्थितदुग्धशेषपयसो ग्रहणाय यथा वत्सः प्रवर्तते तद्वदिति तात्पर्यम्।[687]

यह न्याय "शदेःशितः" सूत्र के भाष्य में प्रदीपकार ने "ननु च ऋच्छिभावे कृते शब्दान्तरस्याऽकृत आडिति कृत्वा पुनराड् भविष्यति, पुनर्ऋच्छिभावः पुनराडिति चक्रकमव्यवस्था प्राप्नोति" इस कथन की व्याख्या के प्रसङ्ग में लिखा है और उद्द्योतकार भी इसी को पुष्ट करते हैं। न्याय का अर्थ है कि जैसे गौ का बछड़ा गोदोहन से पूर्व गौ को पौंसाने के लिए दुग्धपान में प्रवृत्त होता है किन्तु थनों में दूध आने के बाद स्वामी के द्वारा बांध दिया जाता है। इसके बाद स्वामी के द्वारा दूध निकालकार अवशिष्ट दूध को पीने के लिए उसे पुनः छोड़ दिया जाता है। और इस तरह वह वत्स गौ में स्थित शेष दूध को पीने के लिए यहां तक प्रयत्न करता है कि जो भी बाकी दूध गौ में बचा है, उसे भी पीना चाहता है। इसी प्रकार शास्त्रीय कार्य भी वैसे ही होते हैं। तदनुसार 'उपार्च्छत्' में 'ऋ' धातु को 'ऋच्छ्' आदेश करने पर, क्योंकि अभी उसे 'आट्' का आगम नहीं हुआ है, इसलिए 'आट्' हो जाएगा और उसे फिर 'ऋच्छ्' आदेश हो जाएगा। उसके भी शब्दान्तर होने पर फिर 'आट्' हो जाना चाहिए। इस प्रकार चक्रक या अव्यवस्थादोष प्राप्त होता है। इसी के सम्बन्ध यह गोवत्स का दृष्टान्त दिया है। यद्यपि यह न्याय अनित्य है फिर भी शास्त्र में तो नित्य-अनित्य सभी बातों का विचार करना होता है। क्या ठीक है और क्या नहीं ठीक है– इसका निर्णय तो पूर्ण विचार के बाद ही होता है। और फिर भी कौन कह सकता है कि यही अन्तिम निर्णय है? जब तक मनुष्य की बुद्धि चिन्तन का काम करती है तब तक चिन्तन चलता ही रहेगा। उसका पर्यवसान कैसे हो सकता है? अत एव ऐसे अलब्धगाध विषयों में अनेकत्र भाष्यकार को भी ऐसा कहना पड़ा है- "किम्पुनरर्थसतत्त्वम्? देवा एव एतद् ज्ञातुमर्हन्ति"[688] यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[689]

28. क्षीरोदकसम्पर्क न्याय / नीरक्षीरमिश्रण न्याय / आमिश्रण न्याय

"आमिश्रीभूतमिवेदं भवति। तद्यथा- क्षीरोदके संपृक्ते आमिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते कियत् क्षीरं कियदुदकम् इति। कस्मिन्नवकाशे क्षीरं कस्मिंश्चोदकमिति। एवमिहाप्यामिश्रीभूतत्वान्न ज्ञायते कियुदुदात्तं कियदनुदात्तम्। कस्मिन्नवकाशे उदात्तं कस्मिंश्चानुदात्तम्। अस्मिन्नवकाशे उदात्तम्, अस्मिन्नवकाशेऽनुदात्तम् इति"।[690]

"तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्" इस सूत्र के भाष्य में सूत्र का प्रयोजन बताते हुए

भाष्यकार कहते हैं कि स्वरित स्वर में उदात्त और अनुदात्त समाहृत होकर ऐसे मिश्रित हो जाते हैं कि फिर दोनों का विभाग करना कठिन हो जाता है, जैसे दूध और जल के आपस में मिल जाने पर फिर यह नहीं ज्ञात होता कि उनमें कितना दूध है तथा कितना पानी है या कितने भाग में कहां पर दूध है ओर कितने भाग में कहां पर पानी है? इसी प्रकार स्वरित में भी उदात्त-अनुदात्त के मिल जाने से यह ज्ञात नहीं होता कि उसमें कितना उदात्त है, कितना अनुदात्त है तथा किस भाग में उदात्त है और किस भाग में अनुदात्त है? इस सन्देह की निवृत्ति के लिए आचार्य पाणिनि अपने **शिष्यों के मित्रभूत होकर** इस सूत्र द्वारा यह अन्वाख्यान करते हैं कि स्वरित में इतना उदात्त है और इतना अनुदात्त है । इस हिस्से में उदात्त है और इस हिस्से में अनुदात्त है। तदनुसार स्वरित के आदि में आधी मात्रा उदात्त है और शेष सब अनुदात्त है। यदि ह्रस्व स्वरित है तो आदि की आधी मात्रा उदात्त होकर शेष सब अनुदात्त है। दीर्घ स्वरित में आदि से आधी मात्रा उदात्त और शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त होती है। उसी प्रकार प्लुत स्वरित में आदि से आधी मात्रा उदात्त और शेष ढ़ाई मात्रा अनुदात्त होती है।

यहां अवधेय है कि यह आमिश्रण तीन प्रकार का हो सकता है, तद्यथा- प्रथम प्रकार में दोनों पदार्थों के द्वारा अपने स्वरूप का परित्याग करके एक नए रूप का ग्रहण करना होता है, जैसे लोक में गङ्गोदक या पांसूदक के मिल जाने पर ये दोनों नया अतिरिक्त रूप ले लेते हैं। शास्त्र में भी 'सुरेशः' यहां गुण सन्धि होने पर दोनों मिलने वाले वर्ण नया एकार रूप ग्रहण कर लेते हैं। दूसरे प्रकार में जैसे प्रकृत क्षीरोदक के संपृक्त हो जाने पर एक के द्वारा दूसरे का रूप ले लिया जाता है। फलतः उदक भी क्षीर के ग्रहण से ही गृहीत होता है। शास्त्र में भी 'हरेऽव' यहां अकार **पूर्वरूप** वाला तथा **'शिवेहि'** यहां अकार पररूप वाला देखा जाता है। तीसरे प्रकार में जैसे- **तैलोदक** मिल जाने पर भी ये दोनों अपने-अपने स्वरूप का त्याग न करके स्वतन्त्रतया ही गृहीत होते हैं ऐसे ही शास्त्र में भी 'हरी एतौ' 'गङ्गे अमू' इत्यादि में दोनों वर्ण **प्रकृतिभाव** से रहते हैं। अपने रूप का परित्याग नहीं करते।

इसी लोकन्याय को 'क्षीरनीरन्याय' या नीरक्षीरन्याय अथवा क्षीरोदकसंपृक्तन्याय' भी कहा जाता है जोकि साहित्य में प्रयुक्त सङ्कर अलङ्कार का प्रतीक है। इससे विपरीत न्याय 'तिलतण्डुल न्याय' होता है जोकि संसृष्टि अलंकार का सूचक है। इस विषय में अलङ्कारसर्वस्वकार कहते हैं- "एषामलङ्काराणां तिलतुण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः ..... क्षीरनीरन्यायेन तु सङ्करः"। सरस्वतीकण्ठाभरणकार भोजराज (पृ. 262) तथा कुवलयानन्दकार (पृ. 337) ने भी इस न्याय को उद्धृत किया है। परन्तु ध्यान रहे कि इनमें कुवलयानन्दकार ने नरसिंह न्याय के आधार पर अलंकारों के एक तीसरे प्रकार को भी स्वीकार किया है।

इसी प्रकार **"सन्यङोः"** सूत्र के भाष्य[691] में भी **'स्थाने द्विर्वचन'** पक्ष में प्रकृति-प्रत्यय

का सांकर्य उपस्थित होगा- यह बताने के लिए भाष्यकार ने इस क्षीरोदकसंपृक्त न्याय के दृष्टान्त को उद्धृत किया है। इसी प्रकार "अन्तादिवच्च" सूत्रभाष्य[692] में भी इस सूत्र का प्रयोजन बताते हुए भाष्यकार उक्त लोकन्याय को प्रस्तुत करते हैं कि जिस प्रकार दूध और पानी मिले हुए न तो दूध ही कहे जा सकते हैं और न पानी ही इसी प्रकार **पूर्व-पर** के स्थान में हुआ **एकादेश** न तो पूर्व ही कहा जा सकता है और न पर ही। अतः "अन्तादिवच्च" सूत्र के बनाने से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि पूर्व के कार्य के प्रति एकादेश अन्तवत् होता है और पर के कार्य के प्रति आदिवत् होता है - इसलिए यह सूत्र बनाया गया है। "उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्" इस परिभाषा के नियम से एक साथ तो अन्तवद्भाव तथा आदिभाव नहीं होते अपितु जब पूर्व का कार्य करना हो तब एकादेश अन्तवत् हो जाता है और जब पर का कार्य करना हो तो एकादेश आदिवत् हो जाता है। प्रस्तुत "आमिश्रीभूत नीरक्षीर न्याय/क्षीरोदकसंपृक्त न्याय" व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[693]

29. पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय/(स्थालीपुलाक) न्याय

"पर्याप्तं करणाधिकरणयोः कर्तृत्वं निदर्शितमपादानादीनां कर्तृत्वनिदर्शनाय। पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय"।[694]

"कारके" सूत्र के भाष्य में यह कहा गया ह। कि सभी कारक अपने अपने व्यापार में स्वतन्त्र होने के कारण कर्ता हो सकते हैं। 'एधाः पक्ष्यन्ति' (आविक्लित्तेर्ज्वलिष्यन्तीति ज्वलनक्रिया करणस्य पाकः। द्रोणं पचति, आढकं पचतीति संभवनक्रिया धारणक्रिया चाधिकरणस्य पाकः) अर्थात् लकड़ियां पकाएंगी, तण्डुल के विक्लेदन तक जलती रहेंगी। यह जलने की क्रिया करणकारकभूत लकड़ियों में स्वतन्त्ररूप से विवक्षित होने पर एध (लकड़ियां) कर्त्ता बन जाती हैं। स्थाली या पतीली जिसमें तण्डुल पकाने के लिए रखे हैं, वह अधिकरण होती हुई भी जब द्रोण या आढ़क परिमाण के तण्डुल पकाने का उसमें सम्भव है तब सम्भवनक्रिया और तण्डुलधारणक्रिया को करने में स्वतन्त्र होने से वह कर्त्ता बन जाती है। इसी प्रकार 'ग्रामादागच्छति' यहां अपादान में भी अवधि रूप से अवस्थित होने का व्यापार करने में स्वतन्त्र होने से ग्राम भी कर्त्ता बन जाता है। 'उपाध्यायाय गां ददाति' यहां सम्प्रदान में भी उपाध्याय अपनी अनुमति देने आदि व्यापार में स्वतन्त्र होने से कर्त्ता बन सकता है।

वास्तविक बात तो यह है कि अपादान और सम्प्रदान इन दोनों में शब्दशक्ति स्वभाव से धातुवाच्य क्रिया का साक्षात् व्यापार या वृत्ति नहीं होती। 'ग्रामादागच्छति' की जगह 'ग्राम आगच्छति' नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वैसा करने पर अपादानत्व की प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार 'उपाध्यायाय गां ददाति' यहां भी "उपाध्यायः गां ददाति" कहने पर सम्प्रदानत्व की प्रतीति सर्वथा नहीं होती। इसीलिए वार्तिककार ने प्रकृत सूत्र के भाष्य में 'अपादानादीनां त्वप्रसिद्धिः' ऐसा कहकर उनके कर्तृत्व पर

शङ्का की है किन्तु भाष्यकार ने सभी कारकों में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य की विवक्षा[695] मानकर स्वतन्त्र अवस्था में कर्तृत्व सिद्ध किया है।[696]

भाष्यकार यही बात यहां कह रहे हैं कि आपने करण और अधिकरण का पर्याप्त कर्तृत्व दिखाया है, उससे अपादानादि का भी कर्तृत्व देखा जा सकता है। क्योंकि स्थाली (पतीली) में पक रहे चावलों में एक पुलाक (चावल का दाना) पका हुआ देखकर सारी स्थाली पक चुकी है या नहीं– इसको समझने में वह पुलाक ही पर्याप्त है अर्थात् एक दाना पका हुआ देखकर ही समझ लिया जाता है कि सब चावल पक चुके हैं या नहीं- यह लोकन्याय उक्त बात को समझने में अत्युपयुक्त है। हेमचन्द्र ने इसी न्याय को शब्दान्तर से यों कहा है-

''सिक्थेनापि द्रोणपाकं जानन्ति हि मनीषिणः''[697]

अन्य शास्त्रों में भी इसका प्रयोग पाया जाता है।[698] कारकों के प्रसङ्ग में 'राजामात्य (स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य) न्याय' भी द्रष्टव्य है, तद्यथा-

30. राजामात्य (स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्य) न्याय

''एवं तर्हि प्रधानेन समवाये स्थाली परतन्त्रा। व्यवाये स्वतन्त्रा। तद्यथा- अमात्यादीनां राज्ञा सह समवाये पारतन्त्र्यम्। व्यवाये स्वातन्त्र्यम्। किं पुनः प्रधानम्? कर्ता। कथं पुनर्ज्ञायते कर्ता प्रधानमिति? यत्सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्त्ता प्रवर्तयिता भवति। ननु च भोः प्रधानेनापि समवाये स्थाल्या अनेनार्थोऽधिकरणं कारकमिति। न हि कारकमित्यनेनाधिकरणत्वमुक्तम्। अधिकरणमिति वा कारकत्वम्। उभौ चान्योन्यविशेषकौ भवतः। कथम्? एकद्रव्यसमवायित्वात्। तद् यथा- गार्ग्यो देवदत्त इति। न हि गार्ग्य इत्यनेन देवदत्तत्वमुक्तम्। देवदत्त इत्यनेन वा गार्ग्यत्वम्। उभौ चान्योन्यविशेषकौ भवतः। एकद्रव्यसमवायित्वात्।[699]

''कारके'' सूत्र के भाष्य में कह चुके हैं कि कारक शब्द 'करोतीति कारकत्वम्' इस अन्वर्थ संज्ञा से स्वव्यापार में जो स्वतन्त्र है, उसका अभिधायक है वह कर्ता ही हो सकता है। स्थाल्यां पचति' में प्रधान कर्ता का व्यापार तो स्वतन्त्र है किन्तु इसके साथ विवक्षा में स्थाली का व्यापार परतन्त्र है। यदि स्थाली का व्यापार स्वतन्त्र रूप से विवक्षित हो तो वह सदा स्वतन्त्र होने से फिर कर्ता ही बनी रहेगी। अधिकरण कब बनेगी? सम्प्रति इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि प्रधान के साथ व्यापार की विवक्षा में स्थाली परतन्त्र होने से अधिकरण बन जाएगी। प्रधान के व्यापार की अविवक्षा में स्थाली स्वतन्त्र होकर कर्ता भी बन जाएगी, जैसे राजा के साथ बैठने पर मन्त्री आदि परतन्त्र होते हैं और राजा के अभाव में स्वतन्त्र होते हैं। अब पूछते हैं कि प्रधान क्या है ? कर्ता। कैसे जानें कि कर्ता प्रधान होता है ? यह ऐसे जानें कि अन्य सब साधनों के सन्निहित होने पर भी कर्ता ही प्रवर्तक होता है।[700]

यदि यह कहा जाए कि प्रधान कर्ता के साथ विवक्षा में स्थाली को हम अधिकरण कारक कहना चाहते है, वह कैसे बनेगा? क्योंकि कारक शब्द से प्रधान कर्ता का व्यापार ही प्रतीत होता है, अप्रधान स्थाली रूप अधिकरण का व्यापार प्रतीत नहीं होता। ''करोतीति कारकम्'' इस अन्वर्थ संज्ञा से भी कारक शब्द कर्ता को कहता है, अधिकरण को नहीं। कारक और अधिकरण ये दोनों एकदूसरे के समकक्ष विरोधी हैं। एक स्वातन्त्र्य का अभिधान करता है, दूसरा पारतन्त्र्य का। दोनों के विरोधी होने से परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव भी नहीं बनेगा। स्थालीरूप एक द्रव्य में समवेत होकर अधिकरण कारक नहीं कहलाएगा, जैसे लोक में 'गार्ग्यो देवदत्तः (गर्गगोत्रोत्पन्न देवदत्त) इन दोनों में विशेषण-विशेष्यभाव नहीं बनता। क्योंकि दोनों ही एक दूसरे के विशेषक हैं। दोनों ही समकक्ष हैं और देवदत्त नामक एक व्यक्ति में समवेत हैं। गार्ग्यत्व अलग है, देवदत्त अलग है। गार्ग्य से गार्ग्यत्व का तथा देवदत्त से देवदत्तत्व का अभिधान होता है।

इस आक्षेप का समाधान आगे भाष्यकार ने किया है कि- ''सामान्यभूता क्रिया वर्तते। तस्या निर्वर्तकं कारकम्'' अर्थात् सबका साध्यभूत सामान्य किया का निर्वर्तक होने से ये कारक कहलाते हैं। अपने-अपने अवान्तर व्यापारविशेषों को लेकर ये करण, अधिकरण आदि भी कहे जाते हैं। सामान्यभूत क्रिया के आधार पर अधिकरण भी कारक कहलाएगा। उससे ''स्थाल्यां पचति'' में प्रधान कर्ता के व्यापार की सहविवक्षा में अधिकरण की भी कारकता बन जाएगी। कारकों को लेकर ही भाष्यकार आगे भी कहते हैं-

31. बौद्धापाय (धर्माधर्म) न्याय

''इह तावदधर्माज्जुगुप्सते, अधर्माद् बीभत्सते इति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति, स पश्यति दुःखोऽधर्मो नानेन कृत्यमस्तीति। स बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते। तत्र 'ध्रुवपायेऽपादानम्' इत्येव सिद्धम्। इह च धर्माद्विरमति, धर्मान्निवर्तते इति, धर्मात् प्रमाद्यति, धर्मान् मुह्यतीति। य एष मनुष्यः संभिन्नबुद्धिर्भवति। स बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते। तत्र 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्येव सिद्धम्। इह च सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः इति, यस्तैः साम्यं गतवान् भवति स एतत् प्रयुङ्क्ते''।[701]

यहां भाष्यकार ने एक बड़ा रोचक और गम्भीर प्रश्न उठाकर उसका उत्तर दिया है। तदनुसार अलग होने में पञ्चमी विभक्ति शास्त्रप्रोक्त है। परन्तु अलग होने के लिए पहले उसका मिलना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में चौरात् सिंहाद् वा बिभेति इत्यादि में पञ्चमी उपपन्न नहीं हो पाती। क्योंकि शेर से अलग होने के लिए पहले उससे मिलेगा कौन? इस विषम स्थिति का परिहार करने के लिए या पार्थक्य के लिए आवश्यक संयोग या मेल को पहले दिखाने के लिए यहां भाष्यकार ने स्वोपज्ञ बौद्धिक संयोग या मेल परिकल्पित किया है। इसी समस्या को लेकर ''ध्रुवमपायेऽपादानम्'' सूत्रभाष्य में ''जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्'' यह वार्तिक पढ़ा गया है। इसका खण्डन

करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'अधर्मात् जुगुप्सते, अधर्मात् बीभत्सते, (अधर्म से घृणा करता है, अधर्म से घबराता है) यहां वार्तिक द्वारा अपादानसंज्ञाविधान करने की आवश्यकता नहीं हैं। क्योंकि लोक में हम देखते है कि जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक काम करने वाला होता है, वह देखता है कि अधर्म से दुःख होता है, मुझे इससे कोई प्रयोजन या काम नहीं है। इसलिए वह विचार या बुद्धि से अधर्म के कार्य से हट जाता है। वहां बुद्धि द्वारा उसका अधर्म से अपाय हो जाता है। इसलिए 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इसी सूत्र से अपादानसंज्ञा सिद्ध हो जाएगी। इसी प्रकार 'धर्माद् विरमति' इत्यादि में भी संदिग्धबुद्धि वाला मनुष्य सोचता है कि यह धर्म नाम की वस्तु कुछ नहीं है। मैं इसे नहीं करूँगा। वह पहले बुद्धि द्वारा उसे प्राप्त होकर फिर उससे हट जाता है। इसलिए बुद्धिकृत अपाय होने से वहां भी "ध्रुवमपायेऽपादानम्" सूत्र से ही अपादान संज्ञा सिद्ध हो जाएगी। इसी प्रकार 'सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः (सांकाश्यवासी लोगों से पटना के लोग अधिक सुन्दर हैं) यहां भी जिस मनुष्य ने इन देशों के गुणसाम्य को देखा होता है, वह उनमें प्रकर्ष को देखकर ऐसा प्रयोग करता है। वह बुद्धि से दोनों देशों के गुणों का विभाजन कर लेता है। इसलिए बौद्धिक या बुद्धिकृत अपाय होने से वहां भी "ध्रुवमपायेऽपादानम्" सूत्र से ही अपादानसंज्ञा हो जाएगी।[702] वस्तुतः 'सांकाश्यकेभ्यः' यहां "पञ्चमी विभक्ते"[703] से पञ्चमी विभक्ति सिद्ध है। अपादान कारक को लेकर भाष्यकार आगे भी कहते हैं-

32. बौद्धापाय (वृकदस्युभय तथा चौरदस्युत्राण) न्याय

"इह तावद् वृकेभ्यो विभेति, दस्युभ्यो बिभेतीति, य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति यदि मां वृकाः पश्यन्ति ध्रुवो मे मृत्युरिति। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते। तत्र 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्येव सिद्धम्। इह चौरेभ्यस्त्रायते, दस्युभ्यस्त्रायते इति, य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति यदीमं चौराः पश्यन्ति ध्रुवमस्य वधबन्धनादिपरिक्लेश इति। स बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तयति। तत्र 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्येव सिद्धम्"।[704]

"भीत्रार्थानां भयहेतुः" इस सूत्र का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि "चौरेभ्यो बिभेति", "दस्युभ्यो बिभेति" यहां भी "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से ही अपादान संज्ञा सिद्ध हो जाएगी तो इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। पूछते हैं। कैसे? तो उत्तर है कि जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला होता है, वह देखता है कि यदि मुझे चौर, दस्यु या भेड़िए देखते हैं तो मेरी मृत्यु निश्चित है। वे मुझे खा जाएंगे या मार डालेंगे। इसलिए उसकी बुद्धि उन चोर, दस्यु या भेड़िए आदि से हट जाती है। इस तरह बुद्धि द्वारा अपाय होने पर "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से ही अपादानसंज्ञा सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार "चौरेभ्यस्त्रायते" दस्युभ्यस्त्रायते' यहां भी जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला मित्र होता है, वह देखता है कि यदि इसे

चौर या दस्यु देख लेते हैं तो वे अवश्य इसका वध या इसे बन्धनादि क्लेश देंगे। इस प्रकार वह अपनी बुद्धिद्वारा चौरादि से उसे हटा लेता है। फलतः बुद्धिकृत अपाय होने पर "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से ही अपादानसंज्ञा हो जाने से यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है। अपादान कारक के प्रसङ्ग में अगला लोकन्याय भी द्रष्टव्य है-

33. बौद्धापाय (अध्ययनपराजय) न्याय

"कथं अध्ययनात् पराजयते इति। य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखमध्ययनं दुर्धरं च, गुरवश्च दुरुपचारा इति। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते। तत्र 'ध्रुवमपायेऽपादानम्" इत्येव सिद्धम्"।[705]

"पराजेरसोढः" इस सूत्र का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह सूत्र भी अनावश्यक है। यदि यह कहा जाए कि 'अध्ययनात् पराजयते' यहां अपादान संज्ञा कैसे होगी तो उसका उत्तर है कि "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से ही अपादान संज्ञा सिद्ध हो जाएगी। पूछते हैं कि कैसे? तो उत्तर है कि जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला होता है, वह देखता है कि अध्ययन बड़ा कष्टदायक है अर्थात् पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है और बड़ी कठिनता से वह समझ में आता है। इसके लिए गुरुओं की सेवा करनी पड़ती है। इसलिए वह अपनी बुद्धि को अध्ययन से हटा लेता है। बुद्धिकृत अपाय होने से फिर "ध्रुवमपायेऽपादानम्' इस पूर्व सूत्र से ही अपादान संज्ञा सिद्ध हो जाती है। अपादान कारक को लेकर अग्रिम न्याय भी पठनीय है-

34. बौद्धापाय (माषगोवारण) न्याय

"कथं माषेभ्यो गां वारयति इति। पश्यत्ययं यदीमा गावस्तत्र गच्छन्ति, ध्रुवः सस्यविनाशः। सस्यविनाशेऽधर्मश्चैव राजभयं च। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तयति। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम्" इत्येव सिद्धम्।"[706]

"वारणार्थानामीप्सितः" सूत्र का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'माषेभ्यो गां वारयति' 'अग्नेर्माणवकं वारयति', 'कूपादन्धं वारयति' इत्यादि प्रयोगों में अपादान संज्ञा करने के लिए इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्ति स्वयं सोच लेता है कि यदि ये गाएं आदि माष, यव आदि में प्रवेश करती हैं तो अवश्य ही सस्य की हानि होगी। उससे अधर्म भी होगा और राजा का भी डर है। इसलिए वह अपनी बुद्धि को माष, यव आदि से हटाकर उनसे पृथक् गौ आदि को करता है। गौ आदि को यव आदि में न लगाना ही वारण करना हैं। क्योंकि प्रवृत्ति के विघात को वारण कहते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि द्वारा यवदि से अपाय होकर उनके अवधिभूत यवादि की अपादान संज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से ही सिद्ध हो जाएगी तो यह सूत्र व्यर्थ है। पूर्वसूत्र का ही प्रपञ्च या विस्तारमात्र इसको समझना चाहिए, जैसाकि न्यासकार ने लिखा है- "तस्मात्पूर्वस्यैवायं प्रपञ्चः। न च प्रपञ्चे गुरुलाघवं चिन्त्यते।"[707] भाष्यकार भी लिखते हैं- "किमर्थं तर्हि एवमाद्यनुक्रमणं क्रियते,

उदाहरणभूयस्त्वात्। एते खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति येषु लक्षणं प्रपञ्चश्च। केवलं लक्षणं केवलं प्रपञ्चो वा न तथाकारकं भवति"।[708] अपादान कारक पर प्रकाश डालते हुए भाष्यकार अगला न्याय प्रस्तुत करते हैं:-

35. बौद्धापाय (उपाध्यायान्तर्धान) न्याय

"कथम् उपाध्यायादन्तर्धत्ते इति। पश्यत्यं यदि मामुपाध्यायः पश्यति ध्रुवं मे प्रेषणमुपालभ्भो वेति। स बुद्ध्या संप्राप्य निवर्तते। तत्र "ध्रुवमपायेऽपादनम्" इत्येव सिद्धम्।"[709]

"अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति" इस सूत्र का खण्डन करते हूए भाष्यकार कहते हैं कि "उपाध्यायादन्तर्धत्ते" यहां अपादानसंज्ञा "ध्रुवमपायेऽपादानम्" इस पूर्वसूत्र से ही सिद्ध हो जाने के कारण यह सूत्र व्यर्थ है। क्योंकि प्रेक्षावान् छात्र देखता है कि यदि मेरे गुरु जी मुझे देख लेंगे तो अवश्य मुझे किसी न किसी काम पर भेज देंगे या उलाहना देंगे कि तुमने यह नहीं किया, वह नहीं किया। इसलिए उसकी बुद्धि उपाध्याय के पास जाने से हट जाती है। वह बुद्धि द्वारा उपाध्याय से अपना अपाय कर लेता है। अपाय होने में उपाध्याय ध्रुव है। ऐसी स्थिति में उसकी अपादान संज्ञा स्वतः ही पूर्वसूत्र से हो जाएगी तो उक्त सूत्र निष्प्रयोजन है। अपादान कारक के ही प्रसङ्ग में अग्रिम लोकन्याय भी पठनीय है, तद्यथा-

36. अभिरूपकन्यादान न्याय

"एवं तर्हि लोकत एतत् सिद्धम्। तद्यथा लोके-अभिरूपायोदकमानेयम्, अभिरूपाय कन्या देयेति। न चानभिरूपे प्रवृत्तिरस्ति। तत्राभिरूपतमायेति गम्यते। एवमिहापि साधकं करणमित्युच्यते। सर्वाणि च कारकणि साधकानि। न चासाधके प्रवृत्तिरस्ति। तत्र साधकतममिति विज्ञास्यते।"[710]

"साधकतमं करणम्" सूत्र के भाष्य में 'तमप्' ग्रहण के प्रयोजन पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह बात लोक से ही सिद्ध है, जैसे लोक में अभिरूप (सुन्दर) के लिए जल लाइए और अभिरूप वर के लिए कन्या दीजिए- ऐसा कहते हैं। जो अभिरूप एवं सुन्दर नहीं है, उसके लिए कोई जल या कन्या लाने के लिए नहीं कहता। क्योंकि असुन्दर में प्रवृत्ति नहीं होती। सब काम सुन्दर व्यक्ति में ही किए जाते हैं। ऐसी स्थिति में स्वतः प्राप्त अभिरूप के विद्यमान होने पर भी जो अभिरूप का कथन किया है, वह अभिरूपतम का बोधक है अर्थात् जो अतिशय सुन्दर है, उसी के लिए जल लाइए, और कन्या दीजिए- यह लोक में व्यवहार प्रसिद्ध है। भाव यह है कि कुछ न कुछ सुन्दर तो सभी होते ही हैं। फिर भी सुन्दर कहना उसके सुन्दरतम होने का बोध कराता है।

इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी "साधकं करणम्" इतना सूत्र होने पर भी "साधकतम" का अर्थ जाना जा सकता है। क्योंकि सभी कारक क्रिया के साधक हैं, निष्पादक

हैं। जो क्रिया का साधक नहीं है, वह कारक ही नहीं है। इस तरह जब सभी कारक (क्रिया के साधक) हैं तो करण कारक भी साधक ही था। उसे फिर साधक कहने का प्रयोजन यह होगा कि साधकतम, अतिशय साधक जो कारक है, वह करण होता है। इस तरह इस अर्थ की प्रतीति 'तमप्' ग्रहण के बिना भी हो जाती है तो सूत्र में 'तमप्' ग्रहण करना व्यर्थ सम्भावित हो जाता है। परन्तु आगे चलकर भाष्यकार इसकी सार्थकता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि "सिद्धे सति यत्तमप्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः कारकसंज्ञायां तरतमयोगो न भवतीति।[711] न्यासकार ने भी उक्त न्याय को उद्धृत किया है।[712] अपादानकारक के विषय में ही भाष्यकार आगे भी कहते हैं-

37. दधिगुणौदनभोजन न्याय

"इह कश्चित्कंचिदामन्त्रयते - सिद्धं भुज्यतामिति। स आमन्त्र्यमाण आह-दध्ना खलु भुञ्जीय, पयसा खलु भुञ्जीयेति। अत्र कर्मसंज्ञा प्राप्नोति, तद्धि तस्येप्सिततमं भवति। तस्याप्योदन एवेप्सिततमो न तु गुणेष्वस्यानुरोधः, तद् यथा- भुञ्जीयाहमोदनं यदि मृदु विशदः स्यादिति। एवमिहापि दधिगुणमोदनं भुञ्जीय पयोगुणमोदनं भुञ्जीयेति।"[713]

"कर्तुरीप्सततमं कर्म" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार शङ्का करते हैं कि 'दध्ना खलु भुञ्जीय, 'पयसा खलु भुञ्जीय' यहां 'दधि' और 'पयस्' शब्दों की कर्मसंज्ञा क्यों नहीं होती जबकि ये खाने वाले को ईप्सिततम हैं ? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार बड़े सुन्दर शब्दों में लोकव्यवहार का उपन्यास करते हैं कि कोई किसी को आमन्त्रित करता है कि आप भोजन कीजिए, भोजन तैयार है। आमन्त्रित व्यक्ति कहता है कि हमने पर्याप्त भोजन खा लिया है अब और खाने की इच्छा नहीं है। आमन्त्रण देने वाला पुनः कहता है कि हमारे भोजन में दही होगा और दूध होगा। यह सुनकर आमन्त्रित व्यक्ति कहता कि अच्छा, दही से जरूर खाऊँगा, और दूध से जरूर खाऊँगा। यहां दही और दूध दोनों उस खाने वाले व्यक्ति को अत्यन्त ईप्सित हैं या ईप्सिततम हैं। फलतः 'दधि' और 'पयस्' में करणकारक की तृतीया विभक्ति न होकर कर्मकारक की द्वितीया विभक्ति होनी चाहिए।

इस सुन्दर शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि नहीं, उसको भी ओदन ही ईप्सिततम हैं। वह भी दही और दूध से स्वादिष्ट बने हुए ओदन को ही मुख्य रूप से खाना चाहता है। क्योंकि दही और दूध तो ओदन के गुण हैं, उपकारक हैं, उपस्कारक या स्वादिष्ट बनाने वाले हैं। उनमें उसका अनुरोध या आग्रह नहीं है। वह चाहता है कि मैं वह ओदन खाऊँ जो मुलायम तथा रुचिकर हो एवं स्वादिष्ट हो। इस प्रकार ओदन ही उसका अत्यन्त ईप्सित है, अतः उसी की कर्मसंज्ञा होगी और 'दधि' और 'पयस्' की नहीं होगी- यह सिद्ध हो जाता है।

हरदत्त भी प्राप्ताप्राप्तविवेक न्याय से इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं-

38. प्राप्ताप्राप्तविवेक न्याय

"यत्र तर्हि पय एवेप्सिततमम्, तत्र प्राप्नोति, तद्यथा- कश्चित् कञ्चिदाह-सिद्धं भुज्यतामिति, स आह-प्रभूतं भुक्तमस्माभिरिति। इतर आह- पयो भविष्यतीति, अपरस्त्वरमाणमाह - पयसा खलु भुञ्जीयेति। अत्र प्राप्ताप्राप्तविवेकन्यायेन पयस एवेप्सिततमत्वं न त्वोदनस्य। अत्राप्योदनमेवेप्सिततमम्, पयसस्तु संस्कारकत्वात् करणत्वम्।"[714]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। वे कहते हैं कि प्राप्त वस्तु और अप्राप्तवस्तु इन दोनों का विवेक करके उनमें जो प्राप्त है, उसको छोड़कर अप्राप्त का ग्रहण कर लेना चाहिए, जैसे कोई किसी को कहे कि भोजन तैयार है, भोजन कीजिए तो दूसरा उत्तर देता है कि हमने पर्याप्त भोजन कर लिया है, अब हमें भूख नहीं है। भोजन कराने वाला फिर कहता है कि भोजन अगर कर भी लिया है तो और कर लीजिए। दूध मिलेगा, दही मिलेगी इत्यादि उत्तम पदार्थों का नाम लेकर उसको प्रसन्न करता है। खाने वाला भी दूध-दही आदि का नाम सुनकर फिर खाने के लिए तैयार हो जाता है। वह सोचता है कि भोजन तो मुझे पहले प्राप्त है, किन्तु दूध, दही, घी आदि जो विशिष्ट पदार्थ हैं, वे अप्राप्त हैं। अतः वह प्राप्त में से अप्राप्त को ही अपनी इच्छा का विषय बनाता है। फलतः उसके लिए पयस् ही ईप्सिततम प्रतीत होता है, ओदन नहीं।

परन्तु यह मानना ठीक नहीं है। क्योंकि यहां भी भाष्यकारीत्या ओदन ही ईप्सिततम हैं। पयस् तो संस्कारक होने से करण ही रहेगा। इस प्रकार यह न्याय बहुत स्थानों पर प्रयोग में आता है।[715] कर्मकारक के विषय में भाष्यकारप्रोक्त अग्रिम न्याय दर्शनीय है, तद्यथा-

38. गुड़भक्षणे न लोष्टभक्षणमिष्टम् न्याय / राजकर्मी मनुष्य न्याय

"ईप्सितस्य कर्मसंज्ञायां निर्वृत्तस्य कारकत्वे कर्मसंज्ञाऽप्रसङ्गः क्रियेप्सितत्वात्। ईप्सितस्य कर्मसंज्ञायां निर्वृत्तस्य कारकत्वे कर्मसंज्ञा न प्राप्नोति - गुडं भक्षयतीति। किं कारणम्? क्रियेप्सितत्वात्। क्रिया तस्येप्सिता। न वोभयेप्सितत्वात्। न वैष दोषः। किं कारणम्? उभयेप्सितत्वात्। उभयं हि तस्येप्सितम्। आतश्चोभयं यस्य हि गुडभक्षणे बुद्धिः प्रसक्ता भवति नासौ लोष्टं भक्षयित्वा कृती भवति। यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुम्, ये त्वेते राजकर्मिणो मनुष्यास्तेषां कश्चित् कंचिदाह - कटं कुरु इति स आह-नाहं कटं करिष्यामि, घटो मयाहृत इति। तस्य क्रियामात्रमीप्सितम्। यद्यपि तस्य क्रियामात्रमीप्सितं यस्त्वसौ प्रेषयति तस्योभयमीप्सितमिति।"[716]

"कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इस सूत्र के भाष्य में वार्तिककार कहते हैं कि ईप्सिततम की कर्म संज्ञा करने में जो पहले से निष्पन्न है, साम्प्रतिक क्रिया द्वारा निष्पन्न नहीं

किया गया है, उसकी कर्मसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। क्योंकि वहां केवल क्रिया ही ईप्सित है, द्रव्य नहीं, जैसे- 'गुडं भक्षयति' यहां भक्षण क्रिया से गुड़ निष्पन्न नही किया गया है अपितु पहले से विद्यमान है। केवल भक्षण क्रिया के लिए उसका उपादान है इसलिए वह भक्षण क्रिया का ही ईप्सिततम है। ऐसी स्थिति में गुड़ के लिए भक्षण क्रिया का अनुष्ठान न होने से गुड़ की कर्मसंज्ञा नहीं प्राप्त होती। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि भक्षण करने वाले को तो दोनों ही ईप्सित हैं। भक्षण क्रिया और गुड़ द्रव्य दोनों ही उसको ईप्सित इसलिए भी हैं कि जिसकी बुद्धि गुड़ खाने में लगी है, वह लोष्ठ (मिट्टी का ढेला) खाकर तृप्त नहीं होता। उसे तो गुड़ ही चाहिए। यह बात दूसरी है कि 'गुडं भक्षयति' में गुड़ प्राप्य कर्म है, निर्वर्त्य या निष्पाद्य नहीं। जैसे 'कटं करोति' यहां कट क्रिया द्वारा निष्पाद्य होने से निर्वर्त्य कर्म है वैसे 'गुडं भक्षयति' 'पुस्तकं पठति' 'ग्रामं गच्छति' इत्यादि प्राप्य कर्म हैं। निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य इत्यादि ये सात प्रकार के कर्म होते हैं।[717] इसलिए गुड़ की कर्मसंज्ञा बन जाएगी।

यदि यह कहा जाए कि यहां तो बात बन जाएगी। क्योंकि गुड़खाने वाले को गुड़ ईप्सित है। किन्तु ये जो राजकर्मचारी मनुष्य हैं, उनमें कोई किसी को कहता है कि कट बनाओ। वह कहता हे कि मैं कट नहीं बनाऊँगा। मैं घट ले आया हूँ। एक काम मैंने कर दिया है, दूसरा मैं क्यों करुँ? वहां वेतनभोगी उस कर्मचारी को केवल क्रिया ही ईप्सित है, वह काम करना चाहता है, उससे कुछ काम करा लो। द्रव्य कट या घट से उसको कोई प्रयोजन नहीं। वह उसे ईप्सित नहीं है। फलतः यहां 'अनीप्सित' कट या घट की कर्म संज्ञा नहीं प्राप्त होती है। कर्मसंज्ञा न होने से 'नाहं कटं करिष्यामि, घटो मयाहृतः' इन प्रयोगों में कर्मसंज्ञाप्रयुक्त द्वितीया विभक्ति न हो सकेगी तो इसका उत्तर है कि यद्यपि उस कर्मचारी को तो केवल क्रिया ही ईप्सित है किन्तु उसका प्रयोजक, प्रेरक जो स्वामी है, उसे तो दोनों ही ईप्सित हैं- द्रव्य भी और क्रिया भी। जब प्रेरक को दोनों ईप्सित हैं तो उसके अधीन रहने वाले प्रयोज्य कर्मचारी को भी अगत्या या विवश होकर दोनों ही ईप्सित माननी पड़ेंगी। अन्यथा वह कर्मचारी वहां काम न कर सकेगा। पानी में रहकर मगरमच्छ से वैर कैसे मोल लिया जा सकता है? इस विषय में प्रदीपकार लिखते हैं-

"प्रयोजकचित्तानुवर्तनं तस्य स्वार्थसिद्धये कर्त्तव्यम्। यदा च विशिष्टकर्मिका क्रिया तेन सम्पाद्यते तदाज्ञानुष्ठिता भवतीति प्रयोजकवत् प्रयोज्यस्याप्युभयमीप्सितमिति भाष्यकारस्याभिप्रायः। अन्ये तु प्रयोजककर्त्रपेक्षया प्रयोज्यस्य कर्तुरनीप्सितमपि कर्मेत्याचक्षते। तत्तु प्रयोजकव्यापारस्याशब्दार्थत्वात् पूर्वोक्तोदाहरणेऽयुक्तमिति न्यायविदो मन्यन्ते"।[718]

इसका संक्षिप्त आशय यही है कि जैसे भाष्यकार ने प्रयोजक को दोनों ईप्सित

माने हैं वैसे ही उसके अधीन रहने वाले प्रयोज्य कर्ता को भी दोनों ही ईप्सित हैं- ऐसा मानना चाहिए। जो लोग प्रयोजक के अधीन रहने वाले प्रयोज्य के अनीप्सित को भी कर्म मानते हैं, उनका पक्ष न्याय्य नहीं है। क्योंकि 'नाहं कटं करिष्यामि' घटो मयाहतः' ये उक्त उदाहरण प्रयोज्य के ईप्सित मानने पर ही घट सकते हैं। प्रयोजक का व्यापार यहां शब्दप्रोक्त नहीं है। इसलिए निगूढाकूति भाष्यकार का आशय समझने के लिए अतिविशाल गम्भीर बुद्धि की अपेक्षा है। अनीप्सित कर्मकारक के सन्दर्भ में अग्रिम न्याय भी अवश्य पठनीय है, तद्यथा-

40. विषभक्षणमपि कस्यचिदीप्सितं भवति न्याय

"कर्तुरीप्सिततमं कर्मेत्युच्यते। कस्य च नाम विषभक्षणमीप्सितं स्यात्? विषभक्षणमपि कस्यचिदीप्सितं भवति। कथम्- इह य एष मनुष्यो दुःखार्त्तो भवति सोऽन्यानि दुःखान्यनुनिशम्य विषभक्षणमेव ज्यायो मन्यते। आतश्चेप्सितं यत्तद् भक्षयति।"[719]

"तथायुक्तं चानीप्सितम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि 'विषं भक्षयति' में तो "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इस पूर्वसूत्र से ही विष की कर्मसंज्ञा सिद्ध हो जाएगी। इसलिए फिर "तथायुक्तं चानीप्सितम्" यह सूत्र किसलिए बनाया गया है? भाष्यकार इस पर आगे आपत्ति करते हैं कि "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" इस सूत्र से भी कर्मसंज्ञा कैसे सिद्ध हो जाएगी ? क्योंकि यह सूत्र तो ईप्सिततम की कर्म संज्ञा करता है। विषभक्षण किसको है ? किसी को भी नहीं। विष को तो कोई भी नहीं खाना चाहता तो इसका उत्तर देते हैं कि किसी-किसी व्यक्ति को कभी-कभी विषभक्षण भी ईप्सित हो जाता है। पूछते हैं कैसे? तो उत्तर देते हैं कि यहां लोक में हम देखते हैं कि जो मनुष्य अत्यन्त दुःखी हो जाता है, वह अनेक प्रकार के दुःखों को देखकर उस समय विषभक्षण करना ही उचित समझता है। और क्योंकि वह विष का भक्षण करता है, इससे भी सिद्ध होता है कि उसे विषभक्षण ईप्सित है। यदि ईप्सित न हो तो क्यों वह विष का भक्षण करे?[720] ऐसी अवस्था में "तथायुक्तं चानीप्सितम्" इस सूत्र का उदाहरण कोई और होना चाहिए। 'विषं भक्षयति' तो अन्यथा सिद्ध हो जाता है। इसलिए इसके उदाहरण 'ग्रामान्तरमयं गच्छंश्चौरान् पश्यति', 'अहिं लङ्घयति', 'कण्टकान् मृद्नाति' इत्यादि समझने चाहिएं। यह न्याय हरदत्त ने भी प्रयुक्त किया है।[721]

41. क्रियापि क्रिययेप्सिततमा भवति न्याय

"क्रियापि क्रिययेप्सिततमा भवति। कया क्रियया? सम्पश्यति क्रियया प्रार्थयति क्रिययाध्यवस्यति क्रियया च। इह य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स बुद्ध्या तावत् कंचिदर्थं सम्पश्यति। संदृष्टे प्रार्थना। प्रार्थितेऽध्यवसायः। अध्यवसाये आरम्भः। आरम्भे निर्वृत्तिनिर्वृत्तौ फलावाप्तिः। एवं क्रियापि कृत्रिमं कर्म।"[722]

"कर्तरि कर्मव्यतिहारे" सूत्र के भाष्य में 'कर्म' शब्द से क्रिया का ग्रहण माना

गया है, "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" सूत्र से विहित पारिभाषिक कर्म कारक का ग्रहण नहीं। क्रिया को भी कृत्रिम कर्म कारक बनाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि क्रिया भी क्रिया से ईप्सिततम होती है अर्थात् क्रिया का विषय क्रिया भी बनती है। पूछते हैं कि कैसे? या कौन सी वह क्रिया है जिससे क्रिया ईप्सिततम बनती है तो उत्तर देते हैं कि वे क्रियाएं 'सम्पश्यति' प्रार्थयति' और अध्यवस्यति हैं। यहां लोक में जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक कार्य करता है, वह पहले बुद्धि से किसी वस्तु को देखता है। देखने पर उसकी चाह होती है। इच्छा होने पर उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न की समाप्ति पर फिर फल मिल जाता है। इस प्रकार प्रकृत न्याय से देखना, चाहना तथा प्रयत्न करना इन क्रियाओं की सब क्रियाएं ईप्सिततम होती हैं अर्थात् सब क्रियाओं की निष्पत्ति इन्हीं उक्त क्रियाओं के आधार पर है। अतः क्रिया भी ईप्सिततम होने से कृत्रिम कर्म कारक बन जाती है।[723] इस तरह उक्त सूत्र में "कर्मव्यतिहारे" की जगह "क्रियाव्यतिहारे" कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। यथान्यास ही ठीक है।

इसी प्रकार "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्" सूत्रभाष्य[724] में भी प्रकृत न्याय व्यवहृत हुआ है। तदनुसार यहां भी "क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यम्" इस वार्तिक के खण्डन के लिए भाष्यकार ने उक्त न्याय का स्मरण कराया है। इनके कहने का तात्पर्य है कि "कर्मणा यमभिप्रैति" के स्थान में "क्रियया यमभिप्रैति" इसी से कर्म के साथ क्रिया का भी ग्रहण सिद्ध हो जाएगा तो क्रिया ग्रहण करना अनावश्यक है।[725] प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी दर्शनीय है।[726]

42. नानाकारक (गुणसाधन) न्याय/शब्दप्रमाणक न्याय

"किमुच्यते नानाकारकादिति। यदा तेनैवासज्य ह्रियते। नापि ब्रूमोऽन्येनासज्य ह्रियते इति ? किन्तर्हि ? शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्चेह सत्तामाह - अयं दण्डः। अस्तीति गम्यते। स दण्डः कर्ताभूत्वाऽन्येन शब्देनाभिसम्बध्यमानः करणं सम्पद्यते। तद्यथा कश्चित् कंचित् पृच्छति- क्व देवदत्त इति। स तस्मा आचष्टे-असौ वृक्षे इति। कतरस्मिन्, यस्तिष्ठतीति। स वृक्षोऽधिकरणं भूत्वाऽन्येन शब्देनाभिसम्बध्यमानः कर्ता सम्पद्यते।"[727]

"समर्थः पदविधिः" सूत्र के भाष्य में वार्तिककार ने "नानाकारकान्निघात-युष्मदस्मदादेशप्रतिषेधः" यह वार्तिक पढ़ा है। इसका अर्थ है कि 'अयं दण्डो हरानेन' यहां दण्ड रूप नाना कारक से परे विद्यमान 'हर' इस क्रिया को "तिङ्ङतिङः"[728] से निघात प्राप्त होता है, उसका निषेध कहना चाहिए जिससे समान कारकों से परे ही निघात हो, नाना या भिन्न कारक से परे निघात न हो। 'अयं दण्डः हरानेन' (यह दण्ड है, इससे हटाओ) यहां स्पष्ट ही 'दण्ड' यह नाना कारक है। क्योंकि अस्ति क्रिया जो अध्याहृत है, उसके प्रति दण्ड कर्ता कारक है और हर क्रिया जो उच्चरित है, उसके प्रति दण्ड करण कारक है। 'अनेन' शब्द से उसी दण्ड को कहा गया है।

यहां भिन्न कारक होने से 'हर' इस क्रिया को निघात नहीं होता - यह सिद्धान्त पक्ष है।

इस पर भाष्यकार विशेषविचारार्थ कहते हैं कि वार्तिककार ने 'नानाकारकात्' क्यों कहा जबकि 'अयं दण्डो हरानेन' यहां एक ही दण्ड कारक है। वही दण्ड है। उसी से हटाना है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम कब कहते हैं कि उसी दण्ड से नहीं हटाना। हटाना तो उसी दण्ड से है, अन्य से नहीं। किन्तु हम शब्द को प्रमाण मानने वाले शाब्दिक लोग जैसा शब्द कहता है उसी को प्रमाण मानते हैं।[729] 'अयं दण्डो हरानेन' यहां यद्यपि 'दण्डः' यह अध्याहृत 'अस्ति' क्रिया का कर्ता है। परन्तु साथ ही वह 'अनेन' शब्द द्वारा 'हरण' क्रिया का करण भी तो है। इस प्रकार यह नाना कारक बन जाता है। जैसे कोई किसी से पूछता है कि देवदत्त कहां है? वह उसे उत्तर देता है कि वह उस वृक्ष पर है। वह पुनः कहता है कि कौन से वृक्ष पर तो उत्तर दिया जाता है कि जोकि सामने खड़ा है। यहां देवदत्त का अधिकरण कारक बना हुआ वृक्ष स्थिति क्रिया के प्रति कर्ता कारक बन जाता है[730]। इसी प्रकार 'अयं दण्डो हरानेन' यहां भी नानाकारकता है। उसमें निघात को रोकने के लिए वार्तिककार का वचन युक्तियुक्त ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि लौकिक उदाहरणों द्वारा भाष्यकार प्रकृत बात को सिद्ध करते हैं। इससे लोकन्याय का आश्रयण भाष्यकार को प्रतिपद अभीष्ट है– यह सिद्ध हो जाता है।[731]

इसी गुणसाधन न्याय या नानाकारक न्याय को लेकर भाष्यकार प्रकारान्तर से इसी बात को अन्यत्र भी कहते हैं-

"किं पुनः साधनं न्याय्यम्? गुण इत्याह। कथं ज्ञायते? एवं हि कश्चित् कंचित् पृच्छति-क्व देवदत्त इति। स तस्मा आचष्टे-असौ वृक्षे इति। कतरस्मिन्। यस्तिष्ठतीति। स वृक्षोऽधिकरणं भूत्वाऽन्येन शब्देनाभिसंबध्यमानः कर्ता सम्पद्यते। द्रव्ये पुनः साधने सति यत् कर्म कर्मैव स्यात्, यत्करणं करणमेव, यदधिकरणमधिकरणमेव।"[732]

"अनभिहिते" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार पूछते हैं कि क्रिया का साधन, साधक, निष्पादक, निर्वर्तक या कारक द्रव्य को मानना चाहिए या गुण अथवा शक्ति को? उत्तर देते हैं कि द्रव्य की शक्ति या गुण को ही कारक या साधक मानना चाहिए। पूछते हैं कि कैसे जाना जाए तो उत्तर देते हैं कि कोई किसी से यूं पूछता है देवदत्त कहां है? वह उसे बताता है कि वह वृक्ष पर है। जब पुनः पूछता है कि किस वृक्ष पर? तो उत्तर देता है कि यह जो खड़ा है। अब वह वृक्ष अधिकरण होकर अन्य शब्द के सम्बन्ध से कर्ता बन जाता है। देवदत्त का अधिकरण बना हुआ वृक्ष 'तिष्ठति' क्रिया से सम्बद्ध होकर कर्ता कारक बन जाता है। यदि द्रव्य कारक होता तो जो द्रव्य कर्म है, वह कर्म ही रहता, करण, करण ही रहता तथा अधिकरण, अधिकरण ही रहता। क्योंकि द्रव्य एक रूप ही होता है। वह चाहे कर्म, करण या अधिकरण

से विवक्षित हो उसमें परिवर्तन नहीं होता। हां, द्रव्यस्थ गुण या शक्ति में तो परिवर्तन होता है। इसलिए द्रव्य को कारक न मानकर उसकी शक्ति को ही कारक मानना चाहिए।

इस विषय में "सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये"[733] सूत्र में किया गया 'कारक' ग्रहण भी ज्ञापक है। वहां 'कारक' शब्द क्रिया या शक्ति का उपलक्षण है। 'क्रियामध्ये' न कहकर आचार्य ने 'कारकमध्ये' कह दिया है।[734] उससे 'अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहे द्व्यहाद्वा भोक्ता' यहां क्रियामध्य में भी पञ्चमी-सप्तमी विभक्ति हो जाती हैं। यदि द्रव्य कारक होता तो देवदत्तरूप द्रव्य के एक होने से यहां मध्य नहीं बन सकता था। क्रिया या शक्ति को कारक मानने पर तो आज की भोजन क्रिया तथा दो दिन बाद की भोजन क्रियाओं का मध्य बन सकती है। इसलिए 'शक्तिः कारकम्'[735] यही पक्ष भाष्यकार ने सिद्धान्तरूप से स्वीकार किया है। और इसके लिए लौकिक उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं। यह न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[736]

43. निःश्रयणीकाष्ठ न्याय

"कारकाणां क्रियया सामर्थ्यं भवति, न तेषामन्योन्येन। तद् यथा- निश्रयण्या द्वाभ्यां काष्ठाभ्यां सामर्थ्यम्, न तेषामन्योन्येन।"[737]

"अन्नेन व्यञ्जनम्", "भक्ष्येण मिश्रीकरणम्" इन दोनों सूत्रों के भाष्य में यह वचन आया है। ये दोनों सूत्र तृतीयातत्पुरुषसमास का विधान करते हैं। इनके उदाहरण क्रमशः 'दध्योदनः' और 'गुडधानाः' हैं। 'दध्ना उपसिक्त ओदनः दध्योदनः' तथा 'गुडेन मिश्रा धानाः गुडधानाः'– यह इनका विग्रह है। 'दध्योदन' का अर्थ है– दही से गीला किया हुआ ओदन या भात और 'गुडधानाः' का अर्थ है - गुड़ से मिले हुए धान। इन अर्थों में दही का सम्बन्ध उपसिक्त क्रिया द्वारा होने के कारण उस क्रिया से ही उसका सामर्थ्य है। फलतः ओदन से दही का सम्बन्ध न होने से उसके साथ उसका सामर्थ्य नहीं है। सामर्थ्य न होने से "समर्थः पदविधिः"[738] के वचन से 'दध्योदनः' में समास नहीं प्राप्त होता। 'दध्युपसिक्तः' तो हो सकता है परन्तु 'दध्योदनः' नहीं। इसी प्रकार 'गुडेन मिश्रा धानाः' यहां गुड का सम्बन्ध मिश्र क्रिया से है। अतः उसी के साथ उसका सामर्थ्य है, धान के साथ नहीं तो 'गुडधानाः' में सामर्थ्य न होने से समास नहीं प्राप्त होता।

भाष्यकार इसी बात को आक्षेपरूप में कहते हैं कि कारकों का क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से उसी के साथ उनका सामर्थ्य बनता है। परिणामतः कारकों का परस्पर कोई सम्बन्ध न होने से उनका आपस में कोई सामर्थ्य नहीं बनता। जैसे सीढ़ी में लगी हुई लकड़ियों का सीढ़ी के साथ सम्बन्ध होने से उसी के साथ उनका सामर्थ्य है अर्थात् जो डण्डे सीढ़ी में लगे हुए हैं, उनका सामर्थ्य सीढ़ी से ही है, आपस में वे सामर्थ्य नहीं रखते। क्योंकि उनका सम्बन्ध आपस में नहीं है। इस लौकिक दृष्टान्त

से यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिससे जिसका सम्बन्ध है, उसी से उसका सामर्थ्य भी है, अन्य से नहीं। इसलिए 'दध्योदनः' 'गुडधानाः' में क्रमशः दधि, ओदन इन दोनों तथा गुड, धान इन दोनों कारकों का परस्पर सम्बन्ध न होने से सामर्थ्य नहीं बनता तो इनमें समास नहीं होना चाहिए। उक्त लोकन्याय के द्वारा केवल उक्त आक्षेप ही किया गया है। इसका समाधान तो आगे भाष्यवार्तिककार ने इन शब्दों में किया है-

"सिद्धन्तु समानाधिकरणाधिकारे क्तस्तृतीयापूर्वपद उत्तरपदलोपश्च इति"[739]। बाद में उसका भी खण्डन करके "युक्तार्थसम्प्रत्ययाच्च सामर्थ्यम्। सम्प्रत्ययाच्च तदर्थाध्यवसानम्। सम्प्रतीयमानार्थलोपे ह्यनवस्था"[740] ऐसा समुचित उत्तर दिया गया है।

44. उक्तार्थानामपि प्रयोगो दृश्यते न्याय

"उक्तार्थानामपि प्रयोगो दृश्यते। तद् यथा- अपूपौ द्वावानयः। ब्राह्मणौ द्वावानय"।[741]

"अधिपरी अनर्थकौ" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि यदि धातुप्रोक्त अर्थ को ही 'अधि' तथा 'परि' उपसर्ग प्रतिपादित करते हैं तो इनका प्रयोग नहीं होना चाहिए। फलतः 'कुतोऽध्यागच्छति', कुतःपर्यागच्छति' यहां 'कुतः आगच्छति' ऐसा उपसर्गरहित ही बोलना चाहिए। क्योंकि "उक्तार्थानामप्रयोगः"[742] यह न्याय प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है कि जिनका अर्थ कहा जा चुका है, उनका प्रयोग नहीं होता या जो अर्थ एक बाद उक्त, प्रकट हो चुका है, उसको व्यक्त या अभिहित करने के लिए अन्य प्रत्यय आदि का प्रयोग नहीं होता। क्योंकि उक्तार्थ का पुनः प्रयोग किसी विशेष गुरु अर्थ को पुष्ट नहीं करता।[743] इस पर भाष्यकार कहते हैं कि नहीं, उक्तार्थ वाले शब्दों का भी प्रयोग हो जाया करता है अर्थात् यद्यपि उक्तार्थ या पहले कहे जा चुके अर्थ को कहने के लिए फिर दूसरे प्रत्यय आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि पिष्टपेषण के समान वह व्यर्थ होता है तथापि स्फुट बोध के लिए अनेक बार उक्तार्थ का, कथित अर्थ का, भी पुनः प्रयोग हो जाता है, जैसे लोक में कहते हैं कि "अपूपौ द्वौ आनय", "ब्राह्मणौ द्वौ आनय" (दो अपूप या पूड़े लाओ, दो ब्राह्मण लाओ)। यहां जब 'अपूपौ', 'ब्राह्मणौ' इन द्विवचनों से ही द्वित्वार्थ की प्रतीति हो जाती है तो फिर अलग से 'द्वौ' कहने की क्या आवश्यकता है? किन्तु गतार्थ होने पर भी स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए लोक में "द्वौ" बोल दिया जाता है।

प्रकृत न्याय का एक और शास्त्रीय निदर्शन अवश्य दर्शनीय है। तदनुसार 'युवतीकरनिर्मथितम्' इस प्रयोग में 'युवती' यहां 'ङीष्' कैसे हो गया? क्योंकि प्रकृत न्याय के विरोधी "उक्तार्थानामप्रयोगः" के आधार पर 'ति' प्रत्यय से ही स्त्रीत्व के उक्त हो जाने पर फिर "सर्वतोऽक्तिन्नर्थात्" इस वचन से पुनः 'ङीष्' उचित नहीं है तो इसका उत्तर है कि "उक्तेऽपि भवन्त्येते"[744] अथवा "उक्तार्थानामपि प्रयोगो भवति" इस भाष्योक्त न्याय से "यूनस्तिः" के बाद भी उक्त गण सूत्र से 'ङीष्' हो

सकता है।[745] इसी प्रकार 'एकः', 'द्वौ', 'बहवः' यहां भी 'सु' आदि प्रत्ययों का प्रयोग प्रकृत न्याय के आधार पर ही समझना चाहिए।[746]

न्यासकार के अनुसार वास्तविकता यह है कि शब्दप्रयोग के गौरव या लाघव के विषय में लोक कोई विशेष ध्यान नहीं देता। इस बारे में उसका अपना ही दृष्टिकोण है। अतः इस प्रसङ्ग में लोक में अनेक बार उक्तार्थ का भी प्रयोग हो जाता है। भर्तृहरि इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

"वर्णान्तरसरूपत्वं वर्णभागेषु दृश्यते।
पदान्तरसरूपाश्च पदभागा अवस्थिताः॥
भागैरनर्थकैर्युक्ता वृषभोदकयावकाः।
अन्वयव्यतिरेकौ तु व्यवहारनिबन्धनम्॥"[747]

अर्थात् जैसे वृषभ आदि शब्दों का अर्थ केवल वृष आदि इतने मात्र से ही गतार्थ होने पर भी जो 'भ' इत्यादि अनर्थक वर्ण अतिरिक्त लगा देते हैं, इससे सिद्ध हो जाता है कि लोक में 'उक्तार्थानामप्रयोगः" के साथ-साथ "उक्तार्थानामपि प्रयोगो दृश्यते" यह सिद्धान्त भी स्वीकृत है। इसलिए लोकप्रसिद्ध व्यवहार का परित्याग न कर सकने के कारण उक्तार्थक शब्दों का प्रयोग भी शास्त्र में न्याय्य मान लिया गया है। लोक में जो उक्तार्थक शब्दों के प्रयोग व्यवहृत होते हैं वहीं यह न्याय लगता है। इसके आधार पर वृक्षः तरुः, पादपः इत्यादि काल्पनिक, यादृच्छिक, शब्दों का एक साथ प्रयोग नहीं हो सकता। प्रस्तुत न्याय व्याकरणशास्त्र में बहुत्र प्रयुक्त हुआ है।[748] "स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया" न्याय के माध्यम से नागेश भी पूर्वोक्त सिद्धान्त को ही पुष्ट करते हैं-

45. स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया न्याय

"नन्वेवं वृषो वृषभ इत्यपि प्रयोगः स्यादित्याशङ्क्य स्थितस्य गतिरिति न्यायेन प्रयोगानुसाराद् व्यवस्थेत्याह-प्रयोगेति - प्रयोगानुसारेण लक्षणव्यवस्थाश्रीयते, तेनोक्तार्थानां प्रयोगेऽव्यवस्था नोद्भावनीया।"[749]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" सूत्रस्थ भाष्य के "उक्तार्थानामप्रयोगः" इस न्याय की व्याख्या में प्रदीपकार की इस उक्ति पर "यथा वृषवृषभशब्दौ भिन्नौ तथाऽपूपावानय अपूपौ द्वावनयेत्येतौ समुदायावेवार्थवन्तौ लोके प्रयुज्येते" निर्दिष्ट किया है। यहां उद्द्योतकार पूछते हैं कि यदि वृष और वृषभ शब्द भिन्न-भिन्न हैं और उनका अर्थ भी अपना स्वतन्त्र है तब तो 'वृषो वृषभः गच्छति' यह प्रयोग भी हो जाना चाहिए। क्योंकि वृष और वृषभ दोनों शब्द भिन्नार्थक मानने पर इनके एक साथ प्रयोग में क्या दोष है? यह शङ्का करके फिर स्वयं ही नागेश ने इसका समाधान किया है कि "स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया"। इस न्याय का अर्थ यह है कि जो बात चल पड़ी है जिसको लोक ने मान्यता दे दी है, वह सर्वथा युक्ति-प्रमाण से सिद्ध न

होने पर भी स्वीकार कर लेनी चाहिए। इसी को 'अगतिकगति' या साहित्यिक भाषा में "स्थितेष्वेतत् समर्थनम्" कहते हैं। इस प्रकार जैसे 'अपूपौ आनय' और 'अपूपौ द्वौ आनय' इन दोनों वाक्यों के समानार्थक होने पर भी सादृश्य से लोक में इनका एक साथ प्रयोग होता है तब तो यद्यपि 'वृषः गच्छति' और 'वृषभः गच्छति' इनको भी भिन्नार्थक मानकर, भले ही, एक साथ प्रयोग हो जाए, क्योंकि वृष शब्द अन्य है और वृषभ शब्द अन्य है। दोनों का अर्थ चाहे एक सांड ही हो तथापि "स्थितस्य गतिः" इस न्याय से 'वृषः गच्छति' के साथ 'वृषभः गच्छति' का प्रयोग नहीं होगा। क्योंकि जो प्रचलित शब्द एकार्थक होते हुए भी व्यवहार में एक साथ बोलने में आ गए हैं जिनके सहप्रयोग को लौकिक मान्यता मिल चुकी है या जिनका अभिधान लोक में हो चुका है, उन्हीं का प्रयोग न्याय्य है। उन्हीं की युक्तियुक्तता चिन्तनीय है। अपनी कल्पना से नए प्रयोगों की कल्पना नहीं करनी चाहिए। यह न्याय अन्यत्र भी देखने में आता है।[750]

46. अशक्यो द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यस्य गुणकृत उपकारः प्रतिज्ञातुम् न्याय

"द्रव्यपदार्थिकस्यापि तर्हि गुणभेदात् सामर्थ्यं भविष्यति। अशक्यो द्रव्यपदार्थिकेन द्रव्यस्य गुणकृत उपकारः प्रतिज्ञातुम्। ननु चाभ्यन्तरोऽसौ भवति। यद्यप्यभ्यन्तरो न तु गम्यते। न हि गुड इत्युक्ते मधुरत्वं गम्यते शृङ्गवेरमिति वा कटुकत्वम्"।[751]

यह न्याय "समर्थः पदविधिः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने दिया है। वहां पर द्रव्य और गुण दोनों पदार्थों के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है कि यदि केवल द्रव्य को ही पदार्थ माना जाए तो गुण से होने वाला जो द्रव्य का उपकार है, वह कैसे सिद्ध होगा? उस पर कहते हैं कि गुण तो द्रव्य के अन्दर ही रहता है। इसलिए गुण से द्रव्य का उपकार स्वतः सिद्ध हो जाएगा। इसका उत्तर देते हुए वे आगे कहते हैं कि यद्यपि गुण द्रव्य के अन्दर रहता है, फिर भी वह स्वतन्त्रतया विवक्षित नहीं है, प्रधान तो वहां द्रव्य ही होता है। फलतः अन्दर रहता हुआ भी गुण प्रतीत नहीं होता, जैसे- 'यह गुड़ है'– ऐसा कहने पर गुड़ नामक पदार्थ तो प्रतीत होता है किन्तु यह जो उसका मिठास गुण है, वह प्रतीत नहीं होता। यह मीठा है - यह तो व्यञ्जनावृत्ति से प्रतीत होता है। किन्तु अभिधा वृत्ति से तो गुड़ शब्द का अर्थ गुड़ ही है, मिठास नहीं है। इसी प्रकार 'शृंगवेर' अर्थात् अदरक है - ऐसा कहने पर केवल अदरक पदार्थ का ही बोध होता है, उसकी कटुता का अनुभव नहीं होता। यद्यपि व्यञ्जना वृत्ति से तो कटुता अवश्य प्रतीत होती है। किन्तु 'शृंगवेर' शब्द का वाच्यार्थ 'कड़वाहट' नहीं है। उक्त न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[752]

47. विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान् न्याय

"किमिदं यलोपे वर्णग्रहणमाहोस्वित् संघातग्रहणम्। . . . . . कैमर्थक्यान्नियमो भवति? विधेयं नास्तीति कृत्वा। इह चास्ति विधेयम्। किम्? अन्त्यस्य लोपः प्राप्तः स सर्वस्य विधेयः। तत्रापूर्वो विधिरस्तु नियमोऽस्त्वित्यपूर्व एव विधिर्भविष्यति न नियमः"।[753]

"यस्य हलः" सूत्रभाष्य में भाष्यकार शङ्का करते हैं कि क्या इस सूत्र में "अतो लोपः"[754] इस पूर्व सूत्र से 'अतः' की अनुवृत्ति मानकर हल् से परे विद्यमान 'य' के केवल अकार का लोप हो ? इस प्रकार सूत्र को नियामक माना जाए अथवा 'अतः' की अनुवृत्ति न मानकर सूत्रारम्भसामर्थ्य से ही अलोन्त्य नियम का भी उल्लङ्घन करते हुए सारे संघातरूप य (य् + अ = य) के लोप का विधायक इसे माना जाए? उत्तर देते हैं कि यहां अपूर्व विधि ही होती है, नियम नहीं। इससे सिद्ध होता है कि जैसे लोक में किसी सम्पन्न व्यक्ति के यहां यज्ञ होता है और उसके यहां भोज्य सामग्री पुष्कल मात्रा में विद्यमान नहीं है। अब यद्यपि भोजन के पात्र तो केवल वेदपाठी ब्राह्मण ही होते हैं तथापि विधि के ही ज्यायान् होने से जिस प्रकार वहां ब्राह्मणों के साथ-साथ ब्राह्मणेतरों को भी (जो नियमतः निषिद्ध था) भोजन कराया जाता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी जब तक हो सके सूत्र को विधि ही मानना चाहिए, नियम नहीं। भाष्य में अन्यत्र भी ऐसा ही दृष्टान्त दृष्टिगोचर होता है।

48. छात्रोत्तरभोजन न्याय

"लोके हि तस्माच्छात्रादुत्तरो भोज्यतामित्युक्तेरवधेरुत्तरो भोज्यते, नावधिमतः। तदिहापि विनापीतिकरणेनावधेरेवोत्तरस्य कार्यं भविष्यति, नावधिमतः।"[755]

"तस्मादित्युत्तरस्य" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में न्यासकार ने उक्त न्याय प्रस्तुत किया है। इस न्याय का अर्थ है कि लोक में हम देखते हैं कि उस छात्र से जो पिछला है, उसको भोजन कराओ- ऐसा कहने पर वह पिछला छात्र ही समझा जाएगा। अन्य छात्र तो अवधि वाले हैं अर्थात् जिस छात्र से हम पिछले छात्र को बता रहे हैं, वह पिछला छात्र ही यहां लिया जाएगा, अतः उसे ही भोजन कराया जाएगा। क्योंकि वह छात्र अवधि समझा गया है। इसलिए अवधि और अवधिमान् में अवधि का ही ग्रहण होगा। यह न्याय न्यासकार ने प्रथम बार स्वयं उपस्थित किया है कि अवधि के निर्देश में अवधिमान् का ग्रहण नहीं होता।

49. गुडजिह्विका न्याय

"प्रयोजनवचनस्य किं प्रयोजनम्? तदर्थिनां तत्र प्रवृत्तिरिति चेत्, न, अयं सूत्रकारो गुडजिह्विकान्यायेन यत्किञ्चित् प्रयोजनमुक्त्वा अन्यस्मिन्नेव स्वाभिमते प्रवर्तयेदिति सम्भावयन्तो न प्रयोजनप्रतिपादनमाद्रियते।"[756]

"अथ शब्दानुशासनम्" सूत्रगत "शब्दानुशासनमित्यन्वर्थसंज्ञोच्चारणेन व्याकरणप्रयोजनमन्वाख्यायते" के प्रसङ्ग में पदमञ्जरीकार कहते हैं कि प्रयोजन का प्रयोजन कहने में क्या प्रयोजन है? यदि यह कहा जाए कि प्रयोजन का प्रयोजन कहने से उस ग्रन्थ में पढ़ने वालों की प्रवृत्ति हो जाएगी तो यह बात ठीक नहीं। क्योंकि

हो सकता है कि यह सूत्रकार आचार्य पाणिनि 'गुडजिह्विका' न्याय से अपने व्याकरणशास्त्र का कुछ थोड़ा सा प्रयोजन बताकर किसी दूसरे अभीष्ट विषय में हमें न लगा दें - इस सम्भावना से प्रयोजन का प्रयोजन कहने में आदर नहीं दिया जाता। यहां पदमञ्जरीकार के इस वाक्य में 'गुडजिह्विका' न्याय का प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य यह है कि जैसे किसी रोगी को कड़वी दवा पिलाने से पहले अच्छा वैद्य उस रोगी की जिह्वा पर गुड़ लगा देता है अर्थात् उसे गुड़ चटा देता है। गुड़ मीठा होने से अच्छा लगता है। उसके स्वाद से फिर रोगी कड़वी दवा भी पी जाता है। सम्भवतः इसी न्याय से ग्रन्थकार ने थोड़े से प्रयोजन दिखाकर कुछ और ही प्रयोजन अपने ग्रन्थ-निर्माण का सोचा हो। यह लोकन्याय व्याकरणशास्त्र में केवल पदमञ्जरी में ही इदम्प्रथमतया प्रयुक्त होने से हरदत्त की सूक्ष्मेक्षिका से अनुस्यूत है। वैसे व्याकरणेतर अनुशासनों में इसे अनेकत्र प्रयुक्त देखा जा सकता है।[757]

50. मध्वौषधिरस न्याय

"ननु वृत्तावुपसर्जनपदानि एकादिसंख्यां विहायाभेदैकत्वसंख्यां प्रतिपद्यन्ते। का पुनरियमभेदैकत्वसंख्या? विशेषाणामविभागेनावस्थानम्। यथा मधुनि औषधिरसानाम्। न हि तत्रास्या औषधेरयं रसोऽस्या अयमिति विभागो दृश्यते। अथ च त एव रसा अनुभूयन्ते न पुना रससामान्यं तद्वदत्रापि राजपुरुष इति राजार्थो नैकत्वादिविशेषाः।" उक्तं च-

यथौषधिरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः।
अविभागेन वर्तन्ते तां संख्यां तादृशी विंदुः।"[758]

"पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः" सूत्रव्याख्या में पदमञ्जरीकार कहते हैं कि प्रकृत सूत्रप्रोक्त अलुग्विधान में "एकवच्चेति वक्तव्यम्" ऐसा कहना चाहिए जिससे 'स्तोकाभ्याम्/स्तोकेभ्यः मुक्तः' यहां द्वित्व/बहुत्व अर्थों में अलुक् करते समय भी 'स्तोकान्मुक्तः' यही इष्ट रूप बने, 'स्तोकाभ्यां मुक्तः' आदि नहीं। इस पर हरदत्त उत्तर देते हुए स्वयं आगे कहते हैं कि वृत्ति या समास में समुदायरूप समासार्थ के प्रति पद उपसर्जन या गौण रहते हैं। अतः वे एकादि संख्या को छोड़कर अभेदैकत्वसंख्या को ही बताते है। अभेदैकत्वसंख्या से तात्पर्य है- विशेष (विशिष्ट संख्या या लिङ्गयुक्त पदों) का अविभक्त संख्या या लिङ्गरूप में अवस्थान या बोध अर्थात् जैसे अनेक औषधियों के रस को लेकर मधु बनता है किन्तु मधु बनने पर अब जिस प्रकार यह विभाग नहीं किया जा सकता कि इसमें अमुक औषधि का यह रस है तथा अमुक का यह अपितु वे रस ही विशेषरूपेण अनुभूत होते हैं, रस सामान्य नहीं[759] उसी प्रकार विशिष्ट संख्यादिविभाग के स्थान पर अविभक्त संख्यादि सामान्यमात्र का बोध कराना ही अभेदैकत्वसंख्या कहलाता है। फलतः राजपुरुषः इस वृत्ति में भी सामान्य राजा रूप अर्थ ही प्रतीत होता है, एकत्वादिसंख्यायुक्त राजा रूप विशिष्ट अर्थ नहीं। इससे लक्ष्यानुरोधात् हम अभीष्ट संख्यादिवाला अर्थ भी ग्रहण कर सकते हैं।

अथवा जैसे गहन अन्धकार में केवल रूपमात्र का ही ग्रहण होता है, काला या सफेदरूप विशेष का नहीं वैसे ही वृत्ति में भी विशेष संख्या के स्थान पर एकत्वादि संख्यामात्र में अनुगत जो सामान्य है, वह अभेदैकत्वसंख्या ही प्रतीत होती है। इससे राजपुरुष में सामान्य संख्यावान् राजा अर्थ की प्रतीति होती है, अन्यार्थ के समान द्विआदि संख्यारहित राजा अर्थ की नहीं। ऐसी स्थिति में "एकवच्चेति वक्तव्यम्" कथन के बिना भी स्तोकान् मुक्तः इस एकवचनान्त अलुक् से ही लक्ष्यानुरोधवशात् विवक्षित द्वित्व, बहुत्व अर्थों की प्रतीति सिद्ध हो जाएगी तो द्विवचनान्तादि का अनिष्ट अलुक् नहीं विधान करना होगा। वैयाकरणभूषणसार में भी यह न्याय आया है।[760]

51. कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते न्याय

"दीधीवेव्योर्ङित्वात् क्ङिति चेति सूत्रेणैव निषेधोऽस्तु। किमिह दीधीवेव्योर्ग्रहणेन। मैवम्, इग्लक्षणयोर्हि स निषेध इत्युक्तम्। न च कार्यी निमित्ततयाऽश्रीयते-च्यवते प्लवते इत्यादावपि गुणनिषेधापत्तेः"।[761]

"दीधीवेवीटाम्" सूत्र की व्याख्या करते हुए शब्दकौस्तुभकार कहते हैं कि यदि यह कहा जाए कि 'दीधीङ्' तथा 'वेवीङ्' दोनों धातु ङित् हैं। अतः ङित् होने के कारण इनको "क्ङिति च"[762] सूत्र से ही गुणवृद्धि का निषेध सिद्ध हो जाने से फिर प्रकृत सूत्र की क्या आवश्यकता है तो इसका उत्तर है "क्ङिति च" सूत्रस्थ 'क्ङिति' यह निमित्त सप्तमी है अर्थात् कित्, ङित्, गित् को निमित्त मानकर प्राप्त होने वाले गुणवृद्धि का ही यह सूत्र निषेध करता है जबकि 'दीधीङ्' तथा 'वेवीङ्' धातुओं को प्राप्त होने वाले गुण का ङित् निमित्त नहीं है अपितु कार्य को अनुभव करने वाला स्वयं कार्यभाक् है। इस विषय में "कार्यमनुभवन् हि कार्यी" इस परिभाषा के बल से कार्य को अनुभव करने वाला कार्यी कार्य का निमित्त नहीं बना करता। फलतः व्यतिरेकी दृष्टान्त के आधार पर जैसे लोक में सब ब्राह्मण भोजन करें परन्तु माठर और कौडिन्य परोसें– ऐसा कहने पर सब ब्राह्मणों के भोजन के समय माठर और कौडिन्य भोजन नहीं करते। क्योंकि उस समय वे भोजन कराने या परोसने के निमित्त हैं। अतः वे स्वयं भोजनभाक् नहीं हो सकते। वैसे ही यहां शास्त्र में भी यह ङित् कार्यी होने से उक्त धातुओं को प्राप्त होने वाले गुण-वृद्धि के निषेध का निमित नहीं बनेगा।

ध्यातव्य है कि इस परिभाषा में "स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते"[763] सूत्रस्थ 'शयितरि' यह निर्देश ही ज्ञापक है।[764] अन्यथा 'शीङ्' धातु के ङित् होने से 'शयितरि' में गुण कैसे हो गया? यदि कार्य को अनुभव करने वाला 'शीङ्' धातु का ङित् किसी कार्य का निमित्त माना जाता तो "क्ङिति च" सूत्र से ङित् को निमित्त मानकर 'शयितरि' में गुण का निषेध हो जाता। परन्तु यहां गुण हो रहा है, इससे सिद्ध होता है कि कार्यभाक् कभी कार्य का निमित्त नहीं बना करता। इस सन्दर्भ में तौदादिक कुटादिगणस्थ 'कुङ् शब्दे' धातु का ङित् भी इस बात का ज्ञापक है कि जो कार्य का अनुभव करने वाला

कार्यी है, वह निमित्त नहीं माना जाता। अन्यथा 'कुङ् शब्दे' के ङित्त्व से ही गुणनिषेध सिद्ध हो जाने पर भी जो उसे कुटादिगण में पढ़कर "गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्"[765] सूत्र से 'कुङ्' से परे प्रत्यय को ङित् किया गया है, वह व्यर्थ हो जाता है।

52. अधिकं प्रविष्टं न तु तद्धानिः न्याय

"कथं तर्हि श्रीहर्षः-

इमां किमाचमयसे न चक्षुषी चिरं चकोरस्य भवन्मुखस्पृशी इति पानस्यापि भक्षणविशेषात्मकत्वात्। सामान्यग्रहणेन विशेषस्यापि ग्राह्यत्वात् . . . . . . पानं तु द्रवद्रव्यस्य गलादधःकरणम्। तत्र द्रवद्रव्यांशस्याधःकरणे कर्मीभूतस्याधिकस्य भानेऽपि भक्षयतेरर्थस्य भानं निर्विवादम्। यथा मन्दगतौ भासमानायां गतेर्मानम्। अधिकं प्रविष्टं न तु तद्धानिरिति न्यायात्"।[766]

यह न्याय शब्दकौस्तुभकार ने "निगरणचलनार्थेभ्यश्च" सूत्र की व्याख्या में दिया है। यहां पर भट्टोजिदीक्षित पीना या निगलने को भी भक्षणार्थक मानते हुए कहते हैं कि पीने में पान के साथ कुछ ठोस अन्न का भक्षण भी हो जाने से कुछ अधिक की ही प्राप्ति हुई, हानि तो नहीं हुई। क्योंकि द्रव पदार्थ का गले से नीचे ले जाना पीना होता है अर्थात् जब आदमी कोई चीज पीता है तो वह वस्तु गले के नीचे उतरती है। उसमें द्रव और द्रव्य के साथ कुछ भक्षणीय अर्थ भी साथ चला जाता है। जिस प्रकार धीमे चलने वाले मनुष्य में धीमी गति का भान होता है, उसी प्रकार पीने में भी पेय द्रव के साथ कुछ भक्षणीय पदार्थ के भी सम्मिलित हो जाने से वह भी भक्षणार्थ मानी जा सकती है। क्योंकि इस तरह पीने में कुछ अधिक ही प्राप्त हुआ, कुछ हानि तो नहीं हुई अर्थात् पीना तो है ही, साथ में कुछ उसमें भक्षण भी हो जाता है। इस न्याय का सीधा अर्थ यही है कि किसी अधिक वस्तु से हानि न होकर लाभ ही होता है, जैसे किसी मासिक पूजाविधान में दस हजार गायत्री जप आवश्यक कहे गए। अब यदि यहां दस के स्थान पर बारह हजार गायत्री मन्त्रों का जाप हो गया तो यह दो हजार अधिक जाप दोषावह न होकर पुण्योत्पादक ही रहेगा। वैसे इसकी एक व्यतिरेकी व्याख्या यह भी हो सकती है कि जैसे- वैद्य के द्वारा निर्दिष्ट औषध निर्धारित मात्रा से अधिक लेने पर प्राणदायक के स्थान पर प्राणहारक भी हो सकती है। फिर भी न्याय का मूल भाव यही है कि लाभ तो सभी चाहते हैं। यदि अधिक अर्थ की प्राप्ति हो जाती है और हानि कुछ नहीं होती तो इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है? कहा भी है- "अधिकं तु न दोषाय"।

इसी प्रकार 'इमां किमाचमयसे न चक्षुषी'[767] इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकस्थ 'आचमयसे' प्रयोग में प्रकृत न्याय से आचमन को भी निगरणार्थक या भक्षणार्थक मान लिया जाने से फिर यहां उपर्युक्त सूत्र से परस्मैपद प्राप्त होता है जोकि अनिष्ट है। वस्तुतः इस प्रयोग के साधुत्वसाधन में व्याख्याकारों में मतभेद है। जहां कुछ व्याख्याकार

'आचामयसे' में 'आचामय' ऐसा पृथक् पद मानते हुए "ईर्लक्ष्मीस्तया सहिता सेस्तस्याः सम्बोधने हे से" ऐसी व्याख्या करते हैं वहां दूसरे विद्वान् इस श्लोक का "सा त्वम् इने चक्षुषी इनचक्षुषी श्रेष्ठचक्षुषी आचामय किम्" ऐसा व्याख्यान करते हैं।[768] वास्तव में चक्षुओं का मुखचन्द्रिकाकर्मक पानात्मक आचमन सम्भव न होने से 'आङ्' पूर्वक णिजन्त 'चम्' धातु आदर अर्थ में लाक्षणिक है। अतः उस अवस्था में इसके निगरणार्थक न होने से स्वतः ही परस्मैपद न होकर अभीष्ट आत्मनेपद निर्बाध रहेगा। यहां यह कहना कि ऐसा मानने पर फिर आचमन के प्रत्यवसानार्थक न रहने से "गतिबुद्धिः"[769] सूत्र से चक्षुओं की कर्मसंज्ञा कैसे हो सकेगी तो यह ठीक नहीं। क्योंकि यह 'आङ्' पूर्वक णिजन्त 'चम्' धातु यहां केवल आदर अर्थ में नहीं है अपितु दर्शनपूर्वक आदर अर्थात् सादर ज्ञान अर्थ में लाक्षणिक है। स्पष्ट है कि उस अवस्था में 'आचामि' धातु के बुद्ध्यर्थक हो जाने से चक्षुओं का कर्मत्व निर्बाध है।[770] प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी स्वल्परूपेण प्रयुक्त देखा जा सकता है।[771]

ङ(2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित भोजनसम्बन्धी लोकन्याय

1. अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः न्याय/अभक्ष्यो ग्राम्य शूकरःन्याय/भक्ष्याभक्ष्यधर्मनियम न्याय[772]
2. समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते न्याय[773]
3. शिष्टानुकरण न्याय / करणानुकरण न्याय/अशिष्टाप्रतिषिद्ध न्याय[774]
4. लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते न्याय/दश दाडिमानीत्यादि न्याय[775]
5. नाव्यपवृक्तस्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु/गोसर्षपविक्रयण न्याय[776]
6. भेदका गुणाः न्याय[777]
7. सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य न्याय[778]
8. वाक्यैकदेश न्याय/पदैकदेश न्याय/प्रविश पिण्डीम् न्याय[779]
9. अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते न्याय/आयुर्घृतम् न्याय/दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः न्याय[780]
10. निषेधाश्च बलीयांसो भवन्ति न्याय[781]
11. आ वनान्तात् ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत् न्याय[782]
12. राजतक्षा न्याय/जहत्स्वार्था वृत्तिः न्याय[783]
13. वार्ता न्याय/स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानं न वाचनिकम् न्याय[784]
14. सामर्थ्य न्याय/अयःकीलव्यतिषेक न्याय[785]
15. सार्थिकप्रतिश्रयसम्बन्ध न्याय/प्रपामेल न्याय[786]
16. गुण शब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[787]

17. अवयवेनापि शास्त्रार्थसम्प्रत्ययो भवत्यनवयवेनापि न्याय[788]
18. वृद्धकुमारी वर वाक्य न्याय[789]
19. काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् (दध्युपघातक काकादिदधिरक्षण) न्याय[790]
20. पानकरस न्याय[791]
21. हंसक्षीरोदक न्याय[792]
22. ब्राह्मणक्षत्रियभोजनभाजनपर्याय न्याय[793]
23. प्रधानाप्रधान/प्रधानानुरोधी न्याय[794]
24. तुल्यकांस्यपात्रीभोजन न्याय[795]
25. एकमपि हि वस्त्वावर्त्यमानमनेकत्रोपयुज्यते न्याय[796]
26. उपयुक्तं घृतम् न्याय[797]
27. तन्त्राद्यावृत्त्येकशेष न्याय[798]
28. पिष्टपिण्डसिंह न्याय[799]
29. अन्धपरम्परा न्याय[800]
30. सपुत्रभोजन न्याय[801]
31. ब्राह्मणक्षत्रियभोजनन्याय/अन्तरतम न्याय[802]
32. पांसूदक न्याय[803]
33. क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते न्याय[804]
34. ब्राह्मणशतभोजन न्याय/अभिधानप्रकार न्याय[805]
35. नागयज्ञोपवीतीभोजन न्याय[806]
36. श्रुतानुमितयोः श्रुतं बलीयः न्याय[807]
37. अर्थापत्तिः न्याय[808]

च (1) परिवहनसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. इतरेतराश्रय न्याय / नौशकट न्याय / त्रिविष्टब्धक न्याय

"सतामादैचां संज्ञया भवितव्यम्। संज्ञया चादैचो भाव्यन्ते। तदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। तद् यथा- नानौवि बद्धा नेतरत्राणाय भवति। ननु च भो इतरेतराश्रयाण्यपि कार्याणि दृश्यन्ते। तद् यथा- नौः शकटं वहति, शकटं च नावं वहति। अन्यदपि तत्र किञ्चिद् भवति जलं स्थलं वा। स्थले शकटं नावं वहति, जले नौः शकटं वहति। यथा तर्हि त्रिविष्टब्धकम्। तत्राप्यन्ततः सूत्रकं भवति। इदं पुनरितरेतराश्रयमेव"।[809]

यह इतरेतराश्रय दोष वाला लोकन्याय व्याकरणशास्त्र में बहुत प्रसिद्ध है। वृद्धि, गुण, लोप आदि बहुत संज्ञाओं में यह प्रयुक्त किया जाता है। प्रकृत में "वृद्धिरादैच्"

सूत्र से 'आदैच्' की वृद्धि संज्ञा की गई है। परन्तु 'आदैच्' के पहले विद्यमान होने पर ही वृद्धि संज्ञा हो सकती है, उसके अभाव में नहीं। और वृद्धि हो यह कहकर 'आदैच्' आएंगे। इस प्रकार 'आदैच्' के होने पर वृद्धि और वृद्धि के होने पर 'आदैच्' - यह इतरेतराश्रय दोष प्रसक्त होता है। दोनों कार्य एक दूसरे के आश्रय से जहां होते हैं, वहां इतरेतराश्रय या अन्योन्याश्रय दोष माना जाता है। और एक दूसरे के आश्रय से होने वाले कार्य सम्भव नहीं हैं। जैसे एक नाव यदि दूसरी नाव में बांध दी जाए तो दोनों नावों के एक दूसरे के सहारे खड़ी होने से दोनों में कोई सी भी दूसरी को बचाने में समर्थ नहीं हो सकती। यदि एक डूबती है तो दूसरी को भी अनायास ही डूबना पड़ता है।

लोकव्यवहार की विरूपता को देखकर यदि कहो कि नहीं, इतरेतराश्रय कार्य भी संभव होते दीखते हैं। जैसे नाव गाड़ी को ढोती है और गाड़ी नाव को। दोनों एक दूसरे के आश्रय से काम चलाते हैं तो इसका उत्तर यह है कि नाव और गाड़ी में इन दोनों के अतिरिक्त जल या स्थल का भी कुछ आश्रय (उपाधि) अवश्य लेना पड़ता है अर्थात् जल में नाव गाड़ी को ढ़ोती है और स्थल में गाड़ी नाव को ढ़ोती है। इसलिए यह निरुपाधि इतरेतराश्रय नहीं है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में अगर यह कहा जाए कि तो फिर त्रिविष्टब्धक (तिपाई) का दृष्टान्त ले लीजिए। तिपाई में तीन पांव एक दूसरे के सहारे खड़े रहते हैं[810] तो इसका भी उत्तर यह है कि तिपाई में भी तीनों पांवों के मध्य में कील आदि (उपाधि) जुड़ी रहती है जिसके सहारे से वे तीनों पांव खड़े रहते हैं। इसलिए यहां भी निरुपाधि इतरेतराश्रय नहीं है। "वृद्धिरादैच्" में तो स्पष्ट ही इतरेतराश्रय है। क्योंकि वृद्धि के आश्रय 'आदैच्' हैं और 'आदैच्' के आश्रय वृद्धि है। इस प्रकार लोकव्यवहार प्रसिद्ध इतरेतराश्रय दोष "वृद्धिरादैच्" सूत्र में बना ही रहता है जिसका समाधान भाष्यकार ने "सिद्धन्तु नित्यशब्दत्वात्"[811] कहकर स्पष्ट किया है। तदनुसार वैयाकरण शब्दों को नित्य मानते हैं। अतः 'आदैचों' को नित्य मानकर वृद्धिसंज्ञाविधान से पूर्व विद्यमान आदैचों की वृद्धिसंज्ञा हो जाएगी तो वृद्धिसंज्ञा में इतरेतराश्रय दोष नहीं होगा। इसी प्रकार "अदेङ् गुणः", "अदर्शनं लोपः"[812] इत्यादि गुण, लोप प्रभृति सभी संज्ञाओं में प्राप्त इतरेतराश्रय दोष का शब्द को नित्य मानकर समाधान हो जाएगा। नौर्नावि बद्धापरक इतरेतराश्रयमूलक यह न्याय अन्यत्र भो उद्धृत किया गया है।[813]

2. नष्टाश्वदग्धरथ न्याय

"अथवा नष्टाश्वदग्धरथवत् सम्प्रत्ययो भवति। तद् यथा- तवाश्वो नष्टः, ममापि रथो दग्धः, उभौ सम्प्रयुज्यावहै इति, एवमिहापि तवाप्यन्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति, ममाप्यन्तरतम आदेशो नास्ति, अस्तु नौ सम्प्रयोग इति।"[814]

"स्थानेऽन्तरतमः" सूत्रभाष्य में भाष्यवार्तिककार प्रकृत न्याय को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि अथवा नष्टाश्वदग्धरथवत् संप्रयोग हो जाएगा। जैसे लोक में हम देखते हैं कि किसी का घोड़ा नष्ट हो गया और किसी का रथ जल गया। वे दोनों अपना काम चलाने के लिए मिलते हैं और कहते हैं कि तेरा घोड़ा नष्ट हो गया और मेरा रथ जल गया। आओ, दोनों मिलकर काम चला लें। इस तरह वे दोनों आपस में मिलकर काम चला लेते हैं। भाव यह है कि जले हुए रथ वाले के पास तो घोड़ा था, रथ नहीं था। क्योंकि वह जल चुका था। और मरे हुए घोड़े वाले के पास रथ था, घोड़ा नहीं था। क्योंकि उसका घोड़ा खो गया था या मर गया था। दोनों मिल गए तो घोड़ा और रथ मिलकर सवारी बन गई। दोनों का काम अच्छी तरह चल निकला। इसी तरह यहां शास्त्र में भी गुण संज्ञक 'अ', 'ए', 'ओ' में तथा वृद्धि संज्ञक 'आ', 'ऐ', 'औ' में 'ए', 'ऐ' का अन्तरतम स्थानी 'इ' मिल जाता है और 'ओ' 'औ' का अन्तरतम स्थानी 'उ' मिल जाता है। क्योंकि 'ए', 'ऐ' तालु स्थान वाले विवृत हैं और इकार भी तालु स्थान वाला विवृत है। इसी तरह 'ओ' 'औ' ओष्ठ स्थान वाले विवृत हैं और उकार भी ओष्ठ स्थान वाला विवृत है। शेष रहे 'अ', 'आ', इन दोनों की प्रकृति अथवा स्थानी 'ऋ' शेष रहती है, वह मूर्धा स्थान वाला विवृत है और 'अ' 'आ' दोनों कण्ठस्थान वाले विवृत हैं। इस प्रकार स्थानी और आदेश का आन्तर्य नहीं बनता, दोनों अन्तरतम नहीं हैं। इसलिए पूर्वोक्त न्यायानुसार 'ऋ' और अवर्ण दोनों मिल लें और कहें कि तेरी तो अन्तरतम प्रकृति नहीं है अर्थात् 'अ', 'आ' की तो अन्तरतम प्रकृति नहीं है और मेरा अर्थात् 'ऋ' का अन्तरतम आदेश नहीं है। 'ऋ' के मूर्धा स्थान वाला होने से उसके स्थान में होने वाले गुण-वृद्धिसंज्ञक 'अ' 'आ' अन्तरतम नहीं हैं। क्योंकि वे कण्ठस्थान वाले हैं। फलतः परिशेषानुमान से फिर 'नष्टाश्वदग्धरथवत्' इस उक्त न्याय के अनुसार उन दोनों का मेल हो जाने से 'ऋ' के स्थान में 'अ' होकर उसे रपर हो जाता है तो 'अर्' गुण बन जाता है और 'आ' होकर रपर हो जाता है तो 'आर्' वृद्धि बन जाती है।

इसी से मिलता जुलता न्याय सांख्यदर्शन के सिद्धान्त में काम आता है। उस न्याय का नाम है- पङ्ग्वन्धन्याय'। प्रकृति अन्धी है जड़ होने से और पुरुष पङ्गु है अकर्ता होने से। दोनों का मेल हो जाता है तो यह संसार का व्यवहार चलता है। जैसे लंगड़ा आदमी चल नहीं सकता पर देख तो सकता है। इसी तरह अन्धा आदमी देख नहीं सकता पर चल तो सकता है। यदि ये दोनों मिल जाएं और अन्धा लंगड़े को अपने ऊपर बैठाकर ले चले तो दोनों का काम कितनी आसानी से हो जाता है।[815]

ध्यातव्य है कि यहां भाष्यकार ने पहले तो 'ऋ' और 'अ', 'आ' के विषय में "अनान्तर्यमेवैतयोरान्तर्यम्" कहा अर्थात् स्थानी एवं आदेश इन दोनों का न मिलना ही इनका मिलना है। क्योंकि 'ए' 'ऐ' 'ओ' 'औ' ने तो 'इ' 'उ' को पकड़ लिया।

उनको अन्तरतम स्थानी मिल गया। किन्तु शेष 'अ' 'आ' को अपना अन्तरतम स्थानी 'ऋ' नहीं मिला। इसलिए अगत्या या लाचार होकर उन्हें 'ऋ' से मेल करना पड़ा। पीछे से इसी बात को उन्होंने लोकन्याय से भी सिद्ध कर दिखाया। इससे भाष्यकार की लोकन्याय के प्रति पूरी आस्था प्रतीत होती है। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[816]

3. वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते न्याय / अध्वगमन न्याय

"सिद्धन्त्ववस्थिता वर्णा वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते। अवस्थिता वर्णा द्रुतमध्यमविलम्बितासु। वक्तुश्चिराचिरवचनाद् वृत्तयो विशिष्यन्ते। वक्तैव कश्चिदाश्वभिधायी भवति। आशु वर्णानभिधते। कश्चिच्चिरेण कश्चिच्चिरतरेण, कश्चिच्चिरतमेन। तद् यथा- तमेवाध्वानं कश्चिदाशु गच्छति, कश्चिच्चिरतरेण, कश्चिच्चिरतमेन। रथिक आशु गच्छति। आश्विकश्चिरेण पदातिश्चिरतरेण शिशुश्चिरतमेन"।[817]

"तपरस्तत्कालस्य" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यवार्तिककार द्रुत, मध्यम, विलम्बित वृत्तियों के भेदों से वर्णों में होने वाले भेद का निराकरण करते हुए कहते हैं कि द्रुत आदि वृत्तियों के भेद से वर्णों में भेद नहीं होता। वर्ण उसी प्रकार अवस्थित रहते हैं। केवल वक्ता के देरी और जल्दी में बोलने से ही द्रुत आदि वृत्तियों का भेद हो जाता है। कोई वक्ता बहुत जल्दी वर्णों का उच्चारण करता है, वह द्रुतवृत्ति बन जाती है। कोई कुछ देर में उच्चारण करता है, वह मध्यम वृत्ति बन जाती है और कोई बहुत देर में उच्चारण करता है, वह विलम्बित वृत्ति बन जाती है। जैसे लोक में देखते हैं कि उसी रास्ते को कोई बहुत जल्दी पार लेता है, कोई कुछ देर से पार करता है और कोई बहुत देर से पार करता है। तद्नुसार रथ पर सवार बहुत जल्दी पार कर लेता है। घुड़सवार कुछ देर में पार करता है। पैदल चलने वाला उससे कुछ देर में पार करता है और शिशु (छोटा बच्चा) बहुत देर में पार करता है। इस सन्दर्भ में अग्रिम भेर्याघात न्याय भी अवश्य पठनीय है।

4. भेर्याघात न्याय

"एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथम्? भेर्याघातवत्। तद् यथा भेर्याघातः भेरीमाहत्य कश्चिद् विंशति पदानि गच्छति, कश्चित् त्रिंशत्, कश्चिच्चत्वारिंशत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः –

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिरशु खलु लक्ष्यते
अल्पो महांश्च केषांचिदुभयं तत् स्वभावतः॥"[818]

"तपरस्तत्कालस्य" इस सूत्र के भाष्य में वास्तविक शब्द का लक्षण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि स्फोट ही शब्द है। ध्वनि तो शब्द का गुण है, उपकारक है। ध्वनि से स्फोट व्यङ्ग्य होता है। वह सदा एकरस, नित्य और स्थिर रहता है।

उसमें वृद्धिह्रास नहीं होते। जैसे लोक में भेरी (नगाड़ा) को बजाने वाला भेरी को बजाकर कोई बीस कदम जाता है, कोई तीस और कोई चालीस। जहां आवाज जल्दी पहुंच जाती है वहां बीस कदम ही जाकर रुक जाता है। जहां देर में पहुंचती है वहां तीस कदम और जहां बहुत देर में पहुंचती है वहां चालीस कदम जाना पड़ता है। यद्यपि नगाड़े पर चोट तो एक सी ही होती है, परन्तु उसकी आवाज बीस, तीस या चालीस कदम तक चली जाती है। वहां उस आघात या चोट की जो आवाज है, उसके कारण चोट को बड़ा-छोटा कह दिया जाता है। वस्तुतः चोट में वृद्धिह्रास नहीं हैं। ऐसे ही यहां भी वर्णों की जिस आवाज या ध्वनि से अर्थ का बोध स्पष्ट होता है, वह अर्थबोध ही स्फोट है। अर्थ का वाचक ध्वनि है और वाच्य स्फोट है। इस प्रकार शब्द के दो स्वरूप हो जाते हैं - ध्वनि और स्फोट। शब्द के इन दोनों ही भेदों का लक्षण करते हुए पस्पशाह्निक के प्रारम्भ में भी गौ और शब्दकारी माणवक न्याय के माध्यम से भाष्यकार ने कहा था-

"येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः" ("स च स्फोट एव स्फुटत्यर्थो यस्मादिति व्युत्पत्तेः" - प्रदीप) तथा "अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।"

वैयाकरणों के मत में स्फोट नित्य है और ध्वनि अनित्य है। अन्यों के मत में ध्वनि ही शब्द है और वह अनित्य है। शब्दों के ये दोनों भेद तथा उनकी नित्यता-अनित्यता शब्दशक्तिस्वभाव से व्यवस्थित हैं। यह न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[819]

5. प्राप्तिज्ञो देवानाम्प्रियो न त्विष्टिज्ञः न्याय / वैयाकरण(रथि)सूतसंवाद न्याय

"किंच भो! इष्यते एतद् रूपम्? वाढमिष्यते। एवं हि कश्चिद् वैयाकरण आह - कोऽस्य रथस्य प्रवेतेति? सूत्र आह - आयुष्मान्! अहमस्य रथस्य प्राजितेति। वैयाकरण आह - अपशब्द इति। सूत आह - प्राप्तिज्ञो देवानाम्प्रियो न त्विष्टिज्ञः। इष्यंते एतद् रूपमिति। वैयाकरण आह-अहो! खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामहे इति। सूत आह - न खलु वेञः सूतः, सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्।"[820]

"अजेर्व्यघञपोः" इस सूत्रभाष्य में वैयाकरण तथा रथ हांकने वाले एक सारथि का संस्कृत में अतिसुन्दर संवाद है जिससे स्पष्ट होता है कि भाष्यकार के समय साधारण रथ हांकने वाले लोग भी संस्कृत भाषा के मर्मस्पर्शी विद्वान् होते थे। इसीलिए भाष्यकार पदे-पदे अभिधान-अनभिधान की बात करते हैं। इस संवाद में जब वैयाकरण और सारथि की खूब नोकझोंक चलती है और अन्त में सारथि जीत जाता है तब बड़ा आश्चर्य होता है। साथ ही व्याकरण के सूक्ष्म सिद्धान्तों का भी पाठक को सरलता से परिज्ञान होता है। तदनुसार 'प्र' पूर्वक 'अज्' धातु से 'तृच्'

प्रत्यय परे रहते "अजेर्व्यघञपोः"[821] से नित्य 'वी' आदेश होकर 'प्रवेता' रूप आचार्य पाणिनि के मत से बनता है। उनके मत में 'वी' आदेश का विकल्प नहीं है जो पक्ष में 'प्राजिता' भी बन जाए अर्थात् आचार्य पाणिनि तो उक्त सूत्र द्वारा आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर नित्य ही 'अज्' को 'वी' आदेश मानते हैं। और यह 'तृच्' प्रत्यय आर्धधातुक है, अतः उसके परे होने पर नित्य ही 'अज्' को 'वी' होकर 'प्रवेता' रूप बनेगा। किन्तु आगे आने वाले भाष्यकार पतञ्जलि ने सूत्रोक्त "अघञपोः" के साथ वार्तिककारोक्त "क्यप उपसंख्यानम्" के 'क्यप्' का भी प्रत्याख्यान करते हुए "अजेर्वी" केवल इतने सूत्र में "वा लिटि"[822] इस पूर्वसूत्र से 'वा' शब्द की अनुवृत्ति द्वारा व्यवस्थित विभाषा मानकर[823] 'अज्' और 'वी' के अभीष्ट रूप या प्रयोग सिद्ध कर लिए हैं। उनके मत में 'प्रवेता', 'प्रवेतुम्', 'प्रवीतः', 'संवीतिः' ये 'वी' के रूप बन जाएंगे और 'समाजः', 'उदाजः', 'समजः', 'उदजः', 'समजनम्', 'उदजनम्', 'समज्या' ये 'अज्' के रूप बन जाएंगे। साथ ही वलादि आर्धधातुक परे रहते 'अज्' और 'वी' इन दोनों का वैकल्पिक प्रयोग भी स्वीकार कर लिया गया है। वे कहते हैं - "तत्रायमप्यर्थः- इदमपि सिद्धं भवति प्राजितेति"।[824]

इस पर आचार्य पाणिनि के मत का अनुयायी पूछता है कि क्या 'प्राजिता' रूप भी इष्ट है? क्योंकि पाणिनि के मत में तो नित्य 'वी भाव' होकर 'प्रवेता' रूप ही होना चाहिए, 'प्राजिता' नहीं। तब भाष्यकारमतानुयायी इष्टिज्ञ कहता है - हां, 'प्राजिता' रूप भी इष्ट है। इस विषय में भाष्यकार किसी प्राचीन वैयाकरण तथा सूत (सारथि) का रोचक संवाद उद्धृत करते हैं। फलतः पाणिनिमतानुयायी वैयाकरण पूछता है कि इस रथ का 'प्रवेता' (हांकने वाला) कौन है? सूत उत्तर देता है कि श्रीमान् जी! मैं इस रथ का 'प्राजिता' (हांकने वाला) हूं। यह सुनकर वैयाकरण कहता है कि 'प्राजिता' यह तो अपशब्द है, 'प्रवेता' कहो। सूत उत्तर देता है - हे वैयाकरण महोदय! आप बड़े भोले हैं। आप केवल पाणिनीय सूत्रों की प्राप्ति को ही जानते हैं। आप अधिक लक्ष्यदर्शी भाष्यकार द्वारा प्रोक्त 'इष्टि' को नहीं जानते[825] जबकि "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्"[826] इस वचनानुसार सूत्रकार की अपेक्षा भाष्यकार की बात अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। भाष्यकार "अजेर्व्यघञपोः" सूत्र में "वा लिटि" से 'वा' की अनुवृत्ति करके 'वी' आदेश को वलादि आर्धधातुक में विकल्प से मानते हैं। इसलिए मैंने जो 'प्राजिता' रूप बोला है, वह सर्वथा भाष्यकारानुकूल होने से शुद्ध शब्द है, अपशब्द नहीं है। सूत का यह उत्तर सुनकर वैयाकरण बौखला गया और बोला - अरे! इस दुरुत (सु + उतः = सूतः उसका उलटा दुर् + उतः) ने हमें बड़ा तंग कर दिया। वैयाकरण की यह बात सुनकर विद्वान् सूत से नहीं रहा गया। वह बोला- भगवन्! सूत शब्द 'सु' पूर्वक 'वेञ्' धातु से निष्ठा प्रत्यय 'क्त' करने पर नहीं बनता जो आप मुझे 'दुरुत' बता रहे हैं। क्योंकि 'दुर् + उतः' (बुरी तरह या कष्ट से बुना हुआ) ऐसा मैं नहीं हूं। मैं तो वह सूत हूं जो 'षू प्रेरणे' धातु से निष्ठाप्रत्यय 'क्त' करने पर बनता है जिसका

अर्थ है- 'सुवति प्रेरयति इति सूतः' अर्थात् रथ को हांकने वाला। यदि आप मुझ सूत को बुरा बताना चाहते हैं तो 'दुरुत' न कहकर 'दुःसूत' कहिए। यह युक्तिप्रमाणसमन्वित सूत की बात सुनकर वैयाकरण चुप हो गया।

इस संवाद से पाठक निश्चयेन इसी परिणाम पर पहुंचेंगे कि "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" के अनुसार सूत्रकार पाणिनि से वार्तिककार कात्यायन का मत अधिक प्रमाण है और उक्त दोनों मुनियों से भी अधिक भाष्यकार पतञ्जलि का मत प्रमाण है। क्योंकि इन्होंने भाषा का अधिक विकास देखा है। यह संवाद लोक से सम्बन्ध रखता है, उस समय की लोकभाषा का परिचायक है, इसलिए इसे भी लोकन्याय में समाविष्ट कर लिया गया है। यह संवाद अत्युपयुक्त शिक्षाप्रद है। इसके मनन से लोकभाषा संस्कृत की उत्तरोत्तर व्यापकता तथा विकसनशीलता प्रकट होती है। इसलिए यह अत्यन्त उपादेय है। भाष्यकार के शब्दों में-

"न ब्रूमोऽकृत्स्नमिति। किं तर्हि? कृत्स्नं च कारकं च साधकं च निर्वर्तकं च। यच्चानेन कृतं सुकृतं तत्"।[827]

ऐसे ऐसे लोकसंवादों से व्याकरण जैसा नीरस विषय भी सरस बन जाता है। अन्यत्र भी उक्त न्यायगत प्राप्तिज्ञता की ओर संकेत किया गया है।"[828]

च(2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित परिवहनसम्बन्धी लोकन्याय

1. रथाङ्गरथ न्याय/दृश्यते हि पुनरतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः न्याय[829]
2. वैयाकरणशकटसार्थ न्याय[830]
3. लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य न्याय[831]
4. क्वचिद्गुणः प्राधान्येन विवक्षितो भवति न्याय[832]
5. रथस्थानयन न्याय[833]
6. रथकाराधिकरण न्याय[834]
7. उपसंजनिष्यमाणनिमित्तोऽप्यवाद उपसंजातनिमित्तमप्युत्सर्गं बाधते न्याय[835]

छ. प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित मनोरञ्जनसम्बन्धी लोकन्याय

1. मल्लग्राम न्याय[836]
2. व्युत्क्रमणेनापि लोके सम्बन्धो दृश्यते न्याय/कन्याब्रह्मचारिणौ दण्डकन्दुकहस्तौ न्याय[837]

सन्दर्भसूची

1. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 1.
2. वही. पृ. 1.
3. पा. 1.1.70.
4. वही. ऋलृक् सूत्र, पृ. 19-20.
5. तुलना करो, कुमार. 2.17
   "पुराणस्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता।
   प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी॥"
6. महा. प्र. भा. 5, सू. 7.2.67, पृ. 147.
7. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 11 "एवं हि श्रूयते - यर्वाणस्तर्वाणो नामर्षयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परापरज्ञा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः। ते तत्र भवन्तो यद्वानस्तद्वान इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते, याज्ञे कर्मणि पुनर्नापभाषन्ते...."
8. न्या.मं. प्रमाण प्रकरण स्फोटचन्द्रिका, पृ. 6.
9. महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.2.4, पृ. 10.
10. काव्यमीमांसा, अध्याय सं 6. पृ. 49 - "तत्र दयितसुब्वृत्तयो विदर्भाः। वल्लभसमासवृत्तयो गौडाः। प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। कृत्प्रयोगरुचय उदीच्याः। अभीष्टतिङ्वृत्तयः सर्वेऽपि सन्तः"।
11. तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 2.4.62, पृ. 492 - "किम्पुनरर्थसतत्त्वम्? देवा एव एतज्ज्ञातुमर्हन्ति"।
12. पा. 1.2.4.
13. महा. प्र. उ. भा. 4, सू. 5.1.30-31, पृ. 38.
14. तुलना करो-
    (क) महा. भा. 1 सू. 1.1.23, पृ. 81 "न यथा लोके तथा व्याकरणे।
    (ख) वही. सू. 1.1.23, पृ. 81- "उभयगतिरिह भवति"॥
15. द्र. वही - ऋलृक् सूत्र, पृ. 20 "न्याय्यभावात्कल्पनं संज्ञादिषु"।
16. द्र. वही. "अर्तिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते फिडफिड्डौणादिकौ प्रत्ययौ"।
17. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.2.45, पृ. 338; भा. 3, सू. 3.3.1 पृ. 4); प.मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.1, पृ. 61).
18. महा. भा. 1, ऋलृक् सूत्र, पृ. 20.
19. वही. - "अन्यथाकृत्वा प्रयोजनमुक्तमन्यथाकृत्वा परिहारः, सन्ति यदृच्छाशब्दा इति कृत्वा प्रयोजनमुक्तम्, न सन्तीति परिहारः"। यह न्याय न्यास. (का. भा 3 सू. 4.1.82, पृ. 398). प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.2, पृ. 338; भा. 3 सू. 4.1.82, पृ. 398); महा. प्र. उ. भा. 4, सू. 3.1.2, पृ. 17 तथा बृ. श. शे. भा. 1, सू. 16, पृ. 75 पर भी प्रयुक्त हुआ है।

20. महा. भा. 1, ऋलृक् सूत्र, पृ. 20.

21. पा. 1.2.64.

22. महा. प्र. भा. 2, सू. 2.2.6, पृ. 668; भा. 5, सू. 7.1.2, पृ. 12; श. कौ. भा. 1, ऋलृक् सूत्र, पृ. 41; सू. 1.1.1 पृ. 74; 76; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 16, पृ. 76; सू. 54, पृ. 169.

23. महा. भा. 1, ऋलृक् सूत्र, पृ. 20.

24. तुलना करो, वही. पस्पशा. पृ. 2 ''यो ह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत् सोऽपि मन्ये पतितः स्यात्''।

25. वही. ऋलृक् सूत्र, पृ. 20.

26. वही., पृ. 20-21.

27. स्फोटचन्द्रिका, पृ. 13.

28. महा. भा. 1, ऋलृक् सूत्र, पृ. 21.

29. ध्यान रहे कि यहां नागेश के अनुसार लट्‌वा का अर्थ पक्षिविशेष (ग्रामचटक) या फलविशेष है।

30. तुलना करो, पञ्चतन्त्र, 3.16-

''खनन्नाखुबिलं सिंहः पाषाणशकलाकुलम्।
प्राप्नोति नखभङ्गं वा फलं वा मूषको भवेत्॥''

31. द्र. महा. भा. 1, सू. 2.1.69, पृ. 404 'इह हि सर्वे मनुष्या अल्पेन यत्नेन महतोऽर्थानाकाङ्क्षन्ति। एकेन माषेण शतसहस्रम्। एकेन कुद्दालकेन खारीसहस्रम्' इत्यादि।

32. द्र. वही. 1, पस्पशा. पृ. 10.

33. महा. प्र. उ. भा. 5, सू. 8.3.34, पृ. 450; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 1, पृ. 14.

34. नहा. भा. 1, एओङ् ऐऔच् सूत्र, पृ. 28.

35. तुलना करो, वही. भा. 3, सू. 6.1.135, पृ. 92 ''न ह्यव्यस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्। शास्त्रतो नाम व्यवस्था''।

36. वही. भा. 1, सू. 1.2.1., पृ. 191.

37. पा. 1.2.5.

38. इस विषय में प्रकृत ग्रन्थ का पृ. 107 देखें।

39. महा. भा. 1 हयवरट् सूत्र, पृ. 32.

40. वही भा. 1, सू. 1.1.20, पृ. 76 ''अनैमित्तिको ह्यनुबन्धलोपस्तावत्येव भवति''।

41. वही. सू. 1.1.5, पृ. 54.

42. पा. 2.4.72.

43. महा. भा. 1, सू. 1.1.23, पृ. 81.

44. तुलना करो - (क) परपदार्थेषु हि प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणापि वत्यर्थं गमयन्ति,

यथा- सिंहो माणवकः, गौर्वाहीकः। गौर्वाहीक इत्युक्ते गोशब्दोऽर्थान्तरे प्रयुक्तो विनापि वतिना गौरिवायमिति तुल्यशब्दरूपे वाहीके प्रतीयते''।

(ख) न्यास. (का. भा. 1 एओङ् सूत्र, पृ. 31) ''परपदार्थेषु हि प्रयुज्यमानाः शब्दा अन्तरेणापि इवशब्दप्रयोगमिवार्थो गमयन्ति यथा- अग्निर्माणवकः, गौर्वाहीकः इति''।

(ग) वही. सू. 1.1.7 पृ. 97 - ''सम्बन्धिशब्दो ह्यन्तरेणापि शब्दान्तरसन्निधिं नियतमेव सम्बन्धिनमुपस्थापयति.....''।

45. पा. 1.2.1.

46. द्र. आप्टे कोश- ''अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय आदेशः' अथवा प्रकृतिविकृतिः'।

47. महा. भा. 1, सू. 2.3.69, पृ. 469.

48. पा. 3.2.171.

49. ऋक्. 6.23.4.

50. महा. भा. 3, सू. 7.1.90 पृ. 272.

51. पा. 1.3.62.

52. पा. 3.1.3.

53. पा. 2.1.2.

54. ऋक्. 1.3.1.

55. पा. 6.1.198.

56. पा. 4.2.34.

57. पा. 4.2.24.

58. पा. 4.3.53.

59. पा. 4.3.11.

60. पा. 4.3.17.

61. पा. 1.1.56.

62. पा. 3.1.87.

63. पा. 7.1.90.

64. पा. 7.2.115.

65. पा. 7.1.95.

66. पा. 1.1.59.

67. पा. 6.3.34.

68. पा. 1.2.66.

69. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.2.1 पृ. 263; भा. 2, सू. 3.2.171, पृ. 671; भा. 5, सू. 7.1.90, पृ. 635); महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.56, पृ. 398; भा. 2, सू. 2.3.52, पृ. 826; भा. 5, सू. 8.1.72, पृ. 349; प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.2.171, पृ. 671; भा. 5, सू. 6.4.22,

पृ. 371; सू. 7.1.90, पृ. 635; भा. 6, सू. 8.1.72, पृ. 325); त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 3, सू. 2766, पृ. 611); बृ. श. शे. भा. 1, सू. 49, पृ. 148 सुबोधिनी (वै. सि. कौ. भा. 4, सू. 3435, पृ. 397).

70. महा. भा. 1, सू. 1.1.39, पृ. 97.
71. पा. 3.1.36.
72. पा. 2.4.81.
73. खण्डनखण्डखाद्य, पृ. 128; वेदान्तकल्पतरु, पृ. 231, 556.
74. महा. भा. 1, सू. 1.1.48, पृ. 118.
75. द्र. प्रकृतसूत्रस्थ महा. प्र. उ- "कुलालकर्मारवर्धकिनापितरजकाः पञ्चकारुकी"।
76. तुलना करो- "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"।
77. महा. प्र. भा. 2, सू. 1.2.73, पृ. 172.
78. द्र. पा. 8.4.5- "प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि"।
79. मा. धा., भ्वादिगण, धातु सं. 215, पृ. 111; त. बो. (वै.सि.कौ.भा. 1, सू. 323, पृ. 338); लौ. न्या. र. पृ. 23, 39.
80. धातुप्रदीप, पृ. 26.
81. तुलना करो, मा. धा., भ्वादिगण धातु सं. 215, पृ. 111- "इट् किट् कटी गतौ...... यथाह मैत्रेयरक्षितः उदात्तत्वमयतिवर्जं भट्टग्रामन्यायेनोदात्ता इति सामान्योक्तिरिति। स चायं न्यायः सुनिश्चित एवायतेः पाठे शोभते। विप्रतिपन्ने पुनरुदात्तत्वोक्त्याञ्जस्यवशादपाठ एव ज्यायान्। उदयतीत्यदि चैवमसाध्वेवास्तु इति"।
82. पा. 7.2.10.
83. महा. प्र. उ. भा. 1, पस्पशा. पृ. 11.
84. महाभारत वन पर्व, अध्याय सं. 314, श्लोक सं. 117; पञ्चतन्त्र 1.331.
85. वल्लभदेवकृत सुभाषितावली, श्लोक सं. 2742.
86. द्र. "बहूनामनुरोधो न्याय्यः"। तुलना करो, प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.4.1, पृ. 495) "एवं हि भूयसामनुग्रहो भवति"।
87. महा. भा. 1, सू. 1.1.50, पृ. 120.
88. पा. 1.1.49.
89. पा. 6.1.63- "पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु"।
90. पा. 8.4.62- "झयो होऽन्यतरस्याम्"।
91. पा. 8.2.80.
92. यह पूर्ण श्लोक निम्न है-

"राजा कुलवधूर्विप्रा मन्त्रिणश्च पयोधराः।
स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः।"

(हितोपदेश, मित्रलाभ, श्लोक सं. 173)।

93. महा. भा. 1, सू. 1.1.56, पृ. 140.
94. पा. 7.2.99.
95. पा. 6.3.48.
96. महा. भा. 1, सू. 1.2.9, पृ. 196, तुलना करो- "भुक्तवानपि पुनर्भुङ्क्ते भोजनविशेषात्"।
97. वही. सू. 1.1.57, पृ. 147.
98. पा. 6.1.77.
99. पा. 6.1.66.
100. द्र. परि. सं. 50, 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'। 'अल्पापेक्षमन्तरङ्गम्। बह्वपेक्षं बहिरङ्गम्'।
101. महा. भा. 1, सू. 6.1.86, पृ. 65.
102. न्यास. (का. भा. 4, सू. 6.186, पृ. 550; भा. 6, सू. 8.2.1, पृ. 330); श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.3, पृ. 88; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 3 सू. 2183, पृ. 25); महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.5, पृ. 172; भा. 4. सू. 6.4.22, पृ. 687 (हते देवदत्ते तद्धन्तरि हतऽपि नोन्मज्जनं देवदत्तस्य, हन्तुमुद्यतस्य हनने तून्मज्जनं भवत्येव) बृ. श. शे. भा. 1, सू. 12 पृ0 51; भा. 3 सू. 2183 पृ0 1602; बा. म. (वै.सि.कौ.भा. 1 सू. 165. पृ0 158 सू. 175, पृ. 170).
103. महा. भा. 1, सू. 1.1.57, पृ. 145.
104. परि. सं. 50.
105. इस परिभाषा का प्रकृत उदाहरण है- 'पट्व्या', 'मृद्व्या'। यहां 'पटु + ई + आ' और 'मृदु + ई + आ इस अवस्था में अन्तरङ्ग होने के कारण पहले पटु के उकार को यण् होता है। फिर बहिरङ्ग ईकार को भी यणादेश हो जाता है।
106. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.4.2, पृ. 501); टिप्पणी (प्रौ.म.) सूत्र 2001, पृ. 262; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 46, पृ. 130.
107. महा. भा. 1, सू. 1.1.63, पृ. 167.
108. पा. 1.4.17.
109. पा. 1.4.14.
110. पा. 7.2.59.
111. पा. 7.2.44.
112. महा. भा. 1, सू. 1.1.65, पृ. 171.
113. द्र. परि. सं. 112- 'सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्'।
114. पा. 6.4.34.
115. महा. भा. 3, सू. 6.2.36, पृ. 125; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.65, पृ. 232); प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.65, पृ. 233).
116. महा. भा. 1, सू. 1.1.73, पृ. 564.

117. पा. 4.2.114.
118. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.64, पृ. 231).
119. महा. प्र. भा. 5, सू. 7.1.28, पृ. 32.
120. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.3.38, पृ. 488). प्रस्तुत स्थल पर ही न्यासकार ने भी किञ्चित् शब्दान्तरों से उक्त न्याय का उपन्यास किया है। तद् यथा- "ब्राह्मणाः प्रवेश्यन्तामन्यत्रानधीयानेभ्य इत्युक्ते यथाजातीयकानां प्रवेशो विहितस्तथाजातीयकानामेव प्रत्यासत्तेः पर्युदासो विज्ञायते"।
121. पा. 3.1.26.
122. महा. भा. 1, सू. 1.1.70, पृ. 178.
123. पा. 7.2.102.
124. पा. 4.1.95.
125. पा. 6.4.160.
126. पा. 8.2.30.
127. तुलना करो- "उत्पन्नः प्रत्ययः प्रत्याश्रयाणां कार्याणां निमित्तं भवति नोत्पद्यमानः" न्याय (पृ. 808)।
128. परि. सं. 20, पृ. 35.
129. पा. 6.1.185.
130. पा. 7.1.100.
131. ध्यान रहे कि भाष्यकार ने आगे चलकर प्रकृत परिभाषा को छोड़ दिया और तपरसूत्र में दकार को भी प्रश्लिष्ट निर्देश मानकर तपर के साथ-साथ दपर को भी तत्काल का बोधक घोषित किया है तथा उसे निर्दोष भी सिद्ध किया है। इस विषय में विशेष अध्ययनार्थ देखें, पातञ्ल महाभाष्य में अपूर्व कल्पनाएं, पृ. 28-31.
132. पा. 8.2.80.
133. पा. 6.1.131.
134. पा. 6.1.111.
135. महा. भा. 1, सू. 1.2.39, पृ. 211-12.
136. वही. सू. 1.4.21, पृ. 322.
137. वही. सू. 1.4.84, पृ. 347.
138. तुलना करो, वही. भा. 3, सू. 3.2.124, पृ. 125- "कस्यचित् खल्वपि सकृत् कृतोऽभिसम्बन्धोऽत्यन्ताय कृतो भवति। तद् यथा- वृक्षपर्णयोरयं वृक्ष इदं पर्णमिति। तद्विदेशस्थमपि दृष्ट्वा जानाति वृक्षस्येदं पर्णमिति।"
139. वही. भा. 1, सू. 2.3.20, पृ. 453; सू. 2.3.37, पृ. 459; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.4.84, पृ. 616); महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 2.3.21, पृ. 795.

140. महा. भा. 1, सू. 2.1.1., पृ. 366.
141. वही, पृ. 360.
142. वही, पृ. 366.
143. पा. 2.3.46- "प्रातिपदिकार्थलिङ्गवचनपरिमाणमात्रे प्रथमा"।
144. तुलना करो- "प्रथमातिक्रमे कारणाभावः"।
145. महा. भा. 1, सू. 2.1.1, पृ. 371.
146. वही. सू. 2.2.24, पृ. 426.
147. द्र. वै. सि. कौ. भा. 2, सर्वसमासशेषप्रकरण, पृ. 216- "अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः"।
148. महा. भा. 1, सू. 2.2.24, पृ. 426.
149. वही. भा. 2, सू. 3.3.19, पृ. 145.
150. तुलना करो, "पर्युदासः सदृशग्राही"
शब्दकल्पद्रुम - "प्राधान्यं तु विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥
151. वाचस्पत्यम्-
"अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ्"॥
152. तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 1.1.43, पृ. 101- "असमर्थसमासश्चायं द्रष्टव्योऽनपुंसकस्येति। न हि नञो नपुंसकेन सामर्थ्यम्। केन तर्हि? भवतिना। न भवति नपुंसकयोरिति..... यदप्युच्यतेऽसमर्थसमासश्चायं द्रष्टव्य इति, यद्यपि वक्तव्योऽथवैतर्हि बहूनि प्रयोजनानि। कानि-असूर्यम्पश्यानि मुखानि। अपुनर्गेयाः श्लोकाः। अश्राद्धभोजी ब्राह्मण इति"।
153. महा. भा. 3, सू. 6.1.45, पृ. 34.
154. वही. भा. 2, सू. 3.1.12, पृ. 22; भा. 3, सू. 6.1.71, पृ. 51; सू. 6.1.135, पृ. 94; सू. 6.3.3, पृ. 153; सू. 7.1.37, पृ. 255; न्यास. (का. भा. 2, सू. 2.2.6, पृ. 106; सू. 2. 4.23, पृ. 268; सू. 3.1.12, पृ. 365; सू. 3.1.13-14, पृ. 369; सू. 3.1.100, पृ. 498; भा. 5, सू. 6.4.127, पृ. 479); प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.2.5, पृ. 269; भा. 2, सू. 3. 1.100, पृ. 498; भा. 3, सू. 3.3.19, पृ. 25; भा. 4, सू. 6.1.45, पृ. 497); दु. वृ. सू. 2. 1.1, पृ. 28; श. कौ. भा. 2, सू. 2.4.23, पृ. 259; सू. 3.1.12, पृ. 329; त.बो. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 48, पृ. 57; भा. 2, सू. 910, पृ. 191); महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.2.45, पृ. 69; भा. 4, सू. 6.1.145, पृ. 481; भा. 5, सू. 7.1.37, पृ. 44; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 176, पृ. 339; प. ल. म. निपातार्थनिर्णय, पृ. 206.
155. महा. भा. 2, सू. 3.4.21, पृ. 172-73.
156. इस विषय में प्रकृत ग्रन्थ का पृ. 286 देखें।

157. वा. प. 2.6.
158. महा. भा. 2, सू. 4.1.36, पृ. 215-16.
159. पा. 4.2.24.
160. पा. 4.2.88.
161. पा. 1.2.49.
162. पा. 4.1.49.
163. परि. सं. 86.
164. पा. 6.4.153.
165. पा. 4.2.91.
166. तुलना करो- "सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः"।
167. महा. भा. 2, सू. 5.1.76, पृ. 357; भा. 3, सू. 6.4.153, पृ. 229; का. भा. 5, सू. 6.4.153, पृ. 504; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.2.49, पृ. 350; भा. 4, सू. 5.1.3, पृ. 9; भा. 5, सू. 6.4.153, पृ. 504); महा. प्र. भा. 2, सू. 1.2.18, पृ. 29; सू. 2.4.70, पृ. 895; भा. 3, सू. 3.1.26, पृ. 92; सू. 3.1.80, पृ. 157; सू. 3.1.90, पृ. 178; भा. 4, सू. 6.4.62, पृ. 738; सू. 6.4.155, पृ. 794; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.62, पृ. 222; सू. 1.2.18, पृ. 294; भा. 2, सू. 3.1.39, पृ. 420; सू. 3.1.80, पृ. 458; भा. 3, सू. 4.1.1, पृ. 255; सू. 4.3.15, पृ. 628; भा. 4, सू. 5.4.51, पृ. 364; भा. 5, सू. 6.3.34, पृ. 219; सू. 6.4.120, पृ. 470; सू. 6.4.155, पृ. 506); श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.58, पृ. 240; भा. 2 सू. 3.1.26, पृ. 344-345; वै. सि. कौ. भा. 2, सू. 1311, पृ. 384; श. र. (प्रौ. म. सू. 2572) पृ. 453; महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.25, पृ. 269; भा. 2, सू. 2.2.29, पृ. 741; सू. 2.4.30, पृ. 864; भा. 3, सू. 3.1.2, पृ. 9; सू. 3.1.92, पृ. 190; सू. 3.2.135, पृ. 298; सू. 3.2.178, पृ. 305; सू. 4.1.36, पृ. 493; भा. 5, सू. 8.1.68, पृ. 341; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 12, पृ. 52; सू. 51, पृ. 155; सू. 495, पृ. 752; भा. 2, सू. 781, पृ. 1057; भा. 3, सू. 2386, पृ. 1728; पृ. 1810; पृ. 1820; बा. म. (वै.सि.कौ.भा. 2, सू. 1311, पृ. 384).
168. महा. प्र. भा. 3, सू. 4.1.36, पृ. 493.
169. पा. 1.2.49.
170. प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.1.29, पृ. 139).
171. महा. भा. 2, सू. 4.1.93, पृ. 247.
172. प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.1.93, पृ. 425).
173. महा. भा. 3, सू. 6.1.1, पृ. 6.
174. यहां कैयट के अनुसार जब दो व्यक्तियों के पूर्व या मध्य में तीसरा व्यक्ति आता है तभी यह उपर्युक्त दृष्टान्त उपपन्न होता है। इसके विपरीत जब कोई व्यक्ति उन दोनों के पीछे या उनके बाद आता है तब यह दृष्टान्त उपपन्न नहीं होता। क्योंकि उस

अवस्था में तो दूसरा व्यक्ति दूसरा ही रहता है, तीसरा नहीं। तीसरा व्यक्ति तो तब बाद में आने वाला व्यक्ति ही रहता है। पदमञ्जरीकार ने उक्त न्याय को कुछ पाठान्तर से यों पढ़ा है- "द्वयोरासीनयोर्मध्ये कस्मिंश्चिदुपविष्टे द्वितीयस्तृतीयो भवति....."।
175. महा. भा. 3, सू. 6.4.96, पृ. 213.
176. का. भा. 5, सू. 6.4.96, पृ0 449; न्यास. (का. भा. 5, सू. 6.4.96, पृ. 449); महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.57, पृ. 426; महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 2.1.1, पृ. 547; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 186, पृ. 361; लौ. न्या. र. पृ. 26, 39.
177. महा. भा. 3, सू. 8.2.80, पृ. 414
178. महा. प्र. उ. भा. 5, सू. 8.2.80, पृ. 413- "ओ इति लुप्तषष्ठीकम्, सेर् इति रेफान्तम्, तथैव इकार उच्चारणार्थ इति बोध्यम्"।
179. पा. 7.2.102.
180. पा. 6.3.92.
181. का. भा. 6, सू. 8.2.80, पृ. 445- "यैः असेरिति सकारस्य प्रतिषेधः क्रियते, अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य इति च परिभाषा नाश्रीयते, तेषामुभयोरपि मुत्वेन भवितव्यम्-अमुमुयङ् अमुमुयञ्चौ, अमुमुयञ्च इति, यथा चलीक्लृप्यत इति लत्वम्"।
182. परि. सं. 95.
183. का. भा. 6, सू. 8.2.80, पृ. 446- "ये तु परिभाषामाश्रयन्ति तेषामन्त्यसदेशस्यैव भवितव्यम्-अदमुयङ् अदमुयञ्चौ, अदमुयञ्च इति"।
184. वही - "येषां तु त्यदाद्यत्वविषय एव मुत्वेन भवितव्यम् इति दर्शनं तेषामत्र न भवितव्यम् अदद्र्यङ्, अदद्र्यञ्चौ, अदद्र्यञ्च इति"।
185. न्यास. (का. भा. 5, सू. 7.2.67, पृ. 749-50).
186. (क) महा. प्र. भा. 4, सू. 5.3.55, पृ. 2 - "एकस्यापि भेदव्यवहारो दृश्यते"। यथा परुद् भवान् पटुरासीत्......"।
(ख) तुलना करो, महा. भा. 1, प्रत्याहाराह्निक, अ इ उ ण् सूत्र, पृ. 16-17; "तद्यथा-ऋषिसहस्रमेकां कपिलामेकैकशः सहस्रकृत्वो दत्वा तया ते सर्वे सहस्रदक्षिणाः सम्पन्नाः"।
(ग) न्यास. भा. 5, सू. 6.1.2, पृ. 328 - "एकमपि हि वस्त्वावर्त्यमानमनेकत्रोपयुज्यते"।
187. महा. भा. 2, सू. 5.3.57, पृ. 417.
188. न्यास. (का. भा. 6, सू. 8.1.2, पृ. 224).
189. महा. प्र. भा. 4, सू. 5.3.55, पृ. 204.
190. निरुक्त. 1.1. "पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्य-पवर्गपर्यन्तम्"।
191. प. मं. (का. भा. 1, पृ. 8-9).

192. तुलना करो, (क) मुण्डकोपनिषद्, प्रथम मुण्डक, खण्ड 2.8-

"अविद्यायामन्तरे विद्यमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।

जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः॥"

(ख) श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.56, पृ. 217- "अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे"।

(ग) प्रकृत न्याय के विषय में वाक्यपदीय की निम्न कारिका (1.42) भी बड़ी अनुग्राहिका है-

"हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमे पथि धावता।

अनुमानप्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः॥"

193. शाङ्कर भाष्य 2.2.30, 37; तन्त्रवार्तिक, पृ. 11, 72 आदि; भामती, पृ. 20, 254, 464 तथा न्या. मं. पृ. 234, 249 आदि एवं लौ. न्या. र, पृ. 39.

194. प. मं. (का. भा. 1, पृ. 15).

195. तुलना करो, निरुक्त, 1.1- "तेषां मनुष्यवद् देवताभिधानम्"।

196. प्रकृतसूत्रस्थ न्यास. (का. भा. 1. पृ. 16); महा. प्र. भा. 1 पस्पशा. पृ. 4; भा. 2, सू. 1. 2.72, पृ. 171; प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.4.12, पृ. 255; भा. 4, सू. 6.1.2, पृ. 444); श. कौ. भा. 2, सू. 1.2.72, पृ. 48; महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.9, पृ. 196; भा. 2, सू. 1.3.10, पृ. 224; भा. 4, सू. 6.4.1, पृ. 665.

197. महा. प्र. भा. 2, सू. 3.3.10, पृ. 225.

198. पा. 6.1.209.

199. पा. 6.1.210.

200. ऋक्. 4.58.3.

201. सञ्जीवनी टीका (रघु 9.2)।

202. (क) न्यास. (का. भा. 2, सू. 2.4.12, पृ. 255; भा. 6, सू. 7.4.93, पृ. 209); महा. प्र. भा. 5, सू. 7.3.69, पृ. 222; सू. 8.3.45, पृ. 461; प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.4.12, पृ. 255; भा. 6, सू. 7.3.93, पृ. 209; सू. 8.3.79, पृ. 569); श. कौ. भा. 1, अइउण् सूत्र, पृ. 31; सू. 1.1.56, पृ. 203; भा. 2, सू. 1.2.72, पृ. 48; त. बो. (वै.सि.कौ.भा. 3, सू. 2232, पृ. 53); प्रकाश टीका (प्रक्रिया कौमुदी) सू. 1.3.3; महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 3. 3.10, पृ. 224; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 9, पृ. 43; सू. 188, पृ. 370.

(ख) मनु (8.28) पर कुल्लूकभट्ट की टीका, पृ. 364; काव्यप्रदीप 8.2 पृ. 300; भामती पृ. 518, 536; न्या. वा. ता. टी., पृ. 11, 114 इत्यादि।

203. प. मं. (का. भा 1, सू. 1.4.3, पृ. 505).

204. मा. धा. भ्वादिगण, धातु सं. 1. पृ. 43.

205. प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.1.1, पृ. 3).

206. वही. (का. भा. 2, सू. 2.1.1, पृ. 7).

207. महा. प्र. भा. 1, अ इ उ ण सूत्र, पृ. 64; सू. 1.1.45, पृ. 244; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 30, पृ. 97-98; सू. 426, पृ. 662.

208. महा. प्र. भा. 2, सू. 1.2.24, पृ. 387.

209. वा. प. 2.449.

210. तुलना करो, वै. सि. कौ. भा. 4, सू. 3342, पृ. 362.

"कथं-'मुखं व्यादाय स्वपिति', नेत्रे निमील्य हसति' इति? व्यादाननिमीलनोत्तरकालेऽपि स्वापहासयोरनुवृत्तेस्तदंशविवक्षया भविष्यति"।

211. शब्दशक्तिस्वभाव के वैलक्षण्यप्रसङ्ग में उपाध्यायशिष्यमातुलभागिनेयाभिवादन न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है (प्रकृत ग्रन्थ पृ. 322)।

212. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.2.53, पृ. 359).

213. पा. 1.2.51.

214. तुलना करो, वा. प. 3.8.59-

"वनं वृक्षा इति यथा भेदाभेदव्यपाश्रयात्।

अर्थात्मा भिद्यते भावे स बाह्याभ्यन्तरे क्रमः॥"

215. श. कौ. भा. 2, सू. 2.4.26, पृ. 261.

216. पा. 2.2.3.

217. पा. 2.2.2- "अर्धं नपुंसकम्"।

218. प. मं. (का. भा 3 सू. 4.4.23, पृ. 747) "अनभिधानं तु दुर्ज्ञानम्"।

219. (क) महा. भा. 2, सू. 3.1.7, पृ. 12 "इयं तावदगतिका गतिर्यदुच्यते अनभिधानादिति"।

(ख) महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.72, पृ. 552 "अनभिधानेन प्रत्याख्यानं तु न चमत्कारकारि"।

220. प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.3.36, पृ. 659); महा. प्र. 3, पस्पशा. पृ. 33; भा. 2, सू. 1. 4.2, पृ. 320.

221. श. र. (प्रौ. म.), सू. 2318, (7.4.94) पृ. 572.

222. पा. 3.1.25.

223. वै. सि. कौ. भा. 3, सू. 2318 (7.4.94), पृ. 143.

224. पा. 7.4.94.

225. महा. प्र. उ. भा. 1, एओङ् ऐऔच् सूत्र, पृ. 79.

226. (क) महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 2.1.1, पृ. 547; भा. 5, सू. 7.1.85-86, पृ. 81; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 247, पृ. 472.

(ख) तन्त्रवार्तिक, 3.4.1; शाबरभाष्य, 2.3.16; 12.2.2.

227. परि. सं. 93.1.

228. पा. 6.4.146.
229. वै. सि. कौ. भा. 2, सू. 847, पृ. 159 ''ओरोदिति वक्तव्ये गुणोक्तिः संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इति ज्ञापयितुम्। तेन स्वायम्भुवमित्यादि सिद्धम्''।
230. परि. सं. 93.2.
231. पा. 8.4.16.
232. परि. सं. 11.
233. पा. 8.4.17.
234. रघु. 19.50.
235. पा. 8.2.82.
236. परि. सं. 93.6.
237. पा. 3.4.85.
238. वृद्धचाणक्यशतक, 2.16.
239. पा. 3.4.109.
240. पा. 3.4.111.
241. पा. 3.4.83.
242. द्र. परि. सं. 99 - ''व्यवस्थितविभाषयाऽपि कार्याणि क्रियन्ते''।
243. द्र. पृ. 195.
244. द्र. पृ. 536.
245. द्र. पृ. 425.
246. द्र. पृ. 58.
247. द्र. पृ. 493.
248. द्र. पृ. 197.
249. द्र. पृ. 199.
250. द्र. पृ. 60.
251. द्र. पृ. 308
252. द्र. पृ. 165.
253. द्र. पृ. 202.
254. द्र. पृ. 202.
255. द्र. पृ. 204.
256. द्र. पृ. 205.
257. द्र. पृ. 274; 277.
258. द्र. पृ. 585.
259. द्र. पृ. 536.
260. द्र. पृ. 62.

261. द्र. पृ. 65.
262. द्र. पृ. 163.
263. द्र. पृ. 584; 587.
264. द्र. पृ. 359.
265. द्र. पृ. 314.
266. द्र. पृ. 207.
267. द्र. पृ. 542.
268. द्र. पृ. 70.
269. द्र. पृ. 318.
270. द्र. पृ. 319.
271. द्र. पृ. 322.
272. द्र. पृ. 74.
273. द्र. पृ. 241.
274. द्र. पृ. 212.
275. द्र. पृ. 629.
276. द्र. पृ. 325.
277. द्र. पृ. 590.
278. द्र. पृ. 124; 183.
279. द्र. पृ. 171.
280. द्र. पृ. 172.
281. द्र. पृ. 602.
282. द्र. पृ. 630.
283. द्र. पृ. 165.
284. द्र. पृ. 220.
285. द्र. पृ. 632.
286. द्र. पृ. 633.
287. द्र. पृ. 230.
288. द्र. पृ. 231.
289. द्र. पृ. 336.
290. द्र. पृ. 227.
291. द्र. पृ. 425.
292. द्र. पृ. 635.
293. द्र. पृ. 152.
294. द्र. पृ. 443.

295. द्र. पृ. 443.
296. द्र. पृ. 429.
297. द्र. पृ. 337.
298. द्र. पृ. 322.
299. द्र. पृ. 448.
300. द्र. पृ. 566.
301. द्र. पृ. 567.
302. द्र. पृ. 636.
303. द्र. पृ. 504.
304. द्र. पृ. 84.
305. द्र. पृ. 556; 557.
306. द्र. पृ. 366.
307. द्र. पृ. 585.
308. द्र. पृ. 295.
309. द्र. पृ. 431.
310. द्र. पृ. 462; 465.
311. द्र. पृ. 357.
312. द्र. पृ. 317.
313. द्र. पृ. 165.
314. द्र. पृ. 77.
315. द्र. पृ. 75.
316. द्र. पृ. 540.
317. द्र. पृ. 540.
318. द्र. पृ. 309.
319. द्र. पृ. 63.
320. द्र. पृ. 557.
321. द्र. पृ. 558.
322. द्र. पृ. 591.
323. द्र. पृ. 350.
324. द्र. पृ. 386.
325. द्र. पृ. 385.
326. द्र. पृ. 560.
327. द्र. पृ. 489.
328. द्र. पृ. 359.

329. द्र. पृ. 359.
330. द्र. पृ. 210.
331. द्र. पृ. 301.
332. महा. भा. 1, सू. 1.2.69, पृ. 250.
333. तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 2.2.25, पृ. 427 ''अनिर्ज्ञातेऽर्थे बहुवचनं प्रयोक्तव्यम्''।
334. परि. सं. 97.
335. महा. प्र. भा. 2, सू. 1.2.69, पृ. 166.
336. महा. भा. 1, सू. 2.2.25, पृ. 427.
337. वही. सू. 1.3.1, पृ. 254.
338. वही. भा. 2, सू. 3.2.102, पृ. 114.
339. वही, सू. 3.2.115, पृ. 120; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.3.1, पृ. 390).
340. वही. सू. 3.3.113, पृ. 160-61.
341. पा. 3.3.15.
342. महा. भा. 2, सू. 3.3.133, पृ. 160 पर वार्तिक।
343. महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.3.1, पृ. 180.
344. महा. भा. 1, सू. 2.1.55, पृ. 397.
345. पं. म. (का. भा. 2, सू. 2.1.55, पृ. 74).
346. महा. भा. 2, सू. 3.1.1, पृ. 3.
347. पा. 5.3.68;71.
348. द्र. प. मं. प्रारम्भिक व्याख्या भाग, पृ. 17 – 'प्रत्ययात्पूर्वं क्रियते इति प्रकृतिः'।
349. महा. भा. 1, सू. 1.2.64, पृ. 234.
350. वही. भा. 2, सू. 3.3.20, पृ. 146.
351. पा. 3.3.21.
352. प्रौ. म. (श.र.) सू. 7.4.25, पृ. 370.
353. महा. भा. 2, सू. 4.1.78, पृ. 231.
354. पा. 6.1.197.
355. पा. 8.2.5.
356. महा. भा. 2, सू. 4.1.78, पृ. 231.
357. पा. 7.2.117.
358. महा. भा. 2, सू. 4.1.78, पृ. 231.
359. पा. 5.3.106.
360. ध्यातव्य है कि कुछ व्याख्याकार प्रकृत न्याय की उक्त व्याख्या से सहमत नहीं हैं।
361. (क) तुलना करो - ''न हि कुक्कुट्या एको भागः पाकायापरो भागः प्रसवाय कल्प्यतामिति कल्प्यते''।

(ख) महाभारत, शान्तिपर्व, 27.18 "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा"।

(ग) यहां आनन्दगिरि लिखते हैं - "यथा न जागर्ति न स्वपिति इत्यन्तरालेऽवस्थानं दुर्घटम्, यथा चार्धं कुक्कुट्याः पाकायार्धं च प्रसवायेति कौशलं नोपलभ्यते"।

362. (क) श. कौ. भा. 1, अ इ उ ण् सूत्र, पृ. 36; प्रौ. म. सू. 2506, पृ. 425; वै. भू. सा. धात्वर्थ निर्णयप्रकरण, पृ. 162; त्वादिभावप्रत्ययार्थनिर्णय पृ. 493; बृ. श. शे. भा. 2, सू. 537, पृ. 815; भा. 3, सू. 2506, पृ. 1771.

(ख) शाङ्कर भाष्य, ब्र. सू. 1.1.19; 1.2.8; सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन, पृ. 11, ब्रह्मसूत्र तात्पर्यविवरण सू. 3.4.26. विवरणप्रमेयसंग्रह, न्यायमञ्जरी तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धि एवं लौ.न्या.र. (पृ. 25) इत्यादि में भी यह न्याय देखा जा सकता है।

363. महा. भा. 3, सू. 8.2.106, पृ. 421.

364. महा. प्र. भा 3, सू. 3.1.1, पृ. 7.

365. द्र. पृ. 374.

366. द्र. पृ. 64.

367. द्र. पृ. 53.

368. द्र. पृ. 81.

369. द्र. पृ. 318.

370. द्र. पृ. 222.

371. द्र. पृ. 48.

372. द्र. पृ. 470.

373. द्र. पृ. 291

374. द्र. पृ. 459.

375. द्र. पृ. 463.

376. द्र. पृ. 537.

377. द्र. पृ. 315.

378. द्र. पृ. 346; 349.

379. द्र. पृ. 68.

380. द्र. पृ. 518.

380a. द्र. पृ. 676.

381. महा. भा. 1, सू. 1.1.8, पृ. 60.

382. वैसे भाष्यकार ने "नैव दोषो न प्रयोजनम्" कहकर केवल नासिका से बोले जाने वाले यम एवं अनुस्वार की भी अनुनासिक संज्ञा स्वीकार की है।

383. तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 1.1.57, पृ. 148 "इह यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम्। तद् यथा- देवदत्तस्य पुत्र देवदत्तायाः पुत्र इति"।

384. महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.8, पृ. 193.

385. (क) महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.8, पृ. 193; श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.8, पृ. 115; महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.8, पृ. 193; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 9-10. पृ. 34-35; 41; 43.

(ख) लौ. न्या. र. पृ. 39.

386. महा. भा. 1, सू. 1.1.27, पृ. 86.

387. 'तद्गुणसंविज्ञान' शब्द को स्पष्ट करते हुए कैयट लिखते हैं- "तस्यान्यपदार्थस्य ये गुणा उपलक्षणानि तेषामपि कार्ये संविज्ञानं तद्गुणसंविज्ञानम्"।

388. पा. 4.1.99.

389. पा. 4.1.105.

390. महा. भा. 1, सू. 2.1.69, पृ. 405; सू. 2.2.64, पृ. 426.

391. बृ. श. शे. भा. 1, सू. 213, पृ. 398.

392. महा. भा. 3, सू. 6.1.1, पृ. 3.

393. तुलना करो, परि. सं. 7 "भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि"।

394. महा. भा. 1, सू. 1.4.19, पृ. 320.

395. पा. 5.2.94.

396. पा. 8.2.66.

397. महा. प्र. भा. 2, सू. 1.4.19, पृ. 367.

398. पा. 5.2.94.

399. परि. सं. 77.

400. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.4.19, पृ. 524)- "अस्यास्त्यस्मिन्निति च मतुपोऽर्थः, स च विन्यादीनामिव मतुपोऽप्यविशिष्टः, यथा- देवदत्तशालायां ब्राह्मणा आनीयन्तामित्युक्ते विशेषणभूतोऽपि देवदत्तः सति ब्राह्मण्ये आनीयते। यत्र उपलक्ष्याकारस्यासम्भवः तत्रैवोपलक्षणस्य कार्ययोगः, तद् यथा- चित्रगुरानीयतामिति, न हि चित्रगवीणां चित्रा गावः सन्ति"।

401. महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.27, पृ. 274 "इहाप्यादिशब्दस्यावयववाचित्वाद् उद्भूतावयवभेदसमुदायः समासार्थः .... कार्यार्थया संज्ञया प्रवर्तितव्यमिति सर्वशब्दस्यापि सा सिध्यति। यथा देवदत्तशालायां ब्राह्मण आनीयन्तामित्युक्ते देवदत्तोऽपि यदि ब्राह्मणो भवति स्वशालास्थश्च तदा सोऽप्यानीयत एव"।

402. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.4.19, पृ. 524; भा. 4, सू. 6.1.1, पृ. 435; सू. 6.1.6, पृ. 454); प. मं. (का. भा. 4, सू. 6.1.1, पृ. 435; सू. 6.1.13, पृ. 464; भा. 6, सू. 8.2.62, पृ. 428).

403. प. मं. (का. 1, सू. 1.1.27, पृ. 133). ध्यातव्य है कि प्रस्तुत न्यायमूलक उक्त कारिका कैय्यट आदि टीकाकारों ने भर्तृहरि के नाम से अपने ग्रन्थों में (पा. 4.1.96) अनेकशः उद्धृत की है। किन्तु वाक्यपदीय के वर्तमान संस्करण में उक्त कारिका दृष्टिगोचर नहीं होती जोकि विद्वानों के विचार का विषय है।

404. पा. 4.1.92.
405. पा. 4.1.96.
406. पा. 4.1.137.
407. द्र. महा. प्र. भा. 2, सू. 2.4.82, पृ. 902; भा. 3, सू. 4.1.96, पृ. 592; भा. 5, सू. 7.1.23, पृ. 27; प. मं. (का. भा. 3, सू. 3.4.60, पृ. 195; सू. 4.1.48, पृ. 436; भा. 5, सू. 7.1.75, पृ. 622); श. कौ. भा. 1, ऋलृक् सूत्र, पृ. 38; सू. 1.1.27, पृ. 157; सू. 1.1.68, पृ. 277; मा. धा. भ्वादिगण, धातु सं. 6 पृ. 52; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 2, सू. 1096, पृ. 303; सू. 1118, पृ. 313; भा. 4, सू. 3385, पृ. 378); महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.1, पृ. 135; भा. 4, सू. 6.1.112, पृ. 456; सू. 6.1.167, पृ. 503; सू. 6.1.168, पृ. 506; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 25, पृ. 89; सू. 46, पृ. 128; सू. 222, पृ. 430; सू. 237, पृ. 461; सू. 273, पृ. 508; सू. 366, पृ. 608; सू. 372, पृ. 615; सू. 386, पृ. 631; सू. 500, पृ. 758; भा. 2, सू. 1077, पृ. 1226; सू. 1096, पृ. 1250; भा. 3, सू. 2665, पृ. 1885; फिट्सूत्र 53, पृ. 2247.
408. महा. भा. 1, सू. 1.1.49, पृ. 119.
409. कुछ व्याख्याकार अधिकार सूत्रों को निम्न प्रकार से चतुर्धा विभक्त करते हैं, तद् यथा-

"गोयूथः सिंहदृष्टिश्च मण्डूकप्लुतिरेव च।
गङ्गाप्रवाहवच्चापि अधिकारश्चतुर्विधः॥" तुलना करो-
"सिंहावलोकितं चैव मण्डूकप्लुतमेव च।
गङ्गाप्रवाहाच्चापि अधिकारस्त्रिधा मतः॥" (आप्टे कोश)

410. पा. 6.4.34.
411. पा. 6.4.35.
412. न्यास. (का.भा. 5, सू. 6.1.2, पृ. 328). यह न्याय तुल्यबलप्रेषण न्याय तथा ब्राह्मणक्षत्रियभोजनभाजनपर्याय न्याय से अवश्य तुलनीय है।
413. पा. 6.4.1; 2.
414. इस विषय में देखें प्रकृतसूत्रस्थ महा. प्र. - "कश्चिदिति परिभाषारूप इत्यर्थः" नागेश ने इसे और स्पष्ट किया है - "भाष्ये कश्चिदेकदेशस्थ इति। इदं च यथोद्देशपक्षे स्पष्टमेव। कार्यकालेऽपि स्वविषयसर्वशास्त्रैकवाक्यत्वादेवमुक्तिः . . ."।
415. महा. भा. 3, सू. 8.3.37, पृ. 431; जै. सू. 2.1.6 - "प्रदीप एकस्मिन् प्रदेशे भुञ्जानानां ब्राह्मणानामेकस्य सन्निधौ प्रज्वलितः सर्वेषामुपकारं करोति।" भर्तृहरि इस प्रदीप न्याय को तन्त्रन्याय से उपमित करते हैं

"पाद्यवत् सा (भुजिक्रिया) विभागेन सामर्थ्यादवतिष्ठते।
भुजिः करोति भुज्यर्थं न तन्त्रेण प्रदीपवत्॥" (वा. प. 2.375)।

416. महा. भा. 1, सू. 2.1.1, पृ. 358.
417. पा. 1.3.11, "स्वरितेनाधिकारः"।
418. तुलना करो, वा. प. 2.397-

"एकेनैव प्रदीपेन सर्वे साधारणं धनम्।
पश्यन्ति तद्वदेकेन सुपा संख्याऽभिधीयते॥"

419. का. भा. 1, सू. 1.1.3, पृ. 71 "परिभाषेयं स्थानिनियमार्था। अनियमप्रसङ्गे नियमो विधीयते"। तुलना करो, महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 2.1.1, पृ. 493"

एकदेशस्थिता शास्त्रभवने याति दीपताम्।
परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते॥"

420. महा. भा. 1, सू. 1.3.11, पृ. 271-72.
421. द्र. वही. सू. 1.2.64, पृ. 243 "तद् यथा- एक इन्द्रशब्दोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति एवमाकृतिरपि युगपत् सर्वत्र भविष्यति"।
422. पा. 3.3.16.
423. पा. 3.3.17.
424. पा. 3.3.18.
425. महा. भा. 1, सू. 1.3.11 पृ. 271-72.
426. पा. 3.3.44.
427. पा. 3.3.45.
428. तुलना करो- "अर्थी समर्थो विद्वानधिक्रियते"।
429. महा. प्र. भा. 4, सू. 6.4.19, पृ. 682 "अत्र केचिदाहुः - भिन्नजातीयत्वादागमेनादेशो न बाध्यते। यथा- दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतां कम्बलः कौण्डिन्यायेति दध्नः कम्बलो न बाधकः"। अवधेय है कि यह सिद्धान्त मानने पर फिर भाष्योक्त तक्रकौण्डिन्य न्याय की बाधा स्पष्ट हो जाती है। अत एव कैयट ने इस मत को 'केचित्' से सूचित किया है।
430. महा. प्र. उ. भा. 3, सू. 4.1.92, पृ. 569 "न हि ब्राह्मणेभ्यो भोक्तुं दधि दीयतां कौडिन्याय तैलं स्नानायेत्यत्र भिन्नार्थत्वाद् बाध्यबाधकभावोऽस्ति"। तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 1.1.7, पृ. 59 "अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति"।
431. महा. प्र. भा. 3, सू. 3.4.67, पृ. 390 "इह ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेत्यभिन्नकालत्वादेकं वाक्यं विशिष्टस्य दानस्य प्रतिपादकमिति तक्रेण दधि बाध्यते। यदा त कालभेदेन वाक्यद्वयमुच्चार्यते पूर्वाह्णे भोजनप्रकरणे दधि ब्राह्मणेभ्यो दीयतामिति। अपराह्णे तु तक्रं कौण्डिन्याय दीयतामिति, तदा तक्रेण दधि न बाध्यते"। प्रकृत प्रसङ्ग में तक्रकौण्डिन्य न्याय भी तात्पर्यग्राहक है। इसके लिए प्रकृत ग्रन्थ का पृ. 207 देखें।

432. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.3.11, पृ. 410); प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.3.11, पृ. 409; भा. 5, सू. 6.4.19, पृ. 360).

433. महा. भा. 1, सू. 1.3.11, पृ. 273.

434. पा. 7.1.73 तथा 7.1.97 पर वार्तिक।

435. पा. 1.4.2.

436. पर शब्द के अनेक अर्थों के सम्बन्ध में पृ. 630 पर देखें।

437. महा. भा. 3, सू. 8.2.82, पृ. 415.

438. तुलना करो, अभिज्ञानशाकुन्तल 1.14-

"शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥"

439. महा. भा. 2, सू. 4.3.53, पृ. 309; 4.3.134, पृ. 321; महा. प्र. भा. 5, सू. 8.2.82, पृ. 415.

440. महा. भा. 1, सू. 1.1.3, पृ. 44.

441. पा. 7.1.84.

442. पा. 7.1.85.

443. पा. 7.2.102.

444. पा. 1.1.52.

445. महा. भा. 1, सू. 1.1.1, पृ. 44.

446. वही. सू. 2.3.32, पृ. 457.

447. पा. 2.3.28.

448. (क) महा. भा. 1, सू. 2.4.34, पृ. 482; भा. 2, सू. 5.2.4, पृ. 372; भा. 3, सू. 6.1.17, पृ. 25; सू. 6.3.49, पृ. 161; सू. 7.2.117, पृ. 314; का. भा. 2, सू. 2.4.34, पृ. 282; न्यास (का. भा. 1, एओङ् सूत्र पृ. 31; सू. 1.1.5, पृ. 86; सू. 1.2.44, पृ. 337; सू. 1.3.40, पृ. 442; सू. 1.4.74, पृ. 608; भा. 2, सू. 2.4.23, पृ. 268; सू. 2.4.46, पृ. 290; सू. 3.1.15, पृ. 373; सू. 3.1.44, पृ. 432; सू. 3.2.21, पृ. 558; भा. 3, सू. 4.2.2, पृ. 508; भा. 4, सू. 5.2.45, पृ. 165; भा. 5, सू. 6.2.42, पृ. 47; सू. 6.4.23, पृ. 376; सू. 6.4.74, पृ. 427; सू. 6.4.115, पृ. 466; सू. 6.4.119, पृ. 468; सू. 6.4.123, पृ. 476; सू. 7.1.10, पृ. 540; सू. 7.2.13, पृ. 687; भा. 6, सू. 7.3.74, पृ. 83; सू. 7.3.107, पृ. 115; सू. 8.1.57, पृ. 302; सू. 8.1.67, पृ. 312, सू. 8.3.39, पृ. 523; सू. 8.4.18, पृ. 627; सू. 8.4.38, पृ. 645) महा. प्र. भा. 4, सू. 6.4.19, पृ. 686; प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.3.32, पृ. 190; भा. 4, सू. 5.4.56, पृ. 368; भा. 6, सू. 8.3.34, पृ. 515); दु. वृ. सू. 7.2.107, पृ. 114; श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.15, पृ. 133; भा. 2, सू. 1.2.2, पृ. 2; सू. 1.4.47, पृ. 128; सू. 2.4.34, पृ. 281; सू. 2.4.75, पृ. 297; सू. 3.1.17, पृ. 334; सू.

3.2.78, पृ. 455; वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 543, पृ. 620; भा. 2, सू. 921, पृ. 202; प्रौ. म. सू. 2322, पृ. 383; सू. 2625, पृ. 477; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 138, पृ. 138; सू. 152, पृ. 148; सू. 642, पृ. 701; भा. 3, सू. 2157, पृ. 11; भा. 4, सू. 3368, पृ. 372); श. र. (प्रौ. म.) सू. 782, पृ. 49; सू. 2108, पृ. 281; महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.5, पृ. 170; भा. 2, सू. 1.3.12, पृ. 236; सू. 2.3.34, पृ. 802; सू. 2.3.52, पृ. 827; 829; भा. 3, सू. 3.1.106, पृ. 205; सू. 3.2.118, पृ. 276; भा. 4, सू. 5.3.118, पृ. 246; सू. 6.1.115, पृ. 460; सू. 6.3.49, पृ. 629, सू. 6.4.45, पृ. 717; भा. 5, सू. 8.3.34, पृ. 449; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 105, पृ. 239; सू. 134, पृ. 265; सू. 138, पृ. 270; सू. 152, पृ. 289; सू. 228, पृ. 442; भा. 2, सू. 603, पृ. 913; सू. 820, पृ. 1078; सू. 1089, पृ. 1238; सू. 1158, पृ. 1273; सू. 1848, पृ. 1462; सू. 1850, पृ. 1463; सू. 1928, पृ. 1484; सू. 1934, पृ. 1487; सू. 2128, पृ. 1547; भा. 3, सू. 1586, पृ. 1588; सू. 2289, पृ. 1664; सू. 2322, पृ. 1688; सू. 2353, पृ. 1710, सू. 2400, पृ. 1736; सू. 3038, पृ. 2053; सू. 3175, पृ. 2118; सू. 3427, पृ. 2168; सू. 3518, पृ. 2182; सू. 3675, पृ. 2225; फिट् सूत्र 65, पृ. 2248; बा. म. भा. (वै. सि. कौ. 1, सू. 138, पृ. 138; सू. 345, पृ. 355; भा. 2, सू. 1884, पृ. 567; सू. 2026, पृ. 615; भा. 3, सू. 2157, पृ. 11; सू. 2768, पृ. 618; भा. 4, सू. 3087, पृ. 111; सू. 3368, पृ. 371).
(ख) जयरथकृत अलंकारसर्वस्व व्याख्या 20, भामती 1.3.39; इत्यादि।

449. महा. भा. 2, सू. 4.2.67-70, पृ. 287.

450. पा. 4.2.71.

451. द्र. व्याकरणशास्त्रे लौकिकन्यायानामुपयोगः, न्याय सं. 50, पृ. 35.

452. महा. प्र. उ. भा. 4, सू. 5.2.4, पृ. 104.

453. पा. 5.2.1.

454. पा. 5.2.2.

455. पा. 5.2.3.

456. तुलना करो- महा. भा. 1, सू. 1.1.46, पृ. 112 "यद्यपि तावल्लोक एष दृष्टान्तो दृष्टान्तस्यापि पुरुषारम्भो निवर्तको भवति।"

457. यह न्याय यहां के अतिरिक्त महा. प्र. उ. भा. 4, सू. 6.3.49, पृ. 629 तथा लौ. न्या. र. पृ. 138, 248 पर भी प्रयुक्त हुआ है।

458. न्यास, भा. 1, सू. 1.1.11, पृ. 108.

459. पा. 1.1.18.

460. द्र. का. तथा प. मं. (का. भा. 4, सू. 5.2.81, पृ. 192-93)– "उत्तरसूत्रात् (तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम्) इह संज्ञाग्रहणमपकृष्यते सिंहावलोकितन्यायेन, यथा सिंहाः धावन्तः पृष्ठतोऽवलोकयन्ते"।

461. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.2.38, पृ. 326)– "न तस्यासिद्धत्वम्, उत्कृष्टत्वान्नवसूत्र्याः. . . ."।

462. द्र. व्याकरणशास्त्रे लौकिकन्यायानामुपयोगः, न्याय सं. 51, पृ. 35.

463. रघु., 4.72. तुलना करो हेमचन्द्ररचित परिशिष्टपर्व; 1.63

"सिंहावलोकनन्यायेनालीढः क्षत्रतेजसा।

प्रत्यक्षानिव सोऽद्राक्षीत्तानमात्यान् सुतद्विषः॥"

464. (क) का. भा. 3, सू. 3.3.49, पृ. 46; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.11, पृ. 108; भा. 2, सू. 2.3.16, पृ. 171; सू. 2.4.54, पृ. 297; सू. 3.1.36, पृ. 418; सू. 3.1.91, पृ. 484; भा. 3, सू. 4.1.32, पृ. 322; भा. 4, सू. 6.1.1, पृ. 433; भा. 5, सू. 6.3.47, पृ. 250); महा. प्र. भा. 3, सू. 3.1.106, पृ. 205; भा. 5, सू. 7.1.59, पृ. 58; सू. 8.2.23, पृ. 388; प. मं. (का. भा. 4, सू. 5.2.81, पृ. 193); श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.11, पृ. 127; सू. 1.45, पृ. 188; भा. 2, सू. 1.4.4, पृ. 104;

(ख) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, 2.51; 4.4; 13.3, 15; नीलकण्ठकृत महाभारतव्याख्या, वनपर्व, भामती, 2.3.6; सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका सं. 7; न्या. वा. ता. टी., 97, 198; 230 आदि।

465. पा. 3.1.1-2.

466. पा. 6.1.77.

467. पा. 6.1.87.

468. पा. 4.4.18.

469. पा. 3.3.16.

470. पा. 4.1.82.

471. पा. 4.4.92.

472. पा. 3.1.1.

473. पा. 3.1.1 - "प्रत्ययः"।

474. पा. 4.4.92 - "शेषे"।

475. पा. 6.1.85 - "पूर्वपरयोः"।

476. पा. 4.1.1. - "ङ्याप्प्रातिपदिकात्"।

477. पा. 3.1.91 - "धातोः"।

478. पा. 8.3.55 - "अपदान्तस्य मूर्धन्यः"।

479. पा. 4.1.27.

480. पा. 4.1.26.

481. पा. 6.1.73.

482. पा. 6.1.71.

483. महा. भा. 1, सू. 1.1.11, पृ. 66.

484. खेतों में जाने का इन नापितों का यह उद्देश्य रहता है कि स्वामी के केशकर्तन या वपन करके फिर वापिस आते समय विनिमय के रूप में उसके खेत से अपने पशुओं के लिए चारा आदि भी ले आते हैं। हरियाणा के गांवों में आज भी यह स्थिति प्रत्यक्ष की जा सकती है।

485. पा. 6.1.125.

486. उक्त दोनों परिभाषाओं की लोकव्यवहारसिद्धि के लिए उदाहरण लेने में मैं पूज्य पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी का कृतज्ञ हूं।

487. प. मं. (का. भा. 6, सू. 8.2.1, पृ. 335).

488. महा. भा. 1, सू. 1.3.2, पृ. 259.

489. पा. 7.1.58.

490. तुलना करो - महा. भा. 3, सू. 6.3.3, पृ. 174- "एतस्मिन्नार्यावर्ते ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः।"

491. पा. 3.3.89.

492. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.3.8, पृ. 403).

493. महा. भा. 1, सू. 1.3.9, पृ. 264.

494. पा. 1.3.12.

495. पा. 1.3.1.

496. पा. 7.3.44.

497. पा. 7.3.50.

498. का. भा. 3 सू. 3.3.96 पृ0 69.

499. न्यास तथा प. मं. (का. भा. 4 सू. 6.1.49 पृ0 502.

500. वही. (का. भा. 5. सू. 6.2.24 पृ0 25.

501. महा. भा. 2, सू. 5.3.60, पृ. 418; भा. 3, सू. 6.1.4, पृ. 9; का. भा. 2, सू. 3.2.106, पृ. 616; भा. 3, सू. 4.4.65; पृ. 769; भा. 5, सू. 6.4.1. पृ. 325; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.69, पृ. 246; सू. 1.3.10, पृ. 406; भा. 2, सू. 3.2.106, पृ. 616; भा. 3, सू. 3.3.69, पृ. 69; सू. 3.4.84, पृ. 221; सू. 4.1.163, पृ. 492; सू. 4.4.65, पृ. 769; भा. 4, सू. 6.4.4, पृ. 450; भा. 5, सू. 6.4.1, पृ. 325-26); महा. प्र. भा. 4, सू. 5.3.60, पृ. 216; सू. 6.4.1, पृ. 663; सू. 6.4.23, पृ. 706; भा. 5, सू. 7.1.23, पृ. 27; सू. 7.3.50, पृ. 213; प. मं. (का. भा. 3, सू. 3.4.84, पृ. 221; भा. 4, सू. 5.3.60, पृ. 279; भा. 5, सू. 6.4.1, पृ. 325-26); श. कौ. भा. 2, सू. 1.4.3, पृ. 100; महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.3.12, पृ. 236; सू. 2.4.60, पृ. 890; भा. 3, सू. 3.1.7, पृ. 32; भा. 5, सू. 8.3.32, पृ. 446; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 40, पृ. 118; सू. 325, पृ. 570, भा. 3, सू. 2580, पृ. 1839;

सू. 2738, पृ. 1939.

502. महा. भा. 1, सू. 2.1.1, पृ. 365-66.

503. द्र. वही. सू. 1.1.29, पृ. 91 "अयं खल्वपि बहुव्रीहिरस्त्येव प्राथमकल्पिकः, यस्मिन्नैकपद्यम्, ऐकस्वर्यम्, ऐकविभक्तित्वं च"।

504. द्र. साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद, पृ. 24 "वाक्यं स्यादाकाङ्क्षायोग्यतासत्तियुक्तः पदोच्चयः।"

505. महा. भा. 2, सू. 3.1.11, पृ. 20.

506. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.59, पृ. 213).

507. महा. भा. 2, सू. 5.1.59, पृ. 356.

508. वही. भा. 1, सू. 1.4.21, पृ. 321; न्यास. (का. भा. 4, सू. 6.1.1, पृ. 141; सू. 6.1.24, पृ. 480); प. मं. (का. भा. 4, सू. 5.1.59, पृ. 64; सू. 5.1.119, पृ. 104; सू. 5.2.94, पृ. 206).

509. महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.4, पृ. 164.

510. (क) न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.65, पृ. 232); महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.62, पृ. 475; सू. 1.1.72, पृ. 548; श. कौ. भा. 1, पस्पशा पृ. 28; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 29, पृ. 96; सू. 470, पृ. 736.

(ख) वेदान्तसूत्र नृसिंहप्रणीत पर उनकी व्याख्या में भी यह न्याय अनेक बार उद्धृत हुआ है।

511. प. मं. वही, (का. भा. 2, सू. 3.1.94, पृ. 490-61).

512. वही, (का. भा. 3, सू. 3.4.67, पृ. 203). ध्यान रहे कि दर्शनशास्त्रों में रक्तपट शब्द से बौद्धों का ग्रहण होता है।

513. वही, (का. भा. 6, सू. 8.1.18, पृ. 263).

514. त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 3, सू. 2246, पृ. 64).

515. पा. 6.1.197.

516. शाबर भाष्य, जै. सू. 12.1.3; कुवलयानन्द पृ. 97.

517. श. कौ. भा. 1, पा. 1.1.44, पृ. 194.

518. पा. 6.1.30.

519. सम्भवतः इसीलिए लोक में कौए को 'काना' शब्द से भी कहा जाता है।

520. (क) त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 28, पृ. 31);

(ख) हठयोगप्रदीपिका की ब्रह्मानन्दकृत व्याख्या, 4.10; ध्वन्यालोक की अभिनवगुप्तकृत लोचनव्याख्या. 3.1; कामन्दकीय नीतिसार 11.24-

"बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचात्मानं समर्पयन्।
द्वैधीभावेन वर्तेत काकाक्षिवदलक्षितः॥"

तुलना करो, रघु. 12.23-

"तस्मान्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः।
आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः॥"

521. महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.56, पृ. 417.

522. (क) महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.3.67, पृ. 276; बृ. श. शे. भा. 2, सू. 1848, पृ. 1462; बा. म. (वै. सि. कौ. भा. 2, सू. 2144, पृ. 667; भा. 3, सू. 2246, पृ. 64).

(ख) शाङ्करभाष्य, मुण्डकोपनिषद्, 3.1.5; मुण्डकभाष्य, 1.1.3; शाबरभाष्य, जै. सू. 12.1.3.

523. वै. भू. सा. धात्वर्थनिर्णय, पृ. 76.

524. काव्यप्रदीप के चतुर्थ अध्याय का प्रारम्भिक भाग तथा पुनः आगे पृ. 70; साहित्यकौमुदी की टीका 4.1; सप्तपदार्थी की टीका पृ. 21.

525. द्र. पृ. 372.

526. द्र. पृ. 425.

526 (क). द्र. पृ. 56.

526 (ख). द्र. पृ. 57.

527. द्र. पृ. 59.

528. द्र. पृ. 198.

529. द्र. पृ. 199.

530. द्र. पृ. 307.

531. द्र. पृ. 238.

532. द्र. पृ. 355.

533. द्र. पृ. 110.

534. द्र. पृ. 520.

535. द्र. पृ. 375.

536. द्र. पृ. 318.

537. द्र. पृ. 458; 461.

538. द्र. पृ. 622.

539. द्र. पृ. 201.

540. द्र. पृ. 125.

541. द्र. पृ. 229.

542. द्र. पृ. 434.

543. द्र. पृ. 127.

544. द्र. पृ. 500.

545. द्र. पृ. 337.
546. द्र. पृ. 154.
547. द्र. पृ. 458; 460.
548. द्र. पृ. 458; 462.
549. द्र. पृ. 302.
550. द्र. पृ. 502.
551. द्र. पृ. 570.
552. द्र. पृ. 639.
553. द्र. पृ. 638; 639.
554. द्र. पृ. 295.
555. द्र. पृ. 501.
556. द्र. पृ. 538.
557. द्र. पृ. 112.
558. द्र. पृ. 293.
559. द्र. पृ. 463.
560. द्र. पृ. 639.
561. द्र. पृ. 501.
562. द्र. पृ. 320.
563. द्र. पृ. 294.
564. द्र. पृ. 496.
555. न्यास. (का. भा. 5, सू. 6.2.172, पृ. 165).
566. पा. 8.4.17.
567. महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.20, पृ. 243.
568. न्यास. (का. भा. 5, सू. 7.1.6, पृ. 535; सू. 7.1.70, पृ. 608); प. मं. (का. भा. 5, सू. 7.1.6, पृ. 535); महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.52, पृ. 393.
569. बृ. श. शे. भा. 1, सू. 49, पृ. 144.
570. परि. सं. 11; तुलना करो, परि. सं. 37, ''एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति''।
571. का. भा. 4, सू. 6.1.73, पृ. 532.
572. पा. 7.4.60.
573. द्र. पृ. 490.
574. द्र. पृ. 59.
575. द्र. पृ. 102.
576. द्र. पृ. 585.
577. द्र. पृ. 60.

578. द्र. पृ. 163.
579. द्र. पृ. 325.
580. द्र. पृ. 635.
581. द्र. पृ. 462; 465.
582. द्र. पृ. 587.
583. द्र. पृ. 187.
584. द्र. पृ. 641.
585. द्र. पृ. 524.
586. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 2.
587. तुलना करो, निरुक्त 1.5- ''नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति''।
588. तुलना करो - ''Ignorence is no excuse''.
589. महा. भा.1 पस्पशा. पृ. 6.
590. प. मं. (का. भा. 6. सू. 7.3.69. पृ0 78), बृ.श.शे.भा.2 सू. 652 पृ.968.
591. महा. भा. 1 हयवरट् सूत्र, 28.
592. पा. 8.4.46.
593. द्र. परि. सं. 10 ''कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते।''
594. न्यास. (का. भा. 1, हयवरट् सूत्र, पृ. 46; भा. 4, सू. 5.3.23, पृ. 251); प. मं. (का. भा. 1, हयवरट् सूत्र पृ. 46; भा. 4, सू. 5.3.23 पृ. 251; भा. 6, सू. 8.1.9, पृ. 243); श. कौ. भा. 1, हयवरट् सूत्र, पृ. 53; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 47, पृ. 167; टिप्पणी (प्रौ. म.) सू. 2580, पृ. 469.
595. महा. भा. हयवरट् सूत्र, पृ. 30.
596. मीमांसा शाबरभाष्य, सू. 1.1.5.
597. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.2.45 पृ. 339) में भी उक्त न्याय उद्धृत हुआ है।
598. तुलना करो, वा. प. 2.169; 40; 210.

(क) ''न कूपसूपयूपानामन्वयोऽर्थस्य विद्यते।
अतोऽर्थान्तरवाचित्वं संघातस्यैव गम्यते॥

(ख) सोऽयमित्यभिसम्बन्धो बुद्ध्या प्रक्रम्यते यदा।
वाक्यार्थस्य तदैकोऽपि वर्णः प्रत्यायकः क्वचित्॥

(ग) शास्त्रार्थ एव वर्णानामर्थवत्त्वे प्रदर्शितः।
धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिकोऽर्थो न विद्यते॥

599. महा. भा. 1, हयवरट् सूत्र, पृ. 30.

600. वही. पृ. 31.

601. तुलना करो-

(क) भामती, 1.1.5. सू. ''नो खल्वन्धाः सहस्रमपि पान्थाः पन्थानं विदन्ति।''

(ख) पं. मं. (का. भा. 2, सू. 2.2.19, पृ. 124)-

''तदेतत् प्रतिपद्यन्तां भाष्ये कृतपरिश्रमाः।

नान्ये सहस्रमप्यन्धाः सूर्यं पश्यन्ति नाञ्जसा॥''

602. तुलना करो, (क) वा. प. 2.54 -

''यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित्।

अर्थवन्तः समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते॥''

(ख) नीतिशतक, श्लोक सं. 5-

''लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्,

पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।

कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत्,

न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥''

यह न्याय ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (2.1.16) तथा न्यायमञ्जरी (पृ. 493) में भी मिलता है। पुनः देखें, परिशिष्ट पर्वन्. 8.152-

''व्याहार्षीन् मुनिरप्येवं प्रसीद मृगलोचने।

अस्मासु भवति द्रव्यं किं तैलं बालुकास्विव॥''

(ग) महाभाष्य (भा. 1, सू. 1.2.45, पृ. 217-19) तथा पदमञ्जरी (का.भा. 1 सू. 1.2.45, पृ. 339) में भी प्रकृत न्याय आया है।

603. इस विषय में विशेष अध्ययन के लिए देखें, मेरा शोध लेख - ''महाभाष्य के सन्दर्भ में वर्णों की अर्थवत्ता और निरर्थकता'', भारती शोधसार संग्रह, भारती मन्दिर अनुसन्धानशाला, जयपुर, दिसम्बर 1980.

604. महा. भा. 1, सू. 1.2.45, पृ. 217.

605. पा. 5.2.127 - ''अर्श आदिभ्योऽच्''।

606. महा. भा. 1, सू. 1.2.45, पृ. 219.

607. भामती ब्र. सू. 1.1.22; मनु. 1.5 पर मेधातिथि की टीका; वेदान्तकल्पतरु 1.4.1; न्या. वा. ता. टी. - पृ. 187.

608. Childer's Pali Dictionary, under the word "SEYYATHA." तुलना करो, का. प्र. पृ. 423- ''कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात्''।

609. महा. भा. 1, सू. 1.2.45, पृ. 220.

610. वैसे वर्णों की अर्थवता तथा निरर्थकता के प्रसङ्ग में सिद्धान्त यह स्थापित किया गया है कि धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपातों के वर्णों की ही अर्थवत्ता है। सब वर्ण अर्थवान् नहीं हैं।

611. महा. भा. 1, सू. 1.1.1, पृ. 41.

612. परि. सं. 107; 108.

613. द्र. वा. प. 2.374-

''अन्नादानदिरूपां च सर्वे तृप्तिफलां भुजिम्।

प्रत्येकं प्रतिपद्यन्ते न तु नाट्यक्रियामिव॥''

614. पा. 1.1.7.

615. महा. भा. 1, सू. 1.1.7, पृ. 58.

616. वही. सू. 1.1.7, पृ. 57.

617. पा. 6.1.5.

618. महा. भा 1, सू. 1.1.7, पृ. 57- ''संयोगसंज्ञायां सहग्रहणं कर्तव्यम् ...... सहभूतानां संयोगसंज्ञा यथा स्यादेकैकस्य मा भूदिति ...... कथं कृत्वैकैकस्य संयोगसंज्ञा प्राप्नोति? प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टा। तद् यथा- वृद्धिगुणसंज्ञे प्रत्येकं भवतः। ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति .... सत्येतस्मिन् दृष्टान्ते यदि तत्र प्रत्येकमित्युच्यते इहापि सहग्रहणं कर्तव्यम्। अथ तत्रान्तरेण प्रत्येकमिति वचनं प्रत्येकं वृद्धिगुणसंज्ञे भवत इहापि नार्थः सहग्रहणेन।''

619. वा. प. 2. 222, 373, 378-379, 454.

620. (क) महा. भा. 1, सू. 1.2.29, पृ. 212; सू. 2.1.1 पृ. 369; सू. 2.1.4, पृ. 378; सू. 2.3.46, पृ. 461; भा. 2, सू. 3.3.12, पृ. 142; भा. 3, सू. 6.1.1, पृ. 5; सू. 6.1.5, पृ. 10; सू. 8.1.1, पृ. 364; सू. 8.3.58, पृ. 439; सू. 8.4.2, पृ. 453; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.2.27, पृ. 304); महा. प्र. भा. 2, सू. 1.2.41, पृ. 59; प. मं. (का. भा. 6, सू. 8.4.2, पृ. 605); श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.1-2, पृ. 75; भा. 2, सू. 1.4.51, पृ. 135; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 539, पृ. 607); महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.7, पृ. 186; भा. 2, सू. 2.1.6, पृ. 569; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 30, पृ. 97-98; भा. 2, सू. 539, पृ. 834; 842.

(ख) शाबरभाष्य, जै. सू. 3.1.12 तथा तन्त्रवार्तिक 1.4.3; 1.4.8; 1.4.18. तुलना करो, तन्त्रवार्तिक 3.1.12-

शारीरो निग्रहो यत्र तत्र प्रत्येकभिन्नता।

हिरण्यादानदण्डस्तु समुदाये परिसमाप्यते॥

621. महा. भा. 3, सू. 8.4.2, पृ. 453.

622. न्यास. (का. भा. 6, सू. 8.4.2, पृ. 606).

623. पा. 8.3.58.

624. पा. 1.1.7.

625. तुलना करो, वा. प. 2, 381-82; 84

"लक्षणार्था स्तुतिर्येषां कांचिदेवं क्रियां प्रति।
तैर्व्यस्तैः समस्तैश्च स धर्म उपलक्ष्यते॥"

"वृषलैर्न प्रवेष्टव्यमित्येतस्मिन् गृहे यथा।
प्रत्येकं संहतानां च प्रवेशः प्रतिषिध्यते॥"

"व्यवायलक्षणार्थत्वादट्कुप्वाङादिभिस्तथा।
प्रत्येकं वा समस्तैर्वा णत्वं न प्रतिषिध्यते॥"

तन्त्रवार्तिक में भी उक्त कारिका उपलब्ध होती है।

626. प. मं. (का. भा 6, सू. 8.4.2, पृ. 606). इसी बात को इन्होंने "नुम्विसर्जनीय." सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में 'वृषलप्रवेशनिषेधन्याय' से भी प्रतिपादित किया है।

627. महा. प्र. भा. 2, सू. 2.1.1, पृ. 532; महा. प्र. उ. भा. 5, सू. 8.4.2, पृ. 492; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 197, पृ. 385.

628. महा. भा. 1, सू. 1.1.28, पृ. 90.

629. पा. 1.1.31.

630. पा. 1.1.29.

631. पा. 6.1.89.

632. पा. 6.1.94.

633. पा. 6.1.195.

634. महा. भा. 1, सू. 1.1.47, पृ. 114-15.

635. तुलना करो- (क) परि. सं. 58 - 'अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान्'।

(ख) कुमार., 2.27-

"लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः॥"

रघु., 15.7

"यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः॥"

636. अर्थ की दृष्टि से भर्तृहरि ने इस न्याय को कारिकारूप में इस प्रकार कहा है। वा. प. 2.34-

"ब्राह्मणानां श्रुतिर्दध्नि प्रकान्ता माठरं बिना।
माठरस्तक्रसम्बन्धात्तत्राचष्टे यथार्थताम्॥"

यहां यह अवश्य ध्यातव्य है कि वाक्यपदीयकार ने भाष्योक्त कौण्डिन्य ब्राह्मण के स्थान पर माठर ब्राह्मण को उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है। लघुमञ्जूषा में भी यह न्याय इसी रूप में उद्धृत हुआ है।

637. पा. 7.1.72.

638. पा. 1.1.52.

639. पा. 6.1.2.

640. पा. 7.1.72.

641. पा. 7.1.70.

642. पा. 7.2.117.

643. पा. 7.2.116-115.

644. देखें, प्रकृत ग्रन्थ, पृ. 171-72.

645. (क) महा. भा. 3, सू. 6.2.1, पृ. 121; सू. 6.4.163, पृ. 232; सू. 7.4.61, पृ. 354; का. भा. 3, सू. 4.2.125, पृ. 605; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.4.2, पृ. 500; भा. 3, सू. 4.2. 125, पृ. 605; भा. 6, सू. 7.3.3, पृ. 5); महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.62, पृ. 479; भा. 3, सू. 3.1.4, पृ. 229; सू. 3.2.84, पृ. 253; सू. 3.4.102, पृ. 410; सू. 4.2.92, पृ. 669; भा. 4, सू. 5.1.1, पृ. 5; सू. 5.3.55, पृ. 210; सू. 6.4.22, पृ. 699; भा. 5, सू. 7.2.26, पृ. 123; सू. 7.2.117, पृ. 186; सू. 8.4.21, पृ. 501; प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.23, पृ. 384; भा. 3, सू. 3.4.67, पृ. 202; सू. 3.4.90, पृ. 206; सू. 4.2.92, पृ. 581; सू. 4. 2.125, पृ. 605; भा. 4, सू. 5.1.1, पृ. 5; सू. 5.2.135, पृ. 235; सू. 6.1.2, पृ. 444; भा. 5, सू. 6.2.174, पृ. 166; भा. 6, सू. 7.3.3, पृ. 6); दु. वृ. सू. 3.2.188, पृ. 64; श. कौ. भा. 2, सू. 2.2.12, पृ. 205; सू. 3.1.23, पृ. 340; सू. 3.1.78, पृ. 387; प्रौ. म. सू. 706, पृ. 13; सू. 896, पृ. 91; सू. 2580, पृ. 468, 470; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 3, सू. 2606, पृ. 445; सू. 2615, पृ. 453; सू. 2634, पृ. 470; भा. 4, सू. 2833, पृ. 4); श. र. (प्रौ. म.) सू. 706, पृ. 13; सू. 2421, पृ. 414; भा. 2, सू. 2676, पृ. 662; महा. प्र. उ. भा. 1, हयवरट् सूत्र, पृ. 97; भा. 2, सू. 2.3.1, पृ. 754; भा. 3, सू. 3.1.23, पृ. 78; सू. 3.1.93, पृ. 191; सू. 3.3.3, पृ. 313; सू. 4.1.104, पृ. 595; भा. 4, सू. 5.2.37, पृ. 116; सू. 5.2.93, पृ. 230, सू. 5.2.135, पृ. 175; भा. 5, सू. 7.2.98, पृ. 164; सू. 7. 2.117, पृ. 186; सू. 8.2.7, पृ. 376; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 34, पृ. 104; सू. 96, पृ. 220-22; सू. 120, पृ. 256; सू. 158, पृ. 301; सू. 235, पृ. 453; सू. 299, पृ. 542; भा. 2, सू. 537, पृ. 818; सू. 708, पृ. 1013; सू. 1193, पृ. 1285; सू. 2139, पृ. 1555; भा. 3, सू. 2422, पृ. 1742; सू. 2580, पृ. 1836; सू. 2634, पृ. 1855; सू. 2655, पृ. 1884; सू. 2699, पृ. 1923; सू. 2928, पृ. 2043; बा. म. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 391, पृ. 404; भा. 2, सू 1088; पृ. 288).

(ख) बृहदारण्यवार्तिक, 1.6.71-

"तक्रकौण्डिन्यवन्न्यायो न चेहाप्यवसीयते।

उत्सर्गानवकाशत्वाच्छून्यतैवात आपतेत्॥"

श्लोकवार्तिक, श्लोक सं. 15; तन्त्रवार्तिक पृ. 262; भामती, ब्र. सू. 3.3.26.

646. महा. भा. 1, पस्पशा. पृ. 6.

647. पा. 3.2.1.

648. पा. 3.2.2.

649. परि सं. 63 "प्रकल्प्य चापवादविषयमुत्सर्गः प्रवर्तते।"

650. परि. सं. 64.

651. पा. 7.1.3.

652. पा. 7.1.4.

653. परि. सं. 60.

654. पा. 4.1.95.

655. पा. 4.1.55.

656. पा. 4.1.57.

657. महा. भा. 2, सू. 3.2.1, पृ. 95; सू. 4.1.55, पृ. 224; सू. 4.1.114, पृ. 256; सू. 4.3.156, पृ. 327; भा. 3, सू. 6.1.102, पृ. 80; सू. 6.1.166, पृ. 104; सू. 6.3.68, पृ. 167; सू. 6.4.148, पृ. 227; सू. 7.2.44, पृ. 295 इत्यादि।

658. परि. सं. 65.

659. पा. 6.1.101.

660. पा. 6.1.87.

661. ध्यान रहे कि जैसे उक्त दोनों उदाहरणों में क्रमशः अ तथा ई समानाश्रय हैं वैसी स्थिति अयज् + इन्द्रम् में नहीं है। क्योंकि यहां गुण एकादेश का आश्रय अ + ई + तो और हैं सवर्णदीर्घ का आश्रय (इ + इन्द्र) और हैं।

662. परि. सं. 57.

663. वही 42 - "परान्नित्यं बलवत्"।

664. पा. 3.2.2.

665. पा. 3.2.1.

666. महा. भा. 1, सू. 1.1.47, पृ. 115. द्र. प्रकृतग्रन्थ पृ. 207.

667. वही, सू. 1.1.6, पृ. 56; सू. 1.1.28, पृ. 90; भा. 2, सू. 3.4.85, पृ. 184; भा. 3, सू. 6.1.2, पृ. 6 इत्यादि।

668. वही. भा. 1, सू. 1.1.50, पृ. 122.

669. तुलना करो महा. भा. 1, सू. 1.1.3, पृ. 48, "लक्षणं हि नाम ध्वनति भ्रमति मुहुर्तमपि नावतिष्ठते"।

670. महा. भा. 1, सू. 1.1.50, पृ. 122.

671. तुलना करो-

"वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तस्य भोजनम्।

वृथा दानं समर्थस्य वृथा दीपो दिवापि च॥"

(वृद्धचाणक्यशतक, 5.16)

672. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.50, पृ. 171; भा. 4, सू. 6.1.37, पृ. 493); प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.1.89, पृ. 413); महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.2.45, पृ. 83; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 1, पृ. 14; सू. 12, पृ. 53; सू. 14, पृ. 68; सू. 39, पृ. 113, भा. 3, सू. 2157, पृ. 1588.

673. महा. भा. 1, सू. 1.1.51, पृ. 127.

674. तुलना करो, एओङ् ऐऔच् सूत्रभाष्य पृ. 25- "नाव्यपवृक्तस्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु"। इस प्रसङ्ग में वृषल प्रवेशनिषेध न्याय तथा गर्गभोजनत्याग न्याय भी द्रष्टव्य हैं।

675. महा. भा. 1, सू. 1.1.72, पृ. 182-183.

676. पा. 3.1.97.

677. पा. 4.1.95.

678. पा. 3.3.56.

679. पा. 1.2.9.

680. पा. 6.1.77.

681. महा. भा. 1, सू. 1.2.9, पृ. 196.

682. पा. 6.4.16.

683. तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 1.1.50, पृ. 122 "यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान्मा भुक्था इति किं तेन कृतं स्यात्"।

684. तुलना करो, वा. प. 3.1.64-

"यथैवाहितगर्भायां गर्भाधानमनर्थकम्।

तथैकेन प्रसिद्धायां पश्वन्तरमनर्थकम्॥"

685. हितोपदेश, मित्रलाभ, श्लोक सं. 205.

686. (क) महा. भा. 3, सू. 6.1.127, पृ. 89; न्यास. (का. भा. 6, सू. 7.3.3, पृ. 5); महा. प्र. भा. 4, सू. 6.3.37, पृ. 637; धातु प्रदीप पृ. 29; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 3, सू. 2408, पृ. 245); श.र. (प्रौ. म.) सू. 2289, पृ. 361; सू. 2648, पृ. 642; टिप्पणी (प्रौ.म.) सू. 2176 पृ० 219. महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.3.60, पृ. 267; सू. 1.4.3, पृ. 341; सू. 2.4.85, पृ. 910; भा. 3, सू. 3.1.30, पृ. 102; भा. 4, सू. 6.1.2, पृ. 297; सू. 6.1.13, पृ. 328; भा. 5, सू. 7.4.1, पृ. 242; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 1, पृ. 14, सू. 138, पृ. 276; 277; भा. 3, सू. 1586, पृ. 1588; सू. 2289, पृ. 1664; सू. 2648, पृ. 1861; बा. म.

(वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 290,पृ. 296; भा. 2, सू. 840, पृ. 152; सू. 1098, पृ. 304; भा. 3, सू. 2182, पृ. 24; सू. 2290, पृ. 105);

(ख) सर्वदर्शनसंग्रह, पाणिनिदर्शन, पृ. 112; शाङ्करभाष्य, ब्र. सू. 2.3.42.

687. महा. प्र. तथा महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.3.60, पृ. 266-67.

688. महा. भा. 1, सू. 2.4.62, पृ. 492.

689. बृ. श. शे. भा. 1, सू. 138, पृ. 277.

690. महा. भा. 1, सू. 1.2.32, पृ. 208.

691. वही. भा. 3, सू. 6.1.9, पृ. 15.

692. वही. सू. 6.1.85, पृ. 59.

693. प. मं. (का. भा. 5, सू. 7.1.80, पृ. 625); महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 2.4.12, पृ. 851; बृ. श. शे. भा. 2, सू. 910, पृ. 1148; बा. म. (वै. सि. कौ. भा. 2, सू. 910, पृ. 192).

694. महा. भा. 1, सू. 1.4.23, पृ. 325.

695. तुलना करो, परिभाषासंग्रह, चान्द्रव्याकरण परिभाषा सं. 68 - "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति"।

696. तुलना करो, वा. प. 3.7.18-

"निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्वं सर्वत्रैवास्ति कारके।
व्यापारभेदापेक्षायां करणादित्वसंभवः॥"

697. परिशिष्ट पर्वन्, 7.94.

698. द्र. जै.सू. 7.4.12. तन्त्रवार्तिक 3.5.19. वेदान्तकल्पतरु, पृ. 446.

699. महा. भा. 1, सू. 1.4.23, पृ. 326.

700. तुलना करो, वा. प. 3.7.22-23-

"यथा राज्ञा नियुक्तेषु योद्धृत्वं योद्धृषु स्थितम्।
तेषु वृत्तौ तु लभते राजा जयपराजयौ॥
तथा कर्ता नियुक्तेषु सर्वेष्वेकार्थकारिषु।
कर्तृत्वं करणादित्वैरुत्तरं न विरुध्यते॥"

701. महा. भा. 1, सू. 1.4.23, पृ. 327.

702. वस्तुतः अपाय दो प्रकार का होता है - शारीरिक और मानसिक या बौद्धिक। इनमें बौद्धिक अपाय का आश्रयण करके भाष्यकार ने अपादानप्रकरण के मूर्धाभिषिक्त सूत्र "ध्रुवमपायेऽपादानम्" को छोड़कर प्रायः शेष भीत्रार्थानां भयहेतुः' (पा. 1.4.24) इत्यादि सभी सूत्रों का प्रत्याख्यान कर दिया है जोकि स्पष्टप्रतिपत्ति के दृष्टिकोण से समर्थित नहीं किया जा सकता। तुलना करो, वा. प. 3.7.147.

निर्धारणे विभक्ते यो भीत्रादीनां च यो विधिः।
उपात्तापेक्षितापायः सोऽबुधप्रतिपत्तये॥

703. पा. 2.3.42.

704. महा. भा. 1, सू. 1.4.25, पृ. 327-28.

705. वही, सू. 1.4.26, पृ. 328.

706. वही, पृ. 328.

707. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.4.26, पृ. 539).

708. महा. भा. 1, सू. 2.1.58, पृ. 400. इसी सूत्र पर कैयट भी इसे अपनी व्याख्या में और अधिक स्पष्ट करते हैं - "अस्यैव लक्षणस्य भूयांस्युदाहरणानि प्रदर्शयितुमित्यर्थः। केवलेन लक्षणेन मन्दबुद्धिः विषयविभागं नावधारयति। केवलेन प्रपञ्चेन वा सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठवच्छास्त्रस्य गौरवप्रसङ्गः।"

709. महा. भा. 1, सू. 1.4.28, पृ. 329.

710. वही. 1, सू. 1.4.42, पृ. 331.

711. वही. पृ. 332.

712. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.4.42, पृ. 559).

713. महा. भा. 1, सू. 1.4.49, पृ. 332.

714. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.4.42, पृ. 565).

715. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.59, पृ. 213; भा. 2, सू. 2.1.16, पृ. 33); महा. प्र. उ. भा. 3, सू. 3.1.1, पृ. 6; भा. 5, सू. 8.1.68, पृ. 341; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 222, पृ. 430; भा. 2, सू. 2001, पृ. 1499; सू. 2139, पृ. 1551; टिप्पणी (प्रौ.म.) सू. 2434, पृ. 417.

716. महा. भा. 1, सू. 1.4.49, पृ. 333.

717. द्र. वा. प. 3.7.45-

"निर्वर्त्यं च विकार्यं च प्राप्यञ्चेति त्रिधा मतम्।
तच्चेप्सिततमं कर्म चतुर्धान्यत्तु कल्पितम्॥"

718. महा. प्र. भा. 2, सू. 1.4.49, पृ. 411.

719. महा. भा. 1, सू. 1.4.50, पृ. 333.

720. तुलना करो, वा. प. 3.7.80.

"अहितेषु यथा लौल्यात् कर्तुरिच्छोपजायते।
विषादिषु भयादिभ्यस्तथैवासौ प्रवर्तते॥"

721. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.4.50, पृ. 568).

722. महा. भा. 1, सू. 1.3.14, पृ. 277-78.

723. तुलना करो, वा. प. 3.7.16-17.

"सन्दर्शनं प्रार्थनायां व्यवसाये त्वनन्तरा
व्यवसायस्तथारम्भे साधनत्वाय कल्पते॥
पूर्वस्मिन् या क्रिया सैव परस्मिन् साधनं मता
सन्दर्शने तु चैतन्यं विशिष्टं साधनं विदुः।"

724. महा. भा. 1, सू. 1.4.32, पृ. 330-31.

725. यहां यह बात विचारणीय है कि इधर एक तरफ तो भाष्यकार क्रिया ग्रहण का खण्डन कर रहे हैं और दूसरी तरफ इसी खण्डित क्रिया ग्रहण के आधार पर "क्रियाग्रहणमपि तत्र चोद्यते" ऐसा कहते हुए "गत्यर्थकर्मणि" (पा. 2.3.12) सूत्र का प्रत्याख्यान कर रहे हैं। इसी कारण से पूना वास्तव्य डॉ. एस.डी. जोशी आदि कुछ आधुनिक विद्वानों का विचार है कि उक्त स्थल प्रक्षिप्त है। किन्तु लेखक की सम्मति में भाष्यकार की विचार करने की यह अपनी एक विशिष्ट शैली है। "पक्षान्तैरपि परिहारा भवन्ति" (महा. भा. 1, ऋलृक् सूत्र पृ. 20) भाष्यकार के इस कथन का यही रहस्य है।

726. महा. प्र. भा. 2, सू. 1.4.52, पृ. 429; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.4.32, पृ. 548).

727. महा. भा. 1, सू. 2.1.1, पृ. 366.

728. पा. 8.1.28.

729. तुलना करो, महा. पस्पशा. पृ. 11- "शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह नापशब्दज्ञानेऽधर्मम् ....."।

730. तुलना करो, वा. प. 3.10.9

"योऽश्वे यः पीठे इत्यत्र भूतयोरश्वपीठयोः।
यथोपलक्षणार्थत्वं तथार्थेष्वनुशासनम्॥"

731. तुलना करो, वा. प. 3.7.38

"तत्त्वे वा व्यतिरेके वा व्यतिरिक्तं तदुच्यते।
शब्दप्रमाणको लोकः स शास्त्रेणानुगम्यते॥"

732. द्र. महा. भा. 1, सू. 2.3.1, पृ. 442.

733. पा. 2.3.7.

734. वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 643, पृ. 701 "शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः।"

735. वै. भू. सा. सुबर्थ निर्णय, पृ. 282- "सप्तमीपञ्चम्यौ इति सूत्रे शक्तिः कारकमिति पक्षस्य भाष्ये दर्शनात्"।

736. का. भा. 6, सू. 8.1.19, पृ. 264; न्यास. (का. भा. 6, सू. 8.1.19, पृ. 265); महा. प्र. भा. 5, सू. 8.1.19, पृ. 325; प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.1, पृ. 333; भा. 6, सू. 8.1. 19, पृ. 265); महा. प्र. उ. भा. 5, सू. 8.1.19, पृ. 325.

737. महा. भा. 1, सू. 2.1.34-35, पृ. 386-87.

738. पा. 2.1.1.

739. महा. भा. 1, सू. 2.1.34-35, पृ. 387 पर वार्तिक।

740. वही.

741. वही, सू. 1.4.93, पृ. 348.

742. वही. सू. 1.1.44, पृ. 105.

743. तुलना करो, काव्यालंकार, 2.62 - "उक्तार्थस्य प्रयोगो हि गुरुमर्थं न पुष्यति"।

744. महा. भा. 3, सू. 4.1.78, पृ. 231.

745. त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 531, पृ. 590) - "कथं तर्हि युवतीकरनिर्मथितम् इति प्रयोगः? अत्र केचित् सर्वतोऽक्तिन्नर्थात् इति बह्वादिगणसूत्रात् वैकल्पिकोऽत्र ङीष्। न च ति प्रत्ययेनैव स्त्रीत्वस्योक्तत्वाद् ङीष् न भविष्यतीति शङ्क्यम्, उक्तेऽपि भवन्त्येते इति भाष्यात्"।

746. अथवा यहां तो "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचन" (पा. 2.3.46) सूत्रस्थ 'वचन' ग्रहण से भी प्रथमा विभक्ति प्रतिपादित हो सकती है। तुलना करो,

(क) काव्यालङ्कारसूत्र, 2.2.18- "विशेषणस्य विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुक्तार्थस्य पदस्य प्रयोगः"।

(ख) का. प्र. पृ. 368 "गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणदानार्थं क्वचित् प्रयोगः कार्यः"।

747. वा. प. 2.11-12.

748. न्यास. (का भा. 1, सू. 1.4.93, पृ. 624; भा. 2, सू. 2.1.57, पृ. 76-77; सू. 3.1.12, पृ. 365; भा. 3, सू. 4.1.1, पृ. 250; भा. 4, सू. 5.2.39, पृ. 156); महा. प्र. भा. 2, सू. 2. 3.1, पृ. 754; भा. 3, सू. 3.1.13, पृ. 214; भा. 5, सू. 8.2.83, पृ. 419; प. मं. (का. भा. 3, सू. 3.3.161, पृ. 130); श. कौ. भा. 2, सू. 2.3.1, पृ. 221; श. र., सू. (प्रौ. म.) 3320, पृ. 831; महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.3.16, पृ. 248; सू. 2.1.1, पृ. 506; सू. 2.2. 24, पृ. 708; सू. 2.3.1, पृ. 769; भा. 4, सू. 5.1.119, पृ. 88; बृ. श. शे. भा. 2, सू. 537, पृ. 818; 820; प. ल. म. समासादिवृत्त्यर्थविचार, पृ. 434; बा. म. (वै.सि.कौ.भा. 1, सू. 475; पृ. 535; सू. 552, पृ. 595; सू. 582, पृ. 653; भा. 4, सू. 3320, पृ. 354).

749. महा. प्र. उ. भा. 5, सू. 8.2.83, पृ. 419.

750. का. प्र. दशम उल्लास, श्लोक सं. 596.

751. महा. भा. 1, सू. 2.1.1, पृ. 370.

752. महा. भा. 1, सू. 2.1.34-35, पृ. 388; प. ल. म. शक्तिनिरूपण, पृ. 17.

753. महा. भा. 3, सू. 6.4.49, पृ. 201.

754. पा. 6.4.48.

755. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.67, पृ. 238).

756. प. मं. (का. भा. 1, पृ. 13).

757. (क) द्र. काव्यप्रदीप, पृ. 7-

"स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं वाक्यार्थमुपभुञ्जते।

प्रथममालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥"

अभिनवगुप्तकृत लोचनटीका (ध्वन्यालोक), 3.30; भामती, पृ. 342, 534; न्या. वा. ता. टी., पृ. 438, 441; लौ. न्या. र., पृ. 250.

758. प. मं. (का. भा. 5, सू. 6.3.2, पृ. 193).

759. वा. प. 3.14.102. तुलना करो, छान्दोग्योपनिषद्, 6.9.1-2 "यथा सौम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समाहारमेकतां रसं गमयन्ति। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मि, अमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सौम्येमा सर्वाः प्रजाः . . . ."

760. वै. भू. सा., अभेदैकत्वसंख्यानिरूपणप्रकरण, पृ. 513.

761. श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.6, पृ. 107.

762. पा. 1.1.5.

763. पा. 4.2.15.

764. श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.6, पृ. 107 "अत्र च लिङ्गं कुटादिमध्ये कुङ् शब्दे इत्यस्य पाठः, स्थण्डिलाच्छयितरि इति निर्देशश्च"।

765. पा. 1.2.1.

766. श. कौ. भा. 2, सू. 1.3.87, पृ. 92.

767. नैषध. 12.6.

768. त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 3. सू. 2753, पृ. 585) – "कथं तर्हि इमां किमाचमयसे न चक्षुषी' इति श्रीहर्षः? आङ्पूर्वाच्चमेरनेन परस्मैपदौचित्यादिति चेत्। अत्राहुः- आचामयेति पृथक्पदम्। ईर्लक्ष्मीस्तया सहिता सेस्तस्याः सम्बोधने हे से इति। केचित्तु सा त्वम् इने चक्षुषी इनचक्षुषी श्रेष्ठचक्षुषी आचामय किमिति व्याचक्षते।"

769. पा. 1.4.52.

770. बा. म. (वै.सि.कौ.भा. 3, सू. 2753, पृ. 586) "वस्तुतस्तु चक्षुषोर्मुखचन्द्रिका-कर्मकपानात्मकाचमनासम्भवादाचामिरादरे लाक्षणिकः। अतो निगरणार्थकत्वाभावान्न परस्मैपदम्। न चैवं सति प्रत्यवसानार्थकत्वाभावाच्चक्षुषोः गतिबुद्धि इति कर्मत्वं न स्यादिति शङ्क्यम्, न ह्याचामिरत्र केवले आदरे वर्तते किन्तु दर्शनपूर्वकादरे वर्तते। सादरज्ञाने लाक्षणिक इति यावत्। ततश्च बुद्ध्यर्थकत्वादाचामेः चक्षुषेः कर्मत्वं निर्बाधमित्यादि शब्देन्दुशेखरे प्रपञ्चितम्"।

771. बृ. श. शे. भा. 1, सू. 109, पृ. 246; लौ. न्या. र. पृ. 211.

772. द्र. पृ. 86; 374.

773. द्र. पृ. 425.

774. द्र. पृ. 102.

775. द्र. पृ. 307.

776. द्र. पृ. 300.

777. द्र. पृ. 585.

778. द्र. पृ. 521.

779. द्र. पृ. 360.

780. द्र. पृ. 466.

781. द्र. पृ. 177.

782. द्र. पृ. 545.

783. द्र. पृ. 387.

784. द्र. पृ. 592.

785. द्र. पृ. 184.

786. द्र. पृ. 127.

787. द्र. पृ. 636.

788. द्र. पृ. 504.

789. द्र. पृ. 291.

790. द्र. पृ. 463.

791. द्र. पृ. 363.

792. द्र. पृ. 364.

793. द्र. पृ. 385.

794. द्र. पृ. 431.

795. द्र. पृ. 538.

796. द्र. पृ. 170.

797. द्र. पृ. 428.

798. द्र. पृ. 295.

799. द्र. पृ. 513.

800. द्र. पृ. 137.

801. द्र. पृ. 540.

802. द्र. पृ. 431.

803. द्र. पृ. 539.

804. द्र. पृ. 444.

805. द्र. पृ. 141.
806. द्र. पृ. 164.
807. द्र. पृ. 511.
808. द्र. पृ. 520.
809. महा. भा 1, सू. 1.1.1, पृ. 40.
810. यह त्रिविष्टब्धक वाला उदाहरण परिव्राजक के विशेषण रूप में पा. 2.1.1 तथा 3. 2.124 सूत्रभाष्य में भी उद्धृत देखा जा सकता है।
811. महा. भा. 1, सू. 1.1.1, पृ. 40 पर वार्तिक।
812. पा. 1.1.2; 60.
813. महा. भा. 1, सू. 1.1.8, पृ. 60; सू. 1.1.38, पृ. 94-95; सू. 1.1.45, पृ. 111; सू. 1.1. 60, पृ. 158; सू. 1.3.1, पृ. 257; 1.3.12, पृ. 274-75; सू. 2.1.51, पृ. 393-94; सू. 2. 3.18, पृ. 449; भा. 2., सू. 3.2.84, पृ. 111; सू. 3.2.102, पृ. 113; सू. 3.2.124, पृ. 126-27; सू. 3.3.3, पृ. 139; सू. 4.1.3, पृ. 197; सू. 4.1.89, पृ. 240; भा. 3, सू. 6. 3.109, पृ. 174; सू. 7.1.96, पृ. 273; प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.3.4, पृ. 158). तुलना करो, हितोपदेश, मित्रलाभ, श्लोक सं. 43-

"यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत्।
नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले"॥

814. महा. भा. 1, सू. 1.1.50, पृ. 125.
815. द्र. सांख्यकारिका 21-

"पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्गन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥"

816. (क) श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.50, पृ. 197.
(ख) शाबरभाष्य 2.1.1 बृहदारण्यभाष्यवार्तिक, 2.1.38, रामतीर्थकृत वेदान्तसार व्याख्या पृ. 93, तन्त्रवार्तिक पृ० 15, 709, भामती पृ. 21. लौ. न्या. र. पृ. 249.
817. महा. भा. 1, सू. 1.1.70, पृ. 181.
818. वही.
819. वा. प. 1. 75-77

"स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥
स्वभावान्नित्यत्वे ह्स्वदीर्घप्लुतादिषु
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते॥
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः

ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥"

स्फोटचन्द्रिका, पृ. 5.
820. महा. भा. 1, सू. 2.4.56, पृ 488.
821. पा. 2.4.56.
822. पा. 2.4.55.
823. तुलना करो - परि. सं. 23 "व्यवस्थितविभाषयाऽपि कार्याणि भवन्ति"।
824. महा. भा. 1, सू. 2.4.56, पृ. 488 'वलादावार्धधातुके वेष्यते'।
825. वही. 'प्राप्तिज्ञो देवानाम्प्रियो नत्विष्टिज्ञः'।
826. द्र. वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 222, पृ. 223.
827. महा. भा. 1, सू. 2.1.58, पृ. 400.
828. का. भा. 6, सू. 7.2.92, पृ. 205; प. मं. (का. भा. 3, सू. 3.1.13, पृ. 370), बृ. श. शे. भा. 3, सू. 2518, पृ. 1779; सू. 2292, पृ. 1667.
829. द्र. पृ. 201.
830. द्र. पृ. 380.
831. द्र. पृ. 448.
832. द्र. पृ. 186.
833. द्र. पृ. 541.
834. द्र. पृ. 376.
835. द्र. पृ. 209.
836. द्र. पृ. 111.
837. द्र. पृ. 315.

चतुर्थ उद्द्योत

आर्थिक न्याय

क (1) कृषिसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. धान्यपलाल (सपलाल) न्याय/मत्स्यकण्टक न्याय / शालिकलाप न्याय / नान्तरीयक न्याय

"अवश्यं कयाचिद् विभक्त्या केनचिद्वचनेन निर्देशः कर्त्तव्यः, तद् यथा- कश्चिदन्नार्थी शालिकलापं सपलालं सतुषमाहरति नान्तरीयकत्वात्। स यावदादेयं तावदादाय तुषपलालान्युत्सृजति। यथा कश्चिन्मांसार्थी मत्स्यान् सकण्टकान् सशल्कानाहरति नान्तरीयकत्वात्। स यावदादेयं तावदादाय शल्ककण्टकान्युत्सृजति। एवमिहापि नान्तरीयकत्वाद् बहुवचनेन निर्देशः क्रियते, अविशेषेणैकश्रुत्यं भवति"।[1]

"स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार विचार करते हैं कि 'अनुदात्तानाम्' यह बहुवचन का निर्देश है। उससे जैसे 'पशुना यजेत' यहां एकत्व के विवक्षित होने से एक पशु का ही यज्ञ होता है वैसे ही यहां भी बहुवचन निर्देश के कारण जो बहुत से अनुदात्त हैं, उनकी ही एकश्रुति प्राप्त होगी। जो दो अनुदात्त या एक अनुदात्त है, उसकी एकश्रुति न हो सकेगी। तदनुसार जैसे- "इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति"[2] यहां 'इमम्' यह प्रातिदिकस्वर से अन्तोदात्त है, अतः उससे परे 'मे' यह "अनुदात्तं सर्वमपादादौ"[3] से सर्वानुदात्त है। अब उदात्त से परे अनुदात्त को "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः"[4] से स्वरित होता है। फलतः 'मे' इस स्वरित से परे "गङ्गे यमुने सरस्वति" ये सब आमन्त्रित होने से "आमन्त्रितस्य च"[5] से अनुदात्त हैं। अब यहां ये अनुदात्त बहुत से हैं इसलिए "स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्" इस प्रकृत सूत्र से इन्हीं अनुदात्तों को एकश्रुति हो सकेगी। इसके विपरीत 'आग्निवेश्यः पचति' यहां दो या एक अनुदात्त को एकश्रुति न हो सकेगी - यह दोष है। 'आग्निवेश्यः' यह गर्गादियञन्त होने से आद्युदात्त है। उससे परे तीनों अक्षर शेषनिघात से अनुदात्त हैं। आदि अनुदात्त 'ग्नि' शब्द को स्वरित होकर उससे परे 'वेश्यः' ये दो अक्षर अनुदात्त हैं। उनको इस सूत्र से एकश्रुति नहीं प्राप्त होती। 'पचति' में भी आद्युदात्त 'प' वर्ण से परे 'च' और 'ति' अनुदात्त है। 'च' को स्वरित होकर उससे परे 'ति' यह एक अक्षर अनुदात्त है।

अब यहां बहुत अनुदात्त न होने के कारण केवल एक अनुदात्त को एकश्रुति नहीं प्राप्त होती जोकि होनी चाहिए।

इन दोषों का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि सूत्र में किसी न किसी विभक्ति, लिङ्ग एवं वचन से तो निर्देश करना ही है। अतः आचार्य ने "अनुदात्तानाम्" यह बहुवचन से निर्देश कर दिया है। उसको देखकर अब यह आक्षेप नहीं करना चाहिए कि यह बहुवचन का निर्देश है इसलिए बहुत से अनुदात्त जहां हों वहीं एकश्रुति होगी, दो या एक अनुदात्त में नहीं होगी।[6] वस्तुतः "अनुदात्तानाम्" इस बहुवचन में एकवचन और द्विवचन भी अनुगृहीत या आ ही जाते हैं। अतः उनका एकशेष होकर 'अनुदात्तानाम्' यह निर्देश बन सकता है।[7] फिर भी उपायान्तर के रूप में एक या दो अनुदात्तों की भी एकश्रुति सिद्ध करने के लिए भाष्यकार प्रथम धान्यपलाल न्याय उपस्थित करते हैं कि जैसे कोई अन्न का इच्छुक मनुष्य अपने खेत में खड़े धान्यसमूह को पलाल (पराल या पराली) और तुषों सहित काटकर घर में ले आता है। उसे धान के साथ पलाल और तुषों का लाना भी आवश्यक होता है, अन्यथा धान भी न लाए जा सकें। क्योंकि पलाल और तुषों से रहित अकेले धान लाए नहीं जा सकते। इसलिए उसे लाचार होकर अगत्या या नान्तरीयकतया तुषसहित ही धान लाने पड़ते हैं। उन सबको लाकर फिर उनमें जो उपादेय धान हैं, उनको वह रख लेता है और शेष अनुपादेय पलाल और तुषों को छोड़ देता है। इसी प्रकार द्वितीय मत्स्य कण्टक न्याय के अनुसार जैसे मांस खाने का इच्छुक व्यक्ति मछलियों को उनके कांटे तथा पंखोंसहित ही पकड़कर घर ले आता है। फिर उसमें उपादेय मछली के मांस को लेकर शेष उसके कांटों तथा पंखों को छोड़ देता है। यदि वह कांटें तथा पंखोंसहित मछली को न लाए तो उसे उपादित्सित मछली का मांस भी न मिले। इसलिए उसे आवश्यक-अनावश्यक सभी अवयवोंसहित मछली को लाना पड़ता है। इसी प्रकार शास्त्र में भी नान्तरीयक न्याय से किसी एक लिङ्ग, वचन या विभक्ति से तो निर्देश करना ही था, अन्यथा अपद बन जाता और फिर वह वाक्य में प्रयुक्त नहीं हो सकता था।[8] यदि 'अनुदात्तस्य' कहते तो आप फिर भी शङ्का करते कि केवल एक अनुदात्त की ही एकश्रुति होती है। और इसी तरह 'अनुदात्तयोः' कहने पर दो अनुदात्तों की शङ्का हो सकती थी। अतः आचार्य ने सबका साझला 'अनुदात्तानाम्' यह बहुवचन निर्देश कर दिया है। उससे लक्ष्यानुरोधात् एक, दो और बहुत-सभी अनुदात्तों की अभीष्ट एकश्रुति सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" सूत्रभाष्य[9] में भी 'समानकर्तृकयोः' इस द्विवचननिर्देश के कारण दो से अधिक क्रियाओं की पूर्वकालता में 'क्त्वा' प्रत्यय न प्राप्त होने पर प्रकृत धान्यपलाल तथा मत्स्यकण्टक लोकन्यायों से ही उस द्विवचन निर्देश को नान्तरीयक सिद्ध किया गया है तथा उसे अतन्त्र या अविवक्षित कहकर

'क्त्वा' प्रत्यय सिद्ध कर दिया गया है। इसी तरह "तस्यापत्यम्" सूत्रभाष्य[10] में भी प्रकृत न्यायों के आधार पर 'तस्य' तथा 'अपत्यम्' ये दोनों ग्रहण अतन्त्र या अविवक्षित हैं। फलतः सभी लिङ्गों तथा वचनों मे अपत्य प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार "भावे" सूत्रभाष्य[11] में भी प्रस्तुत न्यायों के आधार पर सूत्रस्थ पुंलिङ्ग एकवचन के साथ-साथ भूति, भवन आदि स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग और द्विवचन-बहुवचन भावों में भी 'घञ्' आदि प्रत्यय सिद्ध हो जाते हैं। भाव की दृष्टि से उक्त न्याय की "न हि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते", शूर्प न्याय" अग्न्यानयन न्याय तथा "कूपखानक न्याय" से तुलना की जा सकती है। उक्त न्याय को मत्स्यकण्टक या शलिकलाप / सपलाल नामों से भी पुकारा जा सकता है। इस न्याय के निगूढ तात्पर्य को लेकर ही व्याकरणशास्त्र में यह परिभाषा बनाई गई है- "सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्"। यह न्याय इस परिभाषा का ही पोषक है। प्रस्तुत नान्तरीयक न्याय अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[12]

2. भविष्यत्प्रतिषेध न्याय

"सिद्धन्तु भविष्यत्प्रतिषेधात्। सिद्धमेतत्। कथम्? भविष्यत् प्रतिषेधात्। यल्लोको भविष्यद्वाचिनः शब्दस्य प्रयोगं न मृष्यति। कश्चिदाह-देवश्चेद्वृष्टः सम्पत्स्यन्ते शालय इति। स उच्यते, मैवं वोचः-सम्पन्नाः शालय इत्येवं ब्रूहि।"[13]

"क्षिप्रवचने लृट्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार 'अनिष्पन्ने निष्पन्नशब्दः शिष्योऽनिष्पन्नत्वात्" इस वार्तिक का खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'देवश्चेद् वृष्टः संपत्स्यन्ते शालयः' के स्थान में 'देवश्चेद् वृष्टः सम्पन्नाः शालयः यह प्रयोग सिद्ध हो जाएगा। और यह ठीक भी है। क्योंकि लोक भविष्यत्कालवाची शब्द का प्रयोग नहीं करता। यहां लोकप्रयुक्त वाक्य का उपन्यास करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि लोक में कोई कहता है-'देवश्चेद् वृष्टः सम्पत्स्यन्ते शालयः' अर्थात् यदि बादल बरसा तो धान हो जाएंगे। उसको सुनकर दूसरा कहता है कि ऐसा न बोलो कि धान हो जाएंगे अपितु धान हो गए-ऐसा कहो। यदि बादल बरसा तो धान हो ही गए समझो। हो जाएंगे-इस भविष्यत् काल के प्रयोग की अपेक्षा 'हो गए' यह प्रयोग अधिक सुन्दर तथा रसपोषक है॥

3. प्रथमातिक्रमे कारणाभावः न्याय

"षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते....लघुत्वात् प्रथमातिक्रमे कारणाभावाच्च एकवचनेनैव निर्देशाद् विवक्षितं तदिति मन्यमानं प्रत्याह-बहुवचनमतन्त्रमिति"[14]

यह न्याय "षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते" इस सूत्र की व्याख्या में पदमञ्जरीकार ने उद्धृत किया है। इस न्याय का अर्थ है कि यदि प्रथम संख्या के अतिक्रमण में कोई कारण नहीं है तो कारण के बिना ही प्रथम का उल्लङ्घन करना ठीक नहीं। इसके आधार पर वे आगे कहते हैं कि जैसे लोक में यह कहा जाए कि जो पहले आएगा उसे फल मिलेंगे तो प्रथम पहुंचने वाले को ही फल मिलते हैं, द्वितीय या तृतीय

को नहीं वैसे ही यहां उक्त सूत्र में भी 'षष्टिकाः' यह बहुवचन का प्रयोग क्यों किया जबकि क्रम से प्राप्त 'षष्टिकः' यह एकवचन का निर्देश ही करना चाहिए था तो इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि इसमें जो 'षष्टिकाः' में बहुवचन का प्रयोग है, वह मुख्य रूप से विवक्षित नहीं है।[15] वस्तुतः उक्त न्याय के आधार पर तो यहां 'षष्टिकः' इस एकवचन का प्रयोग करना ही उचित था। अथवा इसका समाधान यह भी हो सकता है कि सांठी के चावल एक-दो नही बल्कि बहुत होते हैं। इसीलिए 'षष्टिकाः' इस बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इस न्याय का अन्यत्र भी बहुलता से प्रयोग मिलता है।[16]

क (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित कृषिसम्बन्धी लोकन्याय

1. शालिकुल्याप्रणयन न्याय/अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति न्याय[17]
2. न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते न्याय[18]
3. कामचारश्च वतिनिर्देशे वाक्यशेषं समर्थयितुम् न्याय / भावाभावातिदेश न्याय[19]
4. दृश्यते हि पुनरतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः न्याय / तन्तुकम्बल न्याय / बल्वजरज्जु न्याय / सुराङ्ग न्याय / रथाङ्गरथ न्याय[20]
5. बौद्धापाय (माषगोवारण) न्याय[21]
6. न हि कश्चित् कूपोऽस्तीति प्रयोक्तव्ये कूपोऽभूदिति प्रयुङ्क्ते न्याय[22]
7. खले कपोतिका न्याय[23]

ख (1) वनसम्पत्तिसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. द्विगता अपि हेतवो भवन्ति न्याय / वाक्यान्यपि द्विष्ठानि भवन्ति न्याय

2. आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः (आम्रसेकपितृतर्पण) न्याय / एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा न्याय

3. श्वेतो धावति न्याय

द्विगता अपि हेतवो भवन्ति। तद् यथा-आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिता इति। तथा वाक्यान्यपि द्विष्ठानि भवन्ति-श्वेतो धावति, अलं बुसानां यातेति"।[24]

पस्पशाह्निक में एक सूत्र से दोहरा लाभ उठाने के लिए प्रकृत आम्रसेकपितृतर्पण (प्रीणन) न्याय का प्रयोग करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि लोक में दो प्रयोजन या दो अर्थों को सिद्ध करने वाले भी काम या हेतु होते हैं। जहां एक क्रिया से दो प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं वे 'द्विगत हेतु" कहलाते हैं।[25] एक तीर से दो निशाने वाली कहावत का भी यही निगूढाशय है, जैसे-आम के वृक्षों को जल से सींचा और साथ ही उस जल से पितरों को भी तृप्त या प्रसन्न कर दिया। अथवा पितरों को जल से तृप्त किया और अवशिष्ट जल से आम के वृक्ष भी सींच दिए गए। भाव यह है कि जैसे पितरों को पिलाने के लिए पानी लाए। अब पानी पिलाकर पितरों को तो

तृप्त किया ही, साथ ही, शेष पानी आम के वृक्षों में भी डाल दिया। पानी डालने की एक क्रिया से पितर भी प्रसन्न हो गए और आम के वृक्ष भी सींचे गए। इसी प्रकार शास्त्र में भी शब्द या वाक्य भी **शब्दश्लेषादि** के कारण **द्व्यर्थक** या दो प्रयोजनों को सिद्ध करने वाले होते हैं, जैसे प्रथम अर्थ में-'**श्वा + इतः=श्वेतो धावति**' अर्थात् **कुत्ता इधर से दौड़ता है**। दूसरे अर्थ में '**श्वेतो धावति**' यहां श्वेत एक अखण्ड शब्द है जिसका अर्थ है-**सफेद रङ्ग का कोई दौड़ता है**।[26] इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में **शब्दशक्तिमहिम्ना अलंबुस नामक देशविशेषों को जाने वाला** यह एक अर्थ है और '**बुसानामलं याता**' अर्थात् **भुस्सों को पर्याप्त रूप से प्राप्त करने में समर्थ**-यह दूसरा अर्थ है। जैसे लोक में उक्त द्व्यर्थक व्यवहार देखा जाता है वैसे ही शास्त्र में भी एक वाक्य से दो लाभ लेते हुए गर्गादि विदादिगण में पठित अकार और इकार गर्गादि विदादि के गणपाठ को भी विशेषित करेंगे और उनके समान अन्य अकारादि के साधुत्व (कल ध्मातादि दोषराहित्य) को भी ज्ञापित कर देंगे- ये दो प्रयोजन एक साथ ही एक वाक्य से सिद्ध हो सकते हैं। इस सन्दर्भ में नागेश सहमत न होते हुए **वृश्चिकभिया प्रद्रवतः सर्पमुखे पतनम्**" न्याय से इस पर टिप्पणी करते हैं-

4. वृश्चिकभिया न्याय

"**अपाणिनीयमिति। वर्णसमाम्नायसमर्थनाय प्रवृत्तस्य एकदोषपरिहाराय सकलशास्त्रस्य व्याख्यानसापेक्ष्यगुरुप्रकारेणान्यथाकरणे वृश्चिकभियेत्यादिन्याय आपततीति भावः**"।[27]

इस न्याय का अर्थ है कि **बिच्छू के डर से भागते हुए सांप के मुख में जा पड़ना** अर्थात् जिस भय से हम बचना चाहते हैं, वह भय तो दूर न हो प्रत्युत उससे भी अधिक विकट भय या संकट जहां उपस्थित हो जाए वैसे स्थलों पर इस न्याय का प्रयोग होता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में उक्त न्याय देने का यह तात्पर्य है कि वर्णसमाम्नायसमर्थन के सन्दर्भ में प्राप्त होने वाले उदात्तानुदातस्वरित वर्णों के अग्रहणरूप दोष का परिहार करने के लिए यह जो संवृत आदि दोषों से प्रयोजनान्तर सिद्ध किया गया है वह यद्यपि ठीक है तथापि यह दीर्घव्याख्यानसापेक्ष होने के कारण व्याकरण का गुरुतर प्रकार होने के साथ-साथ **अपाणिनीय** भी है। क्योंकि आचार्य पाणिनि ने संवृत आदि दोषों से कोई ऐसा काम नहीं लिया है। अतः यह तो ठीक वैसी ही स्थिति हो गई कि **आकाश से गिरा और खजूर में अटका**। वैसे उक्त न्याय का पूरा स्वरूप निम्न है- **वृश्चिकभिया प्रद्रवतः सर्पमुखे पतनम्**। इसका स्वल्प रूपान्तर भी मिलता है-

"**वृश्चिकभिया पलायमान आशीविषमुखे निपतितः**[28]।

प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[29]

इसी प्रकार "**नमुने**"[30] सूत्रभाष्य में भी भाष्यकार ने यह **आम्रसेकपितृतर्पण** न्याय उपन्यस्त किया है। इस सूत्र पर उक्त लोकन्याय देने का तात्पर्य यह है कि प्रकृत सूत्रस्थ 'ने' शब्द में भी **दो अर्थों को प्रकट करने की शक्ति है**। तद् यथा-'ने' अर्थात् 'ना' आदेश करने के लिए (नाभावे कर्तव्ये) मुभाव असिद्ध नहीं होता और 'ने' अर्थात् ना आदेश कर चुकने पर भी (नाभावे कृते च) मुभाव असिद्ध नहीं होता। इससे 'अमुना' यहां 'अदस्' शब्द के तृतीया विभक्ति के एकवचन में "अदसोऽसेर्दादु दोमः"[31] सूत्र से हुआ मुभाव अर्थात् 'अदस्' के दकारोत्तरवर्ती अकार को उकार और दकार को मकार" आङो नाऽस्त्रियाम्।[32] से 'टा' को 'ना' आदेश करने में असिद्ध नहीं होगा तो 'अमु' के घिसंज्ञक हो जाने से 'ना' आदेश सिद्ध हो जाता है। 'ना' आदेश कर चुकने पर भी **मुभाव की असिद्धता** का "**नमुने**" सूत्र से निषेध हो गया तो 'अमु' शब्द के अदन्त न होने से "सुपि च"[33] से दीर्घ नहीं होगा। अन्यथा मुभाव को असिद्ध मानकर अदन्तत्वप्रयुक्त दीर्घ हो जाता तो अमूना ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता। यह सब प्रकृत लोकन्यायाधारित "नमुने" सूत्र में पठित एक 'ने' शब्द का ही माहात्म्य है जो 'ना' आदेश करने के लिए और 'ना' आदेश कर चुकने पर भी मुभाव की असिद्धता का निषेध कर देता है। इस तरह "नमुने" सूत्र का अर्थ हुआ-"**नाभावे कर्तव्ये कृते चोभयथापि मुभावो नासिद्धो भवति**"। एक 'ने' शब्द से उक्त अर्थद्वय की प्रतीति उस लोकन्याय द्वारा सुस्पष्ट हो जाती है।

शब्दान्तरों में यह लोकन्याय **एका क्रिया द्व्यर्थकरी** प्रसिद्धा या **एक पन्थ दो काज**' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसी को **आम्रसेकपितृप्रीणन** (तर्पण) न्याय भी कहा जाता है।[34] भाव की दृष्टि से प्रस्तुत न्याय की '**वृद्धकुमारी वरवाक्य न्याय**'; '**पुष्टलगुड न्याय**', '**फलवत्सहकार न्याय**' तथा '**एकवृन्तगतफलद्वय**' न्याय से भी तुलना कर सकते हैं। भाष्येतर व्याकरण के ग्रन्थों में भी उक्त न्याय पर्याप्त प्रयुक्त हुआ है जोकि यथास्थान संकेतित है। वैसे व्याकरणेतर ग्रन्थों ने भी भावप्रतिपादन में स्वयं को प्रकृत न्याय की हृदयग्राहिणी शक्ति से सर्वथा वञ्चित नहीं रखा है।[35] इस प्रसङ्ग में अग्रिम न्याय भी दर्शनीय है।

5. वृद्धकुमारीवरवाक्य न्याय

"**अथवा वृद्धकुमारीवाक्यवदिदं द्रष्टव्यम् तद् यथा-वृद्धकुमारी इन्द्रेणोक्ता-'वरं वृणीष्व' इति। सा वरमवृणीत-'पुत्रा मे बहुक्षीरघृतमोदनं कांस्यपात्र्यां भुञ्जीरन्' इति। न च तावदस्याः पतिर्भवति। कुतः पुत्राः कुतो वा गावः कुतो धान्यम्? तत्रानयैकेन वाक्येन पतिः पुत्राः गावो धान्यमिति सर्वं संगृहीतं भवति। एवमिहापि नेऽसिद्धत्वप्रतिषेधं ब्रुवता नाभावोऽपि संगृहीतो भवति**"।[36]

"वाक्यान्यपि द्विष्ठानि भवन्ति" इस व्याकरणिक सिद्धान्त के स्पष्ट प्रतिपादन के लिए भाष्यकार ने जहां '**आम्रसेकपितृतर्पण**' न्याय का आश्रय लिया है वहीं अपनी शैली के अनुरूप[37] "**द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति**" न्यायानुसार उक्त सिद्धान्त को ही सर्वथा

निगद व्याख्यात बनाने के लिए वे "न मु ने" सूत्रभाष्य में ही वृद्धकुमारी वर वाक्य न्याय को भी उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि वृद्धकुमारीवरवाक्य न्याय से भी 'ने' शब्द के उक्त अभीष्ट दोनों अर्थ (नाभावे कर्तव्ये कृते च) समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। यथास्थित न्यास में तो 'ना' आदेश परे रहते मुभाव असिद्ध नहीं होता - यही एक अर्थ निकल सकता है। किन्तु जबतक मुभाव की असिद्धता का निषेध नहीं हो लेता तब तक 'ना' आदेश ही नहीं प्राप्त होता। इसलिए उक्त न्याय द्वारा 'ने' शब्द का यह दूसरा अर्थ भी निकाला जाता है कि 'ना' आदेश करने के लिए मुभाव असिद्ध नहीं होता। इससे दोनों अवस्थाओं में चाहे 'ना' आदेश करना हो या 'ना' आदेश कर चुके हों, मुभाव की असिद्धता का यह सूत्र निषेध कर देता है तो 'अमुना' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है।

वार्तिककार ने तो 'नमुने' के स्थान पर 'नमुटादेशे' ऐसा न्यासान्तर प्रस्तावित किया है। वहां 'टादेश' शब्द में 'टायाः आदेशः' और 'टायाम् आदेशः' यह दो प्रकार का समासविग्रह करके उक्त रूप की सिद्धि की गई है। 'टा' विभक्ति को 'ना' आदेश करना हो या 'टा' विभक्ति परे रहते 'अमुना' में 'मु' को दीर्घ आदेश करना हो - दोनों अवस्थाओं में मुभाव असिद्ध नहीं होता। इस न्यासान्तर में 'ने' शब्द के अर्थ का झंझट नहीं है। किन्तु 'टादेश' शब्द में दो प्रकार का विग्रह तो करना ही होगा। इसीलिए भाष्यकार ने "सिध्यति, सूत्रं तर्हि भिद्यते, यथान्यासमेवास्तु" ऐसा कहकर "नमुने" इस पाणिनीय न्यास को ही स्वीकार किया है। वृद्धकुमारीवरवाक्य न्याय का अर्थ तो स्पष्ट ही है। जो कुमारी अवस्था में रहती हुई ही बूढ़ी हो गई हो वह वृद्धकुमारी होती है। एक बार उसको इन्द्र देवता ने कहा कि तुम वर मांगो। तब उस वृद्धकुमारी ने यह वर मांगा कि मेरे पुत्र पर्याप्त घी-दूध से मिश्रित चावलों को कांसी की थाली में रखकर खाएँ। देखिए- इस वृद्धकुमारी ने कितनी निपुणता से एक ही वाक्य में सब कुछ अभीष्ट मांग लिया! भला, जब वह बाल्यकाल से ही (चिर) कुमारी है, उसका विवाह ही नहीं हुआ तो उसका पति कहां हो सकता है? जब पति ही नहीं होगा तो पुत्र कैसे होंगे? फलतः पुत्रों के अभाव में गौ, धान्यादि कहां से आएंगे? परन्तु इस कुशलमति वृद्धकुमारी ने उक्त वर मांग कर पति पुत्रादि सब अभीष्ट वस्तु एक ही वर के वाक्य से प्राप्त कर ली। लोक में इसी न्याय के वर का एक और रूपान्तर भी मिलता है। इसमें एक अविवाहित (कुमारी), अन्धी तथा निर्धन वृद्धा निम्न वर मांगती है - 'मैं अपने पौत्र को चांदी के पात्र में दूध पीते हुए देखूं'। यहां भी इस वृद्धकुमारी ने कौशलपूर्वक एक ही वर के वाक्य से सभी इष्ट सिद्ध कर लिया।[38] इसी प्रकार आचार्य पाणिनि ने भी "नमुने" सूत्रस्थ 'ने' शब्द के द्वारा 'ना' आदेश करने के लिए और 'ना' आदेश कर चुकने पर भी अर्थात् 'ना' आदेश परे रहते मुभाव असिद्ध नहीं होता - ये दोनों अर्थ संगृहीत कर दिए हैं। रघुवंश में दशरथ के द्वारा अनजाने में श्रवणकुमार को मार

दिए जाने पर उसके माता-पिता द्वारा दशरथ को शाप दिए जाने के सन्दर्भ में मल्लिनाथ ने सञ्जीवनी टीका में प्रकृत न्याय का बड़ा ही सटीक एवं स्थाने प्रयोग किया है, तद्यथा- "अपुत्रके मयि भगवता पातितः शापोऽपि सानुग्रहः वृद्धकुमारीवरन्याये-नेष्टावाप्तेरन्तरीयकत्वात् सोपकार एव"।[39] व्याकरणशास्त्र में यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[40] वाक्यों की द्विष्ठता को प्रतिपादित करने के लिए भाष्यकार के समान प्रदीपकार भी उदाहरणान्तरमूलक अग्न्यानयन न्याय उपन्यस्त करते हैं–

6. अशब्दार्थस्यापि नान्तरीयकत्वादुपादानं दृश्यते न्याय / अग्न्यानयन न्याय / अग्निरानीयताम् न्याय

"अशब्दार्थस्यापि नान्तरीयकत्वादुपादनं दृश्यते। यथाग्निरानीयतामित्युक्ते अचोदितमपि पात्रानयनमग्न्यानयनेऽन्तर्भवति, एवमिहापि ने परतः प्राप्तं कार्यं प्रति मुभावस्य सिद्धत्वं ब्रुवतार्थान्नेऽपि कर्तव्ये सिद्धत्वमाश्रितम्"।[41]

यह न्याय प्रदीपकार कैयट ने भाष्य में बहुत स्थलों पर दिया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में "न मु ने" सूत्र के भाष्य में वृद्धकुमारीवरवाक्य न्याय की व्याख्या में इसे उद्धृत किया गया है। इसका अर्थ है कि जैसे कोई किसी से कहे कि अग्नि ले आओ तो वह अग्नि को पात्र में रखकर ही लाता है। यद्यपि उसने यह नहीं कहा कि पात्र में रखकर अग्नि को लाओ। किन्तु अग्नि लाने वाला जानता है कि पात्र में रखे बिना अग्नि कैसे लाई जा सकती है? यदि मैं अपने हाथों में लाऊँगा तो हाथ जल जाएंगे। इसलिए वह पात्र में अग्नि लाओ - ऐसा कहे बिना भी पात्र में ही अग्नि लाता है। यही अग्नि का लाना है जो वह बिना कहे भी पात्र में रखकर लाई जाए। प्रधान (अग्नि) से सम्बद्ध गौण वस्तु (पात्रादि) के बोध सन्दर्भ में प्रकृत न्याय व्यवहृत होता है। इस विषय में हरदत्त भी कहते हैं–

"अथवा प्रधानवशवर्तित्वाद् गुणानां प्रधाने प्रत्ययार्थे उपस्थापिते समर्थ-विभक्त्यादिकमपि गुणभूतमुपस्थाप्यते एव, आचमनादिवत्, यथा- ब्राह्मणा भोज्यन्तामित्युक्तेऽनुक्ता अप्याचमनादयोऽङ्गभूता आक्षिप्यन्ते।"[42]

इस न्याय का बहुत व्यापक विषय है। इसे ही शास्त्रों में अग्न्यानयन या अङ्गाकर्षण[43] नामों से भी कहा जाता है। इसी का समानान्तर जलानयन न्याय होता है। इस न्याय के अनेक उदाहरण शास्त्र में मिलते है।[44]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में "नमुने" सूत्र में 'ने' शब्द का अर्थ 'ना' आदेश करने पर (नाभावे कृते) 'मुभाव' असिद्ध नहीं होता - यह चोदित अर्थ तो है ही किन्तु इस न्याय के आधार पर 'नाभाव' करने के लिए (नाभावे कर्तव्ये) भी 'मुभाव' असिद्ध नहीं होता–यह अचोदित अर्थ भी जाना जाता है। उससे 'अमुना' में "आङो नाऽस्त्रियाम्"[45] से 'नाभाव' करने के लिए 'मुभाव' की असिद्धता नहीं होगी तो 'मुभाव' के सिद्ध होने पर उसकी घिसंज्ञा हो जाएगी। फलतः 'ना' आदेश हो जाएगा। "नमुने" सूत्र के दो अर्थों को लेकर

भट्टोजिदीक्षित भी न हि रजतभ्रमप्रयुक्ता प्रवृत्तिः शुक्तिं न गोचरयति न्याय का प्रयोग करते हुए कहते हैं-

7. न हि रजतभ्रमप्रयुक्ता प्रवृत्तिः शुक्तिं न गोचरयति न्याय

"अमुना इत्यत्र मुत्वे कृते तदुपजीवनेन नाभावे च कृते सुपि च इति दीर्घो मुशब्द एव दशब्दोऽयमिति बुद्ध्या प्राप्नोति तत्परिहाराय तन्त्रानुवृत्त्याद्याश्रयणेन नाभावे कर्तव्ये कृते च सति मुभावो नासिद्ध इत्यष्टमे व्याख्यातम्। ..... न हि रजतभ्रमप्रयुक्ता प्रवृत्तिः शुक्तिं न गोचरयतीति युक्तम्।"[46]

यह न्याय शब्दकौस्तुभकार ने 'ईद्देद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र की व्याख्या में दिया है। इसका अर्थ यह है कि सीपी में चांदी के भ्रम से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति सीपी को नहीं दिखा सकती - यह बात नहीं है, भ्रम से भी प्रवृत्ति हो सकती है अर्थात् सीपी को यदि किसी ने भ्रम से चांदी समझ लिया है तो वह चांदी को ही वहाँ देखेगा। इसी प्रकार 'अमुना' यहाँ 'अदस्' शब्द के पुंलिङ्ग में तृतीया के एकवचन में "अदसोऽसेर्दादु दोमः"[47] से दकार को मकार और अकार को उकार करने पर 'अमु' शब्द की घि संज्ञा हो जाती है। इसके बाद "आङो नाऽस्त्रियाम्"[48] से 'टा' को 'ना' आदेश करने पर मकार और उकार के असिद्ध होने से अमु शब्द को अकारान्त का ही भ्रम करके "सुपि च"[49] से जो दीर्घ प्राप्त होता है तो वह उकार को भ्रम से अकार मानकर ही प्राप्त होता है। यद्यपि यह बात दूसरी है कि 'मु' आदेश को "नमुने"[50] से असिद्ध कर देते हैं, फिर भी उकार में भ्रम से उत्पन्न हुई अकार बुद्धि "सुपि च" की दृष्टि में तो उसके अकार का ही ज्ञान कराती है और इसलिए उसे 'अमूना' ऐसा दीर्घ प्राप्त होता है। भाव यह है कि यद्यपि 'नमुने' सूत्र का दूसरा अर्थ करके इस दीर्घ को रोक तो लिया जाता है। किन्तु "सुपि च" सूत्र तो उस उकार को अकार ही समझ रहा है जोकि एक प्रकार से भ्रम ही है। भ्रम से भी उसमें अकारबुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है। यह न्याय व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[51] भाव की दृष्टि से पूर्वोक्त आम्रसेकपितृप्रीणन न्याय के समान घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न पश्यति न्याय को उपन्यस्त करते हुए भट्टोजिदीक्षित आगे भी कहते हैं–

8. घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न पश्यति न्याय

"असन्देहायापि क्रियमाणं तपरत्वं प्लुतं व्यावर्तयेदेव, घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न पश्यति' इति न्यायात्"।[52]

यह न्याय भी शब्दकौस्तुभकार ने "ईद्देद् द्विवचनं प्रगृह्यम्" सूत्र की व्याख्या में लिखा है। इस न्याय का अर्थ है कि जिस प्रकार घट का ज्ञान करने के लिए जब आंखें खोली जाती हैं तो वे घटज्ञान के साथ पटादि अन्य पदार्थों का ज्ञान भी तो करा ही देती हैं। इसी प्रकार यहाँ 'ईद्देद्' आदि सूत्र में असन्देह के लिए किया हुआ भी 'ईत्, ऊत्, एत्' यह तपरकरण जहाँ ई, ऊ, ए इन तीनों में सन्देह की निवृत्ति करेगा,

अन्यथा सन्धि होने पर स्पष्ट प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी, वहाँ "तपरस्तत्कालस्य"[53] इस सूत्र से तत्काल का ग्रहण करके भिन्नकाल जो प्लुत है, उसकी निवृत्ति भी कर ही सकता है। इस बात को समझाने के लिए ही उक्त न्याय का आश्रयण किया गया है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[54] द्विष्ठ वाक्यों के विषय में अग्रिम न्याय भी द्रष्टव्य है, तद्यथा-

9. तन्त्राद्यावृत्त्येकशेष न्याय

"तन्त्रावृत्त्येकशेषाणामन्यतमाश्रयेणोभयोः (वाक्यवर्णयोः) सम्प्रसारणसंज्ञा सिध्यति"।[55]

"इग्यणः सम्प्रसारणम्" सूत्र के भाष्य में प्रदीपकार कहते हैं कि तन्त्र, आवृत्ति और एकशेष इन तीनों में से किसी एक का आश्रयण करके प्रकृत सूत्र से ही वाक्य और वर्ण दोनों की सम्प्रसारणसंज्ञा सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार "नमुने" सूत्र में 'ने' इस एक पद से ही 'ना' आदेश करने के लिए तथा 'ना' आदेश करने पर 'मुभाव' असिद्ध नहीं होता - ये दोनों अर्थ तन्त्र द्वारा निकल जाते हैं।[56] इस न्याय के आधार पर ही "हलन्त्यम्" इस सूत्र में 'हल्' शब्द से हल् प्रत्याहार और "हल्" यह अन्तिम प्रत्याहारसूत्र दोनों गृहीत होते हैं। उक्त दोनों अर्थों को तन्त्र न्याय से कण्ठरवेण सुस्पष्ट करते हुए हरदत्त भी कहते हैं–

"साधारणं भवेत्तन्त्रं यथा- तुल्यकक्ष्ययोर्भुञ्जानयोः प्रदीपः। स चेह प्रयत्नविशेषः, यथा श्वेतो धावतीत्यत्र साधारणैकेनैव प्रयत्नेन द्वयोर्वाक्ययोरुच्चारितयोः फलं सम्पद्यते, तथेहाप्येकेन तन्त्रेण प्रबलेन द्वितीयं हल्ग्रहणमुपात्तं परिगृहीतं वेदितव्यम्"।[57]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "हलन्त्यम्" सूत्र की व्याख्या में हल्" शब्द के तन्त्रन्याय द्वारा दो अर्थ सिद्ध करते हुए दिया है। इसमें तन्त्र शब्द का अर्थ है कि जो एक होते हुए भी दोनों के लिए साधारण हो, उसे तन्त्र कहते हैं, जैसे- दो व्यक्ति समान कमरों में बैठे हुए भोजन कर रहे हैं। उनके मध्य में रखा हुआ एक ही दीपक समानरूप से दोनों का उपकार करता है। क्योंकि उस दीपक का प्रकाश दोनों को बराबर मिलता है। यदि उन दोनों में से किसी एक को दीपक का प्रकाश न मिले तो वे अन्धकार में रहते हुए भोजन नहीं कर सकते।

किसी शब्द के दो या अधिक अर्थ करने के लिए ये तीन ही उपाय है - तन्त्र, आवृत्ति या एकशेष। इसीलिए प्रकृत न्याय को तन्त्रावृत्त्येकशेष न्याय कहते हैं। इनमें तन्त्र को श्लेष भी कहते हैं। इसमें दो अर्थों का सम्बन्ध करके एक शब्द का उच्चारण कर दिया जाता है और वह एक ही शब्द दोनों के लिए साधारण रहता है जैसे कि पूर्वोक्त एक दीपक का प्रकाश दोनों भोजन करने वालों के लिए समानरूप से प्रयुक्त होता है अर्थात् यद्यपि दीपक एक ही है तथापि अपने प्रकाश द्वारा वह दोनों का उपकार करता है। इसी प्रकार यहां "हलन्त्यम्" सूत्र में भी यद्यपि 'हल्' शब्द तो एक ही

पठित है तथापि वह दो अर्थ रखता है। तदनुसार 'हल्' शब्द का पहला अर्थ तो यह है कि "हल्" इस सूत्र में जो अन्तिम अक्षर लकार है, उसकी इत् संज्ञा होती है। इससे हल् प्रत्याहार बनाने में जो अन्योन्याश्रय दोष आता था, वह नहीं रहेगा अर्थात् इत्संज्ञा पहले होने पर तो हल् प्रत्याहार बने और हल् प्रत्याहार पहले बनने पर उसकी "हलन्त्यम्" से इत् संज्ञा हो - इस इतरेतराश्रय दोष को परिहृत करने के लिए यहां तन्त्र न्याय से 'हल्' शब्द के दो अर्थ हो जाते है। इनमें से एक तो अर्थ जो अभी लिखा, यह है कि 'हल्' सूत्र में जो अन्तिम अक्षर लकार है, उसकी इत् संज्ञा हो जाती है। जब लकार की इत् संज्ञा हो गई तो "हयवरट्" सूत्र के हकार से लेकर "हल्" सूत्र के लकार तक स्वयं के साथ-साथ मध्य में आने वाले वर्णों की "आदिरन्त्येन सहेता"[58] इस सूत्र से हल् प्रत्याहार यह संज्ञा सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार 'हल्' शब्द का पहला अर्थ तो 'हल्' सूत्र के लकार की इत्संज्ञापरक हो जाता है।

अब इसकी इत्संज्ञा का ज्ञान हो जाने पर फिर "हल्" शब्द का दूसरा अर्थ यह होता है कि हल् प्रत्याहार में जो अन्तिम अक्षर है, उसकी इत्संज्ञा होती है। इससे लकार के अतिरिक्त हल् प्रत्याहार में आने वाले जितने भी अन्तिम व्यञ्जन वर्ण हैं, उनकी इत्संज्ञा सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार "हलन्त्यम्" इस सूत्र में 'हल्' शब्द से उक्त दो अर्थों का बोध प्रकृत तन्त्रन्याय से ही होता है। फलतः किसी भी हल् वर्ण की इत्संज्ञा करने में जो अन्योन्याश्रय दोष आता था, अब वह नहीं रहता और सब प्रत्याहार निर्विघ्न बन जाते हैं।

प्रकृत लोकन्याय के विषय में कुछ विशेष वक्तव्य यह है कि यद्यपि यह न्याय मुख्य रूप से शास्त्रीय ही है तथापि इसका उपयोग लोक में भी प्रचुर होता है। इस न्याय का अर्थ है कि तन्त्र या श्लेष से, चाहे वह श्लेष अर्थश्लेष हो या शब्दश्लेष, आवृत्ति और एकशेष से भी कार्य सिद्ध होते हैं। लोक में तन्त्र का उदाहरण देखिए - किसी ने किसी से पूछा कि किस रङ्ग का कौन व्यक्ति इधर से दौड़ रहा है? बुद्धिमान् मनुष्य ने उत्तर दिया - श्वेतो धावति। यहां श्वेतः इस एक शब्द में श्वा इतः और श्वेतः इस तन्त्र से श्वेतः अर्थात् सफेद रङ्ग का कुत्ता या व्यक्ति इधर से दौड़ रहा है - ये दो अर्थ निकल जाते हैं और प्रष्टा को अपने दोनों प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। आवृत्ति का उदाहरण है- किसी ने किसी से पूछा कि आपका क्या नाम है? बुद्धिमान् मनुष्य ने उत्तर दिया कि मेरा नाम देवदत्त है, देवदत्त समझे! यहां देवदत्त शब्द की आवृत्ति करके अभिमत अर्थ की सिद्धि हो जाती है। एकशेष का उदाहरण है- किसी ने किसी को पूछा कि घर में कौन है? बुद्धिमान् मनुष्य ने उत्तर दिया कि घर में पिताजी हैं। यद्यपि घर में पिताजी के साथ माता जी भी हैं तथापि पिताजी के एकशेष से[59] माताजी का भी ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'गावश्चरन्ति' यहां यद्यपि गायों में बछड़े तथा साण्ड भी होते हैं तथापि इनमें स्त्री (गाय) का एकशेष[60] होने से अवशिष्ट दोनों

भी स्वतः गतार्थ हो जाते हैं। तन्त्र के कुछ साहित्यिक उदाहरण भी अवश्य अवलोकनीय हैं, तद्यथा–

"विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी"।[61]

"प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता"।[62]

"अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदिज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः"।[63]

उक्त श्लोकों में विधौ, हृदिज्ञ तथा सामर्थ्यकृत् शब्दों में कितना अनुपम तन्त्र (श्लेष) चमत्कार अन्तर्हित है, यह किसी सहृदय से तिरोहित नहीं है। इस न्याय का साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण शास्त्र में भी विशाल व्यापार है[64] व्याख्याकारों ने इस न्याय का आश्रयण करके अनेक इष्टों का साधन किया है।

10. खदिरबर्बुर न्याय

"अथवा यत्तावदयं सामान्येनोपदेष्टुं शक्नोति तत्तावदुपदिशति - प्रकृतिम्, ततो वलाद्यार्धधातुकम्, ततः पश्चादिकारम्, तेनायं विशेषेण शब्दान्तरं समुदायं प्रतिपद्यते। तद् यथा- खदिरबर्बुरयोः खदिरबर्बुरौ गौरकाण्डौ सूक्ष्मपर्णौ। ततः पश्चादाह- कण्टकवान् खदिर इति। तेनासौ विशेषेण द्रव्यान्तरं समुदायं प्रतिपद्यते।"[65]

"आद्यन्तौ टकितौ" सूत्रभाष्य में भाष्यकार प्रकृत न्याय की अवतारणा करते हुए कहते हैं कि व्याकरणशास्त्र में शब्द को नित्य माना जाता है। अब यदि टित् कित् को क्रमशः आदि अन्त में होने वाला आगम माना जाता है तो स्वशास्त्रविरुद्ध शब्दानित्यत्व प्रसक्त हो जाएगा। क्योंकि आगम तो बाद में आने या उत्पन्न होने का नाम है जबकि नित्य शब्द अपायोपजनविकाररहित होता है। इस शङ्का के समाधान के लिए प्रस्तुत न्याय अवतरित हुआ है। तदनुसार जैसे लोक में किसी व्यक्ति के यहां दो बालक आए। अब किसी नवागन्तुक को उनका सामान्य परिचय कराया जाता है तो कहा जाता है कि ये राम और श्याम के पुत्र हैं। परन्तु जब इन्हीं का विशेष परिचय देना ईसित होगा तो यह कहा जाएगा कि इनमें जो स्थूल और गौरवर्ण है, वह प्रदीप नामक बालक राम का पुत्र है और जो कृश एवं काला है, वह उद्द्योत नामक बालक श्याम का पुत्र है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी अन्वाख्यान करते समय पहले तो सामान्यतया प्रकृति का उपदेश किया जाता है। उसके बाद विशेष जिज्ञासा होने पर वलाद्यार्धधातुक प्रत्यय उपदिष्ट होता है। इसके बाद इकार (इट्) उपदिष्ट होता है। इस प्रकार यह एक शब्द में ही आगम न होकर पूरा शब्दान्तर ही समुदित उपदिष्ट हो जाता है।

अथवा जैसे सामान्येन कहा कि खदिर और बर्बुर दोनों गौरकाण्ड तथा सूक्ष्मपर्ण हैं। फिर विशेषरूपेण कहा कि खदिर कण्टकवान् है। अब यहां खदिर को कण्टकवान् कहने से उसमें अपूर्व कण्टक उत्पन्न नहीं होंगे अपितु खदिर में पहले से सिद्ध कण्टकों

का ही उसने अन्वाख्यानमात्र किया है। इसी प्रकार यहां भी 'भवितव्यम्' में सामान्यतया 'तव्य' का उपदेश करने पर इडागमरूप विशेष वचन द्वारा उसमें इतव्य बुद्धि बना दी जाती है। वस्तुतः कोई नया इकार उसमें नहीं आता। अन्यथा शब्द अनित्य बन जाएगा।

11. अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवः न्याय / वृक्षप्रचलन (प्रकम्पन) न्याय / वर्णैकदेशग्रहणाग्रहण न्याय

"इदं विचार्यते - य एते वर्णेषु वर्णैकदेशा वर्णान्तरसमानाकृतय एतेषामवयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वेति। कुतः पुनरियं विचारणा? इह समुदाया अप्युपदिश्यन्ते अवयवा अपि। अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवः। तद् यथा- वृक्षः प्रचलन् सहावयवैः प्रचलति। तत्र समुदायस्थस्यावयवस्यावयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वेति जायते विचारणा"[66]

"एओङ् ऐऔच्" सूत्र भाष्य में भाष्यकार प्रकृत न्याय को उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि वृक्ष पर स्थित एक मनुष्य को किसी ने कहा कि वृक्ष की इस शाखा को हिलाओ। तभी दूसरे व्यक्ति ने उसे कहा कि अमुक दूसरी शाखा को भी हिलाओ। प्रेक्षापूर्वकारी इस मनुष्य ने वृक्ष के मूल को ही हिला दिया। क्योंकि शाखा अवयव है और वृक्ष इन अवयवों का समुदाय। समुदायों के अन्दर अवयव रहता ही है। जैसे वृक्ष जब हिलता है तब अवयवों के साथ ही हिलता है। मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्ते, पुष्प आदि वृक्ष के अवयव हैं। जब अवयव से अतिरिक्त अवयवी द्रव्य माना जाता है तब शाखा आदि अवयवों से अतिरिक्त वृक्ष अवयवी की स्वतन्त्र सत्ता है। न्यायदर्शन में तो अवयवों से अतिरिक्त अवयवी स्वतन्त्र द्रव्य स्वीकार किया गया है जोकि सर्वथा व्यावहारिक है। भाष्यकार ने यहां न्यायदर्शन का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए लोकप्रसिद्ध व्यवहार का अनुसरण किया प्रतीत होता है। लोक में यह कहते हैं कि वृक्ष में शाखा है। इसके विपरीत सांख्यवेदान्तादि का तो पारमार्थिक सिद्धान्त है कि अवयवसमुदाय ही अवयवी है। "गुणसमुदायो द्रव्यम् इति पतञ्जलिः"[67] ऐसा योगदर्शन के व्यासभाष्य में भी आया है। परमार्थदर्शन व्यवहारदर्शन से भिन्न होता है। अतः लोकन्याय का दिग्दर्शन कराते हुए भाष्यकार के द्वारा यहां अवयव से पृथक् अवयवी स्वीकार किया गया है। 'वृक्ष में शाखा है' यही लोक में प्रसिद्ध है। इसके विपरीत 'शाखा में वृक्ष है', 'मिट्टी में घड़ा है,' 'हस्त पादादि अवयवों से शरीर है', यह लोक में प्रसिद्ध नहीं है। इस लिए यहां परमार्थदर्शन का विचार नहीं किया गया। वैसे आगे भाष्यकार स्वयमेव सब दर्शनों की उलझनों को सुलझाते हुए समन्वय करते दिखाई देंगे।[68] जहां अविरोध पूर्वक एक ही क्रिया से अनेक कार्यों की सिद्धि हो वहां इस न्याय का प्रयोग होता है।

यहां इस लोकन्याय को देने का भाष्यकार का तात्पर्य यह है कि ए, ओ, ऐ, औ इन सन्ध्यक्षर वर्णों में अ, इ, उ ये तीन अवयव मिले हुए हैं। अ, इ, उ इन तीनों

के मिलने से ए, ओ, ऐ, औ, ये वर्ण बन जाते हैं।[69] अतः इन तीनों के समुदाय ये सन्ध्यक्षर हैं। इनके कार्य में इनके एकदेश जो अ, इ, उ हैं, उनका भी स्वतन्त्र रूप से ग्रहण किया जाए या नहीं यह प्रश्न है। क्योंकि समुदाय के अन्दर ही अवयव रहते हैं। अतः फिर समुदाय को कहा हुआ कार्य अवयव को भी स्वतः होना चाहिए - यह विचार यहां किया गया है। इसी प्रकार "एकाचो द्वे प्रथमस्य"[70] सूत्रभाष्य में भी यह न्याय उपन्यस्त हुआ है। वहां भी प्रकृत न्याय के आधार पर 'पपाच' यहां "एकाचो द्वे प्रथमस्य" सूत्र के अधिकार से एक अच् वाले 'पच्' समुदाय को द्वित्व होने पर उसके अन्तर्गत अवयव 'प', 'अ', 'अच्' इन को भी द्वित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। फलतः 'प' आदि अवयवों को पृथक् द्वित्व करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि 'पच्' इस समुदाय में 'प', 'अ', 'अच्' और 'पच्' ये चार एकाच् हैं। इनमें 'पच्' के अन्दर ये चारों आ जाते हैं। इस तरह 'पच्' इस एकाच् समुदाय को द्वित्व करने से 'प' आदि शेष एकाच् अवयवों का द्वित्व भी अनुगृहीत हो जाता है। इस न्याय को वृक्षप्रकम्पन न्याय या वृक्षप्रचलन न्याय भी कहा जाता है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[71] अब भाष्यकार पूर्वोक्त वृक्षप्रकम्पन न्याय का विरोधी न्याय उपन्यस्त करते हुए कहते हैं -

12. दृश्यते हि समुदायादवयवस्य पृथक्त्वम् न्याय / वार्क्षी शाखा न्याय

"दृश्यते हि समुदायादवयवस्य पृथक्त्वम्। तद् यथा वार्क्षी शाखेति। गुणान्तरयोगाच्च विकारशब्दो दृश्यते। तद् यथा- बैभीदको यूपः। खादिरं चषालमिति। तत्रावयवात् समुदाये वृत्तिर्भविष्यति"।[72]

"उगवादिभ्यो यत्" सूत्र के भाष्य में यह शङ्का की गई है कि गवादिगण में "नाभि नभं च" यह गणसूत्र आया है जिसका अर्थ है कि नाभि शब्द से प्राक् क्रीतीय "तस्मै हितम्, तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ"[73] इन अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है और साथ ही नाभि शब्द को 'नभ' आदेश भी हो जाता है, जैसे 'नाभये हितम् नभ्यं तैलम्'। अब यहां यह तो उदाहरण ठीक घट जाता है। क्योंकि तेल नाभि के लिए हितकारक होता है। किन्तु "तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ" इस अर्थ में 'नभ्यं चक्रम्' यह उदाहरण ठीक नहीं बनता। क्योंकि नाभि चक्र की विकृति नहीं है अपितु अवयव है। जैसे अक्ष और अरे ये चक्र के अवयव हैं वैसे ही नाभि भी है। अतः नाभि और चक्र में प्रकृतिविकारभाव नहीं है। फलतः यहां उक्त 'यत्' प्रत्यय तथा नभ आदेश नहीं प्राप्त होते।

इस शङ्का का समाधान करते हुए भाष्यकार ने उक्त लोकन्याय दिया है। इसका भाव है कि समुदाय से अवयव की पृथक्ता भी देखी जाती है, जैसे 'वार्क्षी शाखा' यहां 'वृक्षस्येयं वार्क्षी' अर्थात् 'वृक्ष की अवयव शाखा' यह अर्थ है। वैसे यदि देखा जाए तो जब शाखापत्रादि का समुदाय ही वृक्ष है तो शाखा से अतिरिक्त वृक्ष कहाँ रह गया? किन्तु फिर भी लोक में ऐसा प्रयोग होता है कि यह वृक्ष की शाखा है अर्थात्

वृक्षरूपसमुदाय से शाखारूपअवयव को पृथक् करके बोला जाता है।

भाष्यकार आगे कहते है कि गुणान्तर के योग से भी विकार शब्द का प्रयोग देखा जाता है, जैसे- 'बैभीदको यूपः।' खादिरं चषालम्'। बिभीदकस्य विकारः बैभीदकः'। खदिरस्य विकारः खादिरः'। बिभीदक (बहेड़ा) या खादिर वृक्ष को काट-छाट कर यूप या चषाल बनाया जाता है। वह यूप (यज्ञिय स्तम्भ) या चषाल (यूप का अग्रभाग) बिभीदक या चषाल ही तो है किन्तु फिर भी काट-छांट करके जो वृक्ष में गुणान्तर का आधान किया जाता है उतने मात्र से ही वह उसका विकार कहा जाता है।

इसी प्रकार 'नभ्यं चक्रम्' में चक्र के अवयव नाभि को भी समुदाय से पृथक् करके प्रकृतिविकृतिभाव का व्यपदेश हो जाएगा तो उक्त प्रयोग में "तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ" इस अर्थ में नाभि शब्द से 'यत्' प्रत्यय और 'नभ' आदेश बन जाएगा। चक्र में जहां धुरा और अरे होते हैं वहां नाभि भी विद्यमान होती है। उसके संस्कारार्थ चक्र का उपादान किया जा सकता है। प्रकृत वर्णैकदेशग्रहणाग्रहण न्याय के विषय में आगे भी लोकन्याय द्रष्टव्य है।

13. नाव्यपवृक्तस्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु न्याय / लोमनखशौचन्याय / गोसर्षपविक्रयण न्याय

तैलं न विक्रेतव्यं घृतं न विक्रेतव्यमिति व्यपवृक्तं च न विक्रीयते। अव्यपवृक्तं गावः सर्षपाश्च विक्रीयन्ते। तद् यथा- लोम नखं स्पृष्ट्वा शौचं कर्तव्यम्। व्यपवृक्तं स्पृष्ट्वा नियोगतः कर्तव्यम्। अव्यपवृक्ते कामचारः"।[74]

"एओङ्, ऐऔच्" सूत्र भाष्य में भाष्यकार वर्णैकदेश स्वतन्त्र वर्णग्रहण से गृहीत होते हैं या नहीं - इस विषय पर विचार करते हुए कहते हैं कि लोक में देखा गया है कि तेल नहीं बेचना चाहिए या घी नहीं बेचना चाहिए - ऐसा कहने पर व्यपवृक्त = अन्य से अमिश्रित, पृथग्भूत = तेल या घी नहीं बेचा जाता। परन्तु जो अव्यपवृक्त अर्थात् अपृथग्भूत है, अन्य से मिश्रित है, वह गौ या सरसों अवश्य बेची जाती है। यद्यपि गायों में घी तथा सरसों में भी तेल है तो भी वह व्यपवृक्त नहीं है। अलग नजर नहीं आता। अतः वह निषेध का विषय नहीं बनता। जो अलग निकाले या बने हुए विशुद्ध, निखालिस तेल या घी हैं वे पृथग्भूत होने से नहीं बेचे जाते। इसी प्रकार बाल और नाखून छूकर शुद्धि करनी चाहिए या हाथ धोने चाहिएं - ऐसा कहा गया है। अब जो तो व्यपवृक्त, अलग पड़े हुए बाल या नाखून हैं उनको छू लेने पर तो नियम से शुद्धि करनी चाहिए और जो अव्यपवृक्त हैं, अपने शरीर से अपृथक् हैं, उनकी शुद्धि में मनुष्य की इच्छा है कि वह शुद्धि करे या न करे। हम अपने सिर के बाल और हाथों के नाखून दिन में कई बार छू लेते हैं किन्तु वे हमारे शरीर से पृथक् नहीं हैं, अतः उनकी शुद्धि करने में हमारी स्वतन्त्रता है।

इस लोकन्याय द्वारा भाष्यकार यह कहना चाहते हैं कि ए, ओ, ऐ, औ इन

सन्ध्यक्षरों में अ, इ, उ ये वर्ण सर्वथा अव्यपवृक्त हैं अर्थात् पृथक् नजर नहीं आते। उनमें ये वर्ण पांसूदकवत् ऐसे मिल गए हैं, जैसे दूध में पानी या पानी में रेत। उनका पृथक् दर्शन करना असंभव-सा है। 'ए', 'ओ' तो स्पष्ट ही प्रश्लिष्ट वर्ण हैं। 'ऐ', 'औ' ये दो विश्लिष्ट वर्ण वाले यद्यपि प्रतीत होते है[75] तो भी इन चारों में अ, इ, उ इन तीन अवयवभूत वर्णों के कार्य नहीं होते। क्योंकि जो अभिन्न बुद्धि के विषय, एकत्वालम्बनज्ञानग्राह्य हैं, उनमें पृथग्भूत वर्णों के कार्य नहीं हुआ करते। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[76] सन्ध्यक्षर वर्णों में स्वतन्त्र वर्णैकदेश का ग्रहण नहीं होता - इसी बात को नरसिंह न्याय से सुस्पष्ट करते हुए कैयट भी कहते हैं–

14. नरसिंह न्याय

"नरसिंहवद्वर्णान्तरत्वात् सन्ध्यक्षराणामभ्यन्तरश्चेति। तिरोहितत्वादवयवानां समुदायकार्ये पारतन्त्र्यात्, स्वकार्यस्याप्रयोजकत्वान् नरसिंहवज्जात्यन्तरयोगाद् वर्णान्तरसारूप्येण तत्कार्याप्रवर्तनादित्यर्थ"।[77]

यह न्याय प्रदीपकार ने "एओङ् ऐऔच्" सूत्रों के भाष्य में लिखा है। इसका अर्थ है कि जैसे नरसिंहाकार भगवान् विष्णु के शरीर में नरत्व और सिंहत्व दोनों अंश रहने पर भी न तो उन्हें नर ही कह सकते हैं और न सिंह। क्योंकि यदि उन्हें नर कहें तो अन्य नरों के समान वे हैं नहीं, कारण कि अन्य नरों में नरत्व के साथ सिंहत्व नहीं है। और यदि उन्हें सिंह कहें तो भी बात नहीं बनती। क्योंकि अन्य सिंहों में नरत्व नहीं है। इसलिए नरसिंहावतार भगवान् में नरसिंह एक पृथक् जाति मानी जाती है जो न तो नरों में परिगणित होती है और न सिंहों में ही। इसी प्रकार 'ए', 'ओ', 'ऐ', 'औ' ये चारों वर्ण सन्ध्यक्षर कहलाते हैं। इनमें 'अ', 'इ' मिलकर 'ए', 'ऐ' ये वर्ण बनते है और 'अ', 'उ' मिलकर 'ओ', 'औ' बनते हैं। दो-दो वर्णों की सन्धि होने से ये वर्ण सन्ध्यक्षर अवश्य हैं, लेकिन इन्हें न तो 'अ' या 'इ' कह सकते हैं और न ही 'अ' या 'उ' कह सकते हैं। स्वतन्त्र जो 'अ', 'इ' या 'अ', 'उ' वर्ण हैं, उनसे ये सन्ध्यक्षर अब बिल्कुल पृथक् हो गए हैं। इसलिए जो कार्य स्वतन्त्र 'अ', 'इ' या 'उ' में कहे गए हैं, वे एकदेशभूत इन चारों में नहीं होते। इसलिए 'ए', 'ओ', 'ऐ', 'औ' इन चारों अक्षरों की जाति ही अलग है, इन्हें सन्ध्यक्षर कहते हैं। यह बात दूसरी है कि पासूंदक न्याय[78] से 'ए' में अकार इतना अधिक मिल गया है कि उसका अलग विभाग नहीं हो सकता। हाँ, 'ऐ' में तो अवश्य कुछ-कुछ अकार और इकार का विभाग प्रतीत होता है। यही बात 'ओ' और 'औ' के सम्बन्ध में भी है। इसलिए कुछ आचार्यों ने 'ए', 'ओ' इन दो अक्षरों को तो दीर्घ के साथ ह्रस्व भी माना है[79] और 'ऐ', 'औ' में इ और उ को बहुत अधिक भाग में अनुभव किया जाने वाला स्वीकार किया है।[80] चाहे कुछ भी हो, इन सन्ध्यक्षरों के अकार, इकार, उकार भिन्नजातीय होने के कारण इनमें वे कार्य नहीं हो सकते जो स्वतन्त्र अ, इ, उ में होते हैं। इस

न्याय को **वर्णैकदेशग्रहणाग्रहण** न्याय भी कहते हैं। यह न्याय अन्यत्र भी देखने में आया है।[81]

15. प्रत्ययमालाप्रसङ्ग न्याय

यह न्याय '**एको गोत्रे**' सूत्रव्याख्या में भाष्यकारादि प्रायः सभी टीकाकारों ने उद्धृत किया है। इस सूत्र के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि '**तस्यापत्यम्**'[82] सूत्र की अनुवृत्ति यहां आती है और यह अपत्य दो प्रकार का माना गया है। एक तो निघण्टु में पुत्रवाची के रूप में पठित होने से तथा लोक में भी इसी अर्थ में रूढ देखा जानने से यह पुत्र का पर्याय है और दूसरा अपत्य शब्द क्रियानिमित्तक है अर्थात् जिससे कोई कभी पतित नहीं होता या जो जिसका अपतन है, वह भी अपत्य कहलाता है। **"अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्"**[83] यह सूत्र इसमें प्रमाण है। ऐसी स्थित में साक्षात् या परम्परया जो जिसका उत्पाद्य है, वह उसके प्रति अपत्य है। इसलिए व्यवहित या साक्षात् उत्पादयिता न होने पर भी पितामह आदि भी अपत्य से संयुक्त हो जाते हैं, केवल उत्पादयिता पिता ही नहीं। परिणामतः अपत्य शब्द के पुत्र अर्थ पक्ष तथा क्रियानिमित्तक अर्थ पक्ष इन दोनों ही पक्षों में पितामह आदि अनेक शब्दों से भी "तस्यापत्यम्" अर्थ में अनेक प्रत्ययोत्पत्तिप्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है। उदाहरण के रूप में जैसे-'उपगोरपत्यम् औपगवः, औपगवस्यापत्यम् औपगविः, औपगवेरपत्यम् औपगवायनः तथा औपगवायनस्यापत्यम् औपगवायनिः इत्यादि नाना प्रत्ययमाला वाले अनेक अनिष्ट रूप प्राप्त होते हैं। इष्ट है कि लौकिक फूलों की माला के समान यहां शास्त्र में अनेक प्रत्ययों की माला का सिलसिला न प्राप्त हो जाए। उसको रोककर मूल प्रकृति की एक नियमपूर्ण व्यवस्था करने के लिए प्रकृत सूत्र में 'एक' ग्रहण किया गया है जिसके अनुसार गोत्र अर्थ में मूलप्रकृतिरूप उपगु आदि शब्दों से ही प्रत्यय हो, औपगव आदि प्रत्ययान्तों से न हो।

16. द्रव्यगुणन्याय / अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम् न्याय / यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम् न्याय / यस्य गुणान्तरेष्वपि तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम् न्याय / लोहकार्पासतुलाग्र न्याय / ज्योतिषां गतिः न्याय

"किम्पुनरन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमाहोस्विदनन्यत्? गुणस्यायं भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशं कुर्वन् ख्यापयति-अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यमिति। अनन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्। न ह्यन्यदुपलभ्यते। पशोः खल्वपि विशसितस्य पर्णशते न्यस्तस्य नान्यच्छब्दादिभ्य उपलभ्यते। अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम्। तत्त्वनुमानगम्यम्। तद्यथा-औषधीवनस्पतीनां वृद्धिह्रासौ ज्योतिषां गतिरिति। कोऽसावनुमानः? इह समाने वर्ष्मणि परिणाहे च अन्यत् तुलाग्रं भवति लोहस्य, अन्यत् कार्पासानाम्। यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। तथा कश्चित् स्पृशन्नेव छिनत्ति कश्चिल्लम्बमानोऽपि न छिनत्ति। यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। तथा कश्चिदेकेनैव प्रहारेण व्यपवर्गं करोति कश्चिद् द्वाभ्यामपि न करोति।

यत्कृतो विशेषस्तद् द्रव्यम्। अथवा यस्य गुणान्तरेष्वपि प्रादुर्भवत्सु तत्त्वं न विहन्यते तद् द्रव्यम्। तद्यथा-आमलकादीनां फलानां रक्तादयः पीतादयश्च गुणाः प्रादुर्भवन्ति, आमलकं बदरमित्येव भवति। अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनम्-गुणसंद्रावो द्रव्यमिति।"[84]

"तस्य भावस्त्वतलौ" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने लोक में विवादास्पद द्रव्य और गुण के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया है। तदनुसार पहले यह पूछा गया है कि क्या द्रव्य शब्दादि गुणों से पृथक् है या अभिन्न? उत्तर में इसे पहले तो रूपादि के बिना प्रत्यक्ष उपलब्ध न होने के कारण अभिन्न कहा गया है। परन्तु बाद में इसे भिन्न मान लिया गया है जोकि सामान्यतोदृष्ट अनुमानगम्य है, और वह अनुमान यह है कि जैसे औषधी और वनस्पतियों के वृद्धि और ह्रास तथा आदित्यादि ज्योतियों की गति प्रत्यक्षगम्य न होकर क्रमशः उनमें उपचयापचय तथा देशान्तरप्राप्ति को देखने से अनुमेय होती है वैसे ही गुण और द्रव्य का सम्बन्ध भी समझना चाहिए। आगे कहते हैं कि समान वर्ष्म तथा परिणाह के होने पर भी लोहे का भार अन्य होता है, और कपास का भार अन्य। अतः यहां भी यही मानना उचित है कि जिसके कारण विशेषता उत्पन्न होती है, वह द्रव्य होता है, जैसे-कोई खड्गादि तो स्पर्श करते ही काट देता है तथा कोई कपासादि लम्बे समय तक लगाने पर भी नही काटता। अथवा कोई तलवारादि चीज तो एक प्रहार से ही विभाग कर देती है तथा कोई कपासादि दो प्रहारों से भी विभाग नहीं कर पाती। अथवा जिसमें गुणान्तरों का प्रादुर्भाव हो जाने पर भी तत्व नष्ट नहीं होता, वह द्रव्य होता है और वह तत्व तद्भाव को कहते हैं, जैसे-आमलकादि फलों में पकने पर रक्तपीतादि गुण उत्पन्न होने पर भी वे आमलक या बदर ही कहे जाते हैं, कुछ और नहीं। भाष्यकार ने पस्पशाह्निक में भी द्रव्य की यही सिद्धान्तित परिभाषा दी है।

भाव यह है कि जो लोग अवयवसमूह या गुणसमूह से अतिरिक्त अवयवी या द्रव्य नामक पदार्थ को नहीं मानते उनका यहां प्रत्याख्यान करके दिखाया गया है। 'गुणसंद्रावो द्रव्यम्' इस अन्वर्थ निर्वचन से गुणों का आश्रय द्रव्य को माना गया है। स्वयं अन्यत्र पातञ्जल योगदर्शन के व्यासभाष्य में तो 'गुणसमुदायो द्रव्यमिति पतञ्जलिः'-ऐसा कहकर गुणसमूह को ही द्रव्य स्वीकार किया गया है। इनके मत में गुणसमूह से अतिरिक्त द्रव्य नाम का कोई पदार्थ नहीं माना गया है। इस विषय में न्याय और सांख्य का भी परस्पर वैमत्य है।

ऊपर उद्धृत भाष्य में द्रव्य के साधक जो उदाहरण दिए गए हैं, वे वस्तुतः मननीय हैं। किन्तु नागेश भट्ट तो उद्द्योत व्याख्या में भाष्यकार का आशय गुणसमुदाय से अतिरिक्त द्रव्य न मानने में ही समझते हैं। इनके अनुसार अतिरिक्त द्रव्य की कल्पना में गौरव है।[85] यहां परमार्थ और व्यवहार दोनों दशाओं को देखने पर दोनों ही बाद में संगत हो जाते हैं, कहीं विरोध नहीं है। आत्मा के सगुण और निर्गुणवाद के समान

अवयवी और अवयवसमूह का वाद (सिद्धान्त) भी अवस्थाभेद से व्यवस्थित है। जिसको जो रुचे वह उसे स्वीकार कर ले। शास्त्र में प्रसिद्ध ये दोनों वाद लोकव्यवहार में भी विचार का विषय बनते हैं - यह समझकर इसको लोकन्याय में संकलित कर दिया गया है।

17. कुशकाशावलम्बन न्याय

"गमेर्यङ्लुगन्तादचि जङ्गम इत्यत्र गमहनेत्युपधालोपो यथा आपादितः। एवं यङन्ताण्ण्वुलि जङ्गमक इत्यत्रापि स्यात् .... अथ यद्यत्राङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तौ संज्ञापूर्वको विधिरनित्य इत्यादि कुशकाशावलम्बनेनोपधालोपादि पराक्रियेत ततो यङ्लुगन्तादपि जङ्गम इत्यादौ दोषोद्धारः सुकर एवायुष्मतामिति"।[86]

यह न्याय प्रौढ़मनोरमाकार ने "न धातुलोप" सूत्र की व्याख्या में निर्दिष्ट किया है। डूबते को तिनके का सहारा-ऐसा भाव इस न्याय से निकलता है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी बात का समाधान करने के लिए प्रबल युक्ति का निराकरण होने पर उसके स्थान पर यदि साधारण सी युक्ति या प्रमाण ही आश्रित किया जाए तो उसे कुशकाशावलम्बन माना जाता है। कुश और काश ये विशेष घास या तिनके होते हैं जो बड़े कमजोर होते हैं। यद्यपि ये किसी को क्या सहारा दे सकते हैं क्योंकि ये तो स्वयं ही दुर्बल हैं। फिर भी यदि उनसे काम चल जाए या किसी को उनके साहचर्य से उत्साह प्राप्त हो तो अच्छा ही है। कहा भी है–

"अर्थवत्त्वं न चेज्जातं मुख्यैर्यस्य प्रयोजनैः।
तस्यानुषङ्गिकेष्वाशा कुशकाशावलम्बिनी"[87]॥

प्रस्तुत प्रसङ्ग में उक्त न्याय को जङ्गमकः इत्यादि में उपधालोप तथा वृद्धि को रोकने के लिए दिखाया गया है। क्योंकि उक्त प्रयोग में 'यङ्' प्रत्यय के संघात का लुक् न मानकर यदि उसके यकार और अकार (यङ्) का पृथक-पृथक लुक् माना जाए तो जङ्गमकः में "गमहन"[88] सूत्र से 'गम्' धातु की उपधा का लोप प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए यदि "अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तौ"[89] अथवा "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः"[90] परिभाषा रूप इन उपायों का सहारा मिल जाए तो वह कुशकाशावलम्बन जैसा ही होगा। क्योंकि इसका असली समाधान तो "यस्य हलः"[91] से संघात यकार का लोप ही है। यह न्याय पदमञ्जरी आदि में भी प्रयुक्त हुआ है।[92] इसी प्रकार व्याकरणेतर अनुशासनों में भी इसे देखा जा सकता है।[93]

18. अशोकवनिका (वाटिका) न्याय

"ननु चैवमपि घट पटादय एव कुतो नोक्ता इति वाच्यम्, अशोकवनिकान्यायात्। गवाद्यर्थानां मङ्गलत्वेन प्रातर्दृश्यत्वस्य धर्मशास्त्रे उक्तत्वेन तत्प्रतिपादकत्वाच्छब्दस्यापि मङ्गलत्वमिति आद्युल्लेखाच्च"[94]।

उद्द्योतकार नागेश पस्पशाह्निक में 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादि भाष्यकार के कथन की व्याख्या में शङ्कासमाधान करते हुए कहते हैं कि भाष्यकार ने गौः, अश्वः इन शब्दों को ही उदाहरण के रूप में सर्वप्रथम क्यों पढ़ा? घट, पट आदि अन्य प्रसिद्ध एवं सर्वसाधारण शब्दों को क्यों नहीं उदाहृत किया तो इसका उत्तर है कि अशोकवनिका न्याय से ऐसा हुआ जानना चाहिए।

भाव यह है कि जिस प्रकार इस प्रश्न का कि रावण ने सीता को लंका में अशोक वन या अशोकवाटिका में ही क्यों रखा, सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। क्योंकि स्वतन्त्रेच्छ रावण के सर्वशक्तिमान् राजा होने के कारण यह तो उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है कि वह सीता को यहाँ न रखकर अन्यत्र भी रख सकता था। परन्तु यही प्रश्न रावण के द्वारा सीता के अन्यत्र रखने पर भी उपस्थित होता कि उसने उसे वहीं क्यों रखा। इस प्रकार जैसे उक्त प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं दिया जा सकता। क्योंकि उसने उसे कहीं न कहीं तो रखना ही था। सो उसने नान्तरीयकतया उसे अशोक वाटिका में रखवा दिया।[95] उसी प्रकार शब्दानुशासन के उदाहरणप्रदर्शनप्रसङ्ग में भी नान्तरीयकतया किन्हीं शब्दों का तो यहाँ उदाहरणरूप में पाठ करना ही था। अतः उन्होंने गोः, अश्वः इत्यादि को पढ़ दिया। फिर गो इत्यादि अर्थों के तो मंगलजनक होने से इनके वाचक शब्दों के पढ़ने में मंगलत्वलाभ होने के कारण ये प्रारम्भ में स्मरणीय भी है जोकि दोषावह नहीं है।

ख (२) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित वन-सम्पत्तिसम्बन्धी लोकन्याय

1. अशिष्टाप्रतिषिद्ध न्याय / अनुकरणं हि शिष्टस्य साधु भवति अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा न्याय / शिष्टानुकरण न्याय[96]
2. सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लटट्वानुकृष्यते (लट्ट्वानुकर्षण) न्याय[97]
3. वर्णव्यत्यये अर्थान्तरगमनादर्थवन्तो वर्णाः न्याय[98]
4. वर्णानुपलब्धौ अतदर्थगतिः न्याय[99]
5. संघातार्थवत्वादवयवार्थवत्वम् न्याय[100]
6. लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते न्याय / दश दाडिमानीत्यादि न्याय[101]
7. काकाधिकरणत्व न्याय / अनुबन्धोऽनन्यत्वकरः न्याय[102]
8. एकान्ता / अनेकान्ता अनुबन्धाः न्याय / वृक्षशाखावलाका न्याय[103]
9. सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य न्याय[104]
10. सोमपूतीकतृण न्याय/प्रतिनिधि न्याय[105]
11. बुद्धिविपरिणाम न्याय[106]
12. अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते न्याय/दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः

न्याय/नड्वलोदकं पादरोगः न्याय[107]

13. तत्सामीप्यात् तद्गुणोपलम्भन न्याय[108]
14. अन्वयव्यतिरेक न्याय[109]
15. आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे न्याय[110]
16. आ वनान्ताद् ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत् न्याय[111]
17. राजतक्षा न्याय/जहत्स्वार्था वृत्ति न्याय[112]
18. अशक्यो वा द्रव्यपदार्थिकेन द्रव्यस्य गुणकृत उपकारः प्रतिज्ञातुम् न्याय[113]
19. विशेष्यविशेषण न्याय / शुक्लालम्भन न्याय / द्रव्यगुण न्याय[114]
20. समुदायेषु प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते न्याय[115]
21. नानाकारक (गुणसाधन) न्याय / शब्दप्रमाणक न्याय[116]
22. न हि प्लक्ष आनीयतामित्युक्ते न्यग्रोध आनीयते न्याय[117]
23. तादर्थ्यात् ताच्छब्द्य (प्रदीपार्था मल्लिका) न्याय[118]
24. सर्वं चेतनावत् न्याय/अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारो दृश्यते न्याय[119]
25. दैवरक्ताः किंशुकाः न्याय[120]
26. वृक्षपर्ण न्याय[121]
27. लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य न्याय[122]
28. विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य न्याय[123]
29. काकतालीय न्याय[124]
30. तादर्थ्यात् ताच्छब्द्य (मल्लिकापुट) न्याय[125]
31. वृक्षस्थावतान न्याय/अविनाशोऽनेकात्म्यात् न्याय[126]
32. मध्वौषधिरस न्याय[127]
33. समुदायावयवसंख्याभिधान न्याय/वनवृक्ष न्याय[128]
34. शाखाचन्द्र न्याय[129]
35. कदम्बमुकुल न्याय[130]
36. खपुष्प न्याय[131]
37. पुष्पवन्तौ न्याय[132]
38. पुरस्तादपवाद न्याय[133]

ग (1) पशुसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. शब्दव्याकरण न्याय / शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते न्याय गवाश्वगर्दभ न्याय

"अथवा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते। तद्यथा– गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते नाश्वो न गर्दभः इति[134]।"

पस्पशाह्निक में भाष्यकार व्याकरणपदार्थ के विचारप्रसङ्ग में वार्तिककारप्रोक्त "शब्दे ल्युडर्थः" अर्थात् शब्द को व्याकरण मानने पर फिर उसमें (व्याकरण शब्द में) करणार्थक 'ल्युट्' प्रत्यय नहीं उपपन्न हो पाएगा– इस दोष का परिहार करते हुए कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि शब्दों से भी शब्दों का व्याकरण होता है अर्थात् शब्द भी अपने स्वरूप से इतर शब्दों की व्यावृत्ति करते हैं, जैसे– 'गौ' ऐसा कहने पर सब सन्देह निवृत्त हो जाते हैं कि यह गौ ही है, घोड़ा या गधा नहीं अर्थात् लोक में हम देखते हैं कि 'गौ लाओ' ऐसा कहने पर गौ ही लायी जाती है, घोड़ा या गधा आदि अन्य पशु नहीं लाया जाता।[135] इसी लौकिक दृष्टान्त के आधार पर व्याकरण शब्द में 'व्याक्रियतेऽनेन' इस करणार्थक व्युत्पत्ति से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय मानने पर[136] शब्द भी सूत्र के समान व्याकरण बन जाएगा। क्योंकि शब्द से भी शब्द का व्याकरण (इतरनिवृत्तिरूपप्रयोजन) सिद्ध हो जाता है।

2. लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते न्याय / दश दाडिमानीत्यादि न्याय

"इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोके। लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते। अर्थवन्ति तावत्-देवदत्त! गामभ्याज शुक्लां दण्डेन। देवदत्त! गामभ्याज कृष्णाम् इति। अनर्थकानि-दश दाडिमानि, षडपूपाः, कुण्डमजाजिनम्, पललपिण्डः, अधरोरुकमेतत् कुमार्याः, स्फैयकृतस्य पिता, प्रतिशीन इति"।[137]

वृद्धिसंज्ञा सूत्रभाष्य में इस लोकन्याय को उपन्यस्त करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं कि यदि "वृद्धिरादैच् अदेङ्गुणः"[138] इत्यादि संज्ञासूत्रों में 'अथ संज्ञा' अर्थात् अब संज्ञाप्रकरण आरम्भ होता है– इस प्रकार वचन द्वारा संज्ञाधिकार प्रारम्भ नहीं करेंगे तो वृद्धि, गुण आदि शब्दों में संज्ञा की प्रतीति न हो सकेगी। फलतः 'वृद्धि' शब्द संज्ञा है, 'आदैच्' संज्ञी है, यह स्फुट बोध न हो सकेगा। और संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध के प्रतीत न होने से सब संज्ञाप्रकरण गड़बड़ा जाएगा तथा लोक के समान अनर्थक भी हो जाएगा। लोक में जैसे अर्थवान् और अनर्थक दोनों प्रकार के वाक्य दृष्टिगोचर होते हैं। इनमें अर्थवान् जैसे– 'देवदत्त! गामभ्याज शुक्लां दण्डेन'। 'देवदत! गामभ्याज कृष्णाम्'।[139] अर्थात् हे देवदत्त! तू सफेद या काली इस गाय को डण्डे से हांक। यहाँ देवदत्त आदि प्रत्येक पद परस्पर आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति के द्वारा समन्वित है[140] या क्रियाकारकभाव से युक्त है। अतः यह पदसमूहरूप वाक्य अर्थवान् है। इसका कुछ अर्थ है जो विवक्षित है। किन्तु अनर्थक जैसे– 'दश दाडिमानि' दस अनार। 'षडपूपाः' छह पूड़े। 'कुण्डम्' हवनकुण्ड या पात्र। 'अजाजिनम्' बकरी का चर्म। 'पललपिण्डः' मांस का लोथड़ा। 'अधरोरुकमेतत् कुमार्याः' कुमारी का यह अधोवस्त्र। 'स्फैयकृतस्य पिता' स्फैयकृत आचार्य का पिता। 'प्रतिशीनः' जमा हुआ या जुकाम वाला[141]।

ये सब पदसमूह अपने-अपने पदों का अर्थ रखते हुए भी परस्पर आकाङ्क्षादि

द्वारा समन्वित नहीं हैं। किसी का कुछ अर्थ है तथा किसी का कुछ। पदसमूहरूप यह वाक्य सर्वथा अन्वयरहित होने से निरर्थक है। ऐसी स्थिति में जैसे लोक में ये 'दश दाडिमानि' आदि पदसमूह अनन्वित होने के कारण अर्थरहित हैं वैसे ही प्रकृत संज्ञाधिकार के बिना वृद्धि, गुण आदि शब्द भी अनन्वित होकर अनर्थक प्रसक्त होंगे। इसलिए संज्ञाधिकार करना चाहिए जिससे संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध से अन्वित होकर ये अर्थवान् बन सकें। वैसे सिद्धान्ततः संज्ञाधिकार आवश्यक नहीं माना गया है। अतः इस संज्ञाधिकार को अनावश्यक सिद्ध करते हुए भाष्यकार आगे दूसरे लोकन्याय देते हैं। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त मिलता है।[142]

3. आचार्याचार न्याय/औपचारिक संज्ञाकरण न्याय

"आचार्याचारात् संज्ञासिद्धिः .... यथा लौकिकवैदिकेषु। तद् यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावन्मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृत्तेऽवकाशे नाम कुर्वाते देवदत्तो यज्ञदत्त इति। तयोरुपचारादन्येऽपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति। वेदे याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति स्फ्यो यूपश्चषाल इति। तत्रभवतामुपचारादन्येऽपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति। एवमिहापि"[143]।

वृद्धि, गुण आदि संज्ञाओं के लिए संज्ञाधिकारकरण को अनावश्यक सिद्ध करते हुए भाष्यकार वृद्धिसंज्ञा सूत्रभाष्य में प्रकृत न्याय को उपन्यस्त करते हैं कि लोक में माता-पिता अपने उत्पन्न हुए पुत्र का घर में देवदत्त या यज्ञदत्त यह नामकरण करते हैं। उनके अपने घर में रखे हुए नाम को बाद में फिर अन्य लोग भी जान जाते हैं कि इस बालक का नाम देवदत्त या यज्ञदत्त है। इसी तरह वेद में भी याज्ञिक लोग यज्ञिय द्रव्यपात्र या काष्ठविशेष की 'स्फ्य', 'यूप' या 'चषाल' ये संज्ञाएं करते हैं। उनके व्यवहार से फिर अन्य लोग भी जान जाते हैं कि यह 'स्फ्य', 'यूप' या 'चषाल' है। इसी प्रकार यहाँ व्याकरणशास्त्र में भी कुछ आचार्य लोग "वृद्धिरादैच्"[144] सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि 'वृद्धि' शब्द संज्ञा है और 'आदैच्' संज्ञी है। उससे फिर बाद में अन्य लोगों को भी इनके संज्ञा-संज्ञी होने का बोध हो जाएगा। वैसे स्वयं आचार्य पाणिनि का व्यवहार भी यह सूचित करता है कि आचार्य ने 'आदैच्' (आ, ऐ, औ) की वृद्धि संज्ञा मानी है अर्थात् 'अथ संज्ञा' इस वचन के बिना भी आचार्य 'वृद्धि' शब्द को संज्ञा और आदैच् को संज्ञी मानते हैं– यह बात उनके व्यवहार से ज्ञापित हो जाती है।

वस्तुतः यह बात "मालादीनां च"[145] इस सूत्र के निर्माण से सिद्ध होती है। "मालादीनां च" यह सूत्र वृद्धसंज्ञक माला आदि शब्दों से प्रस्थ शब्द परे रहते पूर्वपद को आद्युदात्त करता है। फलतः 'मालाप्रस्थः' यहाँ माला शब्द के वृद्धसंज्ञक होने से माला में मकारोत्तरवर्ती आकार को आद्युदात्त स्वर सिद्ध होता है। इस सूत्र से पूर्ववर्ती "प्रस्थेऽवृद्धमकर्क्यादीनाम्"[146] यह सूत्र अवृद्धसंज्ञक शब्दों को प्रस्थ शब्द परे रहते आद्युदात्तस्वर करता है। पूर्वसूत्र में 'अवृद्ध' कहने से फिर "मालादीनां च" सूत्र का आरम्भ वृद्धसंज्ञक शब्दों के लिए स्वतः सिद्ध हो जाता है। माला शब्द वृद्धसंज्ञक है ही। क्योंकि "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्"[147] इस वृद्धसंज्ञाविधायक सूत्र में कहा गया है कि जिस शब्द में आदि अच् वृद्धिसंज्ञक हो वह समस्त शब्द वृद्धसंज्ञक होता है। माला शब्द में आदि अच् आकार है। वह यदि वृद्धिसंज्ञक न माना जाए तो माला शब्द वृद्धसंज्ञक न हो सकेगा। उस अवस्था में वृद्धसंज्ञार्थ इस सूत्र का आरम्भ ही व्यर्थ हो जाएगा। अतः यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि माला का आदि आकार "वृद्धिरादैच्" से वृद्धिसंज्ञक है। उसके वृद्धिसंज्ञक होने से फिर सम्पूर्ण मालाशब्द वृद्धसंज्ञक बन जाता है।

इस प्रकार संज्ञाधिकार किए बिना भी वृद्धि शब्द संज्ञा है और 'आ' संज्ञी है - यह स्पष्ट हो जाता है। 'आ' शब्द 'ऐ' 'औ' का भी उपलक्षण है। उससे 'आ', 'ऐ', 'औ', ये तीनों संज्ञी है और वृद्धि उनकी संज्ञा है - यह बात आचार्य के उत्तम सूत्रनिर्माण से पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। इसलिए वृद्धि आदि शब्दों में संज्ञा की प्रतीति के लिए अलग संज्ञाधिकार करना अप्रयोजक है, अनावश्यक है। लोक तथा शास्त्रव्यवहार दोनों से ही वृद्धि आदि शब्द संज्ञा समझ लिए जाएंगे और 'आदैच्' आदि संज्ञी। इस प्रसङ्ग में अगला न्याय भी अवश्य अवलोकनीय है।

4. अनारभ्य कार्यविशेषमादौ तावत् संज्ञा क्रियते न्याय / आदि संज्ञाकरण न्याय

"अनारभ्य कार्यविशेषमादौ तावत् संज्ञा क्रियते, ततो यस्यां दशायां यत्कार्यं प्राप्तं तत्क्रियते लोकवत्, तद्यथा लोके दशम्यामुत्थितायां पुत्रस्य नाम दधातीति सकृत् कृतया संज्ञया सर्वाणि कार्याणि क्रियन्ते, न तु प्रतिकार्यं नाम कुर्वन्ति, तद् वदिति"।[148]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति" इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि बिना किसी कार्यविशेष का आरम्भ किए पहले उसकी संज्ञा कर देते हैं।[149] उसके बाद जिस दशा में जो कार्य प्राप्त होता है, वह उस एक संज्ञा का ग्रहण करके ही कर दिया जाता है। जैसे लोक में दसवें दिन के बाद पुत्र का नामकरण कर देते हैं। इस तरह एक बार रखे हुए नाम से ही बाद में सब कार्य किए जाते हैं। फलतः प्रत्येक कार्य के लिए फिर अलग-अलग नाम नहीं धरते। इसी प्रकार यहाँ संज्ञाविधि में भी नलोप की असिद्धता का विधान करके 'पञ्च ब्राह्मण्यः' यहाँ 'पञ्चन्' शब्द के नलोप को असिद्ध मानकर उसके नकारान्त हो जाने से "ष्णान्ता षट्"[150] से 'पञ्च' शब्द की पहले 'षट्' संज्ञा हो जाती है। इसके बाद 'षट्' संज्ञा हो जाने से 'टाप्' का निषेध भी हो जाता है। 'पञ्च' यहाँ नकारान्त होने से पहले 'ङीप्' प्राप्त होता है। फिर 'न षट्स्वस्रादिभ्यः'[151] से उसका निषेध हो जाता है। उसके बाद 'षट्' संज्ञा द्वारा 'जस्', 'शस्' का लुक् होने पर 'पञ्चन्' के

नकार का लोप हो जाता है। उसके अकारान्त होने से अब 'टाप्' प्राप्त होता है। उसका भी फिर निषेध हो जाता है। यद्यपि 'जस्' 'शस्' के लुक् को करने के लिए जो 'षट्' संज्ञा की गई थी, उसी से 'टाप्' का निषेध भी सिद्ध हो सकता है तो भी एक बार की गई संज्ञा से ही अलग-अलग कार्य भी किए जा सकते हैं - इस बात को बताने के लिए ही यह न्याय लिया गया है।

5. अनाकृति संज्ञाकरण न्याय

अनाकृतिः। अथवाऽनाकृतिः संज्ञा, आकृतिमन्तः संज्ञिनः। लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते''।[152]

वृद्धि-गुण आदि संज्ञाओं के लिए संज्ञाधिकारकरण को अनावश्यक सिद्ध करते हुए भाष्यकार वृद्धिसंज्ञा सूत्रभाष्य में कहते हैं कि यह लोकन्याय भी संज्ञाधिकार की अनावश्यकता सिद्ध करता है। क्योंकि जो अनाकृति अर्थात् आकाररहित है, वह संज्ञा है और आकारवान् संज्ञी है। लोक में भी प्रत्यभिज्ञाप्रमाणक आकार वाले मांसपिण्डयुक्त व्यक्ति की ही 'देवदत्त' यह संज्ञा की जाती है। क्योंकि देवदत्त नाम वाले व्यक्ति का तो आकार है किन्तु देवदत्त इस शब्दरूप नाम का कोई आकार नहीं है। इसलिए वृद्धि शब्द आकाररहित होने से संज्ञा है और 'आ', 'ऐ', 'औ' ये तीनों आकारवाले प्रयोग में आते हैं, इसलिए संज्ञी हैं। जैसे 'जल लाओ' ऐसा कहने पर जल नामक आकारवान् पदार्थ ही लाया जाता है, आकृतिरहित 'जल' शब्द नहीं। क्योंकि वह संज्ञा है, अव्यपदेश्य है। जलपदार्थ संज्ञी है, व्यपदेश्य है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[153]

6. गोसक्थिकर्णग्रहणोपदेश न्याय

अथवाऽस्थानेऽयं यत्नः क्रियते। न हीदं लोकाद् भिद्यते। यदीदं लोकाद् भिद्यते ततो यत्नार्हं स्यात्। तद् यथा- अगोज्ञाय कश्चिद् गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशति अयं गौरिति। न चास्मै आचष्टे इयमस्य संज्ञेति। भवति चास्य सम्प्रत्ययः''।[154]

भाष्यकार के अनुसार इस लोकन्याय से भी संज्ञाधिकार की अनावश्यकता सिद्ध होती है अर्थात् पृथक् संज्ञाधिकार के लिए यत्न करना व्यर्थ है, अयुक्त है। क्योंकि वृद्धि आदि शब्दों में संज्ञा की सिद्धि लोकव्यवहार से ही हो जाएगी। यह बात लोक से भिन्न नहीं है। यदि लोक से भिन्न होती तो इसके बोध के लिए कुछ विशेष यत्न करने की आवश्यकता थी। किन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है। लोक में यह दृष्टान्त स्पष्ट है कि गौ को न जानने वाले किसी व्यक्ति को आप गौ के पास ले जाकर उस गौ के कान या जघन प्रदेश को छूकर उस व्यक्ति को कहें कि यह गौ है अर्थात् केवल इतना ही कहें कि जिसका कान या स्तन में स्पर्श कर रहा हूँ, वह यह गौ है। उसको यह सर्वथा न कहें कि 'गौ' इसकी संज्ञा है या नाम है। भाव यह है कि आप उस व्यक्ति को केवल गौ के किसी अङ्ग का स्पर्श करा कर इतना ही कहें कि यह गौ है। बस वह इतने से ही समझ जाएगा कि गौ इसकी संज्ञा या नाम है। इसी

प्रकार यहाँ शास्त्र में भी वृद्धि को समझाने के लिए आप 'आ', 'ऐ', 'औ' उपस्थित कर दीजिए। ''मृजेर्वृद्धिः''[155] कहकर 'मार्ष्टि' में आकार दिखा दीजिए। वह समझ जाएगा कि आकार का नाम वृद्धि है। उस अवस्था में यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि 'आ' की वृद्धि संज्ञा होती है। 'आ' शब्द के दर्शन से ही वृद्धि का बोध हो जाएगा। यह न्याय अन्यत्र भी देखा जाता है।[156]

7. सिंहवृकाज न्याय

''अथवा अनन्तरा या प्राप्तिः सा प्रतिषिध्यते। कुत एतत्? अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति। पूर्वा प्राप्तिरप्रतिषिद्धा तया भविष्यति। ननु चेयं प्राप्तिः पूर्वां प्राप्तिं बाधते। नोत्सहते प्रतिषिद्धा सती बाधितुम्''।[157]

यह न्याय स्वकल्पित या स्वोपज्ञ है जोकि युक्तियुक्त ही है। शेर, भेड़िया और बकरी इन तीनों के सम्बन्ध में यह न्याय है। इसका अर्थ है कि किसी स्थान पर एक बकरी पानी पी रही थी, थोड़ी देर में कहीं से एक भेड़िया आ गया। वह उसको खाने की इच्छा से उसे डराने-धमकाने लगा कि वह पानी क्यों गंदा कर रही है? मैं पानी पी रहा हूँ। वह बेचारी कहती भी रही कि महाराज! आप तो मेरे से ऊपर प्रदेश में पानी पी रहे हैं, जहाँ से पानी आ रहा है। मैं ही आपका जूठा और गन्दला पानी पी रही हूँ। बकरी की यह बात ठीक भी थी। किन्तु फिर भी भेड़िया उसको खाना चाहता था। जब कोई और बहाना नहीं मिला तो भेड़िया बकरी को खाने के लिए लपका। किन्तु थोड़ी देर में क्या देखता है कि सामने एक शेर आया हुआ खड़ा है। अब तो उस भेड़िए के प्राण सूख गए। यहाँ पर विचारणीय है कि वह भेड़िया अब बकरी को खाएगा या अपने प्राण बचाएगा? स्पष्ट है कि वह बकरी को तो क्या खाएगा, अपने ही प्राण बड़ी कठिनता से बचा पाएगा। क्योंकि बलवान् से सभी डरते हैं।जब इस न्याय को शास्त्र में घटाते हैं तो यह अच्छी तरह घट जाता है। ''सुडनपुंसकस्य'' सूत्र भाष्य में भाष्यकार शङ्का करते हैं कि 'कुण्डानि तिष्ठन्ति' यहाँ कुण्ड शब्द के नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा का बहुवचन जो 'जस्' प्रत्यय परे है, वह ''शि सर्वनामस्थानम्''[158] सूत्र से होने वाली सर्वनामस्थानसंज्ञा में भी शामिल हो जाता है। क्योंकि 'सु', 'औ', 'जस, 'अम्', 'औट्' इन पांच प्रत्ययों को व्याकरणशास्त्र की परिभाषा में 'सुट्' कहते हैं। इन्हीं पांच 'सुटों' की ''सुडनपुंसकस्य'' सूत्र से सर्वनामस्थानसंज्ञा होती है। किन्तु उसमें शर्त यह है कि वे पांचों 'सुट्' प्रत्यय नपुंसकलिङ्ग के नहीं होने चाहिएं। 'कुण्डानि' में कुण्ड शब्द नपुंसकलिङ्ग है, उससे परे 'जस्' प्रत्यय 'सुटों' में आ चुका है।

ऐसी स्थिति में यहाँ प्रश्न यह है कि 'कुण्डानि' का 'जस्' नपुंसकलिङ्ग का होने से सर्वनामस्थानसंज्ञक होगा या नहीं? नपुंसकलिङ्ग का होने से तो सर्वनामस्थानसंज्ञक नहीं होना चाहिए। किन्तु इससे पूर्व ''शि सर्वनामस्थानम्'' सूत्र से 'शि' की सर्वनामस्थानसंज्ञा का विधान है और 'शि' आदेश नपुंसकलिङ्ग में 'जस्' और 'शस्'

के स्थान में होता है। इस कारण उससे 'जस्' में होने वाली जो 'शि' है, उसके सुटों में भी आने से उसका निषेध "अनपुंसकस्य" के वचन से प्राप्त होता है। फलतः सर्वनामस्थानसंज्ञा न होने से 'कुण्डानि' में नुम् और दीर्घ नहीं प्राप्त होंगे जो महान् अनिष्ट है। इस विषय में भाष्यकार कहते हैं– कि "अनपुसंकस्य" के दो अर्थ कर लेने चाहिएं। एक अर्थ तो नपुंसक के 'सुट्' की सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं होती और दूसरा अर्थ नपुंसकभिन्न 'सुट्' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। जब यहाँ प्रथम अर्थ करते हैं कि नपुंसक की सर्वनामस्थानसंज्ञा नहीं होती तब तो 'कुण्डानि' के नपुंसक होने से यहाँ सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं प्राप्त होगी। किन्तु जब दूसरा अर्थ करते हैं कि नपुंसकभिन्न की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है, तब "सुट्" इतने सूत्र से होने वाली सर्वनामस्थानसंज्ञा नपुंसकभिन्न को ही देखेगी अर्थात् नपुंसक से भिन्न जो स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग हैं, उनमें 'सुटों' की सर्वनामस्थान संज्ञा होती रहेगी। नपुंसक में इसका व्यापार ही नहीं होगा, यदि किसी से प्राप्त होगी तो वह हो जाएगी। 'कुण्डानि' में नपुंसकलिङ्ग होने से "शि सर्वनामस्थानम्" इस पूर्वसूत्र से सर्वनामस्थानसंज्ञा प्राप्त होती है, अतः वह तो हो जाएगी। यदि कहें कि "शि सर्वनामस्थानम्" से सर्वनामस्थानसंज्ञा न होकर "सुट्" इतने सूत्र से क्यों न हो? तो उसका उत्तर देते हैं कि उसका नपुंसक में निषेध है। आगे कहते हैं कि यह जो "सुट" से होने वाली सर्वनामस्थानसंज्ञा है, इसे "शि सर्वनामस्थानम्" से होने वाली सर्वनामस्थान संज्ञा को बाध लेना चाहिए। पूछते हैं कि यह कैसे बाध सकती है? क्योंकि जो स्वयं "अनपुंसकस्य" के वचन से नपुंसक में निषिद्ध है, वह दूसरे से होने वाली सर्वनामस्थानसंज्ञा को कैसे रोक सकती है? अर्थात् जो स्वयं बाध्य है, वह बाधक कैसे बन सकती है?

इस बात को सिद्ध करने के लिए यह न्याय आता है। जो भेड़िया बकरी को खाने के लिए तैयार था, वह अब शेर के आने पर बकरी को खाने से क्यों हट गया? इसलिए कि वह अब खा नहीं सकता। क्योंकि उसे अपनी ही जान बचानी है। वह स्वयं ही अब अपने प्राणों की रक्षा करना चाहता है। इस प्रकार "अनपुंसकस्य" इस निषेध से नपुंसक में निषिद्ध हुई "सुट्" इस सूत्र से होने वाली सर्वनामस्थानसंज्ञा "शि सर्वनामस्थानम्" को कैसे बाध सकती है। हाँ, तब तो बाध सकती थी, जब यह स्वयं नपुंसक में निषिद्ध न होती। अब तो यह बेचारी स्वयं ही नुपसकलिङ्ग में कमजोर है। अतः यह दूसरे से होने वाली सर्वनामस्थान संज्ञा को कैसे रोक सकती है? इस प्रकार इससे सिद्ध होता है कि यह न्याय शास्त्र में भी बड़ा उपयोगी है। बलवान् आदमी दुर्बल आदमी को तभी तक दबा सकता है जब तक कि वह अपने से अधिक बलवान् को नहीं देखता। अपने से अधिक बलवान् को देखकर तो वह स्वयं भयभीत होकर अपने प्राणों की रक्षा करता है, दुर्बल को तो क्या दबाएगा?

8. शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यम् न्याय / अङ्गाधिक्यात् फलाधिक्यम् न्याय

"किं गतमेतदितिना, आहोस्विच्छब्दाधिक्यादर्थाधिक्यम् ? गतमित्याह। कुतः?

लोकतः। तद् यथा लोके– गौरित्ययमाहेति गो शब्दादितिकरणः प्रयुज्यमानो गोशब्दं स्वस्मात् पदार्थात् प्रच्यावयति। सोऽसौ स्वस्मात् पदार्थात् प्रच्युतो यासावर्थपदार्थकता तस्याः शब्दपदार्थकः सम्पद्यते। एवमिहापि न वा शब्दात् इतिकरणः परः प्रयुज्यमानो न वा शब्दं स्वस्मात् पदार्थात् प्रच्यावयति। सोऽसौ स्वस्मात् पदार्थात् प्रच्युतो याऽसौ शब्दपदार्थकता तस्या लौकिकमर्थं सम्प्रत्यायति। नवेति यद् गम्यते वेति यत् प्रतीयते इति"।[159]

"न वेति विभाषा" इस विभाषासंज्ञाविधायक सूत्र में स्थित 'इति' शब्द किस प्रकार 'न वा' शब्द को शब्दपरक न रखकर निषेध और विकल्प रूप अर्थ का बोध कराता है– यह बात भाष्यकार प्रकृत लोकन्याय से सिद्ध करते हुए कहते हैं कि क्या 'इति' शब्द से यह बात निकल भी आएगी कि 'न वा' का अर्थ यहाँ 'न वा' शब्द न होकर निषेध और विकल्प रूप अर्थ हैं या केवल शब्द के आधिक्य से अर्थ का आधिक्य कल्पित किया जा रहा है? इसका उत्तर देते हैं कि हां, 'इति' शब्द से यह बात निकल आयेगी। कैसे? लोक व्यवहार से। जैसे लोक में 'गौरित्ययमाह' यह बोलते हैं। यहाँ गो शब्द से परे प्रयुक्त हुआ 'इति' शब्द गो शब्द को अपने गोपशुरूप पदार्थ से हटाकर शब्दपदार्थक बना देता है अर्थात् यह व्यक्ति 'गौः' ऐसा शब्द उच्चारण करता है या कहता है। 'गौरित्ययमाह' का यही अर्थ है। गो पशुरूप अर्थ है, ऐसा यह कहता है - यह अर्थ उक्त वाक्य का नहीं है।

इसके विपरीत यहाँ व्याकरण शास्त्र में 'न वेति' इस 'न वा' शब्द से परे प्रयुक्त 'इति' शब्द 'न वा' इस शब्द को शब्दपरकता से हटाकर अर्थपरक बना देता है अर्थात् 'न वा' शब्द का जो अर्थ निषेध एवं विकल्प है, उसकी विभाषा संज्ञा होती है– यह 'इति' शब्द के प्रयोग से जाना जाता है। लोक में प्रत्येक शब्द अर्थप्रधान है।[160] किन्तु शब्दशास्त्र में शब्द प्रधान है।[161] 'इति' लगने पर लोक में शब्द प्रधान हो जाता है और शास्त्र में अर्थ प्रधान हो जाता है। यही बात समझाने के लिए यहाँ 'इति' शब्द का प्रयोग किया गया है और लोक को व्यतिरेकी दृष्टान्त के आधार पर उपस्थित किया है।

9. मेध्यपशुविभाषित न्याय

"अशिष्यो वा विदितत्वात्। अशिष्यो वा पुनरयं योगः। किं कारणम् ? विदितत्वात्। यदनेन योगेन प्रार्थ्यते तस्यार्थस्य विदितत्वात्। येऽपि ह्येतां संज्ञां नारभन्ते तेऽपि विभाषेत्युक्तेऽनित्यत्वमवगच्छन्ति। तद् यथा-मेध्यः पशुर्विभाषितः, मेध्योऽनड्वान् विभाषित इति। आलब्धव्यो नालब्धव्य इति गम्यते"।[162]

"न वेति विभाषा" इस सूत्र का प्रत्याख्यान करने के लिए भाष्यकार यहाँ लोकवेद प्रयुक्त उदाहरणों को उपन्यस्त करते हैं कि यह सूत्र अनावश्यक है, अशिष्य है, अनुशासन करने योग्य नहीं है। क्योंकि जो अभीष्टार्थ इस सूत्र से अपेक्षित है, वह सर्वविदित

है। 'विभाषा' कहने पर सभी जानते हैं कि विकल्प से तात्पर्य है। लोक में तो बोलते ही हैं– 'ग्रामो भवता गन्तव्यो न वा' अर्थात् आप गाँव जाएंगे या नहीं? यहाँ जाने, न जाने का विकल्प है। याज्ञिक लोग भी इस सूत्र के बिना ही विकल्प अर्थ का बोध करते हैं, जैसे- 'मेध्यः पशुः विभाषितः', 'मेध्योऽनड्वान् विभाषितः' ये वैदिक उदाहरण हैं। यज्ञिय पशु के आलम्भन अथवा अनालम्भन का विकल्प है। आचार्य पाणिनि ने स्वयं इस संज्ञा को शब्दान्तरों से व्यक्त किया है, तद् यथा– "विभाषा", 'वा', 'एकेषाम्', 'अन्यतरस्याम्' इत्यादि।[163] वस्तुतः लोकप्रसिद्धि ही इस सूत्र के प्रत्याख्यान में मुख्य हेतु है।

10. यथासंख्यन्याय/संख्यातानुदेश न्याय

"समासनिर्देशोऽयं, तत्र न ज्ञायते क आदिः कोऽन्त इति। तद् यथा– अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ इत्युक्ते तत्र न ज्ञायते कस्याजाधनम्, कस्यावय इति। यद्यपि तावल्लोके एष दृष्टान्तः, दृष्टान्तस्यापि तु पुरुषारभ्भो निवर्तको भवति। अस्ति वेह कश्चित् पुरुषारभ्भः? अस्तीत्याह। कः? संख्यातानुदेशो नाम"।[164]

"आद्यन्तौ टकितौ" सूत्रभाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि सूत्र में 'आद्यन्तौ' यह समासनिर्देश है अर्थात् 'आदिश्च अन्तश्च इति आद्यन्तौ' यह द्वन्द्व समास है। इसी प्रकार 'टकितौ' यह भी समासनिर्देश है। 'टित् च कित् च' यह द्वन्द्व है। अब यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि टित् और कित् ये दोनों आगम आदि और अन्त दोनों के अवयव होने चाहिएं अर्थात् टित् भी आदि और अन्त में होना चाहिए और कित् भी आदि और अन्त में होना चाहिए। इसके लिए भाष्यकार लौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं कि 'अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ' ऐसा कहने पर यह सन्देह बना ही रहता है कि देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों में किसका अजा (बकरी) धन है और किसका अवि (भेड़) है? दोनों भेड़-बकरी वाले प्रतीत होते हैं अर्थात् देवदत्त के पास भी भेड़बकरियाँ प्रतीत होती हैं और यज्ञदत्त के पास भी प्रतीत होती हैं। परन्तु इस दृष्टान्त के आधार पर शास्त्रीय आदि और अन्त की व्यवस्था सन्दिग्ध हो जाती है। अभीष्ट है कि टित् आदि में ही हो और कित् अन्त में ही हो। उसके लिए समुचित समाधान दिया जाता है कि यद्यपि लोकव्यवहार में तो 'अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ' यहाँ सन्देह ही रहता है किन्तु शास्त्र में तो उसकी निवृत्ति "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्"[165] इस यथासंख्य सूत्र से होकर क्रमशः व्यवस्था हो जाएगी अर्थात् पहले का पहले से और दूसरे का दूसरे से सम्बन्ध होकर टित् आदि में होगा तथा कित् अन्त में होगा। इस प्रकार विशेष यत्न द्वारा लौकिक न्याय की बाधा होकर इष्ट सिद्ध हो जाएगा। इससे लोकन्याय भी अपने स्थान पर अव्याहत[166] है और शास्त्रीय कार्य भी अपने नियमानुसार ठीक है। इस यथासंख्य नियमरूप न्याय को ही हरदत्त ने भी प्रश्नप्रतिप्रश्नपूर्वक उदाहरणान्तरों से सुस्पष्ट किया है, तद्यथा–

11. व्युत्क्रमणेनापि लोके सम्बन्धो दृश्यते न्याय/कन्याब्रह्मचारिणौ दण्डकन्दुकहस्तौ न्याय

"वहन्ति वर्षन्ति नदन्तीत्यादौ लोक एव यथासंख्यसम्बन्धस्य दृष्टत्वान्नार्थ एतेन? उच्यते, व्युत्क्रमणेनापि लोके सम्बन्धो दृश्यते– कन्याब्रह्मचारिणौ दण्डकन्दुकहस्ताविति।"[167]

इसका भाव यह है कि लोक में प्रायः पहले का पहले से और दूसरे का दूसरे से - इस प्रकार संख्या के क्रम से अर्थबोध होता है। जैसे-

"वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवङ्गमाः"॥[168]

इस श्लोक में पूर्वार्ध में पहले आने वाले 'वहन्ति' का सम्बन्ध उधर उत्तरार्ध में पहले आने वाले 'नद्यः' से है और 'वर्षन्ति' का सम्बन्ध 'घनाः' से है। इसी प्रकार 'नदन्ति' का 'मत्तगजाः' के साथ तथा 'भान्ति' का सम्बन्ध 'वनान्ताः' से है। यह क्रमवार का क्रमवार से सम्बन्ध का होना लोकसिद्ध है। यही साहित्य शास्त्रों में यथासंख्य नामक एक अलंकार भी है। इस प्रकार जब लोक से ही यथासंख्य सम्बन्ध हो जाएगा तो फिर "यथासंख्यमनुदेशः" इस उक्त सूत्र को बनाने की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में हरदत्त यह न्याय प्रस्तुत करते हैं कि "व्युत्क्रमणेनापि सम्बन्धो लोके दृश्यते" इत्यादि। इसका अर्थ है कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि क्रमवार ही शब्दों का सम्बन्ध हो प्रत्युत लोक में क्रम को छोड़कर भी सम्बन्ध दिखाई देता है, जैसे– 'कन्याब्रह्मचारिणौ दण्डकन्दुकहस्तौ' इस वाक्य में क्रमवार पठित कन्या और ब्रह्मचारी इन दोनों के क्रम के बाद दण्ड और कन्दुकहस्तौ इन शब्दों का प्रयोग है। यदि क्रम से ही सम्बन्ध निश्चित होगा तो कन्या का सम्बन्ध दण्ड से होगा तथा ब्रह्मचारी का कन्दुकहस्त के साथ जोकि अनिष्ट है। वस्तुतः कन्या का सम्बन्ध तो 'कन्दुकहस्तौ' के साथ है। क्योंकि कन्या के हाथ में तो कन्दुक होता है और ब्रह्मचारी के हाथ में दण्ड होता है। किन्तु क्रमशः अर्थबोध मानने पर यह अभीष्ट अर्थ सिद्ध नहीं होता। आपके कथनानुसार तो कन्दुकदण्डहस्तौ कन्याब्रह्मचारिणौ ऐसा प्रयोग होना चाहिए अर्थात् इस वाक्य में क्रमवार का सम्बन्ध टूट जाता है।[169] इसलिए लोक में दोनों प्रकार की बात देखते हैं– क्रमवार का उदाहरण 'वहन्ति वर्षन्ति' यह वाल्मीकि रामायण तथा कालिदास का श्लोक दिया ही जा चुका है और बिना क्रम का 'कन्याब्रह्मचारिणौ दण्डकन्दुकहस्तौ' यह उदाहरण है। ऐसी स्थिति में जैसे लोक में क्रमवार भी और बिना क्रम के भी सम्बन्ध देखा जाता है वैसे ही वह अनियम शास्त्र में भी प्राप्त होता है। किन्तु शास्त्र में यह अव्यवस्था न हो - इसलिए क्रमवार सम्बन्ध करने के लिए ही "यथासंख्यम्" इस उक्त सूत्र का निर्माण हुआ है। इसलिए उक्त सूत्र की आवश्यकता है, सूत्र व्यर्थ नहीं है। उक्त न्याय के अन्यत्र उपलब्ध न होने से इसे पदमञ्जरीकार

का ही स्वोपज्ञविज्ञान जानना चाहिए। यथासंख्यनियमरूप न्याय के विषय में अग्रिम वचनानुपूर्वा न्याय भी अवश्य पठनीय है, तद् यथा–

12. वचनानुपूर्वी न्याय

"लोकत एतत् सिद्धम्। तद् यथा लोके विहव्यस्य द्वाभ्यां द्वाभ्यामग्निरुपस्थेय इति, न चोच्यते आनुपूर्व्येणेति, आनुपूर्व्येण चोपस्थीयते इति"।[170]

"तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः" सूत्र के भाष्य में वार्तिककार कहते हैं कि प्रथम, मध्यम और उत्तम ये तीन पुरुष संज्ञाएं परस्मैपदसंज्ञक 'तिप्', 'तस्', 'झि' इत्यादि की तो हो जाएंगी। किन्तु आत्मनेपदसंज्ञक 'त', 'आताम्', 'झ' इत्यादि की भी उक्त तीनों पुरुष संज्ञाएं हो सकें– उसके लिए सूत्र में आत्मनेपदग्रहण करना चाहिए। परस्मैपद तो 'तिप्', 'तस्', 'झि' इत्यादि के प्रथमोपात्त होने से स्वयं गृहीत हो जाएगा।[171]

इसके साथ ही आत्मनेपद ग्रहण के साथ 'आनुपूर्व्य' वचन भी कहना चाहिए जिससे आनुपूर्वी से पठित त्रिकों की प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष संज्ञाएं हों अर्थात् जिस क्रम से 'तिप्', 'तस्', 'झि' इत्यादि पढ़े गए हैं, उसी क्रम से तीनों वचनों की प्रथम, मध्यम आदि संज्ञाएं हों, व्युत्क्रम से न हों। फलतः 'तिप्', 'तस्', 'झि' की प्रथम पुरुष संज्ञा, 'सिप्', 'थस्', 'थ' की मध्यमपुरुष संज्ञा तथा 'मिप्', 'वस्', 'मस्' की उत्तम पुरुष संज्ञा होकर फिर आत्मनेपद में भी क्रम से 'त', 'आताम्', 'झ' की प्रथम पुरुष संज्ञा, 'थास्', 'आथाम्', 'ध्वम्' की मध्यम पुरुष संज्ञा और 'इट्', 'वहि', 'महिङ्' की उत्तम पुरुष संज्ञा यथावत् हो सकें - इसलिए उक्त आनुपूर्व्यवचन करना चाहिए। इस पर भाष्यकार कहते हैं कि आत्मनेपद ग्रहण की तो आवश्यकता नहीं है। क्योंकि प्रथममध्यमोत्तमाः" यहाँ एकशेष मानकर आत्मनेपद के लिए दूसरा "प्रथममध्यमोत्तमाः" समझ लिया जाएगा। रहा आनुपूर्व्यवचन, यह भी लोक से सिद्ध है। जैसे लोक में प्रसिद्ध वैदिक सम्प्रदाय में कहा गया है– "विहव्यस्य द्वाभ्यां द्वाभ्यामग्निरुपस्थेयः"[172] अर्थात् ऋग्वेद के विहव्य ऋषिदृष्ट विहव्याख्य सूक्त में पठित मन्त्रों में से दो-दो मन्त्रों से अग्नि का उपस्थान करना चाहिए। समस्त मन्त्र एक साथ नहीं पढ़ने चाहिएं, जैसे– "ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु", "मम देवा विहवे सन्तु सर्वे"[173] ये आरम्भ के दो मन्त्र हैं। इनसे उपस्थान करके फिर अगले दो मन्त्रों से उपस्थान करे। वह उपस्थान आनुपूर्वी से ही होता है अर्थात् जिस क्रम से मन्त्र पढ़े गए हैं, उसी क्रम से दो-दो मन्त्र लिए जाते हैं। अब जैसे वहाँ आनुपूर्व्य वचन के बिना भी मन्त्रों का आनुपूर्व्य समझा जाता है वैसे ही यहाँ प्रथमादि पुरुष संज्ञाओं में भी 'तिप्', 'तस्', 'झि' आदि का आनुपूर्व्य समझ लिया जाएगा तो आनुपूर्व्यवचन भी व्यर्थ हो जाता है। कैयट भी इस विषय को उदाहरणान्तरमूलक पङ्क्तिस्थ ब्राह्मणद्वयानयन लोकन्याय से सुस्पष्ट करते हुए कहते हैं–

13. पङ्क्तिस्थ ब्राह्मणद्वयानयन न्याय

"यथा पङ्क्तिस्थेषु ब्राह्मणेषु द्वौ द्वौ ब्राह्मणावानयेत्युक्ते आनुपूर्व्येणानयनं भवति न तु व्युत्क्रमेण तथेहापि भविष्यतीत्यर्थः"।[174]

यह न्याय प्रदीपकार ने "तिङस्त्रीणि त्रीणि" सूत्र के महाभाष्य में "लोके विहव्यस्य द्वाभ्यां द्वाभ्यामग्निरुपस्थेयः" इस वचन की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि बहुत से ब्राह्मणों के पङ्क्ति में बैठे होने पर यदि कोई कहे कि इनमें से दो-दो ब्राह्मणों को ले आओ तो उस अवस्था में वे ब्राह्मण जिस क्रम से बैठे होते हैं, उसी क्रम से दो-दो ब्राह्मण लाए जाते हैं, यह नहीं कि दो आगे से ले लिए और दो बीच में से तथा दो कहीं और से। इसी प्रकार यहाँ 'तिङस्त्रीणि त्रीणि' सूत्र में भी तीन-तीन प्रत्यय क्रम से ही लिए जाएंगे। पहले तीन प्रत्यय 'तिप्', 'तस्', 'झि' हैं, उनकी प्रथम पुरुष संज्ञा हो जाएगी। दूसरे 'सिप्', 'थस्', 'थ', इन तीन प्रत्ययों की मध्यम पुरुष संज्ञा होती है और तीसरे 'मिप्', 'वस्' और 'मस्' ये तीन हैं, इनकी उत्तम पुरुष संज्ञा होती है। इन तीनों पुरुषों में भी 'तिप्' की एकवचन और 'तस्' की द्विवचन तथा 'झि' की बहुवचन संज्ञा होती है। इसी प्रकार मध्यम पुरुष में भी 'सिप्' की एकवचन, 'थस्' की द्विवचन और 'थ' की बहुवचन संज्ञा होती है। इसी प्रकार उत्तम पुरुष में भी क्रम से 'मिप्' की एकवचन, 'वस्' की द्विवचन और 'मस्' की बहुवचन संज्ञा होती है। इसी तरह से "तिङस्त्रीणि त्रीणि" सूत्र में आत्मनेपदों का भी एकशेष मानकर 'त' 'आताम्', 'झ' इन तीनों की क्रम से प्रथमपुरुष संज्ञा होती है और 'थास्', 'आथाम्', 'ध्वम्', इन तीनों की मध्यम पुरुष संज्ञा होती है और 'इट्', 'वहि', 'महिङ्' इन तीनों की उत्तम पुरुष संज्ञा होती है। इन तीनों में भी प्रत्येक की क्रम से एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञाएँ होती हैं। यह जो क्रम से कोई कार्य करना है, वह इस न्याय का विषय है। जैसे ऋग्वेद के 10वें मण्डल का 128वां सूक्त विहव्य सूक्त कहलाता है। इस विहव्य सूक्त में क्रम से दो-दो मन्त्र बोलकर अग्नि में आहुति देनी है। अब वहाँ जिस क्रम से उसी सूक्त में मन्त्र पढ़े गए हैं उसी क्रम से दोनों मन्त्र लेकर अग्नि में आहुति दी जाती है, यह नहीं कि कहीं से भी दो मन्त्र उठा लिए और उनसे आहुति दे दी।

14. एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति (एकदेशविकृत) न्याय / छिन्नपुच्छकर्णश्वा न्याय

"एकदेशविकृतमनन्यवद् भवतीति तिङ्ग्रहणेन ग्रहणं भविष्यति। तद् यथा– श्वा कर्णे वा पुच्छे वा छिन्ने श्वैव भवति, नाश्वो न गर्दभ इति॥"[175]

"स्थानिवत्" सूत्र भाष्य में वार्तिककारप्रोक्त एकदेशविकृत न्याय की व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि एकदेश से विकृत वस्तु अन्य नहीं होती अपितु वही रहती है अर्थात् जिसमें केवल एकदेश, एक हिस्से या अवयव में ही विकार हुआ है, वह वस्तु उससे भिन्न न होकर वही रहती है। जैसे लोक में देखा जाता है कि कुत्ते का एकदेश कान या पूंछ काट देने पर भी वह कुत्ता ही रहता है, कुत्ता ही कहलाता है, घोड़ा या गधा नहीं बन जाता अर्थात् उसे घोड़ा या गधा कोई नहीं कहता। इसी

प्रकार यहाँ शास्त्र में भी 'पचतु' में 'तिप्' के एकदेश 'ति' के इकार के स्थान में उकार रूप विकार हो जाने से भी वह 'तिप्' ही माना जाएगा, अन्य नहीं और उसका तिङ् ग्रहण से ही ग्रहण होगा। फलतः जैसे "सुप्तिङन्तं पदम्"[176] से 'पचति' की तिङन्त होने से पद संज्ञा है वैसे ही 'पचतु' इसकी भी पद संज्ञा सिद्ध हो जाएगी। क्योंकि 'ति' का केवल इकार ही विकार रूप में विकृत हुआ है। इसलिए पूर्वोक्त छिन्नपुच्छश्वदृष्टान्तमूलक एकदेशविकृत नामक लौकिक न्याय से 'पचति' की तरह 'पचतु' भी तिङन्त होने से पदसंज्ञक सिद्ध हो जाता है। नागेश भी इस एकदेशविकृत न्याय को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

छिन्नपुच्छश्वा न्याय

"न हि सपुच्छश्वग्रहणेन च्छिन्नपुच्छशुनो ग्रहणं लोके। अतो नाभेर्विकृतस्योपसर्गत्वमनेन न्यायेन। 'प्रादय' इत्यादिना तत्तद्रूपेण गृहीत्वैव संज्ञाविधानादिति दिक्।"[177]

यह न्याय बृहच्छब्देन्दुशेखरकार ने अच्सन्धि प्रकरणगत "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" सूत्र के व्याख्यान में "एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात्सिद्धम्" वार्तिक को विवेचित करते हुए लिखा है। इसका अर्थ यह है कि 'पूंछ वाला कुत्ता' इस शब्द से 'पूंछ कटे हुए कुत्ते' का ग्रहण नहीं होता। इसलिए 'अभीयात्' यहाँ 'अभि' पूर्वक 'इण्' धातु को सवर्णदीर्घ होकर 'अभीयाद्' यह रूप बनता है। यहाँ 'अभि' के 'भ' पर्यन्त अंश को इस उक्त न्याय से उपसर्ग नहीं मान सकते। क्योंकि उपसर्ग संज्ञा 'अभि' इस इकारान्त शब्द की है, उसका एकदेश जो अभ् है, उसकी उपसर्ग संज्ञा नहीं होगी। क्योंकि वहाँ यह उक्त न्याय बाधक हो जाएगा अर्थात् जहाँ पूंछ वाला कुत्ता लिया जाएगा वहाँ पूंछरहित कुत्ते को कौन पूछेगा? क्योंकि लोक में ऐसा दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में 'अभीयात्' में "एतेर्लिङि"[178] से अनिष्ट ह्रस्व नहीं होगा। वैसे इसका समुचित समाधान तो "उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्"[179] इस परिभाषा से ही समझना चाहिए। अथवा लक्ष्यानुरोध से कहीं-कहीं पर एकदेशविकृत न्याय का अनाश्रयण करने से भी पूर्वोक्त दोष परिहृत हो सकता है। प्रस्तुत न्याय एकदेशविकृत न्याय का समानान्तर विरोधी न्याय जानना चाहिए। अस्तु, एकदेशविकृत न्याय व्याकरणशास्त्र की एक प्रसिद्ध परिभाषा भी है। लौकिकन्यायसिद्ध इस परिभाषा का व्याकरणशास्त्र में प्रभूत व्यापार दृष्टिगोचर होता है।[180]

15. अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति न्याय

"अनानुपूर्व्येणापि संनिविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति। तद् यथा– अनड्वाहमुदहारि! या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीः इति। तस्य यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति। उदहारि भगिनि! या त्वं कुम्भं शिरसा हरसि, अनड्वाहं साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीः इति"।[181]

"न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोप" इस सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि कहते हैं कि

"स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवत्" ऐसा कहना चाहिए अर्थात् स्वर, दीर्घ और यलोप इन तीन विधियों में केवल लोपरूप अजादेश ही स्थानिवत् नहीं होता। अन्य अजादेश तो स्थानिवत् हो ही जाते हैं– यह इस वचन का अर्थ है। अब इस वचन का खण्डन करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि यह वचन अलग से कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यहाँ लोप भी प्रकृत है, प्रस्तुत है और आदेश भी प्रकृत है अर्थात् विधिग्रहण की अनुवृत्ति से आ रहा है। स्वर, दीर्घ आदि भी सूत्र में ही निर्दिष्ट हैं। इन सबका केवल आपस में सम्बन्धमात्र करना आवश्यक है। इस पर आक्षेप करते हैं कि जो एक आनुपूर्वी या क्रम से पढ़े जाते हैं, उन्हीं का यथेष्ट सम्बन्ध हो सकता है जबकि यहाँ लोप, आदेश, स्वर, दीर्घ आदि किसी आनुपूर्वी से तो पढ़े नहीं गए। अतः इनका आपस में यथेष्ट सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? इस बात का उत्तर देते हैं कि बिना आनुपूर्वी के भी जो पढ़े गए हैं, उनका भी वक्ता की इच्छा से यथेष्ट सम्बन्ध हो सकता है। इसे ही 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्' तथा राजपुरप्रवेश न्याय कहा जाता है, जैसे– 'अनड्वाहमुदहारि' इत्यादि पूर्वोक्त लौकिक वाक्य में कोई आनुपूर्वी या क्रम नहीं है। फिर भी उसका परस्पर सम्बन्ध या अन्वय होकर यथेष्ट वाक्यार्थबोध होता है, जैसे– हे उदहारि भगिनि! (हे जल लाने वाली बहिन) या त्वं शिरसा कुम्भं हरसि (जो तू अपने सिर पर पानी का घड़ा ले जा रही है) साचीनमभिधावन्तमनड्वाहमद्राक्षीः" (उस तूने क्या तिरछे दौड़ते हुए बैल को देखा)? यद्यपि ऐसे वाक्यों में काव्य की दृष्टि से क्लिष्टत्व अथवा कष्टत्व दोष अवश्य रहता है।[182] परन्तु अर्थ का बोध तो परस्पर समन्वय से ही हो जाता है। इसलिए "स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेशो न स्थानिवत्" यह वचन अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है। प्रकरणज्ञ विद्वान् इसकी संगति लगाकर अपना अभीष्ट अर्थ सिद्ध कर लेंगे। इस न्याय को लेकर भर्तृहरि भी कहते हैं–

"विरुद्धं चाभिसम्बन्धमुदहार्यादिभिः कृतम्।
वाक्ये समाप्ते वाक्यार्थमन्यथा प्रतिपद्यते॥"[183]

इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए कैयट स्फुट रूप से ही "पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्" न्याय को प्रस्तुत करते हैं, तद् यथा–

16. पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान् न्याय / पूर्वं चोद्यदर्शनं पश्चात् समाधानम् न्याय

"यद्यपि पश्चात् पठितं तथापि पाठक्रमादर्थक्रमो बलवानितिपूर्वं दृष्टमित्युच्यते। पूर्वं चोद्यदर्शनं पश्चात् समाधानमिति न्यायात्"।[184]

यह न्याय प्रदीपकार ने "स्त्रियाः पुंवद्भाषित पुंस्कादनूङ्" इत्यादि सूत्र के भाष्य में 'प्रातिपदिकस्य च प्रत्यापत्तिः' और "स्थानिवत्प्रसङ्गश्च" इन दोनों आक्षेपवार्तिकों की व्याख्या में लिखा है। भाष्यकार ने जो यह कहा कि पहले आचार्यों ने

''स्थानिवत्प्रसङ्गश्च'' यह सोचा तो वह पहले पढ़ दिया और उसके बाद ''प्रातिपदिकस्य च प्रत्यापत्तिः'' इसका विचार आया तो वह पढ़ दिया तथा आचार्यों का यह स्वभाव होता है कि वे एक बार सूत्र को बनाकर फिर उसे हटाते नहीं हैं। इस पर प्रदीपकार कैयट लिखते हैं कि यद्यपि ''स्थानिवत्प्रसङ्गश्च'' यह आक्षेपवार्तिक पीछे पढ़ा गया है फिर भी भाष्यकार ने जो उसे पहले पढ़ा हुआ लिखा है तो उसकी संगति 'पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है'– इस न्याय से हो सकती है। यास्काचार्यप्रोक्त ''अर्थनित्यः परीक्षेत'' वचन भी इस विषय में तात्पर्यग्राहक है। ''पाठक्रमादार्थक्रमो बलवान्'' इस न्याय के साथ ही 'पूर्वं चोद्यदर्शनं पश्चात्समाधानम्'' यह न्याय भी दिया गया है। इसका भी यह अर्थ है कि पहले प्रश्न या आक्षेप होता है और उसके बाद उसका समाधान दिया जाता है। ऐसा नहीं होता कि पहले समाधान कर दिया जाए और पीछे से उसका प्रश्न उठाया जाए। इसलिए ''स्थानिवत्प्रसङ्गश्च'' यह प्रश्न या आक्षेप पहले आएगा और उसका समाधान पीछे आएगा। यद्यपि प्रकृत न्याय का विरोधी पाठक्रमेणैव सम्बन्धो भवति ऐसा न्याय भी देखने में आता है तथापि हरदत्त भी पूर्वोक्त प्रकृत न्याय का बड़ा सार्थक प्रयोग करते हुए कहते हैं–

17. पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान् न्याय / पाठक्रमेणैव सम्बन्धोभवति न्याय

''अथ किमर्थमेकग्रहणम्, प्रथमनिर्दिष्टमतिक्रम्य चरमनिर्दिष्टस्य पूर्वपरयोः इत्यस्य प्राक् प्रयोजनमुक्तम् ? पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्। कथम्? सतः कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्। कार्यस्य च गुणादेर्विशेषणमेकग्रहणम्''[185]।

''यह न्याय पदमञ्जरीकार ने ''एकः पूर्वपरयोः'' इस सूत्र की व्याख्या में उपन्यस्त किया है। इस न्याय का अर्थ है कि पाठ के क्रम की अपेक्षा अर्थ का क्रम बलवान् होता है अर्थात् यदि शाब्दिक क्रम में शब्द पहले आ गया और अर्थ पीछे रह गया तो भी अर्थक्रम को बलवान् मानकर पहले अर्थक्रम पर ही विचार किया जाता है। लोक में भी हम कई बार देखते हैं कि 'तुम्हारी बजी में क्या घड़ा है'– ऐसा उलटा पाठ सुनने पर भी श्रोता को 'तुम्हारी घड़ी में क्या बजा है'– यह अभीष्ट अर्थबोध हो जाता है। इसं न्याय के आधार पर ''एकः पूर्वपरयोः'' सूत्र में एक शब्द के सूत्रपाठक्रम में पहले आने पर भी किन्तु अर्थ की दृष्टि से उसके 'पूर्व पर' के पीछे आने पर भी उन पर पहले विचार किया जाता है। क्योंकि 'पूर्व पर' के स्थान में ही एकादेश का विधान है। इस प्रकार अर्थ की दृष्टि से 'पूर्व पर' शब्दों पर ही पहले विचार करना आवश्यक है। वैसे इस न्याय का विपरीत रूप भी देखने में आता है। तदनुसार कहीं-कहीं पर ''पाठक्रमेणैव सम्बन्धो भवति'' ऐसा भी दृष्टिगोचर होता है[186]। तद्यथा–

''शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जयेत्'' इत्यादि।

अस्तु, प्रस्तुत पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान् न्याय अन्यत्र भी बहुत जगह शास्त्र में उपयुक्त होता हुआ दिखाई देता है।[187] इसी अभिप्राय को विशद व्याख्यात करने के

लिए नागेश भी उदाहरणान्तरमूलक राजपुरप्रवेश न्याय को उदधृत करते हैं, तद्यथा–

18. राजपुरप्रवेश न्याय

''पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति यथेष्टमत्राभिसम्बन्धः। आर्थक्रमो नाम राजपुर प्रवेशन्यायेन स्वस्याकाङ्क्षितार्थान्वयक्रमः। एवं च कल्पितासन्नवाक्याद् बोधविषये तात्पर्यं नियामकमिति भावः''।[188]

यह न्याय उद्द्योतकार ने ''न पदान्तद्विर्वचन'' इत्यादि सूत्र के भाष्य में 'अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीः' इसकी व्याख्या के प्रसङ्ग में लिखा है। प्रदीपकार कैयट ने इस पर लिखा है कि यद्यपि उक्त वाक्य में शब्दक्रम तो उलट-पुलट है किन्तु शब्द के पाठ के क्रम से अर्थ का क्रम बलवान् होता है। इसलिए इधर-उधर से इस वाक्य के सब पदों को इकट्ठा या अन्वय करके तब ठीक अर्थ किया जाता है। क्योंकि अर्थ समझना ही मुख्य है। इस अर्थ के क्रम को बलवान् मानकर ही शब्दों की उलटा-पुलटी पर ध्यान नहीं दिया जाता। प्रदीपकार की इस बात को स्पष्ट करते हुए उद्द्योतकार कहते हैं कि राजपुरप्रवेश न्याय से भी अर्थ का क्रम ही बलवान् सिद्ध होता है। राजपुरप्रवेश न्याय का तात्पर्य यही है कि किसी प्रकार राजा के घर में घुसा जाए। घुसने वाले का मुख्य प्रयोजन राजा का शहर देखना है। अब जैसे और सब वस्तुओं को गौण करके व्यक्ति के द्वारा राजा के शहर में घुसने को ही मुख्य लक्ष्य बना जाता है, वैसे ही इस न्याय में भी शब्दों की उलट-पुलट पर ध्यान न देकर अर्थ की मुख्यता पर ही ध्यान दिया जाता है और अर्थ के अनुकूल शब्द की योजना कर ली जाती है। साहित्यशास्त्र में इसे ही 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है। अथवा इस न्याय का एक भाव यह भी हो सकता है कि जैसे किसी भी राजा के घर में क्रम से ही बहुत से लोगों का प्रवेश होता है, अन्यथा विशृङ्खल रूप से घुसने वालों को राजपुरुष दण्डित करते हैं वैसे ही जो लम्बा तथा अस्त-व्यस्त वाक्य होता है, उसका भी एकदम वाक्यार्थबोध न होकर उक्त न्याय के आधार पर पहले क्रम से पदों के अर्थ का बोध होता है। तत्पश्चात् अन्वयबोध होकर तात्पर्यार्थ गतार्थ हो जाता है।[189] इस तरह शाब्दबोधसम्बन्धी कार्यकारण भाव के लिए सुव्यवस्था अपेक्षित होने में इस न्याय का प्रयोग होता है। किन्तु इस न्याय के दोनों अर्थों में पूर्वोक्त अर्थ ही अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। क्योंकि यह न्याय अर्थक्रम को पाठक्रम से बलवान् दिखाने के लिए दिया गया है और उसमें पूर्वोक्त अर्थ ही अधिक तात्पर्यग्राहक है। लघुमञ्जूषा के तात्पर्यनिरूपणप्रकरण और वाचस्पत्यम् कोश में भी उक्त न्याय दिया गया है।

19. सामान्यविशेष न्याय

20. पितापुत्र न्याय

''यदि तर्हि सामान्यमपि विशेषो विशेषोऽपि सामान्यम्, सामान्यविशेषौ न प्रकल्पेते।

प्रकल्पेते च। कथम्? विवक्षातः। यदास्य गौः सामान्येन विवक्षितो भवति कृष्णो विशेषत्वेन, तदा गौः सामान्यं कृष्णो विशेषः। यदा कृष्णः सामान्येन विवक्षितो भवति गौर्विशेषत्वेन विवक्षितस्तदा कृष्णः सामान्यं गौर्विशेषः। अपर आह- प्रकल्पेते च। कथम्? पित्रापुत्रवत्। तद् यथा स एव कञ्चित् प्रति पिता भवति, कञ्चित्प्रति पुत्रो भवति। एवमिहापि स एव कञ्चित्प्रति सामान्यं कञ्चित्प्रति विशेषः। एते खल्वपि नैर्देशिकानां वार्ततरका भवन्ति ये सर्वनाम्ना निर्देशाः क्रियन्ते। एतर्हि बहुतरकं व्याप्यते"।[190]

"तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" तथा "तस्मादित्युत्तरस्य" इन सूत्रों के भाष्य में सामान्य और विशेष के लक्षण पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यदि सामान्य भी विशेष है और विशेष भी सामान्य है तो फिर सामान्यविशेष की व्यवस्था कैसे बनेगी? उत्तर है कि व्यवस्था बन जाएगी। पूछते हैं कैसे तो उत्तर है कि विवक्षा से। तदनुसार जब इस वक्ता को गौ सामान्य रूप से विवक्षित तथा कृष्ण विशेष रूप से विवक्षित होगी तब गौ सामान्य तथा कृष्ण विशेष माना जाएगा और जब वक्ता को कृष्ण सामान्य रूप से विवक्षित तथा गौ विशेष रूप से विवक्षित होगी तब कृष्ण सामान्य तथा गौ विशेष मानी जाएगी। दूसरे आचार्य सामान्यविशेष की व्यवस्था के लिए पितापुत्र का दृष्टान्त देते हैं। तदनुसार जैसे एक ही व्यक्ति किसी के प्रति पिता और किसी के प्रति पुत्र होता है वैसे ही एक वही वस्तु किसी के प्रति सामान्य और किसी के प्रति विशेष बन जाती है। यह तो वक्ता के अपने-अपने ढ़ग या विवक्षा पर निर्भर है जिससे सामान्य भी विशेष और विशेष भी सामान्य बन जाता है। ये जो सर्वनामसंज्ञक शब्द हैं, जैसे- 'तस्मिन्निति' और 'तस्मादिति' आदि, ये विशिष्ट निर्देश के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों में अत्यन्त उपयुक्त तथा ठीक रहते हैं। इनसे थोड़े में ही बहुत प्रकार का आशय प्रकट किया जा सकता है। इसीलिए 'सप्तमीनिर्दिष्टे', 'पञ्चमीनिर्दिष्टे' न कहकर 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे', 'तस्मादिति निर्दिष्टे' यह सूत्रकार ने कहा है।

सामान्यविशेष को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने उपाध्यायशिष्य मातुलभागिनेयाभिवादन न्याय द्वारा अन्यत्र भी अच्छा विवेचन किया है, तद्यथा-

21. उपाध्यायशिष्यमातुलभागिनेयाभिवादन न्याय / अभिधानप्रकार न्याय

किञ्च पचतेर्भवतिर्भवति? सामान्यम्। किं च भवतेः पचतिर्भवति? विशेषः। तद्यथा- उपाध्यायस्य शिष्यो मातुलस्य भागिनेयं गत्वाह-उपाध्यायं भवानभिवादयताम् इति। स गत्वा मातुलमभिवादयते। तथा मातुलस्य भागिनेयः उपाध्यायस्य शिष्यं गत्वाह - मातुलं भवानभिवादयतामिति। स गत्वा उपाध्यायमभिवादयते। एवमिहापि पचतेर्भवतौ यत् तन्निर्दिश्यते।"[191]

"भावे" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार पूछते हैं कि 'पचति' क्रिया 'भवति' क्रिया की क्या लगती है अर्थात् 'पाकः' और 'भावः' में क्या अन्तर है? 'भू' धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय करके 'भावः' बनता है और 'पच्' धातु से भाव में 'घञ्' प्रत्यय करने पर 'पाकः' बनता है। दोनों में यही अन्तर है कि 'भावः' में 'भू' धातु क्रियासामान्यवाची है और 'पाकः' में 'पच्' धातु क्रियाविशेषवाची है। 'पाकः' का अर्थ पकाना है जोकि एक क्रियाविशेष है। 'भावः' का अर्थ सत्ता है जोकि क्रियासामान्य है। 'भावः' और 'पाकः' में क्रिया के सामान्य तथा विशेषवाचित्व के साथ-साथ यह भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि 'भू' तथा 'पच्' धातु से वाच्य जो भाव या क्रिया है, वह साध्यभूत है। 'घञ्' प्रत्यय से वाच्य जो भाव या क्रिया है, वह सिद्धभूत है। क्रिया को सिद्धावस्थापन्न बनाने के लिए ही 'घञ्' प्रत्यय हुआ है। 'घञ्' के बिना क्रिया साध्य ही रहती है। 'घञ्' लगने पर क्रिया सिद्ध होकर द्रव्य बन जाती है और द्रव्य बन कर क्रियान्तर की आकाङ्क्षा करती है।[192] भर्तृहरि ने कहा भी है-

"साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।
सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः॥"[193]

ऊपर कहे गए क्रियाओं के सामान्यविशेषभाव को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार यह लौकिक न्याय उपस्थित करते हैं कि जैसे उपाध्याय का शिष्य मामा के भानजे को जाकर कहता है कि आप उपाध्याय जी को अभिवादन कीजिए। वह भानजा जाकर मामा का अभिवादन करता है। क्योंकि उपाध्याय उसका मामा ही है। इसी प्रकार मामा का भानजा उपाध्याय के शिष्य को जाकर कहता है कि आप मामा जी का अभिवादन कीजिए। वह शिष्य जाकर उपाध्याय जी का अभिवादन करता है। क्योंकि मामा उसका उपाध्याय ही है। यहां एक ही वस्तु शिष्य और भानजे के सम्बन्ध से उपाध्याय और मामा शब्द से व्यवहृत होती है। शिष्य के लिए उसका मामा उपाध्याय है और भानजे के लिए उपाध्याय उसका मामा है। बात दोनों जगह एक ही है किन्तु अभिधानप्रकार न्याय से सामान्य और विशेष का ही अन्तर है। शिष्य के लिए उपाध्याय सामान्य है, मामा विशेष है। भानजे के लिए मामा सामान्य है और उपाध्याय विशेष है। इसी प्रकार 'पाकः' में पाक क्रियाविशेष है और 'भावः' में भवनक्रिया सामान्य है। "भावे" सूत्र से क्रियासामान्य को लेकर भाव में प्रत्यय होंगे तो कोई दोष नहीं आएगा। वाक्यपदीयकार ने उक्त न्याय को कारिकारूप में इस प्रकार कहा है-

"आचार्यो मातुलश्चेति यथैको व्यपदिश्यते।
सम्बन्धिभेदादर्थात्मा स विधिः पक्तिभावयोः॥"[194]

उक्त कारिका तन्त्रवार्तिक तथा महाभाष्यप्रदीप में भी उद्धृत मिलती है। ध्यातव्य है कि सामान्य और विशेष ये दोनों शब्द व्याकरणशास्त्र में क्रमशः उत्सर्ग और अपवाद के रूप में पारिभाषिक शब्द भी हैं। साधारण कार्यविधायक सूत्र को उत्सर्ग कहते हैं तथा उसके बाधक सूत्र को विशेष या अपवाद, जैसे कि "कर्मण्यण्"[195] यह सामान्य सूत्र है और "आतोऽनुपसर्गे कः"[196] यह उसका अपवाद।

22. अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य न्याय

"रूपग्रहणं किमर्थम्? न स्वं शब्दस्याशब्दसंज्ञा इत्येव रूपशब्दस्य संज्ञा भविष्यति? न ह्यन्यत् स्वं शब्दस्यास्ति अन्यदतो रूपात्। एवं तर्हि सिद्धे सति यदयं रूपग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः - अस्त्यन्यत् रूपात् स्वं शब्दस्य। किं पुनस्तत्? अर्थः। किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य इत्येषा परिभाषा न कर्तव्या भवति"।[197]

"स्वं रूपम्" सूत्रभाष्य में भाष्यकार प्रकृत परिभाषा को ज्ञापकसिद्ध दिखाते हुए पूछते हैं कि इस सूत्र में 'रूप' ग्रहण किसलिए किया गया है? क्या "स्वं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" इतने सूत्र से ही शब्द के स्वरूप का ग्रहण स्वतः सिद्ध नहीं हो जाएगा? क्योंकि रूप को छोड़कर शब्द का अन्य कोई अपना नहीं होता। आगे कहते हैं कि इस प्रकार सूत्र में 'रूप' ग्रहण किए बिना ही अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो जाने पर भी जो 'रूप' ग्रहण किया गया है, वह इस बात को ज्ञापित करता है कि शब्द का अपने स्वरूप के अतिरिक्त कुछ और भी अपना है। और वह है - उसका अर्थ। पूछते हैं कि इस बात को ज्ञापित करने का क्या प्रयोजन है तो इसका उत्तर है कि फिर "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य" यह परिभाषा गतार्थ होने से अलग से नहीं पढ़नी पड़ेगी। इसका अर्थ है कि अर्थवान् शब्दस्वरूप के ग्रहण में अनर्थक शब्द का ग्रहण नहीं होता।

ऐसी स्थिति में जैसे लोक में किसी उपयोगी वस्तु की तुलना में अनुपयोगी वस्तु नहीं ली जाती। फलतः दूध के लिए गाय को खरीदने के लिए अधिकृत व्यक्ति दूध देने में समर्थ गाय को ही खरीदता है, केवल दर्शनसुख देने वाली परन्तु दूध देने में असमर्थ गाय को नहीं। वैसे ही शास्त्र में भी सार्थक शब्द के ग्रहण में अनर्थक शब्द का ग्रहण नहीं होता। फलतः 'प्र' पूर्वक 'क्तवतु' प्रत्यान्त 'वह्' धातु के 'प्रौढ' रूप में तो "प्रादुहोढो"[198] इस वार्तिक से वृद्धि हो जाती है। क्योंकि यहां तो 'प्र + ऊढ' इस प्रकार 'ऊढ' शब्द स्वतन्त्ररूपेण अर्थवान् है परन्तु 'प्र' पूर्वक 'क्तवतु' प्रत्ययान्त 'वह्' धातु के ही 'प्रौढवान्' प्रयोग में उक्त वार्तिक से वृद्धि नहीं होती। क्योंकि यहां 'ऊढ' शब्द स्वतन्त्ररूपेण अर्थवान् नहीं है अपितु वह तो 'ऊढवान्' का एक अवयव है जोकि निरर्थक है।

वस्तुतः यह परिभाषा तो सूत्र में 'रूप' ग्रहण के बिना ही "व्रश्च भ्रस्ज सृजमृज यज राज भ्राजः"[199] सूत्र में 'राज्' ग्रहण के साथ 'भ्राज्' का ग्रहण करने से ही ज्ञापित हो जाती है। यदि अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का भी ग्रहण हो जाता है तो 'भ्राज्' ग्रहण की या 'राज' ग्रहण करने की क्या आवश्यकता थी। क्योंकि 'भ्राज्' में 'राज्' विद्यमान है ही। परन्तु वह अनर्थक है जबकि स्वतन्त्र 'राज्' अर्थवान् है। आचार्य पाणिनि जानते हैं कि अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता। इसलिए वे 'भ्राज्' के साथ-साथ 'राज्' का भी पृथक् ग्रहण करते हैं। इससे उक्त परिभाषा ज्ञापित हो जाती है। और न्याय्य भी यही है कि सार्थक के ग्रहण में सार्थक का ही ग्रहण हो, निरर्थक का क्यों हो? इसी प्रकार यत्र तत्र स्वरूप का ग्रहण न होकर लक्ष्यानुरोध से उसके अर्थ का भी ग्रहण हो जाता है तो "दाधा ध्वदाप्"[200] यहां 'घु' शब्दस्वरूप का ग्रहण होकर उसके अर्थ जो 'दा धा' रूप संज्ञी हैं, उनका ग्रहण हो जाता है। फलतः सूत्र में 'अशब्दसंज्ञा' ग्रहण करने की भी आवश्यकता नहीं है। कहा भी है–

"व्यवहाराय नियमः संज्ञायाः संज्ञिनि क्वचित्।
नित्य एव तु सम्बन्धो डित्थादिषु गवादिवत्॥"[201]

23. उद्देशोपदेश न्याय / गोसक्थिकर्णग्रहणोपदेश न्याय / गुणप्रापण (नानालिङ्गकरण) न्याय

"कः पुनरुद्देशोपदेशयोर्विशेषः? प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशो गुणैः प्रापणमुद्देशः। प्रत्यक्षं तावदाख्यानमुपदेशः। तद् यथा- अगोज्ञाय कश्चिद् गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशति - अयं गौरिति। स प्रत्यक्षमाख्यातमाह - उपदिष्टो मे गौरिति। गुणैः प्रापणमुद्देशः। तद् यथा- कश्चित् कञ्चिदाह - देवदत्तं मे भवानुद्दिशतु इति। स इहस्थः पाटलिपुत्रस्थं देवदत्तमुद्दिशति - अङ्गदी कुण्डली किरीटी व्यूढोरस्को वृत्तबाहुर्लोहिताक्षास्तुङ्गनासो विचित्राभरण ईदृशो देवदत्त इति। स गुणैः प्राप्यमाणमाह-उद्दिष्टो मे देवदत्त इति"

"संकीर्णावुद्देशोपदेशौ। प्रत्यक्षमाख्यानमुद्देशो गुणैश्च प्रापणमुपदेशः। प्रत्यक्षं तावदाख्यानमुद्देशः। तद् यथा- कश्चित् कञ्चिदाह - अनुवाकं मे भवानुद्दिशतु इति। स तस्मायाचष्टे-इषे त्वकमधीष्व, शं नो देवीयमधीष्वेति। स प्रत्यक्षमाख्यातमाह-उद्दिष्टो मेऽनुवाकस्तमध्येष्ये इति। गुणैश्च प्रापणमुपदेशः। तद् यथा- कश्चित् कञ्चिदाह-ग्रामान्तरं गमिष्यामि, पन्थानं मे भवानुपदिशतु इति। स तस्मायाचष्टे अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो ग्रहीतव्यः, अमुष्मिन् हस्तवाम इति। स गुणैः प्राप्यमाणमाह-उपदिष्टो मे पन्था इति। एवमेतौ संकीर्णावुद्देशोपदेशौ"।[202]

"उपदेशेऽजनुनासिक इत्" इस सूत्र के भाष्य में उपदेश और उद्देश के भेद पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उपदेश और उद्देश में क्या भेद है? उत्तर देते हैं - प्रत्यक्ष कथन का नाम उपदेश है, जैसे गाय को न जानने वाले को कोई गाय के जघन प्रदेश या कर्ण को छुआ कर[203] उपदेश करता है कि यह गाय है। वह प्रत्यक्ष कथित गाय को समझकर कहता है कि मुझे गाय का उपदेश मिल गया है। मैं गाय को समझ गया हूँ।[204] इसके अतिरिक्त गुणों द्वारा कथन का नाम उद्देश है। साक्षात् देवदत्त को न कहकर उसके गुणों का वर्णन करके उसका परिचय देना यह उद्देश होता है, जैसे कोई यह कहे कि आप मुझे देवदत्त का उद्देश कीजिए, देवदत्त को बताइए। वह वहीं बैठा हुआ पटना में स्थित देवदत्त का उद्देश करता है, उसके गुणों का वर्णन करता है कि जो अङ्गद (बाजूबन्द), कुण्डल,[205] किरीट वाला, विशाल वक्षः स्थल वाला, गोल भुजा वाला, लाल आंखों वाला, ऊँची नाक वाला और विचित्र आभूषणों वाला व्यक्ति

है, वह देवदत्त है। इस प्रकार गुणों का वर्णन करने से वह "यथा गौस्तथा गवयः" इस न्याय से देवदत्त का परिचय प्राप्त कर लेता है और कहता है कि मुझे देवदत्त का उद्देश हो चुका है। मैं देवदत्त को समझ गया हूँ।

भाष्यकार आगे कहते हैं कि किन्तु यह सब होने पर भी उद्देश और उपदेश दोनों संकीर्ण ही हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष कथन का नाम भी उद्देश है और गुणों से परिचय देने का नाम भी उपदेश है। इनमें प्रत्यक्ष कथन का नाम उद्देश, जैसे कोई किसी से कहता है कि आप मुझे अनुवाक का उद्देश कीजिए, मुझे अनुवाक बताइए। वह उसे कहता है कि– "इषे त्वा"[206] इत्यादि मन्त्रों का पाठ कीजिए। "शं नो देवीरभिष्टये"[207] इत्यादि मन्त्रों को पढ़िए। वह प्रत्यक्ष कथन किए गए उसके वचन को सुनकर कहता है कि मुझे अनुवाक का उद्देश हो गया है। मैं उसका अध्ययन करुँगा। गुणों द्वारा व्यक्ति का परिचय देने में भी उपदेश होता है, जैसे कोई किसी से कहता है कि मैं गाँव जाऊँगा। मुझे आप रास्ता बता दीजिए, रास्ते का उपदेश कर दीजिए। वह उससे कहता है कि अमुक जगह दायें हाथ हो लेना और अमुक जगह बायें हाथ हो लेना। वह इस प्रकार गुणों या अवयवों द्वारा परिचय पाकर कहता है कि मुझे रास्ते का उपदेश हो गया है। मैं रास्ता समझ गया हूँ। इन दोनों प्रकार के लौकिक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उद्देश और उपदेश का लक्षण संकीर्ण है। दोनों में दोनों के लक्षण दीखते हैं। इसलिए उद्देश की निवृत्ति के लिए तो सूत्र में उपदेश ग्रहण करना व्यर्थ है। फलतः "अभ्र आँ अपः"[208] यहां उद्देशभूत 'आँ' इस अनुनासिक अच् की इत्संज्ञा को रोकने के लिए उपदेश ग्रहण करने की जगह कोई अन्य अभ्युपाय करना चाहिए। प्रदीपकार कैयट तथा शेखरकार नागेश ने भी उक्त उपदेश तथा उद्देश शब्दों की परिभाषा पर विचार किया है।[209]

24. दृष्टादृष्टापचार न्याय / सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् (साहचर्य) न्याय / गवाश्वगर्दभ न्याय

(क) विशब्दः

"यद्यपि तावदयं पराशब्दो दृष्टापचार उपसर्गश्चानुपसर्गश्च। अयं तु खलु विशब्दोऽदृष्टापचार उपसर्ग एव। तस्यास्य कोऽन्यो द्वितीयः सहायो भवितुमर्हति अन्यदत उपसर्गात्। तद् यथा- अस्य गोर्द्वितीयेनार्थ इति गौरेवानीयते नाश्वो न गर्दभ इति।"[210]

"विपराभ्यां जेः" सूत्र के भाष्य में 'परा' शब्द उपसर्गसंज्ञक ही लिया गया है, पर शब्द का स्त्रीलिङ्ग रूप 'परा' नहीं लिया गया है - इसको सोदाहरण स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार साहचर्यनियम का उपन्यास करते हैं। वे कहते हैं कि यद्यपि यह 'परा' शब्द तो व्यभिचरित है अर्थात् वह उपसर्ग भी मिलता है और अनुपसर्ग भी। परन्तु प्रकृत सूत्र में यह सहप्रयुक्त विशब्द तो सर्वथा अव्यभिचरित रूप से उपसर्ग

ही है। क्योंकि पक्षीवाची 'वि' शब्द से परे विभक्ति के आने से 'वि' से अव्यवहित 'जि' धातु मिलना सम्भव नहीं है। फलतः इसके साहचर्यसामर्थ्य से इसका दूसरा साथी और कौन हो सकता है सिवाय इसके सजातीय उपसर्ग के, जैसे लोक में देखते हैं कि इस बैल का दूसरा साथी चाहिए - ऐसा कहने पर उसका दूसरा साथी तत्सदृश बैल ही लिया जाता है, घोड़ा या गधा नहीं। इस लोकव्यवहार से सिद्ध है कि साहचर्यनियम बलवान् होता है।[211] अतः प्रकृत सूत्र में भी उपसर्ग ग्रहण के बिना भी 'परा' शब्द उपसर्ग ही लिया जाएगा, अर्थान्तरविशेषवाची नहीं। अन्यत्र भी यह न्याय प्रयुक्त हुआ है।[212] इसी प्रकार "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" सूत्रभाष्य में भी 'परि' शब्द के व्याख्यान में भाष्यकार कहते हैं–

(ख) परिशब्दः

"यद्यपि तावदयं परिर्दृष्टापचारो वर्जने चावर्जने च। अयं खल्वपशब्दोऽदृष्टापचारो वर्जनार्थ एव। तस्यास्य कोऽन्यो द्वितीयः सहायो भवितुमर्हति अन्यदतो वर्जनार्थात्। तद् यथा- अस्य गोर्द्वितीयेनार्थः"[213] इत्यादि।

इनका कहने का भाव है कि यद्यपि यह 'परि' शब्द तो व्यभिचरित है अर्थात् वर्जनार्थक भी मिलता है और अवर्जनार्थक भी। परन्तु प्रकृत सूत्र में यह सहप्रयुक्त 'अप' शब्द तो सर्वथा अव्यभिचरितरूप से वर्जनार्थक ही है। परिणामतः पूर्वोक्त लोकन्याय के आधार पर 'अप' शब्द के साहचर्य सामर्थ्य से इस 'अप' का दूसरा साथी और कौन हो सकता है सिवाय इसके सजातीय वर्जनार्थक 'परि' शब्द के। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त सूत्र में भी वर्जनार्थ ग्रहण के बिना भी 'अप' शब्द के साहचर्य से यह 'परि' शब्द भी फिर वर्जनार्थक ही लिया जाएगा जिसकी "अपपरी वर्जने"[214] सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा है, अर्थान्तरविशेषवाची लक्षणार्थक उपसर्गसंज्ञक नहीं। अन्यत्र भी यह न्याय उद्धृत हुआ है।[215] इसीप्रकार यह साहचर्य न्याय 'अन्तरा' शब्द को लेकर भाष्यकार ने "अन्तरान्तरेण युक्ते" सूत्र पर भी उद्धृत किया है, तद्यथा–

(ग) अन्तरा शब्दः

"यद्यपि तावदयमन्तरेण शब्दो दृष्टापचारो निपातश्चानिपातश्च। अयं तु खल्वन्तराशब्दोऽदृष्टापचारो निपात एव। तस्यास्य कोऽन्यो द्वितीयः सहायो भवितुमर्हति अन्यदतो निपातात्। तद्यथा- अस्य गोर्द्वितीयेनार्थः"[216] इत्यादि।

इसका भाव है कि संस्कृत भाषा में 'अन्तरेण' शब्द का अर्थ निश्चित नहीं है। क्योंकि यह निपात भी मिलता है और निपात से भिन्न भी मिलता है। किन्तु प्रकृत सूत्र में इसके सहप्रयुक्त यह जो 'अन्तरा' शब्द है वह तो सर्वथा अव्यभिचरित रूप से निपात ही है। फलतः पूर्वोक्त लोकन्याय के आधार पर 'अन्तरा' शब्द के साहचर्यसामर्थ्य से इस 'अन्तरा' शब्द का दूसरा साथी और कौन हो सकता है सिवाय उसके सजातीय निपात के। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त सूत्र में भी निपात ग्रहण किए बिना ही 'अन्तरा'

शब्द के साहचर्य से यह 'अन्तरेण' शब्द भी फिर निपातसंज्ञक ही लिया जाएगा। परिणामतः इसी निपातसंज्ञक के योग में द्वितीया विभक्ति होगी, भिन्नार्थक 'अन्तरेण' शब्द के योग में नहीं। यह न्याय अन्यत्र भी उद्धृत हुआ है।[217] पदमञ्जरीकार 'अन्तरेण' विषयक इस साहचर्यनियम रूप न्याय को उदाहरणान्तरमूलक 'गुरुभार्गवौ' इस लोकन्यायानतर से प्रतिपादित करते हैं, तद्यथा-

25. गुरुभार्गवौ न्याय / साहचर्यात् साजात्यं लक्ष्यते न्याय

"ननु यथा नौर्नावि बद्धा नेतरेतरत्राणाय भवति तादृगतेत्, द्वयोरपि निपातत्वव्यभिचारात्। सत्यम्, साहचर्यात् साजात्यं लक्ष्यते, सजातीयविजातीयभावे सजातीयप्रत्ययो भवति, तद् यथा- गुरुभार्गवावित्युक्ते ग्रहयोरेव प्रतीतिर्भवति, न त्वाचार्यपरशुरामयोः"।[218]

इसका अर्थ है कि साहचर्य से ही किसी शब्द का निश्चित अर्थबोध होता है, जैसे 'गुरुभार्गवौ' यहां गुरु और भार्गव ये दोनों शब्द अनेकार्थक हैं। फलतः गुरु शब्द से बृहस्पति का अर्थबोध भी हो सकता है और भार्गव शब्द से परशुराम का भी। इसके अतिरिक्त गुरु शब्द से गुरुनामक एक ग्रहविशेष का और भार्गव शब्द से शुक्र नामक ग्रहविशेष का ग्रहण भी हो सकता है। किन्तु इस न्याय के आधार पर साहचर्य अर्थात् सजातीयता को बलवान् मानकर यहां दोनों बृहस्पति और शुक्र नामक ग्रह ही लिए जाते हैं। क्योंकि उन दोनों का साहचर्य ही प्रसिद्ध है और दोनों एक ही ग्रह जाति के हैं। इसी प्रकार "अन्तरान्तरेण" यहां इस सूत्र में भी 'अन्तरा' और 'अन्तरेण' इन दोनों के साहचर्य से दोनों निपात ही लिए जाते है, अन्य अर्थ वाले नहीं। इसी तरह 'त' शब्द को लेकर भी भाष्यकार "तनादिभ्यस्तथासोः" सूत्र पर प्रकृत साहचर्य नियम को उपन्यस्त करते हुए कहते हैं-

(घ) तशब्दः

"यद्यपि तावदयं तशब्दो दृष्टापचारः अस्त्यात्मनेपदमस्ति च परस्मैपदम्, अस्ति चैकवचनमस्ति च बहुवचनम्। अयं तु खलु थास् शब्दोऽदृष्टापचार आत्मनेपदमेकवचनं च। तस्यास्य कोऽन्यो द्वितीयः सहायो भवितुमर्हति अन्यदत आत्मनेपदादेकवचनाच्च। तद् यथा- अस्य गोर्द्वितीयेनार्थः"।[219] इत्यादि।

इसका भाव है कि यद्यपि व्याकरण में यह 'त' शब्द किसी निश्चितस्वरूप एवं अर्थ वाला नहीं है। क्योंकि यह आत्मनेपद का भी एक प्रत्यय है तथा परस्मैपद का भी। इसी तरह यह 'त' शब्द एकत्वार्थक भी दृष्टिगोचर होता है और बहुत्वार्थक भी। परन्तु प्रकृत सूत्र में सहपठित यह 'थास्' शब्द तो सर्वथा अव्यभिचरित या निश्चित स्वरूप वाला ही है अर्थात् यह तो आत्मनेपद का एकवचन ही है, अन्य कुछ नहीं। अतः पूर्वोक्त साहचर्य न्याय के आधार पर "सहचरितासहचरित"[220] परिभाषा का सहारा लेते हुए इस निर्विवाद 'थास्' शब्द के साहचर्य सामर्थ्य से यह 'त' शब्द भी फिर

आत्मनेपद का एकवचन ही लिया जाएगा। क्योंकि आत्मनेपद के एकवचन 'थास्' प्रत्यय का और कौन दूसरा सहायक हो सकता है सिवाय आत्मनेपद के इस एकार्थक 'त' प्रत्यय के। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त सूत्र में जो 'तथासोः' ग्रहण है, उससे आत्मनेपद के एकवचन के प्रत्यय ही लिए जाएंगे, अन्य नहीं। फलतः 'अतनिष्ट' और 'असनिष्ट' में कोई दोष नहीं होगा।

(ङ) सन् शब्द तथा वा शब्दः

इसी प्रकार पूर्वोक्त सहचरितासहचरित परिभाषा के आधार पर ही "सनाशंसभिक्ष उः"[221] सूत्र में भी 'सन्' शब्द से 'शंस्' धातु के साहचर्य से 'सन्नन्त धातु' ही लिया जाता है। इसी तरह "भूवादयो धातवः"[222] सूत्र में 'वा' शब्द के "साहचर्य"[223] से 'भू' शब्द भी असत्त्वार्थक सत्तारूप क्रियावाचक ही लिया जाता है, पृथिवी अर्थ रूप द्रव्यवाचक नहीं तथा इसके साथ ही क्रियावाचक 'भू' शब्द के साहचर्य से 'वा' शब्द भी क्रियावाचक ही लिया जाता है, विकल्पार्थक नहीं। वस्तुतः भाष्योक्त पूर्वोक्त सभी उदाहरण या दृष्टान्त "सहचरितासहचरितयोः' सहचरितस्यैव ग्रहणम्" इस लोकन्यायसिद्ध व्याकरणशास्त्रीय परिभाषा की ही पुष्टि करते हैं। इसका अर्थ है कि एक तो अपना साथी हो और दूसरा अपना साथी न हो तो वहां जो अपना साथी हो, उसका ही ग्रहण करना न्याय्य है। इस न्याय के अनेक उदाहरण लोक और शास्त्र में मिलते हैं।

साहचर्य को ही सुस्पष्ट करने के लिए कैयट उदाहरणान्तरमूलक राजामात्य तथा स्वामिदास न्यायों को प्रस्तुत करते हैं—

26. राजामात्य न्याय / स्वामिदास न्याय / यः कारयति स करोति न्याय

यथा राजामात्यो राजकार्याणि राजव्यपदेशं च लभते तथा प्रष्ठभार्यापीत्यर्थः"[224]।

यह न्याय प्रदीपकार ने "पुंयोगादाख्यायाम्" सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि जैसे राजा का मन्त्री राजा के साथ रहता हुआ राज्य के कार्यों को करता है और राजा के पीछे साहचर्यवशात् राजा की पदवी को भी प्राप्त कर लेता है इसी प्रकार प्रष्ठ नामक पुरुष की भार्या भी है जोकि उसके योग से प्रष्ठी कहलाती है। जैसे पण्डित के योग से उसकी स्त्री मूर्ख होती हुई भी पण्डितानी कहलाती है उसी प्रकार पुरुष के योग के कारण उसकी स्त्री में भी पुरुष के धर्मों का आरोप हो जाता है। अतः राजा का मन्त्री तो राजा के साथ रहने से राजा के व्यवहार को प्राप्त कर ही लेगा। यह सब साहचर्य की महिमा है।

इसी न्याय के साथ 'स्वामिदासौ पचतः' यह न्याय भी समझ लेना चाहिए। इसका अर्थ है कि स्वामी और उसका नौकर दोनों पकाते हैं - ऐसा कहने पर यद्यपि रोटी पकाने का काम तो नौकर ही करता है, स्वामी नहीं करता, फिर भी स्वामी दास या भृत्य के लिए रोटी पकाने का प्रबन्ध या सहायता तो करता ही है। इसलिए साहचर्य

के कारण स्वामी को भी रोटी पकाने वाला कह दिया जाता है। रोटी पकाने का प्रबन्ध करना भी तो रोटी पकाने के अन्तर्गत ही है। यह न्याय भी प्रदीपकार ने इसी 'पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्र के महाभाष्य में उद्धृत किया है–

"यथा स्वामिदासौ पचत इति स्वामिनः संविधातृत्वात् पक्तृत्वं दासस्य तु साक्षात् तथा स्त्रीपुंसयोः प्रस्थातृत्वमित्यर्थः"।[225]

अर्थ की दृष्टि से यह न्याय "कारयितुः कर्तृत्व न्याय" या "यः कारयति स करोति न्याय" अथवा स्वामिभृत्य न्याय की कोटि में आता है। "लड़े सिपाही नाम सरदार का" यह लौकिक उक्ति भी इसी न्याय की पोषिका है।

साहचर्य न्याय को उदाहरणान्तरमूलक लोकन्यायान्तर से प्रस्तुत करते हुए न्यासकार भी कहते हैं–

27. वराहकशूकर न्याय / पिककोकिल न्याय

"पर्यायशब्दस्य हि यत्रानेकार्थो भवति संदिग्धार्थो वा, तत्र तदर्थस्यैव व्यक्तीकरणार्थः पर्यायान्तरस्यानुप्रयोगो न विरुध्यते; यथा- मेघाद्यनेकार्थवृत्तेर्वराहकशब्दस्य प्रयोगे शूकरशब्दस्य प्रयोगः। तथा संदिग्धार्थस्य पिकशब्दस्य प्रयोगे कोकिलशब्दस्य। स्वशब्दश्चायमनेकार्थः, तत्रासत्यनुप्रयोगे किंविषयोऽयं प्रयुक्त इति सन्देहः स्यात्। अतस्तन्निरासार्थमुपपद्यते ज्ञातिशब्दस्यानुप्रयोगः"।[226]

यह न्याय न्यासकार ने "स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्" सूत्र की व्याख्या में दिया है। इसका अर्थ है कि 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' सूत्र में 'ज्ञाति' और 'धन' अर्थों को छोड़कर 'स्व' शब्द की सर्वनाम संज्ञा कही गई है। जब 'स्व' शब्द का अर्थ 'ज्ञाति' या कुटुम्बी भी है तो फिर 'स्वा ज्ञातय' इसमें 'स्व' शब्द के ग्रहण की क्या आवश्यकता है? अथवा ज्ञाति शब्द का ग्रहण व्यर्थ है। इसके समाधान के लिए न्यासकार यह उक्त न्याय देते हैं। इसका अर्थ है कि पर्यायवाची शब्दों में जहां अनेक या संदिग्ध अर्थ सम्भव होते हैं, वहां निश्चित अर्थ को व्यक्त करने के लिए उसके पर्यायवाची दूसरे शब्द का प्रयोग भी अनुचित नहीं होता, जैसे- वराहक शब्द है। वैसे तो वराह को ही 'वराहक' कहते हैं किन्तु इस 'वराह' शब्द के 'बादल' और 'सूअर' ये दो अर्थ हैं। फिर भी 'वराहक' के साथ 'शूकर' शब्द का प्रयोग कर देते हैं जिससे साहचर्य के कारण 'वराहक' अर्थात् 'बलाहक' जिसका अर्थ बादल है, वह अर्थ न समझ लिया जाए। इसी तरह 'पिक' शब्द है। उसका अर्थ कोयल है। परन्तु यहां इसका दूसरा अर्थ भी संदिग्ध है। अतः उसकी निवृत्ति के लिए साहचर्य न्याय से 'पिक' शब्द के साथ 'कोकिल' शब्द भी बोल दिया जाता है। इसी प्रकार यहां 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' सूत्र में भी 'स्व' शब्द के अनेक अर्थ हैं- आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति और धन। उनमें यहां 'स्व' शब्द का अर्थ 'ज्ञाति' ही लिया गया है, अन्य अर्थ नहीं लिए गए। उनकी निवृत्ति के लिए यहां 'स्व' शब्द के साथ 'ज्ञाति' शब्द का भी प्रयोग किया गया है, जोकि अनुचित नहीं है। संसर्ग या साहचर्य नियम पर हरदत्त भी प्रकाश डालते हैं–

28. सवत्सा / सकिशोरा/सबर्करा धेनुः न्याय

29. अवत्सा / अकिशोरा / अबर्करा धेनुः न्याय / संसर्गवद् विप्रयोगोऽपि विशेषस्मृतिहेतुः न्याय

"संसर्गवद्विप्रयोगोऽपि विशेषस्मृतिहेतुः। यथा दोग्ध्रीपर्यायो धेनुशब्दः संसर्गिभिः विशेषेऽवस्थाप्यते सवत्सा धेनुरानीयतां सकिशोरा सबर्करेति, तथाऽवत्साऽकिशोराऽबर्करेति। यस्या आनयने दृष्टः संसर्गः सैव तत्र गृहीता आनीयते, तद्वदिहापीत्यर्थः"।[227]

यह न्याय "भुजोऽनवने" सूत्र की व्याख्या में पदमञ्जरीकार ने उद्धृत किया है। वे कहते हैं कि जैसे 'अवत्सा धेनुरानीयताम्' ऐसा कहने पर बछड़ेरहित गौ ही लाई जाती है उसी प्रकार 'बछड़ेसहित धेनु लाओ - ऐसा कहने पर भी बछड़ेसहित गौ ही लायी जाएगी, भैंस आदि नहीं। क्योंकि बछड़े के साथ संसर्ग या साहचर्य सम्बन्ध गौ का ही है, अन्य भैंसादि का नहीं। भैंसादि का सम्बन्ध तो कटड़े आदि के साथ है। इसलिए जैसे बछड़े के अभाव में दूध देने वाले अर्थ के वाचक धेनु शब्द से गौ का ही ग्रहण है, वैसे ही बछड़े के संसर्ग में भी धेनु शब्द से गौ ही लायी जाएगी अर्थात् जिसका बछड़े से संयोग है उसी का वियोग भी समझा जाएगा।[228] इस तरह 'अवत्सा धेनुरानीयताम्' और 'सवत्सा धेनुरानीयताम्' इन दोनों न्यायों का आपस में गहन सम्बन्ध है। इसी तरह सकिशोरा तथा अकिशोराधेनु कहने से घोड़ी का तथा सबर्करा एवं अबर्करा धेनु कहने से अजा का ग्रहण जानना चाहिए। इसी प्रकार शास्त्र में भी "भुजोऽनवने" सूत्र से रक्षा से भिन्न अर्थ में 'भुज्' धातु से आत्मनेपद होगा, रक्षा अर्थ में नहीं। फलतः जिस 'भुज्' धातु के रक्षण और खाना ये दोनों अर्थ हैं, उसी में रक्षण अर्थ को छोड़कर खाने अर्थ में आत्मनेपद होगा, अन्य धातु से नहीं। फलतः 'भुङ्क्ते' यह 'भुज्' धातु का ही रूप है जिसका अर्थ खाना है। इसके विपरीत जो कुटिलता अर्थ में 'भुज्' धातु है, उसका यहां ग्रहण नहीं होता। क्योंकि रक्षण अर्थ के निषेध से स्पष्ट है कि वही 'भुज्' धातु यहां लेना है जिसका रक्षण और खाना ये दोनों अर्थ है। उसमें रक्षण अर्थ को छोड़कर खाने अर्थ में आत्मनेपद सिद्ध हो जाता है। यह साहचर्य न्याय अन्यत्र भी अनेक इष्टसाधन में उपयोगी रहा है।[229] प्रस्तुत न्याय के समानान्तर व्याकरणशास्त्र में 'सकिशोरा धेनुः' तथा 'सबर्कराधेनुः' न्याय भी उपलब्ध होते हैं।

साहचर्य न्याय को ही प्रकारान्तर से स्पष्ट करते हुए हरदत्त पुनः कहते हैं–

"यथैवावत्सा धेनुरानीयतामित्युक्ते सम्भवद्वत्ससम्बन्धात् गोधनुरेवानीयते, न तु महिष्यादिधेनुः, तथेहापि सम्भवादास्यविहरणस्य डुदाञ् दाने इत्यस्यैव ग्रहणम्, न तु गामादाग्रहणेष्वविशेष इति सर्वेषां दारूपाणाम्"।[230]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "आङो दोऽनास्यविहरणे" इस सूत्र की व्याख्या में

'अनास्यविहरण' को समझाते हुए दिया है। वे लिखते हैं कि जैसे 'अवत्सा धेनुरानीयताम्' ऐसा कहने पर बछड़ेरहित गौ ही लायी जाती है, क्योंकि बछड़े का संसर्ग या साहचर्य या सम्बन्ध गौ से ही है, भैंस या ऊँटनी आदि से नहीं। भैंस आदि की सन्तान को तो कटड़ा आदि कहते हैं। बछड़ा तो केवल गाय का ही होता है। वैसे ही यहां शास्त्र में भी 'आस्यविहरण' अर्थात् मुँह का खोलना यह अर्थ तो 'आङ्' पूर्वक 'दा' धातु का ही है। इसलिए उसी धातु का यहां ग्रहण है, अन्य 'दाण्' और 'देङ्' इत्यादि 'दा' रूप धातुओं का नहीं है। अतः 'आस्यविहरण' से भिन्न अर्थ में 'आङ्' पूर्वक 'दा' धातु से ही आत्मनेपद होता है, अन्य 'दाण्', 'देङ्' आदि धातुओं से नहीं होता। यह न्याय यहां के अतिरिक्त तत्त्वबोधिनी में भी मिलता है।[231] अवत्साधेनु नामक इस न्याय के समानान्तर व्याकरणशास्त्र में अकिशोराधेनुः तथा अबर्कराधेनुः न्याय भी उपलब्ध होते हैं।

30. ईश्वर सुहृद्/सधननिर्धन न्याय

साहचर्यनियम की व्यापकता को स्पष्ट करने के लिए पूर्वोक्त न्याय भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं, जैसे-

"भीष्मादीनां स्वयमकर्मकत्वेऽपि विशेष्यसम्बन्धिन्यैव विभक्त्या भाव्यम्, तदेकयोगक्षेमत्वात्। केवलानां च प्रातिपदिकानां परश्चेति नियमादप्रयोगार्हत्वात्। ततो यथेश्वरसुहृदः स्वयं निर्धना अपि तदीयधनेन तत्फलभाज एवं गुणा अपि"।[232]

"अनभिहिते" सूत्रभाष्य में पूर्वपक्ष के रूप में यह शङ्का की गई है कि 'कटं करोति भीष्ममुदारं शोभनं दर्शनीयमिति' इस वाक्य में मुख्य रूप से कट के ही कर्म होने से फिर उसी में द्वितीया विभक्ति होनी चाहिए, न कि उसके विशेषण जो भीष्म आदि शब्द है, उनमें। इसके समाधानरूप में प्रकृत न्यायों को उपन्यस्त करते हुए प्रदीपकार कहते हैं कि जैसे राजा के मित्र स्वयं राजा या धनवान् न होने पर भी राजा के साहचर्य के कारण लोक में उसके समान ही आदर को प्राप्त करते हैं वैसे ही यहां शास्त्र में भी प्रधान कट के विशेषण जो भीष्म आदि शब्द हैं, वे भी कट के समान योगक्षेम होने के कारण कर्म माने जाएंगे तथा उनमें द्वितीया विभक्ति सिद्ध हो जाएगी।

इसी बात को सधननिर्धन न्याय से समर्थित करते हुए उद्द्योतकार भी कहते हैं कि यद्यपि यहां मुख्य रूप से तो कट ही कर्म है तथापि उसके समानाधिकरण विशेषण होने के कारण भीष्म आदि शब्दों से भी द्वितीया विभक्ति उपपन्न हो जाएगी। जैसे- मुख्य धनवान् मनुष्य अपने साथी निर्धन को भी अपने धन से ही अपने समान कपड़े और अलंकार आदि से भूषित करता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी मुख्य कट कर्म अपने साथी भीष्म आदि विशेषणों को भी द्वितीया आदि विभक्तियों से युक्त कर देता है–

"यथा मैत्रीभङ्गभिया सधनो निर्धनस्य स्वधनेन स्वसमानवासोऽलङ्कारादीन् करोति एवं समानाधिकरणभङ्गमिया स्वशक्तिं तत्रारोप्य स्वसमानविभक्तिकत्वं सम्पादयतीति भावः"।[233]

इसके अतिरिक्त "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः"[234] के नियम से बिना विभक्ति के किसी भी शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए।[235] इसलिए भी कट के साथ भीष्म आदि विशेषणों से भी द्वितोया विभक्ति सिद्ध हो जाती है। आप्टे कोश के अनुसार इसे ही 'अयाचितमण्डन न्याय' कहते हैं।

31. अवयवे कृतं लिङ्गं तस्य समुदायस्य विशेषकं भवति यं समुदायं सोऽवयवो न व्यभिचरित न्याय / गोकर्णलिङ्गकरण न्याय

"पूर्वस्यात्मनेपददर्शनात् सन्नन्तादात्मनेपदभाव इति चेद् गुपादिष्वप्रसिद्धिः .. .... नैष दोषः। अनुबन्धकरणसामर्थ्याद् भविष्यति। अवयवे कृतं लिङ्गं तस्य समुदायस्य विशेषकं भवति यं समुदायं सोऽवयवो न व्यभिचरति। तद् यथा- गोः सक्थनि कर्णे वा कृतं लिङ्गं गोरेव विशेषकं भवति, न गोमण्डलस्य।"[236]

"पूर्ववत्सनः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार पूछते हैं कि 'जुगुप्सते', 'मीमांसते' यहां 'पूर्ववत्सनः" से आत्मनेपद नहीं प्राप्त होता। क्योंकि 'गुप्' और 'मान्' धातुओं का सन्नन्त ही प्रयोग होता है; केवल स्वयं का प्रयोग नहीं होता। केवल का प्रयोग न होने से 'सन्' से पूर्व आत्मनेपद का दर्शन ही नहीं है। अतः उनसे सन्नन्त में फिर आत्मनेपद कैसे होगा तो उसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'गुप्' और 'मान्' धातुओं में अनुदात्त अकार अनुबन्ध लगाया गया है। वह इत्संज्ञक अकार अनुदात्त है। इसलिए "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्"[237] से आत्मनेपद हो जाएगा। क्योंकि वह अनुदात्त अकार अनुबन्ध केवल 'गुप्' और 'मान्' धातुओं का प्रयोग न होने से अचरितार्थ है। अतः उसका उपयोग 'जुगुप्स' और 'मीमांस' इन सन्नन्तों में हो जाएगा अन्यथा अनुदात्त अकार अनुबन्ध लगाना व्यर्थ होगा। और व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नहीं। अतः व्यर्थ पड़कर यह अकार इनका आत्मनेपद ज्ञापित कर देगा।

यदि यह कहा जाए कि तब तो 'जुगुप्सते', 'मीमांसते' यहां आत्मनेपद की तरह 'जुगुप्सयति' 'मीमांसयति' यहां णिजन्त में भी आत्मनेपद हो जाना चाहिए तो उसके उत्तर में कहते हैं कि अवयव में लगाया हुआ अनुबन्धरूप लिङ्ग उसी समुदाय का विशेषक होगा या उसी समुदाय में काम आएगा जिस समुदाय को वह लिङ्ग कभी व्यभिचरित नहीं करेगा, जैसे लोक में गौ के जघनप्रदेश या कान में लगाया हुआ लिङ्ग (चिन्ह) उसी गौ का विशेषक होता हैं या उसी गौ का बोधक होता है, समस्त गोसमूह का नहीं।[238] इसी प्रकार "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" "मानबधदानशान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य"[239] इन सूत्रों से स्वार्थ में विहित 'सन्' प्रत्ययान्त 'जुगुप्स' तथा 'मीमांस' धातुओं में ही केवल गुप तथा मान में लगाया गया अनुदात्त अकार अनुबन्ध उपयुक्त होगा। 'जुगुप्सयति' 'मीमांसयति' यहां णिजन्त समुदाय में उसका उपयोग न

होकर वहां तो "णिचश्च"[240] से ही पदव्यवस्था होने से परस्मैपद हो जाता है। इसी बात को पुनः सुस्पष्ट करने के लिए "गुपितज्किद्भ्यः सन्" सूत्र भाष्य में भी भाष्यकार प्रकृत न्याय की अवतारणा करते हैं कि "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" सूत्र से विहित 'सन्' प्रत्यय परे रहते 'गुप्' आदि में लगाया हुआ अनुदात्तेत् अकार अनुबन्ध केवल 'गुप्' आदि धातुओं का प्रयोग न होने से उनमें आत्मनेपद करने के लिए चरितार्थ नहीं होगा तो इसलिए सन्नन्त बने हुए 'जुगुप्सते' 'तितिक्षते' इन प्रयोगों में "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" से आत्मनेपद करने के लिए उपयुक्त हो जाता है।

इस पर शङ्का करते हैं कि 'गुप्' आदि का अनुदात्त अकार अनुबन्ध यदि केवल 'गुप्' आदि शुद्ध धातुओं में उपयुक्त न होकर जैसे 'जुगुप्सते' इस सन्नन्त में उपयुक्त होता है फिर तो वैसे ही 'जुगुप्सयति' यहां णिजन्त में भी उपयुक्त होना चाहिए। उससे "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" सूत्र से आत्मनेपद होकर "जुगुप्सयते" ऐसा अनिष्ट रूप बनना चाहिए। इसके उत्तर में भाष्यकार पूर्वोक्त न्याय पुनः पढ़ते हैं कि अवयव में किया हुआ लिङ्ग उसी समुदाय का विशेषक होता है, जिस समुदाय को वह अवयव कभी व्यभिचरित नहीं करता। परिणामतः 'गुप्' इस अवयव में किया हुआ अनुदात्त अकार अनुबन्ध रूप लिङ्ग 'जुगुप्सते' इस सन्नन्त समुदाय का ही विशेषक होगा, उसी में उपयुक्त होगा। क्योंकि सन्नन्त समुदाय को वह अवयवकृत लिङ्ग कभी व्यभिचरित नहीं करता। 'गुप्' से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय होता है। स्वार्थ में सन्नन्त 'गुप्' धातु का ही प्रयोग होता है, केवल 'गुप्' धातु का नहीं। इसलिए केवल 'गुप्' में लगाया हुआ अनुदात्त अकार अनुबन्ध सन्नन्त समुदाय 'जुगुप्सते' में ही उपयुक्त होगा। 'जुगुप्सयति' में तो सन्नन्त के बाद 'णिच्' हुआ है। अतः 'गुप्' का अनुदात्त अकार अनुबन्ध 'णिच्' में तो व्यभिचरित हो जाता है। क्योंकि 'गुप्' आदि से स्वार्थ में 'सन्' का ही विधान है, 'णिच्' का नहीं। इसलिए वहां तो "णिचश्च" सूत्र से ही पदव्यवस्था होगी। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी अनेकत्र दर्शनीय है।[241]

32. हस्तिमशकसन्निकर्ष न्याय

परः सन्निकर्षः संहिता चेदद्रुतायामसंहितम्। परः सन्निकर्षः संहिता चेदद्रुतायां वृत्तौ संहितासंज्ञा न प्राप्नोति। द्रुतायामेव हि परः सन्निकर्षः वर्णानां, नाद्रुतायाम्। तुल्यः सन्निकर्षः। तुल्यः सन्निकर्षो वर्णानां द्रुतमध्यमविलम्बितासु वृत्तिषु। किंकृतस्तर्हि विशेषः? वर्णकालभूयस्त्वं तु। वर्णानां तु कालभूयस्त्वम्। तद्यथा- हस्तिमशकयोस्तुल्यः सन्निकर्षः। प्राणिभूयस्त्वं तु"।[242]

"परः सन्निकर्षः संहिता" सूत्रभाष्य में भाष्यवार्तिककार यह शङ्का करते हैं कि प्रकृत सूत्रानुसार द्रुतवृत्ति से भिन्न मध्यमा और विलम्बित वृत्तियों में वर्णों की संहिता संज्ञा नहीं प्राप्त होती। क्योंकि द्रुतवृत्ति में ही वर्णों का पूर्व वर्णोच्चारणानन्तर उत्कृष्ट प्रत्यासत्तिलक्षण सन्निकर्ष सम्भव हो पाता है, अन्य वृत्तियों में नहीं। इस पर

भाष्यवार्तिककार उत्तर देते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि सभी तीनों वृत्तियों में नैरन्तर्य से उच्चारण करने के कारण वर्णों का सन्निकर्ष तुल्य ही होता है। अतः सभी वृत्तियों में संहिता संज्ञा सिद्ध हो जाएगी। इस पर आगे पुनः शङ्का करते हैं कि यदि तीनों वृत्तियों मे सन्निकर्ष तुल्य ही होता तो फिर वृत्तिकृत विशेषता क्या हुई? उत्तर देते हैं कि वस्तुतः वृत्तियों के कारण **वर्णोपलब्धि में कालभेद** हो जाता है, जैसे - द्रुत वृत्ति से उच्चारित वर्ण की उपलब्धि में स्वल्पकाल, मध्यमा मे उससे अधिक काल तथा विलम्बित में अधिकतर समय लगता है। **ध्वनियां प्राकृत और वैकृत भेद से भिन्न हुआ करती हैं।** उनमें आलस्यादिजन्य वैकृत ध्वनिवशात् उस एक ही वर्ण की पुनः उपलब्धि या अविच्छेद से उपलब्धिधारा पुनः प्राप्त होती है। अतः **वैकृतध्वनिभेद से वृत्तिभेद** हो जाता है। फलतः वृत्तिविशेष के कारण उनमें **कालभूयस्त्व** तो हो जाता है। परन्तु **सन्निकर्ष** एक समान ही रहता है, उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, जैसे लोक में हाथी का हाथी के साथ तथा मच्छर का मच्छर के साथ जो सन्निकर्ष है, वह परस्पर की अपेक्षा से तुल्य ही है। यद्यपि हाथी के विशालकाय होने के कारण दो हाथी सन्निकर्ष के लिए अधिक स्थान को प्राप्त करते है तथा मच्छर अल्पकाय होने से स्वल्प स्थान को तथापि इन दोनों का जो पारस्परिक सन्निकर्ष है, वह तो अविशिष्ट या एक जैसा ही है। इसलिए प्रकृत दृष्टान्त के आधार पर ध्वनिकृत वृत्तिभेद से कालभेद होने पर भी सन्निकर्ष के तुल्य ही होने से सभी वृत्तियों में वर्णों की संहिता संज्ञा सिद्ध हो जाती है।

33. अश्वघास न्याय

"अश्वघासादयः षष्ठीसमासा भविष्यन्ति। यद्धि यदर्थं भवत्ययमपि तत्राभिसम्बन्धो भवति - अस्येदमिति। तद् यथा- गुरोरिदं गुर्वर्थमिति।"[243]

"चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः" सूत्र के भाष्य में 'अश्वाय घासः अश्वघासः' इत्यादि में चतुर्थीसमास के लिए वार्तिककार ने "अश्वघासादिनामुपसंख्यानम्" यह वचन पढ़ा है। उसका प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'अश्वघासः' इत्यादि में चतुर्थीसमास न मानकार षष्ठीतत्पुरुष समास मान लिया जाएगा अर्थात् 'अश्वाय घासः' इस विग्रह की के स्थान पर 'अश्वस्य घासः' यह षष्ठ्यन्त विग्रह करके 'अश्वघासः' इत्यादि रूप बना लिए जाएंगे। क्योंकि जो चीज जिसके लिए होती है, उसमें यह व्यवहार भी होता है कि यह उसकी है। जैसे लोक में कहते हैं कि यह गुरु जी की चीज है, गुरुजी के लिए है। जो घास अश्व के लिए है, वह अश्व के सम्बन्ध की होने से अश्व की ही है। इसलिए 'अश्वस्य घासः अश्वघासः' इस प्रकार षष्ठीसमास होने में कोई बाधा नहीं है। चतुर्थीसमास मानना अनावश्यक है।

34. विशेष्यविशेषण न्याय / शुक्लालम्भन न्याय / द्रव्यगुण न्याय

"तत्र त्वेतावान् सन्देहः-किं प्रधानं किं विशेषणमिति? स चापि क्व सन्देहः?

यत्रोभौ गुणशब्दौ, तद् यथा- खञ्जकुब्जः। कुब्जखञ्ज इति। यत्र ह्यन्यतरद् द्रव्यमन्यतरो गुणस्तत्र यद् द्रव्यं तत् प्रधानम्। तद् यथा- शुक्लमालभेत कृष्णमालभेतेति न पिष्टपिण्डीमालभ्य कृती भवति। अवश्यं तद्गुणं द्रव्यमाकाङ्क्षति। कथं तर्हीमौ द्वौ प्रधानशब्दावेकस्मिन्नर्थे युगपदवरुध्येते - वृक्षः शिंशपेति। नैतयोरावश्यकः समावेशः। न ह्यवृक्षः शिंशपास्ति।"[244]

"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार विशेषण और विशेष्य का विचार करते हुए कहते हैं कि यहां इतना ही सन्देह है कि प्रधान या विशेष्य क्या है और अप्रधान या विशेषण क्या है? वह सन्देह भी वहां है जहां दोनों गुण शब्द हैं, जैसे- 'खञ्जकुब्जः'। 'कुब्जखञ्जः' (लंगड़ा होने के साथ-साथ कुबड़ा भी और कुबड़ा होने के साथ-साथ लंगड़ा भी)। यहां एक ही व्यक्ति है जो लंगड़ा भी है और कुबड़ा भी है। लंगड़ा और कुबड़ा ये दोनों गुण शब्द हैं, विशेषण हैं। जब लंगड़े को मुख्य रूप से विवक्षित किया जाएगा तब लंगड़ा विशेष्य और कुबड़ा विशेषण रह जाएगा। तब विशेषण का पूर्वनिपात होकर 'कुब्जखञ्जः' ऐसा रूप बनेगा। और जब कुबड़े को मुख्य रूप से विवक्षित किया जाएगा तब कुबड़ा विशेष्य और लंगड़ा विशेषण होगा। उस अवस्था में विशेषण का पूर्व निपात होकर 'खञ्जकुब्जः' ऐसा रूप होगा। इस प्रकार गुण शब्दों में विशेषण-विशेष्य का सन्देह रहता है।

जहां तो निश्चित रूप से एक द्रव्य है और दूसरा गुण है वहां तो जो द्रव्य है वही प्रधान या विशेष्य होगा। द्रव्य की विद्यमानता में उसके आश्रित रहने वाला गुण कभी प्रधान नहीं बन सकता, जैसे- 'शुक्लमालभेत', 'कृष्णमालभेत', ऐसा वाक्य कहने पर शुक्ल या कृष्ण गुण वाला छाग आदि द्रव्य ही लिया जाएगा और प्रधान होने से उसी का आलम्भन होगा। केवल पिष्टपिण्डी (आटे की पिण्डी) या शुक्ल-कृष्ण गुणमात्र का आलम्भन करके यज्ञकर्ता पुरुष कृतकार्य नहीं हो सकता। उसे तद्गुणविशिष्ट गुणोपसर्जन द्रव्य के आलम्भन से ही कृतकार्यता होगी। वह गुणविशिष्ट द्रव्य की ही आकाङ्क्षा करेगा। तदनुसार 'वृक्षः शिंशपाः' यहां भी वृक्ष सामान्य होने से विशेष्य है और शिंशपा विशेष होने से वृक्ष का विशेषण है। इसलिए समास में 'शिंशपावृक्षः' ही बनेगा, 'वृक्षशिंशपा' नहीं बन सकता'। यद्यपि ये दोनों अलग-अलग प्रधान शब्द हैं। परन्तु एक साथ बोले जाने पर शिंशपा शब्द वृक्ष का विशेषण ही रहता है, विशेष्य नहीं। यह आवश्यक नहीं है कि शिंशपा शब्द के साथ वृक्ष शब्द का प्रयोग आवश्यक ही हो। शिंशपा तो वृक्ष ही है, वृक्षभिन्न शिंशपा नहीं है - इसलिए वृक्ष शब्द के प्रयोग के बिना भी शिंशपा शब्द से वृक्ष ही समझा जाएगा। यदि स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए वृक्ष शब्द का प्रयोग किया भी जाता है तो भी वहां वृक्ष ही विशेष्य है, शिंशपा उसका विशेषण है। इसलिए पूर्वनिपात की अव्यवस्था नहीं होगी। यह न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[245]

प्रसङ्गवश यहां जाति और गुणशब्दों में विद्यमान अन्तर पर भी प्रकाश डालते हुए प्रदीपकार कहते हैं कि जाति और गुण ये दोनों एक नहीं है। क्योंकि जाति तो अपने द्रव्य की उत्पत्ति से लेकर उसके विनाश तक द्रव्य को सर्वथा नहीं छोड़ती। शब्द के द्वारा जाति के द्रव्य का व्यतिरेक अर्थात् द्रव्यरहित केवल जाति कदापि बोधित नहीं करायी जाती। फलतः 'शाबलेयस्य गौः' यह प्रयोग नहीं होता अपितु 'गौः शाबलेयः' यही प्रयुक्त होता है। इस तरह शब्द से जातियुक्त या जात्यात्मक द्रव्य ही प्रतीत होता है, तद्रहित नहीं जबकि गुण द्रव्य में स्थायी धर्म न होकर अपायी और अनपायी अर्थात् कभी उसमें रहने वाले (अनपायी) और कभी उसमें न रहने वाले (अपायी) होते हैं। इसीलिए वे द्रव्य से व्यतिरिक्त या केवल स्वशब्द से ही अलग भी प्रतीत या उपलब्ध हो जाते हैं, जैसे - 'पटस्य शुक्लः'। फलतः द्रव्य का जात्यात्मक होना तो स्वाभाविक या निरुपाधि है परन्तु उसका गुणात्मक होना सर्वथा ऐकान्तिक नहीं है।

35. इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिर्भवति न्याय / सर्वं चेतनावत् न्याय / अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारो दृश्यते न्याय

"तुल्यं हि कारणं चेतनावति देवदत्ते कुले चाचेतने। किं कारणम्? इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिः। इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिर्भवति। योऽप्यसौ कटं चिकीर्षुर्भवति नासावाघोषयति -कटं करिष्यामीति। किन्तर्हि? सन्नद्धं रज्जुकीलकपूलपाणिं दृष्ट्वा तत इच्छा गम्यते। कूलस्यापि पिपतिषतो लोष्टाः शीर्यन्ते, भिदोपजायते, देशाद् देशान्तरमुपसंक्रामति। श्वानः खल्वपि मुर्मूषव एकान्तशीलाः शूनाक्षाश्च भवन्ति।

सर्वस्य वा चेतनावत्वात्। अथवा सर्वं चेतनावत्। एवं ह्याह- कंसकाः सर्पन्ति। शिरीषोऽधः स्वपिति। सुवर्चला आदित्यमनुपर्येति। आस्कन्द कपिलकेत्युक्ते तृणमास्कन्दति। अयस्कान्तमयः संक्रामति। ऋषिः पठति - शृणोत ग्रावाण इति"।[246]

"धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" सूत्र के भाष्य में "आशङ्काया-मचेतनेषूपसंख्यानम्" इस वार्तिक का खण्डन करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'देवदत्तश्चिकीर्षति' 'कूलं पिपतिषति' यहां चेतन देवदत्त में और अचेतन कूल (किनारे) में 'सन्' प्रत्यय होने का तुल्य कारण है। पूछते हैं कि वह क्या कारण है? उत्तर है- इच्छा। और इस इच्छा की उपलब्धि प्रवृत्ति से होती है। जो देवदत्त कट करना या बनाना चाहता है, वह जोर-जोर से बोलकर यह नहीं कहता कि मैं कट करूँगा। किन्तु कट करने के लिए तैयार हुए रस्सी, कील, फूंस आदि की पुलियां हाथ में लिए हुए देवदत्त को देखकर लोगों के द्वारा उसकी इच्छा जान ली जाती है। इसी प्रकार अचेतन किनारा भी जब गिरने को होता है तो उसके लोष्ट (डले) बिखर जाते है, बीच में तोड़ (दरार) आ जाती है और वह एक स्थान से खिसककर दूसरे स्थान में चला जाता है अर्थात् किनारे का वह पहले वाला स्वरूप नहीं रहता। इसी तरह कुत्ते भी जब मरने को होते हैं तो एकान्त में बैठ जाते हैं और उनकी आंखें सूज जाती हैं। इस तरह इन सब प्रवृत्तियों से उनके मरने की इच्छा जानी जाती है।

अथवा सभी पदार्थ चेतना वाले प्रतीत होते हैं। ऐसा कहते हैं कि कंस की मूर्तियाँ हिल रही हैं। शिरीष (सिरस) का वृक्ष नीचे सो रहा है अर्थात् जब सायंकाल होता है तो उसके पत्ते म्लान हो जाते हैं और फूल सिकुड़ जाते हैं तब वह सोता है - ऐसा व्यवहार लोक में होता है। इसी प्रकार सूर्यमुखी पुष्प सूर्य का अनुसरण करता है अर्थात् जिधर सूर्य हो जाता है उधर ही उसका मुख भी हो जाता है। इसी प्रकार हे कपिलक! (पीले पत्ते) तुम हिलो - ऐसा कहने पर लोक में देखते हैं कि तिनका हिलने लगता है। इसी तरह चुम्बक पत्थर लोहे को खींच लेता है। वेद भगवान् भी मन्त्र में कहते हैं - "शृणोत ग्रावाणः"[247] अर्थात् हे पत्थरो! तुम सुनो! इन सब लोक व्यवहारों के आधार पर पूर्वोक्त वार्तिक के उदाहरणों 'कूलं पिपतिषति' और 'श्वा मुमूर्षति' में भी "धातोः कर्मणः" सूत्र से ही 'सन्' प्रत्यय सिद्ध हो जाएगा तो "आशङ्कायाम्" इस उक्त उपसंख्यान वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार "दामहायनान्ताच्च" सूत्र के भाष्य में भी भाष्यकार ने प्रकृत न्याय का प्रयोग किया है, तद्यथा-

"ननु च चेतनावत एतद् भवति उत्क्रमणं वापक्रमणं वा। दाम चाचेतनम्। अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारो दृश्यते। तद् यथा- स्रस्तान्यस्या बन्धनानि स्रस्यन्तेऽस्या बन्धनानि इति"।[248]

इसका अर्थ है कि 'उद्दामा बडवा' यहां 'उत्क्रान्तं दाम यस्याः' (जिसकी रस्सी उखड़ गई है) इस बहुव्रीहि समास वाले विग्रह में दाम (रस्सी) जो अचेतन है, वह उत्क्रमण क्रिया कैसे कर सकती है? अर्थात् चेतना वाला ही उत्क्रमण या अपक्रमण क्रिया कर सकता है जबकि दाम (रस्सी) तो अचेतन है। अतः वह कैसे उत्क्रान्त हो सकती है? इस प्रकार आक्षेप करके अब इसका उत्तर देते हैं कि अचेतनों में भी चेतन के समान व्यवहार देखे जाते हैं, जैसे- इसके (घोड़े या गाय के) बन्धन ढीले हो गए हैं, सरक गए हैं। इसके बन्धन सरक रहे हैं, ढीले हो रहे हैं। इसलिए 'उत्क्रान्तं दाम यस्याः' इस बहुव्रीहि वाले विग्रह में भी कोई दोष नहीं आता। इसी प्रकार "अभिनिष्क्रामति द्वारम्" सूत्र के भाष्य में भी इस न्याय के आधार पर भाष्यकार यह शङ्का करते हैं कि द्वारा तो अचेतन है। अतः वह अभिनिष्क्रमण क्रिया कैसे कर सकता है तो उसके समाधान के लिए कहते हैं–

"अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारो दृश्यते। तद् यथा- अयमस्य कोणोऽभिनिःसृतः। अपमभिप्रविष्ट इति"।[249]

अर्थात् अचेतनों में भी चेतन के समान व्यवहार हो जाता है, जैसे लोक में इस मकान का यह कोना बाहर निकला हुआ है, यह अन्दर घुसा हुआ है- ऐसे प्रयोग होते हैं। इसलिए "अभिनिष्क्रामति द्वारम्" यह प्रयोग भी ठीक ही है। यह न्याय अन्यत्र भी मिलता है।[250]

36. एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति न्याय

"लिट्परार्थ तर्हि कृञोऽनुप्रयोगवचनं क्रियते ..... एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति। तद् यथा- गोषु स्वामी अश्वेषु चेति। न हि भवति गोषु चाश्वानां च स्वामीति।"[251]

"कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" सूत्र के भाष्य में लोकन्यायसिद्ध यह परिभाषा[252] उद्धृत है। इसका अर्थ है कि एक आकृति से जो प्रयोग किया गया है, वह उसी आकृति से युक्त रहना चाहिए। उससे भिन्न दूसरी या तीसरी आकृति का प्रयोग उसमें नहीं होना चाहिए। क्योंकि उससे विवक्षित अर्थ के समझने में सरलता होती है, जैसे- 'गोषु स्वामी अश्वेषु च स्वामी' - यहां 'स्वामी' शब्द के योग में यद्यपि "स्वामीश्वराधिपति-दायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च"[253] सूत्र से षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का विकल्प से विधान होता है। अब उसमें वक्ता की इच्छा है कि वह चाहे षष्ठी का प्रयोग करे या सप्तमी का अर्थात् वक्ता एक जगह षष्ठी का प्रयोग भी कर सकता है या 'गोषु स्वामी' के साथ-साथ वह 'अश्वानां च स्वामी' भी कह सकता है। किन्तु अच्छा यही रहेगा और न्याययुक्त सुन्दर भी यही लगेगा कि जब 'गोषु' में सप्तमी का प्रयोग किया गया है तो उसी आकृति का प्रयोग 'अश्व' में भी करे अर्थात् 'गोषु स्वामी' के साथ 'अश्वेषु च स्वामी' ही कहे। भाव यह है कि यद्यपि 'गोषु' के साथ 'अश्वानाम्' कहना भी विधिशास्त्रविहित है। फिर भी वह वाक्यसौन्दर्य की दृष्टि से रुचिकर नहीं लगता है और प्रक्रान्त सप्तमी विभक्ति का परित्याग करने से साहित्यिक भग्नप्रक्रम दोषयुक्त भी है। यदि षष्ठी से प्रक्रान्त किया जाता है तो उसे षष्ठी से ही युक्त रखना चाहिए, सप्तमी से नहीं। तदनुसार 'गवां स्वामी' कहते हुए 'अश्वानां च स्वामी' कहना चाहिए। उसमें एकरूपता रहती है। अर्थ समझने में कठिनाई भी नहीं होती।

इसी प्रकार यदि सप्तमी से प्रक्रान्त किया जाता है तो उसे सप्तमी से ही युक्त रखना चाहिए, षष्ठी से नहीं। तदनुसार 'गोषु स्वामी' कहते हुए 'अश्वेषु च स्वामी' ही कहना चाहिए, यह नहीं कि 'गोषु स्वामी अश्वानां च स्वामी' या 'गवां स्वामी अश्वेषु च स्वामी'। इस प्रकार भिन्न आकृतियों से प्रयोग करने पर अर्थ स्पष्ट नहीं होता।

प्रकृत में "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" सूत्र में जब आमन्त से परे 'कृ', 'भू', 'अस्' इन तीन धातुओं का अनुप्रयोग कहा गया है तो वह लिट्परक ही होगा। क्योंकि 'आम्' प्रत्यय लिट् परे होने पर ही होता है। अतः उसके बाद प्रयुक्त होने वाले 'कृ', 'भू', 'अस्' भी उक्त न्याय से लिट्परक ही होगें। लिट् की आकृति का प्रयोग किया हुआ अनुप्रयुज्यमान 'कृ', 'भू', 'अस्' में भी लिट् की आकृति के प्रयोग के कारण सुन्दर तथा न्याय्य रहेगा। ऐसी स्थिति में सूत्र में 'लिट्' ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती। लट् आदि की आकृति लिट् से अन्य है। अतः उनकी व्यावृत्ति इस न्याय से स्वतः ही हो जाएगी। इस विषय में प्रदीपकार लिखते हैं–

"वेदलोकप्रसिद्धोऽयं न्यायः। तथाहि- खादिरे बध्नाति, पालाशे बध्नाति इत्यादौ विकल्पितेषु साधनेषु येनैव साधनेनोपक्रान्ता क्रिया तेनैव निर्वाह्यते .... लोकेऽपि यदा स्वस्वामिभावप्रतिपादनाय गवां स्वामीति षष्ठ्युपक्रम्यते तथा अश्वानां चेत्यत्रापि तत्प्रतिपादनाय सैव निर्वाह्यते ...... तस्माद योऽर्थो यया शब्दाकृत्या प्रतिपादयितुमुपक्रान्तस्तयैवासौ निर्वाह्यो न त्वन्यथा शब्दाकृत्येत्यर्थः। एवं हि प्रतिपत्तिलाघवं भवति।"[254]

अर्थात् 'खादिरे बध्नाति', 'पालाशे बध्नाति'[255] यहां वैदिक प्रयोगों में खादिर और पालाश ये दोनों भिन्न-भिन्न आकृति हैं। इनके प्रयोग में परस्पर सांकर्य नहीं होता। लोक में तो इसके अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। छोटे बच्चों के साथ छोटे बच्चे ही अच्छे लगते हैं और बड़ों के साथ बड़े।[256] साहित्यिक दृष्टि से भी "उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च"[257] यहां दूसरा 'ताम्र' शब्द ही रस का पोषक है, रक्तादि नहीं। किन्तु पदमञ्जरीकार हरदत्त तो "एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगः" इस पूर्वोक्त न्याय को लोक और वेद में उभयत्र व्यभिचरित बताते हैं। तदनुसार लोक में महाकवि माघ के द्वारा जैसे- 'सस्नुः' (उन्होंने स्नान किया), 'पयः पपुः' (उन्होंने जल पीया), 'अनेनिजुः' (उन्होंने कपड़े धोए) यहां 'सस्नुः', 'पपुः' इस लिट् लकार के प्रक्रम में 'अनेनिजुः' यह लङ् लकार का प्रयोग करने से प्रक्रमभङ्ग हो गया है।[258] इससे उक्त न्याय का व्यभिचार स्पष्ट है। क्योंकि जिस आकृति से आरम्भ किया था उसी एक आकृति से समाप्त नहीं किया। इसी प्रकार वेद में व्यभिचार, जैसे अश्वमेधयज्ञप्रकरण के मन्त्रों में "एण्यह्नः"[259], "पुरुषमृगश्चन्द्रमसः"[260], "अन्यवापोऽर्धमासानाम्"[261], "वर्षाहूर्ऋतूनाम्"[262] इत्यादि षष्ठीविभक्त्यन्त शब्दों के प्रकरण में "क्षिप्रश्येनाय वर्तिका"[263], "ह्रियै शल्यकः"[264], "मृत्यवेऽसितः"[265], "कामाय पिकः"[266] इत्यादि चतुर्थी विभक्त्यन्त शब्दों के प्रयोग से प्रक्रम भङ्ग हुआ है। क्योंकि या तो सब चतुर्थ्यन्त ही रखने थे या फिर ये सब ष्ठ्यन्त ही।[267] सम्भवतः इसी स्खलन या स्वच्छन्दता को शास्त्रानुमोदित करने के लिए आचार्य पाणिनि को "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि"[268] कहना पड़ा। ऐसी स्थिति में हरदत्त के अनुसार तो उक्त परिभाषा के व्यभिचरित होने से षष्ठी और सप्तमी विभक्तिरूप भिन्न-भिन्न आकृतियों के प्रयोग भी साधु ही हैं। यह न्याय शास्त्र में अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[269]

37. अव्यविक (अविरविक) न्याय

"द्वयोः शब्दयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहोऽपरस्मादुत्पत्तिर्भविष्यत्यव्यविकन्यायेन। तद् यथा- अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति-आविकम् इति। एवं पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः इति विगृह्य पञ्चकपाल इति भविष्यति। पञ्चकपाल्यां संस्कृतः इति विगृह्य वाक्यमेव। इहास्माभिस्त्रैशब्द्यं साध्यम्-पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः, पञ्चकपाल्यां संस्कृतः, पञ्चकपाल इति। तच्चैवं सति सिद्धं भवति।"[270]

"द्विगोर्लुगनपत्ये" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार 'पञ्चकपाल्यां संस्कृतः' इस विग्रह में भी 'पञ्चकपालः' यही रूप बनेगा, जैसे- 'पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः' इस विग्रह में बनता है - इसको सिद्ध करने के लिए प्रकृत अव्यविक न्याय (अविरविक) का उपन्यास करते हैं। ये कहते हैं कि दो शब्द जब समानार्थक हों तो उनमें एक से विग्रह वाक्य रह जाएगा और दूसरे से तद्धित प्रत्यय होकर वृत्ति बन जाएगी, जैसे "अवेर्मांसम्" इस विग्रह में तथा 'अविकस्य मांसम्' इस विग्रह में "अवेः कः"[271] से स्वार्थिक 'क' प्रत्ययान्त 'अविक' शब्द से शैषिक 'अण्' प्रत्यय होकर 'आविकम्' यह रूप बनता है, 'अवि' से 'अण्' होकर 'आवम्' यह रूप नहीं बनता। क्योंकि 'अवि' और 'अविक' ये दोनों समानार्थक हैं। इसलिए समानार्थक एक 'अविक' शब्द से 'अण्' होकर 'आविकम्' यह इष्ट रूप बन जाता है और दूसरे 'अवि' शब्द से केवल 'अवेर्मांसम्' यह विग्रह वाक्य ही रह जाएगा। इस प्रकार 'अवेर्मांसम्', 'अविकस्य मांसम्' और 'आविकम्' ये तीन अभीष्ट रूप बनते हैं। चौथा 'आवम्' यह रूप नहीं बनता। यही अव्यविक या अविरविक न्याय है। इस न्याय के अनुसार 'पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः', 'पञ्चकपाल्यां संस्कृतः' इस विग्रह में 'अण्' प्रत्यय नहीं होता। केवल 'पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः' इस विग्रह में ही "संस्कृतं भक्षाः"[272] से 'अण्' प्रत्यय होता है और फिर उसका "द्विगोर्लुगनपत्ये" से लुक् हो जाता है।

यह न्याय बहुत स्थलों में लगता है। उदाहरणार्थ जैसे- "खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च"[273] सूत्र से 'ब्रह्मन्' शब्द से प्राक्क्रीतीय 'यत्' प्रत्यय होता है, 'ब्राह्मण' शब्द से नहीं। यद्यपि 'ब्रह्मन्' और 'ब्राह्मण' ये दोनों शब्द समानार्थक हैं तथापि उनमें 'ब्रह्मन्' शब्द से तो 'ब्रह्मणे हितं ब्रह्मण्यम्' यह रूप बन जाता है और 'ब्राह्मण' शब्द से 'ब्राह्मणाय हितम्' यह वाक्य ही रह जाता है। इस प्रकार 'ब्रह्मणे हितम्', 'ब्राह्मणाय हितम्' तथा 'ब्रह्मण्यम्' ये तीन अभीष्ट रूप इसी न्याय के आधार पर बनते हैं। इसी तरह प्रकृत सूत्रस्थ समानार्थक 'वृष' और 'वृषन्' शब्दों के 'वृषाय हितम्', 'वृष्णे हितम्' तथा 'वृष्यम्' इन तीनों रूपों की सिद्धि में उपकारक 'यत्' प्रत्यय की व्यवस्था के लिए भी उक्त न्याय का उपन्यास हुआ है। इसी प्रकार "क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक्"[274] सूत्र के भाष्य में भी 'उक्थान्यधीते', 'औक्थिकमधीते' और 'औक्थिकः' इन तीनों रूपों की सिद्धि के लिए भाष्यकार ने प्रकृत न्याय उपन्यस्त किया है। इस न्याय को मानने पर फिर "तस्येदं प्रत्ययाल्लुक्"[275] इस वार्तिक की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

इस न्याय का एक निदर्शन और द्रष्टव्य है। तदनुसार "रैवतिकादिभ्यश्छः" सूत्र के भाष्य[276] में "कौपिञ्जलहस्तिपदादण्" और "आथर्वणिकस्येकलोपश्च" ये दो वार्तिक पढ़े गए हैं। किन्हीं पुस्तकों में ये अष्टाध्यायी सूत्रपाठ में पढ़े गए हैं।[277] वस्तुतः ये दोनों वार्तिक हैं। यहां भी 'अथर्वाणमधीते', 'आथर्वणमधीते' और 'आथर्वणिकः' इन

तीन रूपों की सिद्धि के लिए भाष्यकार ने इस अव्यविकन्याय का आश्रयण किया है। यहां पर भाष्यकार ने एक विशेष बात यह कही है कि 'आथर्वण' और 'आथर्वणिक' की सिद्धि के लिए चार स्थानों में 'अथर्वन्' शब्द का ग्रहण किया हुआ है। दो तो "वसन्तादिभ्यष्ठक्"[278] सूत्र के वसन्तादिगण में 'अथर्वन्' और 'आथर्वण' शब्दों के रूप में पढ़े हैं। तीसरा "दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिक"[279] इत्यादि सूत्र में 'आथर्वणिक' शब्द प्रकृतिभावविधानार्थ पढ़ा गया है और चौथा "आथर्वणिकस्येकलोपश्च"[280] इस वार्तिक में इक लोप के लिए पढ़ा गया है। इनमें कम से कम दो 'अथर्वन्' शब्द हटाए जा सकते हैं। पूछते हैं कि कैसे तो उत्तर है कि 'वसिष्ठेन प्रोक्तोऽनुवाकः वसिष्ठः' तथा 'विश्वामित्रेण प्रोक्तोऽनुवाकः विश्वामित्रः' इनकी सिद्धि के लिए "तेन प्रोक्तम्"[281] के अधिकार में "प्रकृत्यर्षिभ्यो लुग् वक्तव्यः" इस वचन द्वारा 'अण्' का लुक् कहकर "अथर्वणो वा" ऐसा कहेंगे। उससे 'अथर्वणा प्रोक्तोऽनुवाकः अथर्वा' और 'आथर्वणः' ये दो रूप बन जाएंगे - 'अण्' के लुक् पक्ष में 'अथर्वा' और 'अण्' में 'आथर्वणः'। वसन्तादिगण में केवल 'आथर्वण' शब्द रखेंगे, 'अथर्वन्' नहीं। उससे "दाण्डिनायन" सूत्र में पठित या "आथर्वणिकस्येकलोपश्च" में पठित 'आथर्वणिक' शब्द के ग्रहण की आवश्यकता नहीं होगी। क्योंकि वसन्तादिगण में पठित 'आथर्वण' शब्द से ही "तदधीते तद्वेद"[282] अर्थ में 'ठक्' होकर 'आथर्वणिकः' रूप बन जाएगा। 'अथर्वणा प्रोक्तः आथर्वणः' यह रूप "अथर्वणो वा" से बन जाएगा। यदि यह कहा जाए कि "आथर्वणिकस्येकलोपश्च" के अभाव में 'आथर्वणिकानां धर्मः आम्नायो वा आथर्वणः' यह कैसे बनेगा तो उसका उत्तर है कि जो 'अथर्वणा प्रोक्तः आथर्वणः' रूप है वही तो आथर्वणिकों का आम्नाय है या धर्म है। अथर्वऋषिप्रोक्त आथर्वणशास्त्र से भिन्न आथर्वणिकों का क्या आम्नाय या धर्म हो सकता है, कुछ भी नहीं। इसलिए इकलोप के बिना भी 'आथर्वणः' बन जाएगा। और वसन्तादिगण में पठित 'आथर्वण' शब्द से 'ठक्' होकर "यस्येति च"[283] से अकारलोप द्वारा 'आथर्वणिक' भी बन जाएगा। भाष्यकार की यह कल्पना उत्तम है किन्तु इसमें भी "अथर्वणो वा" यह वचनविशेष तो अवश्य बनाना ही होगा।

यह न्याय शास्त्रीय होता हुआ भी लोकोपकारक है। इससे अनेक लौकिक प्रयोगों की सिद्धि होती है। इसलिए इसे भी लोकन्यायों में सम्मिलित कर लिया गया है। इस न्याय का आश्रयण करके प्रकृत..... "द्विगोर्लुगनपत्ये" सूत्र में ... "अर्थविशेषाऽसम्प्रत्ययेऽत- न्निमित्तादपि"[284] इस वार्तिक की आवश्यकता नहीं रहती। आचार्यों ने इस न्याय का प्रयोग प्रायः किसी शब्द से साधारण अवस्था में तीन या अनेक रूप सिद्ध न होने पर उसके समानार्थक शब्दान्तर से उसे सिद्ध करते हुए किया है, जैसे- परमात्मा शब्द है। यहां ध्यातव्य है कि उक्त समास में यद्यपि विग्रह तो 'परश्चासौ आत्मा च' ऐसा किया जाता है। किन्तु आत्मा शब्द का समास 'परम' शब्द के साथ करते हैं।[285] इसकी सिद्धि उक्त अविरविक न्याय से ही होती है। क्योंकि 'पर' और 'परम' दोनों समानार्थक हैं। किन्तु ध्यान रहे कि कुछ दार्शनिकों ने वैयाकरणों के प्रयोगों पर भी आपत्ति की है। इस दृष्टि से इस न्याय की हम "अश्वारूढाः चाश्वान् विस्मरेयुः सचेतनाः" से तुलना कर सकते हैं।[286] न्यायमञ्जरी की व्याख्या तथा तन्त्रवार्तिक[287] आदि में भी इसका प्रयोग हुआ है। इस न्याय का प्रयोग क्षेत्र पर्याप्त विशाल है।[288]

38. निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति न्याय

"आदेशे सर्वादेशप्रसङ्गः, आदेशे हि सति सर्वादेशः प्रसज्येत। सर्वस्य द्विपाच्छब्दस्य त्रिपाच्छब्दस्य च पच्छब्द आदेश प्रसज्येत, येन विधिस्तदन्तस्येति। तर्हि वक्तव्यम्? न वा निर्दिश्यमानस्यादेशत्वात्। न वा वक्तव्यम्। किं कारणम्? निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीत्येषा परिभाषा कर्तव्या"।[289]

"पादः पत्" सूत्रभाष्य में भाष्यकार शङ्का करते हैं कि यदि प्रकृत सूत्र से पदादेश मानते हैं तो वह आदेश फिर अनेकाल् होने के कारण "तदन्तविधिः"[290] सूत्र के नियम से द्विपात् और त्रिपात् इस पादशब्दान्त को प्राप्त होता है। इस पर आगे पूछते हैं कि तो फिर क्या इस अनिष्ट को रोकने के लिए कोई विशेष वचन पढ़ें? उत्तर देते हैं कि ऐसा पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हमारे पास "निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति"[291] यह लोकन्यायसिद्ध परिभाषा है। इसका अर्थ है कि जैसे लोक में गाय के दूध के स्थान पर भैंस का दूध भी प्रयोग कर सकते हैं - ऐसा कहने पर पवित्रता की दृष्टि से तुल्यता होने के कारण केवल गोदुग्ध के स्थान पर ही भैंस का दूध प्रयुक्त होता है, घर को लीपने आदि अन्य कार्यों के लिए गाय के गोबर या गोमूत्र के स्थान पर नहीं। क्योंकि भैंस का गोबर या मूत्र पवित्र नहीं माना जाता। अतः वह गोमूत्र का स्थानापन्न नहीं हो सकता। फलतः गांवों में आज भी घरों में गाय के गोबर से ही लीपने की परम्परा है, भैंस के गोबर से नहीं। वैसे ही यहां शास्त्र में भी सूत्र में जिसका निर्देश है, उसी को आदेश होता है, अन्य शब्द या तदन्त आदि को नहीं। फलतः "पादः पत्" सूत्र से पाद शब्द के स्थान में होने वाला पदादेश भी केवल पाद् शब्द के स्थान में ही होगा, सारे 'पाद्शब्दान्त' शब्द के स्थान में नहीं। क्योंकि सूत्र में स्थानिरूपेण उसी का निर्देश है।

39. अजागलस्तन न्याय

"अथेति विचारो निष्प्रयोजन इत्याहुः। विग्रहद्वयेऽप्यर्थाभेदाद् रूपसिद्धौ च विकल्पस्यैव समर्थनान् नित्यणत्वोपन्यासस्याजगलस्तनतुल्यत्वात्"।[292]

"कुमति च" सूत्रभाष्य में भाष्यकार ने शङ्का की है कि 'माषकुम्भवापेण' इत्यादि में प्रकृत सूत्र से नित्य णत्व होगा या विकल्प से? समाधान के रूप में फिर स्वयं भाष्यकार कहते हैं कि जब उक्त उदाहरणों में 'कुम्भस्य वापः इति कुम्भवापः, माषाणां कुम्भवापो माषकुम्भवापः' इस प्रकार विग्रहवाक्य विवक्षित होगा तो नित्य णत्व होगा

और जब इसके विपरीत 'माषाणां कुम्भः इति माषकुम्भः माषकुम्भस्य वापो माषकुम्भवापः' इस प्रकार विग्रहवाक्य इष्ट होगा तो विभाषित णत्व होगा।

इस पर प्रदीपकार कहते हैं कि कुछ व्याख्याकारों के अनुसार वस्तुतः उक्त विचार निष्प्रयोजन ही हैं। क्योंकि पूर्वोक्त दोनों प्रकार के विग्रहों में भी अर्थ तो अभिन्न ही रहता है और वही मुख्य भी होता है।[293] इस तरह अर्थ में अभेद होने से रूपद्वय की सिद्धि में वैकल्पिक णत्व का ही समर्थन संकेतित होने के कारण फिर उक्त नित्य णत्व उपन्यस्त करने की बात अजागलस्तन के समान निष्प्रयोजन या व्यर्थ है। भाव यह है कि जैसे बकरी की पूंछ आदि तो गुह्यगोपन तथा दंशनिवारण आदि में उपयोगी है परन्तु उसके गले में उत्पन्न स्तन दूध देने में प्रयोजक न होने से व्यर्थ होता है।[294] क्योंकि दूध तो यथास्थान उत्पन्न स्तन ही दे सकते हैं वैसे ही यहां शास्त्र में भी विग्रह भेद से भी अर्थ अभिन्न ही रहने पर फिर उक्त नित्य और वैकल्पिक णत्व की बात भी व्यर्थ ही जाननी चाहिए। वस्तुतः यहां विग्रह की अपेक्षा रूपद्वय की सिद्धि ही प्रमुख है और वह अर्थ को कोई हानि न पहुंचाते हुए हो ही रही है। इसलिए उक्त नित्य एवं विभाषित णत्वविषयक विचारणा काकदन्तपरीक्षा न्याय से व्यर्थ है।

40. उष्ट्रमुखः न्याय

"एवं तर्ह्युत्तरपदलोपी समासो द्रष्टव्यः, उष्ट्रमुखवत्। गम्यमानार्थत्वाच्च प्रयोग एव लोपः....... उष्ट्र इव मुखमस्येति मुखेनैव मुखस्य सादृश्यं प्रसिद्धं न कृत्स्नेनोष्ट्रेणेति सामर्थ्यादयमर्थो भवति - उष्ट्रमुखमिव मुखमस्येति। एवमिहापि वर्णः कालो न भवतीति सामर्थ्यात् .... तत्कालसम्बन्धिनी क्रिया परिच्छेदिका अस्येत्यर्थः"।[295]

यहाँ पर पदमञ्जरीकार ने 'उष्ट्रमुखः' यह उदाहरण देते हुए "तपरस्तत्कालस्य" सूत्रस्थ 'तत्काल' ग्रहण "तत्कालकालस्य" ऐसा होना चाहिए, यह कहा है। किन्तु फिर स्वयं ही समाधान देते हैं कि यहां 'उष्ट्रमुखः' न्याय से एक 'काल' शब्द का लोप कर दिया गया जानना चाहिए, जैसे- 'उष्ट्रमुखः' शब्द में 'ऊँट के मुख के समान मुख वाला' यहां पर एक मुख शब्द का लोप हो जाता है। अथवा दूसरे मुख शब्द का अप्रयोग ही उसका लोप है। कहने के लिए तो सब लोग कह देते हैं कि ऊँट के समान मुख वाला जबकि सब जानते हैं कि ऊँट के समान किसी का मुख नहीं हो सकता। हाँ 'ऊँट के समान मुख वाला' इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए 'ऊँट के मुख के समान मुख वाला' ऐसा न कहकर 'ऊँट के समान मुख वाला' ऐसा कह देते हैं। यहां दूसरे मुख शब्द का प्रयोग नहीं करते। इसी प्रकार "तपरस्तत्कालकालस्य" इस सूत्र में भी एक 'काल' शब्द का लोप करके 'तत्कालस्य' ऐसा सूत्र बनाया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि उस वर्ण के काल के समान काल है जिसका ऐसा 'तपर' शब्द तत्काल का ग्राहक होता है। 'उष्ट्रमुखः' न्याय शास्त्रों में बहुत प्रसिद्ध है। सम्भवतः वाक्यसौन्दर्य के कारण 'उष्ट्रमुखमुखः' ऐसा न कहकर समाक्षरलोप न्याय

से केवल एक मुख वाला 'उष्ट्रमुखः' ऐसा प्रयोग कर देते हैं। यहां एक मुख का लोप कर देते हैं अथवा उसका प्रयोग ही नहीं करते। भाष्यकार पतञ्जलि ने भी उष्ट्रमुख न्याय को कई जगह दिया है[296] जिससे बहुत से इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

41. वन्यगजशौच न्याय / कुञ्जर(गज)स्नान न्याय

"कथं तर्हि उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ इति परस्मैपदम्? किमनेन वन्यगजशौचेन"।[297]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "उपसर्गस्यायतौ" सूत्र की व्याख्या में लिखा है। वहां वे लिखते हैं कि जब 'अय्' धातु आत्मनेपदी है तो महाकवि माघ ने अपने शिशुपालवध महाकाव्य में "उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ"[298] इस श्लोक में 'उदयति' इस परस्मैपद का प्रयोग क्यों किया? क्योंकि 'उद्' पूर्वक 'अय्' धातु से तो परस्मैपद में लट् लकार के स्थान में 'शतृ' प्रत्यय होता है। अतः उसके सप्तमी के एकवचन में 'उदयति' यह रूप बनता है। इसके समाधान के लिए हरदत्त ने जहाँ अन्य अनेक उपाय प्रस्तुत किए हैं वहां अन्त में यह भी लिखा है - "किमनेन वन्यगजशौचेन" जिसका तात्पर्य यह है कि जैसे जंगली हाथी कितनी भी अपनी शुद्धि कर ले या जंगली हाथी को कितना ही मलकर साफ-सुथरा कर दिया जाए फिर भी मिट्टी आदि डालकर वह अपने आपको पुनः मैला कर लेता है। इसी प्रकार 'उदयति' इस प्रयोग को नाना विधियों से बार-बार शुद्ध (समाहित) करने पर भी इसे अशुद्ध ही मानना पड़ेगा। लोक में भी हम देखते हैं कि बालकों को उनकी माताएं कितना ही नहला-धुलाकर शुद्ध कर लें। फिर भी वे बालक स्वभाव से अपने शरीर पर धूल डाल कर मैले हो जाते हैं। यही वन्यगजशौच है अर्थात् स्वच्छ कर्म करने के बाद फिर उनके विपरीत विघातक, प्रत्यवायजनक कर्म करने के विषय में इस न्याय का प्रयोग होता है। दूसरे शब्दों में, जो प्रयोग ठीक होने पर भी ठीक नहीं माने जाते वे सब इसी कोटि में आते हैं। ऐसे स्थलों में ही उक्त न्याय का प्रयोग देखने योग्य है। इसी को नामान्तर से कुञ्जरस्नान, हस्तिस्नान या गजस्नान न्याय भी कह दिया जाता है।[299]

42. रेखागवय न्याय

"नित्यशब्दवादे तु प्रयोगदृष्टानामेव शास्त्रे काल्पनिकविधेयत्वेनेष्टप्रत्ययविभाग-सिद्धिः। रेखागवयन्यायस्याद्यन्ताविति सूत्रे भाष्य एव वक्ष्यमाणत्वात्"।[300]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "नवेति विभाषा" सूत्र के महाभाष्यगत "यस्यापि कार्याः शब्दास्तस्यापि गालवग्रहणं पूजार्थम्" इसकी व्याख्या के प्रसङ्ग में लिखा है। इसका अर्थ यह है कि जैसे गवय को समझने के लिए उसकी कल्पित रेखा बनाकर समझाते हैं कि ऐसा गवय (नीलगाय) होती है और वह जंगल में ही होती है। भाव यह है कि कोई ग्रामीण व्यक्ति जो ग्राम में ही रहता है और जो गांव के पशुओं को तो जानता है परन्तु जंगल के पशु उसने अब तक देखे नहीं। अब उसे जंगल में रहने वाला कोई

आदमी जिसने नीलगाय को देखा होता है, वह एक कल्पित रेखा खींचकर उसे समझाता है अर्थात् नीलगाय का चित्र बनाकर दिखाता है। फलतः वह चित्र यद्यपि असली नीलगाय तो नहीं है किन्तु फिर भी उससे जैसे उस ग्रामीण व्यक्ति को असली नीलगाय का बोध हो जाता है इसी प्रकार व्याकरणशास्त्र में भी **अन्वय और व्यतिरेक से प्रकृति और प्रत्ययों की अर्थवत्ता कल्पित की गई है** और उससे ही व्याकरणशास्त्र का सब व्यवहार चलता है। नित्य शब्दों के अन्वाख्यान के लिए कुछ प्रकृतियाँ कल्पित हो जाती हैं और कुछ प्रत्यय। फिर उन दोनों के अलग-अलग अर्थ भी कल्पित हो जाते हैं। परन्तु इससे वास्तविक शब्द की नित्यता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। गालव आदि आचार्यों की और प्राग्, उत्तर, दक्षिण आदि देशों की संज्ञाएं भी साधु शब्दों की सिद्धि के लिए सब कल्पित की गई हैं। परिणामतः उससे नित्य शब्दव्यवहार में कोई दोष नहीं आता। अन्यत्र भर्तृहरि ने भी कहा है–

"उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।

असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते"।[301]

अर्थ की दृष्टि से यह न्याय अरुन्धतीप्रदर्शन तथा शाखाचन्द्र न्याय आदि की कोटि में आता है। इस न्याय का अन्यत्र भी पर्याप्त प्रयोग देखा जा सकता है।[302]

अब भट्टोजिदीक्षित वर्णलिपिज्ञान / अरुन्धतीप्रदर्शन तथा शाखाचन्द्र आदि न्यायों के माध्यम से इसी पूर्वोक्त शास्त्रीय प्रक्रिया की असत्यता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं–

43. वर्णलिपिज्ञान न्याय / अरुन्धतीप्रदर्शन न्याय / शाखाचन्द्र न्याय

"आरोपितस्यापि पारमार्थिके उपायता न विरुद्धा। लिपिस्थूलारुन्धतीशाखाचन्द्रादीनां लौकिकदृष्टान्तानामर्थवादवाक्यपञ्चकोशावतरणादीनां तन्त्रान्तरसिद्धानां पूर्वत्रासिद्धादीनां चैतच्छास्त्रसिद्धानां प्रागेव दर्शितत्वात्। आह च . . . .

"शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते इति"।[303]

यह न्याय शब्दकौस्तुभकार भट्टोजिदीक्षित ने 'स्फोटनिरूपण' प्रसङ्ग में दिया है। इस न्याय का अर्थ है कि पारमार्थिक अर्थात् असली या यथार्थ वस्तुस्वरूप को समझने के लिए यदि कल्पित या आरोपित उपाय भी काम में लाए जाएं तो वे भी वैसे ही विरुद्ध नहीं माने जाते जैसे- वर्णों की लिपि और मोटे रूप में अरुन्धतीनक्षत्र प्रदर्शन तथा शाखा आदि उपायों का आलम्बन क्रमशः असली वर्णमाला, वसिष्ठ ऋषिपत्नी वास्तविक अरुन्धती तथा चन्द्रमा को समझने में उपायभूत हैं। अथवा जैसे 'राज्ञः पुरुष' इस लौकिक विग्रह को समझाने के लिए 'राजन् + ङस् + पुरुष + सु' इस अलौकिक विग्रह को किया जाता है जो कि सर्वथा अप्रयोगार्ह है। वैसे ही असत्य उपायों से भी सत्यमार्ग का बोध कराया जाना दोषावह नहीं होता।

भाव यह है कि उपेय की प्रतिपत्ति के लिए ऐसे कल्पित उपायों का आलम्बन करना ही पड़ता है। क्योंकि अलौकिक विग्रह के बिना लौकिक विग्रह समझ में नहीं आएगा और लौकिक विग्रह ही वास्तविक है। व्यवहारदशा में तो लोक में उसी का प्रयोग होता है। अलौकिक विग्रह का प्रयोग कौन करता है, वह तो केवल उस असली विग्रह को समझाने के लिए उपायमात्र है। इसलिए संक्षेप में इस न्याय का यही तात्पर्य है कि यथार्थ बात को समझने-समझाने के लिए यदि किसी भी असत्य, कल्पित या आरोपित उपाय का आलम्बन करना पड़े तो अवश्य कर लेना चाहिए।[304] दूसरे शब्दों में - इसका भाव यह है कि इस त्रिगुणात्मक संसार में यथार्थभूत जो परमात्म तत्त्व है, या एक अद्वितीय सत्तारूप जो आनन्दमय परब्रह्म है, उसी को समझाने के लिए यह सब जगड्वाल रचा गया है। वाक्यपदीय के प्रामाण्य से यहाँ शब्दकौस्तुभकार का इस न्याय को निर्दिष्ट करने में यही तात्पर्य है कि लोक और शास्त्र में प्रक्रियाभेद से सर्वत्र अविद्या का ही वर्णन है।[305] वस्तुतः विद्या तो अखण्ड एक आत्मतत्त्व के बोध में ही है। इस सन्दर्भ में प्रकृतिप्रत्ययादि की कल्पना भी सब निरर्थक है। वह भी उसी अखण्ड शब्दब्रह्म को समझाने के लिए ही है। प्रकृत प्रसङ्ग में भट्टोजिदीक्षित आभाणक न्याय द्वारा शब्द ब्रह्म के प्रति इस संसार की निस्सारता प्रतिपादित करते हुए पुनः कहते हैं–

44. आभाणक न्याय / वराटिकान्वेषणाय प्रवृत्तश्चिन्तामणिं लब्धवान् न्याय

"तदेवं वराटिकान्वेषणाय प्रवृत्तश्चिन्तामणिं लब्धवानिति वासिष्ठरामायणोक्ता-भाणकन्यायेन शब्दविचाराय प्रवृत्तः सन् प्रसङ्गादद्वैते औपनिषदे ब्रह्मण्यपि व्युत्पद्यतामित्यभिप्रायेण भगवान् भर्तृहरिर्विवर्तवादादिकमपि प्रसङ्गाद् व्युदपादयत्।"[306]

यह न्याय भी शब्दकौस्तुभकार ने स्फोटवाद के निरूपण में ही निर्दिष्ट किया है। इसका अर्थ है कि जैसे कोई आदमी कौड़ी ढूँढने के लिए गया और सौभाग्य से उसे चिन्तामणि मिल जाए तो क्या कहना! उसका तो जीवन ही सफल हो गया। वह तो केवल थोड़े गौरव और मूल्य वाली कौड़ी को ही लेना चाहता था किन्तु भगवान् की कृपा से उसे चिन्तामणि मिल गई जोकि अनमोल है। इससे बढ़कर उसका क्या सौभाग्य हो सकता है ? इसी प्रकार वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने 'नित्य शब्दतत्त्व' का निरूपण करते हुए सारे शब्दशास्त्र को तथा जगत् के व्यवहार को अद्वैत ब्रह्मतत्व के रूप में ही प्रवर्तित कर दिया। दूसरे शब्दों में– उन्होंने लौकिक व्यवहारों और वैषयिक इच्छाओं को उस परमात्म तत्त्व के प्रति अत्यन्त नीरस और दुर्गन्धित अथवा हेय प्रतिपादित करके केवल अद्वैत ब्रह्मतत्व को जान लेना ही जीवन का उद्देश्य सिद्ध कर दिया है। एक प्रकार से यह उन्होंने चिन्तामणि की ही उपलब्धि की है। धन्य हैं ऐसे भर्तृहरि जो नीतिकार भी थे, राजा भी थे और पूर्ण संसार से वैराग्ययुक्त भी थे तथा अन्त में स्फोटरूप में नित्य शब्दतत्त्व को परखने वाले बनकर सारे जगत् का सार निकालने

वाले हो गए हैं। इस प्रकार अनायास तथा अप्रत्याशित लक्ष्य से अधिक की प्राप्ति के प्रसङ्ग में इस न्याय का प्रयोग होता है। प्रकृत आभाणक न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[307]

शास्त्रीय प्रक्रिया की अव्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए नागेश भी कहते हैं–

45. उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः न्याय

"उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिताः इति न्यायेन व्याकरणभेदेन स्थानिभेदेऽपि न क्षतिः; देशभेदेन लिपिभेदवदिति दिक्"।[308]

यह न्याय 'वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा' में नागेशभट्ट ने दिया है। यद्यपि यह न्याय वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने भी कारिका के रूप में दिया है और उसी के आधार पर महाभाष्यप्रदीप तथा वैयाकरणभूषणसार में भी यह न्याय निर्दिष्ट है।[309]

किसी भी कार्य करने के जो उपाय हैं, वे उपाय क्यों कहलाते हैं– इस बात को इसमें बतलाया गया है। तदनुसार वे उपाय इसलिए कहलाते हैं कि जो उपेय वस्तु है अर्थात् प्राप्तव्य या जो हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसको उपेय कहते हैं, उसकी प्रतिपत्ति अर्थात् प्राप्ति के लिए जो भी साधन कार्य में लाए जाते हैं, वे सब उपाय कहलाते हैं और वे अव्यवस्थित हैं अर्थात् अनिश्चित हैं। इसी प्रकार उपाय को समझाने के लिए एक दूसरी कारिका भी है जिसे हम न्याय भी कह सकते हैं–

"उपादायापि ये हेयास् तान् उपायान् प्रचक्षते।
उपायानां च नियमो नावश्यमवतिष्ठते"।।[310]

इसका भी यही भाव है कि उपायों को उपाय इसीलिए कहते हैं कि वे अपनी इष्टसिद्धि के लिए ग्रहण करके अनुबन्धों के समान फिर बाद में छोड़ दिए जाते हैं। उपायों का यह नियम नहीं है कि इस लक्ष्य में यही उपाय काम देगा, अन्य नहीं। और भी जो कोई साधन लक्ष्य सिद्ध करने में साधक है, वह उपाय हो सकता है। जैसे हमारे संस्कृत व्याकरणशास्त्र में आचार्य पाणिनि ने तो "अस्तेर्भूः"[311] सूत्र द्वारा आर्धधातुक में 'अस्' धातु के स्थान में 'भू' आदेश करके 'भविता-भवितुम्-भवितव्यम्' ये रूप अस् धातु के बनाए हैं किन्तु दूसरे आपिशलि आदि आचार्यों ने इसके विपरीत 'भू' धातु के स्थान पर सार्वधातुक में विकल्प से 'अस्' आदेश करके 'अस्ति-स्तः-सन्ति' इत्यादि रूप भू धातु के बनाए हैं। 'भू' और 'अस्' ये दोनों धातु समानार्थक ही हैं। 'अस्' का अर्थ 'होना है' और 'भू' का अर्थ 'हो सकना है'। इनमें जहां आचार्य पाणिनि ने 'अस्' के स्थान में 'भू' का प्रयोग केवल आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहने पर किया है वहां आपिशलि ने सार्वधातुक प्रत्ययों के परे होने पर 'भू' के स्थान पर 'अस्' का प्रयोग किया है। इसी प्रकार इनमें अस्ति, स्तः तथा आसीत् इत्यादि के लिए जहां पाणिनि 'अस्' को मूल धातु मानते हुए कित् ङित् सार्वधातुक प्रत्ययों में इसके अकार का लोप विधान करते हैं[312] वहां आपिशलि केवल 'स्' को मूल

धातु मानते हुए पित् सार्वधातुक प्रत्ययों में अट् तथा आट् का आगम स्वीकार करते हैं। बात एक ही है अर्थात् देशभेद से लिपिभेद के समान व्याकरणभेद होने से स्थानिभेद होने पर भी कोई हानि नहीं होती। केवल प्रयोगों की सिद्धि के लिए उपायों के आश्रयण में भेद है। व्याकरणगत प्रक्रियाभेद के विषय में भर्तृहरि पुनः कहते हैं–

"अविप्रयोगः साधुत्वे व्युत्पत्तिरनवस्थिता।
उपायान् प्रतिपत्तॄणां नामिभमन्येत सत्यतः॥"[313] इत्यादि।

अन्यत्र भी यह न्याय प्रयुक्त हुआ है।[314] यही बात अरुन्धतीप्रदर्शन न्याय से स्फोटचन्द्रिका के वर्णस्फोटनिरूपण प्रकरण में भी उपन्यस्त की गई है, तद्यथा–

46. अरुन्धतीज्ञान न्याय

यथा वारुन्धतीज्ञानार्थं स्थूलनक्षत्रे अपारमार्थिकारुन्धतीत्वबोधनं तथा पारमार्थिकाखण्डवाक्यबोधार्थमेते वर्णपदवाक्याखण्डपदस्फोटा उपायाः"।[315]

इस न्याय का अर्थ यह है कि जैसे वास्तविक महर्षि वसिष्ठ की पत्नी अरुन्धती के ज्ञान के लिए कल्पित अरुन्धती नक्षत्र का दर्शन कराते हैं अर्थात् जिस प्रकार विवाह संस्कार में वर महोदय वधू को 'अरुन्धतीं पश्य' कहकर अरुन्धती नामक नक्षत्र का दर्शन कराता है, यद्यपि इससे वास्तविक अरुन्धती का तो बोध नहीं होता तथापि स्थूल अरुन्धती नक्षत्र का दर्शन तो वास्तविक ऋषिपत्नी अरुन्धती के बोध के लिए एक अभ्युपायमात्र है। इसी प्रकार पारमार्थिक अथवा वास्तविक अखण्ड वाक्यबोध के लिए ये वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट आदि कल्पित उपाय हैं।

भाष्यकार ने तो भाष्य में शब्दों की अर्थवत्ता अन्वय और व्यतिरेक से कल्पित की है जबकि स्थिति तो यही है जोकि वस्तुभूत है कि न कोई प्रकृति है, न प्रत्यय है, न पद है और न वर्ण है। सब कुछ अखण्ड ब्रह्म का अखण्ड ही रूप है। उस अखण्ड स्थिति का ही हम सब लोग जोकि खण्डित अवस्था में है, प्रकृतिप्रत्ययादि के रूप में खण्डन या विभाग करके बोध करते-कराते हैं। इसी अरुन्धतीज्ञान न्याय को इस कारिका से भी कह सकते हैं–

"उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते"।[316]

इसका भाव यही है कि सत्य वस्तु को समझने के लिए कई बार असत्य वस्तु का भी आलम्बन करना पड़ता है। 'राज्ञः पुरुषः' इस सत्य और यथार्थ लौकिक विग्रह को समास में समझने के लिए 'राजन् ङस्' 'पुरुष सु' इस असत्य अथवा कल्पित तथा प्रयोग में न आने वाले अलौकिक विग्रह से समझाया जाता है। वस्तुतः उस सत्य अखण्ड ब्रह्म का बोध करने के लिए यह असत्य अथवा कल्पित संसार ही अभ्युपाय है। उक्त न्याय में अध्यारोपापवाद न्याय द्वारा स्थूल से सूक्ष्म या ज्ञात से अज्ञात

की ओर जाते हुए उसका ज्ञान कराया जाता है। शाखाचन्द्र न्याय से इसका पर्याप्त साम्य है। वैसे उक्त न्याय का सर्वप्रथम प्रयोग शाङ्करभाष्य में देखा जा सकता है।[317] प्रारम्भिक असत्य के द्वारा पारमार्थिक सत्य प्राप्ति की बात तुष्यतु दुर्जन न्याय से पुष्ट करते हुए नागेश भी कहते हैं–

47. तुष्यतु दुर्जनः न्याय / अभ्युपगमसिद्धान्त न्याय

तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेनापशब्दज्ञानस्य विपरीतत्वमात्रेणाधर्मसाधनत्वमभ्युगम्यापि भाष्ये समाध्यन्तरमाह अथवा कूपेति"।[318]

यह न्याय उद्द्योतकर ने '**अथ शब्दानुशासनम्**' के महाभाष्यगत "**अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने**" इसके प्रसङ्ग में कहा है। इस न्याय का अर्थ है कि सत्य सिद्धान्त को सिद्ध करता हुआ मनुष्य कभी-कभी थोड़ी देर के लिए जो असत्य बात को भी स्वीकार कर लेता है उसे 'तुष्यतु दुर्जन' न्याय कहते हैं। इसी न्याय को न्यायदर्शन की परिभाषा में '**अभ्युपगमसिद्धान्त**' न्याय अथवा '**अभ्युपगमवाद न्याय**' कहते हैं। यहाँ पर भाष्यकार ने अपशब्दज्ञान को भी नान्तरीयक तथा शब्दज्ञान में साधक मानकर थोड़े समय के लिए उसे धर्मसाधक मान लिया है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[319] अनित्य या असत्य मार्ग से भी नित्य या सत्य मार्ग का ज्ञान हो जाता है– इस विषय में अनित्योपायाश्रयेणापि नित्यस्यान्वाख्यानं दृश्यते न्याय के द्वारा हरदत्त भी कहते हैं–

48. अनित्योपायाश्रयेणापि नित्यस्यान्वाख्यानं दृश्यते (शककाल) न्याय

"अनित्योपायाश्रयेणापि नित्यस्यान्वाख्यानं दृष्टम् यथा– शकाश्रयेण कालस्य"।[320]

"ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" सूत्र व्याख्या में पदमञ्जरीकार ने यह न्याय दिया है। इस न्याय का अर्थ है कि अनित्य का आश्रयण करके भी नित्य वस्तु का अन्वाख्यान देखने में आता है, जैसे– शक वंश है अर्थात् शक नामक कोई अनित्य पुरुष हुआ है। उसके आश्रयण से नित्य जो काल वस्तु है, उसका भी बोध हो जाता है। जैसे इस समय यह **शक संवत्** या यह **विक्रमी संवत्** है– ऐसा प्रयोग होता है। नित्य शब्दों का अन्वाख्यान इसी न्याय के आधार पर आचार्य पाणिनि ने किया है। इस न्याय को समझने के लिए हम दूसरा उदाहरण भी देख सकते हैं, जैसे– किसी ग्रामीण आदमी ने जो सदा गाँव में ही रहता है, उसने जंगल में रहने वाली नीलगाय को नहीं देखा। उसे कोई बुद्धिमान् मनुष्य नीलगाय का बोध कराने के लिए नील गाय का रेखाचित्र उपस्थित कर देता है। इस तरह वह जो रेखाचित्र है, वह असली नील गाय तो नहीं है बल्कि कल्पित चित्र ही है, कुछ समय के बाद वह रेखा नष्ट हो जाएगी, किन्तु उस अनित्य चित्र से भी नित्य नीलगाय वस्तु का बोध हो जाता है। इस प्रकार का व्यवहार शास्त्र में बहुत अधिक होता है। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[321]

49. शृङ्गग्राहिका न्याय

"उक्तलक्षणेनासंगृहीतान् षड्धातून् शृङ्गग्राहिकया संगृह्णाति ष्वष्केति। यद्यप्यसौ भाष्ये न पठितः, तथापि सत्वप्रतिषेधवार्तिकबलादनुमीयते।"[322]

यह न्याय बृहच्छब्देन्दुशेखरकार ने भ्वादिगण के प्रकरण में '**षोपदेश**' धातुओं पर विचार करते हुए कहा है– "**शृङ्गग्राहिकया षट् धातून् संगृह्णाति**"। भाव यह है कि किसी पशु का सींग पकड़कर फिर उसके आगे आने वाले शरीर के भाग को पकड़ लेना '**शृङ्गग्राहिका**' न्याय होता है। अथवा किसी पशु को पहले उसके एक सींग से पकड़कर फिर दूसरे सींग से भी पकड़ लेना और उसके बाद अन्य पशुओं के सींगों को भी प्रथम पशु के सींगों के साथ बांध कर ले जाना शृङ्गग्राहिका न्याय कहलाता है।[323]

अथवा किसी गोमण्डल में मेरी गाय कौन सी है या इनमें सबसे अधिक दूध देने वाली गाय कौन सी है– ऐसा पूछने पर उत्तर के रूप में किसी गाय को सींग से स्पर्श करके विशेष रूप से बताना भी इस न्याय का तात्पर्य हो सकता है। तदनुसार यहाँ '**ष्वष्क्**' धातु का नाम पहले लेकर फिर '**सृप्**', '**सृज्**', '**स्तृ**', '**स्त्यै**', '**सेक**', '**सृ**' इन छः धातुओं का भी संग्रह कर दिया गया है। क्योंकि '**ष्वष्क्**' धातु में **सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां सत्वप्रतिषेधः**"[324] इस वार्तिक द्वारा सत्व का निषेध किया गया है। इसीलिए '**ष्वष्क्**' धातु रूप सींग को पकड़कर फिर उसके आगे आने वाली जो छह धातुएं और ले ली गईं– उसमें यह न्याय ही कारण है।

वैसे उक्त न्याय का एक भाव यह भी सम्भव हो सकता है कि जब किसी वस्तु का हमें विशेष रूप से ज्ञान कराना अभीष्ट हो तो हम उसका कोई प्रमुख अङ्ग (जो कि यहाँ सिर है) पकड़कर कहते हैं कि इसे देखो। इस प्रकार के प्रसङ्गों में भी उक्त न्याय प्रयुक्त हो सकता है। इस न्याय का व्याकरण के अतिरिक्त अन्य अनुशासनों में भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है।[325] इसका सर्वथा नूतन प्रयोग शिवप्रसाद भारद्वाजकृत कालिदासदर्पण में मिलता है।[326] इसे ही **शीर्षग्रहण** न्याय से भी ध्वनित किया गया है।[327]

50. अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा न्याय[328]

यद्यपि उक्त वचन भी व्याकरणशास्त्र की एक प्रसिद्ध परिभाषा है तथापि इसके लोकव्यवहारमूलक होने से यहां समाविष्ट कर लिया गया है। तदनुसार जैसे लोक में **गायों को ले आओ या ले जाओ**–ऐसा कहने पर प्रथमोपस्थित होने से निकटस्थ का ही निवेशन या आनयन होता है, दूरस्थ गायों का नहीं। अथवा जैसे सन्निहित या प्रथमोपस्थित होने से **प्रथमातिक्रम संभव न होने के कारण** पार्श्ववर्ती जनों में ही स्नेह हुआ करता है और उन्हीं में कलह वैसे ही यहां शास्त्र में भी किसी सूत्र से अपने अनन्तर का ही विधान होता है और अनन्तर का ही प्रतिषेध, व्यवहित का नहीं।

क्योंकि व्यवहित सूत्र दूरस्थ होने से तत्काल कार्यभाक् नहीं हो सकता। तदनुसार जैसे "वा छन्दसि"[329] यह सूत्र सिप्स्थानिक 'हि' आदेश को विकल्प से अपित् करता है। यद्यपि यह सूत्र सेहर्चपिच्च[330] से उत्तरवर्ती है अतः प्रकृत न्याय के अभाव में यह सूत्र पूर्वसूत्रप्रोक्त 'सिप्' को 'हि' और उसको अपित् विधान ये दोनों ही कार्य विकल्प से कर सकता है तथापि इस परिभाषा के नियम से अब प्रकृत सूत्र केवल अपने अनन्तर का ही विधिनिषेधविकल्प करेगा तो इसके द्वारा अपने से अनन्तर पूर्ववर्ती केवल अपित् का ही विकल्प से विधान होता है 'सिप्' को होने वाले 'हि' आदेश का नहीं। क्योंकि यह 'हि' आदेश इसके अनन्तर नहीं है।

इसी प्रकार प्रकृत परिभाषा के आधार पर ही "नेटि"[331] सूत्रप्रोक्त वृद्धिनिषेध अपने से अनन्तर पूर्ववर्ती "हलन्तलक्षणा"[332] वृद्धि का ही होता है, "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु"[333] तथा "मृजेर्वृद्धिः"[334] का नहीं। क्योंकि ये दोनों वृद्धियाँ भी "नेटि" सूत्र से अनन्तर न होकर व्यवहित हैं। इसी प्रकार "एत्येधत्यूठसु"[335] यह सूत्र अपने से अननतर "एङि पररूपम्"[336] सूत्रप्रोक्त पररूप को ही बाधता है, "ओमाङोश्च"[337] सूत्रप्रोक्त व्यवहित पररूप को नहीं तो 'शिवेहि' यह अभीष्ट रूप बन जाता है। लोक में भी अपने निकटवर्ती वस्तु के विषय में ही विधि या निषेध देखे जाने से यह परिभाषा लोकन्यायसिद्ध है। भाष्य आदि व्याकरण ग्रन्थों में इसका प्रचुर प्रयोग पाया जाता है।[338]

51. कलिः कामधेनुः न्याय

"कगे धातोरर्थो नोच्यते। अस्यायमर्थ इति विशिष्य नोच्यते क्रियासामान्यार्थत्वात्। अनेकार्थत्वादित्यन्ये। कलिः कामधेनुरितिन्यायेन कलधातुवदपरिमितार्थकत्वमिति भावः"।[339]

यह न्याय बालमनोरमाकार ने **'भ्वादिगण'** प्रकरण में **'कगे'** धातु के अर्थ पर विचार करते हुए कहा है। वस्तुतः यह न्याय केवल **'कल्'** धातु पर ही नहीं घटता अपितु **'कलिवली कामधेनू'** इस प्रकार पाठान्तर से युक्त **'कल्'** और **'वल्'** इन दोनों धातुओं पर घटता है। उपर्युक्त न्याय का अर्थ है कि **'कल्' और 'वल्'** ये दो धातु **कामधेनु के समान** हैं। जैसे कामधेनु से जब चाहो, जितना चाहो, दूध निकाल लो। कामधेनु तो हर समय दूध देने के लिए तैयार है। इसी प्रकार 'कल्', और 'वल्', धातु भी व्याकरणशास्त्र में कामधेनु के समान हैं। कलित, वलित तथा कलयति, वलयति इत्यादि अनेक प्रयोगों में 'कल्', 'वल्' धातुओं के विवक्षा के अनुसार अनेक अभीष्ट अर्थ निकल जाते हैं। कोई उनका एक अर्थ निश्चित नहीं है। **"अनेकार्था हि धातवो भवन्ति**[340] यह भाष्यकथन भी इस विषय में उपोद्वलक है। इसी प्रकार यहाँ **'कगे'** धातु के अर्थ पर जो भट्टोजिदीक्षित द्वारा **'नोच्यते'** कहा गया है, उसका भी यही तात्पर्य है कि आचार्य **'कगे'** धातु का विशेष रूप से कोई अर्थ नहीं कहते, अपितु सभी क्रियाओं का वाचक यह **'कगे'** धातु है। इसके प्रयोग बहुत कम उपलब्ध होते हैं। फिर भी

यदि विद्वान् लोग प्रयत्न करें तो 'कलि', 'वलि' धातुओं के समान इस 'कगे' धातु को भी कामधेनु बना सकते हैं–ऐसा बालमनोरमाकार का आशय है।

ग (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित पशुसम्बन्धी लोकन्याय

1. भक्ष्याभक्ष्य धर्मनियम न्याय/अभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः न्याय[341]
2. वाक्यान्यपि द्विष्ठानि भवन्ति न्याय/श्वेतो धावति न्याय[342]
3. शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति न्याय[343]
4. ऋषिसहस्रदक्षिणात्व न्याय/सहस्रदक्षिणा कपिला न्याय[344]
5. नाव्यपवृक्तस्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु न्याय/गोसर्षपविक्रयण न्याय[345]
6. वर्णानुपलब्धौ अतदर्थगतिः न्याय[346]
7. अवयवार्थवत्वात् समुदायार्थवत्वम् न्याय[347]
8. अभेदका अपि गुणा दृश्यन्ते न्याय[348]
9. गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः (गौणमुख्य) न्याय[349]
10. वस्नक्रीतगो न्याय/अर्थयोगायोगस्वभाव न्याय[350]
11. कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः (कृत्रिमाकृत्रिम) न्याय/गोपालकटजक न्याय[351]
12. अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकरः न्याय[352]
13. अतद्गुणसंविज्ञान (चित्रगुरानीयताम्) न्याय[353]
14. न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते न्याय[354]
15. नष्टाश्वदग्धरथ न्याय[355]
16. अनानुपूर्व्येणापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवित न्याय/ पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान् न्याय[356]
17. स्वभावसिद्धान्तरतम न्याय[357]

17 (क). गोप्रसव न्याय[357क]

18. अध्वगमन न्याय/वक्तुश्चिराचिरवचनाद्वृत्तयो विशिष्यन्ते न्याय[358]
19. अन्यप्रतिविधान न्याय/अन्येन चान्यस्य च विधिर्भवति न्याय[359]
20. सता ह्यभिसम्बन्धः शक्यते कर्तुम् न्याय/चित्रगुर्देवदत्त न्याय[360]
21. अनिज्ञातेऽर्थे गुणसन्देहे च नपुंसकलिङ्गं प्रयुज्यते न्याय[361]
22. जातिशब्देन द्रव्यमप्यभिधीयते न्याय[362]
23. नियतविषयाः शब्दा दृश्यन्ते न्याय[363]
24. अर्थाद् विभक्तिविपरिणामो भवति न्याय[364]
25. निर्दिश्यमानमधिकृतं गम्यते न्याय[365]

26. अन्यनिर्देशस्तु निवर्तको भवति (निवर्तक) न्याय[366]
27. दुर्बलबलवद्वारोद्वहन न्याय[367]
28. सतोऽप्यविवक्षा भवति न्याय/अलोमिकैडका न्याय[368]
29. बौद्धापाय (वृकदस्युभय/माषगोवारण) न्याय[369]
30. निमित्तनिमित्ती न्याय[370]
31. हस्तिमशकसन्निकर्ष न्याय[371]
32. सामान्यविशेषचोदना न्याय[372]
33. मृगतृष्णा न्याय[373]
34. गोयूथ न्याय[374]
35. कदाचिद् गुणः प्राधान्येन विवक्षितो भवति न्याय[375]
36. विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव (सकृद्गति) न्याय[376]
37. द्रव्यगुण न्याय / अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम् न्याय / लोहकार्पासतुलाग्र न्याय[377]
38. गुणशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[378]
39. व्याघ्रादिव्यपदेश न्याय[379]
40. सिंहावलोकित न्याय[380]
41. अजाकृपाणीय न्याय[381]
42. समान (तुल्य) जातीयस्यैव हि लोके निर्धारणं भवति न्याय[382]
43. ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्य न्याय/गौर्वाहीकः न्याय[383]
44. मल्लग्राम न्याय[384]
45. अनुकार्यानुकरणर्योभेर्दस्याविवक्षाविवक्षा न्याय[385]
46. कृशस्थूल गोपिण्डगोत्व न्याय[386]
47. गोबलीवर्द न्याय[387]
48. पिष्टपिण्डसिंह न्याय[388]
49. कुण्डशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[389]
50. ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्य न्याय/सिंहो माणवकः न्याय[390]
51. पञ्जरस्थसिंह न्याय[391]
52. गोविषाण न्याय/एकदेशेन समुदायेऽनुमीयते न्याय[392]
53. स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया न्याय[393]
54. अरुणाधिकरण न्याय[394]
55. शशविषाण न्याय[395]
56. गोवत्सवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय[396]

57. मध्येऽपवादाः न्याय[397]
58. मशकसिंहविरोध न्याय[398]
59. तन्त्राद्यावृत्येकशेष न्याय[399]
60. नरसिंह न्याय[400]

घ (1) पक्षीसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. *काकाधिकरणत्व न्याय / अनुबन्धोऽनन्यत्वकरः (अन्यत्वकरः) न्याय*

"लुप्ते चानुबन्धे नान्यत्वं भवति। तद् यथा– कतरद् देवदत्तस्य गृहम्? अदो यत्रासौ काकः इति। उत्पतिते काके नष्टं तद् गृहम् भवति। एवमिहापि लुप्तेऽनुबन्धे नष्टः प्रत्ययो भवति। यद्यपि लुप्यते जानाति त्वसौ सानुबन्धकस्येयं संज्ञा कृतेति। तद् यथा– इतरत्रापि कतरद् देवदत्तस्य गृहम् ? अदो यत्रासौ काक इति। उत्पतिते काके यद्यपि नष्टं तद् गृहं भवति, अन्ततस्तमुद्देशं जानाति इति। सिद्धश्च विपर्यासः। यद्यपि जानाति सन्देहस्तु तस्य भवति-अयं स तशब्दो लोतो गर्त इति। अयं स तशब्दो लूनो गीर्ण इति। तद्यथा–इतरत्रापि कतरद् देवदत्तस्य गृहम् ? अदो यत्रासौ काक इति। उत्पतिते काके यद्यपि तमुद्देशं जानाति सन्देहस्तु तस्य भवति-इदं तद् गृहम्, इदं तद् गृहमिति। एवं तर्हि कारककालविशेषात् सिद्धम्। कारककालविशेषावुपादेयौ। भूते यस्तशब्दः कर्तरि कर्मणि भावे चेति। तद्यथा-इतरत्रापि य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति सोऽध्रुवेण निमित्तेन ध्रुवं निमित्तमुपादत्ते वेदिकां पुण्डरीकां वा[401]।"

"क्तक्तवतू निष्ठा" सूत्र के भाष्य में यह बड़ा मनोरञ्जक लोकन्याय का निदर्शन है। इसमें बताया गया है कि 'क्त' प्रत्यय का ककार अनुबन्ध लुप्त होकर 'त' शेष रह जाता है। परन्तु यहां प्रश्न पैदा होता है कि अब उसका अनुबन्धरहित दूसरे आत्मनेपदसंज्ञक 'त' प्रत्यय से कैसे विवेक करें ? अर्थात् 'क्त' प्रत्यय के ककार अनुबन्ध का लोप हो जाने पर दोनों 'त' प्रत्यय समान हो जाते हैं, अन्यता नहीं रहती, जैसे लोक में समान घरों को देखकर कोई किसी से पूछता है कि इनमें देवदत्त का घर कौन सा है ? दूसरा उत्तर देता है कि वह है जहां कौआ बैठा है। किन्तु कौए के उड़ जाने पर वह घर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार 'क्त' प्रत्यय के ककार अनुबन्ध का लोप हो जाने पर दोनों तकार समान हो जाते हैं। तदनुसार 'लू' और 'गॄ' धातुओं से "हसिमृग्रिण्वाऽमिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन्"[402] इस उणादि सूत्र से 'तन्' प्रत्यय होकर 'लोतः', 'गर्तः' ये रूप बनते हैं। और इन्हीं दोनों धातुओं से 'क्त' प्रत्यय होकर 'लूनः', 'गीर्णः' ये रूप बनते हैं। इसके बाद 'क्त' प्रत्यय की निष्ठासंज्ञा होकर निष्ठा नत्व होता है। अब यदि यह कहा जाए कि ककार अनुबन्ध का लोप होकर जाने पर यद्यपि 'क्त' और 'त' दोनों समान हो जाते हैं तथापि "साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः"[403] न्याय से 'क्त' प्रत्यय के ककार का लोप हुआ है, यह तो प्रयोग करने वाला जानता ही

है, जैसे कौए के उड़ जाने पर यद्यपि देवदत्त के घर का सही पता तो नहीं रहता फिर भी व्यक्ति वस्तुतः उस स्थान को तो जानता ही है कि यहाँ कौआ बैठा था तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि उस स्थान को तो जानता है फिर भी उसे सन्देह तो बना रहता ही है कि देवदत्त का घर यह है या वह है ? इसी प्रकार ककार अनुबन्ध का लोप हो जाने पर भी उसे सन्देह तो बना ही रहता है कि यह 'त' शब्द 'लोतः', 'गर्तः' का है या 'लूनः', 'गीर्णः' का है ? इसलिए दोनों 'त' शब्दों में भेद के ज्ञान के लिए **कारक** और **कालविशेष** का ग्रहण करना चाहिए। तदनुसार जो 'त' शब्द **कर्ता, कर्म या भाव अर्थ में है** और **भूतकाल** में हुआ है, वह **निष्ठासंज्ञक** होता है तथा जो 'त' शब्द उक्त विशेषों से रहित है, उसकी निष्ठा संज्ञा नहीं होती।

अन्यत्र लोक में भी जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक काम करने वाला विचारशील होता है, वह देवदत्त के घर का ज्ञान करने के लिए कौए आदि आदि अध्रुव, अस्थिर निमित्तों या निशानियों को न पकड़कर ध्रुव, स्थिर निमित्त जो देवदत्त के घर की दीवारों पर वेदी या कमलफूल आदि का निशान है,[404] उसको पकड़ लेता है। क्योंकि वे निशान तो स्थिर है, देवदत्त के घर में सदा विद्यमान हैं। उन निमित्तों के द्वारा वह देवदत्त के घर को स्थिर रूप से पहचान लेता है[405]। इसी प्रकार यहां भी **कर्ता कर्मादि कारकों** तथा **भूतवर्तमानादि कालों** से स्थिर रूप में 'क्त' प्रत्यय का ज्ञान हो जाता है। फलतः ककार अनुबन्ध का लोप हो जाने पर भी प्रयोग करने वाला समझ जाता है कि यह **'क्त' प्रत्यय है** जिसकी निष्ठा संज्ञा होती है। इस तरह वह भ्रान्ति में न पड़कर निष्ठासंज्ञक 'क्त' प्रत्यय का निश्चय कर लेता है। 'प्राकीर्ष्ट', 'अभित्त' इत्यादि तिङन्त स्थलों में **कारककालविशेषों** के होने पर भी वह भ्रान्त नहीं होता। वह बुद्धिपूर्वक समझ लेता है कि यह 'त' शब्द तिङन्त का है, कृदन्त का नहीं है। इसीलिए कहीं पर दोष न आने से निष्ठा संज्ञा में "समानशब्दप्रतिषेधः" यह वचन कहने की आवश्यकता नहीं है। 'लोतः', 'गर्तः', 'अभित्त' इत्यादि में दीखने वाले 'क्त' प्रत्यय के समान 'त' शब्द की निष्ठा संज्ञा की व्यावृत्ति बुद्धिमान् के लिए स्वतः सिद्ध है। अन्यत्र भी व्याकरण में स्वल्परूपेण यह न्याय आया है।[406] अनुबन्धों की **एकान्तता** तथा **अनेकान्तता** को लेकर कैयट भी **वृक्षशाखावलाका** न्याय को उपन्यस्त करते हैं, तद्यथा–

2. वृक्षशाखावलाका न्याय / एकान्ता अनुबन्धा / अनेकान्ता अनुबन्धाः न्याय

"अथ यस्यानुबन्ध आसज्यते किं स तस्यैकान्तो भवत्याहोस्विदनेकान्तः? एकान्तस्तत्रोपलब्धेः ...... तद् यथा– वृक्षस्था शाखा वृक्षैकान्त उपलभ्यते ...... अनेकान्तस्तूपलक्षणमेव केवलम्। यथा– गृहस्य काकः। तत्रोपलभ्यमानरूपद्वयदर्शनात् वृक्षे शाखावलाकयोरिवेति प्रश्नः"।[407]

यह न्याय प्रदीपकार ने "तस्य लोपः" सूत्र के भाष्य में अनुबन्धों की एकान्तता और अनेकान्तता पक्ष के सम्बन्ध में लिखा है। इसका अर्थ है कि जैसे किसी वृक्ष में उसकी शाखा और बाहर से उड़कर आई हुई वलाका अर्थात् बगुली आदि पक्षी भी बैठे हैं। उनमें शाखा तो वृक्ष का अपना अवयव है और वलाका वृक्ष से बिल्कुल भिन्न है, बाहर से आकर बैठी है। किन्तु वहाँ पर बैठने के कारण वह इस सन्देह का कारण अवश्य बन जाती है कि इसमें शाखा को वृक्ष का अवयव मानें या बलाका को? स्पष्ट है कि शाखा ही वृक्ष का अवयव होगी, वलाका नहीं। क्योंकि वलाका तो थोड़ी देर बैठकर उड़ जाएगी, उसका वृक्ष के साथ कोई स्थायी सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार शास्त्र में भी ण्, क्, ङ् आदि अनुबन्धों में सन्देह होता है कि ये धातु आदि के अभिन्न अवयव माने जाएं या अनवयव ? इन दोनों पक्षों को एक साथ एक निम्न उदाहरण से भी समझा जा सकता है कि लोक में देवदत्तादिपदबोध्य व्यक्ति केवल हस्तपादादिविशिष्ट मांसपिण्ड ही है, उष्णिषादिविशिष्ट नहीं। क्योंकि उष्णिषादि उसके स्थायी अवयव नहीं है। यदि उष्णिषादि भी अवयव होते तो जैसे देवदत्त को बुलाओ-ऐसा कहने पर हस्तपादादिरहित देवदत्त नहीं लिया जाता अर्थात् इनके साथ ही आता है वैसे ही फिर तो उष्णिषादिरहित देवदत्त का भी आनयन नहीं हो सकता था। परन्तु लोक में इनसे रहित ही देवदत्त लाया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि उष्णीषादि उसके एकान्त अवयव नहीं हैं। ऐसे ही शास्त्र में भी अनुबन्ध भी धातु आदि के एकान्त अवयव नहीं होते। यह तो अनुबन्धों का अनेकान्त पक्ष हुआ।[408] इसके विपरीत लोक में देवदत्त के शरीरस्थ गड्डु आदि उनके स्थायी अवयव भी देखे जाते हैं। फलतः देवदत्त को बुलाने पर गड्ड्वादिविशिष्ट ही देवदत्त का आनयन होता है, तद्रहित का नहीं। ऐसे ही शास्त्र में भी अनुबन्ध एकान्त भी होते हैं। भाष्यकार ने इन दोनों ही पक्षों पर खूब विचार किया है और अन्त में **एकान्त पक्ष** को ही अर्थात् अनुबन्धों को धातु आदि का अवयव ही स्वीकार किया है।[409] क्योंकि इस पक्ष में आने वाले सब दोषों का निराकरण हो जाता है। इन दोनों पक्षों के आधार पर ही व्याकरणशास्त्र में "अनेकान्ता अनुबन्धा इति" तथा "एकान्ताः"[410] ये दोनों न्यायसिद्ध परिभाषाएं लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं। भाष्यकार स्वयं लिखते हैं–

"उभयमिदमनुबन्धेषूक्तमेकान्ता अनेकान्ता इति। किमत्र न्याय्यम्"। एकान्ता इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत् ? अत्र हेतुर्व्यपदिष्टः। यच्च नाम सहेतुकं तन्याय्यम्"।[411]

अन्यत्र भी यह न्याय प्रयुक्त देखा जा सकता है।[412] अनुबन्धों की एकान्तता और अनेकान्तता को उदाहरणान्तरों से स्पष्ट करते हुए भाष्यकार पुनः कहते हैं–

3. यो ह्यनेकान्तेन भेदो नासावन्यत्वं करोति न्याय / अनेकान्तो ह्यनन्यत्वकरः न्याय

"यो ह्यनेकान्तेन भेदो नासावन्यत्वं करोति। तदयथा न यो गोश्च गोश्च भेदः सोऽन्यत्वं करोति। यस्तु खलु गोश्चाश्वस्य च भेदः सोऽन्यत्वं करोति।"[413]

"अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः" इस सूत्र के भाष्य में अकार और आकार का

अभेद दिखाते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं कि जो अनेकान्त से, अनियम से, अनिश्चित रूप से भेद है, वह अन्यता या भिन्नता नहीं करता, जैसे लोक में देखते हैं कि जो सफेद या काली गौ का भेद है, वह उन दोनों के गौ होने में भेद नहीं करता। इसके विपरीत जो नियम से भेद है, उससे अन्यता या भिन्नता अवश्य होती है, जैसे जो गौ और घोड़े का भेद है, उससे उन दोनों में भेद होता है। गौ और है तथा घोड़ा और है- यह बात सभी जानते हैं। किन्तु गौ चाहे सफेद हो, काली हो या गौरी हो, उनमें भेद नहीं होता। वे सब गौ ही हैं। क्योंकि गौ का काली या सफेद होना अनेकान्त है, अनिश्चित है, गोत्व सब में निश्चित है। इसके विपरीत घोड़े और गौ का जो भेद है वह एकान्त है, निश्चित है, वे दोनों भिन्नजातीय हैं। इसी प्रकार अ, आ में भी ह्रस्व, दीर्घ का भेद अनिश्चित है तथा दोनों में अत्व जाति निश्चित है। इसलिए ह्रस्व, दीर्घ के भेद से अ, आ भिन्न नहीं माने जांएगे। इस प्रकार सर्वत्र जातिपक्ष मानकर इष्टसिद्धि हो जाने से "अणुदित्" सूत्र का खण्डन हो जाता है। अनुबन्धों के विषय में अगला न्याय भी पठनीय है।

4. *नानुबन्धकृतमसारूप्यम् न्याय*

"ननु चोक्तम्- अनुबन्धभिन्नेषु विभाषाप्रसङ्ग इति ? परिहृतमेतत्। कथम्? सिद्धमनुबन्धस्यानेकान्तत्वात् इति। अथैकान्ते दोष एव ? एकान्तेषु च न दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति- नानुबन्धकृतमसारूप्यं भवतीति यदयं ददातिदधात्योर्विभाषा शं शास्ति"।[414]

"वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि अनुबन्धों के कारण प्रत्ययों में असारूप्य या असमानता नहीं होती। भाव यह है कि प्रकृत सूत्र असरूप प्रत्ययों के विधान में विकल्प प्रतिपादित करता है। ऐसी स्थिति में जिन प्रत्ययों में प्रयोग की दृष्टि से वस्तुतः तो असमानता नहीं है परन्तु अनुबन्धजन्य असारूप्य अवश्य है, फिर उनके विधान में भी प्रकृत सूत्र से विकल्प प्राप्त होता है अर्थात् वे तथाकथित असरूप प्रत्यय भी विकल्प से प्राप्त होते है।

अब इसका एक समाधान तो भाष्यकार ने अनुबन्धों को धातु आदि का अनवयव मानकर किया है। तदनुसार जैसे लोक में दो समान लम्बाई वाले मनुष्यों मे यदि एक अपने पैरों मे ऊंची एड़ी वाले जूते तथा सिर पर पगड़ी आदि धारण करने के कारण दूसरे की अपेक्षा कुछ बड़ा दिखाई दे रहा है, वस्तुतः नहीं तो उसके विषय में लोग कह देते हैं कि यह तो सोपाधिक होने से बड़ा दिखाई दे रहा है जबकि वह वास्तव में बड़ा नहीं है। ऐसे ही यहां शास्त्र में भी जहाँ वस्तुतः न होकर अनुबन्धों के कारण प्रत्ययों में असमानता होती है वहां सोपाधिक होने से उन प्रत्ययों में असारूप्य नहीं माना जाता।

परन्तु अनुबन्धों को धातुओं का एकान्त अवयव मानने के पक्ष में तो दोष आता

ही है। भाष्यकार इसका भी परिहार देते हुए कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है "ददातिदधात्योर्विभाषा"[415] सूत्रप्रोक्त 'ण' तथा 'श' प्रत्ययों के वैकल्पिक विधानसामर्थ्य से उक्त परिभाषा ज्ञापित हो जाती है। क्योंकि यदि अनुबन्धकृत असारूप्य भी माना जाता तो 'ण' और 'श' प्रत्ययों में भी उनमें आसक्त णकार और शकार अनुबन्धों के कारण स्वतः असारूप्य सिद्ध था। फलतः उक्त धातुओं से फिर "वाऽसरूप" सूत्र के नियम से ही उक्त दोनों प्रत्ययों का विकल्प सिद्ध जाने से यहां 'विभाषा' ग्रहण व्यर्थ हो जाता है और व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नहीं। अतः व्यर्थ पड़कर यह 'विभाषा' ग्रहण यह ज्ञापित करता है कि अनुबन्धजन्य असारूप्य नहीं होता। अनुबन्धों के विषय में ही अगला न्याय भी अवश्य दर्शनीय है।

5. *नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् न्याय*

"एवं तर्हि सिद्धे सति यत् शित्सर्वस्य इत्याह, तज्ज्ञापयत्याचार्यः- भवत्येषा परिभाषा नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वं भवति"[416]

"अनेकालशित् सर्वस्य" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि अनुबन्धों के आधार पर सर्वादेश करने के लिए अनेकाल्त्व नहीं माना जाता, जैसे लोक में एक आंख वाले दो आदमी हैं। अब इन दोनों में यदि किसी एक ने अपनी दूसरी आंख पत्थर की बनवाकर लगाई हो तो आपाततः दो आंख दिखाई देने पर भी वह व्यक्ति दो आंखों वाले का व्यपदेश नहीं प्राप्त कर सकता अपितु काणा ही कहलाता है। वैसे ही यहां शास्त्र में भी यदि अनुबन्धों के कारण भी अनेकालता मानी जाती तो 'सर्वे' में "जसः शी"[417] सूत्र में "शित्सर्वस्य" ऐसा क्यों पढ़ा जाता ? इस तरह यह "शित्सर्वस्य" ग्रहण व्यर्थ हो जाता है किन्तु व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नहीं। अतः व्यर्थ पड़कर यह शिद्ग्रहण यह ज्ञापित करता है कि शास्त्र में अनुबन्धजन्य अनेकाल्त्व नहीं होता।

6. *वाक्यैकदेशग्रहण / पदैकदेशग्रहण / नामैकदेशग्रहण / संज्ञैकदेशग्रहण न्याय*

"यथा काकाज्जातः काकः, श्येनाज्जातः श्येनः एवं संप्रसारणाज्जातं सम्प्रसारणम्। अथवा दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान् प्रयुञ्जानाः, पदेषु च पदैकदेशान्। वाक्येषु तावद् वाक्यैकदेशान्-प्रविश पिण्डीम्, प्रविश तर्पणम् इति। पदेषु पदैकदेशान्-देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति। एवमिहापि सम्प्रसारणनिर्वृत्तात् सम्प्रसारणनिर्वृत्तस्येत्येतस्य वाक्यस्यार्थे सम्प्रसारणात् सम्प्रसारणस्येत्येष वाक्यैकदेशः प्रयुज्यते। तेन निर्वृत्तस्य विधिं विज्ञास्यामः"।[418]

"इग्यणः सम्प्रसारणम्" इस सम्प्रसारणसंज्ञाविधायक सूत्र में जब यण् के स्थान में होने वाले इक् वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा होती है- ऐसा अर्थ करके वाक्य की सम्प्रसारण संज्ञा मानते हैं तो यण् के स्थान में पहले से हुए इक् वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा नहीं प्राप्त होती। फलतः जहां यण् के स्थान में इक् विधान हो रहा होगा वहीं सम्प्रसारण

संज्ञा होगी। परन्तु जहां पहले से हुए इक् वर्ण को सम्प्रसारण मानकर "सम्प्रसारणच्च"[419] से पूर्वरूप तथा "सम्प्रसारणस्य"[420] सूत्र से दीर्घ विधान करते हैं, वहां सम्प्रसारणसंज्ञा के न होने से उक्त कार्य सिद्ध नहीं होते। उनकी सिद्धि के लिए भाष्यकार इस लोकन्याय का आश्रयण करते हुए कहते हैं कि जैसे लोक में कौए से उत्पन्न सन्तान भी कौआ कहलाती है तथा श्येन (बाज) से उत्पन्न सन्तान भी श्येन ही कहलाती है वैसे ही यहां शास्त्र में भी सम्प्रसारण से उत्पन्न वर्ण भी 'उपचारात्' सम्प्रसारण कहा जाएगा तो केवल वर्ण की भी सम्प्रसारण संज्ञा होकर पूर्वरूप तथा दीर्घरूप सिद्ध हो जाएंगे, जैसेः- 'इष्टम्' (यज्+क्त), 'उप्तम्' (वप्+क्त) यहां क्रम से 'यज्' और 'वप्' को "वचिस्वपियजादीनां किति"[421] से 'य्' को इकार तथा 'व्' को उकार सम्प्रसारण होता है। यण् के स्थान में हुए इस इकार उकार को भी उपचार से सम्प्रसारण मानकर फिर मकारवकारोत्तरवर्ती अकार को पूर्वरूप सिद्ध हो जाता है।

इसके साथ हम लोक में यह भी देखते हैं कि सम्पूर्ण वाक्य के स्थान में केवल उसका एकदेश या अवयव ही प्रयुक्त किया जाता है तथा सम्पूर्ण पद के स्थान में उस पद का एकदेश हीं प्रयुक्त किया जाता है। इनमें पहले वाक्यैकदेश जैसे- "प्रविश पिण्डीम्" तथा 'प्रविश तर्पणम्' यहां 'प्रविश गृहम्', पिण्डीं (अन्नम्) लभस्व भुङ्क्ष्व वा' इस सम्पूर्ण वाक्य के स्थान में केवल 'प्रविश पिण्डीम्' इतना बोल दिया जाता है जिससे प्रकरणादि के आधार पर 'घर में घुसिए और भोजन कीजिए' यह अर्थ प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रविश तर्पणम्' का भी यही अर्थ है कि 'प्रविश गृहम् तर्पणं कुरु, अर्थात् घर में घुसिए और तर्पण कीजिए।

"कर्मणा यमभिप्रैति" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में पदमञ्जरीकार ने भी यह न्याय उद्धृत किया है। वे लिखते हैं-

7. प्रतीयमानक्रियापेक्षोऽपि कारकभावो भवत्येव न्याय / प्रविश पिण्डीम् न्याय

"प्रतीयमानक्रियापेक्षोऽपि कारकभावो भवत्येव यथा - प्रविश पिण्डीमित्यत्र भक्षयेति गम्यते।"[422]

यहां इनके कहने का भी यही भाव है कि 'गृहं प्रविश' और 'पिण्डीं भक्षय' ऐसा कहने के बजाय अर्थात् 'गृहम्' और 'भक्षय' इनका प्रयोग न करके केवल 'प्रविश' और 'पिण्डीम्' इन दो ही पदों का प्रयोग किया जाता है और सुनने वाला मनुष्य भी स्वयं ही समझ जाता है कि 'प्रविश' तो घर में घुसने के लिए है और 'पिण्डीम्' यह प्रतीयमान या गम्यमान कर्मकारक भक्षण क्रिया के लिए है। इस प्रकार के जो वाक्य होते हैं जिनमें किसी क्रिया या कारक का अध्याहार कर लिया जाता है, वे इस न्याय के अन्तर्गत आते हैं। लोक में भी हम देखते हैं कि किसी का पूरा नाम न लेकर उसके एकदेश का ही प्रयोग कर देते हैं, जैसे- भीमसेन को भीम, सत्यभामा को

भामा और देवदत्त को केवल दत्त शब्द से ही बोल देते हैं। जिस प्रकार पूरे पद के स्थान में उस पद का एक भाग ही बोल दिया है, उसी प्रकार वाक्यों में भी पूर्ण वाक्य के स्थान पर वाक्य का एकदेश बोल दिया जाता है। 'प्रविश पिण्डीम्' यह वाक्य के एकदेशप्रयोग का उदाहरण है। यह वाक्यैकदेश न्याय अन्यत्र भी पर्याप्त प्रयुक्त हुआ है।[423]

इसी प्रकार पदैकदेश जैसे– देवदत्तः, सत्यभामा इन सम्पूर्ण पदों के स्थान में इनका एकदेश क्रमशः देवः, या दत्त और सत्या या भामा इतना ही बोल देते हैं और उस एकदेश के प्रयोग से ही समस्त पद का अर्थ समझ में आ जाता है। "ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः" सूत्रस्थ वार्तिकव्याख्या में पदमञ्जरीकार ने भी यह न्याय दिया है। वे लिखते हैं–

8. एकदेशेन समुदायेऽनुमीयते न्याय / गोविषाण न्याय

"संज्ञाशब्दस्यैकदेशे लुप्ते कथं संज्ञिनोऽवगमः न हि देव इति वा दत्त इति वा संज्ञा कृता, किं तर्हि ? देवदत्त इति। अत्राहुः- एकदेशेन समुदायेऽनुमीयते विषाणेनेव गौः, सोऽनुमितोऽर्थस्य वाचक इति"।[424]

इस गोविषाण न्याय का अर्थ यह है कि पूरे संज्ञा शब्द के स्थान पर उसके एकदेश अथवा अवयव का भी प्रयोग हो जाता है, जैसे– देवदत्त इस संज्ञा शब्द को देव या दत्त इस एकदेश से भी प्रयुक्त कर सकते हैं। और फिर उस एकदेश से ही समुदाय का भी अनुमान कर लिया जाता है, जैसे– गौ के एकदेश सींग से पूरी गौ का अनुमान हो जाता है। यह न्याय व्याकरणशास्त्र में बहुत प्रसिद्ध है। इस न्याय के प्रसङ्ग में भर्तृहरि के माध्यम से प्रदीपकार लिखते हैं– "पदानामेव तु संज्ञैकदेशानां साधुत्वमिष्यते इति लोपविधान द्वारेण तदभ्यनुज्ञायते। तदुक्तम्–

"तुल्यायामनुनिष्पत्तौ देयसो इत्यसाधवः।
न ह्यन्वाख्यायते शास्त्रे तेषु दत्तादिवत्स्मृतिः॥" (वा. प. 2.362.)

समुदायस्य संज्ञात्वे तदेकदेशः प्रयुज्यते। तत्र समुदायस्य मुख्यं संज्ञात्वमवयवानां त्वनुनिष्पन्नम्"।[425]

पदैकदेश न्याय का भी शास्त्र में पर्याप्त प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[426]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में भाषावैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी वास्तविकता यह है कि थोड़े लाभ के लिए अधिक परिश्रम करना मानवस्वभाव के विरुद्ध है। इसीलिए मानवस्वभाव की यह विशेषता देखी जाती है कि वह कम से कम प्रयत्न से अधिक से अधिक भाव प्रकट करना चाहता है। इसी कारण भाषा में सूक्ति, लोकोक्ति तथा मुहावरे आदि का जन्म हो जाता है। भाषाविज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में यही प्रयत्नलाघव या मुखसुख (Economy of Efforts or the Easy Theory) कहलाता है। इसके अन्तर्गत ध्वनि, लोप, आगम, समीकरण, विषमीकरण या वर्णव्यत्यय आदि की भी गणना

की जाती है। वाक्य के स्थान में वाक्यैकदेश तथा पद के स्थान में पदैकदेश भी इसी प्रयत्नलाघव का परिणाम है।[427]

परन्तु ध्यान रहे कि लोक और शास्त्र दोनों के द्वारा एकदेश के प्रयोग को प्रमाणित कर देने पर भी शब्दशक्तिस्वभाव से कहीं तो नाम के पूर्ववर्ती एकदेश का प्रयोग होता है, जैसे दाशरथि रामचन्द्र के बोध के लिए केवल राम शब्द ही प्रयुक्त होता है, उत्तरवर्ती चन्द्र शब्द नहीं। यदि यह चन्द्र शब्द प्रयुक्त हो भी जाए तो भी उससे अभीष्टार्थप्रतिपत्ति नहीं होगी। कहीं उत्तरवर्ती एकदेश का प्रयोग होता है, जैसे– जामदग्न्य परशुराम बोध के लिए केवल राम शब्द ही प्रयुक्त होता है, पूर्ववर्ती परशु शब्द नहीं। यदि यह परशु शब्द प्रयुक्त हो भी जाए तो भी उससे अभीष्टार्थबोध नहीं हो सकेगा। इसी तरह बलराम शब्द के विषय में भी जानना चाहिए। इस तरह राम शब्द से उक्त तीनों अर्थ प्रकारान्तर से जाने जाते हैं। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर पूर्ववर्ती अथवा उत्तरवर्ती दोनों अवयव या एकदेश के प्रयोग से भी अर्थबोध होता है, जैसे– देवदत्त शब्द के स्थान पर देव या दत्त किसी भी पद के प्रयोग से अभीष्ट अर्थ बोध हो जाता है।

अस्तु, ऐसे ही यहाँ 'सम्प्रसारणनिर्वृत्तात्' इस पद के स्थान में 'सम्प्रसारणात्' तथा 'सम्प्रसारणनिर्वृत्तस्य' इसके स्थान में 'सम्प्रसारणस्य' यह एकदेश प्रयुक्त कर दिया गया है जिसका अर्थ है कि जो सम्प्रसारण से निर्वृत्त या निष्पन्न या उत्पन्न इक् वर्ण है उससे परे पूर्वरूप होता है और जो सम्प्रसारण से निर्वृत्त, निष्पन्न इक् वर्ण है, उसको दीर्घ होता है। तात्पर्य यह है कि "सम्प्रसारणाच्च" और "सम्प्रसारणस्य" इन दोनों स्थानों में सम्प्रसारण शब्द 'सम्प्रसारण से निष्पन्न' अर्थ में लाक्षणिक है। अथवा "विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः"[428] इस वार्तिक के वचन से 'सम्प्रसारण' शब्द 'सम्प्रसारण से निष्पन्न' अर्थ का अभिधान करता है। इस प्रकार वाक्यसंज्ञापक्ष मानने पर भी वर्णसंज्ञा के काम निर्विघ्न सिद्ध हो जाने से कहीं दोष नहीं होगा।[429]

9. मयूराण्डरस न्याय

"आण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।

वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो लभते क्रमम्"।।[430]

इस कारिका के द्वारा भर्तृहरि यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि यद्यपि वक्तृबुद्धिस्थ मध्यमावस्थ स्फोटरूप शब्दात्मा वाक्य अखण्ड एवं नित्य है तथापि जैसे मयूर के अण्डे के रस में आपाततया प्रारम्भ में तो किसी भी प्रकार का अङ्ग, प्रत्यङ्ग या मनोहारी रंगों वाला चन्द्रमा दिखाई न देने पर भी भाविसंज्ञाविज्ञान न्याय से आगे चलकर कालान्तर में उक्त सभी रङ्ग या वस्तुएं स्वतः प्रकट हो जाती हैं अर्थात् मयूर के सभी अङ्गों, प्रत्यङ्गों या चन्द्रमा के रङ्गों आदि सभी को न छोड़ते हुए यथा सम्प्रति अदृश्य रूप

में किन्तु कालान्तर में प्रकट रूप में वस्तुओं को अपने में समेटते हुए वहाँ अण्डे का रस विद्यमान होता है वैसे ही यहाँ शास्त्र के दूसरे को बोध कराने की इच्छा से इस अखण्ड स्फोटरूप शब्दात्मा वाक्य की भी आविर्भावतिरोभावात्मिका क्रियारूप वृत्ति वर्णपदादि अवयवों के रूप में विभागशः क्रम को प्राप्त करती है अर्थात् स्फोट रूप शब्दात्मा वाक्य वक्ता की बुद्धि में अखण्ड होते हुए भी दूसरों को अर्थबोध कराने के लिए श्रोता की बुद्धि तथा कानों में जाकर वर्णपदादि के रूप में उपचरित होकर क्रमवान् बन जाता है।

अथवा इसे यूं कह सकते हैं कि यह स्फोटरूप शब्दात्मा वाक्य भी वर्णपदादि सभी अवयवों को सर्वथा न छोड़ते हुए उन्हें अदृश्यरूप में अपने अन्दर समेटे रहता है। परन्तु ये अवयव प्रकट तब होते हैं जब इस स्फोटात्मा वाक्य को दूसरों को बोध कराना विवक्षित इष्ट हो। इसी सन्दर्भ में अग्रिम न्याय भी द्रष्टव्य हैं–

10. चित्रबुद्धि न्याय

11. पानकरस न्याय

"चित्रस्यैकस्वरूपस्य यथाभेदनिदर्शनैः।

नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः।।

तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकांक्षस्य सर्वतः।

शब्दान्तरैः समाख्यानं साकाङ्क्षैरनुगम्यते"।।[431]

यहाँ वाक्यपदीयकार वाक्य को एक, अखण्ड तथा निरवयव प्रतिपादित करते हुए उक्त न्याय को प्रस्तुत करते हैं कि जैसे चित्र एक है, अपने आप में परिपूर्ण है और प्रथम दृष्ट्या उसे उसी पूर्णता की दृष्टि से देखा भी जाता है परन्तु बाद में चित्र के अन्य अङ्गों पर भी दृष्टि जाती है और उसे समझने-समझाने के लिए हम उन अन्य भागों पर भी विचार करते हैं वैसे ही वास्तव में तो यद्यपि वाक्य भी एक, निराकाङ्क्ष, और निर्भाग है तथापि उसे समझने-समझाने की दृष्टि से हम उसे पद, वर्ण आदि के भागों में बाँट लेते हैं जबकि अपने मूल रूप में वह सर्वथा अक्रम या भागरहित है।

इसी प्रकार व्याकरणशास्त्र में पानकरस (षाडव शरबत) न्याय भी इस विषय में उद्धृत किया जाता है। तदनुसार जैसे पानक रस स्वयं में तो एक अदभुत विलक्षण स्वादिष्ट रस है तथा निरवयव है परन्तु उसके विश्लेषण की जिज्ञासा होने पर उसमें विद्यमान मधुर, तिक्त तथा अम्लादि अनेक रसों को उपस्थित दिखाया जा सकता है वैसे ही यों तो वास्तव में वाक्य एक तथा निरंश है तथापि प्रतिपत्तिलाघव के लिए उसे वर्ण, पदादि के रूप में विभक्त भी दिखाया जा सकता है।

12. हंसक्षीरोदक न्याय

"प्रागुदञ्चौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा।
विदुषां शब्दसिध्यर्थं सा नः पातु शरावती"॥[432]

"एङ् प्राचां देशे" सूत्र की व्याख्या में उक्त न्याय काशिकाकार ने दिया है। इस न्याय का अर्थ है कि जैसे हंस मिले हुए दूध और पानी में से केवल दूध को निकाल लेता है और पानी छोड़ देता है। ऐसा विवेक भगवान् ने हंस प्राणी में ही वरदान के रूप में दिया है। ऐसे ही शरावती नामक नदी पूर्वदेश और उत्तरदेश दोनों के मिले हुए होने पर भी उनका विभाग कर देती है कि यह पूर्वदेश है और यह उत्तरदेश है। अर्थात् इन दोनों के बीच में शरावती नदी बहती है। यह बात "एङ् प्राचां देशे" इस सूत्र की व्याख्या में न्यासकार ने भी स्पष्ट कही है।

वैसे यह बात विचारणीय है कि हंस को यह पूर्वोक्त शक्ति कैसे मिली या फिर यह साहित्यिक किंवदन्तीमात्र है ? वास्तविकता है कि हंस की चोंच में खटाई होती है। सम्पृक्त क्षीरोदक में उसकी चोंच लगते ही दूध फट जाता है। परिणामतः हंस केवल फटे दूध को पी लेता है और बाद में मात्र जल शेष रह जाता है। इसी प्राकृतिक गुण के आधार पर हंस को नीरक्षीरविवेकी के रूप में संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त है।

13. काकतालीय न्याय

"कथं पुनर्नित्यानां शब्दानामन्धकादिवंशसमाश्रयेणान्वाख्यानं युज्यते ? केचिदाहुः कथमपि काकतालीयन्यायेन कुर्वादिवंशेष्वसंकरैणैव नकुलसहदेवादयः शब्दाः सुबहवः सकलिताः तानुपादाय पाणिनिना स्मृतिरुपनिबद्धेति।"[433]

"ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए काशिकाकार ने इस न्याय को उद्धृत किया है। यह न्याय बहुत अधिक प्रसिद्ध है। इसका सीधा सा अर्थ है कि इधर से कौए का आना हुआ और उसी समय ताल वृक्ष के फल का गिरना हुआ– ये दोनों कार्य अचानक ही एक साथ हो जाते हैं। यद्यपि यह कोई आवश्यक नहीं था कि कौए के आने पर ही ताल का फल गिरे। किन्तु अचानक ऐसा हो गया। इसे संयोग ही समझना चाहिए अर्थात् अकस्मात् किसी घटना के घटित होने की स्थिति में उक्त न्याय प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार कुरु आदि वंशों के वाचक नकुल, सहदेव आदि शब्द व्याकरणशास्त्र में नित्य हैं। नित्य होते हुए भी इन शब्दों से अन्धक, वृष्णि तथा कुरु आदि अनित्य वंशों का बोध होता है। काशिकाकार के अनुसार इसे काकतालीय न्याय ही समझिए जो ये शब्द नित्य होते हुए भी नकुल सहदेवादि अनित्य पुरुषों के वाचक बन जाते हैं। काकतालीय के विषय में भर्तृहरि लिखते हैं–

"चैत्रस्य तत्रागमनं काकस्यागमनं यथा।
दस्योरभिनिपातस्तु तालस्य पतनं तथा॥
क्रियायां समवेतायां द्रव्यशब्दोऽवतिष्ठते।
पातागमनयोः काकतालशब्दौ तथा स्थितौ॥"[434]

यह न्याय अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।[435] भाव की दृष्टि से इसी के समान अजाकृपाणीय न्याय का भी प्रयोग करते हुए पदमञ्जरीकार कहते हैं–

14. अजाकृपाणीयम् न्याय

"अजाकृपाणीयमिति। अजाया गच्छन्त्याः कृपाणेनाधःपतता यथा वधस्तत्सदृशमित्यर्थः"।[436]

यह न्याय काशिका आदि प्रायः सभी ग्रन्थों में निम्न सूत्र की व्याख्या में मिलता है– "समासाच्च तद्विषयात्"। इसका अर्थ है कि जैसे– अजा अर्थात् बकरी कहीं जा रही हो और उसके ऊपर अचानक ही किसी से चलाई हुई तलवार गिर पड़े और फलस्वरूप उसका वध हो जाए। इस प्रकार जो कार्य अचानक होते हैं, वे इस न्याय के अन्तर्गत आते हैं। तलवार चलाने वाले ने यह सोचा भी नहीं था कि मेरी इस तलवार से बकरी मर जाएगी। किन्तु ऐसा अचानक हो गया। इसी न्याय को अन्य नामों से भी कह सकते हैं, जैसे– काकतालीय, खल्वाटबिल्वीय, शरपुरुषीय, शर्करोन्मज्जनीय और घुणाक्षर न्याय आदि। जैसे किसी लकड़ी में लगा हुआ घुण उस लकड़ी के अवयवों को इस प्रकार से खाता है कि वे खाए हुए टुकड़े लकड़ी के अन्दर ऐसे बन जाते हैं जैसे अक्षर हों। यद्यपि घुण ने यह सोचकर लकड़ी को नहीं खाया कि मैं इसमें अकारादि अक्षर बनाऊँगा और न ही वह क्षुद्र कीट इस बात को जानता है कि अक्षर कैसे होते हैं ? फिर भी उसके सहजभाव से खाने से जो लकड़ी के अन्दर अक्षर के समान आकृति बन जाती है वही इस न्याय का विषय है। ध्यान रहे कि यह न्याय केवल प्रकृत शब्दसाधुत्वसम्पादन की दृष्टि से ही व्याकरणग्रन्थों में उद्धृत पाया जाता है, इससे कोई अन्य शास्त्रीय प्रयोजन नहीं सिद्ध किया गया है जबकि अन्य शास्त्रों में इसका मूल भाव में ही प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत न्याय खण्डनखण्डखाद्य तथा गणरत्नमहोदधि आदि में भी देखा जा सकता है।[437] इस विषय में अग्रिम न्याय भी पठनीय है -

15. अन्धकवर्तकीयम् न्याय

"अन्धकवर्तकीयमिति। वर्तिका = शकुनिविशेषः, तस्या अन्धहस्ते पतनं ग्रहणं च यादृच्छिकं तादृगित्यर्थः"।[438]

यह न्याय भी "समासाच्च तद्विषयात्" सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार आदि

ने दिया है। इसका प्रयोग भी ऐसी अवस्था में होता है जो अचानक अर्थात् 'अतर्कितोपनत' हो जाए। इसका अर्थ है कि कोई अन्धा कहीं जा रहा हो और उसे अपनी क्षुधा की निवृत्ति के लिए अन्य वस्तु न मिलने पर कोई बटेर हाथ में लग जाए तो उसको 'अन्धे की बटेर' या 'अन्धे के हाथ में बटेर' ऐसा कह देते हैं। इस प्रकार अचानक होने वाले कार्यों में इन न्यायों का प्रयोग होता है। गणरत्नमहोदधि तथा यशस्तिलकचम्पू में भी उक्त न्याय पाया जाता है।[439]

16. खलेकपोतिका न्याय

"यदा त्वयं न्यायः 'प्रथमातिक्रमे कारणाभावात्' प्रथमाया एवैकवचनमव्ययेभ्य उत्पद्यते इति तदाऽसर्वा विभक्तयो यस्मादित्यपि विग्रहे आश्रिते न दोषः। यदा तु खले कपोतिकान्यायेन सर्वैकवचनोत्पत्तिपक्षस्तदैतदुक्तम्"।[440]

यह न्याय प्रदीपकार ने "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" सूत्र के महाभाष्यगत 'असर्वविभक्ति' ग्रहण की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि जैसे खलिहान में अनाज पड़ा हो तो वहां एकान्त पाकर उसे खाने के लिए कबूतर एक साथ ही उमड़ पड़ते हैं। अब वहां बड़े-छोटे का क्रम नहीं देखा जाता। जिसको मौका मिलता है वही खाने दौड़ता है, तद्यथा–

"वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथामी युगपत् पतन्ति।
तथैव सर्वे युगपत् परार्थाः परसारेणान्वयिनो भवन्ति"॥

इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी जब सभी विभक्तियों का एकवचन प्राप्त होने का पक्ष है तो प्रत्येक विभक्ति का एकवचन होगा जबकि हमें "प्रथमातिक्रमे कारणाभावः" न्याय के अनुसार क्रमप्राप्त प्रथमा विभक्ति का एकवचन ही अभीष्ट है। भाष्यकार ने लिखा भी है कि "एकवचनमुत्सर्गः करिष्यते"। इसका अर्थ है कि वाक्यार्ह पदत्व सामर्थ्य बनाने के लिए सामान्यतया प्रथमा विभक्ति का एकवचन तो अव्ययों से भी हो जाएगा। वहां इस 'खलेकपोतिका' न्याय की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह न्याय व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[441]

17. काकदन्तपरीक्षा न्याय

"तथा नलोपस्यासिद्धत्वादेत्वाप्राप्तौ वचनमिति माधवोक्तिरपि शिथिलमूला। श्रन्थेति प्राग्भागे संयोगसत्त्वाद् ग्रन्थेरादेशादित्वाच्चैत्वाप्राप्तेरुद्धटतया नलोपसिद्धत्वासिद्धत्वविचारस्य काकदन्तपरीक्षाप्रायत्वादिति दिक्"।[442]

यह न्याय शब्दकौस्तुभकार ने "इन्धिभवतिभ्यां च" सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इनका कहना है कि माधवीया धातुवृत्ति में "श्रन्थिग्रन्थि दम्भिस्वञ्जीनां लिटः कित्वं वा"[443] इस वार्तिक के प्रसङ्ग में जो यह कहा गया है कि अन्य धातुओं के लिट् को कित् कर देने पर भी नलोप के असिद्ध होने से एत्व नहीं होगा तो यह ठीक

नहीं। क्योंकि भट्टोजि के मत में श्रन्थ, ग्रन्थ आदि धातुओं के संयोगान्त होने से और ग्रन्थ धातु के तो आदेशादि भी होने से वहाँ 'एत्व' की प्राप्ति ही नहीं। अतः उसके लिए श्रन्थ, ग्रन्थ के नकारलोप की सिद्धता या असिद्धता का विचार करना फिर ऐसा ही है जैसाकि कौए के दांतों की परीक्षा करना कि कौए के कितने दाँत होते है– ऊपर के भाग में कितने और नीचे के भाग में कितने ? यह परीक्षा जैसे व्यर्थ है वैसे ही माधवीया धातुवृत्ति में यह उक्त विचार भी व्यर्थ है– यह सिद्ध करने के लिए उक्त न्याय दिया गया है। प्रस्तुत न्याय के विषय में निम्न श्लोक द्रष्टव्य है–

"दन्ताः कियन्तः काकस्य मेषस्याण्डं कियत्पलम्।
गदर्भस्य कियल्लिङ्गमेषा मूर्खविचारणा॥"[444]

अर्थ की दृष्टि से यह न्याय तुषकण्डनन्याय, जलमन्थन न्याय, जलताडन न्याय, अजागलस्तन न्याय तथा गर्दभरोमगणनन्याय इत्यादि की कोटि में आता है। इसे ही 'वायसदशनदर्शन' न्याय नाम से भी कहा जाता है। उक्त न्याय अन्यत्र अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है।[445]

घ(2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित पक्षीसम्बन्धी लोकन्याय

1. भक्ष्याभक्ष्यधर्मनियम न्याय/अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः न्याय[446]
2. सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लट्द्वानुकृष्यते (लट्द्वानुकर्षण) न्याय[447]
3. शकुनि न्याय[448]
4. तीर्थकाक न्याय[449]
5. न हि काको वाश्यते न्याय[450]
6. पुनः प्रसङ्गविज्ञान न्याय[451]
7. काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् (दध्युपघातक काकादिदधिरक्षण) न्याय[452]
8. पिककोकिल न्याय[453]
9. कपिञ्जलालम्भन न्याय / प्रत्यासत्ति न्याय / आ वनान्तात् ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत् न्याय[454]
10. न हि विजातीयः केवलत्वं विहन्ति न्याय[455]
11. काकाक्षि (गोलक) न्याय[456]

ङ (1) सरीसृपसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. अहिनकुलम् न्याय / व्यालनकुल न्याय

समाहारद्वन्द्व के एकवद्भाव प्रकरण में सूत्रकार आचार्य पाणिनि ने "येषां च विरोधः शाश्वतिकः"[457] यह सूत्र पढ़ा है। व्याख्याकारों द्वारा दिए गए प्रायः इसके सभी उदाहरण प्रत्युदाहरण लोकन्याय जैसे हैं। क्योंकि इस सूत्र का विषय सर्वथा लौकिक ही है।

इस सूत्र का अर्थ है कि जिनका शाश्वतिक विरोध या वैर है, उनका समाहारद्वन्द्व एकवत् होता है, जैसे - 'अहिनकुलम्'। यहां 'अहयश्च नकुलाश्च तेषां समाहारः' इस विग्रह में समाहारद्वन्द्व समास होने पर फिर प्रकृत सूत्र से इनका एकवद्भाव हो गया तो "स नपुंसकम्"[458] से नपुंसक होकर उक्त प्रयोग बन जाता है। इसी प्रकार लोक में भी जब किन्हीं का पारस्परिक चिरविसंवाद या शत्रुता बतानी अभीष्ट हो तो उक्त प्रयोग का उदाहरण दिया जाता है कि भाई उनमें तो सदा 'अहिनकुलम्' की स्थिति रहती है।

भाव की दृष्टि से 'काकोलूकीयम्' तथा 'गोव्याघ्रम्' न्याय भी इसी के ही अन्तर्गत आते हैं। ये भी प्रकृत सूत्र के ही उदाहरण दिए जाते हैं। यद्यपि प्रयोग की दृष्टि से लोक में शाश्वतिक विरोध को दिखाने के लिए 'देवासुर (संग्राम) शब्द' का भी व्यवहार होता है तथापि व्याख्याकारों के अनुसार देवताओं तथा असुरों का विरोध या वैर शाश्वतिक या नित्य नहीं है अपितु अमृतादि के कारण कभी-कभी होने वाला ही है, जैसे अमृतमन्थनकाल में दोनों ने मिलकर ही समुद्र मथा, तब उनमें विरोध नहीं था। अतः, इनके मत में, यहां समाहारद्वन्द्वप्रयुक्त एकवद्भाव नहीं होगा।[459] जो भी हो, प्रयोग की दृष्टि से तो उक्त उदाहरण लोक में शाश्वतिक विरोध अर्थ को बताने के लिए न्याय के रूप में व्यवहृत होता ही है।

2. *अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति न्याय / गोधासर्पण न्याय / शालिकुल्या प्रणयन न्याय*

"यत्तावदुच्यते - न चान्यार्थं प्रकृतमन्यार्थं भवतीति, अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। तद्यथा- शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते। ताभ्यश्च पानीयं पीयते। उपस्पृश्यते च। शालयश्च भाव्यन्ते। यदप्युच्यते - न खल्वप्यन्यत् प्रकृतमनुवर्तनादन्यद् भवति। न हि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति इति। भवेद् द्रव्येष्वेतदेवं स्यात्। शब्दस्तु खलु येन येन विशेषेणाभिसम्बध्यते तस्य तस्य विशेषको भवति"।[460]

संज्ञा अर्थ में प्रयुक्त "बहुगणवतुडति संख्या" सूत्रस्थ 'संख्या' शब्द को 'ष्णान्ता षट्' सूत्र में संज्ञी अर्थ में प्रयुक्त करने के लिए भाष्यकार प्रकृत न्याय को उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि यह जो आपने कहा कि अन्य के लिए प्रस्तुत वस्तु अन्य के लिए नहीं हो सकती - सो ठीक नहीं। क्योंकि अन्य के लिए प्रस्तुत वस्तु भी अन्य के लिए उपयुक्त हो सकती है। जैसे लोक में देखते हैं कि धानों के लिए नहरें निकाली जाती हैं। किन्तु उन नहरों से पानी भी पीया जाता है, स्नान भी किया जाता है, वस्त्रप्रक्षालन भी किया जाता है और धान भी सम्पन्न हो जाते हैं। और इसी प्रकार जो यह कहा कि अन्य प्रकृत वस्तु अनुवृत्तिमात्र से अन्य नहीं हो सकती। जैसे यदि गोधा (गोह) सरकना शुरू करे तो सरकने मात्र से वह सांप नहीं हो सकती तो इसका उत्तर यह है कि भले ही लौकिक द्रव्यों में अन्य प्रकृत वस्तु अनुवृत्तिमात्र से अन्य नहीं हो सकती।

फलतः गोह सांप का अनुकरण करने मात्र से सांप नहीं हो सकती। किन्तु यहां व्याकरणशास्त्र में तो शब्द का सम्बन्ध है। अतः वह शब्द जिस-जिस विशेष के साथ सम्बद्ध होगा उसी - उसी का विशेषक हो जाएगा[461] अर्थात् कोई शब्द पूर्वसूत्र में स्वरूपपरक होते हुए भी एकाधिकार के कारण या शब्दों के अनेक अर्थों के उत्तर सूत्र में अनुवृत्त होने पर लक्ष्यानुरोधात् उन सब के बोधन में शक्त होने कारण अर्थपरक भी हो सकता है।[462]

तदनुसार प्रस्तुत प्रसङ्ग में "बहुगणवतुडति संख्या" सूत्र में प्रयुक्त संख्या शब्द यद्यपि स्वरूपपरक संज्ञा है तथापि उसी की अनुवृत्ति जब "ष्णान्ता षट्"[463] इस षट्संज्ञाविधायक उत्तरसूत्र में जाएगी तो वही स्वरूपपरक संख्या शब्द 'प्रत्युच्चारणं शब्दा भिद्यन्ते' इस नियम से 'ष्णान्ता' से सम्बद्ध होकर अर्थपरक संज्ञी बन जाएगा अर्थात् षकारान्त नकारान्त जो संख्या, उसकी षट्संज्ञा होती है - यह अर्थ निर्बाध सिद्ध हो जाएगा। इस प्रकार संज्ञार्थप्रयुक्त संख्या शब्द उत्तरसूत्र में संज्ञी का विशेषण भी बन जाएगा। इसमें कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि संज्ञा के साथ सम्बन्ध में वह संज्ञा है और अनुवृत्ति द्वारा 'ष्णान्ता' इस संज्ञी के साथ सम्बन्ध में वह उसका विशेषण हो जाएगा। इसलिए "ष्णान्ता षट्" इस उत्तरसूत्र के लिए पृथक् 'संख्या' ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है। अनुवृत्ति से ही काम चल जाएगा।

इसी प्रकार "अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" सूत्र के भाष्य में भी प्रकृत्यर्थ नियम मानने पर फिर "भावकर्मणोः"[464] इस सूत्र से भावकर्म में आत्मनेपद ही होगा और घञ् न हो सकेगा - इस दोष का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'घञ्' विधान करने वाले सूत्र में "अण् कर्मणि च"[465] से 'कर्मग्रहण' की अनुवृत्ति होने पर कर्म में 'घञ्' भी हो सकेगा। इस पर शङ्का करते हुए यह प्रकृत लोकन्याय दिया गया है। तदनुसार भाष्यकार कहते हैं कि यदि "अण् कर्मणि च" सूत्र से 'घञ्' विधायक सूत्र में 'कर्मग्रहण' की अनुवृत्ति मानी जाएगी तो वह बनती नहीं। क्योंकि "अण् कर्मणि च" सूत्र में 'कर्म ग्रहण' उपपद विशेषण है अर्थात् कर्म उपपद होने पर - ऐसा वहां अर्थ है और यहां 'घञ्' विधायक सूत्र में 'कर्मवाच्य' अर्थ लेना हैं। अन्यार्थवाचक शब्द अनुवृत्ति से अन्यार्थ वाचक नहीं हो सकता - इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में शङ्का उठाकर फिर उपरि पठित इसी लोकन्याय के अधांश से इसका समाधान भी कर दिया गया है। इसी प्रकार "मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च"[466] सूत्रभाष्य में भी इस सूत्र के साथ "आदेच उपदेशेऽशिति"[467] सूत्रस्थ उपदेश ग्रहण का प्रकृत न्याय के आधार पर ही यथावत् सम्बन्ध घटित किया गया है। प्रस्तुत न्याय व्याकरणेतर अनुशासनों में भी देखा जा सकता है।[468] इसी को शालि कुल्याप्रणयन न्याय भी कहा जा सकता है।[469]

ङ (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित सरीसृपसम्बन्धी लोकन्याय

1. शल्यक न्याय[470]
2. अवतप्ते नकुलस्थित न्याय[471]
3. गिरिमुत्पाट्य मूषिकोद्धृता न्याय[472]
4. वृश्चिकभिया न्याय[473]
5. रज्जुसर्प न्याय[474]
6. सर्पदर्शन न्याय[475]
7. नागयज्ञोपवीती भोजन न्याय[476]

च. प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित जलचरसम्बन्धी लोकन्याय

1. मण्डूकगति (प्लुति) न्याय[477]
2. मत्स्यकण्टक न्याय / नान्तरीयक न्याय[478]

छ. प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित कीटपतङ्गसम्बन्धी लोकन्याय

1. हस्तिमशकसन्निकर्ष न्याय[479]
2. अर्थशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[480]
3. भ्रमरो द्विरेफः न्याय[481]
4. आकृत्यधिकरण न्याय[482]
5. मशकसिंहविरोध न्याय[483]

ज (1) व्यापारसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. अल्पेन यत्नेन भूयोऽर्थाकाङ्क्षा न्याय

"इह हि सर्वे मनुष्या अल्पेन यत्नेन महतोऽर्थानाकाङ्क्षन्ति। एकेन माषेण शतसहस्रम्। एकेन कुद्दालकेन खारीसहस्रम्। तत्र कर्मधारयप्रकृतिभिर्मत्वर्थीयैरभिधानमस्तु बहुव्रीहिणेति, बहुव्रीहिणा भविष्यति लघुत्वात्।"[484]

"वर्णो वर्णेन" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने एक इष्टि पढ़ी है–

"समानाधिकरणसमासाद् बहुव्रीहिरिष्टः कदाचित् कर्मधारयः सर्वधनाद्यर्थः।"[485]

इसका अर्थ है कि समानाधिकरण अर्थात् कर्मधारय समास को बाधकर बहुव्रीहि समास इष्ट है, जैसे- 'वीराः पुरुषाः सन्ति यस्मिन् ग्रामे स वीरपुरुषो ग्रामः' यहां बहुव्रीहि समास ही हो, अन्यथा 'वीराश्च ते पुरुषाश्च इति वीरपुरुषाः' यहां कर्मधारय हो जाता और उससे अन्य पदार्थ की विवक्षा में 'वीरपुरुषाः सन्ति यस्मिन् ग्रामे स वीरपुरुषवान् ग्रामः' इस प्रकार मत्वर्थीय अनिष्ट 'मतुप्' प्रत्यय प्राप्त होता। जब बहुव्रीहि समास ही अन्य पदार्थ को कह देता है[486] तो उसको कहने के लिए 'वीर पुरुष'

शब्दों का पहले कर्मधारय समास करो और फिर 'मतुप्' प्रत्यय करो - यह गौरवग्रस्त प्रक्रिया है। 'वीरपुरुषवान् ग्रामः' कहने की अपेक्षा 'वीरपुरुषो ग्रामः' कहना ही अधिक लाघवयुक्त है।[487] वैसे कहीं-कहीं पर सर्वधनी सर्वबीजी, सर्वकेशी इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिए बहुव्रीहि को बाधकर कर्मधारयसमास भी मान लिया जाता है।

इसी बात की सिद्धि के लिए भाष्यकार कहते हैं कि हम लोक में देखते हैं कि यहां सब मनुष्य थोड़े प्रयत्न से अधिक लाभ लेना चाहते है। एक उड़द का दाना बोकर सैकड़ों-हजारों उड़द के दाने प्राप्त करना चाहते हैं। एक कस्सी की खुदाई से हजारों मन अनाज पैदा करना चाहते हैं। इसी प्रकार प्रकृत में 'वीरपुरुषो ग्रामः' यहां कर्मधारय करके फिर मत्वर्थीय प्रत्यय करें या केवल बहुव्रीहि से ही मत्वर्थ का काम चला ले - किसमें लाघव है? स्पष्ट है कि यदि बहुव्रीहि समास से ही मत्वर्थीय प्रत्यय गतार्थ हो जाता है तो बहुव्रीहि ही किया जाएगा, कर्मधारय समास नहीं। कर्मधारय समास करने पर तो फिर मत्वर्थीय प्रत्यय करना पड़ता है जो स्पष्ट ही गौरवग्रस्त है। बहुव्रीहि करने से मत्वर्थीय प्रत्यय की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए बहुव्रीहि में ही लाघव है।[488] यहां भाष्यकार ने लोकव्यवहारप्रसिद्ध लाघव का आदर करते हुए लोकन्याय को अधिक महत्त्व प्रदान किया है जो सर्वथा युक्तिसंगत है। इस सन्दर्भ में अग्रिम लोकन्याय भी अवश्य पठनीय है, तद्यथा–

2. सर्व इमे स्वभूत्यर्थं यतन्ते न्याय / सर्वः स्वार्थं समीहते न्याय

"नेह कश्चित् परोऽनुग्रहीतव्य इति प्रवर्तते। सर्व इमे स्वभूत्यर्थं यतन्ते। ये तावदेते गुरुशुश्रूषवो नाम, तेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्तन्ते। पारलौकिकं च नो भविष्यति। इह च नः प्रीतो गुरुरध्यापयिष्यति इति। यथा यदेतद् दासकर्मकरं नाम, एतेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्तन्ते। भुक्तं चैलं च लप्स्यामहे इति, परिभाषाश्च न नो भविष्यन्तीति। तथा य एते शिल्पिनो नाम, तेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्तन्ते, वेतनं च लप्स्यामहे मित्राणि च नो भविष्यन्तीति"।[489]

"हेतुमति च" सूत्र के भाष्य में भाष्यवार्तिककार प्रयोज्य-प्रयोजकभाव की व्यर्थता सिद्ध करते हुए कहते हैं कि इस संसार में कोई भी किसी दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए नहीं प्रवृत्त होता अपितु सभी अपने-अपने स्वार्थ के लिए ही यत्न करते हैं। ये जो गुरुओं के सेवक छात्र लोग हैं, वे भी अपने स्वार्थ के लिए ही गुरु सेवा करते हैं। क्योंकि वे सोचते हैं कि गुरुसेवा से हमारा परलोक सुधरेगा और प्रसन्न हुए गुरु जी हमें खूब पढ़ाएंगे। और ये जो नौकर-चाकर लोग हैं, ये भी अपने स्वार्थ के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। वे सोचते हैं कि अपने स्वामी से अच्छा भात आदि भोजन और कपड़ा लेंगे और स्वामी हमारी निन्दा नहीं करेंगे अर्थात् हमें दण्ड नहीं देंगे। और ये जो शिल्पी, मजदूर आदि लोग हैं, वे भी अपने स्वार्थ के लिए ही प्रवृत्त होते हैं। सोचते हैं कि अच्छा वेतन लेंगे और लोग हमारे मित्र बन जाएंगे।

इस प्रकार कोई भी अपने को प्रयोज्य (दूसरे से प्रेरित) न मानता हुआ स्वतन्त्रता से कार्य करता है और स्वार्थसिद्धि का ध्यान रखता है। ऐसी स्थिति में शिष्य आदि के प्रयोज्य न होने पर भी यदि गुरु आदि को उनका प्रयोजक मानकर हेतुसंज्ञा की जाती है तो भले ही कीजिए हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु हम तो सभी को स्वार्थ में प्रवृत्त देखकर प्रयोज्य-प्रयोजकभाव को ही व्यर्थ समझते हैं। इस प्रकार 'पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेन' यहां जैसे "हेतुमति च" से 'णिच्' हो जाता है वैसे ही 'सूर्योद्गमनं संभावयते', 'सूर्यमुद्गमयति' यहां भी 'हेतुमति च' से ही 'णिच्' सिद्ध हो जाएगा। ऐसी स्थिति में "नक्षत्रयोगे ज्ञि" "चित्रीकरणे प्रापि"[490] इत्यादि वार्तिकों से 'णिच्' विधान करना व्यर्थ है। भर्तृहरि इस न्याय को कारिकारूप में इस प्रकार कहते हैं–

"निमित्तेभ्यः प्रवर्तन्ते सर्व एव स्वभूतये।
अभिप्रायानुरोधेऽपि स्वार्थस्यैव प्रसिद्धये"।।[491]

इसी न्याय को यों भी कहा जा सकता है–

"न हि विधिशतेनापि तथा पुरुषः प्रवर्तते यथा लोभेन"[492]

अन्यत्र भी इस न्याय का प्रयोग किया गया है।[493]

ज (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित व्यापारसम्बन्धी लोकन्याय

1. वस्नक्रीतगो न्याय / अर्थयोगायोगस्वभाव न्याय[494]

झ (1) शिल्पसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. कूपखानक न्याय

"अथवा कूपखानकवदेतद् भविष्यति। तद् यथा- कूपखानकः कूपं खनन् मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति, सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुणमासादयति येन स च दोषो निर्हण्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति। एवमिहापि यद्यपशब्दज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन स च दोषो निर्घानिष्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति"।[495]

पस्पशाह्निक में भाष्यकार ने यह शङ्का की है कि क्या शब्द के ज्ञान में धर्म माना जाए या प्रयोग में? परन्तु इन दोनों ही पक्षों में दोष है। इन दोषों को देखकर अब भाष्यकार नान्तरीयक उपाय रूप में लोक में प्रसिद्ध दृष्टान्तरूप कूपखानक न्याय को अवतरित करते हैं कि अथवा यह बात कूएं को खोदने वाले की तरह हो जाएगी। जैसे कूआं खोदने वाला व्यक्ति कूआं खोदता हुआ कूआं खोदने से पूर्व तक यद्यपि मिट्टी और धूल से लथपथ हो जाता है तो भी कूएं से जल निकलने पर वह उसी कूएं से उस गुण या लाभ को प्राप्त हो जाता है जिससे उसके धूल में लथपथ होना आदि सब दोष दूर हो जाते हैं और शुद्ध जल से स्नान होकर सदा के लिए जल का आराम

हो जाता है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी यद्यपि शब्दों के ज्ञान के समान अपशब्दों के ज्ञान में भी अधर्म प्राप्त होता है तो भी वह जो शब्द के ज्ञान में प्राप्त धर्म है, उससे उसका अपशब्दज्ञानसम्बन्धी अधर्म दूर हो जाएगा और सदा के लिए शब्दज्ञान से प्राप्त जो धर्म है, उससे उसका कल्याण हो जाएगा। कहा भी है–

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्त स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति"।[496]

भाव यह है कि धान्यपलाल और मत्स्यकण्टक न्याय रूप नान्तरीयक न्याय[497] से भी अपशब्दज्ञान अधर्मप्राप्ति का निमित्त नहीं बनेगा। दर्शनशास्त्रों में भी इस न्याय का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि यद्यपि अद्वैतबोध होने से पूर्व लोगों में भेदबुद्धि होती है तथापि प्रकृत न्याय से अद्वैतबुद्धि हो जाने के बाद भेदबोध स्वतः समाप्त हो जाता है।[498] इस न्याय के विषय में कथासरित्सागर में भी कहा गया है–

"एवं प्राप्नोति महतः प्राज्ञोऽर्थान्नातिपाततः।
कूपखानकवत् प्राप्ते फले दोषं निहन्ति च।।"[499]

अन्यत्र भी यह न्याय देखने में आया है।[500] इस धर्माधर्म के प्रसङ्ग में शब्दप्रमाणक न्याय भी उपोद्बलक है।

2. शब्दप्रमाणक न्याय / अशिष्टाप्रतिषिद्ध न्याय

"शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्। शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह नापशब्दज्ञानेऽधर्मम्। यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धं नैव तद् दोषाय भवति नाभ्युदयाय। तद्यथा–हिक्कित हसित कण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति नाभ्युदयाय"।[501]

पस्पशाह्निक में भाष्यकार पूछते हैं कि क्या शब्द के ज्ञान में धर्म है या प्रयोग में? आगे कहते है कि यहां यदि केवल ज्ञान में धर्म माना जाता है तो फिर धर्म के साथ-साथ अधर्म भी प्राप्त होता है। क्योंकि जो शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों को भी जानता है। अतः जैसे शब्दज्ञान से धर्म होता है वैसे ही फिर अपशब्दज्ञान से अधर्म भी प्राप्त होता है प्रत्युत अधर्म अधिक प्राप्त होगा। क्योंकि शब्द अल्प हैं और अपशब्द बहुत हैं। और यदि केवल साधु शब्दप्रयोग में धर्म माना जाता है तो शास्त्रानर्थक्य के साथ-साथ सारे लोगों को अभ्युदय प्राप्त हो जाता है। इस पर सारी शङ्काओं को निरस्त करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि हम शब्द को प्रमाण मानने वाले हैं अर्थात् जो शब्द कहता है, वह हमें प्रमाण है। परन्तु शब्द तो शब्द के ज्ञान में धर्म कहता है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म को नहीं कहता। और जो बात अशिष्टाप्रतिषिद्ध अर्थात् न विहित हो तथा न निषिद्ध हो, उससे न कोई हानि होती है और न लाभ ही, जैसे - हिचकी लेना, हंसना, खुजलाना आदि ये क्रियाएं न तो (शास्त्र) विहित हैं और न (शास्त्र) निषिद्ध ही। इसलिए इनके करने में न कोई दोष है और न गुण ही।

वास्तव में इस अशिष्टाप्रतिषिद्ध[502] लोकव्यवहार या न्याय द्वारा भाष्यकार यहां यह कहना चाहते हैं कि शब्दज्ञान में क्योंकि धर्म प्राप्ति कही गई है, अतः वह तो हो जाएगी। परन्तु अपशब्दज्ञान में धर्मप्राप्ति नहीं कही गई है, साथ ही अधर्म प्राप्ति भी नहीं कहीं गई है, अतः शब्दों के साथ नान्तरीयकतया यदि अपशब्दों का भी ज्ञान हो जाता है तो उससे कुछ नहीं बिगड़ता। शब्दज्ञान में कहा हुआ धर्म प्राप्त होगा ही। अपशब्दज्ञान से होने वाला अधर्म अप्रयोजक है, अकिंचित्कर है। अतः वह शब्दज्ञान से होने वाले धर्म को नहीं हटा सकता। भाष्यकार ने अन्यत्र भी अनेकत्र लोक को शब्दप्रमाणक मानकर इष्ट साधन किया है।[503] सम्भवतः वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी इन्हीं के आधार पर लोक को शब्दप्रमाणक स्वीकार किया है।[504] इस सन्दर्भ में "अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः" न्याय भी दर्शनीय है।

3. *अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः न्याय / अभक्ष्यो ग्राम्यशूकरः न्याय / भक्ष्याभक्ष्यधर्मनियम न्याय / गम्यागम्याखेदविगम न्याय*

"यथा लौकिकवैदिकेषु। लोके तावदभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यशूकर इत्युच्यते। भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्। तत्र नियमः क्रियते - इदं भक्ष्यम्, इदमक्ष्यम् इति। तथा खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायाञ्च। तत्र नियमः क्रियते - इयं गम्या इयमगम्येति"।[505]

लोक में अर्थप्रयुक्त शब्दप्रयोग के विषय में शास्त्र की भूमिका पर विचार करते हुए भाष्यकार प्रकृत न्याय की अवतारणा करते हैं कि जैसे लोक और वेद के व्यवहार में नियम की व्यवस्था देखी जाती है वैसे ही व्याकरणशास्त्र में भी शाब्दिक नियम की व्यवस्था आवश्यक है। तदनुसार जैसे लोक में कहते हैं कि गांव का मुर्गा या सूअर अभक्ष्य है, खाने योग्य नहीं है। ध्यातव्य है कि भक्ष्य वस्तु क्षुधा की निवृत्ति के लिए ग्रहण की जाती है जबकि क्षुधार्त व्यक्ति तो कुत्ते के मांस आदि से भी अपनी क्षुधा मिटा सकता है। किन्तु वहाँ यह नियम कर दिया गया है कि यही खाना है और यह नहीं खाना है। इसी तरह कामवासना से स्त्रियों में प्रवृत्ति होती है। अब इस कामवासना की तृप्ति या निवृत्ति भोगयोग्य तथा न भोगयोग्य दोनों प्रकार की स्त्रियों में हो सकती है। किन्तु वहां यह नियम कर दिया गया है कि जो भोगयोग्य हैं, अपनी विवाहिता पत्नी हैं, उन्हीं में कामवासना की निवृत्ति की जाए और जो भोगयोग्य नहीं हैं अर्थात् परकीय स्त्रियां हैं या रजस्वलादि दोषयुक्त अपनी भी स्त्रियां हैं, उनमें कामवासना की निवृत्ति न की जाए। ये दोनों लोकव्यवहार इतने स्पष्ट या निगद व्याख्यात हैं कि इनके अधिक व्याख्यान की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी शब्दों तथा अपशब्दों दोनों से समानरूपेण अर्थबोध होने पर भी शास्त्र के द्वारा यह धर्मनियम कर दिया गया है कि शब्दों से ही अर्थ का बोध करना चाहिए, अपशब्दों

से नहीं। ऐसा करने से अभ्युदय प्राप्ति होगी, अन्यथा करने से नहीं - "येनेष्टं तेन गम्यताम्"। यद्यपि प्रकृत भाष्य में वैदिक उदाहरण या दृष्टान्त भी उद्धृत मिलता है परन्तु लेखक ने प्रकृत ग्रन्थ के नाम को ध्यान में रखते हुए यहां केवल लौकिक उदाहरण ही व्याख्यात किया है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[506]

4. *सूत्रशाटक न्याय/भाविसंज्ञाविज्ञान न्याय*

"एवं तर्हि भाविनीयं संज्ञा विज्ञास्यते। तद् यथा- कश्चित् कञ्चित् तन्तुवायमाह - अस्य शूत्रस्य शाटकं वयेति। स पश्यति यदि शाटको, न वातव्यः। अथ वातव्यो न शाटकः। शाटक वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम्। भाविनी खल्वस्य संज्ञाभिप्रेता, स, मन्ये, वातव्यो यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद् भवतीति। एवमिहापि स यणः स्थाने भवति यस्यभिनिर्वृत्तस्य सम्प्रसारणमित्येषा संज्ञा भविष्यति। अथवा इजादियजादिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते। यजाद्युपदेशात्तु इजादिनिवृत्तिः प्रसक्ता। प्रयुज्जते च पुनर्लोका- इष्टम्, उप्तम् इति। ते मन्यामहे अस्य यणः स्थाने इममिकं प्रयुज्जते।"[507]

"इग्यणः सम्प्रसारणम्" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार प्रकृत सूत्रशाटक न्याय को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि इस सम्प्रसारणसंज्ञाविधायक सूत्र में यदि केवल इक् वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा मानी जाए कि जो यण् के स्थान में हुआ इक् वर्ण है, वह सम्प्रसारणसंज्ञक होता है तो उस पक्ष में यह दोष आता है कि फिर यण् के स्थान में हुआ इक् वर्ण कहां मिलेगा और कैसे मिलेगा? क्योंकि यही संज्ञासूत्र तो यण् के स्थान में हुए इक् वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा करता है। जितने विधि स्थल हैं जो भी सम्प्रसारण का विधान करते हैं, जैसे- "ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे", "वचिस्वपियजादीनां किति", "वसोः सम्प्रसारणम्"[508] इत्यादि – इन सब में जब तक यण् के स्थान में हुआ या हो चुका इक् नहीं मिलेगा तब तक उसकी सम्प्रसारणसंज्ञा ही नहीं होगी। फलतः सम्प्रसारण कहकर फिर किसका विधान करेगें? इसी संज्ञासूत्र से तो यह पता लगेगा कि यण् के स्थान में हुए या होने वाले इक् वर्ण की सम्प्रसारण संज्ञा होती है।

इस प्रकार विधिस्थलों में सम्प्रसारण का ज्ञान न होने से कुछ भी कार्य नहीं होगा। क्योंकि वह इक् वर्ण कहां से मिलेगा जिसकी सम्प्रसारणसंज्ञा होनी है। यह संज्ञा सूत्र ही तो उसका ज्ञान कराएगा। ऐसी विषम परिष्ठिति में भाष्यकार प्रकृत लोकन्याय का आश्रयण करते हुए कहते हैं कि अच्छा तो फिर यह सम्प्रसारणसंज्ञा भाविनी संज्ञा मानी जाएगी। तदनुसार "ष्यङः सम्प्रसारणम्" इत्यादि विधिस्थलों में सम्प्रसारण का अर्थ होगा कि यण् के स्थान में वह इक् वर्ण हो जिसकी आगे चलकर सम्प्रसारणसंज्ञा होनी है। फलतः जिसको सम्प्रसारण कहेंगे - ऐसा इक् वर्ण यण् के स्थान में हो जाता है, जैसे- लोक में कोई किसी जुलाहे से कहता है कि वह इस सूत की धोती बुन दे। अब जुलाहा सोचता है कि मैं इस सूत से धोती कैसे बुन दूँ? क्योंकि यदि पहले

से ही यह सूत धोती है तो उसके बुनने की आवश्यकता नहीं है। और यदि बुननी है तो धोती का पता नहीं अर्थात् फिर इसने इस सूत को धोती क्यों कहा? धोती तो इसके बुनने के बाद ही पता चलेगी कि यह धोती है। अतः अभी से इसके लिए धोती शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए। भाव यह है कि 'सूत की धोती बुन दे' ये दोनों बातें तो परस्पर विरोधी हैं। किन्तु वह फिर सोचता है कि सम्भवतः धोती बुनवाने वाले इस व्यक्ति का यही तात्पर्य प्रतीत होता है कि तुम इस सूत को ऐसा बुन दो जिससे कि इसके बुने जाने पर लोग इसे धोती कहने लग जाएं। इसी प्रकार विधिस्थलों में भी सम्प्रसारण शब्द भाविनी सम्प्रसारणसंज्ञा का बोधक होगा। फलतः 'ष्यङ्' के यण् के स्थान में वह इक् वर्ण हो जाता है जिसकी आगे चलकर सम्प्रसारणसंज्ञा होती है।[509]

अथवा यण् के स्थान में इक् विधान करके उसकी सम्प्रसारणसंज्ञा करना एक प्रकार से व्यर्थ प्रतीत होता है। क्योंकि 'यज्' और 'इज्' दोनों अपने-अपने विषय में व्यवस्थित हैं। दोनों की प्रवृत्ति लोक में दिखती है। तदनुसार यज्ञः, यागः, यजनम्, इत्यादि 'यज्' के प्रयोगविषय हैं और इष्टिः, इष्टम्, इज्या इत्यादि 'इज्' के। जब समान अर्थ में यज्ञः, यजनम् के स्थान में लोक में इष्टिः, इज्या ये प्रयुक्त होते हैं तो उससे यह समझा जा सकता है कि 'यज्' के 'य' के स्थान में इकार का प्रयोग होता है अर्थात् यण् के स्थान में इक् का प्रयोग लोकसिद्ध है।[510]

ऐसी स्थिति में उसके लिए सम्प्रसारणसंज्ञा करना अनावश्यक है। शास्त्र का सम्प्रसारणसंज्ञा विधान करने में तो केवल इतना ही प्रयोजन हो सकता है कि सर्वत्र 'यज्' के स्थान में 'इज्' न बोला जाए किन्तु कित् या ङित में ही 'इज्' का प्रयोग साधु माना जाए। इसलिए लोकव्यवहार को मुख्य मानते हुए हमें शास्त्र की व्यवस्था उसी के अनुसार रखनी चाहिए - यही यहां भाष्यकार का आशय है। प्रस्तुत सूत्रशाटक न्याय या भाविसंज्ञाविज्ञान न्याय व्याकरणशास्त्र में अनेकत्र प्रयुक्त हुआ है और इससे अनेक इष्ट सिद्ध हुए हैं।[511]

5. *रथकाराधिकरण न्याय/रूढिर्योगाद् बलीयसी न्याय/अवयवप्रसिद्धेः समुदाय-प्रसिद्धिर्बलीयसी न्याय*

"अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी। तेन शुद्धरूढस्य जननीवाचकस्यैव ग्रहणं न परिच्छेतृवाचकस्य। योगजबोधे तदनालिङ्गितशुद्धरूढिजोपस्थितिः प्रतिबन्धिकेति व्युत्पत्तिरेव तद्बीजम्। रथकाराधिकरणन्यायसिद्धोऽयमर्थः।"[512]

यह न्याय व्याकरणशास्त्र की एक प्रसिद्ध परिभाषा है जिसे परिभाषेन्दुशेखर में नागेश ने उद्धृत किया है। इससे शास्त्र में अनेक प्रयोजन सिद्ध किए जाते हैं। तदनुसार यदि यह कहा जाए 'मातृ' शब्द के स्वस्रादि गण में आने से जैसे- "न षट् स्वस्रादिभ्यः"[513]

सूत्र से जननीवाचक 'मातृशब्द' को 'ङीप्' का निषेध होता है वैसे ही फिर यह निषेध मापने अर्थ वाले या परिच्छेतृवाचक 'मातृ' शब्द को भी होना चाहिए तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार योगार्थ (अवयवार्थ) की अपेक्षा रूढार्थ (समुदायार्थ) बलवान् होता है अर्थात् यदि यौगिक और रूढ दोनों प्रकार के शब्द मिलते हों तो वहां रूढार्थक शब्दों का ही ग्रहण होता है। फलतः यहां भी विशुद्ध रूप से रूढ और स्वस्रादिगण में पठित जननीवाचक 'मातृ' शब्द को ही 'ङीप्' का निषेध होगा, योगज परिच्छेतृवाचक 'मातृ' शब्द को नहीं। क्योंकि योगज के बोध में या अवयवार्थ की उपस्थिति मे योग के अनुसन्धान से अस्पष्ट, शुद्ध रूढि या समुदाय शक्ति से होने वाली उपस्थिति प्रतिबन्धक होती है।

भाव यह है कि जैसे लोक में शाखासमुदाय में ही वृक्षपद का व्यवहार (रूढ) होता है। अतः वृक्षछेदनप्रसङ्ग में कोई यह नहीं कहता कि शाखासमुदाय (अवयवार्थ) को काट दो अपितु वृक्ष को काट दो - ऐसा ही कहते हैं अथवा जैसे अमेरिका के अन्तर्गत कनाडा जाने का इच्छुक कोई व्यक्ति यह नहीं कहता कि मैं अवयवरूप कनाडा जा रहा हूं अपितु समुदायरूप अमेरिका जा रहा हूं - यही कहता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी रूढ और यौगिक अर्थों की सन्दिग्ध स्थिति में यदि किसी अर्थविशेष में तात्पर्य को ग्रहण कराने वाला कोई प्रकरणादि आधार विद्यमान नहीं होता तो समुदाय शक्ति या रूढि से उपस्थापित अर्थ ही वहां लिया जाता है। वस्तुतः यह परिभाषा "रूढिर्योगाद् बलीयसी" इस न्याय के तात्पर्य को ही निर्गलित करती है। इसी बात को मीमांसकों ने अपने शास्त्र में रथकाराधिकरण न्याय से कहा है।

इस न्याय का अभिप्राय यह है कि 'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत' अर्थात् वर्षा ऋतु में रथकार को अग्नि का आधान करना चाहिए– ऐसा कहने पर अब यह सन्देह होता है कि रथकार पद से किसका ग्रहण हो अर्थात् रथकार नाम की प्रसिद्ध या रूढ खाती या बढई जाति का ग्रहण हो या रथ बनाने वाले किसी भी यौगिक व्यक्ति का?[514] ऐसी स्थिति में यदि यहां 'रथं करोतीति रथकारः' यह यौगिक अर्थ लिया जाता है तो कोई ब्राह्मण भी, यदि वह रथ बनाता है तो, अग्न्याधान कर सकता है। इसके विपरीत यदि यहां रूढि अर्थ लिया जाता है तो केवल खाती जाति का व्यक्ति ही, भले ही वह रथ न भी बनाता हो, तो उक्त वाक्य का विषय बन जाता है। इसके अतिरिक्त एक रथकार शब्द और भी है जिसके विषय में याज्ञवल्क्य भी कहते हैं कि यदि कोई क्षत्रिय शूद्रा से विवाह करता है और उस विवाह से कन्या सन्तान उत्पन्न होती है तो वह 'करणी' कहलाती है। इसी तरह वैश्य पुत्री और क्षत्रिय के विवाह से उत्पन्न पुत्र 'माहिष्य' कहलाता है। अब इस 'माहिष्य' से यदि उक्त 'करणी' विवाह कर लेती है तो उनके पुत्र को भी 'रथकार' कहा जाता है।[515] वास्तविकता यह है कि उक्त अर्थों में रथकार शब्द माहिष्य और करणी के संयोग से उत्पन्न पुत्र अर्थ

में सर्वाधिक रूढ है। अतः प्रकृत परिभाषा के नियम से यहाँ रथकार शब्द से इसी रूढ अर्थ का ग्रहण होगा और यही अग्नि का आधान करेगा। इस प्रकार वैयाकरणों की उक्त न्यायसिद्ध परिभाषा रथकार न्याय से भी पुष्ट हो जाती है। यह न्याय अन्यत्र भी मिलता है।[516]

झ (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित शिल्पसम्बन्धी लोकन्याय

1. कुम्भकारवैयाकरणकुल न्याय / शब्दार्थसम्बन्धनित्यता न्याय / यत्कृतकं तदनित्यं भवति न्याय[517]
2. स्वर्णकुण्डल न्याय / प्रकृतिविकृति न्याय[518]
3. संघातार्थवत्वादवयवार्थवत्वम् न्याय / तन्तुकम्बल न्याय / बल्वजरज्जु न्याय[519]
4. पञ्चकारुकी न्याय / ब्राह्मणग्राम न्याय / प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति न्याय[520]
5. तप्तभ्राष्ट्रप्रक्षिप्ततिल न्याय[521]
6. राजतक्षा न्याय / अजहत्स्वार्था वृत्तिः न्याय[522]
7. राजकर्मी मनुष्य न्याय / गुडभक्षणे न लोष्टभक्षणमिष्टम् न्याय[523]
8. लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य न्याय[524]
9. गुणस्यैव प्रकर्षो भवति न द्रव्यस्य न्याय[525]
10. तर्कुग्राम न्याय[526]
11. भ्राष्ट्रोखा न्याय[527]
12. स्वामिदास न्याय[528]
13. तन्तुपट न्याय / अवयवावयविनोस्तु भेदविवक्षापि भवत्यभेदविवक्षा च न्याय[529]
14. निषादस्थपत्यधिकरण न्याय[530]
15. सूचीकटाह न्याय[531]
16. यथोद्देश तथा कार्यकाल न्याय[532]
17. न ह्यसति कुड्ये चित्रकर्म न्याय / कुड्यं विना चित्रकर्म न्याय[533]

(ञ) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित मुद्रासम्बन्धी लोकन्याय

1. रूपसामान्य न्याय / तदेवेदम् न्याय[534]
2. गर्गशतदण्डन (हिरण्यार्थिनश्च राजानो भवन्ति) न्याय[535]
3. बालवायविदूर न्याय / वाराणसी जित्वरी न्याय / औपचारिक न्याय[536]
4. न हि रजतभ्रमप्रयुक्ता प्रवृत्तिः शुक्तिं न गोचरयति न्याय[537]
5. वराटिकान्वेषणाय प्रवृत्तश्चिन्तामणिं लब्धवान् (आभाणक) न्याय[538]

ट (1) परिमाणसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. मान न्याय

"किं पुनरुन्मानम् ? किं परिमाणम् ? किं प्रमाणम् ? उर्ध्वमानं किलोन्मानम्। ऊर्ध्वं यन् मीयते तदुन्मानम्। परिमाणं तु सर्वतः। सर्वतो मानमिति चातः परिमाणम्। कुत एतत् ? परिः सर्वतो भावे वर्तते। आयामस्तु प्रमाणं स्यात्। आयामविवक्षायां प्रमाणमित्येतद् भवति। संख्या बाह्या तु सर्वतः। भेदमात्रं ब्रवीत्येषा नैषा मानं कुतश्चन। एवं च कृत्वा संख्यायाः पृथग् ग्रहणं क्रियते।"[539]

"आर्हादगोपुच्छ" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने लोकप्रसिद्ध उन्मान, प्रमाण, परिमाणादि का परिष्कृत लक्षण करके यह दिखा दिया है कि उन्मान आदि में वस्तुतः अवान्तर भेद है। और संख्या तो इन तीनों से ही अलग है। वह परिमाण आदि में संगृहीत नहीं होती। इसलिए सूत्र में परिमाण से पृथक् संख्या ग्रहण किया है।

2. प्रस्थादिशब्द न्याय / नियत(अक्त)परिमाण न्याय

"प्रस्थादयः शब्दा नियतपरिमाणानामर्थानां वाचका न मात्रयापि न्यूनाधिकभावे प्रवर्तन्ते, न हि यथा जलमिति प्रस्थेऽपि भवति, कुडवेऽपि भवति, यथा वाग्निरिति भ्राष्टावपि भवति, दावाग्नावपि भवति, तथा प्रस्थादिषु भवति"।[540]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "तेन क्रीतम्" इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। वैसे भाष्यकार पतञ्जलि ने भी "येनविधिस्तदन्तस्य"[541] इत्यादि सूत्रों में इसको उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि प्रस्थ आदि शब्द नियत परिमाण के वाचक हैं। प्रस्थ का अर्थ सेर या 16 छँटाक है। उन 16 छँटाकों में एक भी यदि न्यून या अधिक है तो वह प्रस्थ नहीं कहलाएगा। अन्य शब्दों में तो यह बात नहीं है। जैसे पानी यह शब्द छँटाक या मन भर में भी समान ही प्रयुक्त होता है अर्थात् चाहे छँटाक पानी हो या सेर पानी हो, पानी तो पानी ही कहलाएगा। इसी प्रकार अग्नि शब्द है। वह भी चाहे पर्वत की अग्नि हो या जंगल की अग्नि हो, वह अग्नि ही कहलाएगी। इस न्याय से यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि शब्दों की शक्तियां भिन्न-भिन्न हैं। उनके अनुसार ही उनका प्रयोग करना चाहिए। यह न्याय अन्यत्र भी व्यवहृत देखा जा सकता है।[542]

ट (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित परिमाणसम्बन्धी लोकन्याय

1. अवयवार्थवत्वात् संघातार्थवत्वम् (खारीशत/तैलदान) न्याय[543]
2. नावश्यं वर्ष्मतः परिमाणत एव वा साम्यं भवति, किं तर्हि? युक्तितोऽपि न्याय/ मुद्गप्रस्थलवणप्रस्थ न्याय[544]
3. द्रव्यगुण न्याय / अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम् न्याय / लोहकार्पासतुलाग्र न्याय[545]

ठ (1) व्यवहारसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. नियोगतः कार्यमृणं भवति न्याय

"इह यद् यस्य नियोगतः कार्यम्, ऋणं तस्य तद् भवति। तत्र ऋणे इत्येव सिद्धम्"।[546]

"कृत्यैर्ऋणे" सूत्र के भाष्य में वार्तिककार ने 'ऋण' शब्द के स्थान में "कृत्यैर्नियोगे" ऐसा न्यास किया है जिससे केवल ऋण विषय में ही कृत्य प्रत्ययान्तों से सप्तमी तत्पुरुष समास न हो अपितु ऋण से भिन्न नियोग एवं नियमतः कर्त्तव्य विषयों में भी सप्तमीतत्पुरुषसमास हो सके। उससे 'पूर्वाह्णे गेयं साम, प्रातरध्येयोऽनुवाकः' इत्यादि नियमतः कर्त्तव्य सामगान, अनुवाकाध्ययनादि विषयों में भी सप्तमीसमास सिद्ध हो जाता है। 'पूर्वाह्णे गेयम्' यहाँ "तत्पुरुषे कृति बहुलम्"[547] सूत्र से सप्तमी का अलुक् होता है।

वार्तिककार के इस न्यास का भाष्यकार खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'नियोगे' ऐसा कहने की कोई आवश्यकता नहीं। "ऋणे" से ही काम चल जाएगा। क्योंकि यहाँ लोक में हम देखते हैं कि जो जिसका नियमतः कर्त्तव्य मानता है अर्थात् जिस से ऋण लिया है, उसको वह अवश्य लौटाता है इसी प्रकार पूर्वाह्न में गेय सामगान और प्रातःकाल नियम से पढ़ा जाने वाला अनुवाक ये भी ऋण समकक्ष ही हैं। इसलिए 'नियोग' न कहकर इनको भी ऋणतुल्य ही समझ लिया जाएगा तो यथास्थित 'ऋणे' से ही इष्ट सिद्ध हो जाएगा। उस अवस्था में 'नियोगे' कहना व्यर्थ है।

2. भवति वै कश्चिद् जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते न्याय / शाकटायन शकटसार्थ न्याय

"भवति वै कश्चिज्जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते। तद् यथा— वैयाकरणानां शाकटायनो रथमार्गे आसीनः शकटसार्थं यान्तं नोपलेभे। किं पुनः कारणं जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते ? मनसोऽसान्निध्यात्।"[548]

"परोक्षे लिट्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य जागता हुआ भी वर्तमानकाल का अनुभव नहीं करता, जैसे-वैयाकरणों के मध्य में प्रसिद्ध शाकटायन ने रथ के मार्ग में बैठे हुए भी गाड़ियों के जाते हुए समूह को नहीं अनुभव किया।[549] भाष्यकार आगे पूछते हैं कि क्या कारण है कि जागता हुआ भी मनुष्य वर्तमानकाल का अनुभव नहीं करता ? तो इसका उत्तर है कि मन में संयुक्त इन्द्रियां किसी पदार्थ की उपलब्धि में (अनुभव करने में) कारण होती हैं। परन्तु मन के असंनिहित होने से, अन्यत्र चले जाने से, मनुष्य जागता हुआ भी वर्तमानकाल का अनुभव नहीं करता।[550] इसलिए सुप्त और मत्त व्यक्ति के लिए लिट् लकारगत उत्तम पुरुष का वाचनिक परोक्षत्व करने के लिए

"सुप्तमत्तयोरुत्तमः" यह वचन कहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जब जागने वाले के लिए भी परोक्ष है तो सुप्त और प्रमत्त के लिए तो अवश्य ही परोक्ष है। अतः उसमें स्वतः ही लिट् लकार सिद्ध हो जाएगा। प्रस्तुत शाकटायनशकटसार्थ न्याय अर्थ की दृष्टि से अन्यत्र इषुकार न्याय नाम से प्रयुक्त हुआ है। इस न्याय का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है।[551]

3. लोके हि संख्यां प्रवर्तमानामुपाचरन्ति एक इति वा प्रथम इति वा न्याय/औपचारिक न्याय

"अथवाऽस्थानेऽयं यत्नः क्रियते। न हीदं लोकाद्भिद्यते। लोके हि संख्यां प्रवर्तमानामुपाचरन्ति एक इति वा प्रथम इति वा। यावद् ब्रूयात् प्रथमो गोत्रे प्रत्ययमुत्पादयतीति तावदेको गोत्रे इति"।[552]

"एको गोत्रे" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार एक शब्द का प्रथम अर्थ भी होता है,– इसको सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि गोत्र में एक ही प्रत्यय होता है या गोत्र में एक ही प्रकृति प्रत्यय की उत्पादिका होती है, इस प्रकार का यत्न करना अयुक्त ही है। क्योंकि यह बात लोक से भिन्न नहीं है। लोक में संख्या बोलते हुए प्रथम को एक कहते हैं। चाहे "एको गोत्रे" कहिए या "प्रथमो गोत्रे" कहिए– बात एक ही है। एक शब्द का प्रथम अर्थ लोकसिद्ध है। कोशों में एक शब्द के आठ अर्थ कहे गए है। उनमें संख्या के साथ 'प्रथम' अर्थ भी निर्दिष्ट है, जैसे–

"एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा
साधारणे समानेऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते॥"[553]

4. घट्टकुटीप्रभातायित न्याय/मनोराज्यविजृम्भण न्याय

"ननु स्फोटव्यञ्जकतापक्षेऽपि प्रागुक्तविकल्पप्रसरेण घट्टकुटीप्रभातायितमिति चेत्तदेतन्मनोराज्यविजृम्भणं वैषम्यसंभवात्। तथाहि अभिव्यञ्जकोऽपि प्रथमो ध्वनिः स्फोटमस्फुटमभिव्यनक्ति। उत्तरोत्तराभिव्यञ्जकक्रमेण स्फुटं स्फुटतरं स्फुटतमं यथा स्वाध्यायः सकृत्पठ्यमाने नावधार्यते अभ्यासेन तु स्फुटावसायः॥"[554]

यह न्याय सर्वदर्शनसंग्रहकार ने स्फोट के प्रसङ्ग में उद्धृत किया है। स्फोट को वर्णव्यतिरिक्त सिद्ध करते हुए यहां कहा गया है कि न तो समस्त और न ही व्यस्त वर्ण अर्थ के बोधक हैं। क्योंकि वर्णों के उच्चरितप्रध्वंसी होने से उनका समूह ही नहीं बनता तथा इसी प्रकार व्यस्त वर्णों से भी अर्थप्रत्यय असम्भव है। अतः वर्णों से अभिव्यक्त स्फोट ही अर्थ का बोध कराता है– यह स्वीकार करना चाहिए। किन्तु इस पक्ष में भी यह दोष आता है कि क्या प्रत्येक वर्ण स्फोट को अभिव्यक्त करता है अथवा सब वर्ण मिल कर स्फोट को अभिव्यक्त करते हैं ? इस प्रकार दोनों ही पक्षों में दोष होने से वैयाकरण लोग वर्णव्यतिरिक्त पद या वाक्य को ही स्फोट रूप में स्वीकार करते हैं।

यहां यदि यह कहा जाए कि स्फोटवाचकता पक्ष में भी उक्त दोष उपस्थित होंगे अर्थात् क्या प्रत्येक वर्ण स्फोट का बोध कराएगा अथवा सब वर्ण मिलकर-यह दोष प्राप्त होता है। इस प्रकार स्फोट पक्ष में भी वर्णपक्ष के समान दोष उपस्थित होने से यह स्थिति **घट्टकुटीप्रभातायित** जैसी हो गई।

घट्टकुटीप्रभात न्याय का भाव यह है कि जैसे चुंगी देने से बचने के लिए कोई व्यक्ति रातभर जंगल में घूमता रहे और प्रातःकाल होने पर अपने आप को चुंगी घर के ठीक सामने पाए। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी जो दोष वर्णों को वाचक मानने पर आते थे वे ही दोष वर्णव्यतिरिक्त स्फोट को मानने पर भी आते हैं तो यह कहना ठीक नहीं है। यह तो केवल **मनोराज्यविजृम्भण** है। स्फोटपक्ष वर्णपक्ष से पूरी तरह से भिन्न है। क्योंकि प्रथम वर्णध्वनि स्फोट की अभिव्यञ्जक होती हुई भी उसे पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं कर पाती। उत्तरोत्तर ध्वनियां ही स्फोट को स्फुट-स्फुटतर-स्फुटतम रूप में प्रकट करने का सामर्थ्य रखती हैं। जैसे एक बार पढ़ा हुआ पाठ पूर्णतया याद नहीं होता किन्तु वही पाठ बार-बार पढ़ा जाने पर याद हो जाता है।[555] इसी प्रकार अनेक ध्वनियों से स्फोट स्फुटतम रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। यह न्याय उद्देश्यसिद्धि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह न्याय अन्यत्र भी व्यवहृत हुआ है।[556]

ठ (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित व्यवहारसम्बन्धी लोकन्याय

1. वस्नक्रीतगो न्याय/अर्थयोगायोगस्वभाव न्याय[557]

ड (1) श्रमिकसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. *कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः (कृत्रिमाकृत्रिम) न्याय/गोपाल कटजक न्याय*

"संख्यासंज्ञायां संख्याग्रहणं कर्तव्यम्....। इतरथा ह्यसम्प्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद् यथा लोके। अक्रियमाणे हि संख्याग्रहणे एकादिकायाः संख्यायाः संख्येत्येष सम्प्रत्ययो न स्यात्। किं कारणम्? अकृत्रिमत्वात्। बह्वादीनां कृत्रिमा संज्ञा। कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययो भवति। यथा लोके गोपालकमानय कटजकमानयेति यस्यैषा संज्ञा भवति स आनीयते। न यो गाः पालयति यो वा कटे जातः"।[558]

"बहुगणवतुडति संख्या" सूत्र के भाष्य में बहु, गण आदि कृत्रिम शब्दों के साथ एक, द्वि आदि अकृत्रिम शब्दों की भी संख्यासंज्ञा का विधान करना चाहिए- ऐसा कहा गया है। यदि एक, द्वि आदि अकृत्रिमों की संख्या संज्ञा का विधान नहीं किया जाएगा तो संख्या कार्यों में एक, द्वि आदि अकृत्रिम शब्दों का ग्रहण न हो सकेगा जोकि इष्ट है। यद्यपि एक, द्वि आदि अकृत्रिम शब्द संख्यावाची के रूप में लोक में प्रसिद्ध हैं तो भी शास्त्र में बहु, गण आदि कृत्रिमों की तरह साक्षात् संख्या संज्ञा से विहित न होने के कारण ये गृहीत न होंगे। क्योंकि "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे

कार्यसम्प्रत्ययः"[559] यह न्याय लोक में प्रसिद्ध है। इसका अर्थ है कि कृत्रिम अर्थात् क्रिया द्वारा निष्पन्न, यहां संख्यासंज्ञा द्वारा विहित (कृत्रिम) और उक्त संज्ञा द्वारा अविहित या अकृत्रिम इन दोनों के ग्रहण प्रसङ्ग में कृत्रिम में ही कार्य होता है, जैसे 'गोपालकमानय' 'कटजकमानय' (गोपालक को लाओ, कटजक को लाओ) ऐसा कहने पर जिनकी गोपालक या कटजक ये संज्ञाएं की गई हैं अर्थात् जो कृत्रिम रूढि बने गोपालक या कटजक संज्ञाशब्द हैं, वे ही लाए जाते हैं, अकृत्रिम या यौगिक जो गौ का पालन करने वाला या कट में उत्पन्न हैं, वे नहीं लाए जाते। गोपालक और कटजक शब्द यौगिक होते हुए भी जब किसी व्यक्तिविशेष में संज्ञारूप क्रियाद्वारा रूढ कर दिए जाते हैं तब उन रूढ शब्दों का ही ग्रहण होता है, यौगिकों का नहीं। बहु, गण आदि तो संख्यासंज्ञारूपक्रियाद्वारा निष्पन्न होने से कृत्रिम हैं। किन्तु एक, द्वि आदि संख्यासंज्ञारूप क्रिया द्वारा निष्पन्न न होने से अकृत्रिम हैं। अतः "कृत्रिमाकृत्रिम" न्याय से संख्या प्रदेशों में कृत्रिम बहु, गण, वतु, डति इन चारों का ही ग्रहण हो सकेगा, अकृत्रिम एक, द्वि आदि का ग्रहण न हो सकेगा- यह दोष आता है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[560] इस न्याय की अव्याप्ति सिद्ध करते हुए भाष्यकार ने अगला "उभयगतिरिह भवति" लोकन्याय उपन्यस्त किया है।

2. *उभयगतिरिह भवति न्याय*

"इहार्थेन तावन्नार्थः संख्याग्रहणेन। ननु चोक्तमितरथा ह्यसम्प्रत्ययोऽकृत्रिमत्वाद् यथा लोके इति। नैष दोषः। अर्थात् प्रकरणाद्वा लोके कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे सम्प्रत्ययो भवति। अर्थो वास्यैवंसंज्ञकेन भवति, प्रकृतं वा तत्र भवति इदमेवंसंज्ञकेन कर्तव्यमिति। आतश्चार्थात् प्रकरणाद्वा। अङ्ग हि भवान् ग्राम्यं पांशुलपादमप्रकरणज्ञमागतं ब्रवीतु- गोपालकमानय कटजकमानयेति। उभयगतिस्तस्य भवति। साधीयो वा यष्टिहस्तं गमिष्यति।"[561]

"बहुगणवतुडति संख्या" सूत्रभाष्य में कृत्रिमाकृत्रिम न्याय के आधार पर अकृत्रिम एक, द्वि आदि संख्यावाची शब्दों की संख्या संज्ञा करने के लिए वार्तिककार द्वारा प्रस्तावित अतिरिक्त 'संख्या' ग्रहण को अन्यथासिद्ध करके यथास्थित सूत्र से ही काम चलाते हुए भाष्यकार कहते हैं कि लोक में अर्थ या प्रकरण के कारण 'कृत्रिमाकृत्रिमन्याय' की प्रवृत्ति होती है अर्थात् या तो 'गोपालकमानय' कहने वाले व्यक्ति को गोपालक नामक विशेष मनुष्य से कुछ प्रयोजन होगा तथा इसी प्रकार 'कटजकमानय' कहने वाले को भी कटजक नामक व्यक्तिविशेष से मतलब होगा अथवा वहां प्रकरण ही ऐसा होगा कि गोपालक या कटजक नाम वाले व्यक्तियों का ही ग्रहण अभीप्सित होगा। क्योंकि शब्दार्थबोध में अर्थ और प्रकरण विशेष महत्त्व रखते हैं। अर्थ और प्रकरण के ज्ञान पर ही शब्दार्थबोध पूरी तरह से निर्भर है।[562] अर्थ और प्रकरण का ज्ञान इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि आप किसी ग्रामीण, अनपढ़, किसान या हाली को, जिसको प्रकरण

का ज्ञान नहीं है, यह कहकर देखिए कि गोपालक को लाओ, कटजक को लाओ तो वह दुविधा में पड़ जाएगा कि गोपालक या कटजक कौन हैं ? किनको लाना है? यदि वह कुछ समझदार होगा तो ज्यादा से ज्यादा यही करेगा कि लाठी हाथ में लिए हुए किसी ग्वाले को पकड़ लाएगा अथवा गोपालक को रूढ शब्द न मानकर यौगिक मानते जो भी गौ का पालक है या कट में उत्पन्न है, उन्हें ले आएगा। यह आवश्यक नहीं कि वह आप के अभिप्रेत या अभिमत गोपालक या कटजक को ही लाए। इस से 'कृत्रिमाकृत्रिमन्याय' की व्यापकता भङ्ग हो जाती है। इसलिए **कृत्रिम के साथ अकृत्रिम का भी ग्रहण होता है**– यह मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में **"उभयगतिरिह भवति"**[563] यह परिभाषा भी लोकन्याय में सम्मिलित हो जाती है। भाष्यकार ने तो **"न यथा लोके तथा व्याकरणे"**[564] ऐसा कहकर यहां व्याकरणशास्त्र में उभयगति मानी है। यह न्याय अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[565]

3. *विप्रतिषेध न्याय / तुल्यबलप्रेषण न्याय/सकृद्गति न्याय*

"तुल्यबले ह्युभे शास्त्रे। तद् यथा- द्वयोस्तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति। स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति। यदा तमुभौ युगयत् प्रेषयतो नानादिक्षु च कार्ये भवतस्तदा यद्यसावविरोधार्थी भवति तत उभयोर्न करोति। यौगपद्यासंभवात्, नास्ति यौगपद्येन संभवः।"[566]

"विप्रतिषेधे परं कार्यम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार लिखते हैं कि यहां दोनों शास्त्र तुल्यबल वाले हैं। तदनुसार 'वृक्षेभ्यः' यहां दीर्घविधायक **"सुपि च"**[567] और एत्व विधायक **"बहुवचने झल्येत्**[568]**"** ये दोनों सूत्र तुल्यबल वाले होने से एक साथ प्राप्त होते हैं। अब उनमें **"विप्रतिषेधे परं कार्यम्"** के वचन से परला कार्य एत्व हो जाता है। और फिर **"सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव"**[569] इस परिभाषा से दीर्घ बाद में नहीं होता। किन्तु इस "विप्रतिषेध" सूत्र के अभाव में उक्त लोकन्याय को देखते हुए तो दोनों में से किसी सूत्र का भी कार्य "वृक्षेभ्यः" में नहीं होना चहिए, जैसे लोक में तुल्यबल वाले दो स्वामियों का नौकर उनके पर्याय से काम करता है। एक बार एक का कर दिया और दूसरी बार दूसरे का कर दिया। दोनों का एकसाथ नहीं कर सकता। किन्तु जब उस नौकर को दोनों स्वामी एक साथ काम पर भेजते हैं और अलग-अलग दिशाओं में उनके काम हों तो यदि वह किसी का विरोध नहीं चाहेगा तो दोनों में से किसी का भी काम नहीं करेगा। क्योंकि **एक साथ दोनों का काम होना असंभव है**। हां, पर्याय से तो हो सकता है। अथवा जो पर या उत्कृष्ट है, उसका कार्य वह कर देता है। ऐसी स्थिति में 'वृक्षेभ्यः' 'वृक्षेषु' इत्यादि में दीर्घ और एत्व में से कोई सा भी न हो सकेगा। क्योंकि दोनों तुल्यबल हैं। वैसे शास्त्रीय दृष्टि से प्रकृत न्याय **"उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्"** इस परिभाषा का ही उपोद्बलक है।[570] प्रस्तुत **तुल्यबल प्रेषण** न्याय व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र भी अवलोकनीय है।[571]

इसे ही **स्वामीभृत्य** न्याय भी कहते हैं। इस **विप्रतिषेध** न्याय को निगद व्याख्यात बनाने के लिए न्यासकार भी **ब्राह्मणक्षत्रिय भोजनभाजन पर्यायपरक** नए-नए उदाहरणों एवं दृष्टान्तों से इस पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं–

4. *ब्राह्मणक्षत्रियभोजनभाजनपर्याय न्याय*

"द्रव्ये पदार्थे तु प्रतिव्यक्ति लक्षणं प्रवर्तते इत्यकृतार्थत्वाल्लक्षणयोः पर्यायेण प्रवृत्तिः प्राप्नोति, यथा- ब्राह्मणक्षत्रियादीनामसहभुजामेकस्मिन् भाजने भुजिक्रियायां पर्यायः स्यात्। तत्र जातौ पदार्थे कृतार्थत्वाद् वृत्तौ प्राप्तायां विध्यर्थमिदमारभ्यते विप्रतिषेधे सति परं कार्य भवतीति"[572]

यह न्याय न्यासकार ने "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है। इसका अर्थ है कि जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि मनुष्य जब एकसाथ भोजन न करें तो एक पात्र में भोजन करने के लिए उन सब का पर्याय होता है अर्थात् जब उनका एक साथ भोजन करना संभव नहीं हो सकता तो उन्हें बारी-बारी से भोजन करना होता है। इसी प्रकार शास्त्र में भी जहाँ दो सूत्रों की एकसाथ प्रवृत्ति होती है वहां द्रव्यपदार्थपक्ष में एक साथ सब व्यक्तियों को कार्य न मिलने पर उनकी पर्याय से ही प्रवृत्ति होती है। भाष्यकारप्रोक्त पूर्वोक्त तुल्यबलप्रेषण न्याय के अनुसार इस बात को यूं भी कह सकते हैं कि जैसे कोई नौकर किन्हीं दो स्वामियों का कार्य करता हैं। अब यदि वह कार्य एक साथ होना संभव है तो वह दोनों स्वामियों का कार्य एक साथ ही कर देता है। किन्तु यदि उसके दोनों स्वामी उसे ऐसा विपरीत दिशाओं वाला कार्य दे देते हैं जिन्हें वह एक साथ नहीं कर सकता तो वह भृत्य यदि दोनों का हितैषी है, दोनों को प्रसन्न रखना चाहता है या दोनों से अविरोध चाहता है और दोनों का कार्य करना चाहता है तो वह एक साथ दोनों कार्यों के करने में समर्थ न होने से उन दोनों का कार्य पर्याय से करता है अर्थात् एक बार एक स्वामी का कार्य और दूसरी बार दूसरे स्वामी का कार्य कर देता है। परन्तु पर्याय से कार्य करने का अवसर तभी आता है कि जब दोनों के कार्य एक साथ न हो सकते हों। इस प्रकार पर्याय और यौगपद्य ये दोनों ही अवस्थाएं स्थिति के अनुसार होती हैं। यह न्याय तो पर्याय की स्थिति का दर्शन करता है। इस विषय में नागेश भी उदाहरणान्तरमूलक दुर्बलबलवद्विरोध लोकन्याय से विप्रतिषेध न्याय को ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

5. *दुर्बलबलवद्विरोध न्याय / कदाचित् लोके दुर्बलबलवतोरपि विरोधो दृश्यते न्याय*

"यद्यपि विप्रतिषेधशब्देनेदमपि लब्धुं शक्यं तथापि तदेतदर्थ-बोधनेऽसमर्थमिति भावः कदाचिल्लोके दुर्बलबलवतोरपि विरोधदर्शनात्"।[573]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" सूत्र के भाष्य में "अन्तरङ्ग च" इस वार्तिक की व्याख्या मे उद्धृत किया है। इस न्याय का अर्थ है कि कभी-कभी

लोक में दुर्बल और बलवान् का भी विरोध दिखाई देता है। यद्यपि तुल्यबल वालों का ही विरोध होता है। किन्तु शास्त्रीय भाषा में उसे विप्रतिषेध कह सकते हैं, विरोध नहीं। क्योंकि विरोध तो वहां होगा जहाँ एक अन्तरङ्ग है और दूसरा बहिरङ्ग। स्पष्ट है कि अन्तरङ्ग जिसके अन्दर अङ्ग है, वह बलवान् होता है। क्योंकि उसकी अपेक्षाएं अथवा आवश्यकताएं थोड़ी हैं और जो बहिरङ्ग है, जिसकी बाहर अपेक्षाएं बहुत अधिक फैली हुई हैं, वह उनको सम्भालने में असमर्थ होने के कारण कमजोर है। इसलिए इन दोनों में विरोध है। ऐसी स्थिति में "अन्तरङ्गं च बलीयो भवति" इस वचन से अन्तरङ्ग को बलवान् माना जाता है। वैसे एक दृष्टि से अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग में तुल्य बल भी नहीं है। और तुल्यबलता न होने से यहां विप्रतिषेध भी नहीं बनेगा। अतः अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग का विषय "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" सूत्र से बाहर का है। इसी प्रकार अपवाद और उपसर्ग, नित्य और अनित्य, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग ये सब बलवान् और कमजोरों के उदाहरण हैं। उनमें विप्रतिषेध नहीं बनता। फिर भी शास्त्र में लक्ष्यभेद से यह व्यवस्था की गई है कि विप्रतिषेध में तो पूर्व की अपेक्षा पहला कार्य हो और बहिरङ्ग की अपेक्षा अन्तरङ्ग बलवान् माना जाए तथा उत्सर्ग की अपेक्षा अपवाद बलवान् होता ही है। लोक में तो हम देखते हैं कि बलवान् व्यक्ति दुर्बल व्यक्ति को फूटी आंख भी नहीं देखना चाहता। इस प्रकार जैसे लोक में बलवान् और दुर्बल का विरोध दिखाई देता है वैसे ही बहुत कुछ शास्त्र में भी दृष्टिगोचर होता है। यही इस न्याय का विषय है। प्रकृत विप्रतिषेध न्याय को ही उदाहरणान्तरों से स्पष्ट करते हुए अन्यत्र भी कहा गया है-

6. सति विरोधे बलीयसा दुर्बलो बाध्यते न्याय

"सुटतिथोरिति विषयभेदेन यौगपद्यरूपविप्रतिषेधाभावात्। सति विरोधे बलीयसा दुर्बलो बाध्यते इति न्यायेनात्र न कश्चिद्विरोधोऽस्तीत्यलम्॥"[574]

यह न्याय सशब्दरत्न प्रौढ़मनोरमा के टिप्पणीकार ने "सुट्तिथोः" इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है। इस न्याय का अर्थ है कि विरोध होने पर ही बलवान् मनुष्य दुर्बल को दबाता है। इस प्रकार यहाँ 'सुट्' और 'यासुट्' में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि 'यासुट्' परस्मैपद में ही होता है और 'सुट्' केवल आत्मनेपद में ही दृष्टिगोचर होता है। वैसे भी 'यासुट्' का विधान लिङ् लकार को होता है और 'सुट्' का विधान लिङ् के अवयव जो तकार और थकार हैं, इनको होता है। इस तरह इनका विषयविभाग ही भिन्न-भिन्न है। इनमें कहीं युगपत् प्राप्तिरूप विप्रतिषेध या विरोध ही नहीं है। विरोध न होने से 'सुट्' -'यासुट' द्वारा नहीं बाधा जाएगा तो 'भूयात्' में 'यासुट्' के साथ सुट् भी रहेगा। अर्थ की दृष्टि से उक्त न्याय को मात्स्य न्याय नाम से भी कहा जा सकता है। विप्रतिषेध न्याय के प्रसङ्ग में मशकसिंहविरोध न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है, तद् यथा-

7. मशकसिंहविरोध न्याय

"विप्रतिपूर्वात् सेधतेर्घञि उपसर्गवशात् परस्परविरोधे विप्रतिषेधशब्दः। विरोधश्च तुल्यबलयोरेव लोकसिद्धः। न हि मशकसिंहयोर्विरोध इत्यस्ति। तदाह- तुल्यबलयोरिति। द्वयोः शास्त्रयोः क्वचिल्लब्धावकाशयोरेकत्र लक्ष्ये युगपत् सम्भवस्तुल्यबलविरोधः। कार्यस्य परत्वं परशास्त्रविहितत्वम्"[575]

"विप्रतिषेधे परं कार्यम्" सूत्रस्थ कौमुदी की व्याख्या की करते हुए बालमनोरमाकार कहते हैं कि विप्रतिषेध यह शब्द यहां परस्पर विरोध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और यह परस्पर विरोध लोक में समान बल वालों का ही प्रसिद्ध है। उदाहरण के रूप में मच्छर और सिंह का विरोध कोई विरोध नहीं माना जाता। क्योंकि ये दोनों तुल्यबल नहीं है अपितु इनमें एक अत्यन्त दुर्बल है तथा दूसरा महान् बलवान्। व्यतिरेकी दृष्टि से साहित्यशास्त्र में किसी बलवान् व्यक्ति की गीदड़ आदि तुच्छ प्राणी से उपमा देना अर्थात् हीनोपमा देना भी इसका उदाहरण हो सकता है। वैसे महाभारत में दुर्योधन के द्वारा पाण्डवों में से केवल भीमसेन को ही अपने साथ युद्ध के लिए कहना, अन्यथा वह नकुल आदि अन्यतम न्यूनतर को चुनकर भी युद्ध को जीतते हुए युद्ध का परिणाम ही बदल सकता था, तुल्यबल का अभीष्ट उदाहरण है।

प्रकृत में दो सावकाश तथा समवस्थित सूत्रों का एक साथ एक स्थान पर ही प्राप्त होना तुल्यबलरूप विप्रतिषेध होता है[576]। फिर इनमें प्रस्तुत सूत्र से सूत्रपाठक्रम की दृष्टि से परवर्ती सूत्रप्रोक्त कार्य हो जाता है। तदनुसार जैसे "हशि च"[577] सूत्रविहित उत्व का अवकाश है– 'शिवो वन्द्यः' तथा "रो रि"[578] सूत्रप्रोक्त रेफलोप का अवकाश है- 'पुनारमते'। "हशि च" सूत्र में 'रु' इस उकार अनुबन्ध के कारण यह सूत्र 'पुनारमते' में प्रवृत्त नहीं होता। क्योंकि यहां पुनर् यह 'रु' न होकर रेफ है। परन्तु 'मनोरथः' यहां उत्व तथा रेफलोप दोनों की प्राप्ति एक साथ सम्भव होने पर प्रकृत सूत्र से 'परत्वात्' उत्व का बाधकर रेफलोप ही प्रवृत्त होता है। ऐसी स्थिति मे "पूर्वत्रासिद्धम्"[579] सूत्र से "रो रि" के असिद्ध होने के कारण फिर उत्व ही हो जाता है तो उक्त इष्ट सिद्ध हो जाता है।

8. जहत्स्वार्था वृत्तिः न्याय/राजतक्षा न्याय

"युक्तं पुनर्यत् जहत्स्वार्था नाम वृत्तिः स्यात् ? बाढं युक्तम्। एवं हि दृश्यते लोके पुरुषोऽयं परकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं कर्म जहाति। तद् यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं तक्षकर्म जहाति। एवं युक्तं यद् राजा पुरुषार्थे वर्तमानः स्वमर्थं जह्यात्। ननु चोक्तं राजपुरुषमानयेत्युक्ते पुरुषमात्रस्यानयनं प्राप्नोति। नैष दोषः। जहदप्यसौ स्वार्थं नात्यन्ताय जहाति। यः परार्थविरोधी स्वार्थस्तं जहाति। तद् यथा तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं तक्षकर्म जहाति, न तु हिक्कित हसित कण्डूयितानि। न चायमर्थः परार्थविरोधी विशेषणं नाम, तस्मात् तन्न हास्यति। अथवाऽन्वयाद्विशेषणं भविष्यति।

तद्यथा- घृतघटस्तैलघट इति। निषिक्ते घृते तैले वान्वयाद्विशेषणं भवति- अयं घृतघटोऽयं तैलघट इति। विषम उपन्यासः। भवति हि तत्र या च यावती चार्थमात्रा। अङ्ग हि भवान् अग्नौ निष्टप्य घृतघटं तृणकूर्चेन प्रक्षालयतु न गंस्यते स विशेषः। यथा तर्हि मल्लिकापुटश्चम्पक पुट इति। निष्कीर्णास्वपि सुमनःस्वन्वयाद् विशेषणं भवति- अयं मल्लिकापुटोऽयं चम्पक पुट इति''।[580]

''समर्थः पदविधिः'' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार पूछते हैं कि क्या यह ठीक है कि जहत्स्वार्था नाम की वृत्ति मानी जाए? जिसमें समस्यमन पद अपने अर्थ को छोड़ देते हैं, वह **जहत्स्वार्था** नाम की वृत्ति होती है। उत्तर देते हैं कि हां, ठीक है। ऐसा लोक में देखते हैं कि पुरुष दूसरे के काम में लगा हुआ अपना काम छोड़ देता है, जैसे बढ़ई राजा के काम में लगा हुआ अपना काम छोड़ देता है। इसी प्रकार यहां **'राजपुरुषः'** समास में भी राजा पुरुष के अर्थ में वर्तमान या विशेषण बना हुआ अपना अर्थ छोड़ देता है। यदि यह कहा जाए कि **'राजपुरुषः'** में यदि राजा अपने अर्थ को छोड़ देता है तो राजविशिष्टपुरुष का बोध न होकर सामान्य पुरुषमात्र का बोध प्राप्त होगा जबकि **'राजपुरुषमानय'** ऐसा कहने पर राजविशिष्ट पुरुष का आनयन अभीष्ट है, केवल पुरुषमात्र का आनयन अभीष्ट नहीं है। अतः वह जहत्स्वार्था वृत्ति मानने पर कैसे सिद्ध होगा? तो उसका उत्तर यह है कि समस्यमान पद अपने अर्थ को छोड़ता हुआ भी सर्वथा नहीं छोड़ता। जो उसका अपना अर्थ दूसरे अर्थ का विरोधी है, उसे ही छोड़ता है, जैसे बढ़ई राजकर्म में लगा हुआ उसके विरोधी अपने बढ़ई के काम ही छोड़ता है किन्तु जो हिचकी लेना, हंसना, खुजलाना आदि उसके राजकर्म से अविरोधी कर्म हैं, उन्हें नहीं छोड़ता। वैसे ही **'राजपुरुषः'** में भी 'राज' शब्द **'पुरुष'** के अर्थ में वर्तमान होकर भी अपने विशेषणभूत राजा अर्थ को नहीं छोड़ता अर्थात् **'पुरुष'** का विशेषण होकर 'राज' शब्द अपने अर्थ को छोड़ता हुआ भी नहीं छोड़ता। क्योंकि **विशेष्यभूत पदार्थ का विशेषण बनना इसका विरोधी अर्थ नहीं है।** इसलिए **'राजपुरुषः'** में जहत्स्वार्थावृत्ति मानने पर भी केवल पुरुष मात्र का बोध न होकर अभीष्ट राजविशिष्ट पुरुष का ही बोध होगा।

अथवा जैसे **'घृतघटः** (घी का घड़ा) **तैलघटः** (तेल का घड़ा) यहां लौकिक प्रयोगों में घी या तेल के संसर्ग से **'घृतघटः'**, **'तैलघटः'** ऐसा व्यवहार होता है वैसे ही **'राजपुरुषः'** में भी 'राज' शब्द के अन्वय से, सम्बन्ध से, 'पुरुष' का विशेषण राजा हो जाएगा। तदनुसार राजविशिष्ट पुरुष ही समझा जाएगा, केवल पुरुषमात्र नहीं, जैसे घड़ा मिट्टी का होता हुआ भी घी या तेल के सम्बन्ध से घी या तेल के नाम से व्यवहृत होता है। वही बात 'राजपुरुष' में भी समझ लेनी चाहिए। राजा का अन्वय होने से राजा का पुरुष ही समझा जाएगा, अन्य किसी का नहीं। यदि यह कहा जाए कि **'घृतघटः'** या **'तैलघटः'** का दृष्टान्त ठीक नहीं है। क्योंकि वहां तो घी या तेल के घड़े में कुछ

न कुछ अंश घी या तेल का विद्यमान रहता है इसलिए वहां तो घी या तेल का संसर्ग स्पष्ट होने से 'घृतघटः' 'तैलघटः' ऐसा व्यवहार ठीक है। इसके विपरीत यदि तो घी या तेल के घड़े को आप अग्नि में तपाकर, खूब गर्म करके, मजबूत झाड़ू से अच्छी प्रकार धो दें तो उस घड़े में घी या तेल का संसर्ग बिल्कुल नहीं रहेगा। इसलिए उस अवस्था में तो उसे 'घृतघटः' या तैलघटः नहीं कहा जाएगा। किन्तु यहां 'राजपुरुषः' में तो 'राज' शब्द के अर्थ का सर्वथा सफाया या अभाव नहीं हुआ है। विशेषणरूप से वह विद्यमान ही है। इसलिए **अन्वय से विशेषण** होने में 'घृतघटः' 'तैलघटः' की बजाए कोई अन्य दृष्टान्त दीजिए तो उसके उत्तर में भाष्यकार 'मल्लिकापुटः', 'चम्पकपुटः' ये दृष्टान्त देते हैं। जिस पुड़िया या दौने में मालती या चम्पा के फूल रखे हैं, उसे 'मल्लिकापुटः' या 'चम्पकपुटः' कहते हैं। अब जब तक पुड़िया में मालती या चम्पा के फूल रखे हैं तब तक तो वह स्पष्ट ही 'मल्लिकापुटः' या 'चम्पकपुटः' कहाती है। किन्तु उक्त फूल निकाल लिए जाने पर भी उनके **भूतपूर्व संसर्ग** से वह पुड़िया 'मल्लिकापुटः' या 'चम्पकपुटः' नाम से व्यवहृत होती है।[581] उनकी खुशबू से ही पता लग जाता है कि यह मालती की पुड़िया है या चम्पा की पुड़िया है।[582] इसी प्रकार यहां 'राजपुरुषः' में भी 'राज' शब्द का **'पुरुष के साथ अन्वय या संसर्ग'** होने से राजविशिष्ट पुरुष का ही बोध होगा, केवल पुरुषमात्र का नहीं। इसलिए जहत्स्वार्था वृत्ति मानने में कोई दोष नहीं आता। इस तरह यह वृत्ति दोषरहित होने से मान लेनी चाहिए- यह सिद्ध हो जाता है। पूर्वोक्त सन्दर्भ में अग्रिम लोकन्याय भी अवश्य पठनीय है, तद्यथा–

9. अजहत्स्वार्था वृत्ति न्याय/भिक्षुकभिक्षा (संचय) न्याय

''युक्तं पुनरिदं यदजहत्स्वार्था नाम वृत्तिः स्यात्? वाढम् युक्तम्। एवं हि दृश्यते लोके-भिक्षुकोऽयं द्वितीयां भिक्षां समासाद्य पूर्वां न जहाति। संचयायैव प्रवर्तते। ननु चोक्तं उभयोर्विद्यमानस्वार्थयोर्द्वयोर्द्विवचनमिति द्विवचनं प्राप्नोतीति। संघातस्यैकार्थ्यान्नावयवसंख्यातः सुबुत्पत्तिः। संघातस्यैकत्वमर्थः। तेनावयवसंख्यातः सुबुत्पत्तिर्न भविष्यतीति।''[583]

''**समर्थः पदविधिः**'' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार पूछते हैं कि क्या यह ठीक है कि अजहत्स्वार्था नाम की वृत्ति मानी जाए? जिस वृत्ति में समस्यमान पद अपने अर्थ को नहीं छोड़ते, वह अजहत्स्वार्था नाम की वृत्ति होती है। उत्तर देते हैं कि यह भी ठीक है। क्योंकि ऐसा लोक में देखते हैं कि भिखारी दूसरी भिक्षा को लेकर पहली भिक्षा को नहीं छोड़ता है। संचय में ही लगा रहता है। यदि यह कहा जाए कि **अजहत्स्वार्था** वृत्ति मानने पर फिर 'राजपुरुषः' में दोनों पदों के अपने-अपने दोनों अर्थ विद्यमान होने से द्वित्त्व अर्थ में द्विवचन प्राप्त होता है तो उसका उत्तर यह है कि **''राजपुरुषः''** इस समस्त समुदाय का एक अर्थ है। उस एकत्व अर्थ के अन्तर्भूत दोनों पदों के

अर्थ गुणीभूत हैं। इसलिए समस्त समुदायरूप एकत्व अर्थ के मुख्य होने से द्वित्व अर्थ को मानकर द्विवचन नहीं होगा। फलतः अजहत्स्वार्था वृत्ति भी निर्दोष होने से स्वीकार्य है। इस प्रकार जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था दोनों वृत्तियों की मान्यता भाष्यकार ने लोकन्याय उपन्यस्त करके करके सिद्ध कर दी है। ''ईदूतौ च सप्तम्यर्थे'' सूत्र के भाष्य में भी यह बात स्पष्ट की गई है। वहां पूछा है

''का नाम पुनर्वृत्तिर्न्याय्या? जहत्स्वार्थेत्याह। अथाजहत्स्वार्थायां दोषः ? अजहत्स्वार्थायां च न दोषः। समुदायार्थोऽभिधीयते''।[584]

समुदायार्थ को समझने के लिए वहां की प्रदीप व्याख्या द्रष्टव्य है। न्यायोक्तिकोश में इसे अजहत्स्वार्था वृत्तिः न्याय नाम से कहा गया है।[585]

10. गुणस्यैव प्रकर्षो न द्रव्यस्य न्याय

''एवं हि दृश्यते लोके - इह समाने आयामे विस्तारे पटस्यान्योऽर्घो भवति काशिकस्य, अन्यो माथुरस्य। गुणान्तरं च खल्वपि शिल्पिन उत्पादयमाना द्रव्यान्तरेण प्रक्षालयन्ति। अन्येन शुद्धं धौतकं कुर्वन्ति। अन्येन शेफालिकम्। अन्येन माध्यमिकम्।''[586]

''अतिशायने तमबिष्ठनौ'' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार गुणों का ही प्रकर्ष होता है, द्रव्य का नहीं– इस बात को सिद्ध करने के लिए लोकप्रसिद्ध व्यवहार का प्रदर्शन कराते हैं। तदनुसार कपड़े आदि वस्तुओं के मूल्यभेद में उनके गुणों का प्रकर्षापकर्ष ही कारण है। मूल्यवान् कपड़ा यदि और अधिक धो दिया जाए तो उसका मूल्य और अधिक बढ़ जाता है। अच्छे धुले हुए कपड़े धौतक, शेफालिक और माध्यमिक के व्यपदेश से अच्छी कीमतों में बिकते हैं।

11. अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः न्याय

''अनभिधानादिति न ह्यत्र तुमनोत्पद्यमानेन विवक्षितोऽर्थः शक्यतेऽभिधातुमिति। अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः। अथवा अनभिधानादिति। इच्छन् कर्तुमित्यभिधानस्याभावादित्यर्थः। लोकप्रसिद्धानां हि शास्त्रेऽन्वाख्यानं क्रियते, न त्विच्छन् कर्तुमित्यादयो लोकप्रसिद्धाः''।[587]

व्याकरणशास्त्र में अभिधान का बड़ा महत्त्व है। शिष्टों मे अर्थबोध हो जाना ही अभिधान का स्वरूप है।[588] इस अभिधान-अनभिधानरूप ब्रह्मास्त्र से भी भाष्यकारादि व्याख्याकारों ने अनेक सूत्रों का व्याख्यान (अन्वाख्यान या प्रत्याख्यान) किया है। इस अभिधान के विषय में जिज्ञासा होने पर प्रायः यही कहा जाता है कि शब्द की ऐसी ही शक्ति है या शब्दशक्तिस्वभाव से अमुक शब्द तो निष्पन्न (परिनिष्ठित) होता है, अमुक नहीं अर्थात् शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् लोक मे ऐसे प्रयोग का तो अभिधान होता है और ऐसे प्रयोग का अभिधान या व्यवहार नहीं होता।

अभिधान का एक लौकिक उदाहरण जैसे डाकिया दिया जा सकता है। तदनुसार जिस प्रकार पुंयोग के कारण मास्टर की पत्नी मास्टरनी तथा बनिए की पत्नी बनियानी (बानणी) लोक में स्वतः कहलाती (अभिहित) है उसी प्रकार डाकिए की पत्नी या स्त्री इस अर्थ में डाकिनी/डाकणी यह प्रयोग नहीं होता, भले ही हिन्दी व्याकरण इस विषय में कितना ही अनुकूल क्यों न हो। क्योंकि लोक में डाकिन या डाक्कन शब्द डाका मारने वाली स्त्री अर्थ में प्रयुक्त होता है, डाकिए की पत्नी अर्थ में नहीं। अतः डाकिए की स्त्री इस अर्थ में डाकिनी शब्द का लोक में अनभिधान ही मानना होगा। इसके अतिरिक्त इस अभिधानप्रयुक्त शाब्दिक व्यवस्था को देखते यहां यह अनुमान करना सर्वथा अनुचित नहीं होगा कि भाष्यकार के समय तक संस्कृत व्यावहारिक भाषा अवश्य थी । क्योंकि अभिधान-अनभिधान व्यवस्था जीवित एवं व्यावहारिक भाषा पर ही लागू हो सकती है, केवल किताबी भाषा पर नहीं।

शब्दार्थसम्बन्ध की इस लोकसिद्धता (संज्ञाप्रामाण्य) के विषय में भाष्यवार्तिककार का यह वचन अवश्य धातव्य है- ''अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः''[589] इसकी व्याख्या में प्रदीपकार लिखते हैं- ''कृत्तद्धितसमासानामभिधानं नियामकं लक्षणं त्वनभिज्ञानां तदभिज्ञानसूचकम्'' अर्थात् कृत्, तद्धित और समास सूत्रों का प्रयोग तो पूर्णरूपेण अभिधान के अनुसार ही होता है। दूसरे शब्दों- में प्राप्ति होने पर भी सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा यदि उस निष्पन्न शब्द से उस अर्थ की प्रसिद्धि (अभिधान) लोक में न हो। बलात् सूत्र को लगा कर प्रयोगों को बनाने वाले ऐसे 'देवानाम्प्रिय' व्यक्ति के लिए भाष्य में 'प्राप्तिज्ञ' शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके विपरीत जो अभिधान को जानता है, वह यहां 'इष्टिज्ञ' कहलाता है।[590] वस्तुतः शब्द से जिस अर्थ का अभिधान अभीष्ट है, वह अर्थ मुख्य रूप से अभिहित होने पर भाष्यवार्तिककार उसके साधन की विशेष चिन्ता नहीं करते। इनका पदे पदे 'अनभिधानात्' कहना ही साधनप्रक्रिया को गौण सूचित कर रहा है। परन्तु अभिधान की इतनी महत्ता होने पर भी अभिधान - अनभिधान के आश्रयण से किसी सूत्रवार्तिक के प्रत्याख्यान आदि को बड़ा दुर्बल या अगतिकगति मानते हुए अधिक चमत्कारकारी नहीं माना जाता है।[591]

यों तो व्याकरणशास्त्र में छह प्रकार के प्रत्यय होते हैं, जैसे सनादि, कृत्, तिङ्, सुप्, स्त्रीप्रत्यय और तद्धित तथापि अभिधान प्रायः तिङ् कृत्, तद्धित और समास से ही होता है। शब्दों के इस अभिधान - अनभिधान का निकष लोक है। अतः प्रकृत सिद्धान्त को भी लोकन्यायों में सम्मिलित कर लिया गया है। अब नीचे कृत्, तद्धित तथा समास के अभिधान - अनभिधान के शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं, तद्यथा-

''समानकर्तृकेषु तुमुन्''[592] सूत्रस्थ काशिका के 'अनभिधानात्' कथन की व्याख्या में न्यासकार कहते हैं कि 'देवदत्तं भुञ्जानमिच्छति यज्ञदत्तः' यहां 'भुञ्जानम्' में 'भुज्'

!धातु से 'तुमुन्' यह कृत् प्रत्यय इसलिए नहीं होता क्योंकि इस वाक्य में 'इच्छति' क्रिया का कर्ता तथा भुजि क्रिया का कर्ता समान न होकर भिन्न-भिन्न है जबकि 'तुमुन्' 'पूर्वकालिक' और 'उत्तरकालिक' दोनों क्रियाओं की समानकर्तृकता में ही होता है। फलतः वर्तमानविवक्षा में फिर लट् ही हो जाता है। यहां यह कहना कि 'इच्छन् करोति' में फिर 'तुमुन्' क्यों नहीं होता? क्योंकि इसमें तो समानकर्तृत्व भी है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि अनभिधानवशात् इस अर्थ में 'इच्छन् कर्तुम्' ऐसे प्रयोग का अभिधान नहीं होता। दूसरे शब्दों में– यहां 'तुमुन्' प्रत्यय लगने से विवक्षित अर्थ का अभिधान नहीं होता जबकि कृत्तद्धितसमास प्रयोगों की व्यवस्था तो लौकिक अभिधान पर ही आधारित होती है। ऐसी स्थिति में 'इच्छन् कर्तुम्' इत्यादि के लोकप्रसिद्ध अभिधान न होने से उक्त प्रयोग नहीं होंगे।

इसीप्रकार जैसे 'मथुराया आगतः माथुरः' यहां ''ततः आगतः''[593] सूत्र से तद्धित 'अण्' प्रत्यय होता है, वैसे ही 'वृक्षमूलादागतः' इस अर्थ में वृक्षमूल शब्द से 'अण्' प्रत्यय क्यों नहीं होता तो इसका भी वही उत्तर है कि लोक में इसका अभिधान नहीं है जबकि तद्धित प्रत्ययों की व्यवस्था लौकिधानाश्रित होती है। इसी तरह यहां यह कहना कि क्या कारण है कि ''पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः''[594] सूत्र के द्वारा 'स्तोकान्मुक्तः' इस प्रकार एकवचनान्त स्तोकादि शब्दों का तो अलुक उदाहृत किया जा रहा है परन्तु 'स्तोकाभ्यां मुक्तः', 'स्तोकेभ्यो मुक्तः' इस प्रकार द्विवचनान्त बहुवचनान्त स्तोकादि शब्दों का क्यों नहीं तो न्यासकार[595] के अनुसार इसका भी वही उत्तर है कि द्विवचनान्त बहुवचनान्त स्तोकादि शब्दों के अलुक समास से विवक्षित अर्थ का अभिधान नहीं होता जबकि समास तो लौकिक अभिधान पर ही व्यवस्थित होता है। फलतः द्विचनान्त बहुवचनान्त स्तोकादि शब्दों का अलुक समास नही होगा और फिर ऐकपद्य तथा ऐकस्वर्य भी इनका कभी नहीं होता। यह न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है[596]। इस न्याय के प्रसङ्ग में अग्रिम ''यथालक्षणमप्रयुक्ते'' न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है।

12. *''यथालक्षणमप्रयुक्ते न्याय''*[597]

यह लोकन्याय ''ष्णान्ता षट्'' सूत्र के भाष्य में आया है। इसका अर्थ है कि जो शब्द लोक में अप्रयुक्त हैं, जिनका लोक में प्रयोग नहीं होता अथवा लोक में जिनका अभिधान नहीं है, ऐसे शब्दों के विषय में यथालक्षण व्यवस्था होनी चाहिए। लक्षण अर्थात् सूत्र जैसा कहता है, वैसा ही विधान होना चाहिए– ''यस्य प्रयोगो नोपलभ्यते तल्लक्षणानुसारेण संस्कर्तव्यम्''। जो केवल शब्दशास्त्र के बल पर शब्दार्थसम्बन्ध सिद्ध करना चाहता है वह कभी सफल नहीं हो सकता।[598]

तदनुसार यदि 'प्रियाष्टौ', 'प्रियाष्टाः' ये रूप लोक में नहीं बोले जाते अथवा उनके स्थान में 'प्रियाष्टानौ', 'प्रियाष्टानः' का प्रयोग होता है। इस तरह लक्षण द्वारा प्राप्त होने पर भी 'प्रियाष्टौ,' 'प्रियाष्टाः' ये रूप लोक में अप्रयुक्त होने के कारण अशुद्ध

माने जाएंगे। अप्रयुक्त शब्द में लक्षण की प्रवृत्ति नहीं होती– यह अर्थ भी प्रदीपकार ने स्वीकार किया है।[599]

इसी प्रकार ''द्वितीया टौस्वेनः''[600] सूत्र के भाष्य में 'एनत्' आदेश से 'एन' आदेश को भी गतार्थ मानते हुए भाष्यकार ने कहा है कि यदि 'एन' आदेश न करके सर्वत्र 'एनत्' आदेश माना जाएगा तो उस अवस्था में यद्यपि 'एनश्रितकः' की जगह 'एनच्छितकः' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा तथापि उसके उत्तर में ''यथालक्षणमप्रयुक्ते'' कहकर भाष्यकार ने 'एनच्छितकः' को ही स्वीकार किया है। वैसे उद्द्योतकार नागेश तो 'एनत्' आदेश द्वारा 'एन' के प्रत्याख्यान को भाष्यकार की एकदेशयुक्ति मानकर 'एन' आदेश को ही स्वीकार करते हैं।[601] यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[602]

ड (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित श्रमिकसम्बन्धी लोकन्याय

1. स्वामिदास न्याय[603]
2. स्वामिभृत्य न्याय[604]

सन्दर्भसूची

1. महा. भा. 1 सू. 1.2 37 पृ. 212.
2. ऋक् 10.75.5.
3. पा. 8.1.18.
4. पा. 8.4.66.
5. पा. 8.1.19.
6. तुलना करो, परि. सं. 73– ''सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्''
7. क) तुलना करो-महा. भा. 1 सूत्र 1.4.21 पृ.-322-''दृश्यते खल्वपि वचनविप्रयोगः। तद्यथा-अक्षीणि मे दर्शनीयानि, पादा मे सुकुमारा इति''
   ख) प.मं. (का. भा. 3 सू.4.4.2 पृ. 737-''अवश्यं हि यया कयाचित् संख्यया येन केनचित् कालेन निर्देश इति तयोरुपादानम्। न तु तयोर्विवक्षा।''
   ग) वा. प. 3.1.51-
   ''न विना संख्याया कश्चित् सत्त्वभूतोऽर्थ उच्यते।
   अतः सर्वस्य निर्देशे संख्या स्यादविवक्षिता॥
8. द्र. ''अपदं न प्रयुञ्जीत''।
9. महा. भा. 2. सू. 3. 4.21 पृ0 172.
10. महा भा. 2, सू. 4.1..92 पृ. 245.
11. वही सू. 3.3.18 पृ. 144.

12. क) न्यास. (का. भा. 3 सू. 4.1.92. पृ. 422; सू. 4.4.2. पृ. 737); प.मं. (का. भा. 3 सू. 4.4.2 पृ0 737). इस न्याय के विषय में पदमञ्जरीकार (का. भा. 3 सू. 3.3.18 पृ. 24) के निम्न श्लोक अवश्य द्रष्टव्य हैं–

"न विना लिङ्गसंख्याभ्यां सत्त्वभूतोऽर्थ उच्यते।
इत्यतन्त्रमुपादानं तयोर्न तु विवक्षितम्॥
धान्यार्थिनामुपादानं पलालादेर्यथा मतम्।
शब्दसंस्कारमात्रं तु तन्निर्देशप्रयोजनम्॥"

ख) ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, श्लोक 18–

"ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेत् ग्रन्थमशेषतः॥

ग) सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन, पृ. 2.

"त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी॥"

घ) भामती. पृ. 54.

13. महा. भा.. 2 सू. 3.3.133 पृ. 159-60.
14. प. मं. (का. भा. 4 सू. 5.1.90. पृ. 82.
15. तुलना करो, परि. सं. 73-"सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्"। इस सन्दर्भ में पूर्वोक्त धान्यपलाल या मत्स्यकण्टकमूलक अथवा नान्तरीयक न्याय भी उपयोगी हो सकता है।
16. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.38 पृ. 305, भा. 2 सू. 1.4.56 पृ. 441 गणरत्नमहोदधि, स्वरादिगण, पृ. 42; त.बो. (वै. सि. कौ. भा. 2 सू. 1093 पृ. 297); महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.46 पृ. 347; भा. 2, सू. 2.1.1 पृ. 530; भा. 3. सू. 3.3.107 पृ. 340; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 448 पृ. 695; बा.म. (वै.सि.कौ.भा. 1 सू. 2 पृ. 8; सू. 54 पृ. 70).
17. द्र. पृ. 368.
18. द्र. पृ. 520.
19. द्र. पृ. 81.
20. द्र. पृ. 201.
21. द्र. पृ. 219.
22. द्र. पृ. 155.
23. द्र. पृ. 366.

24. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 14
25. तुलना करो वा प. 2.251; 470

"यौगपद्यमतिक्रम्य पर्याये व्यवतिष्ठते।
अर्थप्रकरणाभ्यां वा योगाच्छब्दान्तरेण वा"॥
"द्विष्ठानि यानि वाक्यानि तेष्वप्येकत्वदर्शिनाम्।
अनेकशक्तेरेकस्य स्वशक्तिः प्रविभज्यते"॥

26. द्रष्टव्य है कि 'श्वेतो धावति' यह उदाहरण तन्त्रन्याय का भी है। क्योंकि जहां आवृत्तिभेद के बिना ही अर्थात् किसी कुशलमति के द्वारा एक बार किए गए उच्चारण से ही अनेक अर्थ उपकृत होते हैं वहां तन्त्र होता है। प्रस्तुत उदाहरणमूलक प्रकृत तन्त्र न्याय अन्यत्र भी देखने में आता है। जैसे न्यास (का. भा. 1 सू. 1.3.3 पृ. 397; भा. 3 सू. 4.2.24 पृ. 526, भा. 6 सू. 8.2.3 पृ. 342); प.मं. (का. भा. 1 सू. 1. 3.3; पृ0 397; भा. 6 सू. 8.2.3 पृ. 342); श कौ. भा. 2 सू. 1.2.36 पृ 18.
27. महा. प्र. उ. भा. 1 पस्पशा. पृ. 51.
28. तुलना करो-एकामसिद्धिं परिहरतो द्वितीयापद्यते"।
29. न्या. वा. ता. टी. पृ. 53, कुसुमाञ्जलि 2.3; तथा न्यायमकरन्द पृ. 223.
30. महा. भा0 3 सू. 8.2.3 पृ. 388.
31. पा. 8.2.80.
32. पा 7.3.120.
33. पा. 7.3.102.
34. तुलना करो (क) पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, 11. 77–

"एको मुनिस्ताम्रकराग्रहस्तो ह्याम्रेषु मूले सलिलं ददाति।
आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ताः एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा॥"

ख) न्या. मं.–

"यथेक्षुहेतोः सलिलं प्रसेचितं तृणानि वल्लीरपि तन्निषिञ्चति।
तथा क्रिया धर्मनिमित्तमार्जिता सुखार्थलाभेऽपि न धर्मतापिका॥"

35. न्या. मं. 5.1.39; काव्यादर्श 2.310. अलङ्कारसर्वस्व तथा काव्यप्रदीप आदि के श्लेषअलंकारविवेचनप्रसङ्ग में भी उक्त न्याय उद्धृत देखा जा सकता है।
36. महा. भा. 3. सू. 8.2.3 पृ. 388.
37. भाष्यकार की यह शैली पदे-पदे दृष्टिगोचर होती है कि वे शास्त्रीय ग्रन्थि को स्फुटित या. सहज जनग्राह्य बनाने के लिए वकील के समान एक के बाद एक तर्क या लोकन्यायों को तब तक प्रस्तुतः करते रहते हैं जब तक वे सन्तुष्ट नहीं हो जाते। प्रकृत आम्रसेकपितृतर्पण तथा वृद्धकुमारी वरवाक्य न्यायों का एकत्र उपन्यास ही

इसमें उपोद्बलक है। तुलना करो, महा. भा. 1 सू. 1.1.1. पृ. 39 "अपरितुष्यन् भवाननेन परिहारेण-'अनाकृतिर्लिङ्गेन' वेत्याह"

38. यहां के अतिरिक्त तन्त्रवार्तिक 2.2.2. में भी यह न्याय 'वृद्धकुमारीवरप्रार्थन' नाम से मिलता है। कहीं-कहीं पर यह न्याय 'वृद्धब्राह्मणवरन्याय' नाम से भी पाया जाता है। यहां यह ब्राह्मण वृद्ध होने के साथ-साथ अन्धा भी है और निम्न वर मांगता है- "स्वपौत्रं राजसिंहासनस्थितमीक्षितुमिच्छामिति"..... लौकिकन्यायाञ्जलि के पृ. 47 से उद्धृत।

39. रघु. 9.80-

"शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति"॥

40. न्यास. (का. भा. 6, सू. 8.2.3, पृ. 343); महा. प्र. भा. 2, सू. 2.1.3, पृ. 563; भा. 3, सू. 3.4.2, पृ. 371; प. मं. (का. भा. 6, सू. 8.2.3, पृ. 343); श. कौ. भा. 2, सू. 2.1.4, पृ. 160; लौ. न्या. र., पृ. 105; 247.

41. महा. प्र. भा. 5, सू. 8.2.43, पृ. 362.

42. प. मं. (का. भा. 4, सू. 5.2.59, पृ. 178).

43. "प्रधानं नीयमानं हि तत्राङ्गान्यपकर्षति" अर्थात् प्रधान के साथ-साथ जहाँ अप्रधान का भी बोध या ग्रहण हो जाएं वहाँ उक्त न्याय प्रयुक्त होता है।

44. महा. प्र. भा. 2, सू. 2.1.51, पृ. 609; भा. 4, सू. 5.1.59, पृ. 56; भा. 5, सू. 8.1.4, पृ. 298. लौ. न्या. र. पृ. 242.

45. पा. 7.3.120.

46. श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.11, पृ. 125.

47. पा. 8.2.80.

48. पा. 7.3.120.

49. पा. 7.3.102.

50. पा. 8.2.3.

51. स्फोटचन्द्रिका पृ. 3, बृ. श. शे. भा. 1, सू. 12, पृ. 53.

52. श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.11, पृ. 124.

53. पा. 1.1.70.

54. बृ. श. शे. भा. 1, सू. 24, पृ. 87.

55. महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.45, पृ. 343.

56. का. भा. 6, सू. 8.2.1, पृ. 342 "योगद्वयमिदमुभयार्थं तन्त्रेणोच्चारितम्।"

57. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.3.3, पृ. 396-97).

58. पा. 1.1.71.

59. पा. 1.2.67 "पुमान् स्त्रिया"।

60. पा. 1.2.73 "ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री"।

61. का. प्र. नवम उल्लास, श्लोक सं. 369, पृ. 446.

62. शिशु. 9.6.

63. का. प्र. नवम उल्लास, श्लोक सं. 373, पृ. 448.

64. वा. प. 2.380, 477; का. भा. 1, सू. 1.3.3, पृ. 396; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.45, पृ. 160; सू. 1.3.3, पृ. 397; भा. 3, सू. 4.2.24, पृ. 526; सू. 4.1.156, पृ. 726; भा. 4, सू. 5.4.104, पृ. 402; भा. 6, सू. 8.3.14, पृ. 495); महा. प्र. भा. 1, एओङ् ऐऔच् सूत्र पृ. 83; हयवरट् सूत्र पृ. 92; 104; सू. 1.1.27, पृ. 284; सू. 1.1.59, पृ. 465; भा. 2, सू. 1.2.45, पृ. 69; सू. 1.4.56, पृ. 442; भा. 4, सू. 6.1.1, पृ. 280; सू. 6.4.62, पृ. 736; भा. 5, सू. 7.2.102, पृ. 178; सू. 8.2.3, पृ. 362; प. मं. (का.भा. 1, सू. 1.3.3, पृ. 397, भा. 2, सू. 3.1.144, पृ. 536; भा. 3, सू. 4.4.12, पृ. 742; भा. 4, सू. 5.2.94, पृ. 205; सू. 5.2.110, पृ. 219; भा. 5, सू. 6.2.148, पृ. 141; भा. 6, सू. 7.3.3, पृ. 7; सू. 8.2.3, पृ. 342); श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.1, पृ. 68; सू. 1.1.27, पृ. 159; सू. 1.1.45, पृ. 188; सू. 1.1.50, पृ. 195; भा. 2, सू. 1.2.36, पृ. 18; सू. 1.2.64, पृ. 39; सू. 1.3.1, पृ. 51; सू. 3.1.128, पृ. 417; वै. सि. कौ. भा. 2, सू. 891, पृ. 178; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 345, पृ. 328; सू. 416, पृ. 424; सू. 695, पृ. 702); महा. प्र. उ. भा. 1, एओङ् ऐऔच् सूत्र पृ. 83; हयवरट् सूत्र पृ. 93; सू. 1.1.1, पृ. 123; सू. 1.1.3, पृ. 147; भा. 5, सू. 7.1.74, पृ. 70; सू. 7.3.4, पृ. 195; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 39, पृ. 113; सू. 180, पृ. 346, सू. 260, पृ. 487; सू. 419, पृ. 658; भा. 3, सू. 2651, पृ. 1868; सू. 3392, पृ. 2161; सू. 3665, पृ. 2219; सू. 3675, पृ. 2228; फिट् सूत्र 63, पृ. 2248; लौ. न्या. र. पृ. 186.

65. महा. भा. 1, सू. 1.1.46, पृ. 113.

66. वही. भा. 1, एओङ् ऐऔच् सूत्र, पृ. 23.

67. योगदर्शन व्यासभाष्य।

68. तुलना करो, महा. भा. 2, सू. 5.1.2, पृ. 338 "दृश्यते हि समुदायादवयवस्य पृथक्त्वम्"।

69. पा. 6.1.87 'आद् गुणः' = अ + इ = ए / अ + उ = ओ.
पा. 6.1.88, "वृद्धिरेचि" = अ + ए = ऐ / अ + ओ = औ.

70. महा. भा. 3, सू. 6.1.1, पृ. 3.

71. महा. भा. 1, सू. 1.1.56, पृ. 136; न्यास. (का. भा. 4, सू. 6.1.85, पृ. 549); महा. प्र. भा. 3, सू. 4.1.48, पृ. 507; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.7, पृ. 91); श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.7, पृ. 111; प्रौ. म. सू. 2176, पृ. 319; लौ. न्या. र. पृ. 12; 37, 43.

72. महा. भा. 2, सू. 5.1.2, पृ. 338.

73. पा. 5.1.5;12.

74. महा. भा. 1, एओङ् ऐऔच् सूत्र, पृ. 25.
75. वही. सू. 1.1.48, पृ. 118 "ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्"।
76. महा. प्र. भा. 5, सू. 8.4.1, पृ. 488-89.
77. वही. भा. 1, एओङ् ऐऔच् सूत्र, पृ. 85.
78. इस न्याय की व्याख्या प्रकृत ग्रन्थ के पृ. 539 पर देखें।
79. द्र. महा. भा. 1, एओङ् ऐऔच् सूत्र, पृ. 22 "ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते। ...... पार्षदकृतिरेषा ....."।
80. द्र. महा. भा. 1, सू. 1.1.118 पृ. 118 "ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात्"।
81. (क) महा. प्र. भा. 1, एओङ् ऐऔच् सूत्र, पृ. 89; भा. 5, सू. 8.4.1, पृ. 489; महा. प्र. उ. भा. 1, सू. एओङ् ऐऔच् सूत्र, पृ. 84; 91.
(ख) कुवलयानन्द, पृ. 337; अलङ्कारसर्वस्व पृ. 192. यहां साहित्यशास्त्रियों ने तिलतण्डुल न्याय, क्षीरनीरन्याय तथा उक्त नरसिंह न्याय के आधार पर क्रमशः संसृष्टि तथा संकर आदि अंलकारों का निर्णय करने को कहा है।
82. पा. 4.1.92.
83. पा. 4.1.162.
84. महा. भा. 3, सू. 5.1.119, पृ. 366.
85. महा. प्र. उ. भा. 3, सू. 5.1.9, पृ. 87 - "स्पष्टं च स्त्रियामिति सूत्रे भाष्ये उक्तम् - द्रव्ये च भवतः कः सम्प्रत्ययः? गुणसमुदायो द्रव्यमिति। तथा तपरसूत्रेऽपि भाष्ये - कं च प्रत्ययवयो गुणः? समुदायमिति दिक्"।
86. प्रौ. म. सू. 2656 पृ. 649.
87. तन्त्रवार्तिक 1.3.18 पृ0 213. तुलना करो–
"आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्" (वेणीसंहार, 5.23)।
88. पा. 6.4.98.
89. परि. सं. 92.
90. परि. सं. 93.1.
91. पा. 6.4.49.
92. प.मं. (का.भा. 6 सू. 8.1.67 पृ. 313); प्रौ. म. सू. 2651. पृ. 448; *बृ. श. शे. भा. 3* सू. 2656 पृ. 1879.
93. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति.1.1.2; *सर्वदर्शनसंग्रह*, आर्हतदर्शन पृ. 21 तथा पाणिनिदर्शन पृ. 115; न्या. मं. पृ. 183; 551; लौ. न्या. र. पृ. 38.
94. महा. प्र. उ. छाया टीका (निर्णयसागर संस्करण) भा. 1 पस्पशा. पृ. 11.
95. ध्यातव्य है कि प्रकृत न्याय की व्याख्या इस प्रकार भी हो सकती है कि जैसे रावण ने सीता को अशोकवाटिका में इसलिए रखा जिससे वहाँ उसका मन लग जाए और वह राम को भूलकर उसे चाहने लगे वैसे ही यहाँ शास्त्र में भी गौः, अश्वः इत्यादि

शब्दों को प्रारम्भ में इसलिए पढ़ा गया है कि जिससे नान्तरीयकता की उपाधि भी परिहृत हो जाए तथा पुण्यफलावाप्ति भी हो जाए, जबकि घट-पट आदि शब्दों में यह सामर्थ्य सम्भव नहीं है।

96. द्र. पृ. 101.
97. द्र. पृ. 104.
98. द्र. पृ. 198.
99. द्र. पृ. 198.
100. द्र. पृ. 199.
101. द्र. पृ. 307.
102. द्र. पृ. 355.
103. द्र. पृ. 357.
104. द्र. पृ. 521.
105. द्र. पृ. 78.
106. द्र. पृ. 79.
107. द्र. पृ. 466.
108. द्र. पृ. 458; 461.
109. द्र. पृ. 497.
110. द्र. पृ. 200.
111. द्र. पृ. 545.
112. द्र. पृ. 387.
113. द्र. पृ. 232.
114. द्र. पृ. 336.
115. द्र. पृ. 425.
116. द्र. पृ. 227.
117. द्र. पृ. 591.
118. द्र. पृ. 463.
119. द्र. पृ. 337.
120. द्र. पृ. 568.
121. द्र. पृ. 594.
122. द्र. पृ. 448.
123. द्र. पृ. 556.
124. द्र. पृ. 364.
125. द्र. पृ. 463.

126. द्र. पृ. 493.
127. द्र. पृ. 234.
128. द्र. पृ. 143.
129. द्र. पृ. 346; 350.
130. द्र. पृ. 54.
131. द्र. पृ. 68.
132. द्र. पृ. 486.
133. द्र. पृ. 206.
134. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ0 12.
135. तुलना करो,
(क) महा. भा. 1 सू. 1.1.69 पृ0 179 "यो ह्यनेकान्तेन भेदो नासावन्यत्वं करोति। तद्यथा– न यो गोश्च गोश्च भेदः सोऽन्यत्वं करोति। यस्तु खलु गोश्चाश्वस्य च भेदः सोऽन्यत्वं करोति"।
(ख) भामहकृत काव्यालङ्कार, 6.17–
"यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः॥"
136. द्र. पा. 3.3.117 "करणधिकरणयोश्च"।
137. महा. भा. 1, सू. 1.1.1 पृ0 38.
138. पा. 1.1.1-2.
139. प.मं. (का. भा. 1 सू. 1.2.45 पृ. 340) पर भी उक्त वाक्य उद्धृत हुए हैं।
140. द्र. साहित्यदर्पण, द्वितीयपरिच्छेद, पृ. 24. "वाक्यं स्यादाकांक्षायोग्यतासत्तियुक्तः पदोच्चयः"।
141. 'दशदाडिमानि' इत्यादि पदसमूह की निरर्थकता काव्यांलकारसूत्रप्रणेता वामनाचार्य ने भी स्पष्ट ही निर्दिष्ट की है। द्र. काव्यालंकारसूत्र, 3.2.15–
"गुणस्फुटसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते॥
गुणानां दशतामुक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम्।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः॥"
142. *महा. भा. 1* सू. 1.2.45 पृ0 217. *महा. प्र. भा. 2 सू. 1.2.45 पृ0 69;* प.ल.म., समासादिवृत्त्यर्थ प्रकरण, पृ0 418.
143. महा. भा. 1 सु. 1.1.1 पृ0 38.
144. पा. 1.1.1.
145. पा. 6.2.88.

146. पा. 6.2.87.
147. पा. 1.1.73.
148. प. मं. (का. भा. 6 सू. 8.2.2. पृ. 339).
149. निरुक्त 1.1. "शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके"।
150. पा. 1.1.24.
151. पा. 4.1.10.
152. महा. भा. 1 सू. 1.1.1 पृ. 38.
153. महा. प्र. उ. भा. 3 सू. 3.1.1 पृ. 7.
154. *महा. भा. 1* सू. 1.1.1 पृ. 40.
155. पा. 7.2.114.
156. *महा. भा. 1* सू. 1.3.2 पृ. 259.; 1.3.62 पृ. 289; *भा. 2* सू. 3.1.5 पृ. 11; टिप्पणी (प्रौ. म.) सू. 2374 पृ. 403.
157. महा भा. 1 सू. 1.1.43 पृ. 101.
158. पा. 1.1.42.
159. महा. भा.1 सू. 1.1.44 पृ. 102.
160. द्र. वही. सू. 1.1.44 पृ. 105. अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः" तुलना करो, निरुक्त, 2.1. "अर्थनित्यः परीक्षेत"।
161. द्र वही. पस्पशा. पृ. 11. "शब्दप्रमाणका वयम्। यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्"
162. वही. सू. 1.1.44 पृ. 105.
163. (क) पा. 1.2.13.– "वा गमः"
(ख) पा. 8.3.102.– "यजुष्येकेषाम्"
(ग) पा. 8.4.62. – झयो होऽन्यतरस्याम्" इत्यादि।
प्रस्तुत प्रसङ्ग में पाल किपार्सकी इत्यादि कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार पाणिनि के द्वारा विकल्प के लिए पठित अनेक शब्दों का व्यवहार एकाएक अव्यवस्थित नहीं है। इनके मत में पाणिनि 'वा', 'विभाषा' तथा 'अन्यतरस्याम्' शब्दों से विकल्पित प्रयोगों के अर्थ की साधीयता (Preferably) तथा असाधीयता (Preferably not) पर भी प्रकाश डाला है। यद्यपि इस विषय में डा. देवस्थली इत्यादि विद्वान् सहमत नहीं हैं तथापि इस के विशेष अध्ययनार्थ देखें– Panini as a variationist By S.D. Joshi and Paul Kiparsaki, University of Poona, 1979.
164. महा भा. 1 सू. 1.1.46 पृ. 112.
165. पा. 1.3.10.
166. स्मरणीय है कि सामान्य रूप से तो भाष्यकार "यथा लोके तथा व्याकरणे" सिद्धान्त के पक्षधर हैं, परन्तु लक्ष्यानुरोधात्, अपवाद रूप में ही सही, पुरुषारम्भरूप यत्नविशेष द्वारा "न यथा लोके तथा व्याकरणे" सिद्धान्त को भी संकेतित कर देते हैं। वस्तुतः

लक्ष्यदर्शनवशात् भाष्यकार "उभयगतिरिह भवति" सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, "पक्षान्तैरपि परिहारा भवन्ति" उनका यह कथन इसमें उपाद्वलक है।

167. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.3.10 पृ. 406).

168. रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग 28, श्लोक सं 27; ऋतुसंहार, प्रावृड् वर्णनम्, श्लोक सं. 19.

169. तुलना करो, प. मं. (का. भा. 6, सू. 8.2.37 पृ. 402)

"शास्त्रप्रतीतिवेलायां संख्यासाम्यस्य सम्भवात्।

प्रवर्तते यथासंख्यमनुष्ठाने त्वसम्भवः॥"

ध्यान रहे कि फिर उक्त परिस्थिति में शास्त्र में आन्तर्यात् अन्वयसम्बन्ध करके व्यवस्था की जाती है।

170. महा. भा. 1 सू. 1.4.101 पृ० 350.

171. तुलना करो,–"प्रथमातिक्रमे कारणाभावः"

172. ऋक्. 10. 128 1-9.

173. वही. 10.128. 1-2.

174. महा. प्र. भा. 2 सू. 1.4.101 पृ. 469.

175. *महा. भा. 1* सू. 1.1.56 पृ. 136.

176. पा 1.4.14.

177. बृ. श. शे. भा. 1 सू. 49 पृ. 146.

178. पा. 7.4.24.

179. व्याडि परि सं. 51.

180. (क) महा. भा. 1. ऋलृक् सूत्र, पृ. 21; सू. 2.4.85 पृ० 501; भा. 2 सू. 4.1.83 पृ० 235; भा. 3 सू. 6.1.69 पृ० 48; सू. 6.4.149 पृ० 228; सू. 8.3.85, पृ० 446; का. भा. 3 सू. 4.3.30 पृ० 638; भा. 6 सू. 8.3.85 पृ० 572; न्यास (का. भा. 3 सू. 4.3.30. पृ० 638; भा. 4 सू. 6.1.15, पृ. 470; भा. 5 सू. 6.4, 52 पृ० 405; सू. 6.4.134 पृ० 485; भा. 6 सू. 7.3.57. पृ० 72; सू. 7.4.88 पृ० 203; सू. 8.4.15 पृ० 623; सू. 8.4.39. पृ. 646); महा. प्र. भा. 1 ऋलृक् सूत्र, पृ० 78; सू. 1.1.4 पृ० 169; भा. 2 सू. 1.3.19 पृ० 248; भा. 3 सू. 3.1.122 पृ० 212, भा. 4 सू. 6.1.85 पृ० 408; सू. 6.1.185 पृ० 516; सू. 6.4.52 पृ० 729 सू. 6.4.133 पृ० 779; सू. 6.4.163, पृ० 802; भा. 5 सू. 7.1.84 पृ० 77; सू. 7.2.101 पृ० 172; सू. 7.3.50 पृ० 213; प.मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ० 189; सू. 1.4.74 पृ 608; भा. 2 सू. 3.1.122 पृ० 515; भा. 3. सू. 4.1.70 पृ० 375; सू. 4.1.163 पृ० 492; सू. 4.3.30, पृ० 638; भा. 5. सू. 6.4.133 पृ० 485; भा. 6 सू. 7.3.50 पृ० 63; सू. 8.3.88 पृ. 576); श. कौ. भा. 1 ऋलृक् सूत्र, पृ० 42, सू. 1.1.56, पृ. 205; भा. 2 सू. 3.1.11 पृ. 328; सू. 3.1.78 पृ. 387; सू. 3.1.122 पृ. 414; वै. सि. कौ. भा. सू. 172 पृ. 165; सू. 227 पृ. 229; भा. 2 सू. 1567. पृ. 457; प्रौ. म. सू. 1306 पृ. 154; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 1 सू. 525 पृ. 586; भा. 2. सू. 1410 पृ. 413; भा. 3 सू. 2477 पृ. 296); महा. प्र. उ. भा. 1 ऋलृक् सूत्र पृ. 78; लण् सूत्र पृ. 112; सू. 1.1.14 पृ. 228; सू. 1.1.47. पृ. 354; सू. 1.1.57 पृ. 440; सू. 1.1.58 पृ. 450; सू. 1.1.65 पृ. 504; भा. 2 सू. 1.4.2 पृ. 338; सू. 1.4.13 पृ. 356; भा. 3 सू. 3.1.27; पृ. 99; सू. 4.4.17 पृ. 743; भा. 4 सू. 6.1.85 पृ. 407; सू. 6.1.112 पृ. 456; सू. 6.1. 182; पृ. 513; सू. 6.4.23 पृ. 707; सू. 6.4.47 पृ. 722; भा. 5 सू. 7.2.37 पृ. 135; सू. 8.3.17 पृ. 441; सू. 8.3.85 पृ. 480; सू. 8.4.15 पृ. 499; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 29 पृ. 94-95. सू. 67 पृ. 178-179, सू. 75 पृ. 193; सू. 155 पृ. 292; सू. 188 पृ. 373; सू. 227 पृ. 435; सू. 235 पृ. 449; सू. 283 पृ. 522; सू. 323 पृ. 566; सू. 366 पृ. 608; सू. 404 पृ. 645; सू. 458 पृ. 715; सू. 498. पृ 756; सू. 499, पृ. 757; भा. 2 सू. 839 पृ. 1173; सू. 1015 पृ. 1205; सू. 1659 पृ. 1392; सू. 1566, पृ. 1378; भा. 3 सू. 2457 पृ. 1752, सू. 2650 पृ. 1863; सू. 2651 पृ. 1871-72; सू. 2676 पृ. 1901; बा. म. (वै. सि. कौ. भा. 1 सू. 73 पृ. 86; सू. 87 पृ. 102; सू. 525 पृ. 586; भा. 2 सू. 1403 पृ. 411; भा. 3 सू. 2114 पृ. 43; सू. 2457 पृ. 280; सू. 2491 पृ. 438.

(ख) न्या. मं. पृ. 589; तुलना करो– तन्त्रवार्तिक 2.1.34. पृ० 418–

"न हि गोर्गडुनि जाते विषाणे वा भग्ने गोत्वं तिरोधीयते"

तथा पृ. 617

"न केवलभोजी देवदत्तोऽन्यैः सह पङ्क्त्यां भुञ्जानोऽन्यत्वं प्रपद्यते"॥

181. महा. भा. 1 सू. 1.1.58 पृ० 152-153.

182. द्र. का. प्र. सप्तम उल्लास, कारिका सं. 52

"अपास्यच्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम्।

वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन॥

उदाहरणार्थ निम्न श्लोक द्रष्टव्य है:

"धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः।

रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम्"॥

183. वा. प. 2. 246.

184. महा. प्र. भा. 4 सू. 6.3.34 पृ. 603.

185. प. मं. (का. भा. 4 सू. 6.1.84 पृ. 544).

186. पाठक्रम का ही दूसरा नाम यथासंख्य न्याय है।

187. (क) महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.7. पृ. 189; सू. 1.1.58 पृ. 454; भा. 2 सू. 1.3.10 पृ. 218; सू. 1.4.1. पृ. 302; भा. 4 सू. 6.1.162, प्र0 499; सू. 6.4.163 पृ. 803; भा. 5

सू. 7.2.5 पृ. 102; प मं. (का. भा. 2 सू. 2.1.57. पृ. 79); महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.3.3. पृ. 204; सू. 1.3.10 पृ. 219; भा. 5 सू. 7.2.5 पृ. 102; बृ. श.शे.भा. 1 सू. 16 पृ. 73; श. र. सू. 2.2.11 पृ. 12.

(ख) जै. सू. 5.1.4; 7. आनन्दवर्धनकृत ब्रह्मसूत्रव्याख्या 2.3.15.

188. महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.58 पृ. 458.

189. तुलना करो- न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड, 81–

"पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।

शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥"

190. महा. भा. 1, सू. 1.1.66-67, पृ. 172.

191. वही. भा. 2, सू. 3.3.18, पृ. 144-45.

192. वही. सू. 3.1.67, पृ. 57 - "कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति"।

193. वा. प. 3.8.48.

194. वही. 3.8.64.

195. पा. 3.2.1.

196. पा. 3.2.2.

197. महा. भा. 1, सू. 1.1.68, पृ. 175.

198. पा. 6.1.89 पर वार्तिक।

199. पा. 8.2.36.

200. पा. 1.1.20.

201. वा. प. 2.365.

202. महा. भा. 1, सू. 1.3.2, पृ. 258-60 यह लोकन्याय यहां के अतिरिक्त महा. भा. 2, सू. 4.1.73, पृ. 232; सू. 4.1.78, पृ. 233; भा. 3, सू. 6.1.4, पृ. 9; सू. 7.3.50, पृ. 328 पर भी प्रयुक्त हुआ है।

203. प्रकृत गोकर्णग्रहण न्याय की तुलना शृङ्गग्राहिका न्याय से अवश्य करणीय है।

204. 'अगोज्ञाय कश्चित् गाम्' इत्यादि उक्त लौकिक दृष्टान्त महाभाष्य में "अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति" (द्र. प्रकृत ग्रन्थ पृ. 333) इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए भी अनेकत्र प्रयुक्त हुआ है। भाष्यकार की यह विचित्र शैली अनेकत्र दृष्टिगोचर होती कि ये एक ही दृष्टान्त को प्रकारान्तर से प्रस्तुत करके उससे भिन्न-भिन्न सिद्धान्त स्थापित कर लेते हैं। प्रकृत न्याय में ही ग्रामान्तरगमनपरक उदाहरण भी षष्ठी स्थानेयोगा" (पा. 1.1.49) सूत्रभाष्य में प्रयुक्त देखा जा सकता है।

205. तुलना करो - वा. प. 3.14.571 -

"अङ्गदी कुण्डली चेति दर्शयन् भेदहेतुभिः।

चैत्रमीदृशमित्याह बुद्धयवस्थापरिग्रहात्॥"

206. मा. यजुः 1.1.

207. ऋक् 10.9.4; अथर्व. 1.6.1.

208. ऋक्. 5.48.1.

209. महा. प्र. भा. 5, सू. 7.2.10, पृ. 113; बृ.श.शे. भा. 1, सू. 3, पृ. 21; टिप्पणी (प्रौ.म.) सू. 2370, पृ. 403.

210. महा. भा. 1, सू. 1.3.19, पृ. 279.

211. द्र.परि. सं. 103 - "सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्"।

212. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.3.19, पृ. 421); महा. प्र. भा. 2, सू. 1.3.19, पृ. 249; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.3.19, पृ. 421); महा.प्र.उ.भा. 2, सू. 1.3.19, पृ. 249.

213. महा. भा. 1, सू. 2.3.8, पृ. 447.

214. पा. 1.4.88.

215. बृ.श.शे.भा. 1, सू. 157, पृ. 299.

216. महा. भा. 1, सू. 2.3.4, पृ. 445.

217. बृ.श.शे.भा. 1, सू. 545, पृ. 857.

218. प.मं. (का. भा. 2, सू. 2.3.4, पृ. 158). तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 1.1.1 पृ. 40 ". .... इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। तद्यथा-नौर्नावि बद्धा नेतरेतरत्राणाय भवति। ननु च भो इतरेतराश्रयाण्यपि कार्याणि दृश्यन्ते। तद्यथा नौः शकटं वहति शकटं च नावं वहति........"।

219. महा. भा. 1, सू. 2.4.79, पृ. 496.

220. परि.सं. 103.

221. पा. 3.2.168.

222. पा. 1.3.1.

223. (क) साहचर्य भी अर्थनिर्धारण में उपकारक होता है - भतृहरि भी इसको कण्ठरवेण घोषित करते हैं, द्र. वा. प. 2.315-16.

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं च शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥"

(ख) "A man is known by the company he keeps," यह कहावत भी साहचर्य शक्ति को प्रकट करती है।

(ग) इस साहचर्यजन्य आन्तर्य का आकर्षण तो पशुओं में भी देखा जाता है, तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 1.1.50, पृ. 123 ". . . आस्यतामित्युक्ते नैव कृशाः कृशैः सहासते. . . . येषामेव किंचिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते। . . . तथा यान्येतानि

गोयुक्तकानि संघुष्टकानि भवन्ति तान्यन्योन्यमपश्यन्ति शब्दं कुर्वन्ति''।

224. महा.प्र.भा. 3, सू. 4.1.48, पृ. 500-1.

225. वही. पृ. 501.

226. न्यास. (का.भा. 1, सू. 1.1.35, पृ. 144). इसी प्रसङ्ग में और इन्हीं शब्दों में गणरत्नमहोदधि में भी (पृ. 50) यह न्याय आया है।

227. प.मं. (का भा. 1, सू. 1.3.66, पृ. 463).

228. तुलना करो, वा.प. 2.315-16. (द्र. उपरिगत पादटिप्पणी सं. 219).

229. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.3.66, पृ. 463; भा. 5, सू. 6.4.34, पृ. 384); महा.प्र.भा. 4, सू. 6.4.34, पृ. 710; प.मं. (का. भा. 5, सू. 6.4.34, पृ. 384); श.कौ.भा. 2, सू. 1.3. 66, पृ. 80.

230. प.मं. (का भा. 1, सू. 1.3.20, पृ. 421).

231. त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 137, पृ. 138).

232. महा. प्र. भा. 2, सू. 2.3.1, पृ. 759.

233. महा.प्र.उ.भा. 2, सू. 2.3.1, पृ. 759.

234. महा. भा. 1 सू. 1.2.64 पृ. 234.

235. तुलना करो- 'अपदं न प्रयुञ्जीत'।

236. महा. भा. 1, सू. 1.3.62, पृ. 289.

237. पा. 1.3.12.

238. स्मरणीय है कि उक्त 'गां सक्थनि कर्णे वा' इत्यादि दृष्टान्त इससे पूर्व शास्त्रीय उद्देश और उपदेश के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए (पृ. 325) तथा वृद्धि संज्ञा सूत्रभाष्य में संज्ञाधिकारचर्चाप्रसङ्ग (पृ. 310) में प्रयुक्त हो चुका है।

239. पा. 3.1.5-6.

240. पा. 1.3.74.

241. का.भा. 1, सू. 1.3.62, पृ. 459; भा. 2, सू. 3.1.28, पृ. 403; न्यास. (का भा. 1, सू. 1. 3.62, पृ. 459; भा. 2, सू. 3.1.6, पृ. 345); प. मं. (का.भा. 1, सू. 1.3.62, पृ. 459; भा. 2, सू. 3.1.22, पृ. 381; सू. 3.1.28, पृ. 403; भा. 6 सू. 7.1.70, पृ. 607); त.बो. (वै. सि. कौ.भा. 1, सू. 560, पृ. 635); वै. भू. सा. पृ. 134; बृ.श.शे.भा. 3, सू. 2209, पृ. 1619.

242. महा. भा. 1, सू. 1.4.109, पृ. 354.

243. वही. 1, सू. 2.1.36, पृ. 389.

244. वही. 1, सू. 2.1.57, पृ. 399.

245. न्यास. (का. भा. 2, सू. 2.1.57, पृ. 77); महा. प्र. भा. 3, सू. 4.2.92, पृ. 669; प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.1.57, पृ. 78); सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन, पृ. 6, महा. प्र. उ. भा. 3, सू. 4.2.92, पृ. 669.

246. महा. भा. 2, सू. 3.1.7, पृ. 14-15.

247. मैत्रायणी संहिता, 1.3.1; तैत्तिरीयसंहिता 1.3.13.1; काठक संहिता 3.9.

248. महा. भा. 2, सू. 4.1.27, पृ. 212.

249. वही. सू. 4.3.86, पृ. 313.

250. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.67, पृ. 473; भा. 3, सू. 4.3.86, पृ. 675); प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.7, पृ. 351). सर्वदर्शनसंग्रह, सांख्यदर्शन, पृ. 123. अचेतन वस्तुओं की चेतनशीलता के विषय में भर्तृहरि का भी कथन है–

"अचेतनेषु सङ्क्रान्तं चैतन्यमिव दृश्यते।
प्रतिबिम्बकधर्मेण यत्तच्छब्दनिबन्धनम्॥" (वा.प. 3.13.327)

251. महा. भा. 2, सू. 3.1.40, पृ. 48.

252. परि. सं. 118.

253. पा. 2.3.39.

254. महा. प्र. भा. 3, सू. 3.1.40, पृ. 123-24.

255. काठकसंहिताब्राह्मण, 137.11.

256. तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 1.1.50, पृ. 123 - "अन्तरतमवचनं चाशिष्यम्। ..... तद्यथा - समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते नैव कृशाः कृशैः सहासते न पाण्डवः पाण्डुभिः। येषामेव किञ्चिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते".....। इस विषय में प्रकृत ग्रन्थ का पृ. 588 देखें।

257. का. प्र. उल्लास 7, श्लोक सं. 244.

258. द्र. शिशु. 5.28–

"सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि,
जक्षुर्बिलं धृतविकासिबिसप्रसूनाः।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्व,
दोषप्रवादममृजन्नगनिम्नगानाम्॥"

259. मा. यजुः 24.36.

260. वही. 24.35.

261. वही. 24.37.

262. वही. 24.38.

263. वही. 24.30.

264. वही. 24.35.

265. वही. 24.37.

266. वही. 24.39.

267. द्र. प. मं. (का. भा. 3, सू. 3.4.4, पृ. 151-52) ''ननु चैकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो न द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च भवति, एतच्च कृञ्चानुप्रयुज्यते इत्यत्र व्याख्यातम्। तत्र यथा गवां स्वामी अश्वेषु च' इति न भवति तथेहापि येनैव धातुना लोट् प्रयोगः प्रारब्धस्तेनैवासौ समापयिष्यते, न, अस्यापि न्यायस्य लोके वेदे च व्यभिचारात्। वेदे तावद् इन्द्राय राज्ञे सूकर इति चतुर्थीप्रयोगप्रकरणे क्षिप्रश्येनाय वर्तिका ते धातुरिति षष्ठी, ययुः प्राजापत्य इति तद्धितश्च देवतासम्बन्धे दृश्यते। लोकेऽपि - सस्नुः, पयः पपुरिति लिटा सह अनेनिजुरिति लङ् प्रयुक्तः''।

268. पा. 2.3.62. तुलना करो, प्रकृत सूत्रस्थ वार्तिक - ''षष्ठ्यर्थे चतुर्थीवचनम्।'' ध्यातव्य है कि वैसे स्वयं आचार्य पाणिनि ने भी अपनी सूत्ररचना में अनेकत्र भग्नप्रक्रम दोष किया है, तद् यथा- ''द्वन्द्वश्च प्राणितूर्णसेनाङ्गानाम्'' इस प्रकार उपक्रम करके ''अनुवादे चरणानाम्,'' ''अध्यनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्'', ''शूद्राणामनिरवसितानाम्'', ''विभाषा वृक्ष मृगतृणधान्य..... पूर्वापराधरोत्तमानाम्'' (पा. 2.4.2; 3; 5; 10; 12) ऐसे षष्ठीविभक्यन्तों के क्रम में ''अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम्'', ''जातिरप्राणिनाम्'', ''विशिष्ट लिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः'', ''क्षुद्रजन्तवः'', ''येषां च विरोधः शाश्वतिकः'', ''गवाश्वप्रभृतीनि च'', ''विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि'', ''न दधिपय आदीनि'' (पा. 2.4.4; 6; 7; 8; 9; 11; 13; 14) इस प्रकार प्रथमाविभक्यन्त शब्दों के उपन्यास में होने वाला यह विभक्तिविपर्यास किंहतुक है, कुछ भी समझ में नहीं आता। यह आचार्य का स्पष्ट ही भग्नप्रक्रम दोष है। अथवा फिर इसे आचार्य का वैचित्र्यप्रदर्शन ही कहना पड़ेगा - ''विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः'' (का. भा. 1, सू. 1.2.35, पृ. 320)।

269. महा. प्र. भा. 3, सू. 3.4.4, पृ. 373; भा. 5, सू. 8.1.1, पृ. 291; प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.40, पृ. 423; भा. 3, सू. 3.4.4, पृ. 151; भा. 5, सू. 6.3.34, पृ. 222); बृ. श. शे. भा. 1, सू. 54, पृ. 164; भा. 2, सू. 366, पृ. 941; भा. 3, सू. 2827, पृ. 2701; सू. 3394, पृ. 2162.

270. महा. भा. 2, सू. 4.1.88, पृ. 240.

271. पा. 5.4.28.

272. पा. 4.2.16.

273. महा. भा. 2, सू. 5.1.7, पृ. 339.

274. वही. सू. 4.2.60, पृ. 283.

275. वही.

276. वही. सू. 4.3.131, पृ. 320.

277. का. भा. 3, सू. 4.3.132-133, पृ. 707-8.

278. पा. 4.2.66.

279. पा. 6.4.174.

280. महा. भा. 2, सू. 4.3.131, पृ. 320 पर वार्तिक।

281. पा. 4.3.101.

282. पा. 4.2.59.

283. पा. 6.4.148.

284. महा. भा. 2, सू. 4.1.88, पृ. 239 पर वार्तिक।

285. सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास, पृ. 19.

286. द्र. पृ. 380.

287. पृ. 201.

288. महा. भा. 2, सू. 4.1.89, पृ. 242; सू. 5.1.28, पृ. 348; भा. 3, सू. 6.2.11, पृ. 124; का. भा. 3, सू. 4.1.88, पृ. 412; न्यास. (का. भा. 3, सू. 4.1.88, पृ. 412; सू. 4.4.55, पृ. 763-64); महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.58, पृ. 457; भा. 2, सू. 1.2.64, पृ. 136; सू. 2.1.1, पृ. 554; भा. 3, सू. 4.1.88, पृ. 553, 555; सू. 4.1.89, पृ. 562; भा. 4, सू. 6.1.144, पृ. 480; सू. 6.2.11, पृ. 544; प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.1.88, पृ. 412; भा. 4, सू. 6.1.7, पृ. 13; सू. 5.1.28, पृ. 40); प्रौ. म. (टिप्पणी) सू. 727, पृ. 28; सू. 1280, पृ. 154; श. र. (प्रौ. म.) सू. 1280, पृ. 154; महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.2.64, पृ. 136; सू. 2.3.36, पृ. 804; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 188, पृ. 374; भा. 2, सू. 1282, पृ. 1315.

289. महा. भा. 3, सू. 6.4.130, पृ. 221.

290. पा. 1.1.72.

291. परि. सं. 12.

292. महा. प्र. भा. 5, सू. 8.4.13, पृ. 497.

293. महा. भा. 1, सू. 1.1.44, पृ. 105 ''अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः''। तुलना करो - निरुक्त 2.1 ''अर्थनित्यः परीक्षेत''।

294. हितोपदेश, प्रस्ताविका, श्लोक सं. 26 -

''धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥''

295. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.70, पृ. 247).

296. महा. भा. 1, हयवरट् सूत्र पृ. 30; सू. 1.1.70, पृ. 180; सू. 1.1.72, पृ. 184; सू. 1.2.27, पृ. 202; सू. 1.4.13, पृ. 316; सू. 2.2.23, पृ. 423. न्यास. (का. भा. 2, सू. 2.2.24, पृ. 131); प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.2.24, पृ. 131).

297. प. मं. (का. भा. 6, सू. 8.2.19, पृ. 379).

298. शिशु. 4.20.

299. तुलना करो, हितोपदेश, मित्रलाभ, श्लोक सं. 18–

अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रियाः।

दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रिया विना॥

300. महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.44, पृ. 330.

301. वा. प. 2. 238.

302. (क) महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.46, पृ. 349; श. कौ. भा. 1, पस्पशा. पृ. 9; वै. भू. सा. समासशक्ति निर्णय, पृ. 348; स्फोटनिर्णय, पृ. 587; महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.44, पृ. 331; सू. 1.1.46, पृ. 348; भा. 2, सू. 2.1.1, पृ. 505; भा. 3, सू. 3.1.96, पृ. 201; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 49, पृ. 145.

(ख) न्या. वा. ता. टी. पृ. 457; परिमल, पृ. 363 इत्यादि।

303. श. कौ. भा. 1, पृ. 10.

304. द्र. वा. प. 2.238. - "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते"।

305. तुलना करो, वा. प. 2.233.

"शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते"।

306. श. कौ. भा. 1 पृ. 10.

307. लौ. न्या. र. पृ. 236.

308. प.ल.म., शक्तिनिरूपण, पृ. 13.

309. महा प्र. भा. 4 सू. 6.1.9 पृ. 314. वै. भू. सा., अखण्ड स्फोटनिरूपण, कारिका सं. 69, पृ. 586.

310. वा. प. 2. 38.

311. पा. 2.4.52.

312. पा. 6.4.111– "श्नसोरल्लोपः"।

313. वा. प. 3.14.77 / तुलना करो, वा. प. 2.170-71.

"अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु।

बहूनां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किंचिदुच्यते॥

वैरवासिष्ठगिरिशास्तथैकागारिकादयः।

कैश्चित् कथंचिदाख्याता निमित्तावधिसंकरैः॥"

314. महा. प्र. भा. 4 सू. 6.1.9 पृ. 314.

315. स्फोटचन्द्रिका, पृ. 1.

316. वा. प. 2.238.

317. ब्र.सू., 1.1.8; 12.

318. महा. प्र. उ. भा. 1 पस्पशा. पृ. 41.

319. (क) महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.63 पृ. 494; बृ. श. शे. भा. 3 सू. 2656 पृ. 1879.

(ख) अद्वैतब्रह्मसिद्धि. पृ. 14, 16; भामती पृ. 243 इत्यादि।

320. पं. म. (का. भा. 2 सू. 4.1.114 पृ. 457.58).

321. महा. प्र. भा. 3 सू. 4.1.114 पृ. 600.

322. बृ. श. शे. भा. 3 सू. 2265 पृ. 1654.

323. गाँवों में आज भी प्रायः यह देखने में आता है कि पशुओं के झुण्ड को जब कहीं दूर देश में ले जाना होता है तो उन्हें इधर-उधर भागने से रोकने के लिए एक दूसरे के सींगों से बांध दिया जाता है।

324. पा. 6.1.64 पर वार्तिक

325. शङ्करानन्दकृत आत्मपुराण (4.561-2) पर रामकृष्णविरचित व्याख्या; नीलकण्ठ कृत महाभारत की व्याख्या (उद्योगपर्व 45.9), भामती (3.2.22); तथा सर्वदर्शन संग्रह, शाङ्करदर्शन पृ. 151, लौ. न्या. र.– पृ. 253.

326. कालिदासदर्पण, पृ. 1.

327. काव्यादर्श टीका, 2.368

328. परि सं. 61.

329. पा. 3.4.88.

330. पा. 3.4.87.

331. पा. 7.2.4.

332. पा. 7.2.3.

333. पा. 7.2.1.

334. पा. 7.2.114.

335. पा. 6.1.89.

336. पा. 6.1.94.

337. पा. 6.1.95.

338. महा. भा. 1 सू. 1.1.43 पृ. 101; सू. 1.2.48 पृ. 225; सू. 1.3.12 पृ. 277; सू. 1.3.14 पृ. 278; सू. 1.3.58 पृ. 284; सू. 1.4.17. पृ. 319; भा. 2 सू. 3.1.67 पृ. 59; भा. 3 सू. 7.1.21 पृ0 248; सू. 7.2.3. पृ. 279; सू. 7.3.85. पृ. 336.

339. बा. म. (वै. सि. कौ. भा. 3 सू. 2353 पृ. 182).

340. महा. भा. 1 सू. 1.3.1 पृ. 256.

341. द्र. पृ. 86; 374.

342. द्र. पृ. 289.

343. द्र. पृ. 100.

344. द्र. पृ. 61.

345. द्र. पृ. 300.

346. द्र. पृ. 198.
347. द्र. पृ. 200.
348. द्र. पृ. 585.
349. द्र. पृ. 468.
350. द्र. पृ. 584; 587.
351. द्र. पृ. 382.
352. द्र. पृ. 358.
353. द्र. पृ. 163.
354. द्र. पृ. 520.
355. द्र. पृ. 240.
356. द्र. पृ. 318.
357. द्र. पृ. 588; 597.
357 (क). द्र. पृ. 588.
358. द्र. पृ. 241.
359. द्र. पृ. 212.
360. द्र. पृ. 105.
361. द्र. पृ. 151.
362. द्र. पृ. 491.
363. द्र. पृ. 590.
364. द्र. पृ. 124; 183.
365. द्र. पृ. 171.
366. द्र. पृ. 172.
367. द्र. पृ. 173.
368. द्र. पृ. 48.
369. द्र. पृ. 219.
370. द्र. पृ. 429.
371. द्र. पृ. 334.
372. द्र. पृ. 208; 322.
373. द्र. पृ. 451.
374. द्र. पृ. 176.
375. द्र. पृ. 186.
376. द्र. पृ. 384.
377. द्र. पृ. 302.
378. द्र. पृ. 636.

379. द्र. पृ. 506.
380. द्र. पृ. 177.
381. द्र. पृ. 365.
382. द्र. पृ. 120.
383. द्र. पृ. 458; 459.
384. द्र. पृ. 111.
385. द्र. पृ. 51.
386. ड. पृ. 494.
387. द्र. प्र. 139.
388. द्र. प्र. 513.
389. द्र. प्र. 639.
390. द्र. पृ. 467.
391. द्र. पृ. 492.
392. द्र. पृ. 361.
393. द्र. पृ. 231.
394. द्र. पृ. 516.
395. द्र. पृ. 68.
396. द्र. पृ. 215.
397. द्र. पृ. 210.
398. द्र. पृ. 387.
399. द्र. पृ. 295.
400. द्र. पृ. 301.
401. महा. भा. 1 सू. 1.1.26 पृ· 84.85.
402. उणादिसूत्र. 373.
403. परि. सं. 76.
404. घर के बाहर फाटक आदि के साथ शंख, कमल आदि के चिन्ह प्राचीन काल से ही शुभ माने जाते रहे हैं। तुलना करो, उत्तरमेघ, श्लोक सं. 17–

"एभिः साधो! हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथाः।
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शंखपद्मौ च दृष्ट्वा"॥ इत्यादि

405. भर्तृहरि ने इसी न्याय को यों कहा है,

"अध्रुवेण निमित्तेन देवदत्तगृहं यथा।
गृहीतं गृहशब्देन शुद्धमेवाभिधीयते॥" (वा. प. 3.2.3.).

सर्वदर्शनकार सायणमाधव भी इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

"सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्यते।

असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते"॥ (पाणिनिदर्शन पृ. 117)

तन्त्रवार्तिक पृ॰ 277, तथा श्रृङ्गारप्रकाश में भी यह न्याय इसी रूप में मिलता है।

406. (क) प. मं. (का. भा. 1 हयवरट् सूत्र पृ. 42; भा. 2 सू. 2.2.12 पृ. 114); श. कौ. भा. 1 सू. 1.1.26 पृ. 155.

(ख) विवरणप्रमेयसंग्रह पृ. 195; संक्षेपशारीरक, 1.206.

407. महा. प्र. भा. 2 सू. 1.3.9 पृ. 214.

408. ध्यान रहे कि यद्यपि इस पक्ष में "नानुबन्धकृतमसारूप्यम्", 'नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्' "नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्" ये तीनों परिभाषाएं नहीं आरम्भ करनी चाहिए तथापि इस पक्ष में विशेष लाघव यह है कि फिर समीपादि में अवयवत्व के आरोप की कल्पना अनावश्यक हो सकती है तथा आद्यन्त शब्दों के क्रमशः पूर्व-पर-समीप अर्थ में लक्षणा भी नहीं करनी पड़ती।

409. महा. प्र. भा. 1. सू. 1.1.56. पृ. 405 "असन्त एवानुबन्धाः कार्यस्य विशेषका इति सिद्धान्तव्यवस्थापनात्।"

410. परि. सं. 4, 5.

411. महा. भा. 1. सू. 1.3.9. पृ. 266.

412. महा. प्र. उ. भा. 4 सू. 6.3.74 पृ. 644; बृ. श. शे. भा. 2 सू. 537 पृ. 819; सू. 632 पृ. 936; सू. 1849 पृ. 1463.

413. महा. भा. 1 सू. 1.1.69. पृ. 179.

414. महा 2. सू. 3.1.94 पृ. 80.

415. पा. 3.1.169

416. महा. भा. 1. सू. 1.1.55 पृ. 132.

417. पा. 7.1.17.

418. महा. भा. 1 सू. 1.1.45. पृ. 111-12.

419. पा. 6.1.108.

420. पा. 6.3.139.

421. पा. 6.1.15.

422. प मं (का. भा. 1 सू. 1.4.32. पृ. 548).

423. का. भा. 2 सू. 2.3.14. पृ. 169. न्यास (का.भा. 2 सू. 2.3.14. पृ. 169); महा. प्र. भा. 1. सू. 1.1.45. पृ. 344; भा. 2 सू. 1.4.32. पृ. 402; सू. 1.4.51. पृ. 424; सू. 2.3.18. पृ. 790; श. कौ. भा. 2 सू. 1.4.32. पृ. 121. महा. प्र. उ. भा. 1. सू. 1.1.49 पृ. 360; भा. 2 सू. 2.1.2 पृ. 556; सू. 2.4.32 पृ. 867; भा. 3 सू. 3.1.87 पृ. 171; सू. 4.1.3 पृ. 454; भा. 4 सू. 5.2.94 पृ. 152; सू. 5.3.7. पृ. 182; भा. 5 सू. 8.2.82 पृ. 414; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 179 पृ. 336; भा. 2 सू. 581 पृ. 894; भा. 3 सू. 2701 पृ. 1925.

424. प. मं. (का. भा. 5. सू. 5.3..84 पृ. 302).

425. महा. प्र. भा. 4. सू. 5.3.84 पृ. 240. तुलना करो, वा. प. 2.358–

"एकदेशात्तु संघाते केषाञ्चिज्जायते स्मृतिः।

स्मृतेस्तु विषयाच्छब्दात् संघातार्थः प्रतीयते"॥

426. न्यास. (का. भा. 6 सू. 7.3.18 पृ0 23; महा. प्र. भा. 2. सू. 2.4.62 पृ0 882; दु. वृ. सू. 8.2.20 पृ. 123; बृ. श. शे. भा. 1. सू. 8 पृ. 31.

427. तुलना करो (क) महा. पस्पशा. पृ0 6 "अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः। अत्यन्तसिद्धः सिद्ध इति। तद् यथा– देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति",

(ख) वा. प. 2. 354; 358–

"संज्ञान्तराच्य दत्तादेर्नान्या संज्ञा प्रतीयते।

संज्ञिनं देवदत्ताख्यं दत्तशब्दः कथं वदेत्॥

एकदेशात्तु संघाते केषाञ्चिज्जायते स्मृतिः।

स्मृतेस्तु विषयाच्छब्दात् संघातार्थः प्रतीयते॥"

428. पा. 5.3.82 पर वार्तिक

429. तुलना करो– वा. प. 2.476.

"सम्प्रसारणसंज्ञायां लिङ्गाभ्यां वर्णवाक्ययोः।

प्रविभागस्तत्र सूत्र एकस्मिन्नेव कल्पते॥"

430. वा. प. 1.51.

431. वही 2.8-9.

432. का. भा. 1 सू. 1.1.75 पृ0 260.

433. वही. भा. 3 सू. 4.1.114 पृ0 457.

434. वा. प. 3..6.12; 614. तुलना करो, रामायण, 3.41.16

(क) तदिदं काकतालीयं घोरमासादितं मया।

अत्र त्वं शोचनीयोऽसि ससैन्यो विनशिष्यसि॥"

(ख) हितोपदेश, प्रस्ताविका, श्लोक सं. 35–

"काकतालीयवत्प्राप्तं दृष्टापि निधिमग्रतः।

न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते"॥

435. (क) का. भा. 4 सू. 5.3.106 पृ 312; न्यास. (का. भा. 3 सू. 4.1.114 पृ. 457). प. मं. (का. भा. 3 सू. 4.1.114 पृ. 457); श. कौ. भा. 2 सू. 2.1.4 पृ. 160; वै. सि. कौ. भा. 2 सू. 2061 पृ0 630; बृ. श. शे. भा. 2 सू. 2061. पृ0 1525.

(ख) पञ्चदशी, 9.12; ध्वन्यालोक 2.16; न्या. मं., पृ. 106; लौ. न्या. र. पृ. 212 इत्यादि।

436. प. मं. (का. भा. 4 सू. 5.3.106 पृ 313).

437. खण्डनखण्डखाद्य, पृ. 229; गणरत्नमहोदधि, 3-196; लौ. न्या. र. पृ. 212.

438. प. मं. (का. भा. 4 सू. 5. 3.106 पृ. 313).

439. गणरत्नमहोदधि, 3.195; यशस्तिलकचम्पू 2.153.

"संसारसागरमिमं भ्रमता नितान्तं जीवेन मानवभवः समवापि दैवात्।
तत्रापि यद्भुवनमान्यकुले प्रसूतिः सत्संगतिश्च तदिहान्धकवर्तकीयम्"॥

440. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.138 पृ. 305-306.

441. (क) महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.3.12 पृ. 237; सू. 1.4.42 पृ. 406; लघुमञ्जूषा, तात्पर्यनिरूपणप्रकरण; श. र. (प्रौ. म.) सू. 1.3.12 पृ. 310.

(ख) साहित्यदर्पण, 739; अलङ्कारसर्वस्व पृ. 161; कुवलयानन्द पृ. 240; सर्वङ्कषा टीका (माघ) 10.16; न्यायमालाविस्तर, पृ. 2.1.3.

442. श. कौ. भा. 2 सू. 1.2.6 पृ. 4.

443. का. सू. 1.2.6. पर वार्तिक। ध्यान रहे कि उक्त वचन व्याख्याकारों के अनुसार पाणिनीय तन्त्र से सम्बद्ध न होकर व्याकरणान्तरों से संगृहीत है।

444. तर्कसंग्रहस्थ फक्किका व्याख्या, पृ. 12.

445. न्यायबिन्दुटीका, पृ. 1; कठोपनिषद् शाङ्कर भाष्य, 1.25; ध्वन्यालोकस्थलोचनटीका, 3.19; पञ्चपदिका पृ. 53; न्या. मं. पृ. 7. इत्यादि।

446. द्र. पृ. 86; 374.

447. द्र. पृ. 104.

448. द्र. पृ. 58.

449. द्र. पृ. 565.

450. द्र. पृ. 174.

451. द्र. पृ. 114.

452. द्र. पृ. 463.

453. द्र. पृ. 330.

454. द्र. पृ. 545.

455. द्र. पृ. 63.

456. द्र. पृ. 189.

457. पा. 2.4.9.

458. पा. 2.4.17.

459. त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 3 सू. 913 पृ. 194)– "शाश्वतिकः किम्, "देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्मन्थे' (किरात 5.30.) इति। तेषां ह्यमृतादिप्रयुक्तः कादाचित्को विरोधो न तु नित्यः, मन्थनप्रवृत्तिकाले तद्विरहात्।"

460. महा. भा. 1 सू. 1.1.23. पृ. 82.

461. तुलना करो, महा. भा. 1 सू. 1.1.3. पृ. 44 "अनुवर्तन्ते च नाम विधयः। न चानुवर्तनादेव भवन्ति, किन्तर्हि? यत्नाद्भवन्तीति"॥

462. ध्यान रहे कि अधिकार दो प्रकार का होता है– शब्दाधिकार और अर्थाधिकार। प्रकृत सूत्र के अतिरिक्त "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रतिपदिकम्" (पा. 1.2.45) सूत्रस्थ 'अर्थवद्ग्रहण' की "कृत्तद्धितसमासाश्च" (पा. 1.4.46) सूत्र में अनुवृत्ति आना शब्दाधिकार का उदाहरण है तथा "स्वादिष्वसर्वनामस्थाने" (पा. 1.4.17) सूत्र में "सुप्तिङन्तं पदम्" (पा. 1.4.14) पूर्वसूत्र से 'पदम्' ग्रहण अनुवृत्त होना अर्थाधिकार का उदाहरण है।

463. पा. 1.1.24.

464. पा. 1.3.13.

465. पा. 3.3.12.

466. पा. 6.1.50.

467. पा. 6. 1.45.

468. शाबर भाष्य, जै. सू. 3.1.12; तन्त्रवार्तिक पृ0 668. पञ्चपदिका पृ. 45; विवरण प्रमेयसंग्रह पृ. 118.

469. तुलना करो– "जामात्रर्थं श्रपितस्य सूपादेरतिथ्युपकारकत्वम्"।

470. द्र. पृ. 57.

471. द्र. पृ. 566.

472. द्र. पृ. 104.

473. द्र. पृ. 290.

474. द्र. पृ. 496.

475. द्र. पृ. 156.

476. द्र. पृ. 164.

477. द्र. पृ. 175.

478. द्र. पृ. 286.

479. द्र. पृ. 334.

480. द्र. पृ. 634.

481. द्र. पृ. 482.

482. द्र. पृ. 494.

483. द्र. पृ. 387.

484. महा. भा. 1 सू. 2.1.69 पृ. 404.

485. वही.

486. द्र. "अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः"

487. इसलिए वामनाचार्य ने भी कहा है– "न कर्मधारयो बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकरः" (काव्यालङ्कार सू. 5.1.7.)

488. तुलना करो, – परि. सं. 122 "अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"।

489. महा. भा. 2, सू. 3.1.26, पृ. 35-36.

490. महा. भा. 2, सू. 3.1.26, पृ. 35 पर वार्तिक।

491. वा. प. 3.7.124.

492. तन्त्रवार्तिक 3.4.34.

493. महा. प्र. भा. 2, सू. 1.4.45, पृ. 437; भा. 3, सू. 3.1.26, पृ. 96-97; प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.26, पृ. 398).

494. द्र. पृ. 584; 587.

495. महा. भा. 1, पस्पशा. पृ. 11.

496. वही. भा. 3, सू. 6.1.84, पृ. 58.

497. उपर्युक्त न्यायों के लिए देखें, प्रकृत ग्रन्थ, पृ. 286.

498. तुलना करो, वा. प. 2.238.

"असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।"

499. कथासरित्सागर, शक्तियशोलम्बक, दशम तरङ्ग, पृ. 350, श्लोक सं. 134.

500. श. कौ. भा. 1, पस्पशा. पृ. 27; लौ. न्या. र. पृ. 138, 248.

501. महा. भा. 1, पस्पशा. पृ. 11.

502. अशिष्टाप्रतिषिद्ध लोकन्याय का प्रसङ्गान्तर में भी प्रयोग मिलता है। इसके लिए प्रकृत ग्रन्थ का पृ. 101 देखें।

503. महा. भा. 1 ऋलृक् सूत्र. पृ. 20; सू. 2.1.1, पृ. 366.

504. वा. प. 3.7.38–

"तत्त्वे वा व्यतिरेके वा व्यतिरिक्तं तदुच्यते।

शब्दप्रमाणको लोकः स शास्त्रेणानुगम्यते॥"

भोजराज ने भी अपने शृङ्गारप्रकाश में इसे उद्धृत किया है।

505. महा. भा. 1, पस्पशा. पृ. 8.

506. महा. पस्पशा पृ. 5; भा. 3. सू. 7.3. पृ. 320; न्यास. (का.भा. 6, सू. 7.3.14, पृ. 18); महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.44, पृ. 329; प. मं. (का. भा. 6, सू. 7.3.14 पृ. 18); श. कौ. भा. 2, सू. 1.4.24, पृ. 116; प्रौ. म. सू. 1778, पृ. 221; सू. 2677 (3.1.21) पृ. 336; स्फोटचन्द्रिका पृ. 11; प.ल.म. निपातार्थनिर्णय पृ. 235 इत्यादि।

507. महा. भा. 1, सू. 1.1.45, पृ. 112.

508. पा. 6.1.13; 15; 4.131.

509. तुलना करो, निरुक्त, 1.4 - "पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद् भावाद् नामधेयप्रतिलम्भम्, एकेषां नैकेषाम्। यथा- बिल्वादो लम्बचूडक इति।" प्रायः देखने में आया है कि संज्ञासम्बन्धी सभी इतरेतराश्रयदोष भाष्यवार्तिककार ने भाविसंज्ञा विज्ञान न्याय से या "सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात्" कहकर समाहित किए हैं।

510. तुलना करो - निरुक्त, 2.1 - "तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तःस्था धातुः भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयिषेत्"। प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'यज्' और 'इज्' को यदि स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तर मान लिया जाए तो भी कोई अनौचित्य न होगा। शब्दशक्तिस्वभाव से दोनों के प्रयोगक्षेत्र नियतविषयक या व्यवस्थित विषयक मान लिया जाएंगे। द्र. महा. भा. 3, सू. 7.1.96, पृ. 275 - "यथान्यत्रापि अविशेषविहिताः शब्दा नियतविषया दृश्यन्ते-तद्यथा- घरतिरस्मा अविशिषेणोपदिष्टः, स राशिः रश्मिः रशना इत्येवंविषयः" इत्यादि। तुलना करो- वा. प. 2.177-78

"अर्थान्तरे च यद् वृतं तत् प्रकृत्यन्तरं विदुः।

तुल्यरूपे तद्भावन्यस्मिन्ननुषज्यते॥

भिन्नाविजियजी धातू नियतौ विषयान्तरे।

कैश्चित्कथंचिदुद्दिष्टौ चित्रं हि प्रतिपादनम्॥"

511. (क) का. भा. 2, सू. 3.2.102, पृ. 613; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.26, पृ. 130; भा. 2, सू.3.2.102, पृ. 613); महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.45, पृ. 343; भा. 2 सू. 1.4.105, पृ. 471; भा. 3, सू. 3.4.1, पृ. 368; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.26, पृ. 130; सू. 1.2.45, पृ. 338; सू. 1.3.12, पृ. 411; भा. 2, सू. 3.2.102, पृ. 613; भा. 3, सू. 3.4.1, पृ. 143); श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.1, पृ. 74; सू. 1.1.26, पृ. 155; सू. 1.1.45, पृ. 187; त.बो. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 328, पृ. 345, भा. 4, सू. 3012, पृ. 83); बृ. श. शे. भा. 1 सू. 47, पृ. 169; सू. 179, पृ. 337; सू. 53, पृ. 487; भा. 3, सू. 2483, पृ. 1762; सू. 2627, पृ. 1918; बा.म. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 260, पृ. 258).

(ख) तन्त्रवार्तिक, 3.7.37; सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका सं. 9; लौ. न्या. र. पृ. 242.

512. परि. सं. 98, पृ. 182.

513. पा. 4.1.10.

514. तुलना करो, व्याडि परि. सं. 6 - "कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः।"

515. याज्ञवल्क्यस्मृति 3.119–

"माहिष्योग्रौ प्रजायेते विट्शूद्राङ्गनयोः क्रमात्।

शूद्रायां करणी वैश्याद् विन्नास्वेष विधिः समृतः।

माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते॥"

516. तन्त्रवार्तिक 1.4.2; न्या. वा. ता. टी. पृ. 150; न्या. मं. पृ. 385.

517. द्र. पृ. 495.

519. द्र. पृ. 490.

519. द्र. पृ. 199.

520. द्र. पृ. 111.

521. द्र. पृ. 211.

522. द्र. पृ. 389.

523. द्र. पृ. 224.

524. द्र. पृ. 448.

525. द्र. पृ. 390.

526. द्र. पृ. 112.

527. द्र. पृ. 162.

528. द्र. पृ. 329.

529. द्र. पृ. 52.

530. द्र. पृ. 514.

531. द्र. पृ. 190.

532. द्र. पृ. 180.

533. द्र. पृ. 188.

534. द्र. पृ. 59.

535. द्र. पृ. 202.

536. द्र. पृ. 84.

537. द्र. पृ. 294.

538. द्र. पृ. 347.

539. महा. भा. 2 सू. 5.1.19. पृ. 343-44.

540. प. मं. (का. भा. 4 सू. 5.1.37 पृ. 47).

541. पा. 1.1.72.

542. महा. प्र. भा. 2 सू. 1.2.1. पृ. 5, सू. 2.4.85 पृ. 908.

543. द्र. पृ. 200.

544. द्र. पृ. 636.

545. द्र. पृ. 302.

546. महा. भा. 1 सू. 2.1.43 पृ. 391.

547. पा. 6.3.14.

548. महा. भा. 2 सू. 3.2.115 पृ0 120.

549 (क) तुलना करो– महाभारत 12 (शान्तिपर्व) 178.12.

"इषुकारो नरः कश्चिद् इषावासक्तमानसः
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान्"॥

(ख) तन्त्रवार्तिक, पृ. 200,

"येऽपि व्याकरणस्यैव परे पारे प्रतिष्ठिताः,
सुतरां तेऽपि गाव्यादितुल्यानेव प्रयुञ्जते॥
सूत्रवार्तिकभाष्येषु दृश्यते चापशब्दनम्।
अश्वारूढाः कथं चाश्वान् विस्मरेयुः सचेतनाः॥"

550. (क) तुलना करो, महा. भा. 1 सू. 1.1.68 पृ0 176– "शब्दपूर्वको ह्यर्थस्य सम्प्रत्ययः। आतश्च शब्दपूर्वको योऽपि ह्यसावाहूयते नाम्ना, नाम च यदानेन नोपलब्धं भवति तदा पृच्छति - किं भवान् आहेति"।

(ख) सांख्यकारिका सं. 7.

"अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहाराच्च"॥

(ग) चरक संहिता, सूत्रस्थान, 11.1-8 "सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षाद्, अतिविप्रकर्षाद्, आवरणात्, करणदौर्बल्यात्, मनोऽनवस्थानात्, समानाभिहारात्, अतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः"।

551. शाङ्करभाष्य, सू. 3.2.10.

552. महा. भा. 2 सू. 4.1.93. पृ. 251.

553. तुलना करो, –अमरकोष, 3.3.16. "एको मुख्यान्यकेवलाः" इस विषय में प्रकृत सूत्रस्थ महा. प्र0 देखें– "एकशब्दोऽयमन्यप्रधानासहायसंख्याप्रथमसमानवाची; इह तु संख्यावाची प्रथमवाची वा गृह्यते इत्येव निर्णयः, अर्थान्तरासंभवात्।" इनके उदाहरणार्थ महा. प्र. उ. देखें– "एकशब्दोऽयमिति। एके मन्यन्ते, एकः पार्थो धनुष्मताम्, आद्यन्तवदेकस्मिन्, द्वेचकयोः, एके अल्पप्राणाः, तेनैक दिक् इति क्रमेणोदाहरणानि।"

554. सर्वदर्शनसंग्रह, पाणिनिदर्शन, पृ0 116.

555. तुलना करो– वा. प. 1.82.

"यथाऽनुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति।
आवृत्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते॥"

556. खण्डनखण्डखाद्य, पृ. 35; विवरणप्रमेयसंग्रह पृ. 62; अद्वैतब्रह्मसिद्धि पृ. 63, 143; कुसुमाञ्जलि 3.16 पृ. 496.

557. द्र. प्र. 584; 587.
558. महा. भा. 1. सू. 1.1.23 पृ. 80.
559. परिभाषासंग्रह (व्याडिकृत परिभाषासूचनम्, परि. सं. 6)।
560. न्यास. (का. भा. 3 सू. 4.1.93 पृ. 424); महा. प्र. भा. 2 सू. 1.2.1 पृ. 6; सू. 1.2.33 पृ. 53; सू. 2.1.55 पृ. 623; भा. 3 सू. 4.3.3 पृ. 690; सू. 8.2.81. पृ. 414; पं.मं. (का. भा. 1 सू. 1.2.1 पृ. 262; सू. 1.3.3 पृ. 397; सू. 1.4.32 पृ. 548; भा. 2 सू. 3.1.26 पृ. 388; सू. 3.2.1 पृ. 540; भा. 3 सू. 4.1.93 पृ. 424.; सू. 4.3.3. पृ. 621); श. कौ. भा. 1 सू. 1.1.23 पृ. 149; श. र. (प्रौ. म.) सू. 705 पृ. 8; महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.27 पृ. 288; भा. 3 सू. 4.1.14 पृ. 472; भा. 5 सू. 7.1.90 पृ. 79 सू. 8.3.91 पृ. 483; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 14 पृ. 62; सू. 16 पृ. 75; सू. 258 पृ. 485; सू. 453 पृ. 704; सू. 469 पृ. 728; बा. म. (वै. सि. कौ.भा. 4 सू. 3262 पृ. 330).
561. महा. भा. 1 सू. 1.1.23 पृ. 81.
562. तुलना करो– वा. प. 2.314-16.

"वाक्यात्प्रकरणादर्थाद् औचित्याद् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्"॥
"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य च सन्निधिः"॥
"सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः"॥

563. परि. सं. 9. तुलना करो, वा. प. 2.368; 70.

"शास्त्रे तु महती संज्ञा स्वरूपोपनिबन्धना।
अनुमानं निमित्तस्य सन्निधाने प्रतीयते"॥
"क्वचिद्विषयभेदेन कृत्रिमा व्यवतिष्ठते।
संख्यायामेकविषयं व्यवस्थानं द्वयोरपि"॥

564. यद्यपि भाष्यकार ने यहां तथा अन्यत्र (महा. भा. 1. सू. 1.1.1 पृ0 39) भी एक स्थान पर उक्त वाक्य कहा है तथापि वह सिद्धान्त रूप से स्वीकार नहीं किया गया है अपितु अपवाद रूप में ही वैसा कथन किया गया है– ऐसा जानना चाहिए। प्रस्तुत तथाकथित सिद्धान्तविरोध तो भाष्यकारोक्त "पक्षान्तैररपि परिहारा भवन्ति" इस कथन के सन्दर्भ में ग्राह्य ही है। क्योंकि व्याकरणशास्त्र का मूलसिद्धान्त तो यही है कि शास्त्र में भी शिष्ट लोकव्यवहार से ही व्यवस्था होती है। भाष्यकार का बार-बार लोकतः, लोकात्, लोकविज्ञानाद् तथा यथा लोके इत्यादि कहना इसी बात का अनुग्राहक है।

565. महा. भा. 1 सू. 1.3.14 पृ. 278; न्यास (का. भा. 1 सू. 1.2.49 पृ. 351; भा. 5 सू. 6. 3.82 पृ. 283); महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.68 पृ. 522; भा. 2 सू. 1.2.33 पृ. 53 सू. 1. 2.65 पृ. 160; भा. 3 सू. 4.3.3 पृ. 691 भा. 5 सू. 1 सू. 8.2.81 पृ. 414 दु. वृ. सू. 1. 2.48 पृ. 9; श.कौ.भा. 1 सू. 1.1.23 पृ. 149; ल. श. र. (प्रौ. म) सू. 2665 पृ. 659; महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.44 पृ. 328; सू. 1.1.56 पृ. 398, सू. 1.1.68 पृ. 519.
566. महा भा. 1 सू. 1.4.2 पृ. 305.
567. पा. 7.3.102.
568. पा. 7.3.103.
569. परि. सं. 40.
570. महा. भा. 3 सू. 6.1.85 पृ. 60.
571. महा. भा. 3 सू. 6.1.85 पृ. 60; न्यास (का. भा. 1 सू. 1.4.2. पृ. 502); प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.4.2 पृ. 500); महा. प्र. उ0 भा. 2 सू. 1.4.2 पृ. 322; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 75 पृ. 195; सू. 175 पृ. 320; भा. 3 सू. 2457 पृ. 1751.
572. न्यास. (का. भा. 1 सू. 1.4.2 पृ. 502).
573. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.4.2 पृ. 325.
574. टिप्पणी सं. 2 (प्रौ. म.) सू. 3.4.107. पृ. 330.
575. बा. म. (वै. सि. कौ. भा. 1. सू. 175 पृ. 169).
576. द्र. महा. भा. 1. सू. 1.1.3 पृ. 46 "द्वयोर्हि सावकाशयोः समवस्थितयोर्विप्रतिषेधो भवति"।
577. पा. 6.1.114.
578. पा. 8.3.14
579. पा. 8.2.1.
580. महा. भा. 1 सू. 2.1.1 पृ. 364.
581. तुलना करो, महा. भा. 1 सू. 1.4.84 पृ. 347 "यत् सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते तदपि लक्षणम्"।
582. लोक में कहावत भी है– इश्क और मुश्क छिपा नहीं करते।
583. महा. भा. 1 सू. 2.1.1. पृ. 364-65.
584. वही. सू. 1.1.19 73.
585. न्यायोक्तिकोश, पृ. 3.
586. महा. भा. 2. सू. 5.3.55 पृ. 413.
587. न्यास. (का. भा. 3 सू. 3.3.158 पृ. 127).
588. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 2.1.1. "शिष्टानां ततोऽर्थबोधस्वरूपम्"।
589. महा भा. 2. सू. 3.3.19 पृ. 146.

590. द्र. वही. भा. 1 सू. 2.4.56 पृ. 488 "प्राप्तिज्ञो देवानाम्प्रियो न त्विष्टिज्ञः" तुलना करो, प. मं. (का. भा. 2 सू. 3.1.13 पृ. 370 "अहो सूक्ष्मदर्शी देवानाम्प्रियः"।

591. (क) श. कौ. भा. 2 सू. 2.4.26 पृ. 261 "इदञ्च प्रत्याख्यानं दुर्बलम्, अनभिधानाश्रयणमगतिकगतिरिति सन्प्रत्ययविधौ भाष्य एवोक्तत्वात्"।
(ख) महा. प्र. उ. भा. 7 सू. 1.1.72 पृ. 552 "अनभिधानेन प्रत्याख्यानं तु न चमत्कारकारि"।

592. पा. 3.3.158.

593. पा. 4.3.74.

594. पा. 6.3.2.

595. न्यास (का. भा. 5 सू. 6.3.2. पृ. 195 "यत एवमतो विवक्षितार्थानभिधानाद् द्विवचन बहुवचनान्तानां समासो न भवत्येव। अभिधानलक्षणा हि कृत्तद्धितसमासा भवन्तीति"।

596. वही. भा 1. एओङ् सूत्र पृ. 30; महा. प्र. भा. 3 सू. 4.1. 79 पृ. 540; भा. 4 सू 5.1. 30-31 पृ. 38; महा. 3. भा. 3. सू 4.2.96 पृ. 670.

597. महा. भा. 1 सू 1.1.24 पृ. 84.

598. तुलना करो, वही, भा 3 सू. 6.1.2. पृ. 6- "न ह्यनिष्टार्था शास्त्रप्रक्लृप्तिः अर्थात् व्याकरणशास्त्र के सूत्रों से अनिष्ट (लोक में असिद्ध) प्रयोगों को नहीं बनाना चाहिए।

599. (क) "महा. प्र. भा. 1. सू. 1.1.24 पृ. 269" नैव वा लक्षणमप्रयुक्ते प्रवर्तते, प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वाख्यानात्"।
(ख) महा. प्र उ. भा. 2. सू 2.4.34 पृ. 870 "वस्तुतोऽप्रयुक्तत्वात् लक्षणस्यायमविषय इति भाष्यार्थ इति बोध्यम्"।

600. पा. 2.4.34

601. महा प्र उ. भा. 2. सू. 2. 4. 34 पृ. 869 'वस्तुतो यद्येनद् इत्यादि: पूर्वपक्ष्युक्तिरिति विषयसप्तम्यां मानाभावेनैनादेशः कार्य एवेति बोध्यम्"।

602. महा. भा. 3. सू. 6.1.68 पृ. 47; सू. 6.1.86 पृ. 66; सू. 6.4.2. पृ. 181; सू. 6.4.19 पृ. 186; सू. 6.4.163 पृ. 233; सू. 7.2.10 पृ. 311.

603. द्र. पृ. 329.

604. द्र. पृ. 330; 385.

पञ्चम उद्द्योत

राजनैतिक न्याय

(क) राजनीतिसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते न्याय

"समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। तद्यथा- पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः। तैलं भुक्तम्। शुक्लो नीलः कृष्ण इति। एवमयं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेऽपि वर्तते।[1]"

व्याकरणपदार्थनिर्वचनरूप "लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्" इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए भाष्यकार प्रकृत अत्यन्त प्रसिद्ध लोकन्याय को उपन्यस्त करते हैं कि समुदाय के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले शब्द उसके अवयवों में भी प्रयुक्त हो जाते हैं, जैसे- ये पञ्चालपूर्व के हैं और ये पञ्चालोत्तर के हैं। यहां विचारणीय यह है कि जब पञ्चाल शब्द पूर्व और उत्तर इन दोनों समुदायों का वाचक है तब उसमें 'ये पूर्व के हैं और ये उत्तर के हैं'– यह भेद सिद्धान्ततः कैसे उपपन्न हो सकता है ? किन्तु व्यवहार में ऐसा होता है। क्योंकि लोक में ऐसा ही प्रयोग देखा जाता है। अथवा जैसे वन के एकदेश वृक्ष के पुष्पित होने पर भी सारा वन ही पुष्पित व्यपदिष्ट हो जाता है वैसे ही यहां भी जानना चाहिए। इसी प्रकार 'हमने तेल खाया' या 'हमने घी खाया' यहां तेल और घी से बने हुए पदार्थ (समुदाय) में भी अवयव का उक्त लोकप्रसिद्ध प्रयोग हो जाता है। क्योंकि उस पदार्थ का अवयव तेल है या घी है। भाव यह है कि यद्यपि तेल और घी से बना हुआ कचौरी तथा पूड़े आदि पदार्थ उस तेल या घी से भिन्न है परन्तु फिर भी लोक में उक्त प्रयोग देखा जाता है।

इसी प्रकार सफेद, नीला, काला आदि ये प्रयोग गुणसमुदाय द्रव्य के शुक्ल आदि केवल अवयवों को लेकर भी हो जाते हैं अर्थात् सफेद में कुछ काला या नीला आदि अन्य गुण भी विद्यमान हों तो भी उसके एक अवयव सफेद गुण को लेकर ही उक्त प्रयोग लोकव्यवहार में दृष्टिगोचर होते हैं।[2] इसी लोकन्याय के आधार पर लक्ष्यलक्षणरूप शब्द और सूत्र इन दोनों का वाचक 'व्याकरण' यह समुदित शब्द उनके एक अवयव केवल शब्द तथा केवल सूत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। यहां इतना अवश्य विशेष है कि समुदायवाचक शब्द अपनी प्रसिद्ध शक्ति (अभिधा)

से तो समुदायार्थवाचक होता है तथा अप्रसिद्ध या गौणी शक्ति के कारण अवयवार्थवाचक।

इसी प्रकार "जितश्च तत्प्रत्ययात्"[3] सूत्रभाष्य में भी प्रकृत न्याय के आधार पर ही भाष्यकार इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि जैसे कपोत का विकार ही कापोत है वैसे ही कापोत के विकार में भी मूलभूत तत्त्व तो कपोत ही है। फलतः उससे 'अञ्' प्रत्यय होकर 'कापोतः' बन जाएगा। ऐसी स्थिति में "नित्यं वृद्धशरादिभ्यः"[4] सूत्र से प्राप्त 'मयट्' स्वतः ही नहीं होगा। इसी प्रकार प्रकृत न्याय का निम्न सुन्दर निदर्शन भी अवश्य दर्शनीय है–

"समुदायेषु च वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते। तद्यथा- पूर्वे पञ्चालाः। उत्तरे पञ्चालाः। तैलं भुक्तम्। घृतं भुक्तम्। शुक्लः कपिलः कृष्ण इति। एवमयं समुदाये ब्राह्मणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते। जातिहीने गुणहीने च। गुणहीने तावत् - अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति। अब्राह्मणोऽयं यो गच्छन् भक्षयति। जातिहीने सन्देहाद् दुरुपदेशाच्च ब्राह्मणशब्दो वर्तते। सन्देहात्तावत्–गौरं शुच्याचारं पिङ्गलं कपिलकेशं दृष्ट्वाऽध्यवस्यति-ब्राह्मणोऽयमिति। ततः पश्चादुपलभते नायं ब्राह्मणोऽब्राह्मणोऽयमिति। तत्र सन्देहाच्च ब्राह्मणशब्दो वर्तते जातिकृता चार्थस्य निवृत्तिः। दुरुपदेशात् - दुरुपदिष्टमस्य भवति - अमुष्मिन्नवकाशे ब्राह्मणस्तमानयेति। स तत्र गत्वा यं पश्यति तमध्यवस्यति ब्राह्मणोऽयमिति। ततः पश्चादुपलभते नायं ब्राह्मणोऽब्राह्मणोऽयमिति। तत्र दुरुपदेशाच्च ब्राह्मणशब्दो वर्तते जातिकृता चार्थस्य निवृत्तिः। आतश्च सन्देहाद् दुरुपदेशाद्वा, न ह्ययं कालं माषराशिवर्णमापणे आसीनं दृष्ट्वाऽध्यवस्यति ब्राह्मणोऽयमिति। निर्ज्ञातं तस्य भवति।[5]"

"नञ्" सूत्रभाष्य में भाष्यकार लिखते हैं कि समुदाय में प्रवृत्त होने वाले शब्द उनके अवयवों में प्रवृत्त हो जाते हैं, जैसे पूर्वोक्त पूर्वोत्तर अवयवरूप समुदाय वाला पञ्चाल देश है। उसके एक अवयव पूर्व या उत्तर को लेकर 'ये पूर्व पञ्चाल के हैं' या 'ये उत्तर पञ्चाल के हैं' इस प्रकार का लोकव्यवहार देखा जाता है। इसी तरह तेल या घी से मिश्रित वस्तु कचौरी आदि के खाने पर भी लोग कह ही देते हैं कि आज हमने तेल या घी खाया। किन्तु यहां विचारणीय यह है कि केवल तेल या घी के खाने या पीने पर तो पूर्वोक्त व्यवहार ठीक ही है परन्तु यहां तो कचौरी आदि समुदाय में मिले हुए, उसके अवयव बने हुए, तेल या घी के खाने पर समुदाय शब्द अवयव में भी प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार केवल सफेद या केवल नीले या केवल पीले या केवल काले में तो सफेद आदि शब्दों का प्रयोग ठीक ही है परन्तु जहां काले, पीले, नीले आदि में सफेद आदि मिले हुए हों, उसके अवयव बने हुए हों, वहां भी यह सफेद है, यह नीला है, यह पीला है, यह काला है– ऐसा प्रयोग हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृत में ब्राह्मण शब्द भी तप, श्रुत और योनि (जन्म) इन गुणों के समुदाय में प्रवृत्त होता हुआ उनके अवयव केवल तप या श्रुत या योनि में भी प्रवृत्त हो जाता

है। फलतः जो जातिहीन या गुणहीन है, उसे भी ब्राह्मण कह देते हैं। भाष्यकार ब्राह्मण का लक्षण देते हुए कहते हैं–

"तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः"।[6]

इसका भाव यह है कि तप (तपस्या), श्रुत (शास्त्राभ्यास) तथा योनि (जन्म) ये तीन गुण ब्राह्मणत्व के सम्पादक हैं अर्थात् इन तीनों गुणों से मनुष्य ब्राह्मण होता है। जो इनमें तप या श्रुत से हीन है, वह केवल जातिमात्र का ब्राह्मण है। वह एक प्रकार से ब्राह्मण न होकर अब्राह्मण ही है। इस विषय में भाष्यकार एक लौकिक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। तदनुसार गुणहीन जैसे- यह अब्राह्मण है जो खड़ा-खड़ा ही पेशाब (मूत्रत्याग) करता है। यह अब्राह्मण है जो चलता-चलता ही खाता है। जातिहीन में सन्देह से या ठीक उपदेश न देने के कारण भी ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। इनमें सन्देह से जैसे- गौर वर्ण, शुद्ध आचार वाले और पीले केश वाले मनुष्य को देखकर व्यक्ति यह सोच लेता है कि यह ब्राह्मण है। किन्तु बाद में उसे जन्म का ब्राह्मण न जानकर वह कहता है कि यह ब्राह्मण नहीं है, यह तो अब्राह्मण है। यहां सन्देह के कारण जातिहीन में ब्राह्मणशब्द की प्रवृत्ति होती है। जाति का ज्ञान होने पर उसमें ब्राह्मणशब्द की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार ठीक उपदेश न होने से जैसे- 'उस स्थान में ब्राह्मण है, उसे ले आओ' ऐसा कहने पर वह वहां जाकर देखता है तो उसे ब्राह्मण समझ लेता है। परन्तु बाद में उसे ज्ञात होता है कि यह जन्म से ब्राह्मण नहीं है। इसलिए यह अब्राह्मण है। यहां ठीक उपदेश न मिलने से अब्राह्मण में ब्राह्मणशब्द का प्रयोग होता है। जाति का ज्ञान होने पर फिर ब्राह्मण शब्द की निवृत्ति हो जाती है।

जातिहीन में ब्राह्मणशब्द के प्रयोग में सन्देह या ठीक उपदेश का न होना इसलिए भी कारण है कि जो जन्म से काला तथा उड़दों के ढेर के समान काले रंग वाला व्यक्ति दुकान पर बैठा है, उसे देखकर कोई यह नहीं कहेगा कि यह ब्राह्मण है। क्योंकि उसे ज्ञात है कि ब्राह्मण की जाति वाले काले नहीं होते अर्थात् ब्राह्मण की जाति काले रङ्ग की नहीं होती।[7] यह तो निश्चित ही ब्राह्मण न होकर अब्राह्मण ही है। इस प्रकार समुदाय में प्रवृत्त ब्राह्मण शब्द के अवयव में भी अनेक लौकिक प्रयोग भाष्यकार ने उपन्यस्त कर दिए हैं। व्याकरणशास्त्र में इस न्याय की उपयोगिता बहुत व्यापक है। इस प्रसङ्ग में अग्रिम न्याय भी दर्शनीय है:

2. दग्धपट न्याय

व्यतिरेकी दृष्टि से उक्त सिद्धान्त को दग्धपट न्याय से भी व्यक्त किया जा सकता है। क्योंकि पट का एकदेश जल जाने पर भी 'पटो दग्धः' इस प्रकार समुदाय का व्यपदेश होता है। व्याकरणशास्त्र में अनेकत्र ऐसे प्रयोग देखे जा सकते हैं।[8] वैसे दर्शनशास्त्रों

के अनुसार तो उक्त दग्धपट न्याय का अर्थ पूर्वोक्त न होकर यह भी है कि जैसे सभी वृत्तियों के जल जाने पर भी अभिमान या संस्कार (पट के जल जाने पर भी भस्म के रूप में इसका वही पूर्वोक्त आकार बना रह जाता है - रस्सी जल गई पर बल न गया) वैसे ही बना रहता है। इसी दग्धपट न्याय से मिलता जुलता 'उपयुक्तं घृतम्' न्याय भी व्याकरणशास्त्र में उपलब्ध होता है, तद् यथा–

3. उपयुक्तं घृतम् न्याय

"प्रतिपदोक्तानामिति विशेषाणाभिधानाय गम्यमानार्थस्यापि शब्दानामित्यस्य प्रयोगः। एकदेशोपयोगादपि लोके उपयुक्तमित्युच्यते, यथौषधसंस्कृतघृतमात्रैकदेशोपयोगे उपयुक्तं घृतमिति व्यवहारः"[9]

यह न्याय प्रदीपकार कैयट ने "अथ शब्दानुशासनम्" सूत्र के महाभाष्यगत "बृहस्पतिरिन्द्राय" इत्यादि सन्दर्भ की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु के एक भाग के उपयोग से भी वह पूरी वस्तु उपयुक्त हुई लोक में मानी जाती है, जैसे- किसी औषध में मिली हुई घी की मात्रा का उपयोग होने पर भी 'हमने घी का उपयोग किया' - ऐसा व्यवहार होता है। इसी प्रकार शास्त्र में भी धातु के एकदेश को भी धातु शब्द से व्यवहार किया जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण इस न्याय के देखने को मिलते हैं। प्रस्तुत प्रसङ्ग में उक्त न्याय देने का तात्पर्य यह है कि "बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच" इस भाष्य वाक्य में यद्यपि उक्त 'घृतैकदेशोपयोग' न्याय के आधार पर 'प्रतिपदोक्तानाम्' इस पद के प्रयोग से ही शब्दानाम् पद का अर्थ गम्यमान है तो भी इसका प्रयोग कर दिया गया है, यह बात अलग है। वैसे 'उपयुक्तं घृतम्' न्याय के आधार पर 'प्रतिपदोक्तानाम्' कहने के बाद 'शब्दानाम्' का प्रयोग अनिवार्य नहीं था। वह गतार्थ हो सकता था।

ध्यातव्य है कि जैसे लोक में कई बार परस्पर विरोधी व्यवहार भी देखे जाते हैं वैसे ही शास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। परिणामतः प्रकृत पूर्वोक्त समुदायावयवरूप लोकन्याय का विरोधी न्याय भी यहां पाया जाता है, जैसे- "दृश्यते हि समुदायादवयवस्य पृथक्त्वम्"।[10] इसकी प्रासङ्गिक व्याख्या प्रकृत ग्रन्थ में यथास्थान देखी जा सकती है।[11] अस्तु, प्रस्तुत प्रकरणगत "समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ताः" यह लोकन्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[12]

4. योगविभागादिष्टसिद्धिः न्याय

"दृशेरपि योगविभागः करिष्यते - उरङि गुणः। उः अङि गुणो भवति। ततो दृशेः। दृशेश्चाङि गुणो भवति। उरित्येव।[13]"

"इको गुणवृद्धी" सूत्रभाष्य में तच्छेषपक्षोक्त दोषों का परिहार करते हुए भाष्यकार "ऋदृशोऽङि गुणः"[14] सूत्र में योगविभाग करते हुए कहते हैं कि यहां "उरङि गुणः"

ऐसा सूत्र बनाकर इसके बाद "दृशेः" ऐसा सूत्र बनाया जाएगा तो इक् के स्थान में गुण सिद्ध हो जाएगा। तदनुसार "उरङि गुणः" सूत्र का अर्थ होगा कि ऋवर्णान्त धातुओं को 'अङ्' परे होने पर गुण होता है। ऋवर्णान्त तो स्वतः ही इगन्त है। इसके बाद "दृशेः" सूत्र का अर्थ होगा कि 'दृश्' धातु के ऋकार को गुण होता है, 'अङ्' परे होने पर। इससे 'दृश्' में भी ऋकार रूप इक् के स्थान में गुण हो जाएगा।

भाव यह है कि जैसे लोक में किसी बलवान् शत्रु को पराजित करने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद रूप नीतियों में से अन्तिम उपाय के रूप में भेदनीति का आश्रयण करते हुए उस शत्रु का जहां-जहां जिस-जिस के साथ या स्वयं अपने राज्य में ही जो योग या सम्बन्ध होता है, पहले उसे नष्ट किया जाता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिए यदि सूत्र या योग में विभाग करना आवश्यक हो तो वह भी पाणिनीय या शास्त्रानुमोदित ही होता है। इस योगविभाग के आधार पर ही "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः"[15] सूत्र में "आत्" ऐसा पृथक् योगविभाग करके 'एकादश' इस प्रयोग में आत्व सिद्ध किया जाता है। अन्यथा इसका कोई अभ्युपायान्तर नहीं था।

इस योगविभागविधि के शास्त्र में अनेक उदाहरण हैं, तद् यथा- "सह सुपा"[16] सूत्र में "सह" ऐसा योगविभाग करने पर ही 'पर्यभूषयत्', 'अनुव्यचलत्' इत्यादि में समास सिद्ध हो पाता है तथा इसी प्रकार "अव्ययं विभक्तिसमीप"[17] सूत्र में "अव्ययम्" में समास उपपन्न होता है। "तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन"[18], "चतुर्थी तदर्थार्थ"[19] तथा "पञ्चमी भयेन"[20] इत्यादि सूत्र भी योगविभाग विधि के सुन्दर निदर्शन हैं। ध्यान रहे कि यह योगविभाग "स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया" इस न्याय से केवल अभीष्ट प्रयोगों के साधुत्व ख्यापनार्थ ही प्रवृत्त या आश्रित किया जाता है। इससे अनिष्ट प्रयोगों की सिद्धि नहीं की जाती। क्योंकि वैयाकरण निकाय के अनुसार अनित्य शास्त्र की प्रवृत्ति केवल इष्ट स्थलों में ही होती है।[21]

5. निमित्तानि हि निमित्तिकार्यार्थीनि भवन्ति न्याय/निमित्तनिमित्ती न्याय/ प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः न्याय / राजयान न्याय

"निमित्तस्य निमित्तिकार्यार्थत्वादन्यत्रापि। निमित्तानि हि निमित्तिकार्यार्थीनि भवन्ति। किं पुनर्निमित्तं को वा निमित्ती? प्रकृत्युपपदोपाधयो निमित्तम्। प्रत्ययो निमित्ती। अन्यत्रापि चैष न्यायो दृष्टो नावश्यमिहैव। क्वान्यत्र? लोके। तद् यथा- बहुष्वासीनेषु कश्चित् कञ्चित् पृच्छति - कतरो देवदत्तः कतमो यज्ञदत्त इति। स तस्मायाचष्टे - योऽश्वे यः पीठे इति। योऽश्वे यः पीठे इत्युक्ते निमित्तस्य निमित्तिकार्यार्थत्वादध्यवस्यति - अयं देवदत्तोऽयं यज्ञदत्त इति। नेदानीमश्वस्य पीठस्य वा देवदत्त इति संज्ञा भवति। प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाद्वा सिद्धम्। अथवा प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययो भवति। किं च प्रधानम्? प्रत्ययः। तद् यथा- बहुषु यात्सु कश्चित् कञ्चित् पृच्छति - को यातीति?

स आह राजेति। राजेत्युक्ते प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाद् यः पृच्छति यश्चाचष्टे उभयोः सम्प्रत्ययो भवति।"[22]

"प्रत्ययः" सूत्र के भाष्य में प्रकृति, उपपद और उपाधि इनकी प्रत्ययसंज्ञानिवृत्ति के लिए भाष्यवार्तिककार कहते हैं कि **जो निमित्त हैं, वे निमित्ती के कार्य के लिए होते हैं।** पूछते हैं कि यहां निमित्त क्या है और निमित्ती कौन है ? उत्तर देते हैं कि प्रकृति, उपपद और उपाधि ये निमित्त हैं। क्योंकि इन्हीं के कारण प्रत्यय होता है। तदनुसार 'गुप्', 'तिज्', 'कित्' इन प्रकृतियों के होने पर ही 'सन्' प्रत्यय होता है।[23] 'स्तम्ब' और 'कर्ण' उपपद होने पर ही 'रम्' और 'जप्' धातुओं से 'अच्' प्रत्यय होता है।[24] इसी प्रकार 'पशु' उपाधि होने पर ही 'हृ' धातु से 'इन्' प्रत्यय होता है।[25] इसलिए **प्रकृति, उपपद और उपाधि ये प्रत्यय के होने में निमित्त हैं। और प्रत्यय उक्त निमित्तों** वाला होने से निमित्ती है। 'निमित्तमस्यास्तीति निमित्ती' जो निमित्त वाला है, वह निमित्ती होता है। **निमित्त निमित्ती के कार्यार्थ होता है।** अतः वह स्वयं निमित्ती नहीं बन सकता। उससे प्रकृति आदि की प्रत्ययसंज्ञा नहीं हो सकती।

यह निमित्तनिमित्ति न्याय केवल यहीं पर प्रयुक्त नहीं होता अपितु अन्यत्र लोक में भी इसका प्रयोग होता है, जैसे लोक में हम देखते हैं कि बहुत से बैठे हुए लोगों में कोई किसी से पूछता है कि इनमें देवदत्त या यज्ञदत्त कौन सा है ? वह उसे बताता है कि जो घोड़े या आसन पर बैठा है, वह देवदत्त या यज्ञदत्त है। यहां घोड़े या आसन पर बैठा हुआ कहने से पूछने वाला समझ जाता है कि यह देवदत्त या यज्ञदत्त है। घोड़ा या आसन देवदत्त या यज्ञदत्त के जानने में सहायक है, निमित्त है। उस निमित्त से निमित्ती देवदत्त या यज्ञदत्त का ज्ञान हो जाता है। परन्तु निमित्तरूप वह घोड़ा या आसन स्वयं देवदत्त या यज्ञदत्त नहीं बनता। क्योंकि वह तो उन दोनों के ज्ञान का निमित्त होने से **निमित्तिसम्प्रत्ययकार्यार्थ है, स्वयं निमित्ती नहीं है।**[26] उसी प्रकार यहां भी प्रकृति, उपपद तथा उपाधि ये प्रत्यय संज्ञा के निमित्त हैं। इसलिए स्वयं निमित्ती एवं प्रत्ययसंज्ञक नहीं होंगे।

अथवा **प्रधान में कार्य का विज्ञान होने से भी यह बात सिद्ध है।** पूछते हैं कि यहां कौन प्रधान है ? तो उत्तर है कि प्रत्यय। क्योंकि वह प्रकृति आदि से विधेय है। प्रकृति आदि उद्देश्य हैं। **प्रत्यय विधेय होने से प्रधान है,** जैसे लोक में बहुत से जा रहे हों तो कोई किसी से पूछता है - 'कौन जा रहा है' ? वह उत्तर देता है - 'राजा'। **'राजा जा रहा है'** - ऐसा कहने पर जो पूछता है और जो उत्तर देता है, दोनों को स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। जाने वालों में राजा के प्रधान होने से उसी का ग्रहण होता है। इसी प्रकार यहां भी **प्रत्यय के प्रधान होने से प्रत्यय संज्ञा में उसी का ग्रहण होगा,** प्रकृति, उपपद तथा उपाधियों का नहीं। इस सन्दर्भ में अग्रिम न्याय भी अवलोकनीय है-

6. प्रधानाप्रधान न्याय

"अणित्येवमादिकाः संज्ञाः प्रणेतुं तद्रूपप्रतिपादनायानुबन्धा उच्चार्यन्ते। ततश्च परार्थमुपादीयमानत्वादप्रधान्यमनुभवन्ति। इतरे तु स्वार्थमुपादीयन्त इति तेषां प्राधान्यम्। तेन तेषामेवाजिति एषा संज्ञा भवति, नानुबन्धानाम्। प्रधानाप्रधानसन्निधौ हि प्रधानमेव कार्येण सम्बन्धमनुभवति, नेतरत्। तथा चाह भाष्यकारः - प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययात् सिद्धमिति"[27]

न्यासकार "एऔङ् ऐऔच्" सूत्रव्याख्या में उक्त न्याय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि **"प्रधानाप्रधानसन्निधौ हि प्रधानमेव कार्येण सम्बन्धमनुभवति, नेतरत्"।** भाष्यवार्तिककार ने इसी न्याय को **"अप्रधानत्वात्"**[28] या **"प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययात् सिद्धम्"**[29] ऐसा कहा है। इसी से मिलती जुलती यह परिभाषा भी है- **"प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः"**[30]। पूर्वोक्त न्याय का अर्थ है कि प्रधान और अप्रधान की सम्प्रधारणा या विद्यमानता में प्रधान का ही कार्य से सम्बन्ध होता है, अप्रधान का नहीं। प्रकृत न्याय प्रत्याहारप्रसङ्ग में उपन्यस्त किया गया है। तदनुसार जैसे लोक में किसी परिवार को सामान्य भोजन निमन्त्रण मिलने पर उस परिवार का प्रधान पुरुष ही भोजनभाक् होता है, अन्य सारे अप्रधानभूत सदस्य नहीं। वैसे ही यहां शास्त्र के विषय में भी न्यासकार कहते हैं कि अष्टाध्यायी में जब अच् प्रत्याहार बनाया जाता है तो उसमें अइउण् के अकार से लेकर ऐऔच् के चकार तक जितने भी **स्वर-व्यञ्जन** रूप अक्षर आते हैं, उन सभी का ग्रहण प्राप्त होता है अर्थात् अच् प्रत्याहार में अन्तिम इत्संज्ञक ण्, क्, ङ्, च् आदि अनुबन्धों का भी अनिष्ट ग्रहण प्राप्त होता है। परन्तु अचों में अचों की तथा हलों में हलों की **प्रधानता होने से** प्रकृत न्याय के आधार पर अनुबन्धों का ग्रहण नहीं होता। क्योंकि आचार्य पाणिनि की **यह शैली है कि वे अचों में अचों की प्रधानता मानते हैं और हलों में हलों की।** अतः अच् प्रत्याहार में ण्, क्, ङ् आदि अनुबन्ध नहीं लिए जाते।

अथवा **अण्** इत्यादि संज्ञाओं को बनाने के लिए उनके **रूपप्रतिपादनार्थ अनुबन्धों** का उच्चारण होता है। अतः परार्थ उपादीयमान होने के कारण ये अप्रधान बन जाते हैं जबकि अकारादि तो स्वयं गृहीत होते है। अतः वे परार्थ न होने से प्रधान हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में इनकी ही 'अच्' यह संज्ञा (प्रत्याहार) होगी, अनुबन्धों की नहीं। क्योंकि **प्रधानाप्रधान की विद्यमानता में प्रधान ही कार्यभाक् होता है, अप्रधान नहीं।** यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[31] इस प्रसङ्ग में अगला न्याय भी पठनीय है:

7. ब्राह्मणक्षत्रियभोजन न्याय / आन्तरतम्य न्याय

"शीले भवा शैली - समवधानपूर्विका प्रवृत्तिः। यथा लोके ब्राह्मणैः सह ब्राह्मणा भोज्यन्ते, क्षत्रियैः सह क्षत्रिया इति, एवमिहाप्याचार्येण वर्णा निर्दिष्टा इत्यर्थः।"[32]

यह न्याय प्रदीपकार ने भाष्यकार के "एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते" इत्यादि कथन की व्याख्या में उद्धृत किया है। यहां समस्या यह है कि अच् आदि प्रत्याहारों में अन्तर्वर्ती ण्, क, 'ङ्' आदि हल् वर्ण रूप अनुबन्धों का ग्रहण क्यों नहीं होता ? इसके उत्तर में भाष्यवार्तिककार ने कई समाधान प्रस्तुत किए हैं। अन्तिम समाधान के रूप में उन्होंने कहा है कि अचों की अचों में और हलों की हलों में प्रधानता होने से अचों में हल् अनुबन्धों का ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि जैसे लोक में ब्राह्मणों को ब्राह्मणों के साथ में भोजन कराया जाता है और क्षत्रियों को क्षत्रियों के साथ ही। इसी प्रकार आचार्य की भी यह शैली देखी जाती है कि वे साहचर्यनियमवशात् तुल्यजातीयों का तुल्यजातीयों में ही प्रधानता से उपदेश करते हैं, जैसे- अचों का अचों में तथा हलों का हलों में। इसलिए अच् प्रत्याहार में अन्तर्वर्ती ण्, क् आदि हल् वर्णों के तुल्यजातीय न होने से उनका अच् प्रत्याहार में अनिष्ट ग्रहण नहीं होगा। प्रधानाप्रधान न्याय के समानधर्मा मन्त्रिराजस्थलन्याय का भी शास्त्र में पर्याप्त व्यापार दृष्टिगोचर होता है-

8. मन्त्रिराजस्थल न्याय

"शब्दशास्त्रत्वात् शाब्दं प्राधान्यमन्तरङ्गत्वादिभ्यो बलवत्। लोकेऽप्यन्तरङ्गकार्यात् प्रधानकार्यस्य बलवत्त्वं दृष्टं मन्त्रिराजस्थले इति"।[33]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "आकडारादेका संज्ञा" सूत्रभाष्य में "गतिबुद्ध्यादीनां ण्यन्तानां कर्मकर्तृसंज्ञम्" इस वार्तिक की व्याख्या में निर्दिष्ट किया है। इसका अर्थ है कि लोक में हम देखते है कि अन्तरङ्ग कार्य से प्रधान कार्य बलवान् होता है, जैसे मन्त्री और राजा इन दोनों की विद्यमानता में राजा के प्रधान हाने से राजा की ही बात मानी जाती है, मन्त्री की नहीं अर्थात् जैसे राजा की उपस्थिति में मन्त्री का कार्य रुक जाता है। क्योंकि राजा की उपस्थिति में मन्त्री अप्रधान है। अथवा जैसे देश के शासन का कार्य तो यद्यपि प्रधानमन्त्री ही करते हैं तथापि संवैधानिक दृष्टि से वे राष्ट्रपति (राजा) के अधीन ही माने जाते है। वैसे ही यहां पूर्वोक्त शास्त्रीय वचन द्वारा गति आदि अर्थ वाली णिजन्त धातुओं के कर्ता की कर्मसंज्ञा कर देने पर फिर कर्मसंज्ञा ही बलवान् मानी जाएगी, कर्तृसंज्ञा नहीं। हां, जो गति आदि अर्थो से भिन्न अर्थ वाली धातु हैं, उनमें तो कर्ता की णिजन्त में कर्म संज्ञा नहीं होती, जैसे- 'पाचयत्योदनं देवदत्तो यज्ञदत्तेन' यहां प्रयोज्य कर्ता यज्ञदत्त की कर्मसंज्ञा नहीं हुई अपितु कर्तृसंज्ञा होने से उसमें तृतीया विभक्ति ही होती है। किन्तु 'गमयति ग्रामं यज्ञदत्तं देवदत्तः' यहां गत्यर्थक 'गम्' धातु के प्रयोग में प्रयोज्य कर्ता यज्ञदत्त की कर्मसंज्ञा हो जाने से उसमें द्वितीया विभक्ति आती है अर्थात् शास्त्रीयवचनप्रोक्त प्रधानता के कारण यहां कर्मसंज्ञा कर्तृसंज्ञा को बाध लेती है। इस प्रकार प्रकृत न्याय प्रधानाप्रधान के सम्बन्ध में यह निर्णायक प्रकाश डालता है कि चाहे कितनी भी अन्तरङ्गता हो या बलवत्ता हो

फिर भी यदि शास्त्रीय या लौकिक दृष्टि से वह प्रधान नहीं है तो उसकी बात मुख्य नहीं मानी जाएगी। प्रधानाप्रधान के सम्बन्ध में शास्त्र में राजभृत्य न्याय भी व्यवहृत होता है-

9. राजभृत्य न्याय

"प्रधानवशेन हि वस्तुनः स्वधर्मपरित्यागेन धर्मान्तरापत्तिर्युक्ता। तथाहि- प्रधाने राजनि हसति तद्भृत्या अपि हसन्ति, तस्मिन् रुदिते तेऽपि रुदन्ति, न त्वप्रधाने चेटीपुत्रादौ। तदेवमन्वर्थसञ्ज्ञेयं भवन्ती पूर्वपदार्थप्राधान्यमव्ययीभावस्य दर्शयति"।[34]

यह न्याय न्यासकार ने "अव्ययीभावः" इस सूत्र की व्याख्या में उपन्यस्त किया है। ये कहते हैं कि अव्ययीभाव समास में पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता होती है, जैसे- प्रतिदिनम्, यथाशक्ति इत्यादि अव्ययीभाव समास के उदाहरण हैं। इनमें पूर्वपद क्रमशः प्रति और यथा शब्दों के अर्थ की प्रधानता है। परन्तु पूर्वोक्त पूर्वपदों के साथ ही क्रमशः दिन और शक्ति पद भी अव्ययीभाव समास के अवयव बन जाते हैं, जैसे- समाज में प्रधान राजा के हंसने पर उसके सेवक भी हंसते हैं और उसके रोने पर वे भी रोते हैं, अप्रधानभूत दासी के पुत्रादि के हंसने पर कोई नहीं हंसता अथवा उनके रोने पर कोई नहीं रोता। वैसे ही यहां शास्त्र में भी पूर्वपदार्थप्रधान अव्ययीभाव समास में पूर्वपदार्थ के प्रति ही अन्य वर्ती पदों का अर्थ निर्भर करता है। प्रधानाप्रधान के विषय में ही अगला लोक न्याय भी द्रष्टव्य है।

10. सापेक्षमसमर्थं भवति न्याय

"अथ क्रियमाणेऽपि समर्थग्रहणे इह कस्मान्न भवति - महत् कष्टं श्रित इति। न वा भवति - महाकष्टश्रित इति...... असामर्थ्यात्। कथमसामर्थ्यम् ? सापेक्षमसमर्थं भवतीति। यत्र गमको भवति, भवति तत्र वृत्तिः। तद् यथा- देवदत्तस्य गुरुकुलम्, देवदत्तस्य गुरुपुत्रः, देवदत्तस्य दासभार्येति।"[35]

समर्थसूत्रभाष्य में भाष्यकार पूछते हैं कि प्रकृत सूत्र में समर्थग्रहण कर देने पर भी 'महत् कष्टं श्रितः' यहां समास क्यों नहीं होता तो स्वयं इसका उत्तर देते हैं कि सामर्थ्य न होने से यहां समास नहीं हुआ। क्योंकि कष्ट शब्द को असमस्यमान अपने विशेषण भूत महत् शब्द की भी अपेक्षा है और जो सापेक्ष होता है वह सदा असमर्थ होता है, जैसे बालि और सुग्रीव दोनों में सुग्रीव के द्वारा बालि के मार देने पर भी उसके रामसापेक्ष होने से वह बालि की अपेक्षा दुर्बल या असमर्थ ही माना जाता है, बलवान् या समर्थ नहीं वैसे ही यहां भी कष्ट और महत् शब्दों के सापेक्ष होने से उनके असमर्थ होने के कारण "द्वितीया श्रितातीत"[36] सूत्र से इनका श्रित शब्द के साथ समास नहीं होता। कहा भी है- "सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न"।[37]

परन्तु जहां तो सापेक्ष होने पर भी गमकता या स्फुट अर्थबोधकता अव्याहत

बनी रहती है, वहां तो समास या वृत्ति हो ही जाती है - "सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः"। जैसे- देवदत्तस्य गुरोः कुलम् यहां यद्यपि गुरु शब्द देवदत्त की अपेक्षा रखे हुए है तथापि अर्थबोध में काठिन्य न होने से यहां समास साधु ही मान लिया जाता है। लोक में भी देखा जाता है कि कौरव पाण्डवों में पाण्डवों के द्वारा भगवान् कृष्ण की सहायता लेने पर भी उनके युद्ध में स्वयं सक्रिय सहयोग करने से वे ही बलवान् या समर्थ समझे जाते हैं, कौरव नहीं।[38]

11. कीलप्रतिकील न्याय / समन्धकारे प्रदीपनिमित्तं दर्शनम् न्याय

"एवं तर्हि स्वाभाविकी निवृत्तिः। ननु चोक्तं किं नञ् प्रयुज्यमानः करोतीति? नञ् प्रयुज्यमानः पदार्थं निवर्तयति। कथम्? कीलप्रतिकीलवत्। तद् यथा- कील आहन्यमानः प्रतिकीलं निर्हन्ति। यद्येतन्नञो माहात्म्यं स्यान् न जातुचिद् राजानो हस्त्यश्वं बिभृयुः नेत्येव राजानो ब्रूयुः। एवं तर्हि स्वाभाविकी निवृत्तिः। ननु चोक्तं किं नञ् प्रयुज्यमानः करोतीति। नञ्निमित्तात्तूपलब्धिः। तद् यथा- समन्धकारे द्रव्याणां समवस्थितानां प्रदीपनिमित्तं दर्शनम्। न च तेषां दीपको निवर्तको भवति"।[39]

"नञ्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार विचार करते हैं कि यह नञ् समास पूर्वपदार्थप्रधान है या अन्यपदार्थप्रधान या उत्तरपदार्थ प्रधान? विचार करते हुए उन्होंने पूर्वपदार्थप्रधान तथा अन्यपदपदार्थप्रधान इन दोनों पक्षों को दोषयुक्त बताकर अन्त में नञ् समास को उत्तरपदार्थप्रधान माना है। तदनुसार 'न ब्राह्मणः अब्राह्मणः' यहां 'अब्राह्मण' का अर्थ अभावविशिष्ट ब्राह्मण है अर्थात् 'ब्राह्मण का अभाव' यह अर्थ नहीं है अपितु ब्राह्मणभिन्न क्षत्रियादि अर्थ है। दूसरे शब्दों में- जो वास्तविक ब्राह्मण न होकर सादृश्यादि निमित्त से आरोपितब्राह्मणत्व वाला है, वह क्षत्रियादि 'अब्राह्मण' शब्द का अर्थ है।[40] शब्दशक्तिस्वभाव से वाक्य में प्रयुक्त होने वाले नञ् का केवल अभाव अर्थ है। किन्तु वही नञ् जब 'अब्राह्मणः' इत्यादि समास में प्रयुक्त होता है तो उसका अर्थ अभावविशिष्ट द्रव्य होता है। और द्रव्य होने से उसमें लिङ्गसंख्या का योग भी होता है। इसी बात को भाष्यकार स्वयं शब्दशक्तिस्वभाव न्याय से कहते हैं-

"समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न। न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुम्, कश्चिद्वानर्थक इति सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुं यन् नञः प्राक् समासात् लिङ्गसंख्याभ्यां योगो नास्ति, समासे च भवति। स्वाभाविकमेतत्"।[41]

नञ् समास की उत्तरपदार्थ की प्रधानता में "एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि"[42] इस सूत्र में स्थित अनञ् समास ग्रहण भी ज्ञापक है। क्योंकि 'अनेषो ददाति', 'असौ ददाति' (न + एषः = अनेषः, न + स = असः) यहां 'एतद्', 'तद्' शब्दों के नञ् समास में 'एतद्', 'तद्' इन उत्तरपदों का अर्थ प्रधान मानने से ही सर्वनामसंज्ञा होकर अभीष्ट रूपों की सिद्धि होती है। अन्यथा उत्तरपदार्थ की प्रधानता न मानने पर

'एतद्', 'तद्' शब्दों का अर्थ प्रधान न होकर उपसर्जन हो जाएगा और फलतः "संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधः"[43] इस वचन से सर्वनामसंज्ञा का निषेध होकर अभीष्ट रूपों की सिद्धि नहीं हो सकती। 'अनेषः', 'असः' में उत्तरपदार्थप्रधान नञ् समास होने पर 'अनञ् समासे' यह निषेध लग जाएगा तो 'अनेषो ददाति', 'असो ददाति' यहां हल् परे रहते सुलोप नहीं होता। जैसे 'राजपुरुषः' यहां उत्तरपदार्थप्रधान षष्ठीतत्पुरुषसमास में जहत्स्वार्था वृत्ति में भी राजविशिष्ट पुरुष का बोध होता है वैसे ही "अब्राह्मणः" यहां नञ् समास में ब्राह्मण रूप पदार्थ की निवृत्ति या अभाव का द्योतक नञ् समास होने से अभावविशिष्ट ब्राह्मण अथवा आरोपित ब्राह्मण जो ब्राह्मणभिन्न क्षत्रियादि है, उसका बोध होता है।

उक्त बात को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार पूछते हैं कि पदार्थ की निवृत्ति या अभाव स्वाभाविक होता है या वाचनिक? उत्तर देते हैं कि यदि वाचनिक होता है तो साफ कहना चाहिए कि नञ् के प्रयुक्त होने पर ही पदार्थ का अभाव द्योतित होता है। और यदि पदार्थ का अभाव स्वाभाविक माना जाता है, स्वतःसिद्ध है, तब नञ् के प्रयोग की क्या आवश्यकता है? वह अभाव तो स्वतः सिद्ध होने से नञ् के बिना भी द्योतित हो जाएगा। यदि यह कहा जाए कि नञ् का प्रयोग होने पर पदार्थ का अभाव अधिक स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि जैसे चोट मारी हुई बड़ी कील अपने से छोटी दूसरी कील को उखाड़ फैंकती है वैसे ही नञ् के प्रयोग होने पर पदार्थ की निवृत्ति या अभाव स्वतः हो जाता है तो भी यह बात ठीक नहीं जंचती। क्योंकि यदि नञ् लगाने का इतना ही बड़ा माहात्म्य है कि उसके लगते ही पदार्थ की निवृत्ति हो जाती है तब तो ये राजा लोग शत्रुओं को परास्त करने के लिए हाथी-घोड़ों की फौज को न रखें। केवल 'न' इतना ही कह दें कि हे शत्रुओ! तुम यहां न आओ। 'हट जाओ' - इतना कह देने से ही शत्रु हट जाने चाहिएं। किन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए स्वाभाविक पदार्थ निवृत्ति मानने पर भी नञ् के प्रयोग से वह निवृत्ति द्योतित हो जाती है- यही मानना उचित है। जिस प्रकार घने अन्धकार में पड़े हुए पदार्थों की उपलब्धि का निमित दीपक होता है अर्थात् दीपक उन पदार्थों को उत्पन्न नहीं करता बल्कि पहले से ही विद्यमान घट-पटादि पदार्थों का द्योतक या व्यञ्जक होता है उसी प्रकार स्वतः सिद्ध पदार्थ की निवृत्ति भी नञ् के प्रयोग से व्यक्त हो जाती है।

12. निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः न्याय / निमित्तनैमित्तिकापाय न्याय

"यद्यत्र केवलस्य छस्य ग्रहणं स्यात् तदा पृच्छेरुपदेशानन्तरं तुकि कृते त्त प्रत्यये परतश्छकारमात्रस्य शादेशे षत्वे तुकः पृट्ष्ट इत्यनिष्टं रूपं स्यात्। न च 'निमित्ताभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः' न इति तुको निवृत्तिः, न हीदं वचनं नापि न्यायः, न हि कृतस्य निवृत्तौ कश्चिन्न्यायः"।[44]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "च्छ्वोःशूडनुनासिके च" सूत्र की व्याख्या में दिया है। काशिकाकार द्वारा तुक् सहित छकार के स्थान में 'श' आदेश होता है - इस कथन की प्रतिक्रिया में इनका कहना है कि यदि प्रस्तुत सूत्र द्वारा केवल 'छ' के स्थान में ही शकार आदेश माना जाए तो 'प्रच्छ्' धातु में दोष प्राप्त होता है। क्योंकि 'प्रच्छ्' धातु को आदेश के बाद तुक् करने पर क्त प्रत्यय परे रहते प्रस्तुत सूत्र से छकार मात्र के स्थान में ही शकार आदेश होगा। फिर उसको षत्व तथा तुक् को ष्टुत्व करने पर 'पृट्ष्ट' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होगा। यदि यह कहा जाए कि जैसे लोक में किसी राजनेता के सत्ताकाल में अधिवचन या सिफारिश द्वारा कुछ लोगों के सेवानियुक्त हो जाने पर कालान्तर में उस राजनेता के पदच्युत होते ही अन्य उसके सेवकगण भी सेवानिवृत्त कर दिए जाते हैं वैसे यहां शास्त्र में भी निमित्त के न रहने पर उस निमित्त को मानकर होने वाला कार्य भी नहीं हुआ करता - इस न्याय के आधार पर छकार को शकार होने पर तुक् की भी स्वतः निवृत्ति हो जाएगी अतः उक्त दोष नहीं आएगा तो यह ठीक नहीं। क्योंकि "निमित्ताभावे" इत्यादि न तो यह वचन है और न ही कोई न्याय है। इसके अतिरिक्त किसी कार्य के कर देने पर उसकी निवृत्ति के लिए फिर कोई न्याय प्रवृत्त नहीं हुआ करता है।[45] इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र के द्वारा तुक् सहित छकार के स्थान में ही शकार आदेश माना जाता है। यह न्याय अन्यत्र भी व्यवहृत देखा जा सकता है।[46] इसी निमित्तनैमित्तिकभाव को लेकर नागेश भी "अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः" न्याय को उद्धृत करते हुए कहते हैं–

13. अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः न्याय

"अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः। न कृतो व्यूहो विशिष्ट ऊहो निश्चयः शास्त्रप्रवृत्तिविषयो यैरित्यर्थः। भाविनिमित्तविनाशे इत्यध्यहारः। बहिरङ्गेणान्तरङ्गस्य निमित्तविनाशे पश्चात् सम्भावितेऽन्तरङ्गं नेति यावत्"।[47]

लोकव्यवहारसिद्ध यह न्याय वस्तुतः व्याकरणशास्त्रीय परिभाषा है। इसका अर्थ है कि पाणिनीय व्याकरण को पढ़ने-पढ़ाने वाले विद्वान् निमित्त के भावी विनाश को ध्यान में रखकर जैसे दण्ड का नाश हो जाने पर भी घट की स्थिति अव्याहत बनी रहती है वैसे ही पहले से ही व्यूह अर्थात् विशिष्ट ऊह या कार्यस्थितिरूप शास्त्रप्रवृत्तिविषयक निश्चय नहीं किया करते हैं। भाव यह है कि जहां बहिरङ्ग शास्त्रों द्वारा बाद में आगे चलकर अन्तरङ्ग शास्त्रों के निमित्त के विनाश की सम्भावना हो तो वहां अन्तरङ्ग शास्त्र प्रवृत्त नहीं होता। यह बात लोकव्यवहार सिद्ध भी है। क्योंकि पहले किसी कार्य को करके फिर बाद में उसका निमित्त नष्ट हो जाने पर उसे हटाना कोई अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण या सुचिन्तित कार्य नहीं होता है। इसकी अपेक्षा तो भावी निमित्तविनाश वाले कार्य को पहले ही न करना अधिक ज्यायान् है। जैसे 'पङ्कप्रक्षालन न्याय' के अनुसार पहले कीचड़ में फंसकर बाद में उसे साफ करने की अपेक्षा कीचड़

को दूर से ही स्पर्श न करना ही प्रशस्य है।[48] इसके विरोध में कृत्वाचिन्ता न्याय को देखा जा सकता है।

तदनुसार 'सेदिवान्' और 'सेदुषः' इन प्रयोगों में 'सद्' धातु से 'क्वसु' प्रत्यय परे रहते जहां 'सेदिवान्' में तो "वस्वेकाजाद्घसाम्"[49] से इडागम करना ठीक माना जाता है, क्योंकि इसमें इडागम का निमित्त वलादित्व अव्याहत बना रहता है वहां 'सेदुषः' में वलादित्व निमित्त को मानकर पहले इडागम को करके फिर बाद में 'शस्' प्रत्यय परे रहते भसंज्ञा होने पर 'क्वसु' को सम्प्रसारण हो जाने से जो इडागम के निमित्त रूप वलादित्व का विनाश हो जाता है, उससे इडागम को हटा दिया जाता है। परन्तु यह 'द्रविड प्राणायाम' कुछ अधिक अच्छा प्रतीत नहीं होता प्रत्युत प्रकृत परिभाषा के आधार पर इडागम को करने की अपेक्षा भावी निमित्तविनाश की दृष्टि से उसको पहले ही न करना अधिक अच्छा माना जाता है। इस सन्दर्भ में अग्रिम न्याय भी अवश्य पठनीय है, तद् यथा–

14. राजपुरोहित न्याय

"असिद्धवदत्राभात् – वत्करणं प्रतिप्रत्तिलाघवाय, अन्यथा सिद्धे असिद्ध इति प्रयुज्यमानमनुपपन्नं सत् सामर्थ्यादसिद्धवदिति कल्पनीयं स्यात्। यथा राजभिन्ने पुरोहिते राजायमिति प्रयोगो राजवदिति कथंचित् कल्पयति, राजवदयं पुरोहित इत्युक्ते तु लघुप्रतिपत्तिर्भवति तथा चागत्या षत्वतुकोरसिद्ध इत्यत्रासिद्धवदिति कल्प्यते"।[50]

"असिद्धवदत्राभात्" सूत्र में वत्करण की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए तत्त्वबोधिनीकार कहते हैं कि उक्त सूत्र में वत्करण स्पष्टप्रतिपत्ति या मन्दबुद्धियों के लिए सूत्रार्थबोध में लाघव उत्पन्न करने के लिए किया गया जानना चाहिए। अन्यथा लोक में राजा से भिन्न पुरोहित के विषय में अथवा पुरोहित के वस्तुतः राजा न होते हुए भी उसके राजा के समान आचरण करने के कारण जैसे- तद्विषयक 'राजाऽयम्' यह प्रयोग 'राजवदयम्' इसकी क्लिष्ट कल्पना कराता है, अनायास सहज नहीं वैसे ही प्रकृत सूत्र में भी वत्करण के अभाव में 'सिद्ध' के स्थान पर केवल 'असिद्ध' इतना ही प्रयोग होने पर उसके उपपन्न न होने के कारण फिर सहज कल्पना के स्थान पर अगत्या या विवश होकर अर्थसामर्थ्यात् 'असिद्धवत्' ऐसी दीर्घ एवं कठिन कल्पना करने को बाध्य करता है। तदनुसार "षत्वतुकोरसिद्धः"[51] यहां पर 'असिद्ध' की व्याख्या अगतिकगति रूप में 'असिद्धवत्' कहकर करनी पड़ती है। परन्तु इसके विपरीत जैसे लोक में 'राजवदयं पुरोहितः' ऐसा वत्करणयुक्त स्पष्ट निर्देश कर देने पर शीघ्र बोध हो जाता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी वत्करण से शीघ्र अर्थावबोध हो जाता है। इसलिए "असिद्धवत्सूत्र" में वत्करण किया गया है।

15. गुणानां परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्[52] न्याय / राजसेवक न्याय

"किञ्च फलांशोऽपि भावनायां विशेषणं कारकाण्यपि क्वचित् तथाभूतानीति

गुणानां परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यादिति न्यायेन सर्वे सेवका राजानमिव भावनायामेव परस्परनिरपेक्षाण्येवान्वियन्ति''।[53]

वैयाकरणभूषणसार के धात्वर्थनिर्णयप्रकरण में कौण्डभट्ट कहते हैं कि यद्यपि ''फलव्यापारयोधातुः''[54] इस कारिकानुसार धात्वर्थ फल और व्यापार का नाम है तथापि इन दोनों में भी फलांश भावना या व्यापार के प्रति विशेषण या गौण ही होता है। इसी प्रकार ''तिङर्थस्तु विशेषणम्''[55] इस वचनानुसार तिङर्थ कर्ताकर्मादि कारक भी वहीं उसी व्यापारपर्याय भावना में ही विशेषण होता है। फलतः जैसे लोक में सभी सेवक राजभृत्यत्व की दृष्टि से समानधर्मवाले होने से प्रधान राजा की ही सेवा करते हैं, अप्रधानभूत आपस में एक दूसरे की नहीं, वैसे ही यहां शास्त्र में भी विशेषणभूत जो फलांश तथा कर्ताकर्मादि कारक रूप तिङर्थ है, वह भी विशेष्यभूत व्यापार या भावना के साथ ही अन्वित होता है, अन्योन्य के साथ नहीं अर्थात् फल व्यापार का विशेषण होने से कारकान्वयी नहीं हो सकता। क्योंकि गुण या विशेषण या अप्रधान परार्थ अर्थात् किसी दूसरे प्रधान या विशेष्य का ही उपकारक होता है। उनका परस्पर गुणगुणिभावसम्बन्ध समान या अप्रधानरूप होने से तुल्य होने के कारण नहीं होता।

(ख) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित राजनीतिसम्बन्धी लोकन्याय

1. समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः न्याय / गर्गशतदण्डन (हिरण्यार्थिनश्च राजानो भवन्ति) न्याय[56]
2. सम्बन्धानुवृत्ति न्याय[57]
3. अन्यप्रतिविधान न्याय/अन्येन चान्यस्य विधिर्भवति न्याय[58]
4. एकशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[59]
5. बौद्धापाय (माषगोवारण) न्याय[60]
6. राजामात्य (स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्य) न्याय[61]
7. राजतक्षा न्याय/जहत्स्वार्था वृत्ति न्याय[62]
8. राजकर्मी मनुष्य न्याय/गुडभक्षणे न लोष्टभक्षणमिष्टम् न्याय[63]
9. कदाचिद् गुणः प्राधान्येन विवक्षितो भवति न्याय[64]
10. अन्धानां काणो राजा न्याय[65]
11. राजयान न्याय[66]
12. यस्य लक्षणान्तरेण निमित्तं न विहन्यते न तदनित्यम् (कौरव पाण्डव) न्याय[67]
13. यस्य लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदनित्यमपि (बालिसुग्रीव) न्याय[68]
14. राजामात्य न्याय/स्वामिदास न्याय/यः कारयति स करोति न्याय[69]
15. ईश्वरसुहद् न्याय/सधननिर्धन न्याय[70]
16. तत्स्थानापन्नस्य तद्धर्मलाभः न्याय[71]

17. अनित्योपायाश्रयेणापि नित्यस्यान्वाख्यानं दृश्यते (शककाल) न्याय[72]
18. राजपुरप्रवेश न्याय[73]
19. आगमशास्त्रमनित्यम् न्याय[74]
20. सर्वं वाक्यं सावधारणम् न्याय[75]
21. कुरुपाण्डव न्याय[76]

सन्दर्भसूची

1. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 12.
2. द्र. वा. प. 2.159–

   ''संस्कारादिपरिच्छिन्ने तैलादौ यो व्यवस्थितः।
   आहैकदेशं तत्त्वेन तस्यावयववर्तिता॥''
3. महा. भा. 2, सू. 4.3.155, पृ. 324.
4. पा. 4.3.155.
5. महा. भा. 1, सू. 2.2.6, पृ. 411.
6. वही.
7. प्रकृत भाष्य सन्दर्भ को देखने से यह स्पष्ट अनुमित होता है कि प्राचीन काल में ब्राह्मणजाति वालों का वर्ण गौर या पीत ही होता था। परन्तु कैयट के निम्न कथन से यह अनुमान भी होता है कि उक्त कथन सर्वांशतः सत्य नहीं है अर्थात् वैसे तो उन दिनों सम्भवतः सारे ब्राह्मण गौरवर्ण ही होते थे परन्तु शाकाद्यन्नोपाधियुक्त अपवाद स्वरूप ही सही, एकाध ब्राह्मण श्याम वर्ण भी अवश्य होगा। और वह श्यामवर्ण ब्राह्मण भी शायद कोई और न होकर स्वयं कैयट ही न हों, ऐसी लेखक की धारणा है। वैयाकरणनिकाय में प्रचलित परम्परा भी इन्हें कुछ श्याम वर्ण ही संकेतित करती है। इस विषय में भाष्योक्त ब्राह्मणोचित गौर वर्ण पर की गई उनकी टिप्पणी पठनीय है - ''अधुना लोकप्रसिद्धान् बाहुल्येन तथादृष्टान् गुणानाह - गौर इति''। नागेश भी इसे और पुष्ट करते हैं - ''बाहुल्येनेति - तथा चैते गुणा व्यभिचारिण इति भावः''। यहां बाहुल्येन शब्द अवधेय है अर्थात् अधिकतर ब्राह्मण गौरवर्ण होते थे परन्तु थोड़े- बहुत कृष्ण वर्ण ब्राह्मण (व्यभिचरित) भी अवश्य थे।
8. महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.4, पृ. 164 - अवयवक्रिययापि समुदायस्य व्यपदेशदर्शनात्। यथा पटो दग्धः इति। अथवा समुदायशब्दोऽवयवे तद्रूपारोपाद्वर्तते''।
9. महा. प्र. भा. 1, पस्पशा. पृ. 24.
10. महा. भा. 2, सू. 5.1.2, पृ. 338.
11. द्र. पृ. 299.

12. महा. भा. 1, सू. 2.2.24, पृ. 426; भा. 2 सू. 5.1.115, पृ. 363; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.3.37, पृ. 440; भा. 3, सू. 3.3.171, पृ. 136; भा. 6, सू. 8.2.26, पृ. 634); महा. प्र. भा. 3, सू. 4.1.93, पृ. 583; प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.1.6, पृ. 21; सू. 2.2.1, पृ. 96; सू. 2.2.2, पृ. 99; सू. 2.2.6, पृ. 106; सू. 2.4.71, पृ. 316; सू. 3.1.87, पृ. 470; भा. 3, सू. 4.1.93, पृ. 426; सू. 4.3.115, पृ. 724; भा. 5, सू. 6.2.103, पृ. 96;); श. कौ. भा. 1, पस्पशा. पृ. 28; भा. 2, सू. 2.2.1, पृ. 194; सू. 2.2.6, पृ. 198; प्रौ. म. सू. 712, पृ. 16; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 2, सू. 712, पृ. 55; सू. 713, पृ. 59); बृ. श. शे. भा. 1, सू. 29, पृ. 95-96; सू. 470, पृ. 736; भा. 2, सू. 2139, पृ. 1553; स्फोटचन्द्रिका पृ. 13.
13. महा. भा. 1, सू. 1.1.3, पृ. 47.
14. पा. 7.4.16.
15. पा. 6.3.46.
16. पा. 2.1.4.
17. पा. 2.1.6.
18. पा. 2.1.30.
19. पा. 2.1.36.
20. पा. 2.1.37.
21. द्र. परि. सं. 114 - ''योगविभागदिष्टसिद्धिः''।
22. महा. भा. 2, सू. 3.1.1, पृ. 1.
23. पा. 3.2.5 'गुपतिज्किद्भ्यःसन्'।
24. पा. 3.2.13 'स्तम्बकर्णयोः रमिजपोः'।
25. पा. 3.2.25 'हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ'।
26. तुलना करो, वा. प. 3.10.9
    ''योऽश्वे यः पीठः इत्यत्र भूतयोरश्वपीठयोः।
    यथोपलक्षणार्थत्वं तथार्थेष्वनुशासनम्॥''
27. न्यास. (का. भा. 1 एओङ् ऐऔच् सूत्र, पृ. 32).
28. महा. प्रत्याहाराह्निक, लण् सूत्र, पृ. 32.
29. वही. भा. 1, सू. 1.2.69, पृ. 250.
30. परि. सं. 97.
31. न्यास. (का. भा. 2, सू. 3.1.1, पृ. 333); महा. प्र. भा. 1, हयवरट् सूत्र पृ 107; भा. 3, सू. 3.1.7, पृ. 44; भा. 4, सू. 6.1.1, पृ. 291; महा. प्र. उ.भा. 1, सू. 1.1.56, पृ. 401; भा. 2, सू. 1.2.69, पृ. 166; सू. 2.3.65, पृ. 836; भा. 3, सू. 3.1.2, पृ. 13; सू. 3.1.3, पृ. 18; भा. 4, सू. 6.1.1, पृ. 291; बृ.श.शे.भा. 2, सू. 902, पृ. 1142; भा. 3, सू. 2665, पृ. 1886.

32. महा. प्र. भा. 1 प्रत्याहाराह्निक, हयवरट् सूत्र, पृ. 107.
33. महा. प्र. उ.भा. 2, सू. 1.4.1, पृ. 308.
34. न्यास. (का. भा. 2, सू. 2.1.5, पृ. 18-19). तुलना करो, महा. प्र. उ. भा. 3, सू. 3.1.2, पृ. 13 - ''किञ्च लोकेऽपि प्रधानस्य राजादेरेव स्थाननियमादिदृश्यते - राज्ञात्रैव स्थेयमित्यादिप्रकारेणेति दिक्।''
35. महा. भा. 1, सू. 2.1.1, पृ. 360-61.
36. पा. 2.1.24.
37. महा. भा. 1, सू. 2.1.1, पृ. 361.
38. इस विषय में कौरव पौण्डव न्याय देखा जा सकता है (प्रकृत ग्रन्थ पृ. 434).
39. महा. भा. 1, सू. 2.2.6, पृ. 411.
40. तुलना करो, वही, भा. 2, सू. 3.3.19, पृ. 145 - ''नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः। नञ्युक्तमिवयुक्तं चान्यस्मिन् तत्सदृशे कार्यं विज्ञायते। तथा ह्यर्थो गम्यते। तद् यथा- अब्राह्मणमानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशं (आरोपितब्राह्मणत्ववत् क्षत्रियादि) पुरुषमानयति, नासौ लोष्टमानीय कृती भवति।''
41. वही. भा. 1, सू. 2.2.6, पृ. 410.
42. पा. 6.1.132.
43. महा. भा. 1, सू. 1.1.27, पृ. 87. पर वार्तिक।
44. प. मं. (का. भा. 5, सू. 6.4.19, पृ. 355).
45. तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 1.1.50 पृ. 122 ''यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान् मा भुक्था इति किं तेन कृतं स्यात्''।
46. न्यास. (का. भा. 6, सू. 7.4.61, पृ. 180); महा. प्र. भा. 3, सू. 3.1.80, पृ. 157; भा. 6, सू. 7.4.61, पृ. 180; श. कौ. भा. 2, सू. 2.2.28, पृ. 217; सू. 3.1.26, पृ. 354; वै. सि.कौ.भा. 3, सू. 2626, पृ. 462; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 3, सू. 2298, पृ. 121); महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.2.18. पृ. 30; बा. म. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 435, पृ. 445).
47. परि. सं. 56, पृ. 123-24.
48. तुलना करो, पञ्चतन्त्र 2.157 ''प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्''। इस न्याय की विशेष व्याख्या प्रकृत ग्रन्थ के पृ. 559 पर भी देखी जा सकती है।
49. पा. 7.2.67.
50. त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 3, सू. 2183 (6.4.22) पृ. 24).
51. पा. 6.1.86.
52. अवधेय है कि उक्त वचन यद्यपि मूलतः जैमिनीय दर्शन (3.1.22) का सूत्र है तथापि कौण्डभट्ट ने इसे न्याय के रूप में उपन्यस्त किया है।
53. वै.भू.सा. धात्वर्थनिर्णय, पृ. 157.

54. वही. कारिका सं. 2, पृ. 11.
55. वही.
56. द्र. पृ. 202.
57. द्र. पृ. 542.
58. द्र. पृ. 212.
59. द्र. पृ. 631.
60. द्र. पृ. 219.
61. द्र. पृ. 218; 329.
62. द्र. पृ. 387.
63. द्र. पृ. 224.
64. द्र. पृ. 186.
65. द्र. पृ. 572.
66. द्र. पृ. 429.
67. द्र. पृ. 434.
68. द्र. पृ. 433.
69. द्र. पृ. 329.
70. द्र. पृ. 332.
71. द्र. पृ. 73.
72. द्र. पृ. 350.
73. द्र. पृ. 321.
74. द्र. पृ. 146.
75. द्र. पृ. 518.
76. द्र. पृ. 140.

षष्ठ उद्योत

साहित्यिक और कलात्मक न्याय

क (1) शिक्षासम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. अभ्यर्हित न्याय

वार्तिककार कात्यायन ने द्वन्द्वसमास के पूर्वनिपात प्रकरण में "अभ्यर्हितं च"[1] यह वचन पढ़ा है जोकि अपने आप में एक लोकन्याय जैसा ही है। इसका अर्थ है कि शब्दों में द्वन्द्वसमास में अर्थ की दृष्टि से जो श्रेष्ठ या पूजनीय होता है, उसका पूर्व में प्रयोग करना चाहिए, जैसे- "तापसपर्वतौ"। यहां 'तापसश्च पर्वतश्च' इस विग्रह में "चार्थे द्वन्द्वः"[2] सूत्र से द्वन्द्वसमास होने पर फिर प्रकृत वार्तिक से जड़ पर्वत की अपेक्षा तापस के चेतन तथा श्रेष्ठ होने के कारण उसका पूर्वनिपात हो जाता है तो उक्त प्रयोग बन जाता है। अन्यथा उक्त वार्तिक के अभाव में 'पर्वततापसौ' ऐसा भी अनिष्ट रूप प्राप्त हो जाता। इसी प्रकार शास्त्र का यही व्यवहार लोक में भी देखा जाता है। क्योंकि लोक में भी पहले बड़े या उपाध्यायादि पूज्य व्यक्ति को ही अग्रासनादि दिया जाता है, बाद में साधारण व्यक्ति को। इसी लोकन्यायसिद्ध वार्तिकवचन के आधार पर ही लोक में आज भी राधेश्याम और सीताराम आदि शब्दांशों का व्यवहार होता है। क्योंकि "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः"[3] इस वचनानुसार अथवा 'गर्भधारणपोषाभ्यां पितुर्माता गरीयसी" इस स्मृति के आधार पर नर की अपेक्षा नारी के अभ्यर्हित होने के कारण दोनों के द्वन्द्वसमास में इसी का पूर्वनिपात ज्यायान् है।

वैसे अभ्यर्हित न्याय का उदाहरण पूर्वोक्त न देकर 'मातापितरौ' देना चाहिए, जैसा कि भाष्यकार ने दिया भी है। क्योंकि इस उदाहरण में माता का अभ्यर्हितत्व अधिक स्पष्ट है। प्रकृत न्याय 'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्'[4] इस सूत्र से भी ज्ञापित होता है। क्योंकि यहां द्वन्द्व में वासुदेव का अभ्यर्हित होने से लध्वक्षर[5] अर्जुन की अपेक्षा पूर्वनिपात है। सायण भी इस न्याय का प्रयोग करते हुए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रारम्भिक भाग में लिखते हैं–

"ऋग्वेदस्य प्राधान्येन सर्वत्राम्नातत्वादभ्यर्हितं पूर्वमिति न्यायेनाभ्यर्हितत्वात् तद्व्याख्यानमादौ युक्तम्"।

यह न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[6] इस प्रसङ्ग में अगला न्याय भी द्रष्टव्य है-

2. वर्णानुपूर्वी / ज्येष्ठानुपूर्वी (आनुपूर्वी) न्याय

अर्थ की दृष्टि से अभ्यर्हित न्याय के आलोक में ही उपर्युक्त न्याय भी समझने चाहिएं। इन दोनों न्यायों का मूल उत्स भी वार्तिकवचन ही हैं। प्रथम न्याय सम्बन्धी वार्तिक है - "**वर्णानामानुपूर्व्येण**"।[7] इसका अर्थ है कि वर्णों के द्वन्द्व समास में आनुपूर्वी से ही पूर्वनिपातक्रम प्रवर्तित होता है, जैसे- '**ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः**'। यहां श्रेष्ठता की दृष्टि से ही वर्णों की आनुपूर्वीपूर्वक द्वन्द्वसमास हुआ है।

द्वितीय न्यायसम्बन्धी वार्तिक है- "**भ्रातुर्ज्यायसः**"[8]। इसका अर्थ है कि दो भ्राताओं के द्वन्द्वसमास में ज्येष्ठ भ्राता का पूर्वनिपात होता है, जैसे- '**युधिष्ठिरार्जुनौ**'। यहां '**युधिष्ठिरश्च अर्जुनश्च**' इस विग्रह में द्वन्द्वसमास होकर प्रकृत वार्तिक से ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर का पूर्वनिपात हो जाता है तो उक्त प्रयोग बन जाता है। ध्यातव्य है कि भाष्य में तो जहां एक तरफ उक्त दोनों आनुपूर्वीसम्बन्ध वाले न्याय प्रयोग "**अभ्यर्हितं च**" इस प्रथम पठित वार्तिक से ही सिद्ध किए गए हैं वहां दूसरी तरफ अभ्यर्हित न्याय के अनियम की ओर भी संकेत किया गया है। क्योंकि अर्जुन भी इन्द्रपुत्र होने से विष्णु का अंश होने के कारण अथवा शूरवीर होने से अभ्यर्हित हो सकता है। फलतः इसका भी पूर्वनिपात हो सकता है। जो भी हो, लोक में भी उक्त आनुपूर्वीपरक न्यायों का प्रयोग मिलता है। अतः इस दृष्टि से यह भी लोकन्यायों में समाविष्ट कर लिया गया है।

3. एकयोगनिर्दिष्ट न्याय

4. क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते न्याय

"**एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः। परस्परान्वितार्थकपदानां सहैवानुवृत्तिनिवृती इत्यर्थः। एककार्यनियुक्तानां लोके तथैव दर्शनादिति भावः**"।[9]

लोकव्यवहारसिद्ध इस न्याय को नागेश ने परिभाषेन्दुशेखर में उपन्यस्त किया है। यह न्याय व्याकरणशास्त्र की एक प्रसिद्ध परिभाषा है। इसका अर्थ है कि **एकत्र परस्पर सम्बन्धपूर्वक निर्दिष्ट पदों की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों साथ-साथ ही होती हैं** अर्थात् परस्पर अन्वितार्थ पदों की अनुवृत्ति और निवृत्ति दोनों साथ-साथ ही होती हैं। शास्त्र के समान लोक में भी एक कार्य में नियुक्त बहुत से लोगों की प्रवृत्ति और निवृत्ति एक साथ ही देखी जाती है, जैसे एक विद्यालय में नियुक्त बहुत से अध्यापक एक साथ दस बजे प्रातः अपने अध्यापन कार्य में प्रवृत्त होते हैं और चार बजे सायं एक साथ ही अपने अध्यापन कार्य से निवृत्त होते हैं।

इस प्ररिभाषा का प्रयोजन यह है कि यदि यह कहा जाए कि "**उश्च**"[10] सूत्र में "**लिङ्सिचावात्मनेपदेषु**"[11] इस पूर्वसूत्र से अनन्तर पूर्ववर्ती केवल '**आत्मनेपदेषु**'

ग्रहण की ही अनुवृत्ति आनी चाहिए, व्यवहित '**लिङ्सिचौ**' ग्रहण की नहीं अर्थात् "**लिङ्सिचौ**" ग्रहण तो निवृत्त हो जाना चाहिए जबकि **लक्ष्यानुरोधात्** इष्ट है कि दोनों ग्रहण अनुवृत्त हों तो यह ठीक नहीं। क्योंकि प्रकृत परिभाषा के बल से **एक सूत्र में सहनिर्दिष्ट या सहपठित पदों की अनुवृत्ति और निवृत्ति दोनों साथ-साथ ही होंगी।** फलतः या तो '**लिङ्सिचौ**' ग्रहण और '**आत्मनेपदेषु**' ग्रहण दोनों ही अनुवृत्त होंगे और या फिर दोनों ही निवृत्त रहेंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि **अर्धजरतीय** न्याय से एकसूत्रनिर्दिष्ट '**आत्मनेपदेषु**' यह ग्रहण तो अनुवृत्त हो जाए और '**लिङ्सिचौ**' यह दूसरा ग्रहण निवृत्त हो जाए। यही इस परिभाषा का फलितार्थ है। ऐसी स्थिति में "**उश्च**" सूत्र में पूर्वोक्त दोनों पद अनुवृत्त होकर इष्ट सिद्ध हो जाता है।

वैसे प्रकृत परिभाषा की अपवाद "**क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते**" एक यह अग्रिम परिभाषा है जो **लक्ष्यानुरोध** से एकयोगनिर्दिष्ट पदों में से केवल एक पद की अनुवृत्ति का भी विधान करती है, जैसे- "**अलुगुत्तरपदे**"[12] इस एकयोगरूप अधिकारसूत्रस्थ दोनों पदों की अनुवृत्ति उत्तर सूत्रों में जाती है। परन्तु वास्तविकता यह है कि '**अलुक्**' ग्रहण तो "**आनङ् ऋतो द्वन्द्वे**"[13] तक अनुवृत्त अभीष्ट है और '**उत्तरपदे**' ग्रहण अङ्गाधिकार तक। किन्तु एकयोगनिर्दिष्ट पदों में अभीष्ट पदों का अनुवर्तन तथा अनिष्ट पदों का त्याग कैसे करें ? ऐसी स्थिति में जैसे लोक में सामान्यतया किसी सारे परिवार को ही निमन्त्रण मिलने पर भी उनमें से एकाध सदस्य ही **सपीति** या **समाश** अथवा **सहभोज** समारोह में भाग लेता है, सारे सदस्य नहीं। अथवा जैसे उपाध्याय के बहुत सारे समानजातीय छात्रों में से केवल उपाध्याय द्वारा अधिकृत छात्र ही उसके अभाव में भी याज्यकुलों में जाकर अग्रासनादि प्राप्त करता है, सारे छात्र नहीं, वैसे ही यहां शास्त्र में भी एक सूत्र में जिनका समस्त निर्देश है, उन पदों के एकदेश की भी अनुवृत्ति हो जाया करती है। वस्तुतः आंशिक **स्वरितत्व प्रतिज्ञा** ही इस परिभाषा का मूल है। फलतः "**उश्च**" इस उक्त सूत्र में भी प्रकृत परिभाषा के बल पर ही **लक्ष्यदर्शनवशात्** दोनों पदों की अभीष्ट अनुवृत्ति और निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। इस परिभाषा के आधार पर ही '**द्विदाम्नी**' इत्यादि की सिद्धि के लिए "**दामहायनान्ताच्च**"[14] सूत्र में "**संख्याव्ययादेर्ङीप्**"[15] इस एकयोगरूप पूर्वसूत्र से '**संख्यादि**' ग्रहण की तो अनुवृत्ति हो जाती है तथा '**अव्ययादि**' ग्रहण की निवृत्ति हो जाती है, तद्यथा-

"**नन्वलुगधिकारः प्रागानङ उत्तरपदाधिकारः प्रागङ्गाधिकारादित्यनुपपन्नमेकयोगनिर्दिष्टत्वात्। तथा दामहायनान्ताच्चेत्यादौ संख्याव्ययादेरित्यतः संख्यादेरित्यनुवर्ततेऽव्ययादेरिति निवृत्तमिति चानुपन्नमत आह - एकयोगनिर्दिष्टानां क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते**"।[16]

"**औतोऽम्शसोः**"[17] तथा "**पक्षात्तिः**"[18] सूत्रभाष्यों में ये दोनों परिभाषाएं स्पष्ट वर्णित हैं।

यहां अब यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि शास्त्र में दो पक्ष हैं - अर्थाधिकार और शब्दाधिकार। अतः इनमें अर्थाधिकार पक्ष में तो समासघटित पदों में से उत्तर सूत्र में एक या अनेक समस्त पदों की अनुवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि समास में अर्थ का ऐक्य होने से उसका एकदेश अनुवृत्त नहीं होता। शब्दाधिकार पक्ष में भी स्वरितेत् शब्द ही सूत्रान्तर में अनुवृत्त होगा, स्वयं उसी सूत्र में नहीं। क्योंकि समास में अनुवर्तमान शब्द भी एक ही होता है। हां, समासरहित सूत्रों से उक्त दोनों ही पक्षों में स्वरितेत् पद अनुवृत्त हो सकता है।

क. (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित शिक्षासम्बन्धी लोकन्याय

1. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिरपि शब्द उच्यते न्याय[19]
2. मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते (मङ्गलाचरण) न्याय[20]
3. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः न्याय/त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः न्याय[21]
4. शिष्टानुकरण न्याय/अशिष्टाप्रतिषिद्ध न्याय[22]
5. अर्थयोगायोगस्वभाव न्याय/वस्नक्रीतगो न्याय[23]
6. सम्बन्धानुवृत्ति न्याय[24]
7. यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम् न्याय/देवदत्तदेवदत्तापुत्र न्याय[25]
8. गुरुवद्गुरुपुत्र न्याय[26]
9. उपाध्यायशिष्य न्याय[27]
10. गुरुपुत्रगुरु न्याय[28]
11. सोमपूतीकतृण न्याय/प्रतिनिधि न्याय[29]
12. अनवस्थित (उच्चनीचशब्दपदार्थक) न्याय[30]
13. बौद्धापाय (उपाध्यायान्तर्धान) न्याय[31]
14. यत्सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते तदपि लक्षणं भवति न्याय/कमण्डलुपाणि छात्र न्याय[32]
15. अश्वघास न्याय[33]
16. दूरात् कुपिताद् गुरोः न्याय[34]
17. विशिष्टशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[35]
18. उपाध्यायशिष्यमातुलभागिनेयाभिवादन न्याय/अभिधानप्रकार न्याय[36]
19. नासूया कर्तव्या यत्रानुगम आचार्येण क्रियते न्याय[37]
20. गुणशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[38]
21. आर्यावर्तशिष्ट न्याय[39]

22. सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः न्याय[40]
23. दण्डि न्याय[41]
24. चङ्क्रम्यमाणोऽधीष्व न्याय/अभिधानप्रकार न्याय[42]
25. छात्रोत्तरभोजन न्याय[43]
26. तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभः न्याय[44]
27. तादधर्म्यात् ताच्छब्द्य (सिंहो माणवकः) न्याय[45]
28. देवदत्तादिसहाध्ययननिषेध न्याय[46]
29. वर्णलिपिज्ञान न्याय[47]

ख(1) स्वास्थ्य और शरीरविज्ञानसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. एलादिसंस्कृतपानीय न्याय

"ननु च विधीयमानतया प्राधान्यात् प्रतिषेधस्यैवैतद् विशेषणं युक्तम्, नैतदस्ति; यत्र हि गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानोपकाराय महते प्रभवति तत्रात्मनोऽपि संस्कारमनुभूय प्रधानेन सम्बध्यते, यथा- पानीयमेलादिसंस्कृतं पुरुषेण।"[48]

यहां पर पदमञ्जरीकार ने "क्ङिति च" सूत्र में 'क्ङिति' ग्रहण को गुणवृद्धि का विशेषण सिद्ध करते हुए यह शङ्का की है कि यतः गुणवृद्धि का निषेध करना विधेय है, इसलिए वही प्रधान है। अतः उस निषेध्य का ही विशेषण 'क्ङिति' ग्रहण को होना चाहिए तो उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यह बात नहीं है। जहां गुणविधि अपना संस्कार करके प्रधानविधि के बहुत बड़े उपकार के लिए समर्थ होती है, वहां वह स्वयं अपना भी संस्कार करके प्रधान से सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, जैसे एला अर्थात् इलायची तथा कपूर आदि से शीतल और सुगन्धित किया हुआ पानी अधिक अच्छा होकर स्वयं का संस्कार करके फिर प्रधानभूत पुरुष को दिया जाता है, उसी प्रकार जो गुणविधि हैं, वे अपना संस्कार करके फिर प्रधान विधि के साथ सम्बद्ध होती हैं। उससे उनका भी महत्व है और प्रधान का तो है ही। इसी विषय में पदमञ्जरीकार

"गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते॥"[49]

मीमांसा के इस अतिप्रसिद्ध श्लोक को भी उपस्थित करते हैं। यह श्लोक काव्य-प्रकाश आदि अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में भी बहुत प्रसिद्ध है।[50] इस "क्ङिति च"[51] सूत्र में 'क्ङिद्ग्रहण' पहले गुणवृद्धि का विशेषण है अर्थात् कित् ङित् को निमित्त मानकर प्राप्त होने वाले गुणवृद्धि का निषेध होता है। इस अर्थ में गुणवृद्धि का निषेध महत्वयुक्त हो जाता है जो कि कित् ङित् को निमित्त मानकर प्राप्त होता है। एला आदि से संस्कृत पानी का यह न्याय अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अतः इसे पदमञ्जरीकार का अपना कल्पनाकौशल मानना होगा।

यहां अब यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि शास्त्र में दो पक्ष हैं - अर्थाधिकार और शब्दाधिकार। अतः इनमें अर्थाधिकार पक्ष में तो समासघटित पदों में से उत्तर सूत्र में एक या अनेक समस्त पदों की अनुवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि समास में अर्थ का ऐक्य होने से उसका एकदेश अनुवृत्त नहीं होता। शब्दाधिकार पक्ष में भी स्वरितेत् शब्द ही सूत्रान्तर में अनुवृत्त होगा, स्वयं उसी सूत्र में नहीं। क्योंकि समास में अनुवर्तमान शब्द भी एक ही होता है। हां, समासरहित सूत्रों से उक्त दोनों ही पक्षों में स्वरितेत् पद अनुवृत्त हो सकता है।

क. (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित शिक्षासम्बन्धी लोकन्याय

1. प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिरपि शब्द उच्यते न्याय[19]
2. मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते (मङ्गलाचरण) न्याय[20]
3. चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः न्याय/त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः न्याय[21]
4. शिष्टानुकरण न्याय/अशिष्टाप्रतिषिद्ध न्याय[22]
5. अर्थयोगायोगस्वभाव न्याय/वस्त्रक्रीतगो न्याय[23]
6. सम्बन्धानुवृत्ति न्याय[24]
7. यो द्वयोः षष्ठीनिर्दिष्टयोः स्थाने भवति लभतेऽसावन्यतरतो व्यपदेशम् न्याय/देवदत्तदेवदत्तापुत्र न्याय[25]
8. गुरुवद्गुरुपुत्र न्याय[26]
9. उपाध्यायशिष्य न्याय[27]
10. गुरुपुत्रगुरु न्याय[28]
11. सोमपूतीकतृण न्याय/प्रतिनिधि न्याय[29]
12. अनवस्थित (उच्चनीचशब्दपदार्थक) न्याय[30]
13. बौद्धापाय (उपाध्यायान्तर्धान) न्याय[31]
14. यत्सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते तदपि लक्षणं भवति न्याय/कमण्डलुपाणि छात्र न्याय[32]
15. अश्वघास न्याय[33]
16. दूरात् कुपिताद् गुरोः न्याय[34]
17. विशिष्टशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[35]
18. उपाध्यायशिष्यमातुलभागिनेयाभिवादन न्याय/अभिधानप्रकार न्याय[36]
19. नासूया कर्तव्या यत्रानुगम आचार्येण क्रियते न्याय[37]
20. गुणशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[38]
21. आर्यावर्तशिष्ट न्याय[39]

22. सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः न्याय[40]
23. दण्डि न्याय[41]
24. चङ्क्रम्यमाणोऽधीष्व न्याय/अभिधानप्रकार न्याय[42]
25. छात्रोत्तरभोजन न्याय[43]
26. तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभः न्याय[44]
27. ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्य (सिंहो माणवकः) न्याय[45]
28. देवदत्तादिसहाध्ययननिषेध न्याय[46]
29. वर्णलिपिज्ञान न्याय[47]

ख(1) स्वास्थ्य और शरीरविज्ञानसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. एलादिसंस्कृतपानीय न्याय

"ननु च विधीयमानतया प्राधान्यात् प्रतिषेधस्यैवैतद् विशेषणं युक्तम्, नैतदस्ति; यत्र हि गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानोपकाराय महते प्रभवति तत्रात्मनोऽपि संस्कारमनुभूय प्रधानेन सम्बध्यते, यथा- पानीयमेलादिसंस्कृतं पुरुषेण।"[48]

यहां पर पदमञ्जरीकार ने "क्ङिति च" सूत्र में 'क्ङिति' ग्रहण को गुणवृद्धि का विशेषण सिद्ध करते हुए यह शङ्का की है कि यतः गुणवृद्धि का निषेध करना विधेय है, इसलिए वही प्रधान है। अतः उस निषेध्य का ही विशेषण 'क्ङिति' ग्रहण को होना चाहिए तो उसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि यह बात नहीं है। जहां गुणविधि अपना संस्कार करके प्रधानविधि के बहुत बड़े उपकार के लिए समर्थ होती है, वहां वह स्वयं अपना भी संस्कार करके प्रधान से सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, जैसे एला अर्थात् इलायची तथा कपूर आदि से शीतल और सुगन्धित किया हुआ पानी अधिक अच्छा होकर स्वयं का संस्कार करके फिर प्रधानभूत पुरुष को दिया जाता है, उसी प्रकार जो गुणविधि हैं, वे अपना संस्कार करके फिर प्रधान विधि के साथ सम्बद्ध होती हैं। उससे उनका भी महत्व है और प्रधान का तो है ही। इसी विषय में पदमञ्जरीकार

"गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते॥"[49]

मीमांसा के इस अतिप्रसिद्ध श्लोक को भी उपस्थित करते हैं। यह श्लोक काव्य-प्रकाश आदि अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में भी बहुत प्रसिद्ध है।[50] इस "क्ङिति च"[51] सूत्र में 'क्ङिद्ग्रहण' पहले गुणवृद्धि का विशेषण है अर्थात् कित् ङित् को निमित्त मानकर प्राप्त होने वाले गुणवृद्धि का निषेध होता है। इस अर्थ में गुणवृद्धि का निषेध महत्त्वयुक्त हो जाता है जो कि कित् ङित् को निमित्त मानकर प्राप्त होता है। एला आदि से संस्कृत पानी का यह न्याय अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अतः इसे पदमञ्जरीकार का अपना कल्पनाकौशल मानना होगा।

ख (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित स्वास्थ्य और शरीरविज्ञान सम्बन्धी लोकन्याय

1. आयुर्घृतम् न्याय/दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः न्याय/नड्वलोदकं पादरोगः न्याय[52]
2. निषेधाश्च बलीयांसो भवन्ति न्याय[53]
3. उपयुक्तं घृतम् न्याय[54]
4. कल्कशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[55]
5. अधिकं प्रविष्ट न तु तद्धानिः न्याय[56]
6. लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् (लक्षणप्रतिपदोक्त) न्याय[57]
7. आगमशास्त्रमनित्यम् न्याय[58]
8. उत्सर्गापवाद न्याय/सामान्यविशेष न्याय[59]

ग (1) काल और ज्योतिर्विज्ञानसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1 *लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वल्लिङ्गस्य[60] न्याय*

"चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः" सूत्र के भाष्य में वार्तिककार ने यह वचन पढ़ा है- "अर्थेन नित्यसमासवचनम्, सर्वलिङ्गता च वक्तव्या"।[61] इसका तात्पर्य यह है कि 'अर्थ' शब्द के साथ चतुर्थी समास नित्य कहना चाहिए और उसमें सब लिङ्गों का प्रयोग होता है - यह भी कहना चाहिए। जैसे- **'ब्राह्मणाय इदम् इति ब्राह्मणार्थं पयः'**। **'ब्राह्मणार्थम् अयम् इति ब्राह्मणार्थः सूपः'**। **'ब्राह्मणाय इयम् इति ब्राह्मणार्था यवागूः'**। यहां **'अर्थ'** शब्द का नित्य समास होकर तीनों लिङ्गों में प्रयोग स्पष्ट है। अब इस वचन का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि **'अर्थ'** शब्द के विषय में सर्वलिङ्गता कहने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि लिङ्ग तो लोक के आश्रित है। जिस शब्द का जो लिङ्ग लोक में प्रयुक्त होता है, शास्त्र में भी उसका वही लिङ्ग मानना उचित है। 'अर्थ' शब्द के प्रयोग में 'ब्राह्मणार्थम्' 'ब्राह्मणार्थः', 'ब्राह्मणार्था' ये तीनों ही लिङ्ग लोकव्यवहार में उपयुक्त होते हैं। इसलिए तीनों लिङ्ग शास्त्र में भी स्वतः प्रयुक्त हो जाएंगे। उसके लिए किसी वचनविशेष की आवश्यकता नहीं।[62]

इसी प्रकार "विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जन" सूत्र के भाष्य[63] में भी भाष्यकार ने प्रकृत न्याय को "स नपुंसकम्"[64] सूत्र के प्रत्याख्यानार्थ उपन्यस्त किया है। इस न्याय की अत्यन्त उपयोगिता है। क्योंकि लोकाधीन ही जब शास्त्र का अन्य व्यवहार है तो लिङ्ग के विषय में ही फिर लोक को कैसे छोड़ा जा सकता है ? आगे आने वाले "कुत्वा डुपच्", "कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः"[65] इत्यादि सूत्रों के उदाहरणों में भी यह न्याय प्रचुरता से दृष्टिगोचर होगा। तदनुसार **'कुतूः'** यह स्त्रीलिङ्ग है और **'कुतुपम्'** नपुंसक है। इसी तरह **'कुटी'**, **'शमी'**, **'शुण्डा'** ये स्त्रीलिङ्ग हैं और **'कुटीरम्'**, **'शमीरम्'**, **'शुण्डारम्'** ये नपुंसक हैं। यद्यपि काशिकाकार तो **'कुटीरः'**, **'शमीरः'**, **'शुण्डारः'** को

पुंलिङ्ग मानते हैं।[66] लिङ्गसम्बन्धी यह न्याय भाष्यकार आदि ने अनेक स्थानों पर उपयुक्त किया है।[67]

प्रस्तुत न्याय के आधार पर लिङ्ग के विषय में एक स्थान पर भाष्यवार्तिककार विभिन्न लौकिक उदाहरण देकर स्वतन्त्र रूप से लिखते हैं जोकि पर्याप्त मनोरञ्जक एवं ज्ञानवर्धक होने के कारण अवश्य द्रष्टव्य है, तद्यथा-

2. *भ्रुकुंसवध्रिका न्याय*
3. *मृगतृष्णा न्याय*
4. *गन्धर्वनगर न्याय*
5. *आदित्यगति न्याय*
6. *वस्त्रान्तर्हितद्रव्य न्याय*
7. *ज्योतिर्निर्मितं ह्याकाशम् न्याय*

"स्त्रियामित्युच्यते। का स्त्री नाम ? लोकत एते शब्दाः प्रसिद्धा- स्त्री, पुमान् नपुंसकमिति। यल्लोके दृष्ट्वैतदवसीयते - इयं स्त्री, अयं पुमान्, इदं नपुंसकमिति। सा स्त्री, स पुमान्, तन्नपुंसकमिति। किम्पुनर्लोके दृष्ट्वैतदवसीयते - इयं स्त्री, अयं पुमान्, इदं नपुंसकमिति ? लिङ्गम्। किम्पुनस्तत् ?

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्चं तदभावे नपुंसकम्॥ इति॥

यदि लोके दृष्ट्वैतदवसीयते- इयं स्त्रीति, अस्ति तद् भ्रूकुंसे। यद्धि लोके दृष्ट्वैतदवसीयते - अयं पुमानिति, अस्ति तद् वध्रिकादिषु। खट्वावृक्षौ न सिध्यतः। खट्वावृक्षयोश्च लिङ्गं न सिध्यति। यद्धि लोके दृष्ट्वैतदवसीयते - इयं स्त्री, अयं पुमानिति, न तत् खट्वावृक्षयोरस्ति। किं तर्हि तयोर्लिङ्गं न्याय्यम् ? नपुंसकं खट्वावृक्षयोर्लिङ्गं न्याय्यम्। स्त्रीपुंस्लिङ्गाभावे नपुंसकलिङ्गं न्याय्यम्।

असत्तु मृगतृष्णावत्। असत्तु खट्वावृक्षयोर्लिङ्गं द्रष्टव्यम्। कथं पुनरसन् नाम लिङ्गं शक्यं द्रष्टुम् ? मृगतृष्णावत्। तद् यथा- मृगास्तृषिता अपां धाराः पश्यन्ति। न च ताः सन्ति। गन्धर्वनगरं यथा। यथा गन्धर्वनगराणि दूरतो दृश्यन्ते उपसृत्य च नोपलभ्यन्ते। तद्वत् खट्वावृक्षयोरसद् लिङ्गं द्रष्टव्यम्।

आदित्यगतिवत् सन्न। अथवा यथा आदित्यस्य गतिः सती नोपलभ्यते तद्वत् खट्वावृक्षयोः सल्लिङ्गं नोपलभ्यते। वस्त्रान्तर्हितवच्च तत्। यथा वस्त्रान्तर्हितानि द्रव्याणि नोपलभ्यन्ते तद्वत् खट्वावृक्षयोः सल्लिङ्गं नोलभ्यते। विषम उपन्यासः। वस्त्रान्तर्हितानि द्रव्याणि वस्त्रापाये उपलभ्यन्ते। खट्वावृक्षयोः पुनः येऽप्येते रथकारा वाशीवृक्षादनहस्ता मूलात् प्रभृत्याग्रात् वृक्षांस्तक्ष्णुवन्ति तेऽपि तयोर्लिङ्गं नोपलभन्ते। केनैतदवसीयते - खट्वावृक्षयोः सल्लिङ्गं नोपलभ्यते इति। षड्भिः प्रकारैः सतां

भावानामनुपलब्धिर्भवति। अतिसन्निकर्षात्, अतिविप्रकर्षात्, मूर्त्यन्तरव्यवधानात्, तमसावृतत्वात्, इन्द्रियदौर्बल्यात्, अतिप्रमादादिति। अतोऽत्र कश्चिद् हेतुर्दृष्ट्वो येन खट्वावृक्षयोः सल्लिङ्गं नोपलभ्यते। केनैतदवसीयते - खट्वावृक्षयोः सल्लिङ्गं नोपलभ्यते इति। तयोस्तु तत्कृतं दृष्ट्वा यथाकाशेन ज्योतिषः। स्त्रीकृतं शब्दं दृष्ट्वा स्त्रीत्यवसीयते। पुंस्कृतं शब्दं दृष्ट्वा पुमानिति। तद्यथा- आकाशं दृष्ट्वा ज्योतिरत्रेति गम्यते। ज्योतिर्निमितं ह्याकाशम्।

अन्योन्यसंश्रयं त्वेतत् प्रत्यक्षेण विरुध्यते। अन्योन्यसंश्रयं त्वेतद् भवति स्त्रीकृतः शब्दः, शब्दकृतं च स्त्रीत्वम्। तदितरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। प्रत्यक्षेण खल्वपि स विरुध्यते य आह खट्वावृक्षयोः सल्लिङ्गं नोपलभ्यते इति। तत्र स्वेन्द्रियविरोधः कृतो भवति। न च नाम स्वेन्द्रियविरोधिना भवितव्यम्। तटे च सर्वलिङ्गानि दृष्ट्वा कोऽध्यवसास्यति। तटे च खल्वपि सर्वाणि लिङ्गानि दृष्ट्वा तटः तटी, तटम् इति कस्तदध्यवसातुर्महति - इयं स्त्री, अयं पुमान्, इदं नपुंसकमिति।

तस्मान्न वैयाकरणैः शक्यं लौकिकं लिङ्गमास्थातुम्। अवश्यं च कश्चित् स्वकृतान्त आस्थेयः। कोऽसौ स्वकृतान्तः ? संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः। किमिदं संस्त्यानप्रसवौ इति ? संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्ट् स्त्री सूतेः सप् प्रसवे पुमान्। ननु च लोकेऽपि स्त्यायतेरेव स्त्री सूतेश्च पुमान्। अधिकरणसाधना लोके स्त्री - स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति। कर्तृसाधनश्च पुमान् - सूते पुमान् इति। इह पुनरुभयं भावसाधनम् - संस्त्यानं स्त्री प्रसवश्च पुमान्। कस्य पुनः स्त्यानं स्त्री प्रवृत्तिश्च पुमान् ? गुणानाम्। केषाम् ? शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानाम्। सर्वाश्च पुनर्मूर्तय एवमात्मिकाः संस्त्यानप्रसवगुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्यः। यत्राल्पीयांसो गुणास्तत्रावरतस्त्रयः शब्दः स्पर्शो रूपमिति। रसगन्धौ न सर्वत्र।

प्रवृत्तिः खल्वपि नित्या। न हीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहुर्तमप्यवतिष्ठते, वर्धते वा यावदनेन वर्धितव्यम्, अपायेन वा युज्यते। तच्चोभयं सर्वत्र। यद्युभयं सर्वत्र कुतो व्यवस्था ? विवक्षातः। संस्त्यानविवक्षायां स्त्री, प्रसवविवक्षायां पुमान्। उभयोरविवक्षायां नपुंसकम्। तस्य च वचने लोकतो नामैतद् भवति - स्त्री पुमान् नपुंसकमिति। पठिष्यति ह्याचार्यः - लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति। एकार्थे शब्दान्यत्वात् दृष्टं लिङ्गान्यत्वम्। अवयवान्यत्वाच्चेति'' [68]

यहां ''स्त्रियाम्'' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार लिङ्ग का परिज्ञान करने के लिए पर्याप्त लम्बा विचार करते हैं। तदनुसार स्त्री, पुमान् और नपुंसक इन लिङ्गों का ज्ञान कैसे हो - इसके लिए लोकव्यवहार को प्रमाण मानते हुए वे कहते हैं कि लोक में ये शब्द प्रसिद्ध हैं - **स्त्री, पुमान्** और **नपुंसक**। लोक में जिसको स्त्री, पुमान् या नपुंसक देखते हैं, उसको स्त्री, पुमान् और नपुंसक मान लेते हैं। पूछते हैं कि लोक में किस चीज को देखकर स्त्री, पुमान् या नपुंसक को जानते हैं ? उत्तर है कि लिङ्ग को अर्थात्

जिसमें स्त्री का लिङ्ग दिखता है, उसे स्त्री समझ लेते हैं, जिसमें पुरुष का लिङ्ग दीखता है, उसे पुरुष और जिसमें नपुंसक का लिङ्ग दिखाई देता है, उसे नपुंसक समझ लेते हैं। पुनः पूछते हैं कि वह लिङ्ग क्या है ? उत्तर है कि स्त्री का लिङ्ग तो स्तन और केश हैं। उभरे हुए स्तन और लम्बे सिर के बालों को देखकर कोई भी मानवयोनि स्त्री समझ ली जाती है। बालिका में भी **भाविसंज्ञाविज्ञान न्याय** द्वारा निरुक्तोक्त **बिल्वाद और लम्बचूड़क** के समान आगे भावी युवावस्था में स्तन-केश की सम्भावना निश्चित होने से उसे स्त्री समझ लेते हैं। उपस्थादि गुप्ताङ्गों के भेद से भी स्त्रीलिङ्ग का ज्ञान लोक में होता है। शरीर में दाढ़ी, मूंछ आदि के बालों को देखकर उसे पुरुष समझ लेते हैं अर्थात् पुरुष का लिङ्ग दाढ़ी और मूंछ का होना है। उपस्थेन्द्रिय के भेद से भी पुंलिङ्ग का ज्ञान कर लिया जाता है। इन दोनों स्त्री और पुरुषों के लिङ्ग का जिसमें मिश्रण है, उसे नपुंसक समझ लेते हैं। ये लौकिक लिङ्ग स्त्री, पुरुष और नपुंसक की पहचान कराते हैं।

इस पर आक्षेप करते हैं कि लोक में स्तन और केशों को देखकर यदि शास्त्र में भी स्त्रीलिङ्ग का ज्ञान होता है तो **भ्रूकुंस जो स्त्रीवेषधारी नट पुरुष है**, फिर तो वहां भी स्त्रीलिङ्ग का ज्ञान होना चाहिए जबकि वस्तुतः वह पुरुष है। ऊपर से उसने स्त्री का वेष धारण किया हुआ है। और इसके विपरीत जो स्त्री केश कटवा ले वह केशवाली न होने से व्याकरणशास्त्र में स्त्री नहीं मानी जानी चाहिए। इसी प्रकार लोमवाला होना जो पुरुष का लिङ्ग है, वह भी **चञ्चा और वध्रिका** आदि में अतिव्याप्त है। खेत में मृगादि को डराने के लिए जो डरावा = पुरुषाकार घास-फूस का पुतला = खड़ा कर देते हैं, उसे चञ्चा या वध्रिका कहते हैं।[69] चञ्चा स्त्रीलिङ्ग होती हुई भी पुरुषाकृति होने के कारण पुंलिङ्ग कही जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त खट्वा और वृक्ष इन शब्दों में तो लौकिक स्त्री-पुरुष का उक्त लिङ्ग सर्वथा घटता ही नहीं। फिर ये शब्द क्रमशः स्त्रीलिङ्ग एवं पुंलिङ्ग कैसे सिद्ध होंगे ? क्योंकि लोक में जो स्तन-केशादि स्त्री-पुरुषादि के लिङ्ग माने गए हैं, वे खट्वा और वृक्ष में सर्वथा नहीं हैं। पूछते हैं कि फिर खट्वा और वृक्ष का क्या लिङ्ग होना चाहिए ? उत्तर है कि स्त्री-पुरुष लिङ्ग के अभाव में खट्वा और वृक्ष का नपुंसकलिङ्ग होना चाहिए। वस्तुतः खट्वा और वृक्ष में लौकिक लिङ्ग असत् होने से उसका अभाव ही मानना चाहिए। क्योंकि खट्वा और वृक्ष में लिङ्ग की असत्ता ही दीखती है।

पुनः पूछते है कि असत् एवं अविद्यमान लिङ्ग कैसे देखा जा सकता है ? उत्तर है कि **मृगतृष्णा** की तरह अर्थात् जैसे प्यासे मृग दूर से आतपतप्त रेत के कणों को जलधारा समझकर उन्हें पीने के लिए दौड़ते हैं किन्तु वहां जल है नहीं। अविद्यमान ही जल उन्हें दिखाई देता है[70] वैसे ही खट्वा और वृक्ष में भी अविद्यमान लिङ्ग दिखाई देता है।

अथवा गन्धर्वनगर की तरह खट्वा और वृक्ष का असत् लिङ्ग दीखता है, जैसे अन्तरिक्ष में गन्धर्वों का नगर अविद्यमान होता हुआ भी दूर से दिखाई देता है पर पास जाकर देखने पर वह उपलब्ध नहीं होता। मृगतृष्णा तथा गन्धर्वनगर के सन्दर्भ में भर्तृहरि की निम्न कारिकाएं भी दर्शनीय हैं–

"दर्शनं सलिले तुल्यं मृगतृष्णादिदर्शनैः।
तुल्यत्वे दर्शनादीनां न जलं मृगतृष्णिका॥
वपुःप्राकारकल्पैश्च स्पर्शनावरणे यथा।
नगरेषु न ते तद्वद् गन्धर्वनगरेष्वपि॥
यथा सलिलनिर्भासो मृगतृष्णासु जायते।
जलोपलब्ध्यनुगुणात् बीजाद् बुद्धिर्जलेऽसति॥
तथैवाव्यपदेश्येभ्यो हेतुभ्यस्तारकादिषु।
मुख्येभ्य एव लिङ्गेभ्यो भेदा लोके व्यवस्थिताः॥"[71]

अथवा आदित्य या सूर्य की गति के समान खट्वा और वृक्ष में भी विद्यमान लिङ्ग दिखाई नहीं देता, जैसे सूर्य की गति विद्यमान होती हुई भी प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती[72] ऐसे ही खट्वा और वृक्ष में विद्यमान होता हुआ भी लिङ्ग सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देता।

अथवा वस्त्र से अन्तर्हित द्रव्य के समान खट्वा और वृक्ष में भी विद्यमान लिङ्ग नहीं दीखता, जैसे वस्त्र से ढकी हुई वस्तु विद्यमान होती हुई भी दिखाई नहीं देती वैसे ही खट्वा और वृक्ष का लिङ्ग विद्यमान होता हुआ भी दिखाई नहीं देता। इस पर कहते हैं कि वस्त्रान्तर्हित वस्तु का दृष्टान्त तो यहां ठीक नहीं बैठता। क्योंकि वस्त्रान्तर्हित वस्तुएं तो वस्त्र के हटा देने पर उपलब्ध हो जाती हैं किन्तु खट्वा और वृक्ष का लिङ्ग तो किसी भी अवस्था में उपलब्ध नहीं होता। ये जो बढ़ई आदि शिल्पी लोग वसूला और कुल्हाड़ा हाथ में लेकर वृक्ष की जड़ से लेकर अग्रभाग तक उसे काटते हैं, छीलते हैं, वे भी कभी वृक्ष के लिङ्ग को उपलब्ध नहीं करते।

आगे पूछते हैं कि फिर यह कैसे माना जाए कि खट्वा और वृक्ष में विद्यमान होता हुआ भी लिङ्ग उपलब्ध नहीं होता। उत्तर देते हैं कि विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि एवं अदर्शन छः प्रकार से होती है, जैसे- अधिक निकट होने से, अधिक दूर होने से, दूसरी मूर्ति के व्यवधान से, अन्धेरा होने से, इन्द्रियों की कमजोरी से और अधिक प्रमाद या असावधानता से।[73] इसलिए यहां उक्त प्रकारों में से कोई प्रकार देखना होगा जिससे खट्वा और वृक्ष का लिङ्ग होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता। अन्यथा इनके अभाव में यह कैसे माना जाए कि खट्वा और वृक्ष का लिङ्ग होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता।

यदि यह कहा जाए कि स्त्रीवाचक 'टाप्' आदि प्रत्ययों को देखकर स्त्रीलिङ्ग का और पुरुषवाचक 'घञ्', 'अच्' आदि प्रत्ययों को देखकर पुंलिङ्ग का ज्ञान होता है, जैसे आकाश को देखकर उसमें विद्यमान सूर्य और चन्द्र आदि ज्योतियों का ज्ञान होता है। क्योंकि ज्योतियों का निमित्त आकाश है तो यह बात भी ठीक नहीं बनती। क्योंकि ऐसा मानने पर तो अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होता है। स्त्रीवाचक शब्द को देखकर स्त्रीलिङ्ग का ज्ञान होगा और स्त्रीलिङ्ग का ज्ञान होने पर स्त्रीवाचक प्रत्यय होगा - यह अन्योन्याश्रय हो जाता है। और एक दूसरे के आश्रय से होने वाले काम हुआ नहीं करते। साथ में यह बात प्रत्यक्ष से विरुद्ध भी है। क्योंकि जब खट्वा और वृक्ष में प्रत्यक्ष रूप से लिङ्ग का अभाव देख रहे हैं तो उसमें लिङ्ग की सत्ता को मानना स्पष्ट प्रत्यक्ष विरोध है। और इसके विपरीत अनियतलिङ्ग तट शब्द में तटः, तटी, तटम् इस प्रकार सब लिङ्गों को देखकर कौन निश्चित रूप से यह कहेगा कि यह स्त्रीलिङ्ग है, यह पुंलिङ्ग है और यह नपुंसकलिङ्ग है।

भाष्यकार कहते हैं कि इसलिए वैयाकरणों को लौकिक स्तन-केशादि रूप स्त्री-पुरुषादि के लक्षणों को लिङ्ग का आधार नहीं मानना चाहिए अपितु अवश्य कोई अपना ही स्वशास्त्रीय सिद्धान्त निश्चित करना चाहिए। पूछते हैं कि वह सिद्धान्त कौन सा है? उत्तर देते हैं कि वह सिद्धान्त संस्त्यान और प्रसव का है। संस्त्यान स्त्रीलिङ्ग का और प्रसव पुंलिङ्ग का लक्षण है। संस्त्यान शब्द से तात्पर्य तिरोभाव है और प्रसव से तात्पर्य आविर्भाव है। 'स्त्यै संघाते' धातु से 'ड्रट्' प्रत्यय करके स्त्री शब्द बनता है और 'षू प्रेरणे' धातु से 'डुमसुन्' प्रत्यय करके सकार को पकार होकर पुमान् शब्द बनता है। यद्यपि लोक में भी स्त्री शब्द 'स्त्यै' धातु से ही बनता है। क्योंकि 'स्त्यायत्यस्यां गर्भः इति स्त्री' अर्थात् जिसमें गर्भ संघीभूत होकर अवस्थित रहता है, वह स्त्री है। इसी तरह पुमान् शब्द भी 'सूते इति पुमान्' इस व्युत्पत्ति से प्रवृत्तिजनक का ही वाचक है तो भी यहां शास्त्र में तो दोनों शब्द भावसाधन हैं। फलतः संस्त्यान स्त्री है और प्रसव पुमान् है। पूछते हैं कि किसका संस्त्यान स्त्री है और किसका प्रसव पुमान् है? उत्तर है कि गुणों का। पुनः पूछते हैं कि किन गुणों का? उत्तर है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धों का। सभी मूर्तियों में संस्त्यान-प्रसवगुणयुक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध समाविष्ट हैं। शब्दादि पांचों में कम से कम शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन तो प्रायः दीखते ही हैं। रस और गन्ध सर्वत्र नहीं दीखते। प्रसव या उत्पत्ति नित्य होती रहती है। यहां कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप में मुहुर्तभर भी स्थिर नहीं रहता।[74] जितना उसने बढ़ना है, उतना वह बढ़ता जाता है या जितना उसने नष्ट होना है, उतना वह नष्ट होता जाता है। ये उत्पत्ति और विनाश सर्वत्र वस्तुओं में व्याप्त हैं। उत्पत्ति का नाम आविर्भाव है और विनाश का नाम तिरोभाव है।[75]

पूछते हैं कि यदि ये दोनों सर्वत्र सदा रहते हैं तो स्त्री-पुरुषादि की व्यवस्था कैसे

होगी? उत्तर है कि विवक्षा से अर्थात् जब संस्त्यान एवं तिरोभाव की विवक्षा होगी तब स्त्रीलिङ्ग होगा और जब प्रसव एवं आविर्भाव की विवक्षा होगी तब पुंलिङ्ग होगा। दोनों की अविवक्षा में अर्थात् आविर्भाव-तिरोभाव के बीच की स्थिति में नपुंसक लिङ्ग होगा। लोक में शिष्ट लोगों के प्रयोग से उक्त तीनों लिङ्गों की व्यवस्था समझनी चाहिए।[76] आगे आचार्य कात्यायन ऐसा पढ़ेंगे भी कि "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" अर्थात् शब्दों के स्त्री-पुरुषादि लिङ्ग के अनुशासन की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि लिङ्ग तो लोकव्यवहार के आश्रित है। एक ही अर्थ में शब्द के भेद से लिङ्गभेद हो जाता है, जैसे- 'पुष्यः तारका नक्षत्रम्'। 'बदरी' वृक्षः' इत्यादि। इसी प्रकार अवयव के भेद होने से भी शब्दों में लिङ्गभेद हो जाता है, जैसे- 'कुटी-कुटीरः-कुटीरम्' इत्यादि। यहां कुटी शब्द से स्वार्थ में 'र' प्रत्यय होने पर लिङ्गभेद स्पष्ट है। इसलिए शब्दों में स्तन-केशादि का सम्बन्ध लिङ्ग का परिचायक न मानकर शब्दादिगुणों के उपचय एवं अपचय तथा दोनों की मध्यस्थिति की विवक्षा को ही लिङ्ग का परिचायक मानना चाहिए। फलतः गुणों के उपचय से पुंलिङ्ग, अपचय से स्त्रीलिङ्ग और दोनों की मध्य स्थिति से नपुंसकलिङ्ग की व्यवस्था हो जाती है। एक ही तट में जब गुणों के उपचय की विवक्षा होगी तब 'तटः' यह पुंलिङ्ग प्रयुक्त होगा। जब गुणों के अपचय की विवक्षा होगी तो 'तटी' यह स्त्रीलिङ्ग प्रयुक्त होगा और मध्यस्थिति में या सामान्य विवक्षा में 'तटम्' यह नपुंसकलिङ्ग प्रयुक्त होगा। लोक में कहते भी हैं कि यह लोटा है। दूसरा कहता है कि लोटा कहां है? यह तो लुटिया है। उसी लोटा को लुटिया कहने से गुणों का अपचय प्रतीत होता है। वस्तुतः लिङ्ग का निर्णय तो विवक्षाधीन होने से उच्च-नीच और दूर-अन्तिक शब्दों के समान अनवस्थितपदार्थक है, उसका कभी भी पूर्ण रूप से स्वरूप निर्णीत नहीं हो सकता। फिर भी लोकव्यवहार में शिष्ट लोग जिस शब्द का जो लिङ्ग प्रयुक्त करते हैं, उसे ही प्रामाणिक मानकर चलना चाहिए। इस प्रकार भाष्यकार ने "स्त्रियाम्" सूत्र के लम्बे एवं विचारयुक्त भाष्य में शास्त्रीय सिद्धान्त की दृष्टि से लौकिक प्रयोगों को ही मुख्यता दी है। क्योंकि लिङ्ग का निर्णय शिष्ट प्रयोगों से ही होता है और उसका शास्त्रीय मूल आधार संस्त्यान-प्रसव ही हैं- यह सिद्ध हो जाता है।

8. क्वचिदपवादेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते न्याय

"न वा अभ्यासविकारेष्वपवादस्योत्सर्गाबाधकत्वात्। न वैष दोषः। किं कारणम्? अभ्यासविकारेष्वपवादस्योत्सर्गाबाधकत्वात्। अभ्यासविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते इत्येषा परिभाषा कर्तव्या"।[77]

"गुणो यङ्लुकोः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि 'अजीगणत्' में 'गण' धातु को द्वित्व होने पर अभ्यास में एक तरफ तो उत्सर्ग रूप "हलादिः शेषः"[78] से अन्तिम णकार का लोप प्राप्त होता है और दूसरी तरफ अपवादरूप "ई च गणः"[79]

से उसे ईत्व प्राप्त होता है। परन्तु जैसे लोक में वैसे तो ज्योतिषशास्त्रानुसार यात्रा आदि के लिए अश्विनी पुष्यादि नक्षत्र ही सामान्य रूपेण मांगलिक माने गए हैं, भरण्यादि नक्षत्र (अपवाद रूप) अमांगलिक तथापि विशेष परिस्थिति में अपवादस्वरूप भरण्यादि नक्षत्रों में भी यात्रा आदि कार्य किया ही जाता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी कहीं-कहीं पर लक्ष्यानुरोधात् अपवादशास्त्र में भी उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति अभीष्ट मान ली जाती है। फलतः प्रकृत परिभाषा के बल से अपवादस्वरूप णकारस्थानिक ईत्व को रोककर उत्सर्ग स्वरूप "हलादिः शेषः" से णकार का लोप हो जाता है तो गकाराकार को ईत्व होकर उक्त इष्ट प्रयोग बन जाता है।

9. नक्षत्रदर्शन न्याय

"नक्षत्रदर्शनन्यायेनेष्टविषये सर्वत्र भविष्यति, अनिष्टे च न भविष्यति। एवं च कृत्वा नियमार्थतोपपद्यते, अन्यथा प्रेन्वनमित्यत्र विध्यर्थता सम्भाव्येत।"[80]

इस न्याय का निर्देश पदमञ्जरीकार ने "इजादेः सनुमः" इस सूत्र की व्याख्या में किया है। नक्षत्रदर्शन न्याय का अर्थ यह है कि मनुष्य अपनी इष्ट सिद्धि के लिए किसी ज्योतिषी से शुभ नक्षत्र दिखाता है अथवा स्वयं शुभ नक्षत्रों को देखकर कार्य करता है। फलतः उससे उसको अभीष्टार्थलाभ होता है। इस प्रकार लोक में इष्टसिद्धि और अनिष्टनिवृत्ति के लिए इस न्याय का आश्रयण किया जाता है। क्योंकि इन नक्षत्रों को देखना एक प्रकार से इष्टसिद्धि का अभ्युपाय ही है। यद्यपि यह कोई आवश्यक नहीं है कि जड़ नक्षत्र हमेशा शुभ फल ही देने वाले हों परन्तु विश्वास तो यही किया जाता है कि शुभ नक्षत्र को देखकर ही कार्य करना चाहिए। प्रस्तुत प्रसङ्ग में उक्त न्याय देने का यह तात्पर्य है कि जिससे "इजादेः सनुमः" सूत्र से प्रेङ्खणम्, प्रोम्भणम् इत्यादि इष्ट स्थलों पर तो णत्व हो जाए और प्रेन्वनम् इत्यादि अनिष्ट विषयों में णत्व की अतिप्रसक्ति न हो। इस विषय में प्रस्तुत न्याय तात्पर्यग्राहक है जिसकी ऊपर व्याख्या हो चुकी है।

अथवा जिस प्रकार नक्षत्र को देखकर वाणी को छोड़े - ऐसा कहने पर काल के उपलक्षण में दिन में नक्षत्रदर्शन होने पर भी वाणी को नहीं छोड़ा जाता तथा रात्रि में नक्षत्रदर्शन न होने पर भी वाणी को छोड़ा जाता है उसी प्रकार यहां पर नुम् होने पर भी अनुस्वार के अभाव में उसे णत्व नहीं होगा तथा नुम् न होने पर भी अनुस्वार होने से वहां णत्व हो जाएगा। वस्तुतः नुम् ग्रहण यहां पर अनुस्वार के उपलक्षणार्थ द्रष्टव्य है, तद्यथा-

"नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणार्थं तत्र। यथा नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेदिति कालोपलक्षणे दिवा नक्षत्रदर्शनेऽपि न भवति, रात्रावदर्शनेऽपि भवति, एवमिहापि सत्यपि नुम्यनुस्वाराभावे न भवति, असत्यपि नुम्यनुस्वारे सति भविष्यति"।[81]

ग (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित उक्त कालादिसम्बन्धी लोकन्याय

1. ज्योतिरर्चि न्याय[82]
2. भविष्यत्प्रतिषेध न्याय[83]
3. भवति वै कश्चित् जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते न्याय/वैयाकरणशकटसार्थ न्याय[84]
4. द्रव्यगुण न्याय/अन्यत् शब्दादिभ्यो द्रव्यम् न्याय/ज्योतिषां गतिः न्याय[85]
5. गुरुभार्गवौ न्याय/साहचर्यात् साजात्यं लक्ष्यते न्याय[86]
6. अनित्योपायाश्रयणेनापि नित्यस्यान्वाख्यानं दृश्यते न्याय/शककाल न्याय[87]
7. ग्रहैकत्व न्याय[88]

(घ) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित संगीतसम्बन्धी लोकन्याय

1. भेर्याघात न्याय[89]
2. शब्दजशब्द न्याय[90]

ङ (1) नाट्य-नृत्यसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. आख्यान न्याय

"इह तु कथं वर्तमानकालता – कंसं घातयति, बलिं बन्धयतीति ? चिरहते कंसे, चिरहते च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथम् ? ये तावदेते शौमिका नाम, एते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति। चित्रेषु कथम् ? चित्रेष्वपि उद्गूर्णा निपातिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसकर्षण्यश्च।

ग्रन्थिकेषु कथम् ? यत्र शब्दग्रन्थगड्डुमात्रं लक्ष्यते। तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्या-विनाशाद् ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति। आतश्च सतो व्यामिश्राश्च दृश्यन्ते। केचित् कंसभक्ता भवन्ति। केचिद् वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यत्वं खल्वपि पुष्यन्ति। केचित् कालमुखा भवन्ति। केचिद् रक्तमुखाः। त्रैकाल्यं खल्वपि लोके लक्ष्यते। गच्छ, हन्यते कंसः। गच्छ, घानिष्यते कंसः। किं गतेन ? हतः कंसः इति।"[91]

"हेतुमति च" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि 'कंसं घातयति', 'बलिं बन्धयति' यहां "आख्यानात् कृतस्तदाचष्टे कुल्लुक्"[92] इत्यादि वार्तिक का प्रत्याख्यान करके यदि "हेतुमति च" से ही 'णिच्' माना जाएगा तो 'घातयति', 'बन्धयति', में वर्तमानकालता कैसे बनेगी ? क्योंकि कंस का वध हुए तो चिरकाल हो गया। अतः अब तो वह भूतकाल का विषय बन गया। इसी प्रकार बलि का बन्धन भी चिरकाल वाला होने से अतीत हो गया। ऐसी स्थिति में "आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे" इस वार्तिक से 'णिच्' मानने में तो वर्तमानकालता बनी रहती है। क्योंकि कंसादि के आख्यान

तो अब भी वर्तमान हैं। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उक्त प्रयोगों में भी वर्तमानकालता बन जाएगी। पूछते हैं कैसे ? तो उत्तर है कि ये जो शौमिक नाम के नाटकप्रवर्तक आचार्य हैं,[93] ये अपने आख्यान ग्रन्थों में कंस को प्रत्यक्ष मरवाते हैं और बलि को भी प्रत्यक्ष बन्धवाते हैं अर्थात् उन ग्रन्थों में प्रत्यक्षरूप से कंस का वध दिखाया गया है तथा इसी प्रकार बलि का बन्धन भी प्रत्यक्ष दिखाया गया है। फलतः यहां वर्तमानकालता उपपन्न हो जाएगी।

यदि यहां यह कहा जाए कि चित्रों अथवा फिल्मों में कैसे वर्तमानकालता होगी ? सो भी ठीक नहीं। क्योंकि वहां भी शस्त्रों के उठने-गिरने के प्रहार दिखाई देते हैं तथा इसी प्रकार कंस को पकड़ने वाली रस्सियां भी दिखाई जाती हैं। अतः यहां भी वर्तमानकालता बन जाती है। इसी प्रकार यहां यह कहना भी ठीक नहीं है कि ग्रन्थ बांचने वालों में वर्तमानकालता कैसे होगी ? क्योंकि वहां केवल शब्द, ग्रन्थ तथा श्रोता मनुष्यसंघ[94] ही दिखाई देते हैं जोकि अतीत हो चुके हैं। इसका उत्तर यह है कि वे ग्रन्थ बांचने वाले भी कंस आदि की उत्पत्ति से लेकर मृत्युपर्यन्त समृद्धियों का वर्णन करते हुए उनको अपनी बुद्धि में स्थित बनाकर मानों वर्तमानों का ही प्रकाश करते हैं। इस हेतु से यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि वे वर्तमान कंस आदि का ही प्रदर्शन करते हैं। क्योंकि उन प्रदर्शनकारी ग्रन्थवाचकों में कोई कंस के भक्त होते हैं, कोई कृष्ण के और कोई दोनों के मिश्रित होते हैं। उन्हीं में भिन्न-भिन्न वर्ण वाले भी होते हैं - कोई काले मुख वाले और कोई लाल मुख वाले। इस विषय में लोक में तीनों कालों का प्रयोग भी देखा जाता है। कोई कंस के वध का आख्यान सुनने वाला कहता है - 'जा, कंस मारा जा रहा है, देख ले। जा, कंस मारा जाएगा, देखना। अब जाकर क्या करेगा ? कंस तो मारा जा चुका है।' इस प्रकार तीनों कालों के प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि कंसादि को बुद्धिस्थ मानकर ही नटादि लोग प्रत्यक्ष दिखाते हैं। और बुद्धि में तो असत् वस्तु भी सत् बन जाती है। बुद्धिकृत अपाय मानकर अपादान प्रकरण के सूत्रों का खण्डन इसमें प्रमाण है। अतः उसमें यह आपत्ति नहीं उठानी चाहिए कि "हेतुमति च" सूत्र से 'णिच्' मानने पर वर्तमानकालता कैसे होगी? इसी भाष्योक्त बात को भर्तृहरि यों कहते हैं–

"साधनव्यवहारश्च बुद्ध्यवस्था निबन्धनः।
सन्नसन् वाऽर्थरूपेषु भेदो बुद्ध्या प्रकल्प्यते॥
शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥"[95]

अन्यत्र भी यह न्याय देखने में आता है।[96]

लक्षणा या उपचारमूलक न्याय

2. तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्य (मञ्चा हसन्ति / गिरिर्दह्यते) न्याय
3. ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्य (जटी ब्रह्मदत्तः/गौर्वाहीकः) न्याय
4. तत्सामीप्यात् ताच्छब्द्य (गङ्गायां घोषः / कूपे गर्गकुलम्) न्याय
5. तत्सामीप्यात् तद्गुणोपलम्भन (रक्तशुक्लवस्त्र / बदरपिटक लोहकंस) न्याय

6. तत्साहचर्यात् ताच्छब्द्य (यष्टीः प्रवेशय/कुन्तान् प्रवेशय) न्याय

"नावश्यमयमेवाभिसम्बन्धो भवति - तस्येदमिति। अयमप्यभिसम्बन्धोऽस्ति - सोऽयमिति। कथं पुनरतस्मिन् स इत्येतद् भवति। चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् स इत्येतद् भवति - तात्स्थ्यात् ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यादिति। तात्स्थ्यात् तावत्-मञ्चा हसन्ति। गिरिर्दह्यते। ताद्धर्म्यात् - जटिनं यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह। ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि जटिन्यपि तानि क्रियन्ते इत्यतो जटी ब्रह्मदत्त इत्युच्यते। तत्सामीप्यात्-गङ्गायां घोषः। कूपे गर्गकुलम्। तत्साहचर्यात् - कुन्तान् प्रवेशय। यष्टीः प्रवेशयेति"।[97]

"पुंयोगादाख्यायाम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यवार्तिककार प्रष्ठी शब्द में 'प्रष्ठस्येयम्' इस प्रकार 'तस्येदम्' सम्बन्ध मानकर "तस्येदम्"[98] सूत्र से प्राप्त 'अण्' का लुक् विधान करने के लिए कहते हैं। उसका निराकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि "तस्येदम्" सम्बन्ध ही हो अपितु 'सोऽयम्' यह सम्बन्ध भी हो सकता है। प्रष्ठ की सहधर्मचारिणी होने से वह भी प्रष्ठ शब्द से व्यवहृत हो सकती है। तद्भिन्न में तत् शब्द का प्रयोग कैसे होगा तो उसके उत्तर में ये निम्न न्याय दिए गए हैं। तदनुसार चार प्रकार से तद्भिन्न में भी तत् शब्द का प्रयोग हो जाता है, जैसे- तात्स्थ्य से, ताद्धर्म्य से, तत्सामीप्य से और तत्साहचर्य से।

2. इनमें पहले तात्स्थ्य से ताच्छब्द्य जैसे- 'मञ्चा हसन्ति' (मचान हंस रहे हैं)। भला सोचिए कि मचान तो जड़ हैं, वे कैसे हंस सकते है ? अतः लक्षणया मञ्चस्थ पुरुष हंस रहे हैं - यह अर्थ निर्गलित होता है अर्थात् मञ्च पर स्थित होने के कारण पुरुषों को ही मञ्च कह दिया गया, 'मञ्चस्थाः पुरुषा हसन्ति' यह नहीं कहा गया। यह न्याय "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" इस सूत्र की व्याख्या में पदमञ्जरीकार ने भी दिया है। तद्यथा-

साध्यसाधनयोरत्यन्तभेदात् मुख्येन कर्मणा क्रियायाः सादृश्यासम्भवात् कर्मशब्देन तत्स्था क्रिया लक्ष्यते। भवति हि तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम्, यथा- मञ्चाः क्रोशन्तीति।"[99]

इनके कहने का भाव यह है कि जो वस्तु 'जिसमें' स्थित होती है, 'उसमें' भी 'उस' शब्द का प्रयोग हो जाता है। जैसे मचानों पर बैठे हुए पुरुषों को मञ्च शब्द से कह देते है कि देखो, यह मञ्च बोल या हंस रहे हैं। यद्यपि मञ्च तो जड़

होने से नहीं बोल सकते, मञ्च पर स्थित पुरुष ही बोलते हैं, फिर भी 'उपचारात्' या लक्षणा से ऐसा प्रयोग लोक में कर देते हैं। इसी प्रकार "कर्मवत्कर्मणा" सूत्र से भी कर्म शब्द से कर्म में स्थित क्रिया समझी जाती है। फलतः जो क्रिया कर्म में स्थित है, वही यदि कर्ता होने पर भी बनी रहे तब तो वहाँ कर्मवद्भाव हो जाता है। उससे जो धातु कर्मस्थभाव वाले और कर्मस्थक्रिया वाले होते हैं, उन्हीं में कर्मवद्भाव होता है। और इसके विपरीत जो कर्त्ता में स्थित भाव वाले और जो कर्त्ता में स्थित क्रिया वाले होते हैं, उनमें कर्मवद्भाव नहीं होता - यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है। उक्त न्याय विभिन्न शास्त्रीय प्रसङ्गों में अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[100]

इसी प्रकार 'गिरिर्दह्यते' (पहाड़ जल रहा है) यहां भी विचारणीय है कि पहाड़ का क्या जलना ? वस्तुतः "तास्थ्यात् ताच्छब्द्यम् न्याय" से पहाड़ पर स्थित वृक्षादि जल रहे हैं – ऐसा अर्थ लक्षणया होता है।

3. इसी प्रकार ताद्धर्म्य से ताच्छब्द्य जैसे - 'जटी ब्रह्मदतः' (जटाधारी ब्रह्मदत्त है) यहां जटाधारी किसी को जाते हुए देखकर कहा जाता है कि यह ब्रह्मदत है अर्थात् जो कार्य ब्रह्मदत्त में किए जाते हैं वे जटाधारी में भी किए जाते हैं। इसलिए 'ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्यम् न्याय' से ब्रह्मदत्त के धर्मों का आरोप जटी में करके उसे भी ब्रह्मदत्त कह देते हैं।

इसी प्रकार 'ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्यम्' न्यायप्रोक्त 'गौर्वाहीकः' यह उदाहरण भी व्याकरणशास्त्र में बहुत अधिक प्रसिद्ध है। वाहीक यह असभ्य या अशिक्षित व्यक्ति का नाम है। उसकी मूर्खता और असभ्यता रूप गुण तथा धर्म को देखकर लोग उसके लिए गौ शब्द का प्रयोग कर देते हैं। यह भी लक्षणा वृत्ति का प्रमुख उदाहरण है।[101] इसी का फलितार्थ "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः"[102] इस न्यायसिद्ध व्याकरणशास्त्रीय परिभाषा से निर्गलित होता है। "वयसि प्रथमे" सूत्र की व्याख्या में न्यासकार भी इसको लिखते हैं--

ननु च नायं कुमारी शब्दः प्रथमे वयसि वर्तते, क्व तर्हि, पुंयोगाभावे, तथा हि वृद्धायामपि हि प्रयुज्यते वृद्धा कुमारीति ? नैतदस्ति; कुमारीशब्दो हि प्रथम एव वयसि रूढः। यस्तु वृद्धायामपि तस्य प्रयोगस्तत्र कुमारीसाधर्म्यात्, न तु पुंयोगाभावात्। भवति हि ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्यम्, यथा गौर्वाहीक इति"।[103]

इनके कहने का भाव है कि वृद्धकुमारी इस शब्द में कुमारी शब्द जो प्रथम अवस्था का बोधक है, उसके साथ वृद्ध शब्द का प्रयोग कैसे बनेगा ? तो उसका उत्तर 'गौर्वाहीकः' इस न्याय से दिया जाता है। तदनुसार उसके धर्म से भी उसके लिए उस शब्द का प्रयोग हो जाता है, जैसे गौ पशु की मूर्खता आदि धर्मों को देखकर लक्षणा द्वारा वाहीक को भी गौ कह देते हैं। इसी प्रकार यद्यपि जिस कन्या का पुरुष के साथ संयोग नहीं हुआ, वही कुमारी होनी चाहिए तथापि वृद्धकुमारी शब्द में तो पुंयोग होने

पर भी ताद्धर्म्यात् कुमारी शब्द का प्रयोग है। इस प्रकार किसी के धर्मों को लेकर दूसरे में जो उस शब्द का प्रयोग हो जाता है, वह न्यायसंगत ही है। इस न्याय का अन्यत्र भी प्रचुर प्रयोग दर्शनीय है।[104]

4. तत्सामीप्य से ताच्छब्द्य जैसे - 'गङ्गायां घोषः'। गङ्गा तो जलप्रवाहरूप है। अतः उसमें घोष (झोंपड़ी) कैसे हो सकती है ? इस लिए गङ्गा शब्द की उसके समीप तट में लक्षणा करके 'गङ्गायां घोषः' यह प्रयोग सुसङ्गत हो जाता है। यहां तत्सामीप्यात् ताच्छब्द्यम् न्याय से गङ्गातट को गङ्गा शब्द से कहा गया है। इसी प्रकार हयवरट् सूत्र व्याख्या प्रसङ्ग में जाति और व्यक्ति दोनों शब्दार्थ हैं – इस पर विचार करते हुए परमञ्जरीकार भी प्रकृत न्याय को लिखते हैं कि जैसे 'गङ्गायां घोषः' में गंगा शब्द गंगातीर में लाक्षणिक है क्योंकि जलप्रवाहरूपगंङ्गा में आभीरपल्लीरूप घोष का सम्भव न होने से गंगाशब्द की गंगातीर में लक्षणा करके ही **'गंगातीर में घोष है'** ऐसा अर्थ सुसंगत किया जाता है वैसे ही यहां भी जाति के शब्दार्थ में व्यक्ति की लक्षणा हो जाएगी - ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' में तो बिना लक्षणा के गंगा में घोष उपपन्न ही नहीं होता। इसलिए वहां तो गंगा शब्द को नान्तरीयकतया लाक्षणिक माना जाता है। किन्तु यहां जाति के शब्दार्थ मानने पर तो व्यक्ति में लक्षणा नहीं मानी जा सकती। क्योंकि व्यक्ति की प्रतीति लक्षणा से नहीं होती अपितु बिना दूसरे शब्द के सहयोग के भी नियमपूर्वक शब्द से व्यक्ति की प्रतीति हो रही है जबकि लाक्षणिक अर्थ की प्रतीति ऐसे नहीं होती। इसलिए 'गौः तिष्ठति' इस वाक्य में 'गाय खड़ी है' – यह व्यक्ति का बोध और गोत्व जाति स्थित है – ये दोनों ही गो शब्द के अर्थ साक्षात् प्रतीत होते हैं।[105] यह बात दूसरी है कि कहीं किसी को मुख्य तात्पर्य का विषय बना लेते हैं और कहीं किसी को। जब जाति को मुख्य शब्दार्थ स्वीकार करते हैं तो व्यक्ति गौण हो जाता है और जब व्यक्ति को मुख्य शब्दार्थ स्वीकार करते हैं तो जाति गौण हो जाती है। वस्तुतः जाति और व्यक्ति दोनों ही शब्दार्थ हैं। केवल गुणप्रधानभाव का ही अन्तर है[106]

इसी प्रकार 'कूपे गर्गकुलम्' (कूए में गर्ग कुल है) यहां भला सोचिए कि कूए में गर्गकुल कैसे हो सकता है ? हां, कूए के विषय या देश या किनारे तो अवश्य हो सकता है। इसलिए यहां भी तत्सामीप्यात् ताच्छब्द्यम् न्याय से कूप के समीपवर्ती उसके तट में लक्षणा होकर उक्त प्रयोग सुसंगत हो जाता है। व्याकरणशास्त्र में यह उपर्युक्त गङ्गायांघोषः न्याय भी बहुत प्रयुक्त हुआ है। आवश्यकतानुसार इससे विभिन्नव्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्त पल्लवित किए गए हैं जोकि यथास्थान द्रष्टव्य हैं।[107] सामीप्यमूलक लक्षणा के विषय में अग्रिम ''तत्सामीप्यात् तद्गुण उपलभ्यते'' न्याय भी पठनीय है।

5 *तत्सामीप्यात् तद्गुणोपलम्भन न्याय*

''नैते व्यञ्जनस्य गुणाः किन्त्वच एव। तत्सामीप्यात्तु व्यञ्जनमपि तद्गुणमुपलभ्यते। तद्यथा द्वयोः रक्तयोर्वस्त्रगोर्मध्ये शुक्लं वस्त्रं तद्गुणमुपलभ्यते। बदरपिटके रिक्तको लोहकंसस्तद्गुण उपलभ्यते''।[108]

''उच्चैरुदात्तः'' ''नीचैरनुदात्तः'' इन सूत्रों के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि ये उदात्त और अनुदात्त आदि स्वर एवं अनुनासिक गुण वस्तुतः व्यञ्जनों के नहीं होते हैं अपितु अचों के होते हैं। परन्तु अचों के समीप होने से साहचर्य न्याय के कारण व्यञ्जनों में भी ये गुण प्रतीत होते हैं, जैसे लोक में देखते हैं कि दो लाल कपड़ों के मध्य में रखा हुआ सफेद कपड़ा भी तत्साहचर्यात् उन्हीं के रंग वाला प्रतीत होता है। अथवा जैसे बेरों से भरी पिटारी में खाली या घिसाकर चमकाया हुआ लोहे का कटोरा भी तत्सामीप्यात् बेरों के रंग वाला प्रतीत होता है।[109]

इसी दृष्टान्त के सर्वथा अनुरूप सांख्यदर्शन में **'सफेद स्फटिक पर जपा कुसुम का लाल उपराग होता है'**.- ऐसा लौकिक दृष्टान्त दिया जाता है।[110] भाव यह है कि **''इषे त्वोर्जे त्वा''**[111] यहां उदात्त या अनुदात्त वस्तुतः अच् ही हैं क्योंकि उदात्तादि अचों के ही धर्म हैं। किन्तु उनके साहचर्य, सामीप्य या सम्पर्क से साथ में प्रयुज्यमान व्यञ्जन भी उदात्तादि गुण वाले प्रतीत होते हैं जबकि वास्तव में व्यञ्जन उदात्तादि गुण वाले नहीं हैं। इस न्याय के आधार पर ही **''हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवति''**[112] यह परिभाषा सार्थक होती है।

इसी प्रकार ''परः सन्निकर्षः संहिता'' सूत्र के भाष्य[113] में भी पूर्वपक्ष के रूप में ''हादाविरामः संहिता'' इस नए सूत्रन्यास में भाष्यकार ने यह दोष उपस्थित किया है कि 'पचति' में पकारोत्तरवर्ती अकार घोषवान् है, उससे परे चकार अघोष है। अतः 'हाद' का विराम हो जाने से संहिता संज्ञा नहीं प्राप्त होती। फलतः संहिता संज्ञा के न होने से चकारोत्तरवर्ती अनुदात्त अकार को **''उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः''**[114] न हो सकेगा। अब इस दोष की निवृत्ति के लिए भाष्यकार प्रस्तुत तत्सामीप्यात् तद्गुण उपलभ्यते यह न्याय देते हैं कि घोषवान् दो अकारों के मध्य में पड़ा हुआ चकार भी साहचर्य से घोषवान् के समान ही प्रतीत होगा। उससे हाद का अविराम होने से ''हादाविरामः संहिता'' ऐसा सूत्रन्यास बनाने पर भी 'पचति' में दोष नहीं होगा। इस प्रकार भाष्यकार ने प्रकृत न्याय से उक्त प्रयोग में तो उपर्युक्त न्यासान्तर निर्दोष सिद्ध कर दिया है। परन्तु यह न्यासान्तर सर्वथा निर्दोष नहीं है। अतः आगे कहते हैं कि किन्तु अन्यत्र कुक्कुटः, पिप्पली, पित्तम् इत्यादि में तो स्पष्ट ही हाद का विराम है। वहां तो इस न्याय से भी काम नहीं चलेगा। अतः यह न्यासान्तर ठीक नहीं है। प्रस्तुत न्याय न्यायोक्तिकोश में भी संकलित है।[115]

6. इसी प्रकार तत्साहचर्य से ताच्छब्ध्य जैसे- 'कुन्तान् प्रवेशय', 'यष्टीः प्रवेशय' (कुन्तों = भालों = को प्रविष्ट कराओ, यष्टी = लाठियों = को प्रविष्ट कराओ) यहां भला भाले और लाठियां जड़ होने से कैसे प्रविष्ट हो सकती हैं ? हां भाले और लाठी वाले पुरुष तो अवश्य प्रविष्ट हो सकते हैं इसलिए तत्साहचर्यात् ताच्छब्ध्यम् न्याय[116] से यहां कुन्त और यष्टियों के साहचर्य से कुन्तधारी तथा यष्टिधारी पुरुष लक्षणा से समझे जाते है। 'यष्टीः प्रवेशय' न्याय को लेकर "वर्चस्केऽवस्करः" सूत्र की व्याख्या में न्यासकार भी लिखते हैं–

7. यष्टीः प्रवेशय न्याय

"यथा यष्टीः प्रवेशयेति यष्टिसम्बन्धात् पुरुषा अपि यष्टिशब्देनोच्यन्ते तथा अवस्करसम्बन्धादवस्करशब्देन देशः"[117]

इसका भाव है कि यद्यपि 'अवस्कर' शब्द का अर्थ कूड़ा या मैल है फिर भी जिस जगह वह मैल या कूड़ा पड़ता है, उस जगह या देश का नाम भी लक्षणा या उपचार से 'अवस्कर' कह देते हैं, जैसे- यष्टियों को धारण करने वाले पुरुषों को लक्षणया सीधा यष्टि ही कह दिया जाता है इत्यादि अनेकों लाक्षणिक उदाहरण लोक और शास्त्र में दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार जैसे- बाजा सुन लीजिए या फूल सूंघ लीजिए - यहां बाजा सुन लीजिए की जगह बाजे की आवाज सुन लीजिए ऐसा कहना चाहिए। क्योंकि बाजा केवल देखा ही जा सकता है जबकि सुनी तो केवल बाजे की आवाज ही जा सकती है। इसी तरह फूल की गंध ही सूंघी जाती है, स्वयं फूल नहीं। फिर भी उपचारार्थ फूल सूंघ लीजिए - ऐसा कह देते हैं। इसी प्रकार यहां कूड़ा फैंकने की जगह को भी कूड़ा कह दिया गया है। उसी को संस्कृत में 'अवस्कर' कहते हैं अर्थात् कूड़ा फैंकने का स्थान ही अवस्कर है। इस न्याय का अन्यत्र भी प्रयोग देखा जा सकता है।[118] लोक में इस तत्साहचर्यात् ताच्छब्ध्य न्याय को छत्रिन्याय से भी कहा जाता है, तद्यथा–

8. छत्रि न्याय

"यथैकेन छत्रिणा साहचर्यादन्येऽपि तत्सहचारिणश्छत्रिण इत्युच्यन्ते छत्रिणो गच्छन्तीति, तथेहापि द्युतिना साहचर्यात् श्वितादयोऽपि द्युत इति व्यपदिश्यन्ते"।[119]

यह न्याय न्यासकार ने "द्युद्भ्यो लुङि" इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि कई व्यक्ति कहीं यात्रा कर रहे हैं। उनमें कुछ छत्र भी रख रहे हैं किन्तु सब नहीं। फिर भी उनको देखकर शेष सभी को छत्रधारी समझकर लोक में 'ये छत्रधारी जा रहे हैं' ऐसा प्रयोग हो जाता है अर्थात् जो छत्र नहीं धारण कर रहे हैं वे भी छत्रधारियों के साहचर्य से छत्रधारियों के नाम से ही गृहीत हो जाते हैं। इसी प्रकार यहां 'द्युत्' धातु के एक होने पर भी 'द्युद्भ्यः' यह जो बहुवचन किया है, वह 'द्युत्' के साथ रहने वाले अन्य बहुत से धातुओं के साहचर्य के कारण 'द्युद्भ्यः' यह बहुवचन का निर्देश कर दिया गया है अर्थात् बहुतों के साहचर्य से एक में भी लक्षणया बहुवचन का प्रयोग हो जाता है। इस न्याय का समकक्ष 'दण्डिन्याय' भी कहलाता है। वहां भी यही बात है कि कुछ मनुष्यों के दण्ड धारण करने पर उनके साथी जो अन्य दण्ड धारण नहीं कर रहे है, वे भी दण्डी शब्द से कह दिए जाते हैं। इसमें साहचर्य ही कारण है। वस्तुतः ये सब उपचरित प्रयोग है। इन सब न्यायों का मूल लक्षणावृत्ति ही है। इस न्याय के अनुसार ही 'द्युद्भ्यः' यह निर्देश ठीक हो पाता है। उक्त न्याय के आधार पर ही दर्शनों में भोक्ता जीव के सम्बन्ध से ईश्वर को भी भोक्ता कहा गया है।[120] इस न्याय के विषय में कथन है–

पुरोडाशाभिधानं च धानादिषु यथा स्थितम्।
छत्रिणा चाभिसम्बन्धात् छत्रिशब्दाभिधेयता।।[121]

शाबर भाष्य[122] तथा तन्त्रवार्तिक आदि में भी इसका प्रयोग मिलता है।[123] प्रस्तुत न्याय व्याकरणशास्त्र में भी पर्याप्त प्रयुक्त देखा जा सकता है।[124] लक्षणावृत्तिमूलक तादर्थ्यात् ताच्छब्ध्यम् यह लोकन्याय भी व्याकरणशास्त्र में पर्याप्त प्रसिद्ध है। अब यहां इसकी चर्चा करना भी अप्रासङ्गिक नहीं होगा, तद् यथा-

9. तादर्थ्यात् ताच्छब्ध्यम् न्याय

"कथं पुनः समास इत्युच्यमाने समासशास्त्रं ग्रहीतुं शक्यम्, तादर्थ्यात् तत्र समासशब्दस्य प्रवृत्तेः। भवति हि तादर्थ्यात् ताच्छब्ध्यम् यथा प्रदीपार्था मल्लिका प्रदीपः इति, इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्र इति।"[125]

"प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्" इस सूत्र की व्याख्या में न्यासकार ने इस न्याय का प्रयोग किया है। इस न्याय का अर्थ है कि जो वस्तु किसी के लिए होती है, 'उसको' भी उपचार या लक्षणा से 'उस' शब्द से ही बोल देते हैं जिसके लिए 'वह' वस्तु है, जैसे- दीपक के लिए मालती का फूल लाते हैं। इस प्रकार उपचार से उस मालती के फूल को लोक में दीपक ही कह देते हैं। क्योंकि वह फूल दीपक के लिए आया है। अतः वह दीपक शब्द से ही कह दिया जाता है। अथवा जैसे इन्द्रदेवता के लिए जो काष्ठखण्ड लाया जाता है, उसे भी इन्द्र शब्द से ही व्यवहृत कर देते हैं। वैसे ही समास शब्द से भी समासशास्त्र का ग्रहण है। क्योंकि समास के लिए जो शास्त्र है, वह समास ही है – यह बात इस न्याय से सम्यक् सिद्ध हो जाती है। अन्यत्र शास्त्र और लोक में इस न्याय का प्रचुर प्रयोग मिलता है।[126] लक्षणा को समझाने के लिए "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" यह न्याय भी पर्याप्त प्रयुक्त देखा जाता है, तद् यथा-

10. काकेभ्यो दधिरक्ष्यताम् (दध्युपघातककाकादिदधिरक्षण) न्याय

"ह्रस्वग्रहणमतन्त्रमिति। अतन्त्रमप्रधानम् उपलक्षणार्थत्वात्। यथा- काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र काकाः"[127]

न्यासकार ने "तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्" सूत्र में पठित **'अर्धह्रस्वम्'** शब्द की व्याख्या करते हुए इस न्याय को उद्धृत किया है। यह न्याय भी **लक्षणामूलक** है। इसका अर्थ है कि **'कौओं से दही को बचाओ'** – इस वाक्य में **काक** शब्द उन **सभी प्राणियों का उपलक्षण है जो दही को बिगाड़ने वाले हैं।** इससे न केवल कौए ही बल्कि बिल्ली, कुत्ता आदि भी जिनसे दही बिगड़ने की सम्भावना है, वे सभी गृहीत हो जाते हैं अर्थात् **कौए का नाम तो उपलक्षणमात्र है।** वे आगे कहते हैं कि इसी प्रकार प्रकृत सूत्रस्थ **'अर्धह्रस्वम्'** शब्द में भी **'ह्रस्व'** शब्द केवल **मात्रासामान्य** का उपलक्षण है। वैसे तो **'ह्रस्व'** शब्द एक मात्रा का वाचक है किन्तु यहां केवल मात्रा का वाचक लिया गया है। इस तरह **'अर्धह्रस्वम्'** का अर्थ आधी मात्रा है। उससे ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत इन तीनों स्वरितों में आधी मात्रा उदात्त हो जाती है और बाकी बचे हुए शब्द अनुदात्त हो जाते हैं। इस प्रकार जैसे कौआ सभी दही के बिगाड़ने वाले प्राणियों का उपलक्षण है, वैसे ही यह **ह्रस्व ग्रहण** है अर्थात् यहां **ह्रस्व शब्द** एक मात्रा का वाचक न होकर केवल मात्रा का वाचक है। यह **मात्रा का उपलक्षण** है। यह बात अन्यत्र भी **लक्षणा** से समझी जाती है। इस विषय में भर्तृहरि का निम्न कथन भी दर्शनीय है–

"काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरिति बालोऽपि चोदितः।
उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति॥"
"प्रक्षालनं शरावानां स्थालीनां मार्जनं तथा।
अनुक्तमपि रूपेण भुज्यङ्गत्वात् प्रतीयते"॥[128]

अर्थ की दृष्टि से यह न्याय **ग्रहैकत्व** न्याय से अवश्य तुलनीय है। क्योंकि जैसे उक्त न्याय में **'ग्रहम्'** यह एक संख्या विवक्षित न होकर **पूरे नौ ग्रहों** का ही सम्मार्जन होता है वैसे ही यहां भी केवल काकों से ही दधि की रक्षा न करके कुत्ते, बिल्ली आदि सभी दधिघातक प्राणियों से दधि की रक्षा करनी अभिप्रेत है। यह न्याय व्याकरण तथा इतर शास्त्रों में भी कई स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है।[129] **लक्षणावृत्ति** के प्रसङ्ग में **चौरदग्धग्राम** यह न्याय भी देखा जाता है, तद् यथा–

11. चौरदग्धग्राम न्याय

"यथा चौरैराहृतेनाग्निना दग्धे ग्रामे वक्तारो भवन्ति - चौरैर्दग्धो ग्राम इति"।[130]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने **"तमधीष्टो भृतो भूतो भावी"** इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि चौर बाहर से अग्नि लाकर जब गांव को जलाते हैं तो गांव अग्नि से जला होने पर भी उपचार या लक्षणा से **'चौरों ने गांव जलाया है'** ऐसा प्रयोग होता है। इसी प्रकार भरण-पोषण मुहुर्त भर करने पर भी निरन्तर महीने तक जारी रहने से वह महीने भर व्याप्त माना जाता है। ये सब **लक्षणा वृत्ति** के उदाहरण

हैं। यद्यपि यह बात ठीक है कि **चोरों ने गांव को जलाया है,** परन्तु बिना अग्नि के वे कैसे जला सकते थे ? इसलिए जलाने वाला वास्तविक अग्नि होने पर भी वह अग्नि क्योंकि चोरों से लगाई गई है, इसलिए चोरों ने ही गांव जलाया है - ऐसा व्यपदेश हो जाता है। इसी स्थल पर न्यासकार ने भी यह न्याय दिखाया है। इसी प्रकार दण्डि न्याय भी लक्षणा का प्रसिद्ध उदाहरण है, तद् यथा–

12. दण्डि न्याय

"गुरुणा स्थालीशब्दं संज्ञां मत्वा प्लुते प्रयुक्ते असूचक आह - नैषा मम संज्ञेति। किन्तु दण्डिन्यायो मया विवक्षितः – स्थालमस्यास्तीति स्थालीति; तदपि तत्त्वं मन्वानो गुरुः पुनरपि प्लुतरहितं प्रत्यभिवादनं कृतवान् - आयुष्मानेधि स्थालिन्निति। पुनरसूयक आह - न दण्डिन्यायो मया विवक्षितः, संज्ञैवैषा ममेति। ततोऽसूयकत्वं निर्ज्ञाय कुपितः सन् गुरुराह - असूयकस्त्वमित्यादि"।[131]

यह न्याय भाष्यकार ने **"प्रत्यभिवादेऽशूद्रे"** सूत्र तथा उसके ऊपर वार्तिकों के व्याख्यान में उद्धृत किया है। उसी को अविकलरूपेण पदमञ्जरीकार तथा न्यासकार ने भी उद्धृत कर दिया है। इसका भाव है कि किसी गुरु ने किसी को स्थालीसंज्ञक जानकर उसके नाम में प्लुत का विधान किया। परन्तु वह तो असूयक या निन्दक था। अतः वह बोला कि स्थाली मेरा नाम नहीं है अपितु मुझे तो दण्डिन्याय विवक्षित है। परन्तु गुरु ने उसे असूयक जानते हुए प्लुतरहित ही नमस्कार का उत्तर दिया कि 'आयुष्मानेधि स्थालिन्'। निन्दक फिर बोला कि मुझे दण्डिन्याय विवक्षित नहीं है। मेरी तो स्थालिन् यही संज्ञा है। अतः आप मेरे नाम को प्लुत क्यों नहीं करते ? तब तो गुरु ने उसे निश्चितरूप से निन्दक जानकर क्रोध में कहा - तू निन्दक है। अतः तेरे नाम को मैं प्लुत नहीं करूँगा। भाग जा यहाँ से। इस न्याय का तात्पर्य यही है कि जैसे बहुत से दण्डधारियों में यद्यपि कुछ लोग बिना दण्ड धारण किए हुए भी होते हैं किन्तु फिर भी वे **दण्डधारियों के साहचर्य से दण्डी कहलाते हैं।** इसी प्रकार **किसी के साहचर्य से जहां अन्य शब्द का उपचार से प्रयोग होता है, वही दण्डिन्याय है।** इसे ही छत्रिन्याय भी कह सकते हैं। प्रस्तुत न्याय न्यायवार्तिक तथा वाचस्पतिमिश्र की तत्त्वबिन्दु टीका में भी उद्धृत हुआ है।[132] शिवभागवत न्याय भी औपचारिक प्रयोग है, तद् यथा–

13. शिवभागवत न्याय

"किं योऽयःशूलेनान्विच्छति स आयःशूलिकः ? किं चातः ? शिवभागवते प्राप्नोति। ...... यो मृदुनोपायेनान्वेष्टव्यानर्थान् रभसेनान्विच्छति स उच्यते आयःशूलिकः।"[133]

यह न्याय उद्द्योतकार नागेश ने **"अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ"** सूत्र से बनने वाले 'आयःशूलिक' प्रयोग पर दिया है। जब भाष्यकार ने यह शङ्का की कि 'आयःशूलिकः' तो भगवान् शिवजी का नाम होना चाहिए। क्योंकि लोहे का त्रिशूल तो वही रखते

हैं तो इसका उत्तर स्वयं भाष्यकार ने ही दिया है कि 'आयःशूलिकः' यह प्रयोग लाक्षणिक है।[134] इस शूल का अर्थ यहां लोहे का त्रिशूल नहीं है। किन्तु जैसे लोहे का त्रिशूल बड़ा कठोर होता है वैसे ही जो सरल उपाय से सिद्ध होने वाले कार्यों को भी कठोरता से सिद्ध करता है उस उग्र हिंसक मनुष्य को 'आयःशूलिक' कहा जाता है। शिवभागवत शब्द में जो कि स्वयं महाभाष्यकार का प्रयोग है, उसमें प्रदीपकार कहते हैं कि 'भगवान् भक्तिरस्य भागवतः। शिवस्य भागवत इति षष्ठी समासः' यहां अवयव के स्पर्श द्वारा समुदाय का विशेषण बन जाने पर 'शिवो भगवान्भक्तिर्यस्य प्रतीयते स शिवभागवतः' ऐसा प्रयोग बनता है। उद्द्योतकार तो 'शिवभागवत' का अर्थ कापालिक लिखते है। क्योंकि वे शिव के भक्त होने के कारण हाथ में त्रिशूल लिए हुए भिक्षा मांगते फिरते हैं।[135] औपचारिक प्रयोगों के सन्दर्भ में आयुर्घृतम्, दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः तथा नड्वलोदकं पादरोगः न्याय भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। तद् यथा-

14. दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः न्याय

15. नड्वलोदकं पादरोगः न्याय

16. आयुर्घृतम् न्याय/अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते न्याय

"अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते। तद् यथा- दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः। ज्वरनिमित्तमितिगम्यते। नड्वलोदकं पादरोगः। पादरोगनिमित्तमिति गम्यते। आयुर्घृतम् आयुषो निमित्तमिति गम्यते।"[136]

"द्विर्वचनेऽचि" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि यदि "द्विर्वचनेऽचि" सूत्र का अर्थ 'द्वित्वनिमित्तक अच् परे रहते अच् के स्थान में आदेश स्थानिवत् होता है' - ऐसा मानते हैं तो निमित्त शब्द का उपादान करना चाहिए। 'द्विर्वचने' की जगह 'द्विर्वचननिमित्ते' ऐसा कहना चाहिए। क्योंकि बिना 'निमित्त' शब्द लगाए निमित्तार्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी तो इसका उत्तर देते हैं कि बिना 'निमित्त' शब्द लगाए भी निमित्तार्थ की प्रतीति हो जाएगी।[137] जैसे लोक में बोलते हैं - 'दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः' अर्थात् दही और खीरा एक साथ खाना प्रत्यक्ष या साक्षात् ज्वर है या ज्वर का निमित्त है। उससे ज्वर हो जाता है। इसी तरह नलों के पानी में घूमना पादरोग है या पादरोग का निमित्त है, कारण है। गन्दे नड्वल प्रदेश में पड़े पानी में घूमने से पादरोग हो जाता है। इसी प्रकार 'आयुर्घृतम्' अर्थात् घी तो आयु है। भला घी आयु कैसे हो सकता है ? वस्तुतः आयु देने वाला होने से घी उसका निमित्त है।[138] भाष्यकार कहते हैं कि कारण में कार्योपचार के ये सब लाक्षणिक प्रयोग लोकव्यवहार में चलते हैं इसलिए 'निमित्त' शब्द के बिना भी "द्विर्वचनेऽचि" में द्वित्वनिमितक अर्थ की प्रतीति हो जाएगी - इसमें कोई सन्देह नहीं है। ये लौकिक प्रयोग ही इसमें प्रमाण हैं। "द्विगोर्लुगनपत्ये" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में पदमञ्जरीकार ने भी कारणेऽपि कार्यवदुपचारो दृश्यते सिद्धान्त द्वारा आयुर्घृतम् इस न्याय पर विशेष विचार किया है। वे कहते हैं-

17. कारणेऽपि कार्यवदुपचारो दृश्यते न्याय

"भवति हि कारणे कार्योपचारः - आयुर्घृतमिति यथा। कार्येऽपि कारणवदुपचारो दृश्यते, यथा- पुरातनं कर्म भुज्यते इति, ततश्च द्विगुर्यस्य प्रत्ययस्य निमित्तं सोऽपि गुणकल्पनया गुणशब्देनोपचारस्य निमित्तभूतो धर्मो विवक्षितः"।[139]

इस न्याय का अर्थ यह है कि कारण में भी कार्य का उपचार या व्यवहार हो जाता है, जैसे- 'आयुर्घृतम्' यह कहते हैं। इसका अर्थ है कि घी आयु का कारण है। पर उसे आयु का कारण न कहकर साक्षात् आयु ही कह देते हैं। यह जो इस प्रकार का शब्दप्रयोग है, इसे गौणी शक्ति, लक्षणा या उपचार कहते हैं। यह तो कारण में कार्य का जो उपचार है, उसका उदाहरण है अर्थात् यहां तो कारण को ही कार्य कह दिया गया है। इससे दूसरा उदाहरण कार्य में भी कारण का उपचार देखा जाता है, जैसे कहते हैं– पुराना कर्म भोगा जाता है। इसी प्रकार "द्विगोर्लुगनपत्ये" इस सूत्र की व्याख्या में भी द्विगु समास का निमित्त जो प्रत्यय है, उसे भी लक्षणा से द्विगु कह दिया गया है। इस प्रकार कारण में कार्य का उपचार तथा कार्य में कारण का उपचार ये दोनों ही न्याय लोकशास्त्र में प्रसिद्ध है। अन्यत्र भी ये आयुर्घृतम् इत्यादि न्याय अनेकत्र दृष्टिगोचर होते हैं।[140] लक्षणावृत्ति के व्याख्याप्रसङ्ग में 'सिंहो माणवकः' यह न्याय भी मूर्धाभिषिक्त उदाहरण है, तद् यथा-

18. सिंहो माणवकः न्याय

"यथा हि सिंहो माणवक इति सिंहगुणा माणवके आरोप्यन्ते, नैवमत्र सम्भवः प्रयोजनं वास्ति, अतः पारिशेष्यात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध एव"।[141]

पदमञ्जरीकार "वृद्धिरादैच्" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में 'वृद्धि' और 'आदैच्' शब्दों का आपस में संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध सिद्ध करते हुए उनके परस्पर विशेषणविशेष्यभाव और एक-दूसरे के गुणों के अध्यारोप का प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि जैसे 'सिंहो माणवकः' इस वाक्य में माणवक को लक्षणा से सिंह कहते हुए सिंह के गुण माणवक में आरोपित किए जाते हैं वैसे यहां 'वृद्धि' और 'आदैच्' में सम्भव नहीं है। क्योंकि 'आदैच्' में वृद्धि के गुणों का आरोप अथवा 'वृद्धि' में 'आदैच्' के गुणों का आरोप सम्भव नहीं है और न ही उसका कुछ प्रयोजन है। इसलिए अन्य सब सम्बन्ध हटाकर 'वृद्धिः' और 'आदैच्' का केवल संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध ही यहां स्वीकार किया गया है अर्थात् 'वृद्धि' शब्द संज्ञा है और 'आदैच्' संज्ञी है। दूसरे शब्दों में - आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा होती है - यह सूत्र का अर्थ स्थिर हो जाता है। यहां न्यासकार कहते हैं - "दृश्यते हि सादृश्यादर्थान्तरेऽपि शब्दानां वृत्तिः सिंहो माणवक इति"।[142] ग्रन्थकार ने यहां सिंहो माणवकः' का उपन्यास केवल एक-दूसरे के गुणों के अध्यारोप का निराकरण करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप में ही किया है। तात्पर्य यह है कि जैसे माणवक में सिंह के क्रौर्य, शौर्य आदि गुणों का आरोप करके उसे सिंह कह देते

हैं वैसे यहां 'वृद्धिः' और 'आदैच्' का परस्पर कोई अध्यारोप नहीं हो सकता। यह न्याय भी व्याकरण आदि शास्त्रों में अनेकत्र प्रयुक्त हुआ है जिनमें से कुछ का ही संकेतस्थल यहां दिया गया है।[143]

19. तत्सम्बन्धात् ताच्छब्द्य न्याय

इसी तरह लोक में कहीं-कहीं पर स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है, जैसे- राजकीय पुरुष को पुरुषः राजा या राजायम् कह दिया जाता है। यत्र तत्र अवयवावयविभावरूप सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है, जैसे- अग्रहस्तः यहां पर अग्रभागमात्र में हस्त शब्द का प्रयोग होता है।

20. तात्कर्म्यात् ताच्छब्द्य न्याय

इसी तरह कहीं-कहीं पर तात्कर्म्यरूप सम्बन्ध के कारण भी लक्षणा देखी जाती है, जैसे- जो तक्षा या बढ़ई नहीं है इसे भी बढ़ई का काम करने के कारण बढ़ई या तक्षा कह दिया जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त तात्स्थ्यादि लक्षणा के विभिन्न प्रकार इस बात को सूचित करते हैं कि तद्भिन्न में भी तत् शब्द का प्रयोग हो सकता है। इसलिए पूर्वोक्त प्रकृत प्रष्ठी शब्द में 'तस्येदम्' सम्बन्ध न मानकर 'सोऽयम्' सम्बन्ध भी मान लिया जाएगा तो तद्धित प्रत्यय के लुक् विधान करने की आवश्यकता नहीं रहती। उपरिविवेचित गङ्गायां घोषः इत्यादि न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुए हैं।[144] लक्षणावृत्तिमूलक न्यायों के प्रसङ्ग में अगला गौणमुख्यन्याय भी द्रष्टव्य है-

21. गौणमुख्य न्याय / न ह्यनभिधाय मुख्यं गौणमभिवदति शब्दः न्याय

"एवमप्यगौर्गौः समपद्यत गोऽभवत्-अत्र प्राप्नोति। एवं तर्हि "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययो भवति। तद् यथा- गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्निषोमीय इति न वाहीकोऽनुबध्यते। कथं तर्हि वाहीके वृद्ध्यात्वे भवतः-गौस्तिष्ठति गामानय इति। अर्थाश्रय एतदेवं भवति। यद्धि शब्दाश्रयं शब्दमात्रे तद्भवति। शब्दाश्रये वृद्ध्यात्वे"।[145]

"ओत्" सूत्र के भाष्य की प्रदीप व्याख्या में कैयट लिखते हैं– "तस्माल्लौकिकोऽयं न्यायो गौणमुख्ययोरिति"। इसका अर्थ है कि लोक में यह न्याय प्रसिद्ध है कि गौण और मुख्य कार्य की संम्प्रधारणा में मुख्य में ही कार्य होता है, गौण में नहीं। जैसे 'गौरानीयताम्' ऐसा कहने पर सास्नादिमान् मुख्य वाच्य पशु ही लाया जाता है, गौण वाच्य वाहीक पुरुष नहीं। इन शब्दों की व्युत्पत्ति इस प्रकार है - 'गुणादागतो गौणः'। और 'मुखमिव प्रधानत्वाद् मुख्यः'। गुण का अर्थ विशेषण, उपलक्षण या उपचार है। जो उपचार से प्रयोग किया जाता है, वह गौण है अर्थात् आरोपित या अमुख्य शब्दार्थ। और मुख के समान जो प्रधान है, वह मुख्य अर्थ कहलाता है। मुख्य अर्थ अभिधावृत्ति से बोध्य होता है जबकि गौण अर्थ लक्षणावृत्ति से प्रतिपादित किया जाता है, जैसे गो शब्द का मुख्य अर्थ तो पशु है। अब इस पशु में मूर्खता आदि गुणों को देखकर जो उसके सदृश मूर्ख वाहीक (चाण्डालादि) है, उसको गो शब्द से पुकारना कि यह

वाहीक गौ है - यह गौण प्रयोग है।[146] "गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्निषोमीयः" यह श्रौत वाक्य है। इसका अर्थ है कि अग्निषोम देवताओं के लिए गौ या अज का अनुबन्धन (यूप में बांधना) करे। यहां गौ शब्द का अर्थ चतुष्पाद गो नामक पशु रूप मुख्य अर्थ ही लिया गया है। फलतः वही बांधा जाता है, गौ का अमुख्य या लाक्षणिक अर्थ जो वाहीक मनुष्य है, वह नहीं बांधा जाता। क्योंकि जहां गौण और मुख्य दोनों अर्थ सम्भव हों, वहां मुख्य अर्थ में ही कार्य किया जाता है। यहां यह कहना ठीक नहीं कि फिर वाहीक अर्थ में प्रयुक्त लाक्षणिक गो शब्द के 'गौस्तिष्ठति' 'गामानय' ये रूप कैसे बनते हैं ? अर्थात् यहां "गोतो णित्"[147] से णिद्वद्भाव होकर "अचो ञ्णिति"[148] से वृद्धि और "ओतोम्शसोः"[149] से आत्व कैसे होंगे ? क्योंकि 'गौणमुख्यन्याय' के अनुसार तो मुख्य गो पशु अर्थ में ही णित्त्वप्रयुक्त वृद्धि और आत्त्व हो सकते हैं, अमुख्य या गौण वाहीक अर्थ में वृद्धि और आत्व नहीं होने चाहिएं तो इसका उत्तर है कि यह 'गौणमुख्यन्याय' प्रयोगार्ह पद में ही लगता है, अप्रयोगार्ह अपद या प्रातिपदिक अवस्था में इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में णित्त्वप्रयुक्त वृद्धि और आत्व प्रातिपदिकाश्रय कार्य हैं। वे पदकार्य नहीं हैं या पद का आश्रयण नहीं करते। इसलिए वे गौण में भी हो जाते हैं। क्योंकि उनकी प्रवृत्ति के समय अर्थ की गौणता ही प्रकट नहीं होती। मुख्य या गौण अर्थ का बोध तो "सुप्तिङन्तं पदम्"[150] सूत्र के नियम से पद बन जाने पर ही सम्भव है। 'अपदं न प्रयुञ्जीत'[151] के अनुसार अपद या प्रातिपदिक का तो प्रयोग ही नहीं हो सकता। और प्रयोग के बिना अर्थावबोध कैसे हो ? क्योंकि पद बन जाने पर तो मुख्य या अमुख्य अर्थ प्रकाशित हो सकता है। इसलिए 'गौणमुख्यन्याय' अर्थाश्रय या पदाश्रय है और वृद्धि तथा आत्व शब्दाश्रय एवं प्रातिपदिकाश्रय हैं। अतः वे अमुख्य अर्थ की प्रतीति से पूर्व ही हो जाते हैं। फलतः वाहीक में भी 'गौस्तिष्ठति', 'गामानय' यह प्रयोग हो ही जाता है। 'गौणमुख्यन्याय' का वैदिक उदाहरण तो "गौरनुबन्ध्यः" यह ऊपर दिया ही गया है।

इसके अतिरिक्त 'अगौः गौः समपद्यत गोऽभवत्' यह भी इस न्याय का सुन्दर शास्त्रीय उदाहरण है। यहां 'अभूततद्भाव' अर्थ में गो शब्द से "अभूततद्भावे कृभ्वस्ति योगे सम्पद्यकर्तरि च्विः"[152] इस सूत्र से 'च्वि' प्रत्यय होकर उसका सर्वापहारी लोप हो जाता है। प्रत्ययलक्षण[153] से गो शब्द को च्व्यन्त मानकर "ऊर्यादिच्विडाचश्च"[154] से निपातसंज्ञा हो जाने से अव्ययसंज्ञा[155] हो जाती है और उससे परे आने वाले 'सु' प्रत्यय का "अव्ययादाप्सुपः"[156] से लुक् हो जाता है। इस प्रकार गो शब्द के ओदन्त निपात हो जाने से "ओत्" सूत्र से प्राप्त प्रगृह्यसंज्ञा की "गौणमुख्यन्याय' से निवृत्ति हो जाती है, अन्यथा 'गोऽभवत्' में प्रगृह्यसंज्ञा यदि हो जाती तो प्रकृतिभाव होकर 'गो अभवत्' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता। 'गोऽभवत्' में गो शब्द का अमुख्य अर्थ स्पष्ट ही है। क्योंकि वह मूलतः या प्रकृतितः 'अगौः' है, वस्तुतः या मुख्यरूप से गौ नहीं है। इसलिए 'गौणमुख्यन्याय' की प्रवृत्ति से यहां "औत्" सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा नहीं

होगी। क्योंकि यह गौण ओदन्त निपात है, मुख्य नहीं है। इसी प्रकार भाष्यकार ने "युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः" "अस्मद्युत्तमः" तथा "शेषे प्रथमः"[157] इन सूत्रों के भाष्य में भी उक्त न्याय का पुनरुपन्यास इसीलिए किया है कि वहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि 'अत्वं त्वं सम्पद्यते त्वद्भवति, मद्भवति' बने या त्वद्भवसि, मद्भवसि बने अर्थात् युष्मद् और अस्मद् के योग में मध्यम, उत्तम पुरुष प्रयुक्त हों या प्रथम पुरुष ? इसके उत्तर में भाष्यकार ने 'त्वद्भवति, मद्भवति बनाकर मध्यमोत्तम की निवृत्ति के लिए 'गौणमुख्यन्याय' दिया है। स्पष्ट है कि 'त्वद्भवति, मद्भवति' में युष्मद्, अस्मद् का अर्थ गौण है, मुख्य नहीं है। अतः मध्यम, उत्तमपुरुष न होकर प्रथमपुरुष ही शेष होने से निर्बाध हो जाता है।

इस प्रकार 'गौणमुख्यन्याय' के अनेक प्रयोजन शास्त्र में द्रष्टव्य हैं। लोक में तो मुख्य अर्थ के संभव होने पर गौण अर्थ का ग्रहण होता ही नहीं। हां, जहां मुख्य अर्थ का बाध होकर अमुख्य अर्थ ही लेना अभीष्ट होता है, वहां गौण या अमुख्य अर्थ का भी ग्रहण हो जाता है। इस न्याय के विषय में कैयट स्पष्ट लिखते हैं - "पदकार्येष्वेवायं न्यायो न प्रातिपदिककार्येषु इति"।[158] इस न्याय को "न ह्यनभिधाय मुख्यं गौणमभिवदति शब्दः" इस नाम से भी कहा जाता है। यह न्याय शास्त्रों में बहुत्र प्रयुक्त हुआ है।[159]

22. नटभार्या न्याय/नटाङ्गना (शैलूषी) न्याय/नटभार्यावद् व्यञ्जनानि भवन्ति न्याय

"व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद् भवन्ति। तद् यथा- नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः। एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते।"[160]

"अजादेर्द्वितीयस्य" सूत्र के भाष्य में उक्त न्याय दिया गया है जिसका अर्थ है कि व्यञ्जन अक्षर नटों की भार्या के समान होते हैं, जैसे नटों की भार्याओं का कोई निश्चित पति नहीं होता। वे जब रङ्गशाला में उपस्थित होती हैं तो जो भी कोई पूछता है कि तुम किसकी स्त्री हो ? वे उसको 'हम आपकी स्त्री हैं' – ऐसा कहती हैं अर्थात् जिसके साथ उनका काम पड़ता है वे उसी की स्त्री बन जाती हैं। इसी प्रकार व्यञ्जन भी जिस-जिस अच् के साथ उनका सम्बन्ध या कार्य कहा जाता है, वे उसी से सम्बद्ध हो जाते हैं, जैसे- 'आट', 'आटतुः', 'आटुः' यहां प्रथम एकाच् अकार को द्वित्व कहा है तो टकार व्यञ्जन अकार के साथ सम्बद्ध होकर 'अट्' शब्द को द्वित्व होता है। इसी तरह अटिटिषति में द्वितीय एकाच् 'इस्' शब्द को द्वित्व कहा है तो 'अट्' का टकार 'इस्' के साथ सम्बद्ध होकर 'टिस्' शब्द को द्वित्व होता है। व्यञ्जन अच् के साथ चलते हैं।[161] द्वित्वविधान में उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। नटभार्या का दृष्टान्त लोकप्रसिद्ध है, जैसे नटों की भार्या नटों के अधीन है, जिस नट को देखती है, उसी की हो जाती है, उसी प्रकार व्यञ्जनों की स्थिति है - यह समझाने के लिए

भाष्यकार ने उक्त लोक न्याय उपन्यस्त किया है। यह नटाङ्गना न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[162]

ङ (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित नाट्य-नृत्यसम्बन्धी लोकन्याय

1. भ्रुकुंस न्याय[163]
2. वाराणसी जित्वरी/बालवाय विदूर (औपचारिक) न्याय[164]
3. द्रव्यं हि लोके अधिकरणमित्युपचर्यते न्याय[165]
4. चित्रबुद्धि न्याय[166]
5. रेरवागवय न्याय[167]
6. कुड्यं बिना चित्रकर्म न्याय/न ह्यसति कुड्ये चित्रकर्म न्याय[168]

सन्दर्भसूची

1. पा. 2.2.34 पर वार्तिक।
2. पा. 2.2.29.
3. मनु. 3.56.
4. पा. 4.3.98.
5. पा. 2.2.34 पर वार्तिक।
6. जैमिनीय न्यायमालाविस्तर, अध्याय 12; आनन्दगिरिकृत ब्रह्मसूत्रव्याख्या, 1.4.28.
7. पा. 2.2.34 पर वार्तिक।
8. पा. 2.2.34 पर वार्तिक
9. परि. सं. 17, पृ. 33.
10. पा. 1.2.12.
11. पा. 1.2.11.
12. पा. 6.3.1.
13. पा. 6.3.25.
14. पा. 4.1.27.
15. पा. 4.1.26.
16. परि. सं. 18, पृ. 34.
17. पा. 6.1.93.
18. पा. 5.2.25.
19. द्र. पृ. 97.
20. द्र. पृ. 481.
21. द्र. पृ. 97.

22. द्र. पृ. 101; 373.
23. द्र. पृ. 584; 587.
24. द्र. पृ. 542.
25. द्र. पृ. 70.
26. द्र. पृ. 72.
27. द्र. पृ. 73.
28. द्र. पृ. 76.
29. द्र. पृ. 78.
30. द्र. पृ. 638; 639.
31. द्र. पृ. 223.
32. द्र. पृ. 125.
33. द्र. पृ. 335.
34. द्र. पृ. 546.
35. द्र. पृ. 635.
36. द्र. पृ. 322.
37. द्र. पृ. 547.
38. द्र. पृ. 636.
39. द्र. पृ. 85.
40. द्र. पृ. 550.
41. द्र. पृ. 463; 465.
42. द्र. पृ. 142.
43. द्र. पृ. 233.
44. द्र. पृ. 73.
45. द्र. पृ. 458; 459; 467.
46. द्र. पृ. 205.
47. द्र. पृ. 346.
48. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.5, पृ. 83).
49. वही, पृ. 83.
50. का. प्र. सप्तम उल्लास, कारिका सं. 340.
51. पा. 1.1.5.
52. द्र. पृ. 466.
53. द्र. पृ. 117.
54. द्र. पृ. 428.

55. द्र. पृ. 640.
56. द्र. पृ. 236.
57. द्र. पृ. 64.
58. द्र. पृ. 146.
59. द्र. पृ. 208.
60. महा. भा. 1, सू. 2.1.36, पृ. 389.
61. वही. पृ. 388.
62. तुलना करो, वा. प. 3.13.21-22

"भावतत्त्वदृशः शिष्टाः शब्दार्थेषु व्यवस्थिताः।
यद् यद्धर्मेऽङ्गतामेति लिङ्गं तत्तत् प्रचक्षते॥
स्वरभेदाद् यथा शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
लिङ्गभेदात् तथा सिद्धात् साधुत्वमनुगम्यते॥"

63. महा. भा. 1, सू. 2.4.12, पृ. 477.
64. पा. 2.4.17.
65. पा. 5.3.89, 88.
66. का. भा. 4, सू. 5.3.8, पृ. 304 - "स्वार्थिकत्वेऽपि पुंलिङ्गता लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति।"
67. महा. भा. 1, सू. 2.2.29, पृ. 435; भा. 2, सू. 5.3.66, पृ. 418; सू. 5.4.68, पृ. 438; भा. 3, सू. 8.1.15, पृ. 371; का. भा. 4, सू. 5.3.89, पृ. 304; भा. 5, सू. 7.1.1, पृ. 527; महा. प्र. भा. 3, सू. 4.1.3, पृ. 443, 456; प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.1.36, पृ. 54; सू. 2.2.28, पृ. 141; भा. 3, सू. 4.1.3, पृ. 267; भा. 4, सू. 5.1.59, पृ. 65; भा. 5, सू. 6.3.47, पृ. 249); दु. वृ. सू. 2.4.29, पृ. 50; सू. 3.3.102, पृ. 69; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 2, सू. 812, पृ. 119); महा. प्र. उ. भा. 3, सू. 3.3.136, पृ. 355; सू. 4.2.92, पृ. 669.
68. महा. भा. 2, सू. 4.1.3, पृ. 195-98.
69. द्र. क. शब्दकल्पद्रुम, काण्ड 2, पृ. 416 'चञ्चा तृणनिर्मितपूरुष इति मेदिनी। ख. मोनियर विलियम पृ. 917, 'वध्रिका – A castrated person; Eunuch.
70. यह मृगतृष्णा या मृगमरीचिकादृष्टान्तमूलक न्याय प्रकृत सूत्रस्थ प्रदीप तथा प्रदीपोद्द्योत में भी मिलता है। तुलना करो-

"मृगतृष्णायामुदकं शुक्तौ रजतं भुजङ्गमो रज्ज्वाम्।
तैमिरिकचन्द्रयुगवद् भ्रान्तमखिलं जगत्॥"

इसके अतिरिक्त यह मृगतृष्णिकाविषयक जलज्ञान न्याय महा. प्र. भा. 2, सू. 1.3.1, पृ. 181 पर भी उद्धृत हुआ है।

71. वा. प. 2.287;92; 3.13;8-9. उक्त कारिकाएं महा. प्र., शृङ्गारप्रकाश तथा वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा में भी उद्धृत मिलती हैं।

72. यह आदित्यगति न्याय "अ इ उ ण्" इत्यादि सूत्र भाष्यों में भी (द्र. पृ. 58) बहुधा उद्धृत देखा जा सकता है।

73. तुलना करो–

(क) चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 11.1-8 "सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षाद्, अतिविप्रकर्षाद्, आवरणात्, करणदौर्बल्यात्, मनोऽनवस्थानात्, समानाभिहारात् अतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः"।

(ख) महा. भा. 2, सू. 3.2.115, पृ. 120 - "कश्चिज्जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते। किं पुनः कारणं जाग्रदपि वर्तमानकालं नोपलभते। मनसा संयुक्तानीन्द्रियाण्युपलब्धौ कारणानि भवन्ति। मनसोऽसांनिध्यात्।"

(ग) सांख्यकारिका सं. 7 -

"अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानाद् अभिभवात् समानाभिहाराच्च॥"

74. तुलना करो - महा. भा. 1, सू. 1.1.3, पृ. 48 "लक्षणं हि नाम ध्वनति भ्रमति मुहुर्तमपि नावतिष्ठते।"

75. तुलना करो - वा. प. 3.14.323, 24, 27 -

"प्रवृत्तिरिति सामान्यं लक्षणं तस्य कथ्यते।
आविर्भावस्तिरोभावः स्थितिश्चेत्यथ भिद्यते॥
प्रवृत्तिमन्तः सर्वेऽर्थाः तिसृभिश्च प्रवृत्तिभिः।
सततं न वियुज्यन्ते वाचश्चैवात्र संभवः॥
अचेतनेषु सङ्क्रान्तं चैतन्यमिव दृश्यते।
प्रतिबिम्बकधर्मेण यत्तद्वाचो निबन्धनम्॥"

76. तुलना करो, वा. प. 3.13.20-22

"सन्निधाने निमित्तानां किंञ्चिदेवात्र प्रवर्त्तकम्।
यथा तक्षादिशब्दानां लिङ्गेषु नियमस्तथा॥
भावतत्त्वदृशः शिष्टाः शब्दार्थेषु व्यवस्थिताः।
यद् यद् धर्मेऽङ्गतामेति लिङ्गं तत्तत् प्रचक्षते॥
स्वरभेदाद् यथा शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
लिङ्गभेदात्तथा सिद्धात् साधुत्वमनुगम्यते॥"

77. महा. भा. 3, सू. 7.4.82, पृ. 357.

78. पा. 7.4.60.

79. पा. 7.4.97.

80. प. मं. (का. भा. 6, सू. 8.4.32, पृ. 640).

81. वही. (का. भा. 1, हयवरट् सूत्र, पृ. 48).

82. द्र. पृ. 588.

83. द्र. पृ. 288.

84. द्र. पृ. 380.

85. द्र. पृ. 302.

86. द्र. पृ. 328.

87. द्र. पृ. 350.

88. द्र. पृ. 484.

89. द्र. पृ. 241.

90. द्र. पृ. 55.

91. महा. भा. 2, सू. 3.1.26, पृ. 36.

92. वही. सू. 3.1.26, पृ. 34 पर वार्तिक।

93. 'शौमिकाः' की व्याख्या करते हुए कैयट लिखते हैं – "कंसाद्यनुकारिणां नटानां व्याख्यानोपाध्यायाः। कंसानुकारी नटः सामाजिकैः कंसबुद्ध्या परिगृहीतः कंसो भाष्ये विवक्षितः" (प्रकृतसूत्रस्थ महा. प्र.)।

94. प्रकृत सूत्रस्थ महा. प्र. उ. - 'गड्डुः मनुष्यसंघातः'।

95. वा. प. 3.7.3; 51. शृङ्गारप्रकाश, शब्दकौस्तुभ तथा परमलघुमञ्जूषा में भी उक्त कारिका उद्धृत हुई है।

96. प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.26, पृ. 399; भा. 4, सू. 5.4.48, पृ. 360).

97. महा. भा. 2, सू. 4.1.48, पृ. 218.

98. पा. 4.3.120.

99. प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.87, पृ. 466).

100. (क) न्यास. (का. भा. 2, सू. 3.1.87, पृ. 466; भा. 5, सू. 6.2.1, पृ. 1; भा. 6, सू. 8.4.9, पृ. 617); प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.2.3, पृ. 510); त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 4, सू. 2906, पृ. 42); महा. प्र. उ. भा. 4, सू. 5.3.55, पृ. 207; बृ. श. शे. भा. 3, सू. 2766, पृ. 1976.

(ख) सर्वदर्शनसंग्रह, पातञ्जलदर्शन, पृ. 138; शाङ्कर दर्शन, पृ. 148.

101. सादृश्यमूलक इस लाक्षणिक न्याय के विषय में भर्तृहरि का कथन है–

"यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते।
तथा स एव गोशब्दो वाहीकेऽपि व्यवस्थितः॥"

"गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात् कैश्चिदिष्यते।

अर्थमात्रं विपर्यस्तः शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः॥" (वा. प. 2.252, 255)

102. परि. सं. 15.

103. न्यास. भा. 3, सू. 4.1.20, पृ. 305-6.

104. (क) न्यास. (का. भा. 3, सू. 4.2.1, पृ. 508); महा. प्र. भा. 3, सू. 4.1.48, पृ. 503; प. मं. (का.भा. 2, सू. 2.3.46, पृ. 204; सू. 3.2.171, पृ. 671); श. कौ. भा. 2, सू. 2.3. 46, पृ. 238; प. ल. म. लक्षणानिरूपण, पृ. 67, 74; सुबोधिनी (वै. सि. कौ.) भा. 4, सू. 3435, पृ. 397.

(ख) सर्वदर्शनसंग्रह, पातञ्जल दर्शन, पृ. 138.

105. प. मं. (का. भा. 1, हयवरट् सूत्र पृ. 43– "न च वाच्यम् - गङ्गायां घोष इति वल्लक्षणया व्यक्तिः प्रतीयते इति शब्दान्तरसन्निधानमन्तरेणापि नियमेन प्रतीयमानत्वात् तर्हि लाक्षणिकोऽर्थ एवं प्रतीयते। अतशब्दमहिम्नैव जातिर्व्यक्तिश्च प्रतीयत इत्युभयं शब्दार्थः।"

106. द्र. महा. भा. 1, सू. 1.2.64, पृ. 246 "न ह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो द्रव्यपदार्थिकस्य वाकृतिर्न पदार्थः। उभयोरुभयं पदार्थः, कस्यचित्तु किञ्चित् प्रधानभूतं किञ्चिद् गुणभूतम्। आकृतिपदार्थिकस्याकृतिः प्रधानभूता द्रव्यं गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता"।

107. इस न्याय के कतिपय प्रयोगस्थल निम्न हैं–

न्यास. (का. भा. 3, सू. 4.2.3, पृ. 510; भा. 4, सू. 5.4.90, पृ. 395; भा. 5, सू. 7.1. 28, पृ. 561); प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.1.1, पृ. 7; सू. 2.3.46, पृ. 204; भा. 3, सू. 4. 1.82, पृ. 393); श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.66, पृ. 272; स्फोटचन्द्रिका पृ. 15; महा. प्र. उ. भा. 4, सू. 5.3.55, पृ. 207; बृ. श. शे. भा. 2, सू. 560, पृ. 871; प. ल. म., लक्षणानिरूपण, पृ. 67; 74.

108. महा. भा. 1, सू. 1.2.29-30, पृ. 206.

109. तुलना करो, वा. प. 3.1.7 -

"यथा रक्तगुणो तत्त्वं कषाये व्यपदिश्यते।

संयोगिसन्निकर्षात्तु वस्त्रादिष्वपि गृह्यते॥"

110. द्र. सांख्यदर्शन, 1.96 "तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्" तुलना करो, गीता, 3. 27 -

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥"

111. मा. यजुः 1.1.

112. परि. सं. 80.

113. महा. भा. 1, सू. 1.4.109, पृ. 355.

114. पा. 8.4.66.

115. न्यायोक्ति कोश, पृ0 40.

116. साहचर्य नियम की बलवत्ता के विशेष दर्शन के लिए प्रकृत ग्रन्थ का साहचर्य न्याय पृ. 326 पर देखें।

117. न्यास. भा. 4, सू. 6.1.149, पृ. 624.

118. वै. भू. सा. समासशक्तिनिर्णय पृ. 397; प. ल. म. लक्षणानिरूपण पृ. 65-67.

119. न्यास. भा. 1, सू. 1.3.91, पृ. 492.

120. कठोपनिषद् शाङ्कर भाष्य, प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली - "ऋतं सत्यमवश्यं भावित्वात्। कर्मफलं पिबन्तौ एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरस्तथापि पातृसम्बन्धात् पिबन्तावित्युच्यते छत्रिन्यायेन"। यही बात इसी न्याय के साथ शङ्कराचार्य ने वेदान्त सूत्र (3.3.34) के अपने व्याख्यान में पुनः कही है।

121. वा. प. 3.12.22.

122. जै. सू. 1.4.28.

123. तन्त्रवार्तिक 1.4.13. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, 2.2.12. यहां आदि से तात्पर्य कठोपनिषद्, वेदान्तसार का शाङ्करभाष्य तथा कुवलयानन्द है।

124. महा. प्र. भा. 2, सू. 2.1.40, पृ. 604; सू. 2.2.38, पृ. 750; प. मं. (का. भा. 4, सू. 6. 1.102, पृ. 573); महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.3, पृ. 142; भा. 2, सू. 2.1.11-12, पृ. 575; बृ. श. शे. भा. 2, सू. 1093, पृ. 1244; भा. 3, सू. 3472, पृ. 2176; प. ल. म. लक्षणानिरूपण, पृ. 65; लौ. न्या. र. पृ. 150. तुलना करो, न्यास (का. भा. 3, सू. 3. 4.17 पृ. 161) "भवति हि तद्वाचित्वात् ताच्छब्द्यम्, यथा- क्षुद्रजन्तवः। तत्र क्षुद्रजन्तुवाचित्वाद् यूकालिक्षादयः शब्दाः क्षुद्रजन्तुशब्देनोक्ताः।"

125. न्यास. भा. 1, सू. 1.2.43, पृ. 333.

126. महा. भा. 1, सू. 1.1.29, पृ. 91; सू. 1.1.30, पृ. 92; सू. 1.2.42-43, पृ. 214; सू. 1. 2.48, पृ. 225; सू. 1.4.49, पृ. 332; भा. 2, सू. 4.2.60, पृ. 283; सू. 4.3.66, पृ. 312; सू. 4.4.30, पृ. 331; सू. 5.1.2, पृ. 338; सू. 5.1.80, पृ. 359; भा. 3, सू. 6.1.37, पृ. 32; न्यास. (का. भा. 6, सू. 8.4.58, पृ. 659) इत्यादि।

127. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.2.32, पृ. 313).

128. वा. प. 2. 312-13.

129. (क) न्यास. (का. भा. 3, सू. 4.3.80, पृ. 671); प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.2.32, पृ. 313); महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 2.1.40, पृ. 604; प. ल. म. लक्षणानिरूपण पृ. 65.

(ख) तन्त्रवार्तिक पृ. 731; भामती सू. 1.4.3; तथा वेदान्तपरिभाषा पृ. 285 एवं लौ. न्या. र. पृ. 150, 246.

130. प. मं. (का. भा. 4, सू. 5.1.80, पृ. 78).
131. वही. भा. 6, सू. 8.2.83, पृ. 451.
132. न्यायवार्तिक 1.37.
133. महा. भा. 2, सू. 5.2.76, पृ. 387-88.
134. महा. प्र. भा. 4, सू. 5.2.76, पृ. 143 "यथायःशूलं तीक्ष्णमेवमन्योपि तीक्ष्ण उपायोऽयःशूलमुपचारादुच्यते।"
135. महा. प्र. उ. पृ. 143 "शिवभागवताः कापालिकाः। ते हि शूलहस्ता प्रायेण भिक्षां चरन्ति।"
136. महा. भा. 1, सू. 1.1.59, पृ. 156.
137. तुलना करो, महा. भा. 1, सू. 1.1.23, पृ. 81
"अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद् यथा- 'अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह' तेन मन्यामहे ब्रह्मदत्तवदयं भवतीति"।
138. ध्यातव्य है कि कुछ विद्वान् प्रकृत न्याय 'आयुर्घृतम्' का निम्न अर्थ करते हैं जो कि विचारणीय प्रतीत होता है, तद् यथा- घृत ही एकमात्र आयु है अर्थात् घी के खाने से आयु की वृद्धि होती है। इस प्रकार जहां मंगल हो, ऐसे विषय कहे जाने में यह न्याय प्रवृत्त हुआ करता है।
139. प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.1.88, पृ. 410).
140. (क) न्यास. (का. भा. 3, सू. 4.1.88, पृ. 410; भा. 5, सू. 6.2.15, पृ. 19; सू. 7.2.22, पृ. 698); सर्वदर्शनसंग्रह, पातञ्जल दर्शन, पृ. 138.
(ख) तैत्तिरीय संहिता 2.3.2.2, नमिसाधुकृत काव्यालङ्कारव्याख्या (7.83)
"आयुर्घृतं नदी पुष्पं भयं चौरः सुखं प्रिया।
वैरं द्यूतं गुरुर्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम्॥"
सुरेश्वर वार्तिक 1.5.1848-
"परीक्ष्य चक्षुषा यस्माल्लभते गोधनादिकम्।
चक्षुः स्यान् मानुषं वित्तं यथायुर्घृतमुच्यते॥"
141. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.1, पृ. 65).
142. न्यास. (का. भा. 4, सू. 6.1.57, पृ. 507).
143. (क) न्यास. (का. भा. 2, सू. 3.2.171, पृ. 671; भा. 4, सू. 6.1.57, पृ. 507); महा. प्र. भा. 2, सू. 2.2.6, पृ. 671; भा. 3, सू. 4.1.48, पृ. 503; प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.1.66, पृ. 87); महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 2.3.46, पृ. 811; बृ. श. शे. भा. 2, सू. 552, पृ. 790; 796; प. ल. म., लक्षणानिरूपण, पृ. 57, 74.
(ख) सर्वदर्शनसंग्रह, शाङ्करदर्शन, पृ. 151.
144. प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.1.48, पृ. 346); बृ. श. शे. भा. 2, सू. 424, पृ. 780, प. ल म. लक्षणानिरूपण, पृ. 67.
145. महा. भा. 1, सू. 1.1.15, पृ. 71.
146. वा. प. 2.252 -
"यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते।
तथा स एव गोशब्दो वाहीकेऽपि व्यवस्थितः॥"
147. पा. 7.1.90.
148. पा. 7.2.115.
149. पा. 7.1.93.
150. पा. 1.4.14.
151. प. ल. म; नामार्थ निर्णय पृ. 400.
152. पा. 5.4.50.
153. पा. 1.1.62 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'।
154. पा. 1.4.61.
155. पा. 1.1.37 'स्वरादिनिपातमव्ययम्'।
156. पा. 2.4.82.
157. पा. 1.4.105, 107, 108.
158. महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.15, पृ. 233.
159. (क) महा. भा. 1, सू. 1.4.108, पृ. 354; भा. 3, सू. 6.3.46, पृ. 161; सू. 8.3.82, पृ. 445; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.30, पृ. 139; सू. 1.1.73, पृ. 255; सू. 1.2.42, पृ. 331; सू. 1.3.37, पृ. 441; सू. 1.4.42, पृ. 558; भा. 2, सू. 2.3.46, पृ. 203; सू. 3.1.15, पृ. 372; भा. 3, सू. 4.2.24, पृ. 526; सू. 4.3.11, पृ. 627, भा. 5, सू. 6.3.46, पृ. 245); महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.11, पृ. 217; सू. 1.1.21, पृ. 250, सू. 1.1.57, पृ. 423; भा. 2, सू. 1.2.11, पृ. 24 सू. 1.4.3, पृ. 343; भा. 3, सू. 3.1.7, पृ. 43; सू. 3.1.92, पृ. 186; सू. 4.3.68, पृ. 711; भा. 4, सू. 5.1.71, पृ. 58; सू. 5.2.94, पृ. 148; भा. 5, सू. 7.4.47, पृ. 261; सू. 8.4.28, पृ. 502; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.37, पृ. 441, सू. 1.4.42, पृ. 558; भा. 2, सू. 3.1.7, पृ. 351; भा. 3, सू. 4.2.3, पृ. 510; सू. 4.2.59, पृ. 555; सू. 4.3.11, पृ. 626, सू. 4.3.74, पृ. 669; भा. 4 सू. 5.4.87, पृ. 393; सू. 6.1.1, पृ. 438, भा. 5, सू. 6.3.46, पृ. 246-247; भा. 6, सू. 8.1.4, पृ. 226); दु. वृ. सू. 1.1.15, पृ. 3. श. कौ. भा. 1, पस्पशा. पृ. 24; सू. 1.1.15, पृ. 134, 136; भा. 2, सू. 3.1.7, पृ. 311; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 46, पृ. 52; सू. 623, पृ. 686; भा. 2, सू. 819, पृ. 123); श.र. (प्रौ. म.) सू. 1662, पृ. 200; महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.14, पृ. 227; सू. 1.1.15, पृ. 231; भा. 2, सू. 2.1.69, पृ. 640; भा. 5, सू. 5.4.50, पृ. 261; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 25, पृ. 89; सू. 104, पृ. 237; सू. 809, पृ. 493, 494; सू. 273, पृ.

508; सू. 454, पृ. 709, 710; भा. 2, सू. 3102 पृ. 796; सू. 560 पृ. 872; सू. 1664, पृ. 1396; बा. म. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 256, पृ. 254; सू 264, पृ. 260; सू. 372, पृ. 387);

(ख) आनन्दगिरिकृत ब्रह्मसूत्रव्याख्या, 1.2.13, पृ. 185; 1.3.14, पृ. 246; शाङ्कर भाष्य, ब्र. सू. 4.3.12; शाबर भाष्य, जै. सू. 3.2.1.

160. महा. भा. 3, सू. 6.1.2, पृ. 7.

161. महा. भा. 1, सू. 1.2.30, पृ. 206 - "स्वयं राजन्ते इति स्वराः, अन्वग् भवति व्यञ्जनमिति।"

162. बृ. श. शे. भा. 3, सू. 2243, पृ. 1636; प्रत्ययमालाप्रकरण पृ. 1914.

163. द्र. पृ. 449; 451.

164. द्र. पृ. 84.

165. द्र. पृ. 603.

166. द्र. पृ. 363.

167. द्र. पृ. 345.

168. द्र. पृ. 188.

सप्तम उद्द्योत

धार्मिक विश्वास, कृत्य तथा विचार-सम्बन्धी लोकन्याय

क (1) ऋषि/देवतासम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

मङ्गलाचरण न्याय/मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते न्याय

"मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते। वीरपुरुषाणि भवन्ति। आयुष्मत्पुरुषाणि च। अध्येतारश्च मङ्गलयुक्ताः सिद्धार्था वृद्धियुक्ता वा भवन्ति"।[1]

"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" वार्तिकस्य 'सिद्ध' शब्द को मङ्गलार्थक मानते हुए भाष्यकार प्रकृत न्याय उपस्थित करते हैं कि जिन शास्त्रों या कार्यों के आदि, मध्य और अन्त में मङ्गल होता है, वे प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं। फलतः उनके सम्प्रदाय वीर आयुष्मान् पुरुष वाले होते हैं और उन शास्त्रों के पढ़ने वाले भी मङ्गलयुक्त, सफलप्रयोजन एवं वृद्धिसम्पन्न होते हैं। यद्यपि यह न्याय शास्त्रीय मर्यादा या परम्परारूप है तथापि लोकव्यवहार में भी यह देखा जाता है कि पहले भगवान् का नाम लेकर फिर कोई कार्य प्रारम्भ किया जाता है। इसी प्रकार उसी भगवान् को बीच में और फिर अन्त में भी स्मरण किया जाता है। आशुतोष भगवान् मङ्गलस्वरूप होते ही हैं। ओइम्, अथ, वृद्धि, सिद्धि, भूः, भुवः, स्वः इत्यादि सब शास्त्रीय शब्द मङ्गलसूचक हैं।

स्वयं आचार्य पाणिनि ने भी इस परम्परा का निर्वाह करते हुए "अथ शब्दानुशासनम्", "वृद्धिरादैच्" "शिवशमरिष्टस्य करे", "नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्"[2] इत्यादि सूत्रों द्वारा क्रमशः शास्त्र के आदि, मध्य तथा अन्त में मङ्गलाचरण किया है। इस विषय में सांख्य दर्शन का निम्न सूत्र भी शास्त्र में मङ्गलाचरण के विधान का समर्थन करता है - "मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतिश्चेति"।[3] इसलिए उपर्युक्त वार्तिक में भी जो वार्तिककार ने नित्य शब्द न रखकर सिद्ध शब्द रखा है, वह मङ्गलार्थ ही जानना चाहिए। यह माङ्गलिक शिष्टाचरण न्याय अन्यत्र भी मिलता है।[4] इस सन्दर्भ में अगला "भ्रमरो द्विरेफः" लोकन्याय भी पठनीय है।

2. भ्रमरो द्विरेफः न्याय/अभिधानधर्मस्याप्यभिधेये उपचारः न्याय

"भूवादीनां वकारोऽयं मङ्गलार्थ इति। अभिधानधर्मस्याप्यभिधेय उपचारो यथा-भ्रमरो द्विरेफ इति।"[5]

"भूवादयो धातवः" इस सूत्र की व्याख्या में पदमञ्जरीकार 'भूवादयो' में वकार को मङ्गलार्थ सिद्ध करते हुए यह न्याय प्रस्तुत करते हैं कि जैसे लोक में भौंरे का वाचक भ्रमर शब्द है अर्थात् उसका वाच्य भौंरा है और स्वयं भ्रमर शब्द में दो रेफ भी आते हैं, इसलिए भ्रमर की तरह द्विरेफ शब्द भी भौंरे का वाचक हो जाता है। क्योंकि जो शब्दों का धर्म होता है, उसको अर्थ में भी उपचार या लक्षणा से प्रयोग कर देते हैं। इसी प्रकार भू आदि शब्द धातुओं की संज्ञा हैं। उसका वाचक होने से जैसे भूव् में वकार मंगलार्थ है वैसे ही भू आदि शब्दों में भी यह मंगलार्थ बन जाएगा। क्योंकि नियम है कि साधु शब्द के प्रयोग में मंगल होता है। अतः 'भूवादयः' इस साधु शब्द के प्रयोग में वकार मंगलार्थ बन जाता है। यह न्याय अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[6]

3. यस्य लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् (कौरवपाण्डव) न्याय

4. यस्य लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदनित्यमपि (बालिसुग्रीव) न्याय

"अनित्यो लुगिति - यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यमित्येतत् पाक्षिकम्। यदा द्वयोर्लक्षणयोः सम्प्रधारणं क्रियते तदा यल्लक्षणप्रवृत्तावपि यस्य द्वितीयस्य लक्षणस्य प्रवृत्तिव्याघातो नास्ति तत्प्रति न तस्य दौर्बल्यम्, लक्षणान्तरेणैवैतत्प्रवृत्तिनिवारणम्, यथा बालिसुग्रीवयोर्युद्धे भगवता रामेण बालिनो वधेऽपि न सुग्रीवापेक्षं दौर्बल्यमभिदधति शूरमानिनः। एतद्दर्शनसंश्रयेणोच्यते - यस्य च लक्षणान्तरेणेति। यदा त्वेष न्याय आश्रीयते लक्षणान्तरप्रवृत्तिनिमित्तमुपसंहरल्लक्षणं बलवद् भवतीतरतु तदुपसंहृतनिमित्तलक्षणान्तरोपपादितप्रवृत्तिविघातं दुर्बलमेव। तथा च भगवद्वासुदेवसहायत्वात् पाण्डवा बलिनो दुर्बलान् धार्तराष्ट्रान् विजिग्यिरे। तदा नास्त्येतद् यस्य च लक्षणान्तरेणेति"।[7]

ये दोनों लोकन्यायसिद्ध शास्त्रीय परिभाषाएं कैयट के द्वारा "स्वमोर्नपुंसकात्" सूत्रस्थ भाष्यप्रदीप में उपन्यस्त की गई हैं जोकि क्रमशः रामायण और महाभारत के दृष्टान्तों से सिद्ध हो जाती है। इन दोनों न्यायों का क्रमश अर्थ यह है कि दो लक्षणों की प्रतिस्पर्धा में जब किसी तीसरे लक्षण से एक का निमित्त विहत हो जाता है तो वह विहत निमित्त वाला लक्षण अनित्य होता है, जैसे - 'तद् ब्राह्मणकुलम्' यहां नपुंसकलिङ्ग में 'तद् + सु' इस अवस्था में एक तरफ तो "स्वमोर्नपुंसकात्" सूत्र से 'सु' का लोप प्राप्त होता है और साथ ही दूसरी तरफ "त्यदादीनामः"[8] से 'तद्' को अकार भी प्राप्त होता है। इन दोनों की प्रतिस्पर्धा में यदि पहले लुक् कर लें तो विभक्ति परे न रहने से फिर त्यदाद्यत्व का निमित्त विहत हो जाता है अतः वह अनित्य

है। किन्तु 'सु' का लुक् तो त्यदाद्यत्व करने पर भी प्राप्त रहता है अतः कृताकृतप्रसङ्गी[9] होने से वह नित्य ही ठहरता है।

ऐसी अवस्था में त्यदाद्यत्व करने पर तीसरा लक्षण "अतोऽम्"[10] प्राप्त होता है जो 'सु' के लुक् को रोककर उसके स्थान में अमादेश विधान करता है। इस तीसरे अमादेशविधायक लक्षण ने लुक् के निमित्त का विघात कर दिया - इसलिए लुक् अनित्य माना जाएगा। यद्यपि लुक् और त्यदाद्यत्व में बराबर पूरी प्रतिस्पर्धा है और त्यदाद्यत्व के मुकाबले में लुक् नित्य ही था। किन्तु अब तीसरे "अतोऽम्" सूत्र ने पासा या सारी ही स्थिति पलट दी। तदनुसार उसने अमादेश की प्राप्ति सूचित कर लुक् को अनित्य बना दिया। फलतः 'तद् ब्राह्मणकुलम्' में 'सु' का लुक् करने के लिए वार्तिककार को "त्यदादिष्वश्चेति वक्तव्यम्" यह वार्तिक बनाना पड़ा। इसके विपरीत यदि "अतोऽम्" इस तीसरे लक्षणान्तर से लुक् का निमित्त विहत न माना जाता तो लुक् के नित्य होने से त्यदाद्यत्व की बाधा होकर स्वतः एव "स्वमोर्नपुंसकात्" से 'सु' का लुक् सिद्ध था। उस अवस्था में उसके लिए अलग वचन की आवश्यकता नहीं थी।

दूसरी परिभाषा का अर्थ है कि पूर्वोक्त स्थिति के विपरीत जहां तीसरे लक्षण से निमित्त का विघात हो भी जाए तो भी अनित्यता नहीं मानी जाती। उसका उदाहरण देखिए – 'हूतः' और 'हूतवान्'। यहां 'ह्वेञ्' धातु को पहले सम्प्रसारण करके 'हु + त' बनाएं या पहले "आदेच उपदेशेऽशिति"[11] से आत्व करके 'ह्वा' बनाएं? सम्प्रसारण और आत्व की प्रतिस्पर्धा में तीसरा लक्षणान्तर "सम्प्रसारणाच्च"[12] यह पूर्वरूपविधायक सूत्र आत्व के निमित्त का विघातक होकर भी आत्व को अनित्य नहीं बनाएगा तो आत्व नित्य ठहर जाता है। अब आत्व और सम्प्रसारण दोनों के नित्य होने पर 'परत्वात्' पहले आत्व होगा अर्थात् 'ह्वे' को पहले 'ह्वा' बना लिया जाएगा। फिर सम्प्रसारण और पूर्वरूप होंगे। पहले किया जाने के कारण 'हूतः' और 'हूतवान्' के उकार को फिर आत्व नहीं होगा तो इष्ट रूप बन जाएगा।

अब इन पूर्वोक्त शास्त्रीय परिभाषाओं के उपष्टम्भक लौकिक दृष्टान्त देखिए कि रामायण में तो बालि और सुग्रीव की लड़ाई में तीसरे लक्षणान्तररूप श्री रामचन्द्र जी द्वारा बालि का वधरूप निमित्त विघात किए जाने पर भी बहादुर लोग बालि को सुग्रीव से बलवान् ही मानते हैं। इधर इसके विपरीत महाभारत में कौरव और पाण्डवों की लड़ाई में पाण्डव लोग भगवान् श्रीकृष्ण की सहायता पाकर भी कौरवों की अपेक्षा बलवान् माने गए तथा उन्होंने कौरवों को जीत लिया। यहां विचारणीय यह है कि भगवान् की सहायता दोनों जगह मिली है - सुग्रीव को भी और पाण्डवों को भी। परन्तु सुग्रीव भगवान् की सहायता पाकर भी बाली की अपेक्षा कमजोर माना जाता है और पाण्डव भगवान् की सहायता पाकर भी कौरवों से अधिक बलशाली माने जाते हैं।[13]

ये दो परस्परविरोधी लोकन्याय लक्ष्यानुरोधात् शास्त्र में भी तथा उपर्युक्त उदाहरणों में भी पूरी तरह से व्यवस्थित तथा समन्वित हो जाते हैं। यह न्याय व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[14]

5 ग्रहैकत्व न्याय

"ननु द्वयोर्बहूनां चेति बहुवचनप्रसङ्गात् इह शेषविधानद्वारेण संस्क्रियमाणत्वाच्छिष्यमाणं प्रधानम्, प्रधाने च संख्या न विवक्ष्यते, यथा ग्रहं संमार्ष्टीति। विषम उपन्यासः, संमार्गे विधौ द्वितीयानिर्देशात् ग्रहाः प्रधानभूताः, संमार्गस्तु तेषां संस्कारः। संस्कारो नाम तस्य भवति यच्छास्त्रान्तरे प्रयोजनवत्यां क्रियायां साधनत्वेन विनियुक्तम्, संस्कृतस्य वा यस्य विनियोगः, द्रव्यमात्रस्य रूपसंस्कारोऽनर्थकः स्यात्। यदिह संमार्गसंस्कारो विधीयमानः शास्त्रान्तरे विनियुक्तं ग्रहमपेक्षते तत्र नवसङ्ख्या ग्रहाः श्रुता इति तदपेक्षः संमार्गविधिर्नवानामपि भवितुमर्हति। ग्रहमित्येकवचनं तु कर्मत्वमात्रमभिधायकतार्थं भविष्यति। इह तु शेषस्य वाक्यान्तरेऽनवधारणादिदमेवोत्पत्तिवाक्यमिति विवक्षणीया संख्या, पशुमालभेतेतिवत्, सत्यम्, इदमेवैकग्रहणं ज्ञापकम्, शास्त्रान्तरानवगतेऽपि प्रधाने संख्या न विवक्ष्यत इति, तेन कर्तुरीप्सिततममित्यत्र ईप्सिततमस्य संख्याया अविवक्षा सिद्धा भवति"।[15]

यह न्याय हरदत्त ने "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इस सूत्र के व्याख्यान में 'एक ग्रहण' के विवेचनप्रसङ्ग में दिया है। कोई कहता है कि "शेषः एकविभक्तौ" इतना सूत्र होने पर "शेषः" इस एकवचन से ही शब्द का एकशेष हो जाएगा। अतः यहां 'एक' ग्रहण की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जो शेष रहेगा वही प्रधान है और प्रधान में संख्या विवक्षित नहीं होती। इस तरह "शेषः" यहां जो एकवचन संख्या है, वह विवक्षित नहीं होगी, जैसे - 'ग्रहं संमार्ष्टि' इस वाक्य में 'ग्रहम्' यह द्वितीया का एकवचन होने पर भी 'एक ग्रह का सम्मार्जन' नहीं होता अपितु पूरे नौ ग्रह ही गृहीत होते हैं अर्थात् एकत्व संख्या होने पर भी 'ग्रहान् संमार्ष्टि' यहां नौ ग्रहों का सम्मार्जन करना होता है।

अब इस दृष्टान्त को अनुचित ठहराते हुए और सूत्र में 'एक' ग्रहण की उपयोगिता बताते हुए पदमञ्जरीकार आगे लिखते हैं कि 'ग्रहं संमार्ष्टि' यह जो आपका दृष्टान्त है, यह ठीक नहीं है। क्योंकि संमार्जन क्रिया में 'ग्रह' प्रधान है, उन्हीं का संमार्जन होना है। बिना संमार्जन हुए उनका यज्ञ में उपयोग अनर्थक है। संमार्जन करने के लिए 'ग्रहों' को देखना पड़ेगा और ग्रह नौ हैं – यह शास्त्र में प्रसिद्ध है। इसलिए 'ग्रहम्' यह एकवचन होने पर भी वहां उसे बहुत्व संख्या का वाचक समझकर नौ ग्रहों का ही संमार्जन करना होता है। किन्तु यहां 'शेषः' शब्द में तो एकत्व संख्या विवक्षित ही होगी। यदि दो या बहुतों का शेष अभीष्ट होता तो 'शेषौ' या 'शेषाः' कह दिया जाता, जैसे- 'पशुमालभेत' इस वाक्य का अर्थ है कि पशु का आलम्भन करो।

यहां 'पशुम्' यह द्वितीया का एकवचन है, इसलिए प्रत्यासत्ति न्याय से एक ही पशु का आलम्भन किया जाता है, दो या अधिक का नहीं। इस प्रकार 'एक' ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती। 'शेषः' इतना कहने से ही एकशेष हो जाएगा। फिर भी यह बात आपकी अवश्य ठीक है कि "सरूप" सूत्र में जो 'एक' ग्रहण किया है, वह इस बात का ज्ञापक है कि प्रधान अर्थ में संख्या विवक्षित नहीं होती। 'शेषः' यह प्रधान अर्थ है। इसमें प्रथमा का जो एकवचन है वह विवक्षित नहीं होगा। दो या बहुतों का भी एकशेष न हो जाए - इस 'एक' ग्रहण से यह बात भी सिद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में "कर्तुरीप्सिततमं कर्म"[16] यहां 'ईप्सिततमम्' यह द्वितीया का एकवचन है। इसमें एकत्व संख्या विवक्षित नहीं होगी तो कर्ता के अनेक 'ईप्सिततमों' की भी कर्म संज्ञा हो जाती है। प्रदीपोद्द्योत में भी प्रकृत न्याय मिलता है।[17]

6 यक्षानुरूपबलि न्याय/यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः न्याय

"पूर्वपक्ष्याह - कथं ब्रह्मबन्ध्वेति ? सिद्धान्त्येकदेशी उक्तमपि 'यः सम्प्रति पदान्त' इत्येव रूपं सिद्धान्तं परेणागृहीतत्वाद् यक्षानुरूपबलिन्यायेनाह - उभयत इति। तद् व्याचष्टे - स्वादिविधिरिति"।[18]

"न पदान्त" सूत्रभाष्य की व्याख्या में उद्द्योतकार लिखते हैं कि प्रकृतसूत्रस्थ विधि शब्द को भावसाधन मानने पर जोकि सिद्धान्तपक्ष है, ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वै ये रूप कैसे बनेंगे अर्थात् यहां अन्तादिवद्भाव से धकारान्त की पदसंज्ञा होकर उसको अनिष्ट जश्त्व प्राप्त होगा। इसके उत्तर में नागेश कहते हैं कि यद्यपि इस दोष का समाधान तो 'यः सम्प्रति पदान्तः' इस प्रकार पूर्वोक्त भाष्यकथन से भी हो सकता था तथापि पूर्वपक्षी के द्वारा सम्भवतः उक्त पदत्वसम्बन्धी सिद्धान्त सम्यक्रूपेण गृहीत नहीं किया गया, इसीलिए भाष्यकार ने यक्षानुरूप बलिन्याय से "उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्"[19] यह परिभाषारूप समाधान प्रस्तुत किया है अर्थात् जिस प्रकार जैसा यक्ष होता है वैसी ही उसके लिए बलि दी जाती है उसी प्रकार यहां शास्त्र में भी पूर्वपक्षी की शङ्का को देखते हुए उसी के अनुरूप सुदृढ़ समाधान किया गया है। तदनुसार प्रकृत पदसंज्ञा में ऊपर से "यस्मात् प्रत्ययविधि"[20] ग्रहण की अनुवृत्ति है। फलतः जिससे प्रत्यय विधान किया गया है, स्वादि प्रत्यय परे रहते उसकी पदसंज्ञा/भसंज्ञा होती हैं - ऐसा अर्थ होने पर 'टा' और 'ङे' प्रत्ययों के विधान में "यस्मात् प्रत्ययविधि" रूप में ब्रह्मबन्धु शब्द में ऊङ्, अनूङ् का एकादेशभूत ऊकार जहां पूर्व का भाग होता है वहां पदसंज्ञा या भसंज्ञा के प्रति वह (ऊकार) परवर्ती ऊङ् का अवयव भी माना जाता है। इस प्रकार एकादेश के दोनों ओर आश्रयण में अन्तादिवद्भाव नहीं होता। फलतः धकारान्त की पदसंज्ञा नहीं होगी तो अनिष्ट जश्त्व नहीं होगा।

प्रकृत "यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः" न्याय 'जैसे को तैसा', 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' या 'पिशाचानां पिशाचभाषयैवोत्तरं देयम्' इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। अर्थ की दृष्टि

से ही प्रस्तुत न्याय 'यादृशं मुखं तादृशी चपेटिका', यादृशी शीतला देवी तादृशः खरवाहनः', 'यादृशं तादृशमेव साधयति', 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' तथा 'यावच्छिरस्तावद् व्यथा' न्यायों से अवश्य तुलनीय है। यह न्याय विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुआ है।[21]

7 पुष्पवन्तौ न्याय

"वृद्धो यूना इत्यादौ प्रसिद्धैकशेषस्य पुष्पवन्ताविति न्यायेन सहविवक्षाविषयस्यैव सत्त्वेन तद्भिन्नस्य सहविवक्षाऽविषयस्य शास्त्रीयस्यैव ग्रहीतुमुचितत्वात्"।[22]

इस न्याय का निर्देश उद्द्योतकार नागेश ने "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" इस सूत्र के भाष्य में 'सह विवक्षा में एक शेष होता है' – इस बात को सिद्ध करने के लिए किया है। पुष्पवन्तौ का अर्थ सूर्य और चाँद है।[23] क्योंकि पुष्प का अर्थ है - विकास और प्रकाश, तद्वान् पुष्पवान् और ऐसे तत्व दो ही संभव हैं – चन्द्र और सूर्य। अतः जैसे 'रोदसी' इस एक शब्द से द्यावा और पृथिवी दोनों का ग्रहण होता है वैसे ही द्विवचनान्त पुष्पवन्तौ इस एक साधारण शब्द से उक्त दोनों पदार्थों का ग्रहण होता है। प्रत्येक के लिए पुष्पवान् का प्रयोग नहीं करना पड़ता। इसके अतिरिक्त ये सूर्य और चाँद इकट्ठे रहते हैं इस लिए एकशेष के समान ये सह विवक्षा के भी द्योतक हैं। शब्दरत्नकार ने भी प्रौढमनोरमा में 'सरूप' सूत्र की व्याख्या में इस न्याय का निर्देश किया है। तात्पर्य दोनों का एक ही है कि सहविवक्षा के अभाव में एकशेष नहीं होता। उक्त न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ देखा जा सकता है।[24]

8 देवताऽधिकरण न्याय

"इन्द्रपीतशब्दे तृतीयातत्पुरुषसमासेऽपि तृतीया कर्मणीत्यनेन पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्यैव सत्त्वादिति चेन्न, देवताधिकरणन्यायेनात्र पानासम्भवात् पिबतिर्दानलक्षकः। एवं च इन्द्राय पीत इति चतुर्थी तत्पुरुषः स्यात्। तत्र च नास्य प्राप्तिरित्याशयात्"।[25]

यह न्याय बृहच्छब्देन्दुशेखरकार ने स्वरप्रक्रिया में "तृतीया कर्मणि" सूत्र की व्याख्या में लिखा है। वेद में मन्त्र आता है - "इन्द्रपीतस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि"।[26] यहां इन्द्रपीत शब्द में सन्देह है कि 'इन्द्रेण पीतः इति इन्द्रपीतः' इस प्रकार तृतीया तत्पुरुष समास मानकर 'इन्द्र से पीया हुआ सोम' - ऐसा अर्थ ग्रहण करें या 'इन्द्रेण पीतो यस्मिन्सवने' इस प्रकार बहुव्रीहि समास मानकर इन्द्रपीत शब्द को सवन का विशेषण बनाएं ? वहाँ यह निर्णय किया गया है कि यहां इन्द्रपीत शब्द बहुव्रीहि समास है। यद्यपि जो बहुव्रीहि का स्वर है, वह "तृतीया कर्मणि" सूत्र से सिद्ध है। मीमांसा में जो देवताधिकरण न्याय है, उसके अनुसार 'सवन' में सोम का पान असम्भव है। इसलिए वहां 'पीतः' का अर्थ 'दान' है फलतः 'इन्द्रेण पीतः' ऐसा समास न करके 'इन्द्राय पीतः' ऐसा चतुर्थी तत्पुरुष समास हो जाता है। इस न्याय में 'सवन' सम्बन्धी सोम के भक्षण के लिए इस मन्त्र में कहा गया है और पूर्वपदप्रकृतिस्वर को देखकर

बहुव्रीहि समास का निर्णय किया गया है तथा पीतः का अर्थ 'दत्तः' किया गया है। इन्द्रपीतः का अर्थ हुआ – इन्द्र के लिए दिया हुआ।

क (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित ऋषि / देवतासम्बन्धी लोकन्याय

1. आदित्यदर्शन न्याय / आदित्यगति न्याय[27]
2. ऋषिसहस्रदक्षिणात्व न्याय/सहस्रदक्षिणाकपिला न्याय[28]
3. ज्योतिरर्चिः न्याय[29]
4. अदग्धदहन न्याय/अग्निवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय[30]
5. पर्जन्यवर्षण न्याय/पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय[31]
6. एकस्य द्रव्यस्य बह्व्यः संज्ञा भवन्ति न्याय[32]
7. अभ्रचन्द्र न्याय/स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानं न वाचनिकम् न्याय[33]
8. आख्यान न्याय[34]
9. सर्वं चेतनावत् न्याय/इच्छाया हि प्रवृत्तित उपलब्धिर्भवति न्याय/अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारो दृश्यते न्याय[35]
10. गन्धर्वनगर न्याय[36]
11. तादर्थ्यात् ताच्छब्द्य (इन्द्रार्था स्थूणा) न्याय[37]
12. अग्नौ करवाणि न्याय[38]
13. देवा एवैतज्ज्ञातुमर्हन्ति न्याय[39]
14. कौशिको विश्वामित्रः न्याय[40]
15. वृद्धकुमारीवरवाक्य न्याय[41]
16. ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय[42]
17. नरसिंह न्याय[43]
18. अग्न्यानयन न्याय/अशब्दार्थस्यापि नान्तरीयकत्वादुपादानं दृश्यते न्याय[44]
19. गुरुभार्गवौ न्याय[45]
20. राहोः शिरः न्याय/व्यपदेशिवद्भाव न्याय[46]
21. शिलापुत्रकशरीर न्याय[47]
22. विशेषातिदेशे सामान्यस्याप्यतिदेशो दृश्यते न्याय/वसिष्ठवत् क्षत्रियवर्तन न्याय[48]
23. अरुन्धतीप्रदर्शन न्याय[49]
24. शाखाचन्द्र न्याय[50]
25. आहोपुरुषिका न्याय/यर्वाणतर्वाण न्याय[51]

ख (1) यज्ञसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1 दीर्घसत्र न्याय

"अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्। यद्यप्यप्रयुक्ता, अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनानुविधेयाः। तद् यथा- दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि, वार्षसहस्रिकाणि च। न चाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति, केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते"।[52]

पस्पशाह्निक में भाष्यवार्तिककार कहते हैं कि आप प्रयोग को देखकर शब्दसाधुत्व का निर्णय करते हैं किन्तु जो शब्द प्रयोग में ही नहीं आते, उन अप्रयुक्त शब्दों का साधुत्व कैसे निर्णीत हो सकेगा? आगे वे स्वयं कहते हैं कि ये 'ऊष' इत्यादि शब्द सर्वथा अप्रयुक्त नहीं है अपितु इनमें जो अर्थ विद्यमान हैं, उनके स्थान में इनके समानान्तर दूसरे शब्दों का प्रयोग हो जाने से ये स्वयं प्रयोग में आते दृष्टिगोचर नहीं होते। इस तरह वास्तव में ये शब्द सर्वथा अप्रयुक्त नहीं कहे जा सकते।

अथवा व्यावहारिक दृष्टि से आपाततः यद्यपि ये अप्रयुक्त कहे भी जा सकते हैं तथापि शास्त्र को तो दीर्घसत्र या लम्बे समय तक चलने वाले यज्ञों के समान उनका अनुविधान करना ही पड़ता है, जैसे कुछ यज्ञ सौ वर्षों तक और कुछ हजार वर्षों तक रहने वाले होते हैं परन्तु अल्पायु होने के कारण आजकल कोई उन्हें नहीं करता। केवल वेदाध्ययन धर्म है - ऐसा मानकर ही याज्ञिक लोग शास्त्र द्वारा इनका अन्वाख्यान मात्र कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में दीर्घ सत्र यज्ञों के समान शास्त्र को तो इन तथाकथित अप्रयुक्त शब्दों के साधुत्व का भी अनुविधान या अन्वाख्यान करना ही होता है जोकि ज्यायान् है।

ख (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित यज्ञसम्बन्धी लोकन्याय

1. शिष्टानुकरण न्याय / अशिष्टाप्रतिषिद्ध न्याय / अविहितमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति न्याय[53]
2. ऋषिसहस्रदक्षिणात्व न्याय/सहस्रदक्षिणा कपिला न्याय[54]
3. सप्तदशसामिधेनी न्याय[55]
4. वर्णव्यत्यये अर्थान्तरगमनादर्थवन्तो वर्णाः न्याय[56]
5. आचार्याचार न्याय / औपचारिक संज्ञाकरण न्याय[57]
6. भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि (तद्गुणसंविज्ञान) न्याय/दण्डी विषाणी चानीयताम् न्याय[58]
7. सम्बन्धानुवृत्ति न्याय[59]
8. वचनानुपूर्वी न्याय[60]
9. अग्नौ करवाणि न्याय[61]
10. अवयवेनापि शास्त्रार्थसम्प्रत्ययो भवत्यनवयवेनापि न्याय[62]

11. पंक्तिस्थ ब्राह्मणद्वयानयन न्याय[63]
12. अनारभ्य कार्यविशेषमादौ तावत् संज्ञा क्रियते न्याय/आदिसंज्ञाकरण न्याय[64]
13. राजपुरोहित न्याय[65]
14. नागयज्ञोपवीती भोजन न्याय[66]
15. विधिनियमसम्भवे विधिरेव ज्यायान् न्याय[67]

ग (1) मूर्तिपूजा तथा भक्तिसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1 निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम् न्याय

2 तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणम् न्याय

"किमर्थो डकारः। डितीति टिलोपो यथा स्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। यस्येति लोपेनाप्येतत् सिद्धम्। एवं तर्हि सिद्धे सति यद् ययतौ डितौ करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः - भवत एते परिभाषे - अननुबन्धकस्य ग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्। तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणमिति"।[68]

"वामदेव्याड्ड्यड्ड्यौ" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार इस परिभाषा को ज्ञापित करते हुए पूछते हैं कि 'ड्य' और 'ड्यत्' प्रत्ययों में डित्करण किसलिए किया गया है? उत्तर देते हैं कि जिससे डित्त्वसामर्थ्य के कारण वामदेव शब्द की टि का लोप हो सके - इसलिए यहां डित् किया गया है। इस पर आपत्ति करते हैं कि डित्करण का यह कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि टिलोप (अकारलोप) तो "यस्येति च"[69] से भी सिद्ध हो सकता है। इस तरह यह डित्करण व्यर्थ हो जाता है किन्तु व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नहीं। अतः व्यर्थ पड़कर यह डित्करण यह ज्ञापित करता है कि शास्त्र में निम्न ये दो परिभाषाएं भी मानी जाती हैं, तद् यथा- अनुबन्धरहित के ग्रहण में अनुबन्धसहित का ग्रहण नहीं होता तथा जहां अनुबन्धविशेष का ग्रहण है वहां उस अनुबन्ध से रहित का ग्रहण नहीं होता। भाव यह है कि जैसे लोक में किसी मन्दिर या पुस्तकालय आदि में जूते आदि से रहित व्यक्ति का प्रवेश ही धर्म शास्त्रों के द्वारा अनुमत है, इनसे युक्त का नहीं, वैसे ही शास्त्र में भी जो कार्य अनुबन्धरहित को कहा गया है, वह कार्य अनुबन्धसहित को नहीं होता। फलतः "पूरणगुणसुहितार्थसदव्यतव्य[70] ...." सूत्र में 'तव्य' ग्रहण के अनुबन्धरहित रूप में पठित होने से वहां समासनिषेध करते समय तकार अनुबन्ध युक्त 'तव्यत्' का ग्रहण नहीं होता अपितु केवल 'तव्य' ही गृहीत होगा।

इसी प्रकार जैसे लोक में किसी कार्य के विषय में एक आंख वाले या काणे व्यक्ति का निषेध होने से वह निषेध दो आंखों वाले या दर्शनसमर्थ व्यक्ति में प्रवृत्त नहीं होता। अथवा जैसे दो चारों में एक चोर तो एक कूब वाला है तथा दूसरा दो कूब वाला। अब इनमें राजा के द्वारा एक कूब वाले चोर को पकड़ने का आदेश देने

पर एक कूब वाला चोर ही पकड़ा जाता है, दो कूब वाला चोर नहीं। वैसे ही यहां शास्त्र में भी अनुबन्धविशेषसहित के ग्रहण में उस अनुबन्धविशेष से रहित का ग्रहण नहीं होता। फलतः "ऋहलोर्ण्यत्"[71] सूत्रस्थ 'ण्यत्' में णकाररूप अनुबन्धविशेष का ग्रहण होने से णकारअनुबन्धरहित 'यत्' का ग्रहण नहीं होता अपितु 'ण्यत्' ही गृहीत होगा। ऐसी स्थिति में 'यतोऽनावः'[72] सूत्र 'यत्' में ही प्रवृत्त होगा, 'ण्यत्' में नहीं।

इसी प्रकार इस परिभाषा के नियम से "अत्वसन्तस्य चाधातोः"[73] सूत्र के द्वारा उकाररूप अनुबन्धविशेष से युक्त अत्वन्त और असन्त को विधीयमान दीर्घ गोमान्, यवमान् में पकार और उकार रूप अनुबन्धद्वय से युक्त को नहीं होगा। इसी प्रकार "श्वयतेरः"[74] सूत्र द्वारा 'अङ्' से परे विधीयमान अकार 'अश्वत्' यहां ही होगा, 'अशिश्वियत्' यहां चकार रूप अधिक अनुबन्धयुक्त 'चङ्' परे रहते नहीं।

ग (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित मूर्तिपूजा और भक्तिसम्बन्धी लोकन्याय

1. आख्यान न्याय[75]
2. सर्वं चेतनावत् न्याय/अचेतनेष्वपि चेतवदुपचारो दृश्यते न्याय/इच्छाया हि प्रवृत्ति उपलब्धिर्भवति न्याय[76]
3. शिवभागवत न्याय[77]
4. शिलापुत्रकशरीर न्याय[78]

घ (1) विचार या दर्शनसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1 द्रव्याकृति न्याय/आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते न्याय/प्रकृतिविकृति न्याय/स्वर्णकुण्डल न्याय

"कथं ज्ञायते द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्येति। एवं हि दृश्यते लोके-मृत् कदाचिदाकृत्या पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते। घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते। तथा सुवर्णं कदाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति। पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते। रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते। कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति। द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते"।[79]

"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" इस वार्तिक के व्याख्यानप्रसङ्ग में भाष्यकार द्रव्य या व्यक्ति को लोकव्यवहार द्वारा सिद्ध या नित्य प्रमाणित करते हुए पूछते हैं कि यह कैसे जाना जाए कि आकृति अनित्य है ? इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि लोक में ऐसा देखा जाता है कि एक साधारण सी मिट्टी किसी आकार को धारण करके

कभी तो पिण्डी बन जाती है और पिण्डी को बदलकर वही मिट्टी कभी मटकनी बन जाती है और इसी तरह इस मटकनी को बदलकर फिर वही मिट्टी बड़ी कुण्डी या माट बन जाती है अर्थात् कुम्हार उस एक साधारण मिट्टी के अनेक आकार बना देता है। इसी प्रकार सोना धातु भी किसी आकारविशेष को धारण करके कभी पिण्ड बन जाता है। फिर उसी पिण्ड से रुचक, कड़े, मुर्की आदि अनेक आकार के आभूषण बनाए जाते हैं। फिर वही एक साधारण सोना बार-बार अलग-अलग आकृति को धारण करके खैर वृक्ष के अङ्गारों के सदृश उज्ज्वल कुण्डल बन जाता है अर्थात् एक सोने में यह सब परिवर्तन सुनार करता है। भाव यह है कि सोने के आकार अलग-अलग होते जाते हैं किन्तु मूलतः सोना द्रव्य वही रहता है। आकारों को नष्ट करके अन्त में केवल द्रव्यभूत सोना धातु ही शेष रहती है। इस प्रकार इससे जाना जाता है कि मूलभूत द्रव्य ही अवशिष्ट रहने से नित्य है।[80] आकृति या आकार तो बदल जाने से अनित्य है।

ध्यातव्य है कि यहां पर जहां भाष्यकार ने लोकव्यवहार के आधार पर आकृति को अनित्य तथा द्रव्य को नित्य सिद्ध किया है वहां इसके साथ ही इन्होंने मिट्टी और सोना इन दो द्रव्यों के दृष्टान्तों से परोक्षरूपेण सांख्य का परिणामवाद (विकारवाद) और वेदान्त का विवर्तवाद भी सूचित कर दिया है – ऐसी सम्भावना है। क्योंकि दृष्टिभेद से सांख्य के अनुसार घड़ा तथा कुण्डल क्रमशः मिट्टी तथा सोने के विकार या परिणाम हैं और वेदान्त के अनुसार ये ही इनके विवर्त भी कहे जा सकते हैं।[81] अब भाष्यकार जाति से द्रव्य का भी अभिधान सिद्ध करने के लिए अगला लोकन्याय प्रस्तुत करते हैं–

2 जातिशब्देन द्रव्यमप्यभिधीयते न्याय

"कथं पुनर्ज्ञायते जातिशब्देन द्रव्यमप्यभिधीयते। एवं हि कश्चिन् महति गोमण्डले गोपालकमासीनं पृच्छति - अस्त्यत्र काञ्चिद् गां पश्यसि इति? स पश्यति, पश्यति चायं गाः, पृच्छति च काञ्चिदत्र गां पश्यसीति। नूनमस्य द्रव्यं विवक्षितम् इति। तद् यदा द्रव्याभिधानं तदा बहुवचनं भविष्यति, यदा सामान्याभिधानं तदैकवचनं भविष्यति"।[82]

"जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार इस सूत्र का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जातिशब्द से द्रव्य का भी अभिधान होता है। पूछते हैं कि यह कैसे जाना ? तो उत्तर देते है कि जैसे बहुत बड़े गोसमूह में बैठे हुए गवाले से कोई पूछता है कि यहां किसी गाय को देखते हो ? गवाला सोचता है कि पूछने वाला देख भी रहा है कि यहां गायों का समूह है। फिर भी वह पूछता है कि क्या तुम किसी गाय को देखते हो ? अनुमान होता है कि पूछने वाले को इस गोसमूह में कोई विशेष गोव्यक्ति विवक्षित है। इससे जाति शब्द से द्रव्य का भी अभिधान होता है

- यह बात सिद्ध हो जाती है। इस तरह जब द्रव्य का अभिधान विवक्षित होगा तब द्रव्य के बहुत होने से बहुवचन हो जाएगा और जब गोत्वसामान्य विवक्षित होगा तब सामान्य या जाति के एक होने से एकवचन हो जाएगा। इस प्रकार यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी उद्धृत किया गया है।[83] जाति-व्यक्ति पदार्थों पर विचार करते हुए अब हरदत्त 'पञ्जरस्थ सिंह' न्याय को उपन्यस्त करते हैं–

3 पञ्जरस्थसिंह न्याय

"यथा पञ्जरस्थं सिंहमनुभवतः सिंहप्रतीतिः पञ्जरे, तत्र ह्यन्तर्वर्त्येव सिंहः सिंहशब्दवाच्य इति जानतोऽपि बलात् पञ्जरमपि प्रतीयते तद्वदिहापि व्यक्तिगतामेव जातिमनुभवतो जातिरुत्पद्यमाना बलाद् व्यक्तिमपि गोचरयति"।[84]

"हयवरट्" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में पदमञ्जरीकार जाति और व्यक्ति दोनों पदार्थों को शब्द का अर्थ मानते हुए कहते हैं कि शब्द से जाति की प्रतीति न केवल जातिमात्र में ही समाप्त हो जाती है अपितु व्यक्ति को भी अपना विषय बनाती है अर्थात् जाति के साथ व्यक्ति भी गृहीत हो जाता है। इसके लिए वे 'पञ्जरस्थसिंह' न्याय को उद्धृत करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे पिंजरे में स्थित शेर को देखने वाले व्यक्ति को शेर की प्रतीति पिंजरे में होती है। क्योंकि पिंजरे के अन्दर सिंह विद्यमान है और वही सिंहशब्द का वाच्य है। यह जानते हुए भी सिंह के ज्ञान के साथ पिंजरा भी जबरदस्ती या बलात् अगत्या प्रतीत होता है। क्योंकि पिंजरे में स्थित सिंह को देखने के लिए पिंजरा भी देखना ही पड़ेगा। बिना पिंजरा देखे सिंह को कैसे देख सकते हैं? उसी प्रकार यहां शब्दशास्त्र में भी व्यक्ति में स्थित जाति को अनुभव करते हुए मनुष्य को जाति की प्रतीति उत्पन्न होती हुई बलात् व्यक्ति का भी बोध करा देती है। इसलिए व्यक्ति की प्रतीति अन्यथासिद्ध होने के कारण वह शब्दार्थ नहीं होना चाहिए - ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थापित करके आगे हरदत्त ने उसका खण्डन किया है। इस न्याय को देने का तात्पर्य तो यही है कि पिंजरे में स्थित सिंह को देखने के लिए जैसे हमें पिंजरा भी देखना पड़ता है इसी प्रकार जातिवाचक शब्द बलात् व्यक्ति का भी बोध करा देता है। इस न्याय को अर्थ की दृष्टि से निम्न न्याय के साथ भी रखा जा सकता है– "नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशिष्टमवगाहते"।[85]

प्रस्तुत न्याय के विषय में यह स्मरणीय है कि यह लोकन्याय यहां के अतिरिक्त अन्यत्र व्याकरणशास्त्र में देखने में नहीं आता। इसे पदमञ्जरीकार की मौलिक उद्भावना से प्रसूत न्याय मानना होगा। कुछ विद्वानों के अनुसार शक्तिशाली पुरुष भी कभी-कभी परिस्थितिवश पञ्जरस्थित सिंह के समान अशक्त हो जाते है - इस अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है।[86] किन्तु शास्त्रीय उदाहरण या प्रयोग न मिलने से यह अर्थ कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता। आकृतिपक्ष पर प्रकाश डालते हुए भाष्यकार एक अन्य स्थान पर और कहते हैं–

4 आकृति न्याय/ब्राह्मणो न हन्तव्यः न्याय

"आकृतिग्रहणात् सिद्धम्। अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति। तथेवर्णाकृतिः, तथोवर्णाकृतिः"।[87]

अइउण् सूत्रभाष्य में भाष्यकार प्रकृत न्याय को उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि जैसे 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' ऐसा कहने पर जातिपक्ष में एक ब्राह्मण के स्थान पर ब्राह्मणजातिमात्र की हत्या का निषेध समझा जाता है। यदि केवल व्यक्ति पक्ष ही होता तो पूर्वोक्त वाक्य में एक ब्राह्मण को छोड़कर शेष ब्राह्मणों का हनन किया जा सकता है और उसमें कोई शास्त्रीय बाधा भी नहीं आती। परन्तु यह अर्थ यहां अभीष्ट नहीं है वैसे ही यहां शास्त्र में भी अक्षरसमाम्नाय में पठित यह अकार जातिनिर्देश है। फलतः यह भी सभी प्रकार के दीर्घ प्लुतादि अकारों का ग्राहक होगा। ऐसी स्थिति में "अस्य च्वौ"[88] इत्यादि अनुवृत्तिनिर्देशों में सवर्णग्रहण की दृष्टि से कोई दोष नहीं आएगा। इसी प्रकार अक्षरसमाम्नाय में पठित इकार और उकार भी जातिनिर्देश समझना चाहिए। "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्"[89] सूत्रनिर्देश से आचार्य पाणिनि को भी यह पक्ष सम्मत है। भाष्यकार ने "अणुदित्" तथा "सरूप" सूत्रभाष्यों भी इस आकृति न्याय का उल्लेख किया है। "सरूप" सूत्र भाष्य में तो जातिव्यक्तिवाद को लेकर आचार्य वाजप्यायन तथा व्याडि का पूरा शास्त्रार्थ ही द्रष्टव्य है। द्रव्य और आकृति के विषय में अविनाशोऽनैकात्म्यात् न्याय का उपन्यास करते हुए भाष्यवार्तिककार अन्यत्र भी कहते हैं–

5 वृक्षस्थावतान न्याय/अविनाशोऽनैकात्म्यात् न्याय

"एवं तर्हि - अविनाशोऽनैकात्म्यात्। द्रव्यनाशे आकृतेरविनाशः। कुतः? अनैकात्म्यात्। अनेक आत्माकृतेर्द्रव्यस्य च। तद् यथा - वृक्षस्थोऽवतानो वृक्षे छिन्ने न विनश्यति"।[90]

"सरूप" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार जातिवाद का समर्थन करते हुए व्यक्तिवादी के आक्षेप का उत्तर देते हैं कि यह जो आपने कहा कि द्रव्य का नाश होने पर फिर आकृति का भी नाश हो जाना चाहिए तो यह ठीक नहीं। क्योंकि आकृति और द्रव्य का आत्मा या स्वभाव भिन्न-भिन्न है अर्थात् आकृति तो नित्य, एक तथा अनेक व्यक्तियों में एक साथ समवेत रहने वाली होती है जबकि द्रव्य ऐसा नहीं होता। अतः जैसे लोक में वृक्ष के ऊपर स्थित द्राक्षादिलता का अवतान (तम्बू) वृक्ष का नाश या छेदन होने पर भी विनष्ट नहीं होता। क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव या मूल वाले है वैसे ही यहां शास्त्र में भी द्रव्य और आकृति के भी भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले होने से उक्त दोष नहीं होगा। ध्यान रहे कि गुणों की स्थिति आकृति से पृथक् होती है। क्योंकि गुणों की स्थिति और उत्पत्ति तो प्रायः द्रव्याधीन होती है। अतः वहां तो द्रव्य या आश्रय के नाश होने पर गुणों का भी नाश अवश्य होता है। ये वहां

व्यभिचारित नहीं होते।[91] आकृतिन्याय को ही उदाहरणान्तर से स्पष्ट करते हुए प्रदीपकार भी कहते है–

6 कृशस्थूलगोपिण्डगोत्व न्याय

"एवं व्यक्तिपक्षे सत्यपि सूत्रारम्भे नास्तीष्टसिद्धिः, आकृतिपक्षे तु सूत्रं न कर्तव्यमित्याह - सवर्ण इति। प्रत्याहारे अनुवृत्तिनिर्देशे च सर्वत्र जातिरुपदिश्यते, नान्तरीयकं व्यक्त्युच्चारणम्। अत्वं च ह्रस्वदीर्घप्लुतेषु विद्यते, यथा- गोत्वं कृशे गोपिण्डे, स्थूले, शुक्ले, कृष्णे चेति भावः।"[92]

"अणुदित्" सूत्रस्थ "सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणात्" इस वार्तिक की व्याख्या में कैयट कहते हैं कि व्यक्तिपक्ष में तो प्रकृत सूत्र को रखने पर भी इष्टसिद्धि नहीं होती जबकि जातिपक्ष में यह सूत्र सर्वथा ही प्रत्याख्येय हो जाता है। तदनुसार सभी अच् आदि प्रत्याहारों में और "अस्य च्वौ", "यस्येति च"[93] इत्यादि अनुवृत्तिनिर्देशों में सर्वत्र अकारादि जाति का ही उपदेश किया गया समझना चाहिए। इस सन्दर्भ में जाति के अमूर्त होने से उस का साक्षादुच्चारण सम्भव न होने से या व्यक्ति के बिना जाति में कार्यान्वयन के साक्षात् सम्भव न होने के कारण अकारादि व्यक्तियों का उच्चारण तो नान्तरीयक न्याय से किया गया समझना चाहिए। वस्तुतः तो ह्रस्व, दीर्घादि अकार व्यक्तियों में यह अत्व जाति उसी प्रकार विद्यमान होती है जिस प्रकार कृश तथा स्थूल रूप प्रमाणकृतभेदभिन्न एवं शुक्ल तथा कृष्णरूप गुणकृतभेदभिन्न गोपिण्ड में गोत्व जाति विद्यमान रहती है। ऐसी स्थिति में अकारादि वर्णों में जाति का उपदेश मानने से उसके द्वारा ही उसके अन्य भेदों का भी ग्रहण हो जाएगा तो प्रकृत सूत्र प्रत्याख्येय बन जाता है। भट्टोजिदीक्षित भी आकृत्यधिकरण न्याय से जाति-व्यक्ति पदार्थों पर विचार करते हुए कहते हैं–

7 आकृत्यधिकरण न्याय

"ये तु वदन्ति - घटः पटो न इत्यत्रापि पटत्वात्यन्ताभाव एवार्थः आकृत्यधिकरणन्यायेन जातेः पदार्थत्वादिति, तेषामपि मतेऽर्थग्रहणसामर्थ्यदिवाक्षिप्त-धर्म्यभावेऽयं समासो न तु धर्माभाव इति फलं तुल्यमेव ...... एतेन भूतले घटो न इत्यत्र घटाभावं व्याचक्षाणाः परास्ताः"[94]।

यह न्याय शब्दकौस्तुभकार ने "अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धि" इत्यादि सूत्र की व्याख्या में अर्थाभाव का विवेचन करते हुए लिखा है। इस न्याय का अर्थ यह है कि सभी शब्दों का आकृति अर्थात् जाति ही अर्थ है, व्यक्ति नहीं। यदि शब्दों का अर्थ व्यक्ति माना जाएगा तब व्यक्तियां तो अनन्त हैं। अतः उनका बोध करने के लिए अनन्त शक्तिग्रह मानने पड़ेंगे। और सब व्यक्तियों का बोध फिर भी नहीं हो सकता। इसके विपरीत यदि सब व्यक्तियों को एक साथ जानने के लिए सबके लिए एक ही शक्तिग्रह मानेंगे तो पदार्थों के बोध में व्यभिचार दोष आ जाएगा। इसके साथ ही जिन पदार्थों

का शक्तिग्रह हो चुका है उनका तो बोध हो जाएगा किन्तु जिनका शक्तिग्रह नहीं हुआ है, उनका बोध यदि बिना शक्तिग्रह के ही करेंगे तो गड़बड़झाला हो जाएगा अर्थात् जिसका शक्तिग्रह हुआ है और जिसका नहीं हुआ है, उनके बोध में स्पष्ट भेद नहीं प्रतीत होगा। इसलिए आनन्त्य और व्यभिचार इन दो दोषों के होने से शब्द का अर्थ व्यक्ति नहीं माना जा सकता अपितु सब व्यक्तियों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला जो उनका धर्म, व्यक्तित्व, आकृति या जाति है, वही शब्द का अर्थ मानना चाहिए। क्योंकि वह एक है और नित्य है। मनुष्य नष्ट हो जाएंगे, व्यक्ति नष्ट हो जाएंगे, किन्तु व्यक्तित्व कभी नष्ट नहीं होगा। इसलिए व्याकरण और विशेषरूप से मीमांसा शास्त्र में आकृत्यधिकरण न्याय को स्वीकार किया गया है। "सरूप" सूत्र में वार्तिककार ने कहा भी है – "आकृत्यभिधानाद्वैकं विभक्तौ वाजप्यायनः"।[95] इस आकृतिवाद के प्रवर्तक आचार्य वाजप्यायन हुए हैं और इससे विरुद्ध द्रव्यवाद के प्रवर्तक आचार्य व्याडि हुए हैं – "द्रव्याभिधानं व्याडिः"।[96] यहां इस सूत्र पर भट्टोजिदीक्षित के द्वारा इस न्याय को देने का तात्पर्य यही है कि अर्थाभाव शब्द से आकृति रूप अर्थ का अभाव लिया गया है। फलतः 'निर्मक्षिकम्' का अर्थ यह है कि मक्षिका में रहने वाली जो मक्षिकात्वरूप जाति है, उसका अभाव निर्मक्षिक कहलाता है। यह आकृत्यधिकरण न्याय बहुत व्यापक है। इसकी व्याख्या अन्यत्र बहुत जगह होती रही है।[97] इस सन्दर्भ में अगला न्याय भी द्रष्टव्य है–

8 सामान्यचोदनास्तु विशेषेष्ववतिष्ठन्ते न्याय / सामान्यविशेषचोदना न्याय

"सामान्यचोदनास्तु विशेषष्ववतिष्ठन्ते। तद् यथा- गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीय इत्याकृतौ चोदितायां द्रव्ये आरभ्भणालभनप्रोक्षणविशसनादीनि क्रियन्ते"[98]।

"तस्यापत्यम्" सूत्र के भाष्य में 'तस्य' यह सामान्यवाची तद् सर्वनाम का निर्देश है। उससे सामान्यवाची प्रातिपदिक से ही अपत्य अर्थ में प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय प्राप्त होते हैं, दक्ष आदि विशेष प्रातिपदिक से नहीं - ऐसा आक्षेप भाष्यकार ने किया है। उसका समाधान करने के लिए यह न्याय है। इसका अर्थ है कि सामान्य शब्द से किया गया निर्देश विशेषों में उपयुक्त होता है। क्योंकि लोक में विशेष रहित सामान्य का व्यवहार नहीं होता। जैसे कहा है– अग्नि और सोम देवताओं के लिए गौ और अज का अनुबन्धन करें। यहां जातिवादी मीमांसक के मत में जाति या आकृति की चोदना होने पर भी गोत्व और अजत्व जाति का अनुबन्धन न होकर गौ और अज द्रव्य में ही आरभ्भण, आलभ्भन, प्रोक्षण तथा हिंसन आदि किए जाते हैं। यह न्याय भाष्य में अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[99]

9 कुम्भकारवैयाकरणकुल न्याय / यत्कृतकं तदनित्यं भवति न्याय / शब्दार्थसम्बन्धनित्यता न्याय

"कथं पुनर्ज्ञायते सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति। लोकतः। यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय

शब्दान् प्रयुञ्जते। नैषां निवृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावा निवृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा- घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह - 'कुरु घटम्, कार्यमनेन करिष्यामिति'। न तद्वच्छब्दान्, प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह – 'कुरु शब्दान्, प्रयोक्ष्य इति'। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते"।[100]

भाष्यकार शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता को लोकव्यवहार द्वारा पुष्ट करने के लिए पूछते हैं कि यह कैसे जाना जाए कि शब्द, अर्थ और इनका सम्बन्ध ये तीनों नित्य हैं? उत्तर है - लोक से जानो। क्योंकि जो लोक में प्रत्येक अर्थ को लेकर शब्द का प्रयोग तो करते हैं[101] परन्तु अर्थवाचक शब्द तथा उस अर्थ की निष्पत्ति एवं उत्पत्ति में कोई यत्न नहीं करते। इसके विपरीत जो तो अनित्य वस्तुएं होती हैं, उनकी उत्पत्ति के लिए तो यत्न करते हैं,[102] जैसे घड़े से कार्य करना चाहने वाला मनुष्य कुम्हार के घर जाकर कहता है - 'मेरे लिए घड़ा बनाइए। मैं घड़े से जलाहरणादि कार्य करूंगा'। इसी प्रकार शब्दों का प्रयोग करना चाहने वाला मनुष्य वैयाकरण के घर जाकर यह नहीं कहता कि 'मेरे लिए शब्द बनाइए। मैं उनका प्रयोग करूंगा'। केवल विचार उठते ही अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग कर देता है। इस लोकव्यवहार से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि कृतक घड़े की तरह शब्द और उसका वाच्य अर्थ तथा दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध ये तीनों अनित्य नहीं हैं अपितु अकृतक होने से नित्य हैं। भर्तृहरि भी इस विषय में कहते हैं–

"नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणामनुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः"॥[103]

प्रदीपकार भी रज्जुसर्प न्याय से शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं–

10 रज्जुसर्प न्याय

"अथवा शब्दो न कदाचित् स्वार्थपरित्यागेनार्थान्तरमभिदधाति, अनित्यत्वप्रसङ्गात् शब्दार्थसम्बन्धस्य। गोत्वं तु क्वचिदारोपितं गोशब्दप्रयोजकं गौर्वाहीक इति। क्वचितु मुख्यम्। यथा रज्जुं सर्पत्वेनाध्यवसाय सर्पशब्दः प्रयुज्यमानो न स्वार्थं जहाति। अर्थस्तु विपर्यस्तः। तत्र पदस्य पदान्तरसम्बन्धेऽर्थविपर्ययासम्भवात् पदकार्येष्वेव गौणमुख्यन्यायो न प्रातिपदिककार्येष्वित्यविपर्यस्त एव चार्थे वृद्धचात्वे अनुभूय गोशब्दो वाहीके समारोपितगोत्वे प्रवर्त्तते"।[104]

यह न्याय प्रदीपकार ने "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" सूत्र के भाष्य में "शब्दाश्रये च वृद्धचात्वे" की व्याख्या में शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता को बताते हुए उद्धृत किया है और यह सिद्ध किया है कि चाहे शब्द का गौण अर्थ हो या मुख्य, तो भी शब्द अपने अर्थ को नहीं छोड़ सकता। इस प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सदा बना रहता है। अर्थ की गौणता या मुख्यता भी तभी प्रकट होती है जबकि वह

शब्द वाक्य में प्रयोग करने योग्य (प्रयोगार्ह) पद बन जाता है। इसलिए गौणमुख्यन्याय पद के कार्यों के लिए ही लगता है, प्रातिपदिक के कार्यों में नहीं। गो शब्द का मुख्य अर्थ गाय पशु है और वह मूर्ख होता है। इस गाय के पशुत्व और मूर्खत्व के साधर्म्य से किसी वाहीक अथवा पशु चराने वाले व्यक्ति को भी गौ कह देते हैं। इस वाहीक अर्थ में गो शब्द लाक्षणिक होता हुआ भी अपने मुख्य अर्थ को तो रखता ही है। इसलिए जब कोई वाहीक बैठा हो और उसे हम गौ कहकर पुकारें तो संस्कृत में कहेंगे – 'अयं गौः तिष्ठति, गामानय' अर्थात् यह बैल बैठा है, इसको ले आओ। यहां वाहीक रूप लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त गो शब्द में भी वही कार्य हो जाते हैं जो असली या प्रतिपदोक्त अभिधेय गो शब्द के अर्थ में होते है। तदनुसार "गौः तिष्ठति" यहां गो शब्द के अर्थ में "गोतो णित्"[105] से वृद्धि और 'गाम् आनय' में गो शब्द के ओकार के स्थान पर "औतोम्शसोः"[106] से आकार हो जाता है। यह जो रज्जुसर्प न्याय है, यह भी इसी बात को सिद्ध करता है। क्योंकि मनुष्य भ्रान्ति से रज्जु को सर्प समझकर वहां सर्प शब्द का प्रयोग करता है। अब चाहे वह सर्प शब्द का प्रयोग वहां गौण हो जाने पर उपचरित हो किन्तु अर्थ तो नित्य ही रहता है। इस प्रकार गौण हो या मुख्य, हर तरह से शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति को देखकर साहित्य में उक्त न्याय के आधार पर भ्रान्तिमान् अलंकार को भी समझाया जाता है। धर्मशास्त्र तथा दर्शनों में भी इस न्याय के बहुत प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

11 अन्वयव्यतिरेक न्याय

यह न्याय भाष्यकार ने "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" इस सूत्र के भाष्य में "सिद्धं त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्" इस वार्तिक द्वारा वृक्ष आदि शब्दों की अर्थवत्ता सिद्ध करने के लिए दिया है। अन्वय व्यतिरेक शब्द का अर्थ है कि जिसके होने पर जो हो, वह तो अन्वय है और जिसके न होने पर जो न हो, वह व्यतिरेक है। भाष्यकार ने इन दोनों प्रकारों से वृक्षादि शब्दों की तथा इसी प्रकार धातुओं की भी अर्थवत्ता सिद्ध की है। यहां भाष्यकार इनके अर्थ को समझाते हुए लिखते हैं–

"कोऽसावन्वयो व्यतिरेको वा? इह 'वृक्ष' इत्युक्ते कश्चिच्छब्दः श्रूयते वृक्षशब्दोऽकारान्तः सकारश्च प्रत्ययः। अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते मूलस्कन्ध-फलपलाशवान् एकत्वं च। वृक्षावित्युक्ते कश्चिच्छब्दो हीयते कश्चिदुपजायते कश्चिदन्वयी। सकारो हीयते, औकार उपजायते, वृक्षशब्दोऽकारान्तोऽन्वयी। अर्थोऽपि कश्चिद्धीयते कश्चिदुपजायते कश्चिदन्वयी। एकत्वं हीयते द्वित्वमुपजायते मूलस्कन्धफलपलाशवानन्वयी। तेन मन्यामहे यः शब्दो हीयते तस्यासावर्थो यो हीयते, यः शब्द उपजायते तस्यासावर्थो योऽर्थ उपजायते, यः शब्दोऽन्वयी तस्यासावर्थो योऽर्थोऽन्वयीति"।[107]

इसका भाव यह है कि यह अन्वयव्यतिरेक न्याय क्या है? उत्तर है यही कि 'वृक्षः' ऐसा कहने पर कोई शब्द सुनाई देता है – अकारान्त 'वृक्ष' शब्द और 'सु' प्रत्यय। इससे कुछ अर्थ भी प्रतीत होता है कि जड़, शाखा, फल और पत्ते वाला एक पदार्थ है जिसे वृक्ष कहते हैं। जब 'वृक्षौ' कहते हैं तो कोई शब्द छूट जाता है, कोई उसकी जगह दूसरा आ जाता है और कोई उसके साथ अन्वित रहता है। 'वृक्षौ' में 'औ' शब्द नया आ जाता है और पुराना 'सु' प्रत्यय हट जाता है और अकारान्त वृक्ष शब्द उसके साथ अन्वित रहता है। इसी प्रकार अर्थ भी कोई छूट जाता है, कोई नया उत्पन्न हो जाता है और कोई उसके साथ अन्वित रहता है। वृक्ष की एकता का अर्थ तो छूट जाता है, उसकी जगह द्वित्व अर्थ उत्पन्न हो जाता है तथा जड़, शाखा और पत्ते वाला वह पदार्थ अन्वित रहता है। इससे हम समझते है कि जिस शब्द के हट जाने से अर्थ भी हट जाता है, यह तो व्यतिरेक है और जिस शब्द के आ जाने से वह अर्थ भी आ जाता है तो वह अन्वय है। इस तरह ये दोनों मिलकर यह सिद्ध कर देते हैं कि वृक्ष शब्द अर्थवान् है।

इसी प्रकार की धातुओं की अर्थवत्ता भी भाष्यकार ने "भूवादयो धातवः" इस सूत्र में अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध की है। वहां भी "सिद्धन्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्" इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए 'प्रकृत्यर्थ' और 'प्रत्ययार्थ' दोनों अलग-अलग अर्थ माने हैं। 'पचति' में 'पच्' धातु का अपना अर्थ है और 'तिप्' प्रत्यय का अपना अर्थ है। इन दोनों की अर्थवत्ता अन्वयव्यतिरेक से सम्यक् सिद्ध हो जाती है। लोक में भी हम देखते हैं कि जिसके होने से हमें लाभ है, उसे हम ग्रहण करते हैं और जिसके न होने से हानि है, उसे हम छोड़ने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि जिससे लाभ है और जिसके अभाव में हानि है, उसे कौन छोड़ेगा ? उसको तो सभी ग्रहण करना चाहेंगे। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक से भी पदार्थों की सार्थकता और अनर्थकता का ज्ञान होता है। इस विषय में भर्तृहरि भी लिखते हैं–

"ये शब्दा नित्यसम्बन्धा विवेके ज्ञातशक्तयः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषामर्थो विभज्यते॥
यत्र चाव्यभिचारेण तयोः शक्यं प्रकल्पनम्।
नियमस्तत्र न त्वेवं नियमो नुद् शबादिषु॥"[108]

12 आत्मा न्याय / पदलोप न्याय

"द्वावात्मानौ, अन्तरात्मा शरीरात्मा च। अन्तरात्मा तत्कर्म करोति येन शरीरात्मा सुखदुःखे अनुभवति। शरीरात्मा तत्कर्म करोति येनान्तरात्मा सुखदुःखे अनुभवतीति।"[109]

"णेरणौ यत्कर्म णौ चेत् स कर्तानाध्याने" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार "हन्त्यात्मानम्", "घातयत्यात्या' ये उदाहरण देते हुए पूछते हैं कि यहां "णेरणौ" सूत्र

से आत्मनेपद क्यों नहीं होता? क्योंकि 'हन्ति' इस अण्यन्तावस्था में जो 'आत्मानम्' यह कर्म है, वही 'घातयति' इस ण्यन्तावस्था में आत्मा यह कर्ता है तो 'घातयति' इस ण्यन्त से आत्मनेपद होना चाहिए। इसीलिए वार्तिककार ने यहां आत्मनेपद रोकने के लिए "आत्मनः कर्मत्वे प्रतिषेधः" यह वार्तिक पढ़ा है। फिर वार्तिककार स्वयं ही इसका समाधान करते हुए अगला वार्तिक पढ़ते हैं – "न वाण्यन्तेऽन्यस्य कर्तृत्वात्"। इसका भाव यह है कि ण्यन्तावस्था में अन्य आत्मा कर्ता है और अण्यन्तावस्था में अन्य आत्मा कर्म है। अतः एक ही आत्मा कर्म और कर्ता नहीं है। ऐसी अवस्था में उक्त सूत्र से आत्मनेपद की प्राप्ति नहीं है।

यही बात समझाने के लिए भाष्यकार कहते हैं कि दो आत्मा हैं – अन्तरात्मा और शरीरात्मा। अन्तरात्मा अन्तःकरण, मन या पुरुष का नाम है। शरीरात्मा शरीर है, चेष्टादि से सुख-दुःख का जनक है। मन या जीवात्मा वह कर्म करता है जिससे शरीर रूप आत्मा सुख-दुःख का अनुभव करता है। इसी प्रकार शरीर ऐसी चेष्टा करता है जिससे अन्तरात्मा को सुख दुःख का अनुभव होता है। 'हन्त्यात्मानम्' में आत्मा का अर्थ शरीर है अर्थात् शरीर को कष्ट पहुंचाता है। 'घातयत्यात्मा' में आत्मा का अर्थ मन या जीवात्मा है अर्थात् जीवात्मा शरीर को कष्ट पहुंचाता है, मारता है, सुख-दुःख का अनुभव कराता है। इस प्रकार सुख-दुःख का अनुभव करने-कराने वाले दो आत्मा अलग-अलग हैं। एक ही आत्मा कर्म या कर्ता नहीं बना है। इसलिए उक्त सूत्र से यहां आत्मनेपद नहीं होता।

ध्यातव्य है कि जब भाष्यकार ने दो अलग-अलग आत्मा होने की बात कही है तो आपाततः उन्होंने यहां यह स्पष्ट नहीं किया है कि अन्तरात्मा की इच्छा के बिना शरीरात्मा कैसे कार्य कर सकता है ? क्योंकि कार्य का मूल इच्छा है और इच्छा केवल चेतन में ही रह सकती है, जड़ में नहीं। परन्तु उनको इस तथ्य का बोध नहीं था - यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा"[110] सूत्र भाष्य में इन्होंने स्पष्ट माना है कि इच्छा की उपलब्धि प्रवृत्ति से होती है। जो व्यक्ति चटाई बनाने जाता है, वह स्वयं यह घोषणा नहीं करता कि मैं चटाई बनाने जा रहा हूँ। उसके हाथ में रज्जु-कील आदि देखकर, चटाई बनाने के लिए उसे प्रवृत्त देखकर, लोग स्वतः ही उसकी इच्छा समझ लेते हैं। यह प्रवृत्ति जड़-चेतन दोनों पदार्थों में भाष्यकार ने सोदाहरण प्रतिपादित की है। यही न्याय कर्मवदतिदेशप्रसङ्ग में भी उद्धृत है, तद् यथा–

"पदलोपश्चात्र द्रष्टव्यः। हन्त्यात्मानमात्मा। आत्मना हन्यते आत्मेति .... द्वावात्मानौ"[111] इत्यादि।

"कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" सूत्रभाष्य में भाष्यवार्तिककार कहते हैं कि 'हन्ति आत्मानम्' और 'हन्यते आत्मा' यहां एक आत्म पद का लोप समझना चाहिए। फलतः

'हन्त्यामानमात्मा' और 'हन्यते आत्मनात्मा' ऐसा समझकर कर्ता और कर्म दोनों की विद्यमानता हो जाएगी तो कर्मवदतिदेश करना अनावश्यक होगा। सीधे कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य से ही उक्त इष्ट रूप बन जाएंगे। कौन आत्मा आत्मा को मारता है और कौन आत्मा आत्मा के द्वारा मारा जाता है - इसके उत्तर में यहां दो आत्मा कल्पित किए गए है। यहां शुद्ध आत्मा जीवात्मा या अन्तरात्मा कहलाता है और बुद्धिरूप आत्मा देहेन्द्रियसंघात विशिष्ट शरीरात्मा कहलाता है। यह न्याय शास्त्रीय होता हुआ लोक में भी प्रयुक्त होता है। शास्त्र में अन्यत्र भी यह उपलब्ध होता है।[112]

13 उत्पन्नः प्रत्ययः प्रत्ययाश्रयाणां कार्याणां निमित्तं भवति नोत्पद्यमानः न्याय / कृतक्रियमाणघट न्याय

"अथ क्रियमाणेऽपि प्रत्ययसंज्ञासन्नियोगेनाद्युदात्तत्वेऽनुदात्तत्वे च कस्मादेव तदादेराद्युदात्तत्वं न भवति तदन्तस्य चानुदात्तत्वम्? उत्पन्नः प्रत्ययः प्रत्ययाश्रयाणां कार्याणां निमित्तं भवति नोत्पद्यमानः। तद् यथा- कृतो घटो घटाश्रयाणां कार्याणां निमित्तं भवति न क्रियमाणः।"[113]

"आद्युदात्तश्च" सूत्र द्वारा प्रत्ययसंज्ञा के साथ ही प्रत्यय को आद्युदात्तविधान करने पर भी "प्रत्ययग्रहणे यस्मात् स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं भवति"[114] इस परिभाषा के वचन से तदादि को आद्युदात्त तथा तदन्त को "अनुदात्तौ सुप्पितौ"[115] सूत्र से अनुदात्त क्यों नहीं होता? क्योंकि उक्त परिभाषा व्याकरणशास्त्र में मानी गई है। उससे प्रत्यय के ग्रहण में तदादि अर्थात् वह प्रकृति है आदि में जिसके और तदन्त अर्थात् वह प्रकृति है अन्त में जिसके उस समुदाय का ग्रहण होता है। इसलिए केवल प्रत्यय को आद्युदात्त एवं अनुदात्त न प्राप्त होकर तदादि तदन्त को प्राप्त होता है। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि उत्पन्न हुआ प्रत्यय ही प्रत्ययाश्रित कार्यों का निमित्त हो सकता है, उत्पद्यमान अवस्था में नहीं। जब हम प्रत्यय का विधान करते हुए एक प्रकार से उसे उत्पन्न कर रहे हैं, अभी वह उत्पन्न नहीं हुआ है अपितु हो रहा है, उसी समय उसे आद्युदात्त तथा अनुदात्त स्वर का विधान कर देते हैं। ऐसी अवस्था में वह उत्पद्यमान प्रत्यय 'प्रत्ययग्रहण' परिभाषा का विषय नहीं बन सकता। हां, उत्पन्न होने पर तो बन सकता है। परन्तु हमने उत्पन्न होने के साथ ही उसे आद्युदात्त एवं अनुदात्त विधान किया है, इसलिए वह प्रत्यय ही केवल उक्त स्वर वाला होगा, तदादि एवं तदन्त नहीं।

इस विषय में भाष्यकार लौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं कि जैसे बना हुआ घड़ा ही घड़े के आश्रित जलानयनादि कार्यों का निमित्त बन सकता है, बनता हुआ घड़ा अर्थात् जो अभी बन रहा है, उत्पन्न हो रहा है, वह घड़ा अन्य उत्पन्न घड़ों के समान कार्य का निमित्त नहीं हो सकता। क्योंकि वह घड़ा तो स्वयं अभी बन ही रहा है। बनने पर ही उससे घटाश्रित जलाहरणादि कार्य किए जा सकते हैं, उत्पत्ति

से पूर्व नहीं। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[116] इसी भाव को न्यासकार भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

14 न हि मृत्तिकावस्थायां सन्तो घटादय उत्पद्यन्ते न्याय

"तदुत्पत्तिर्ह्यत्र भावः सा चानिष्पन्नसत्ताकस्यैव भवति, न निष्पन्नसत्ताकस्य, न हि मृत्तिकावस्थायां सन्तो घटादय उत्पद्यन्ते"।[117]

यह न्याय न्यासकार ने "प्रसमुपोदः पादपूरणे" इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है। इसका अर्थ है कि घट आदि पदार्थ जब तक मिट्टी आदि की अवस्था में हैं, तब तक घड़े नहीं कहलाते। यद्यपि मिट्टी आदि से ही घड़ा बनता है तो भी जो कार्य घड़े से हो सकता है, वह मिट्टी से नहीं। इसी प्रकार यहां 'प्र + सम् + उप + उद्' इन चारों निपातों से द्वित्व करने पर ही पादपूर्ति होती है अर्थात् जब तक द्वित्व नहीं होता तब तक पादपूर्ति सम्भव नहीं है। द्वित्व करने का तात्पर्य यही है कि जिससे पादपूर्ति हो जाए। भाव यह है कि जैसे जब तक मिट्टी है तब तक वह घड़ा नहीं है और घड़ा हो जाने पर वह मिट्टी नहीं रहती। इसी भाव को लेकर पादपूर्ति जिससे हो सके, इस कारण 'प्र' आदि शब्दों को द्वित्व कर सकते हैं, यह नहीं कि पादपूर्ति पहले हो और उसको कहने के लिए द्वित्व किया जाए, जैसे- घड़े बनाने के लिए मिट्टी की अवस्था पहले आवश्यक है ऐसे ही पादपूर्ति होने के लिए इन 'प्र' आदि शब्दों का द्वित्व होना आवश्यक है। यही इस न्याय का तात्पर्य है।[118]

15 न चोत्पन्नानामुत्पत्तिविकल्पः शक्यते कर्तुम् न्याय

"आयादय आर्धधातुके वा"[119] सूत्रस्थ 'आर्धधातुक' ग्रहण की काशिकाकारप्रोक्त 'आर्धधातुकविषये आर्धधातुकविवक्षायाम्' इस कथन की व्याख्या में न्यासकार कहते हैं कि प्रकृत 'आर्धधातुके' ग्रहण में निर्दोष होने से विषयसप्तमी जाननी चाहिए, दोषसद्भावात् परसप्तमी नहीं। और यह विषयसप्तमीत्व बौद्ध विवक्षा द्वारा सम्भव भी है। क्योंकि यदि यहां 'आर्धधातुके' ग्रहण में परसप्तमी मानी जाएगी तो उस अवस्था में इस सूत्र के दो अर्थ संभावित होंगे अर्थात् परसप्तमी पक्ष में यह आर्धधातुक में आयादि की उत्पत्ति का विकल्प करेगा या आयादि की निवृत्ति का विकल्प करेगा–यह विचारणीय होगा। फलतः यदि आयादि की उत्पत्तिपक्ष का विकल्प माना जाता है तो स्त्रीभाव की विवक्षा में अ प्रत्ययान्त 'गुप्' धातु से आयादि के अभाव पक्ष में 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर अभीष्ट 'गुप्तिः' रूप तो भले ही सिद्ध हो जाए परन्तु आयादि के भाव या उत्पत्ति पक्ष में 'गोपाय + ति' इस अवस्था में "अतो लोपः"[120] से अल्लोप तथा "लोपो व्योर्वलि"[121] से यकारलोप करने पर 'गोपातिः' यह अनिष्ट रूप भी साथ में अवश्य प्राप्त होगा, अभीष्ट 'गोपाया' यह रूप नहीं।

भाव यह है कि भिन्नवाक्यतारूप परसप्तमीप्रोक्त उत्पत्तिपक्ष में आयाद्यन्त से आर्धधातुक प्राप्त होता है–इस निर्गलित सूत्रार्थ में स्पष्ट है कि आयादि की उत्पत्ति

तो पहले से ही स्वीकृत हो चुकी सिद्ध होती है। और प्रकृत सूत्रस्थ पदमञ्जरी के अनुसार जो पहले ही उत्पन्न हो चुके हैं, उनका बाद में उत्पत्तिविकल्प विधान नहीं किया जा सकता–ऐसा लोकन्याय है। अथवा उत्पन्न होने पर फिर उसकी उत्पत्ति के विकल्प का विधान करना ऐसे ही अप्रयोजक रहेगा जैसे भोजन कर चुके व्यक्ति को यह कहना कि भोजन मत करना - यह लोकन्याय प्रसिद्ध ही है।[122] इसलिए फिर इस सूत्र से आयादि की निवृत्ति का विकल्प ही मानना चाहिए। परन्तु इसमें भी दोष आता है। क्योंकि स्त्रीभाव की विवक्षा में आय प्रत्यायान्त 'गुप्' धातु से "अ प्रत्ययात्"[123] सूत्र द्वारा अ प्रत्यय करने पर आयादि की निवृत्ति के अभाव पक्ष में 'गोपाया' ये अभीष्ट रूप तो भले ही सिद्ध हो जाए परन्तु इसके साथ ही आयादि की निवृत्ति के भाव पक्ष में 'गोपा' यह अनिष्ट रूप भी अवश्य प्रसक्त होगा अर्थात् आयादि की निवृत्ति के भावाभाव दोनों पक्षों में 'गुप्तिः' यह अभीष्ट रूप सर्वथा सिद्ध नहीं होता। दूसरे शब्दों में - परसप्तमीपक्षगत उत्पत्तिविकल्प पक्ष में तो 'गुप्ति' रूप सिद्ध होता है, 'गोपाया' नहीं और निवृत्तिविकल्प पक्ष में 'गोपाया' सिद्ध होता है, 'गुप्तिः' नहीं। इसलिए यहां 'आर्धधातुक' ग्रहण में बुद्धिस्थ विवक्षा द्वारा विषयसप्तमी मानते हुए आयादि की उत्पत्ति के आदि में ही विकल्प हो जाता है तो सभी पक्षों में सब इष्ट सिद्ध हो जाता है। क्योंकि आयादि के अनुत्पत्ति पक्ष में "स्त्रियां क्तिन्"[124] होकर 'गुप्तिः' बन जाएगा और आयादि के उत्पत्ति पक्ष में 'गोपाया' बन जाएगा। परन्तु 'आय्' प्रत्ययान्त होने से 'क्तिन्' न होने के कारण 'गोपा' यह अनिष्ट रूप सर्वथा नहीं बनेगा तथा इसी तरह 'आय्' प्रत्यय के अनुत्पन्न होने से 'गोपा' यह अनिष्ट प्रयोग भी नहीं प्रसक्त होगा।

16 द्रव्यवत् कर्मचोदना न्याय/एकवाक्यभाव न्याय

"एकवाक्यभावादेव लोके द्वयोरेकस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। आतश्चैकवाक्यभावात्। अङ्ग हि भवान् ग्राम्यं पाशुलपादमप्रकरणज्ञमागतं ब्रवीतु-अनयोः पूलयोः कटं कुरु। अनयोर्मृत्पिण्डयोर्घटं कुरु इति। एकमेवासौ करिष्यति।"[125]

"एकः पूर्वपरयोः" इस सूत्र में स्थित 'एक' ग्रहण का प्रत्याख्यान करने के लिए भाष्यकार उक्त लोक न्याय को उपस्थित करते हुए कहते हैं कि एकवाक्यता के कारण ही लोक में दो के स्थान में एक की निष्पत्ति होती है। क्योंकि यदि आप किसी धूलिधूसरित पैर वाले और प्रकरणज्ञानरहित अपने पास आए हुए ग्रामीण को कहें कि तू इन दो पूलों (पूलियों) का कट बना दे और इन मिट्टी के दो पिण्डों का घड़ा बना दे तो वह दो पूलों को मिलाकर एक ही कट बनाएगा, दो नहीं। इसी तरह दो मिट्टी के पिण्डों से भी वह एक ही घड़ा बनाएगा, दो नहीं। इसका कारण है कि वक्ता को दो पदार्थों से बनी एक ही वस्तु विवक्षित है इसलिए वह एक ही वस्तु बनाता है, दो नहीं। यदि दो विवक्षित होंगी तो वह दो अवश्य बनाएगा। किन्तु एक वाक्य

से कही गई वस्तु एक ही बनेगी। इसी प्रकार एक वाक्य द्वारा पूर्व-पर के स्थान में कहा हुआ गुणादि आदेश भी एक ही होगा, अलग-अलग दो नहीं होंगे तो सूत्र में 'एक' ग्रहण करना व्यर्थ है। यह न्याय शेखर में भी प्रयुक्त हुआ है।[126] इसी विषय को सुस्पष्ट करने के लिए हरदत्त भी लिखते हैं–

"ननु च आद्गुण इत्यादावेकस्यैवादेशस्य सूत्रे उपादानम्, संख्याया विवक्षितत्वादुपात्तसंख्यात्यागे कारणाभावात्, ततश्चैक एव गुणादिरादेशो भविष्यति। ...... अविवक्षाकारणाभाद्विवक्षितमेकत्वं लोकवत्, तद् यथा- लोकेऽनयोर्मृत्पिण्डयोर्घटं कुर्वेति, न चोच्यते एकमिति, एकमेव चासौ करोति"।[127]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "एकः पूर्वपरयोः" इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि प्रकृत सूत्र में 'एक' शब्द में जो प्रथमा का एकवचन 'एकः' का निर्देश किया है, उसमें एकत्व संख्या विवक्षित है अर्थात् पूर्व और पर दोनों के स्थान में एक ही आदेश होगा, दो नहीं। इस एकत्व संख्या की विवक्षा न होने में कोई कारण नहीं है, जैसे कि लोक में देखते हैं कि इन दो मिट्टी के ढेलों से तुम घड़ा बना दो – ऐसा कहने पर घड़ा बनाने वाला दो मिट्टी के ढेलों से एक ही घड़ा बनाता है। ढेलों के दो होने से भी दो घड़े नहीं बनते। इसके विपरीत 'ग्रहं समार्ष्टि' इस वाक्य की बात तो दूसरी है। क्योंकि यहां तो 'ग्रह' इस द्वितीया के एकवचन होने पर भी पूरे नौ ग्रहों का सम्मार्जन होता है। वहां तो संख्या विवक्षित नहीं है अर्थात् 'ग्रहम्' में एकवचन की विवक्षा नहीं की जाती, क्योंकि "प्राजापत्या नवग्रहाः" इस श्रुति वचन के अनुसार एक नहीं बल्कि पूरे नौ ग्रहों का सम्मार्जन अभीष्ट है। इस प्रकार यहां तो 'ग्रहम्' इस द्वितीया के एकवचन की विवक्षा न करके पूरे नौ ग्रहों का ही सम्मार्जन किया जाता है। परन्तु यह बात यहां "एकः पूर्वपरयोः" इस सूत्र में नहीं है। यहां तो लक्ष्यानुरोधात् 'एकः' इस एकवचन के निर्देश से एक ही आदेश होगा, पूर्व और पर दोनों के स्थान में दो आदेश नहीं होंगे – यह शास्त्रीय सिद्धान्त है। इसके लिए लौकिक दृष्टान्त भी ऊपर दे दिया गया है। इसी विषय को भूतभव्य न्याय से नागेश भी स्पष्ट करते हैं–

17. भूतभव्य न्याय

"एवं च भूतभव्यन्यायेन यद्रूपेण क्रियाविशिष्टस्य साध्यत्वं बुद्धं तत्रैव सम्बन्धिनः सिद्धस्य साधनत्वकल्पनादेकत्वमिति भावः"।[128]

यह न्याय पूरा इस प्रकार है – "भूतं भव्यायोपदिश्यते"। इस न्याय का अर्थ है कि जो भूत है, वह भविष्यत् के लिए उपयोगी होता है। यह न्याय उद्द्योतकार ने "एकःपूर्वपरयोः" सूत्र के भाष्य में "तच्चैकवाक्यभावात्" इसकी व्याख्या में लिखा है। यहां पूर्व और पर दोनों के स्थान में एक ही आदेश विधान करना है। किन्तु पूर्व-पर तो भूत हैं और एक आदेश विधेय होने से भव्य है अर्थात् आगे करना है। क्योंकि

दो के स्थान में एक ही आदेश करना अभीष्ट है, दो नहीं। जैसे भाष्यकार ने इसी सूत्र पर दो स्थानियों के स्थान में एक आदेश होने के उदाहरण दिए हैं वैसे ही यहां भी दो के स्थान में एक आदेश हो जाएगा। इसलिए सूत्र में 'एक' ग्रहण की आवश्यकता नहीं–ऐसा भाष्यकार का आशय है। यह न्याय संक्षेप शारीरक तथा उसकी व्याख्या[129] में दो बार उल्लिखित हुआ है। यह स्मरणीय है कि यहां एक स्थान पर स्वल्प पाठान्तर भी है। किन्तु मूलभाव एक ही है। काठक संहिता में इसको निम्न प्रकार से कहा गया है – "भविष्यद् हि भूयो भूतात्"[130]।

18. अवयवेनापि शास्त्रार्थसम्प्रत्ययो भवत्यनवयवेनापि न्याय

19. एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः न्याय/न वै कामानां तृप्तिरस्ति न्याय

"उभयथेह लोके दृश्यते – अवयवेनापि शास्त्रार्थसम्प्रत्ययः, अनवयवेनापि। इह तावद् वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीतेति। अग्न्याधानं यज्ञमुखप्रतिपत्त्यर्थम्। सकृदाधाय कृतः शास्त्रार्थः, प्रतिपन्नं यज्ञमुखमिति कृत्वा पुनः प्रवृत्तिर्न भवति। अतोऽत्रावयवेन शास्त्रार्थः सम्प्रतीयते। तथा गर्भाष्टमे ब्राह्मण उपनेय इति। उपनयनं संस्कारार्थम्। सकृच्चासावुपनीतः संस्कृतो भवति। अतोऽत्राप्यवयवेन शास्त्रार्थः सम्प्रतीयते। तथा त्रिर्हृदयंगमाभिरद्भिरशब्दाभिरुपस्पृशेदिति। उपस्पर्शनं शौचार्थम्। सकृच्चासावुपस्पृश्य शुचिर्भवति। अतोऽत्राप्यवयवेन शास्त्रार्थः सम्प्रतीयते।

इहेदानीं ब्राह्मणो न हन्तव्यः, सुरा न पेयेति। ब्राह्मणवधे सुरापाने च महान् दोषः उक्तः। स ब्राह्मणवधमात्रे सुरापानमात्रे च प्रसक्तः। अतोऽत्रानवयवेन शास्त्रार्थः सम्प्रतीयते। तथा पूर्ववयाः ब्राह्मणः प्रत्युत्थेय इति। पूर्ववयसोऽप्रत्युत्थाने दोष उक्तः। प्रत्युत्थाने च गुणः। कथम् –

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयाति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते॥

स च पूर्ववयोमात्रे प्रसक्तः। अतोऽत्राप्यनवयवेन शास्त्रार्थः सम्प्रतीयते। तथा वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निष्टोमादिभिः क्रतुभिर्यजेतेति। इज्यायाः किञ्चित् प्रयोजनमुक्तम्। किम्? स्वर्गे लोकेऽप्सरस एनं जायाभूत्वोपशेरते इति। तच्च द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्चेज्यायाः फलं भवितुमर्हति। अतोऽत्राप्यनवयवेन शास्त्रार्थः सम्प्रतीयते। तथा शब्दस्यापि ज्ञाने प्रयोजनमुक्तम् –

एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति इति।

यद्येकः शब्दः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति किमर्थं द्वितीयस्तृतीयश्च प्रयुज्यते। न वै कामानां तृप्तिरस्ति।"[131]

"एकः पूर्वपरयोः" सूत्र के भाष्य में उपर्युक्त अतिसुन्दर लोकन्यायों का निरूपण किया गया है। इनका अर्थ है कि लोक में शास्त्र का प्रयोजन अवयव में भी चरितार्थ

होता है और समुदाय में भी। तदनुसार कुछ शास्त्रीय बातें तो ऐसी हैं जो एक बार की हुई ही सफलता प्रदान कर देती हैं और कुछ ऐसी हैं जो बार-बार करनी पड़ती हैं अर्थात् अनेक बार करने पर ही उनसे सफलता मिलती है और तभी शास्त्र का वचन भी पूर्णतया पालित हो पाता है, जैसे **'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत'** इस शास्त्रीय वचन को ही लीजिए। इसका अर्थ है कि **वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्न्याधान करे।** ऐसी स्थिति में वसन्त में एक बार अग्न्याधान करने पर भी शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इसलिए बार-बार अग्न्याधान करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी तरह **'गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार होना चाहिए'** – यह शास्त्र का वचन है। अब एक बार उपनयन संस्कार करके भी शास्त्र का वचन चरितार्थ हो जाता है तो बार-बार उपनयन करने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार **'हृदय में गए हुए जलों से तीन बार बिना बोले आचमन करे'** – इस शास्त्र वचन में भी आचमन करना शुद्धि के लिए होता है। इसलिए एक बार आचमन करने से भी शुद्धि हो जाती है तो बार-बार आचमन करने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार यहां व्याकरण शास्त्र में भी "अवयवेनापि शास्त्रार्थसम्प्रत्ययः" इस प्रकृत न्याय से 'रमेशः' यहां इस एक उदाहरण में "आद् गुणः"[132] सूत्र से एकबार गुण एकादेश करने से इसके चरितार्थ होने के कारण फिर 'उमेशः' इत्यादि अन्य प्रयोगों में प्रकृत सूत्र से गुण एकादेश नहीं प्राप्त होता–यह शङ्का उत्थापित करके अब उत्तरार्ध में इसका उत्तर देते हुए कहा जाता है कि शास्त्र में आगे कहा गया है कि **ब्राह्मण को न मारे और सुरापान न करे।** क्योंकि ब्राह्मण को मारने तथा सुरापान करने में बड़ा भारी दोष कहा गया है। अब वह दोष प्रत्येक ब्राह्मण को मारने तथा प्रत्येक प्रकार की शराब को पीने में प्राप्त होता है। इसलिए यहां शास्त्र का प्रयोजन ब्राह्मणमात्र को न मारने तथा शराब मात्र को न पीने में है, केवल किसी एक ब्राह्मण के न मारने तथा किसी विशिष्ट शराब के पीने में नहीं है।

इसी तरह **'अपने से बड़ी आयु वाले विद्वान् ब्राह्मण का उठकर स्वागत करना चाहिए'** – यह शास्त्रवचन भी प्रत्येक वयोवृद्ध ब्राह्मण के लिए कहा गया है।[133] क्योंकि वयोवृद्ध विद्वान् का सत्कार न करने में दोष भी कहा गया है और साथ ही उठकर सत्कार करने में गुण भी कहे गए हैं, जैसे प्राचीन शास्त्र का वचन है–अपने से बड़े वृद्ध पुरुष के आने पर नौजवान मनुष्य के प्राण ऊपर निकलने को होते हैं। यदि वह नौजवान उठकर सत्कार-अभिवादन करता है तो अपने प्राणों को सुरक्षित कर लेता है। निर्गतप्राय प्राण वयोवृद्धों के सत्कार से पुनः प्राप्त होते हैं। यह वचन प्रत्येक वयोवृद्ध विद्वान् के सत्कार के लिए प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार यहां व्याकरण शास्त्र में भी **"अनवयवेनापि शास्त्रार्थसम्प्रत्ययः"** इस न्याय से जहां-जहां सूत्र की प्राप्ति होगी वह वहां-वहां अवश्य प्रवृत्त होगा तो "आद् गुणः" सूत्र से जहां 'रमेशः' में गुण एकादेश होता है वहां 'उमेशः', 'चरणोदकम्' इत्यादि में भी सिद्ध हो जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग

में नागेश भी वृद्धों के प्रति अभिवादनशीलता की इस अनिवार्यता को व्याघ्रादिव्यपदेश न्याय से स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

20. व्याघ्रादिव्यपदेश न्याय

"अर्थवादोऽयं प्रत्युत्थानप्रशंसापरः ऊर्ध्वं प्राणा इति। प्रत्युत्थानाकरणे प्राणोत्क्रमणरुपमसन्तमपि दोषमुद्भाव्य तत्प्रशंसा क्रियते तदननुष्ठाने दोषदर्शनेन तदनुष्ठानार्थम्–व्याघ्रादिव्यपदेशेन यथा बालो निवर्त्यते। असत्योऽपि तथा कश्चित् प्रत्यवायोऽभिधीयते इत्युक्तेः"।[134]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "एकः पूर्वपरयोः" सूत्र के भाष्य में "ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति" इत्यादि अर्थवाद की पुष्टि के लिए दिया है। वस्तुतः यह न्याय क्या है अपितु वाक्यपदीय में भर्तृहरि की एक कारिका ही है।[135] इसका अर्थ है कि जैसे व्याघ्र आदि के बहाने से किसी बच्चे को बुरे कार्यों से रोका जाता है कि तुम यदि ऐसा करोगे तो व्याघ्र आ जाएगा और तुम्हें खा जाएगा। इस प्रकार झूठमूठ ही उसको बहकाकर बुराई से रोकते हैं उसी प्रकार "उर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति" इत्यादि अर्थवाद में जो कि विदुरनीति में विदुर जी का कहा हुआ श्लोक है,[136] उसको पुष्ट करने के लिए ही यह न्याय कहा गया है। विदुर जी वहां अपने नीतिशास्त्र में धृतराष्ट्र को समझाते हुए कहते हैं कि अपने उद्दण्ड पुत्र दुर्योधन को ठीक रास्ते पर ला, उसको विनीत बना या विनयभाव सिखा जिससे वह बड़ों के आगे झुकना सीखे। क्योंकि युवा आदमी के पास जब कोई विद्या या आयु में बूढ़ा मनुष्य उपस्थित होता है तो उस समय नौजवान व्यक्ति के प्राण ऊपर को निकलने को होते हैं। उस समय यदि वह उस बूढ़े मनुष्य के आने पर उठकर उसका सम्मान नहीं करता तो उसकी मरने की सम्भावना रहती है और वह शीघ्र मर भी जाता है। क्योंकि वह अपने बड़ों का आदर नहीं करता। यदि तो वह नवयुवा व्यक्ति उद्दण्डता छोड़कर अपने बड़ों के आने पर उठकर उनका आदर-सत्कार करता है और उन्हें प्रणाम आदि करके प्रसन्न करता है तो अपने ऊपर निकलते हुए प्राणों को फिर दुबारा प्राप्त कर लेता है अन्यथा मृत्यु अधिक दूरस्थ नहीं होती। इस न्याय का यही तात्पर्य है कि ठीक रास्ते पर लाने के लिए झूठ-मूठ बातों की कल्पना से भी मनुष्य को समझाया जाता है। इसी तरह प्रकृत में वसन्त में ब्राह्मण अग्निष्टोमादि विशिष्ट यज्ञों से यजन करे – यह शास्त्रीय वचन भी विशिष्ट फल प्राप्ति के लिए कहा गया है जो कि प्रतिवसन्त ऋतु में करना होगा। अग्निष्टोमादि यज्ञों का विशिष्ट फल यह लिखा है कि उक्त यज्ञ करने वाले को स्वर्ग लोक में अप्सराएं स्त्री बनकर उसकी सेवा करती हैं। परन्तु यह विशिष्ट फल तभी संभव है जब बार-बार ऐसे यज्ञ किए जाएं। केवल एक बार यज्ञ करने से उक्त विशिष्ट फल नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए यहां शास्त्र का प्रयोजन निरन्तर यज्ञ करने में पर्यवसित होता है।

इसी प्रकार साधु शब्द के ज्ञान में भी शास्त्रीय वचन उत्तम फल का अभिधान करता है। तद् यथा- एक ही शब्द यदि शास्त्रज्ञानपूर्वक ठीक तरह से प्रयुक्त किया जाए तो वह स्वर्गलोक पहुंचाने में सफल हो जाता है। क्योंकि मनुष्यों की कामनाएं अनन्त हैं। कामनाओं की तृप्ति नहीं होती। इसलिए एक से अधिक भी साधु शब्दों का ज्ञान मनुष्यों को करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार भाष्यकार ने लोकव्यवहार की सिद्धि के लिए शास्त्रीय वचनों की व्याप्ति तथा पर्याप्ति दोनों प्रदर्शित कर दी हैं। क्योंकि शास्त्र से लोक का तथा लोक से शास्त्र का परस्पर उपकार्योपकारकभाव सदा से सिद्ध है। एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः विषयक यह न्याय अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[137] व्याप्ति और प्रत्यासत्ति न्याय भी "अवयवेनापि शास्त्रार्थसम्प्रत्ययोऽनवयवेनापि" इस सिद्धान्त में तात्पर्य ग्राहक हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है–

21. व्याप्ति न्याय

न च मुख्ये सति गौणस्याश्रयणं युक्तम्, गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययात्, नैष दोषः, व्याप्तेर्न्यायादाकारस्यापि गौणमच्त्वमाश्रित्य भविष्यति, अन्यथा ह्यैज्ग्रहणमेव कुर्यात्, न वृद्धिग्रहणम्"।[138]

"वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्" इस सूत्र की व्याख्या में न्यासकार ने व्याप्ति न्याय का आश्रयण करके आकार को भी गौण् अच् मानकर उसकी वृद्धि संज्ञा सिद्ध कर दी है। शास्त्र में दो तरह के न्याय हैं – एक 'व्याप्ति न्याय' और दूसरा 'प्रत्यासति न्याय'। 'व्याप्ति न्याय' का अर्थ है – जितना अधिक फैल सके उतना फैलना चाहिए और 'प्रत्यासत्ति न्याय' वह है – जितना अधिक समीप हो, उसका ग्रहण करना चाहिए। ये दोनों न्याय यद्यपि परस्पर विरोधी हैं फिर भी लक्ष्यानुरोध से दोनों ही शास्त्रों में माने जाते हैं। न्यासकार 'व्याप्ति न्याय' के आधार पर यह कहते हैं कि अकार का सवर्णी जो आकार है, वह भी अच् है, क्योंकि अच् प्रत्याहार में आकार के साक्षात् न आने पर भी सवर्णग्रहण से आकार का ग्रहण हो जाता है। फलतः उसकी वृद्धि संज्ञा होकर उस समुदाय की वृद्ध संज्ञा बन जाती है। यह तो 'व्याप्ति न्याय' का उदाहरण है। इस व्याप्ति न्याय का व्याकरणशास्त्र में पर्याप्त प्रयोग उपलब्ध होता है।[139]

22. प्रत्यासत्ति न्याय

इसके विपरीत 'प्रत्यासत्ति न्याय' होता है। उससे "प्राग्रीश्वरान्निपाताः"[140] इस सूत्रस्थ 'रीश्वर' शब्द में 'प्रत्यासत्ति न्याय' से "अधिरीश्वरे"[141] इस सूत्र में आने वाला जो 'रीश्वर' शब्द है, वह समीप है अथवा प्रत्यासन्न है। अतः उसी का ग्रहण होगा, और जो दूरस्थ 'ईश्वर' शब्द है, उसका ग्रहण नहीं होगा। परिणामतः निपात संज्ञा उस 'ईश्वर' शब्द तक नहीं जाएगी। क्योंकि 'प्रत्यासत्ति न्याय' से "अधिरीश्वरे" इस सूत्र में आने वाला जो 'ईश्वर' शब्द है, उसके प्रत्यासन्न होने से वहीं तक निपात संज्ञा का अधिकार जाएगा, "ईश्वरे तोसुन्कसुनौ"[142] इस सूत्र के 'ईश्वर' शब्द तक नहीं

– यह 'प्रत्यासत्तिन्याय' से सिद्ध हो जाता है। इसे ही 'कपिञ्जलालम्भन' न्याय भी कहते हैं। इस प्रत्यासत्ति न्याय का भी शास्त्र में पर्याप्त विस्तृत प्रयोग क्षेत्र है।[143] इस सन्दर्भ में भाव की दृष्टि से "आवनान्तात् ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत्" यह न्याय भी अवश्य देखा जा सकता है। इसी प्रत्यासत्ति न्याय को सुस्पष्ट करने के लिए कैयट 'कपिञ्जलालम्भन न्याय' को उपन्यस्त करते हैं–

23. कपिञ्जलालम्भन न्याय

"लोके प्रत्यासत्तिराश्रीयते यथा- कपिञ्जलानालभेतेति त्रय एवालभ्यन्ते न चतुरादयः। शास्त्रे च लोकव्यवहारोऽङ्गीक्रियत इति भावः। लौकिकं प्रत्यासत्तिलक्षणं न्यायं लोक एव परित्यजति। स्नेहादिवशाद् द्वितीयमप्युदकान्तं प्राप्य निर्वतन्ते। कपिञ्जलानित्यत्र तु प्रथमातिक्रमे कारणाभावान् न हिंस्यात् सर्वाणि भूतानीति चतुर्थादिषु निषेधावतारात् त्रय एवालभ्यन्ते।"[144]

यह न्याय प्रदीपकार ने "प्राग्रीश्वरान्निपाताः" सूत्र के भाष्य में प्रत्यासत्ति न्याय का आश्रयण करते हुए उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि लोक में दोनों तरह की बातें देखी जाती हैं, जैसे किसी ने कहा कि कूप से पानी ले आओ। अब पानी लाने वाला जो प्रत्यासन्न अर्थात् निकट का कूप होगा वहीं से पानी ले आता है और दूर के कूप तक जाने का कष्ट नहीं करता। व्याप्ति न्याय को देखते हुए तो वह जहां तक भी कूप मिलते हैं वहां तक किसी भी कूप से पानी ला सकता है। किन्तु वह देखता है कि मधुर और पीने लायक पानी मुझे पास के कूप से ही मिल सकता है अतः मैं दूर के कूप तक जाने का कष्ट क्यों करूँ? हां, यदि पास के कूप का पानी गन्दा हो, मीठा न हो, तब तो वह पास के कूप को छोड़कर दूर तक अवश्य जाएगा। वैसे सामान्य स्थिति में तो यही होता है कि मनुष्य अपनी सुविधा को देखता है। फलतः जिस आसान उपाय से उसका अभीष्ट सिद्ध हो जाए उसी विधि को वह अपनाता है।

इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी 'ईश्वर' शब्द दो सूत्रों में आता है। एक तो "अधिरीश्वरे"[145] और दूसरा "ईश्वरेतोसुन्कसुनौ"[146] में। ऐसी स्थिति में "प्राग्रीश्वरान्निपाताः"[147] सूत्र से होने वाली निपात संज्ञा कौन से 'ईश्वर' शब्द से पहले मानी जाए? ऐसा सन्देह होने पर प्रत्यासत्ति न्याय से जो सबसे पहले निकट 'ईश्वर' शब्द है, उससे पहले (प्राक्) ही मानी जाएगी। इसको प्रत्यासत्ति न्याय कहते हैं। इसी से मिलता जुलता यह 'कपिञ्जलालम्भन' न्याय है। मीमांसा में इसे 'कपिञ्जलाधिकरण' न्याय से कहा गया है। यजुर्वेद के अश्वमेध प्रकरण में 24वें अध्याय में जंगली पशु-पक्षियों का आलम्भन लिखा है। वहां का एक मन्त्र है– "वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभेत"[148] इत्यादि। इसका अर्थ है कि वसन्त ऋतु के लिए कपिञ्जल नामक पक्षियों का आलम्भन करे। यहां 'कपिञ्जलान्' यह द्वितीया का बहुवचन है। अतः बहुवचन होने से यहां

बहुत से कपिञ्जलों का आलम्भन करना है, एक या दो का नहीं। और बहुवचन तीन से प्रारम्भ होता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि क्या तीन कपिञ्जलों का ही आलम्भन कर दिया जाए या चार-पाँच से लेकर हजारों कपिञ्जलों का आलम्भन हो सकता है? वहां मीमांसा दर्शन[149] में आठ सूत्रों के माध्यम से इस बात का निश्चय किया गया है कि यहां कपिञ्जलों के बहुवचन में केवल तीन ही कपिञ्जलों का आलम्भन होगा, इनसे अधिक का नहीं। तीन से कम तो लिए ही नहीं जा सकते क्योंकि वे बहुत नहीं हैं। किन्तु चार और पांच आदि लेने की क्या आवश्यकता है? आलम्भन वाक्य तो एक ही है अतः एक वाक्य से तीन कपिञ्जलों का आलम्भन हो जाएगा, उससे अधिक कपिञ्जलों के आलम्भन में कोई युक्ति-प्रमाण नहीं है। इसी को कपिञ्जलाम्भन न्याय कहते हैं। इस न्याय के विषय में भट्टोजिदीक्षित कहते हैं–

"अभदैकत्वसंख्याया वृत्तौ भानमिति स्थितिः।
कपिञ्जलालम्भवाक्ये त्रित्वं न्यायाद् यथोच्यते"॥[150]

इसी न्याय को "सकृत्कृते कृतः शास्त्रार्थः" यह भी कहा जा सकता है। यह न्याय अन्यत्र भी व्याकरणशास्त्र में प्रयुक्त देखा जा सकता है।[151]

24. प्रत्यक्षे किमनुमानम् न्याय / प्रत्यक्षानुमानयोश्चाऽविलम्बितप्रतीतिरूपत्वात्प्रत्यक्षं बलीयः न्याय

"लक्षणप्रतिपदोक्तयोरिति .... लाक्षणिकस्यानुमानेन रूपावधारणं प्रतिपदोक्तस्य तु प्रत्यक्षेण। प्रत्यक्षानुमानयोश्चाविलम्बितप्रतीतिरूपत्वात् प्रत्यक्षं बलीयः"।[152]

यह न्याय प्रदीपकार ने "निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम्" सूत्र के भाष्य में "लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैवेति" इस परिभाषा की व्याख्या में लिखा है। 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः' का अर्थ तो सर्वप्रसिद्ध ही है कि जो लाक्षणिक रूप है, लक्षणों या सूत्रों द्वारा बनाया जाता है, वह आनुमानिक होता है और प्रतिपदोक्त तो साक्षात् उच्चरित होता ही है। लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त शब्द का ही ग्रहण किया जाता है। इस न्यायसिद्ध परिभाषा को पुष्ट करने के लिए ही यह न्याय है। इसका अर्थ है कि प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों में प्रत्यक्ष द्वारा किसी वस्तु की बिना विलम्ब के प्रतीति होती है जबकि अनुमान में उस वस्तु की प्रतीति में विलम्ब होता है। क्योंकि अनुमान तो लिङ्ग को देखकर बोध कराएगा।[153] इसलिए अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष बलवान् होता है।[154] लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा अथवा यह न्याय यहां भाष्यकार ने इसलिए उपस्थित किया है कि 'यत् कूजति शकटम्' यहां इस वाक्य में 'यत्' शब्द 'इण्' धातु से 'शतृ' प्रत्यय करके नपुंसकलिङ्ग में बनता है। 'यत्' का अर्थ है- जाता हुआ और "निपातैर्यद्यदिहन्त" सूत्र में जो 'यत्' शब्द लिया गया है वह तो साक्षात् 'यद्' प्रातिपादिक शब्द ही है। उसका अर्थ है- जो। इस

तरह उक्त सूत्रपठित जो यत् शब्द है, वह तो प्रतिपदोक्त है, साक्षात् उच्चरित है जबकि 'इण्' धातु से 'शतृ' प्रत्यय करके जो 'यत्' बनाया गया है, वह लाक्षणिक है। अतः उक्त न्याय द्वारा लाक्षणिक होने से उस 'यत्' का यहां ग्रहण नहीं होता। लाक्षणिक का ग्रहण क्यों नहीं होता, उसमें ऐसा क्या प्रतिबन्धक है? इसको समझाने के लिए प्रदीपकार ने यह न्याय दिया है। इसका तात्पर्य यही है कि लाक्षणिक में तो अनुमान द्वारा विलम्ब से वस्तु की प्रतीति होती है जबकि प्रतिपदोक्त में साक्षात् उच्चारण करने से ही प्रत्यक्ष प्रतीति हो जाती है। इसलिए प्रत्यक्ष तथा अनुमान में प्रत्यक्ष ही बलवान् है। यह न्याय "प्रत्यक्षे किमनुमानम्" न्याय के नाम से भी जाना जाता है। अन्यत्र भी यह न्याय प्रयुक्त हुआ है।[155]

25. अतिदिष्टादुपदिष्टं बलीयः न्याय

"न च दविष्ठ इत्यादावोर्गुणस्यापि दृष्टत्वेन इहाप्यतिदेशः स्यादिति वाच्यम्। तत्र कर्तव्ये सम्प्रसारणटिलोपयोराभीयत्वेनासिद्धत्वात्। परत्वेन, अतिदिष्टादुपदिष्टं बलीयः इति न्यायेन च अचो ञ्णितीति वृद्ध्या बाधाच्च। अपरे तु श्वन्शब्दादिष्ठनि .... इहापि अभावातिदेशेन सम्प्रसारणं दुर्लभम्।"[156]

यह न्याय 'बृहच्छब्देन्दुशेखरकार' ने नामधातुप्रक्रिया में 'दविष्ठः' रूपकी सिद्धि में दिया है। इसका अर्थ है कि अतिदिष्ट कार्य की अपेक्षा जो उपदिष्ट कार्य है, वह बलवान् होता है। इसलिए "णौ इष्ठवत्"[157] इस अतिदेश की अपेक्षा 'दविष्ठः' में जैसे साक्षात् उपदिष्ट इष्ठवत् प्रत्यय परे रहते "स्थूलदूर"[158] इत्यादि सूत्र से दूर शब्द के रेफ का लोप और उसके ऊ को ओ गुण होकर आदेश हो जाता है वैसे ही 'शुनयति' यहां भी 'श्वन्' शब्द से परे 'णिच्' को इष्ठवद्भाव का आदेश मानकर टिलोप हो जाना चाहिए। किन्तु इस न्याय से 'णिच्' प्रत्यय को अतिदिष्ट हुआ इष्ठवद्भाव उपदिष्ट की अपेक्षा बलवान् नहीं हैं। इसलिए 'शुनयति' में टिलोप नहीं होता अपितु "श्वयुवमघोनाम्"[159] इत्यादि सूत्र से श्वन् को सम्प्रसारण होकर शुनयति रूप बन जाता है। क्योंकि उसमें श्वन् शब्द साक्षात् उपदिष्ट है अर्थात् वहां टिलोप इसलिए नहीं होता क्योंकि वहां 'णि' को जो इष्ठवद्भाव का अतिदेश है, वह उपदेश की अपेक्षा बलवान् नहीं है। इस विषय में "प्रकरणापेक्षया श्रुतेर्बलवत्वम्" न्याय को उद्धृत करते हुए नागेश भी आगे कहते हैं–

26. प्रकरणाऽपेक्षया श्रुतेर्बलवत्त्वम् न्याय

"नपुंसकस्येति च गृह्यमाणस्यान्यस्याभादङ्गस्यैव विशेषणम्। अस्थि दधीत्यादौ तु गृह्यमाणस्यैव, प्रकरणापेक्षया श्रुतेर्बलवत्त्वात्"।[160]

यह न्याय बृहच्छब्देन्दुशेखरकार ने "नपुंसकस्य झलचः" सूत्र की व्याख्या में दिया है। इसका अर्थ यह है कि प्रकरण की अपेक्षा श्रुति बलवान् होती है। इस सन्दर्भ में मीमांसा दर्शन में सूत्र है - "श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाय-

पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्"।[161] इसका अर्थ है- श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन पांचों के समुदाय में पूर्व-पूर्व अधिक बलवान् होने से श्रुति ही बलवान् है अर्थात् इन पांचों में परला-परला दुर्बल है और पहला-पहला बलवान् है, जैसे- समाख्या सबसे कमजोर है, उससे बलवान् स्थान है, स्थान से बलवान् प्रकरण है, प्रकरण से बलवान् वाक्य है, वाक्य से बलवान् लिङ्ग है और लिङ्ग से बलवान् श्रुति है। इस प्रकार प्रकरण की अपेक्षा श्रुति ही सबसे बलवान् सिद्ध हो जाती है। इससे "अस्थिदधि"[162] इत्यादि सूत्र में जो गृह्यमाण अथवा श्रूयमाण अस्थि, दधि आदि शब्द हैं, उनकी प्रधानता में अनङ् आदेश होता है। यद्यपि "अङ्गस्य"[163] के अधिकार से यहाँ अङ्ग का प्रकरण चल रहा है, अतः अङ्ग की प्रधानता में ही अनङ् होना चाहिए। किन्तु यहाँ प्रकरण को बाधकर श्रुति के बलवान् होने से अस्थि, दधि आदि शब्दों की प्रधानता में ही अनङ् होता है, अङ्ग की प्रधानता में नहीं। इस प्रसङ्ग में अगला "श्रुतानुमितयोः श्रुतं बलीयः" यह न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है।

27. श्रुतानुमितयोः श्रुतं बलीयः न्याय / श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान् न्याय

"अत्र (हर्य्यनुभवः, न ह्यस्ति) अनचि चेति रेफहकारयोर्द्वित्वं न भवति। द्वित्वप्रकरणे रहाभ्यामिति रेफत्वेन हकारत्वेन च साक्षाच्छ्रुतेन निमित्तभावेन तयोः यर्शब्दबोधितकार्यभाक्त्वबाधात्, श्रुतानुमितयोः श्रुतं बलीय इति न्यायात्"॥[164]

यह न्याय बालमनोरमाकार ने 'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र की व्याख्या में लिखा है। इसी न्याय को 'श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्' ऐसा भी पढ़ते हैं। इसका अर्थ है कि श्रुत अर्थात् प्रत्यक्ष या स्पष्ट सुनाई देने वाला और अनुमित अर्थात् अनुमान का विषय जो स्पष्ट सुनाई नहीं देता अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है, उन दोनों में श्रुत अर्थात् प्रत्यक्ष ही बलवान् होता है। इस न्याय के आधार पर "अचो रहाभ्यां द्वे" सूत्र में 'रहाभ्याम्' इस शब्द से रेफ और हकार का तो साक्षात् या प्रत्यक्ष श्रवण है। किन्तु इनमें रेफ यर् प्रत्याहार में भी आता है– यह अनुमान से जाना जाता है दूसरे शब्दों में– उसका साक्षात् श्रवण नहीं है अपितु वह तो अनुमान से ही जाना जाता है अर्थात् जब यर् प्रत्याहार के अक्षरों का परिगणन करते हैं तो हमें 'हयवरट्' में रेफ भी दिखाई देता है। इसलिए यर् में आने के कारण 'अचो रहाभ्यां द्वे' से रेफ को तो 'हर्य्यनुभवः' में तथा 'न ह्यस्ति' यहाँ हकार को द्वित्व प्राप्त होता है। किन्तु इस न्याय के आधार पर 'रहाभ्याम्' यहाँ जो रेफ और हकार का साक्षात् श्रवण है, वह श्रुत है और रेफ तथा हकार ये दोनों यहाँ निमित्त कोटि में निविष्ट हैं, जबकि इसके विपरित यर् में जो रेफ है, वह अनुमित है, प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। इसलिए इसको बाध कर रेफ के यर् में आने पर भी उसको द्वित्व नहीं होगा। यह न्याय अत्यन्त प्रसिद्ध है। भाष्यकार ने तो इसे माठरकौण्डिन्य न्याय से सिद्ध किया है, जैसे कोई कहे कि

सब ब्राह्मणों को भोजन कराओ। किन्तु जो माठरकौण्डिन्य नामक दो ब्राह्मण हैं, वे भोजन परोसें। अब जब तक वे दोनों भोजन परोसेंगे, तब तक वे भोजन नहीं कर सकते। यद्यपि वे ब्राह्मण हैं और ब्राह्मणों को भोजन कराओ- इस वाक्य में वे भी आ जाते हैं। फलतः वे भोजन पाने के अधिकारी हैं। फिर भी जब वे भोजन परोसेंगे तो उसी समय कैसे खा सकेंगे? इसलिए वे भोजन परोसने के निमित्त होने के कारण उसी समय भोजन करने वाले नहीं बन सकते। इस न्याय से यहाँ भी जब 'रहाभ्याम्' इस शब्द से रेफ और हकार को निमित्त कोटि में डाल दिया गया तो वे यर् में आने पर भी द्वित्व के कार्यभाक् कैसे हो सकते हैं ? अर्थ की दृष्टि से इस न्याय की तुलना "प्रत्यक्षानुमानयोश्चाविलम्बितप्रतीतिरूपत्वात् प्रत्यक्षं बलीयः" इस पूर्वोक्त न्याय से अवश्य की जा सकती है। वैसे परम्परया तो "ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र"[165] यह परिभाषा भी उपर्युक्त अर्थ में ही उपोद्बलक है।

28. न प्रयोजनानुवर्ति प्रमाणमपितु प्रमाणानुवर्ति प्रयोजनम् न्याय

"सन्निहितस्यैव वस्तुनः सर्वनाम्ना परामर्शात्। यद्यप्यनुवृत्त्या प्रकृतयोः संज्ञासिद्धौ प्रयोजनसम्पादनाय तौ ग्रहणं क्रियते तथापि न प्रयोजनानुवर्ति प्रमाणमपितु प्रमाणानुवर्ति प्रयोजनमिति क्रियमाणमपि तौ ग्रहणं प्रयोजनसम्पादनाय नालमिति भावः"।[166]

यह न्याय प्रदीपकार ने "तौ सत्" सूत्र के भाष्य में 'तौ' ग्रहण की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि प्रयोजन के पीछे प्रमाण नहीं चलता अपितु प्रमाण के पीछे प्रयोजन को चलना पड़ता है अर्थात् जैसे प्रमाणशास्त्र कहे, वैसे ही प्रयोजन होना चाहिए, यह नहीं कि जैसा हमारा प्रयोजन है उसको सिद्ध करने के लिए प्रमाण ढूंढें। तदनुसार "तौ सत्" सूत्र में 'तौ' ग्रहण किए बिना भी 'शतृ' और 'शानच्' इन दोनों प्रत्ययों की अनुवृत्ति द्वारा अधिकार करके सत्संज्ञा सिद्ध हो जाएगी और उस सत्संज्ञासिद्धि से "पूरणगुणसुहितार्थसत्"[167] इत्यादि सूत्र से षष्ठी समास का निषेध आदि बहुत से प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं। यहाँ पर कैयट लिखते हैं कि यद्यपि 'शतृ' और 'शानच्' तो बहुत पहले जा चुके हैं। उनको इधर लाने में बहुत से सूत्रों का व्यवधान है जबकि जो वस्तु सन्निहित होती है या अव्यवहित होती है, उसी का सर्वनामसंज्ञक शब्द से परामर्श किया जा सकता है। इस तरह वैसे तो यहाँ भी 'तौ' यह सर्वनाम संज्ञक 'तत्' शब्द का रूप है तथापि यदि ऐसा कहा जाए कि इस तौ ग्रहण के आधार पर अनुवृत्ति द्वारा 'शतृ', 'शानच्' की सत्संज्ञा का परामर्श हो सकता है तो ठीक नहीं। क्योंकि जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन दोनों की सत्संज्ञा की जा रही है वह प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होता। कारण कि उक्त न्याय से प्रमाण के पीछे प्रयोजन चला करता है, प्रयोजन के पीछे प्रमाण नहीं। फलतः यहाँ 'तौ' शब्द का ग्रहण सत्संज्ञा के प्रयोजन को बताने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार प्रकृत शास्त्रीय विषय में इस न्याय का उपयोग करने के लिए इसका यहां उपन्यास किया

गया है। सत् ग्रहण के प्रसङ्ग में ही पिष्टपिण्डसिंह न्याय का उपयोग करते हुए कैयट पुनः कहते हैं—

29. पिष्टपिण्डसिंह न्याय

"यथा पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्तामिति तदाकाराः क्रियन्ते। विहितयोस्तु तयोः सत्संज्ञानिबन्धनकार्यप्रसङ्गः। .... अथवा ताविति शब्देनैवाभिमतोऽर्थो लभ्यते"।[168]

यह न्याय प्रदीपकार ने 'तौ सत्' सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि जैसे आटे के पिण्ड से शेर बना दो - ऐसा कहने पर जिस प्रकार आटे के पिण्ड का आकार होगा उसी ढंग के आटे के शेर बन जाएंगे वैसे ही यहाँ भी जो 'शतृ' तथा 'शानच्' प्रत्यय वर्तमान काल में विहित हैं जिस प्रकार उनकी सत्संज्ञा है, उसी प्रकार भूत और भविष्यत् काल में विहित जो शतृ तथा शानच् हैं फिर उनकी भी सत्संज्ञा हो जाती है। इस विषय में सूत्र में 'तौ' ग्रहण ही समर्थ है अर्थात् यह तौ ग्रहण कालविशेष में विहित 'शतृ' तथा 'शानच्' की सत्संज्ञा नहीं करेगा अपितु 'तौ' ग्रहण के सामर्थ्य से तीनों कालों में होने वाले जो 'शतृ' और 'शानच्' हैं, उन दोनों की सत्संज्ञा हो जाएगी।

30. अन्न्ययोगोलक न्याय

"दर्शनीयम्मन्य इति - शरीरधर्ममपि दर्शनीयत्वादिकमात्मधर्ममेव मन्यन्ते संसारिणः शरीरशरीरिणोरग्न्ययोगोलकयोरिवाभेदं मन्यमानाः।"[169]

"आत्ममाने खश् च" सूत्रस्थ काशिकाकारप्रोक्त 'दर्शनीयम्मन्यः' इस उदाहरण पर पदमञ्जरीकार शङ्का करते हैं कि दर्शनीयत्वादि वैशिष्ट्य तो शरीर का धर्म होता है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो शुद्धबुद्धस्वरूप है। फिर 'आत्मानं दर्शनीयं मन्यते इति दर्शनीयमानी' यह प्रयोग कैसे बनेगा ? तो इसका उत्तर भी वे स्वयं ही देते हैं कि परमार्थदशा में तो भले ही दर्शनीयत्वादिक गुण आत्मा के धर्म न होकर शरीरधर्म ही होते हैं। परन्तु लोक में, व्यवहार दशा में, संसारी जीव जैसे- अग्नि और अग्नि में तपने के कारण लाल बने हुए अयोगोलक (लोहे का घेरा) को भ्रमवश अभिन्न या एक मान बैठते हैं वैसे ही यहां शास्त्र में भी लोक के द्वारा शरीर और शरीरी (आत्मा) में अभेद मानकर उक्त प्रयोग किया गया जानना चाहिए।

यहां यह कहना कि 'दर्शनीयमात्मानं मन्यते (आत्मा)' इस प्रयोग में एक ही वस्तु (आत्मा) कर्ता और कर्म कैसे हो सकती है तो, न्यासकार के अनुसार, इसका उत्तर है कि यह कोई दोष नहीं। क्योंकि शक्ति या कारकभेद से एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न भी हो सकती है, जैसे 'पीयमानं मधु मदयति' इस वाक्य में एक ही 'मधु' शब्द कर्ता और कर्म दोनों की भूमिका का निर्वाह कर रहा है ऐसे ही यहां भी आत्मा दोनों कार्य कर सकता है। भाष्यकर ने भी अनेकत्र "द्वावात्मानौ शरीरात्मा अन्तरात्मा च" इत्यादि कहकर इस तथ्य की ओर संकेत किया है। यद्यपि यहां अवधेय

है कि पदमञ्जरीकार के अनुसार प्रकृतसूत्रस्थ आत्मशब्द से स्व शब्द का पर्याय आत्मा लिया गया है, चेतन आत्मा नहीं।

31. आकांक्षितविधानं न्यायः न्याय

"यत्तु तैरुक्तं शानजंशे कर्तरि कृत् इति व्याकरणं शक्तिग्राहकमस्तीति। तन्न। कृद्वाक्यशेषो ह्ययमनिर्दिष्टार्थेषु ण्वुलादिष्वेवोपतिष्ठते, न तु शत्रादिषु, अन्यार्थेनैव तेषां निराकाङ्क्षत्वात्। आकाङ्क्षितविधानं ज्याय इति न्यायात्"।[170]

यह न्याय प्रौढमनोरमाकार ने तिङन्त के भ्वादिगण के प्रकरण में "लः कर्मणि च" सूत्र के व्याख्यान में लिखा है। इसका अर्थ यह है कि आकांक्षारहित बात का विधान करने की अपेक्षा जहां उसकी आकांक्षा है या आवश्यकता है, उसका वहां विधान करना ही अच्छा है। इससे नैयायिकों का 'शानच्' प्रत्यय के अर्थविचार में "कर्तरि कृत्"[171] इस सूत्र से कर्ता अर्थ में 'शानच्' प्रत्यय को मानना ठीक नहीं है - यह सिद्ध हो जाता है। क्योंकि "कर्तरि कृत्" तो सामान्य 'कृत्' प्रत्ययों के अर्थों का निर्णय करने के लिए बनाया गया है अर्थात् जिन कृत् प्रत्ययों का अर्थ निर्दिष्ट नहीं है, वे सामान्य रूप से कर्ता अर्थ में समझने चाहिएं। किन्तु जिन विशिष्ट कृत् प्रत्ययों का अर्थ तो साक्षात् निर्दिष्ट है, उनमें 'कर्तरि कृत्' सूत्र लगाने की आवश्यकता नहीं है। तदनुसार 'शतृ' और 'शानच्' प्रत्यय तो लट् के स्थान में होते हैं। इसलिए उनका अर्थ तो "लः कर्मणि च भावे" इस सूत्र से ही स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि 'शतृ' और 'शानच्' कर्ता, कर्म और भाव लकारों के इन तीनों अर्थों में विहित है। फलतः ये दोनों प्रत्यय लादेश होने से अर्थ के विषय में निराकांक्ष हैं। इसलिए "कर्तरि कृत्" इस सूत्र के द्वारा इनका कर्ता अर्थ मानना असंगत है। क्योंकि न्याय है - आकांक्षितविधानं ज्यायः।

भाव यह है कि "कर्तरि कृत्" सूत्र से जो कर्ता अर्थ का विधान है वह तो 'लः कर्मणि' सूत्र से ही सिद्ध हो चुका है। ऐसी स्थिति में फिर लादेश जो शतृ शानच् हैं, उनमें 'कर्तरि कृत्' सूत्र को लगाना और इसी के द्वारा कर्ता अर्थ में इन प्रत्ययों की शक्ति मानना असंगत है। क्योंकि जिन प्रत्ययों में अर्थ की आकांक्षा है - जैसे ण्वुल्, तृच् इत्यादि कृत् प्रत्यय हैं जो लादेश नहीं हैं तथा जिनमें किसी अन्य सूत्र ने भी अर्थ का निर्देश भी नहीं किया और जिनको अर्थ की आकांक्षा है, उन्हीं में इस 'कर्तरि कृत्' सूत्र को लगाना ठीक है। इस तरह यह सूत्र केवल लादेश से भिन्न कृत् प्रत्ययों में ही कर्ता अर्थ का निर्देश करेगा और जो लादेश शतृ, शानच् हैं, जो अर्थ के विषय में निराकांक्ष हैं, उनके अन्दर इससे अर्थ का विधान करना व्यर्थ है, क्योंकि आकांक्षा वाले प्रत्ययों में ही अर्थ का विधान करना ठीक है - यही इस न्याय का अर्थ है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[172]

32. निषादस्थपत्यधिकरण न्याय / फलमुखगौरवं न दोषाय न्याय

"न च गुणेनान्यथासिद्धिः तदभावस्यापि ज्ञाप्यत्वात्। निषादस्थपत्यधिकरणन्यायेन फलमुखगौरवस्यादोषत्वात्।"[173]

यह न्याय शब्दकौस्तुभकार ने 'इको गुणवृद्धी' सूत्र की व्याख्या में लिखा है। इसका अर्थ है कि ब्राह्मणग्रन्थों में आया है - 'निषादस्थपतिं याजयेत्' अर्थात् जो निषाद या वर्णसंकर से उत्पन्न शिल्पी है, उसको यज्ञ कराए। अब यहाँ यह विचारणीय है कि वर्णसंकर से उत्पन्न और शूद्र को यज्ञ कराना कहां तक न्याय संगत है? किन्तु मीमांसा में 'निषादस्थपत्यधिकरण' से सूत्रों द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि 'निषादस्थपति' को यज्ञ कराने में कुछ हानि नहीं है। यह ठीक है कि उसे द्विज जाति से बाहर होने के कारण शास्त्र का व्याकोप तो होगा। फिर भी उसके यज्ञ कराने में जो हानि प्रतीत होती है, वह कम है और उसका लाभ बहुत अधिक है। उससे जातीय संकीर्णता और उच्च जाति का अभिमान आदि दोष दूर हो जाएंगे तथा साथ ही जहां-जहां ईश्वरीय नियमविरुद्ध कार्य हो रहे हैं, उन्हें शिक्षा भी मिल जाएगी कि ऐसा अन्याय न करो। क्योंकि जो शूद्र, अन्त्यज या वर्णसंकर लोग हैं वे भी ईश्वर के ही पुत्र हैं, उनको भी यज्ञ आदि करने-कराने का अधिकार है। इन्होंने यह न्याय "सप्तम्यां जनेर्डः"[174] इस सूत्र में 'ड' प्रत्यय के डित् करने से व्यञ्जन को गुण नहीं होता - इस बात की सिद्धि के विषय में दिया है। वैसे सर्वप्रथम महाभाष्य में "इको गुणवृद्धी" सूत्र में इक् ग्रहण के प्रत्याख्यान के लिए ड का डित् करना ज्ञापक के रूप में उपस्थित किया गया है। यद्यपि मूलतः यह न्याय मीमांसा का है[175] तथापि व्याकरणशास्त्र में भी इसका पर्याप्त प्रयोग दिखाई देता है।[176]

33. अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकरः न्याय

"न च पुत्रीयादिरादेशः सुबन्तस्यैव नत्विषेरिति वाच्यम्, अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकर इति न्यायेन प्रधानसमर्पकस्य इषेरेव तदभ्युपगमात्। 'वा क्यषः' इत्यादिलिङ्गैरपि धातुत्वस्यावश्यकत्वे स्थिते तन्निर्वाहाय इच्छायामाचारे भुवीत्यादिक्रियासमर्पकाणामेव स्थानिवत्वनिर्णयाच्चेति दिक्"।[177]

यह न्याय शब्दकौस्तुभकार ने "सनाद्यन्ता धातवः" सूत्र के व्याख्यान में दिया है। वहाँ वे कहते हैं कि जब 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र खण्डित हो जाएगा, जैसा कि भाष्यवार्तिक ने कर दिया है, तो सनादि प्रत्ययान्त शब्दों की धातु संज्ञा स्थानिवद्भाव से ही हो जाएगी। इस पर आक्षेप करते हुए ये कहते हैं किन्तु उस अवस्था में 'पुत्रमिच्छतीति पुत्रीयति' यहाँ इच्छा अर्थ में पुत्र शब्द से 'क्यच्' प्रत्यय होने पर सुबन्त जो 'पुत्रम्' शब्द है, उसमें 'पुत्रीय' आदेश 'पुत्रम्' इस सुबन्त को ही होगा। इसके अन्दर निहित जो इच्छा अर्थ है, उस इच्छा में यह आदेश नहीं माना जा सकेगा। उसका समाधान

करने के लिए भट्टोजिदीक्षित इस न्याय का आश्रयण करते हुए कहते हैं कि 'पुत्रीय' के अन्दर विद्यमान सुबन्त 'पुत्र' शब्द में जो इच्छा अर्थ है वह 'इष्' धातु का ही है। इसलिए 'पुत्र की इच्छा' उस अर्थ में 'इष्' धातु का यह 'इच्छा' अर्थ प्रधान होने से पुत्रीय आदेश को 'इष्' के स्थान में ही माना जाएगा अर्थात् पुत्रेच्छा को ही पुत्रीय शब्द से कहेंगे। इस न्याय का अर्थ है कि थोड़ी सी भी विशेषता वस्तु के अर्थ का निश्चय करने में सहायक होती है। 'वा क्यषः'[178] इत्यादि सूत्रों द्वारा 'क्यष्' प्रत्ययान्त को धातु मानकर और उससे परे जो परस्मैपद और आत्मनेपद आदि प्रत्ययों का विधान है, उससे भी यह बात सिद्ध होती है कि सनादि प्रत्ययों में जहाँ क्रियावाची धातुओं का अर्थ बताया गया है, उसी की प्रधानता माननी चाहिए। इसलिए 'पुत्रीयति' इत्यादि में पुत्र की इच्छा रूप जो अर्थ है वह 'इष्' धातु से सिद्ध होता है। इसीलिए 'पुत्रीय' में 'इष्' धातु का अर्थ अतिदिष्ट करके उसे धातु माना जा सकता है अर्थात् 'पुत्र' का अर्थ प्रधान न होकर 'पुत्र की इच्छा' अर्थ प्रधान है। इस न्याय से यही तात्पर्य है कि जहाँ थोड़ा सा भी विशिष्ट अर्थ प्रतीत होता है वहाँ पर उसका भी विचार करना चाहिए। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[179]

34. अरुणाधिकरण न्याय

"न च लक्षणया कर्तुरुक्तत्वात् समानाधिकरणम्। पिङ्गाक्ष्यादियौगिकानामपि द्रव्यवाचित्वानापत्तेः। .... अनेकमन्यपदार्थे सास्य देवता इत्यनुशासनेन ...... प्रधान षष्ठ्यर्थ एव अनुशासनलाभात् तथा च अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति इति वाक्ये द्रव्यानुक्तेरारुण्यस्य स्ववाक्योपात्तद्रव्ये एवान्वयप्रतिपादकारुणाधिकरणोच्छेदापत्तिः"।[180]

यह न्याय मीमांसा में अत्यन्त प्रसिद्ध है। यहां वैयाकरणभूषणसार के 'धात्वर्थ' निर्णय के प्रसंग में इस न्याय को दिखाया गया है। अरुणाधिकरण न्याय का स्वरूप यह है कि 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' यह श्रौत सूत्रों का वाक्य है। इसका अर्थ है कि लाल रंग की, एक वर्ष की तथा पीली आंखों वाली गौ से सोमलता को खरीदता है - यहाँ 'अरुणा' यह शब्द लाल रंग का वाचक है। इसमें लाल रंग तो गुण है और गुण अमूर्त होता है। इसलिए अरुण गुण वाली जो गौ है, वह अरुणा शब्द से ली जाती है। ज्योतिष्टोमप्रकरण के इस वचन के आधार पर इस प्रकरण से प्राप्त द्रव्य के द्वारा क्रयण क्रिया करने की अपेक्षा इसी वाक्य में सन्निहित जो द्रव्यवाचक पिङ्गाक्षी शब्द है, उसके द्वारा अरुणा का भी क्रयण क्रिया के साथ सम्बन्ध रखना अधिक युक्ति-युक्त है। क्योंकि समीपस्थ पदार्थ के साथ सम्बन्ध सम्भव रहने पर प्रकरणपर्यन्तानुधावन व्यर्थ होने से पिङ्गाक्ष्यादि के साथ सम्बन्ध होकर ही परम्परया क्रीणाति के साथ सम्बन्ध होने का औचित्य मीमांसकों ने स्वीकार किया है।

यदि लक्षणा द्वारा सामानाधिकरण्य की उपपत्ति मानी जाए तो पिङ्गाक्षी पद भी

अरुणापद के समान शक्ति की दृष्टि से द्रव्यवाची नहीं होगा अपितु सम्बन्धवाची होगा। "अनेकमन्यपदार्थे" "साऽस्य देवता"[181] इन पाणिनि सूत्रों से भी उक्त पदों का सम्बन्ध अर्थ में साधुत्व का विधान होता है। इस प्रकार पिङ्गाक्षी, एकहायनी आदि पदों के भी द्रव्यवाची न होने से अरुणा के समान ही उनका भी क्रीणाति के साथ अन्वयासम्भव दिखाना चाहिए था। इस तरह स्ववाक्योपात्त पिङ्गाक्षी आदि द्रव्यवाची शब्दों के द्वारा क्रीणाति के साथ सम्बन्धप्रतिपादन असंगत होने से उक्त अरुणाधिकरण का ही उच्छेद होगा, यह भाव है।[182]

प्रकृत में इन अधिकरणों के उल्लेख का तात्पर्य यह है कि लक्षणा द्वारा सामानाधिकरण्य के उपपादन करने पर पूर्वोक्त अधिकरणों के साथ विरोध प्राप्त होने से सामानाधिकरण्य का उपपादन पिङ्गाक्ष्यादिपद को द्रव्यवाची मानकर ही करना चाहिए, लक्षणा के द्वारा वैसी कल्पना अयुक्त है। अतः सामानाधिकरण्यप्रयुक्त अभेदान्वय के अनुरोध से यहाँ भी तिङ् का वाच्य कर्ता मानना युक्तियुक्त है। फल और भावना (व्यापार) धातु के अर्थ हैं। मूलतः मीमांसा का यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[183]

35. कुब्जशक्तिवाद न्याय

"यदि च पदशक्तिः पदार्थांशे ज्ञाता, अन्वयांशे वाऽज्ञातोपयुज्यते इति कुब्जशक्तिवादस्तदा ममापि वाक्यस्य शक्तिरज्ञातैवोपयुज्यते इति वादाभ्युपगमस्तुल्य इति भावः"।[184]

कौण्डभट्ट अखण्डवाक्यस्फोट को सिद्ध करते हुए कहते हैं कि यह जो नैयायिक पदस्फोट को सत्य मानते हैं, वह ठीक नहीं है क्योंकि पद से पदार्थ बोध होने पर भी फिर पदसमूह का परस्पर अन्वय या संसर्ग कैसे होगा? स्पष्ट है कि पदों में पारस्परिक सम्बन्ध या अन्वय करने के लिए एक विशिष्ट वाक्य या वाक्यार्थरूप शक्ति माननी आवश्यक है और यही वाक्यस्फोट है। इसके अतिरिक्त यदि पदों से ही वाक्यार्थबोध माना जाएगा तो फिर "घटकर्मत्वमानयनं कृतिः" इत्यादि दोष उत्पन्न होगा।

यहां यह कहना कि वाक्य की वाक्यार्थ में कोई विशिष्ट शक्ति नहीं हो सकती। अतः वाक्यस्फोट नहीं सिद्ध होता तो यह ठीक नहीं। क्योंकि फिर तो पदस्फोट पक्ष में भी पद की पदार्थ में शक्ति नहीं सिद्ध हो सकती। इसके अतिरिक्त फिर भी यदि कुब्जशक्तिवादन्याय से यह माना जाए कि पदार्थांशनिरूपिता पदशक्ति (पद से पदार्थ बोध होना) ज्ञात होकर और अंशभूत अन्वयनिरूपिता शक्ति (वाक्यरूप पदसमूह में अन्वय या सम्बन्ध कराने वाली शक्ति) अज्ञात होकर ही शब्दबोध या वाक्यार्थबोध में उपयोगिनी है तो यह ठीक नहीं अर्थात् जिस प्रकार विकृत अङ्ग से किसी कार्य को सम्पन्न नहीं किया जा सकता अपितु अविकृत अङ्ग से ही कार्य करना सम्भव है उसी प्रकार नैयायिकों की उक्त आधे अंश में ज्ञात और आधे अंश में अज्ञात रूप

युक्ति भी अर्धजरतीय न्याय से विकृत ही जाननी चाहिए। क्योंकि अज्ञात शक्ति से शाब्दबोध में उपकार नहीं हो सकता। पदस्फोट को सिद्ध करने के लिए यदि नैयायिकों की उक्त युक्ति स्वीकार कर ली जाएगी तब तो फिर वैयाकरणाभिमत वाक्य अन्वयांशानिरूपिता शक्ति भी अज्ञात होकर ही शाब्दबोध में उपकारक मान लेनी चाहिए अर्थात् अज्ञात शक्ति का शाब्दबोधसम्बन्धी उपयोगितावाद तो पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट दोनों में तुल्य ही होने से अस्वीकार्य ही है। ऐसी स्थिति में पदस्फोट के स्थान पर वाक्यस्फोट ही चरम सत्य स्वीकार करना चाहिए।

36. सर्वं वाक्यं साऽवधारणम् न्याय

"पुरस्तादिति - वृत्तौ प्रागेवेत्येवकारस्तु सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायसिद्धः .... न तु 'तु' शब्दार्थ इति दिक्"।[185]

यह न्याय शब्देन्दुशेखरकार ने 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' सूत्र की व्याख्या में लिखा है। यहाँ पर पुरस्तात् का अर्थ प्राक् या पहले है। 'बहुच्' प्रत्यय सुबन्त से होता है और वह सुबन्त से पूर्व होता है किन्तु वह पूर्व ही होता है, परे नहीं होता - इस तात्पर्य में उक्त न्याय के आधार पर 'एव' शब्द लगा दिया जाता है। 'एव' शब्द का अर्थ 'ऐसा ही' इस प्रकार अवधारण या निश्चित कर देना होता है। सामान्यतः सभी वाक्य अवधारणसहित होते हैं अर्थात् उनमें बिना 'ही' शब्द लगाए ही 'ही' का अर्थ समझा जाता है, जैसे 'नैषध' के पहले श्लोक में "नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः" यहाँ 'नलः एव महसां तेजसां राशिरासीत्' ऐसा अर्थ टीकाकारों ने किया है। उन्होंने यह जानते हुए कि सारे वाक्य सावधारण या निश्चय अर्थ के प्रतिपादक होते हैं, इसलिए 'एव' लगाकर राजा नल को ही तेजों की राशि बताया है। यद्यपि अन्य राजा भी तेजों की राशि हुए हैं किन्तु यहाँ श्री हर्ष कवि का विचार राजा नल को ही तेजों की राशि बताने में है। अन्य राजा लोग तेजों की राशि हों या न हों, उससे हमारा अभिप्राय नहीं है। किन्तु राजा नल अवश्य ही तेजों की राशि था, इस बात को जोर देने के लिए ही इस न्याय का आश्रयण किया गया है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[186]

37. षोडशीग्रहणाऽग्रहण न्याय

"विभाषा छन्दसीति विकल्पस्तु छन्दसीति ऐकश्रुत्यं विधाय न सुब्रह्मण्येति सूत्रे नेति योगविभागेन निषेधात् षोडशीग्रहणाग्रहणन्यायेन सिद्धः।"[187]

यह न्याय बृहच्छब्देन्दुशेखरकार ने 'स्वर-प्रक्रिया' में "विभाषा छन्दसि" इस सूत्र की व्याख्या में दिया है। वे कहते हैं कि छन्द में एक श्रुति का विकल्प तो षोडशीग्रहणाग्रहण न्याय से हो जाएगा। क्योंकि जैसे "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" और "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इन दोनों विरोधी वचनों के अनुसार अतिरात्र नामक याग में षोडशी नामक ग्रह को ग्रहण करते भी हैं और नहीं भी करते हैं। ये दोनों वचन अपने-अपने विषय

में सार्थक हैं - यह कर्मकाण्ड की प्रक्रिया वाले जानते हैं। इसी प्रकार "विभाषा छन्दसि" सूत्र में भी उक्त न्याय के अनुसार एकश्रुति का विधान विकल्प से हो जाएगा। अन्यत्र भी इस न्याय का प्रयोग हुआ है।[188]

38. अभ्युद्धृत न्याय

"इदं दूरादागत इत्यादौ अभ्युद्धृतन्यायेन प्राप्तं 'गतिरनन्तरः' इत्यस्य बाधनार्थम्। एतेन उक्तरीत्या दूरादागत इत्यादौ कारकपूर्वेऽपि गतिस्वरः स्यात्, इष्यते तु थाथादिस्वर इत्यपास्तमिति दिक्"।[189]

यह न्याय बृच्छब्देन्दुशेखरकार ने 'स्वरप्रक्रिया' में "गतिरनन्तरः" इस सूत्र की व्याख्या में दिया है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार "गतिरनन्तरः" यह सूत्र 'क्त' प्रत्यय परे रहते अव्यवहित जो गतिसंज्ञक शब्द है, उसे प्रकृतिस्वर करता है, जैसे 'उद्धृतम्' यहाँ 'हृतम्' इस सन्धि में 'अभि' और 'उद्' ये दो गति हैं। इनमें अव्यवहित गति 'उद्' है। 'अभि' के बीच में तो 'उद्' का व्यवधान है। इसलिए 'अभि' को प्रकृति स्वर नहीं होता, 'उद्' को ही होता है। अतः 'अभि' शब्द को तो "गतिरगतौ"[190] से सर्वानुदात्त स्वर होता है। इसी प्रकार 'दूरादागतः' यहाँ गतिसंज्ञक आङ् शब्द को तो "गतिरनन्तरः" से पूर्वपदप्रकृतिस्वर प्राप्त होता है। किन्तु 'दूराद्' इस कारकसंज्ञक शब्द से परे थाथादिस्वर[191] होता है। उससे 'दूरादागतः' शब्द अन्तोदात्त है। ऐसी स्थिति में अभ्युद्धृत में तो 'अभि' के गति होने से उसका व्यवधान होने पर उसे तो पूर्व पदप्रकृतिस्वर नहीं होगा अपितु 'उद्' को ही पूर्वपदप्रकृतिस्वर होता है। दूरादागतः और अभ्युद्धृतम् में यही भेद है। भाव यह है कि दूरादागतः में तो दूराद् कारक है और 'आ' शब्द गति है और अभ्युद्धृतम् में 'अभि' और 'उद्' ये दोनों गति हैं। इसलिए जहाँ दो गति होंगी, वहां जो 'क्त' प्रत्यय से अव्यवहित गति होगी, उसे तो "गतिरनन्तरः" से पूर्वपदप्रकृति स्वर हो जाएगा। शेष व्यवहित गति को अनुदात्त हो जाएगा। किसी भी स्थिति में यहाँ 'थाथादिस्वर' नहीं होगा और दूरादागतः यहाँ गति न होकर कारक है। अतः वहाँ थाथादिस्वर होकर अन्तोदात्त हो जाएगा। यही अभ्युद्धृत न्याय है।

39. फलमुखगौरवं न दोषाय न्याय

"ननु फलमुखगौरवं न दोषाय इति न्यायेन शतृ आदीनां कर्तरि शक्तिः तिप् आदीनां कृतौ एव इति चेत् न। स्थान्येव वाचको लाघवात् आदेशानां बहुत्वेन तेषां वाचकत्वे गौरवम् इति हि तव मतम्। एवं च तिबादीनां शत्रादीनां च स्थानिस्मारकतया लिपिस्थानीयत्वं बोधकस्तु लकार एव"।[192]

यह न्याय 'वैयाकरण सिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा' में 'धात्वर्थ निर्णय' के विचार में लिखा गया है। इसका अर्थ है कि ऐसा थोड़ा बहुत गौरव जिससे अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है, वह दोष के लिए नहीं होता। भाव यह है कि किसी प्रमुख प्रयोजन की दृष्टि से कुछ गौरव को स्वीकार करना दोष नहीं है - इस न्याय के

अनुसार यदि 'शतृ' आदि प्रत्ययों की कर्त्ता में तथा 'तिप्' आदि की 'कृति' में शक्ति या वाचकता मानी जाए तो वह भी उचित नहीं, क्योंकि लाघव के कारण स्थानी ही वाचक है। आदेशों के तो बहुत होने के कारण उन्हें वाचक मानने में गौरव है। यह तो आप नैयायिक का ही मत है। इस प्रकार 'तिप्' आदि तथा 'शतृ' आदि सभी अपने 'स्थानी' लकार के स्मारकमात्र होने के कारण लिपि के समान हैं। वस्तुतः बोधक तो लकार ही है। यह न्याय अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होता है।[193]

40. दिवाऽभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनस्य गमकम् न्याय / अर्थापत्ति न्याय

"येन विना यदनुपपन्नं तत्तस्य गमकम्। यथा दिवा अभुञ्जानस्य पीनत्वं रात्रिभोजनं बिना अनुपपद्यमानं रात्रिभोजनस्य गमकम्। प्रकृते तु प्लुतस्यासिद्धत्वेऽपि कथं प्लुतस्यासिद्धत्वाभावं गमयितुं शक्नुयादिति भावः"।[194]

यह न्याय बालमनोरमाकार ने "अतो रोरप्लुतादप्लुते" सूत्र के व्याख्यान में "अप्लुतादतः" इसकी सिद्धि के लिए दिया है। क्योंकि यदि प्लुत को असिद्ध माना जाए तब तो प्लुत के असिद्ध होने से 'एहि सुस्रोत 3 अत्र स्नाहि' यहाँ सुस्रोत 3 इस प्लुत अकार के सिद्ध होने से ह्रस्व अकार से परे ही 'अत्र' का अकार बन जाएगा। अतः 'अप्लुताद्' इस विशेषण से प्लुत को सिद्ध ही मानना पड़ेगा। जब वह सिद्ध हो जाएगा तब प्लुत से परे अकार हो जाएगा, अप्लुत से परे नहीं होगा। इसलिए जो यहाँ स्रोत शब्द के 'स्' को 'रु' हुआ है, उसको इस सूत्र से उकार नहीं होगा। फलतः 'सुस्रोत अत्र' यह स्वरूप रह जाएगा। इसी बात को सिद्ध करने के लिए बालमनोरमाकार ने यह न्याय दिया है। इसका अर्थ है कि जो जिसके बिना नहीं बन सकता, वह उसका गमक होता है अर्थात् उसका ज्ञापक होता है, जैसे दिन में रोटी न खाने वाले आदमी को जब मोटा देखते हैं तो बिना भोजन के वह मोटा हो नहीं सकता, इसलिए वह रात्रि को भोजन करता होगा, उसका मोटापा इस बात को सिद्ध करता है। इसी प्रकार 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इस सूत्र में प्लुत को सिद्ध माने बिना 'अतः' शब्द में तपर करना उचित नहीं बन सकता है। अतः यह तपर करना ही इस बात का गमक है कि यहाँ पर प्लुत असिद्ध नहीं बल्कि सिद्ध है। इस न्याय को अर्थापत्ति न्याय भी कहते हैं। नागेश ने भी इस न्याय का प्रयोग किया है।[195]

घ (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित दर्शनसम्बन्धी लोकन्याय

1. *लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य न्याय*[196]
2. *भवति वै प्रत्यक्षादनुमानबलीयस्त्वम् न्याय*[197]

ङ (1) भिक्षुक/भिक्षा/साधु/सन्यासीसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. *न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते न्याय*
2. *न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते न्याय*

"न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षणं वा न प्रणेयम्। न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते। दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिताः। प्रयोजनानामुदाहरणमात्रम्। कुत एतत्? न हि दोषाणां लक्षणमस्ति। तस्माद् यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेषा परिभाषा कर्तव्या। प्रतिविधेयं च दोषेषु"।[198]

अव्ययसंज्ञाविधायक "कृन्मेजन्तः" सूत्र के भाष्य में "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य"[199] इस परिभाषा के प्रयोजन गिनाए गए हैं, साथ ही उसके दोष भी गिना दिए गए हैं। इस पर दोषदर्शी कहता है कि ऐसी दोषयुक्त परिभाषा की हमें आवश्यकता नहीं है। परन्तु भाष्यकार प्रकृत लोकन्याय को उपस्थित करते हुए दोषैकदृक् इस मनुष्य पर बलवत् प्रहार करते हैं कि दोष हैं, इसलिए परिभाषा नहीं बनानी चाहिए - यह कथन ठीक नहीं है। अथवा दोष हैं, इसलिए कोई लक्षण या शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिए - यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि भीख मांगने वाले भिक्षुक लोग आएंगे, इसलिए भोजन न बनाया जाए, ऐसा कौन करता है? कोई नहीं। सभी भोजन बनाते हैं और भिक्षुओं का भी उपाय कर लेते हैं। इसी प्रकार मृग या पशु खेती को उजाड़ेंगे, यह जानकर कौन आदमी यव धानादि सस्य बोना छोड़ता है? सब बोते हैं और मृगों का भी प्रबन्ध कर लिया जाता है। तदनुसार इस परिभाषा में आने वाले दोष तो प्रायः सब गिना दिए गए हैं परन्तु प्रयोजनों के तो कुछ ही उदाहरण दिए गए हैं। सारे प्रयोजन नहीं गिनाए गए हैं। क्योंकि दोषों का कोई निश्चित लक्षण नहीं होता है। दोष हट भी सकते हैं, जैसे काव्य में कुछ दोष वक्ता आदि के औचित्य के कारण कहीं गुण बन जाते हैं, कहीं दोष नहीं रहते और कहीं न दोष न गुण कुछ भी नहीं बनते।[200] दोषों का समाधान यदि हो सकता है तो वह कर देना चाहिए किन्तु इस परिभाषा के जो प्रयोजन हैं, उनके लिए यह परिभाषा अवश्य बनानी चाहिए। दोष हेय हैं और प्रयोजन गुण के समान उपादेय हैं। इस प्रकार इस लोकन्याय का आश्रयण करके भाष्यकार ने इस सन्निपातपरिभाषा को स्वीकार कर लिया है जोकि समुचित ही है।[201]

इसी प्रकार भाष्यकार ने 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्'[202] सूत्रभाष्य में पठित "प्रातिपदिक-ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्"[203] इस परिभाषा का गुणदोषविमर्श भी प्रकृत न्याय के आधार पर ही विचार किया है तथा इसे कण्ठरवेण स्थापनीय घोषित किया है। इसी तरह "ष्यङः सम्प्रसारणम्"[204] सूत्रभाष्य में पठित "अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य"[205] इस परिभाषा का समर्थन भी भाष्यकार ने प्रस्तुत न्याय के आधार पर किया है।

इस परिभाषा का सामान्य अर्थ यह है कि एक दूसरे के सम्बन्ध से होने वाली विधि उस सम्बन्ध के विघातक की निमित्त नहीं होती या बनती अर्थात् जो जिससे बना है, वह उसका विघात नहीं कर सकता। यह लोक में प्रसिद्ध बात है कि जिस हाँडी में खाए उसी में छेद न करे या जिस शाखा पर बैठा है उसी का छेदन न

करे। यह 'सन्निपातलक्षण न्याय' शास्त्र में भी अतिप्रसिद्धि को प्राप्त है। इससे अनेक प्रयोजनों की सिद्धि होती है। वैसे जो दोष भाष्यकार ने दिए हैं, उन सब का समाधान प्रदीपकार कैयट ने बड़ी योग्यता से कर भी दिया है।[206] प्रस्तुत न्याय इतना लोकप्रिय रहा है कि यह व्याकरणेतर अनुशासनों में भी उपलब्ध होता है।[207] पञ्चपदिका में यह स्वल्प शब्दान्तर से पढ़ा गया है।[208]

3. प्रचुरभिक्षा न्याय / कारीषोऽग्निः न्याय

"एवं मन्यते - चेतनावत एतद् भवति - प्रेषणमध्येषणं चेति। भिक्षाश्चाचेतनाः। नैष दोषः। नावश्यं स एव वासं प्रयोजयति य आह-उष्यतामिति। किं तर्हि? तूष्णीमप्यासीनो यस्तत्समर्थान्याचरति सोऽपि वासं प्रयोजयति। भिक्षाश्चपि प्रचुरा व्यञ्जनवत्यो लभ्यमाना वासं प्रयोजयन्ति। तथा कारीषोऽग्निर्निर्वाते एकान्ते सुप्रज्वलितोऽध्ययनं प्रयोजयति।"[209]

"हेतुमति च" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार 'भिक्षा वासयति' (भिक्षा निवास कराती है) 'कारीषोऽग्निरध्यापयति (उपलों की अग्नि अध्ययन कराती है) इन प्रयोगों में 'णिच्' सिद्ध करने के लिए सूत्रस्थ 'हेतु' शब्द को निमित्तमात्र अर्थ का वाचक मानने का निर्देश करते हैं। क्योंकि स्वपरिभाषित "तत्प्रयोजको हेतुश्च"[210] यह 'हेतु' का लक्षण तो भिक्षा आदि में घटता नहीं। इसके अनुसार तो स्वतन्त्र कर्ता के प्रयोजक को 'हेतु' कहते हैं। अतः भिक्षा जड़ होने से कैसे प्रयोजक हो सकती है? हाँ, वास क्रिया का निमित्त तो वह अवश्य हो सकती है। यही बात ऊपर कही गई है। 'हेतु' शब्द का 'कर्ता का प्रयोजक' अर्थ मानने वाला ऐसा मानता है कि चेतनावान् ही प्रेषण या अध्येषण (इच्छा पूर्वक व्यापार) कर सकता है। भिक्षाएं तो अचेतन हैं। वे प्रेषण नहीं कर सकतीं।

इस प्रकार 'हेतु' शब्द के स्वपरिभाषित अर्थ में आक्षेप उठाकर फिर उसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि वही निवास कराए जो यह कहे कि निवास कीजिए अर्थात् बोलकर प्रेरणा देने वाला ही हेतु नहीं है अपितु चुपचाप बैठा हुआ जो निवास के अनुकूल आचरण करता है, वह भी निवास कराने वाला होता है। भिक्षाएं भी जब काफी मात्रा में स्वादिष्ट व्यञ्जनों से युक्त मिलें तो उनके कारण भी मनुष्य वास करता है। वे भी मनुष्य के निवास में प्रयोजक हैं। इस प्रकार भिक्षाएं भी शास्त्रीय 'हेतु' शब्द के अर्थ में समाविष्ट हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में कर्ता का प्रयोजक जो 'हेतु' है, उसका व्यापार जो हेतुमान् है, वह व्यापार भिक्षाओं में भी घट जाने से "हेतुमति च" सूत्र से ही इष्ट सिद्ध हो जाएगा। फलतः 'हेतु' शब्द का निमित्त अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं है। कारीष अग्नि भी एकान्त, शान्त स्थान में जलता हुआ अध्ययन का प्रयोजक है। इसलिए वहां भी "हेतुमति च" सूत्र से ही 'णिच्' सिद्ध हो जाएगा। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[211]

4. सान्न्यासिक न्याय

यावतेदानीं छन्दसि वा द्वे भवत इत्युच्यते धातुग्रहणेनापि नार्थः। कस्मात्र भवति ससृवांसो विशृण्विर' इति? छन्दसि वावचनात्। तदेतद्धातुग्रहणं सान्न्यासिकं तिष्ठतु तावत्।[212]

यह न्याय भाष्यकार ने "लिटिधातोरनभ्यासस्य" सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है। यहां भाष्यकार ने "छन्दसि वा द्वे भवतः" इस वार्तिक के आधार पर सूत्रस्थ धातु ग्रहण को अनर्थक सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग में धातु ग्रहण को अनर्थक सिद्ध करते हुए भाष्यकार इसे सान्न्यासिक घोषित करते हैं अर्थात् जिस प्रकार कोई सन्न्यासी निरपेक्षरूप से घूमता हुआ समाज का परोपकार करता है उसी प्रकार यह धातु ग्रहण भी स्वयं में कोई प्रयोजन न रखते हुए भी उत्तरार्थ प्रयोजन रखता है। क्योंकि इस धातु ग्रहण के अभाव में 'लिटि' इत्यादि ग्रहण फिर प्रथम एकाच् के ही विशेषण हो जाएंगे और तब 'पपाच' इत्यादि में ही द्वित्व हो पाएगा, जजागारः इत्यादि अनेकाच् में नहीं। क्योंकि वह लिट्परक नहीं है। साथ ही "आदेच उपदेशेऽशिति"[213] इत्यादि उत्तर सूत्रों में धातु ग्रहण की अनुवृत्ति के लिए भी यह धातु ग्रहण सान्न्यासिक है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[214]

5. न हि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचितुमर्हति सत्यन्यस्मिन्नभिक्षुके न्याय / न हि भिक्षुर्भिक्षुं याचते न्याय

"फलांशोऽपि भावनायां विशेषणम् कारकाण्यपि क्वचित्, तथाभूतानि ..... न हि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचितुमर्हति सत्यन्यस्मिन्नभिक्षुके इति न्यायेनापि फलं त्यक्त्वा भावनायामेवान्वियन्तीति मीमांसका अपि मन्यन्ते।"[215]

यह न्याय 'वैयाकरणभूषणसार' के 'धात्वर्थ निर्णय' में लिखा गया है। इसका अर्थ यह है कि एक भिखारी दूसरे भिखारी से भीख नहीं मांग सकता। क्योंकि वह जानता है कि वह भी मेरे जैसा भिखारी है। जब उसे कोई अन्य भिखारी न होता हुआ समृद्ध व्यक्ति मिल जाता है तो उसी से ही वह भीख मांगता है। क्योंकि वह जानता है कि यह भिक्षुक नहीं है, यह मुझे कुछ दे सकता है। इस न्याय के आधार पर धातु के अर्थ जो फल और व्यापार हैं, उनमें व्यापार ही प्रधान सिद्ध हो जाता है। क्योंकि व्यापार का आश्रय कर्ता कारक है और फल का आश्रय कर्म कारक है। स्वयं कारक भी फल और व्यापार के प्रति गौण हैं। इसलिए जो धातु का अर्थ फल है, वह व्यापार के प्रति विशेषण है। इस प्रकार व्याकरणशास्त्र में वाक्य में क्रिया को ही प्रधान माना जाता है और जो उसके कारक हैं या विशेषण हैं, वे सभी क्रिया के प्रति गौण माने जाते हैं, वे भिक्षुक के समान हैं। क्रिया को मुख्य रखते हुए ही वाक्यार्थबोध ठीक बनता है। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[216] उक्त न्याय को "न हि भिक्षुको भिक्षुकाद् याचते"[217] अथवा "न हि भिक्षुर्भिक्षुं याचते"[218] अथवा " न

च भिक्षुका भिक्षुकादाकाङ्क्षन्ति सत्यन्यस्मिन् प्रसवसमर्थे भिक्षुके" इन नामों से भी पुकारा जा सकता है।

6. ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र[219] न्याय

इस परिभाषा का अर्थ है कि ज्ञापक/न्यायसिद्ध नियम सब स्थानों पर प्रवृत्त नहीं होते। क्योंकि यदि ज्ञापकसिद्ध नियम भी सर्वत्र प्रवृत्त होते तो फिर आचार्य इन्हें अन्य स्वयंप्रोक्त सूत्रों के समान ही पढ़ देते। इन नियमों को साक्षात् न पढ़कर अनुमान से संकेतित करना ही इनकी असार्वत्रिकता या अनित्यता को घोषित करता है। फलतः लक्ष्यानुरोध से प्रकृत परिभाषा द्वारा अनिष्ट प्रयोग प्राप्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

भाव यह है कि जैसे लोक में सामान्यतया जटाओं से किसी के तापस होने का ज्ञापन या अनुमान होता है। परन्तु यह नियम सर्वथा एकान्त सत्य नहीं होता। क्योंकि परिस्थितिवशात् गुप्तचर या दूत आदि के विषय में भी इन लक्षणों का व्यभिचार देखा जाता है वैसे ही यहां शास्त्र में भी ज्ञापकसिद्ध नियम सर्वत्र लागू नहीं होते। फलतः जैसे "यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च"[220] सूत्रस्थ 'ङित्' ग्रहण से यह ज्ञापित किया जाता है कि कहीं-कहीं अनुबन्ध कार्यों में भी 'अनल्विधौ' यह प्रतिषेध प्रवृत्त होता है। अब इस ज्ञापक से 'ङित् ग्रहण' जहां स्वयं अपने अंश में चरितार्थ होता है वहीं दूसरी तरफ वक्ष्यमाण शब्द में यद्यपि उगित्वात् 'ङीप्' प्राप्त होता है तथापि उसके ज्ञापकसिद्ध होने से यह सर्वत्र प्रवृत्त नहीं होता तो यहां अनिष्ट 'ङीप्' नहीं होता। इसीलिए "न ल्यपि"[221] यह ईत्वनिषेधविधायक सूत्र भी सार्थक सिद्ध हो पाता है। अन्यथा 'ल्यप्' में भी 'प्रदाय' इत्यादि प्रयोगों के लिए 'क्त्वा' के कित्त्व का अब स्थानिवद्भावनिषेध हो जाने से वैसे ही ईत्त्व प्राप्त नहीं होगा। फिर उसे रोकने के लिए उक्त निषेधसूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी? इस तरह उक्त परिभाषा लोकशास्त्र उभय प्रसिद्ध है।

ङ (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित भिक्षुक / साधु-सन्यासी सम्बन्धी लोकन्याय

1. अन्वाचयशिष्ट न्याय[222]
2. भिक्षुकभिक्षासंचय न्याय/अजहत्स्वार्था वृत्तिः न्याय[223]
3. अर्थशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय[224]
4. त्रिविष्टब्धक परिव्राजक न्याय[225]
5. ताद्धर्म्यात् ताच्छब्द्य (जटी ब्रह्मदत्तः) न्याय[226]
6. आगमशास्त्रमनित्यम् न्याय[227]

(च) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित धर्माधर्मसम्बन्धी लोकन्याय

1. अशिष्टाप्रतिषिद्ध न्याय/अनुकरणं हि शिष्टस्य साधु भवति अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा न्याय/अनिषिद्धमनुमतं भवति न्याय[228]
2. बौद्धापाय (माषगोवारण/धर्माधर्म) न्याय[229]
3. अधिकं प्रविष्टं न तु तद्धानिः न्याय[230]

(छ) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित पाप-पुण्यसम्बन्धी लोकन्याय

1. शब्दप्रमाणक न्याय[231]
2. अशिष्टाप्रतिषिद्ध न्याय/अनुकरणं हि शिष्टस्य साधु भवति, अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा न्याय/अनिषिद्धमनुमतं भवति न्याय[232]

(ज) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित अभिवादन/शिष्टाचार सम्बन्धी लोकन्याय

1. मङ्गलाचरण न्याय/मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते न्याय[233]
2. आर्यावर्तशिष्ट न्याय[234]
3. दूरात् कुपिताद् गुरोः न्याय[235]

(झ) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित शौचाशौचसम्बन्धी लोकन्याय

1. लोमनखशौच न्याय / नाव्यपवृक्तस्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु न्याय[236]

सन्दर्भसूची

1. महा. भा. 1, पस्पशा. पृ. 6-7.
2. पाणिनीय व्याकरण का आदिम सूत्र, 1.1.1; 4.4.143; 8.4.67.
3. सांख्य दर्शन, 6.1.
4. (क) महा. भा. 1, सू. 1.3.1, पृ. 253; न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.3.1, पृ. 391); बृ. श. शे. भा. 3, सू. 1576, पृ. 1575; बा. म. (वै.सि.कौ.भा. 1, प्रारम्भिक भाग, पृ. 1; भा. 3, गणसूत्र, 211, पृ. 425).
   (ख) सर्वदर्शनसंग्रह, पातञ्जल दर्शन, पृ. 127.
5. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.3.1, पृ. 391
6. (क) महा. प्र. भा. 2, सू. 1.3.10, पृ. 220; स्फोटचन्द्रिका, पृ. 2; महा. प्र. उ. भा. 4, सू. 6.1.185, पृ. 514; लौ. न्या. र. पृ. 148; 150.
   (ख) काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, 5.1.15.
7. महा. प्र. भा. 5, सू. 7.1.23, पृ. 26.

8. पा. 7.2.102.
9. द्र. परि. सं. 46 - "क्वचित्कृताकृतप्रसङ्गमात्रेणापि नित्यत्वम्"।
10. पा. 7.1.24.
11. पा. 6.1.45.
12. पा. 6.1.108.
13. वैसे इस विरोधाभास वाले लोकन्याय का मूलकारण यह प्रतीत होता है कि रामायण में तो सुग्रीव स्वयं बालि से नहीं लड़ा अपितु उसने भगवान् रामचन्द्र जी को ही अपने स्थान पर लड़वाया जबकि महाभारत में भगवान् कृष्ण की सहायता प्राप्त करके भी पाण्डव स्वयं लड़े। ऐसी स्थिति में स्वयं न लड़ने के कारण लोक में सुग्रीव को तो दुर्बल तथा स्वयं ही लड़ने के कारण पाण्डवों को बलवात् माना जाना स्वाभाविक ही उचित जान पड़ता है।
14. महा. भा. 2, सू. 3.2.3, पृ. 97; भा. 3, सू. 6.1.45, पृ. 35; सू. 6.1.108, पृ. 83; सू. 6. 2.197, पृ. 139; सू. 6.3.112, पृ. 176; महा. प्र. भा. 4, सू. 6.4.52, पृ. 729; भा. 5, सू. 7.2.3, पृ. 98; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.57, पृ. 197; भा. 4, सू. 6.1.5, पृ. 453; भा. 5, सू. 6.4.52, पृ. 406); श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.57, पृ. 223; भा. 2, सू. 3.1.26, पृ. 350; सू. 3.2.3, पृ. 429; महा. प्र. उ. भा. 4, सू. 6.1.91, पृ. 425; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 12, पृ. 52; सू. 46, पृ. 127.
15. प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.2.64, पृ. 378).
16. पा. 1.4.49.
17. महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.14, पृ. 229.
18. महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.58, पृ. 450.
19. व्याडि परि. सं. 51.
20. पा. 1.4.13.
21. (क) न्या. वा. ता. टी., पृ. 115 - "अहृदयवाचामहृदया एव प्रतिवाचो भवन्ति। यक्षानुरुपो बलिरिति लौकिकानामाभाणकः"।
(ख) भामती, 4.1.15; न्या. मं. पृ. 54; 637.
22. महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.2.64, पृ. 118.
23. द्र. अमर. 1.4.10 "एकयोक्त्या पुष्पवन्तौ दिवाकरनिशाकरौ। यथा रोदसी इत्येकयोक्त्या द्यावापृथिव्यावुच्येते।" तुलना करो – रविशशिनौ पुष्पवन्ताख्याविति नाममाला।
24. बृ. श. शे. भा. 2, सू. 902, पृ. 1142.
25. वही. सू. 3782, पृ. 2282.
26. मा. यजुः 38. 28.

27. द्र. पृ. 58.
28. द्र. पृ. 61.
29. द्र. पृ. 588.
30. द्र. पृ. 213.
31. द्र. पृ. 213.
32. द्र. पृ. 602.
33. द्र. पृ. 592.
34. द्र. पृ. 496.
35. द्र. पृ. 337.
36. द्र. पृ. 452.
37. द्र. पृ. 463.
38. द्र. पृ. 543.
39. द्र. पृ. 571.
40. द्र. पृ. 609.
41. द्र. पृ. 291.
42. द्र. पृ. 138.
43. द्र. पृ. 301.
44. द्र. पृ. 293.
45. द्र. पृ. 328.
46. द्र. पृ. 67.
47. द्र. पृ. 67.
48. द्र. पृ. 75.
49. द्र. पृ. 346; 349.
50. द्र. पृ. 346; 350.
51. द्र. पृ. 98.
52. महा. भा. 1, पस्पशा. पृ. 9.
53. द्र. पृ. 101, 373.
54. द्र. पृ. 61.
55. द्र. पृ. 61.
56. द्र. पृ. 198.
57. द्र. पृ. 308.
58. द्र. पृ. 163.
59. द्र. पृ. 542.

60. द्र. पृ. 316.
61. द्र. पृ. 543.
62. द्र. पृ. 504.
63. द्र. पृ. 317.
64. द्र. पृ. 309.
65. द्र. पृ. 437.
66. द्र. पृ. 164.
67. द्र. पृ. 232.
68. महा. भा. 2, सू. 4.2.9, पृ. 274.
69. पा. 6.4.148.
70. पा. 2.2.11.
71. पा. 3.1.124.
72. पा. 6.1.213.
73. पा. 6.4.14.
74. पा. 7.4.18.
75. द्र. पृ. 456.
76. द्र. पृ. 337.
77. द्र. पृ. 465.
78. द्र. पृ. 67.
79. महा. भा. 1, पस्पशा. पृ. 7.
80. तुलना करो, वा. प. 3.2.1; 4; 6; 15

"आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥"

"सुवर्णादि यथा भिन्नं स्वैराकारैरपायिभिः।
रुचकाद्यभिधानानां शुद्धमेवैति वाच्यताम्॥"

"तेष्वाकारेषु यः शैब्दस्तथाभूतेषु वर्तते।
तत्वात्मकत्वात्तेनापि नित्यमेवाभिधीयते॥"

"विकारापगमे सत्यं सुवर्णं कुण्डले यथा।
विकारापगमे सत्यां तथाहुः प्रकृतिं पराम्॥"

81. अवधेय है कि परन्तु डॉ. रामसुरेश त्रिपाठी, डॉ. के. ए. सुब्रह्मण्यम् ऐय्यर और डॉ. राममूर्ति शर्मा आदि आधुनिक विद्वानों के अनुसार भर्तृहरि के काल तक परिणामवाद और विवर्तवाद में कोई तात्त्विक भेद नहीं था। इसीलिए भर्तृहरि "विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः" (वा. प. 1.1) तथा "शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः। छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत" (वा.प. 1.120) ये कथन एक साथ कर रहे हैं। इनके अनुसार दोनों सिद्धान्तों में भेद की कल्पना अर्वाचीन ही प्रतीत होती है।

82. महा. भा. 1, सू. 1.2.58, पृ. 230.
83. महा. प्र. भा. 3, सू. 4.1.93, पृ. 581; वै. भू. सा. नामार्थ निर्णय, पृ. 302; प. ल. म. नामार्थप्रकरण पृ. 387.
84. प. मं. (का. भा. 1, हयवरट् सूत्र पृ. 43).
85. वै. भू. सा. नामार्थनिर्णयप्रकरण, पृ. 297; प. ल. म. नामार्थप्रकरण, पृ. 378.
86. लौकिकन्यायसाहस्री, पृ. 937 -

"स्नेहतन्तुमयैः पाशैर्बद्धः सन्तानरज्जुभिः।
पञ्जरस्थो यथा सिंहः समर्थोऽपि वशीकृतः"॥

87. महा. भा. 1, अइउण् सूत्र, पृ. 18.
88. पा. 7.4.32.
89. पा. 1.2.58.
90. महा. भा. 1, सू. 1.2.64, पृ. 247.
91. द्रव्य के सन्दर्भ में जाति और गुण के सम्बन्ध को लेकर कुछ विशेष विचार के लिए प्रकृत ग्रन्थ का पृ. 336 देखें।
92. महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.69, पृ. 531.
93. पा. 7.4.32; 6.4.148.
94. श. कौ. भा. 2, सू. 2.1.6, पृ. 163.
95. महा. भा. 1, सू. 1.2.64, पृ. 242.
96. वही, पृ. 244.
97. श. कौ. भा. 2, सू. 2.3.1, पृ. 223.
98. महा. भा. 2, सू. 4.1.92, पृ. 246.
99. वही. भा. 1, सू. 1.2.64, पृ. 244; सू. 2.1.51, पृ. 393; सू. 5.1.59, पृ. 357.
100. वही. पस्पशा. पृ. 7-8.
101. तुलना करो - वही, सू. 1.1.44, पृ. 105- "अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः"।
102. तुलना करो- "यत्कृतकं तदनित्यम्"।
103. वा. प. 1.23.
104. महा. प्र. भा. 4, सू. 6.3.46, पृ. 627.
105. पा. 7.1.90.
106. पा. 6.1.93.

107. महा. भा. 1, सू. 1.2.45, पृ. 219.

108. वा. प. 2.166-67.

109. महा. भा. 1, सू. 1.3.67, पृ. 292.

110. वही. भा. 2, सू. 3.1.7, पृ. 14.

111. वही. सू. 3.1.87, पृ. 68.

112. (क) महा. प्र. भा. 4, सू. 6.1.1, पृ. 282; त. बो. (वै.सि.कौ. भा. 1, सू. 560, पृ. 635); वै. भू. सा. धात्वर्थ निर्णय, पृ. 134.

(ख) वा. प. 3.3.47

"आत्मानमात्मना बिभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते।

अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मकः॥"

यही कारिका श. कौ. में भी उद्धृत मिलती है।

113. महा. भा. 2, सू. 3.1.3, पृ. 7.

114. परि. सं. 23.

115. पा. 3.1.4.

116. प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.3, पृ. 340).

117. न्यास. (का. भा. 6, सू. 8.1.6, पृ. 235).

118. इस सन्दर्भ में "न ह्रसति कुड्ये चित्रकर्म" तथा "अभित्तिचित्रायित" न्याय अवश्य तुलनीय हैं।

119. पा. 3.1.31.

120. पा. 6.4.48.

121. पा. 6.1.66.

122. द्र. महा. भा. 1, सू. 1.1.50 पृ. 122 "यो हि भुक्तवन्तं ब्रूयान् मा भुक्था इति किं तेन कृतं स्यात्" (द्र. प्रकृत ग्रन्थ पृ. 1)।

123. पा. 3.3.102.

124. पा. 3.3.94.

125. महा. भा. 3, सू. 6.1.84, पृ. 56.

126. बृ. श. शे. भा. 1, सू. 138, पृ. 272.

127. प. मं. (का. भा. 5, सू. 6.1.84, पृ. 542).

128. महा. प्र. उ. भा. 4, सू. 6.1.84, पृ. 397.

129. संक्षेपशारीरक 1.143.312.

130. काठकसंहिता. 19.10.

131. महा. भा. 3, सू. 6.1.84, पृ. 57-58.

132. पा. 6.1.87.

133. यह वचन महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.69, पृ. 532 पर भी उद्धृत हुआ है।

134. महा. प्र. उ. भा. 4, सू. 6.1.84, पृ. 401.

135. वा. प. 2.3.21

"व्याघ्रादिव्यपदेशेन यथा बालो निवर्त्यते।

असत्योऽपि तथा कश्चित् प्रत्यवायोऽभिधीयते॥"

136. विदुरनीति 6.1; मनु. 2.120.

137. महा. प्र. भा. 1, पस्पशा. पृ. 15; 39; प. मं. (का. भा. 1, अथ शब्दानुशासनम् सूत्र, पृ. 11); श. कौ. भा. 1 पस्पशा. पृ. 16;26; महा. प्र. उ. भा. 1, पस्पशा. पृ. 33; 41; भा. 4, सू. 6.1.108, पृ. 450; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 138, पृ. 272; 276, सू. 144, पृ. 285); स्फोटचन्द्रिका, पृ. 3.

138. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.1.73, पृ. 255).

139. न्यास. (का. भा. 2, सू. 3.1.1, पृ. 332; भा. 6, सू. 8.1.10, पृ. 243); महा. प्र. भा. 2, सू. 1.2.64, पृ. 114; सू. 1.4.56, पृ. 440-441; सू. 2.1.2, पृ. 561; सू. 2.2.11, पृ. 682; सू. 2.2.24, पृ. 699; भा. 4, सू. 6.1.1, पृ. 280; सू. 6.4.163, पृ. 799; भा. 5, सू. 7.1.74, पृ. 71; सू. 7.1.95, पृ. 87; सू. 7.2.8, पृ. 104; सू. 7.2.106, पृ. 179; सू. 7. 3.86, पृ. 230, सू. 8.2.81, पृ. 414; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.2.12, पृ. 285; भा. 2, सू. 3.1.1, पृ. 331; भा. 4, सू. 5.4.74, पृ. 383; भा. 6, सू. 8.2.81, पृ. 446); श. कौ. भा. 2, सू. 1.4.56, पृ. 140; प्रौ. म. सू. 940, पृ. 107; त. बो. (वै.सि.कौ.भा. 1, सू. 42, पृ. 47-48); महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.57, पृ. 433; भा. 2, सू. 1.4.1, पृ. 303; भा. 3, सू. 3.1.1, पृ. 3; सू. 3.1.7, पृ. 37; सू. 3.1.87, पृ. 163; भा. 4, सू. 6.1.115, पृ. 459; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 19, पृ. 81; सू. 322, पृ. 562; भा. 3, सू. 2179, पृ. 1600.

140. पा. 1.4.56.

141. पा. 1.4.97.

142. पा. 3.4.13.

143. न्यास. (का. भा. 2, सू. 3.1.1, पृ. 332); महा. प्र. भा. 2, सू. 1.2.53, पृ. 105; सू. 1. 3.14, पृ. 242; 244; सू. 1.3.67, पृ. 282; सू. 1.4.13, पृ. 352; सू. 1.4.14, पृ. 362; सू. 1.4.56, पृ. 441; सू. 2.1.69, पृ. 649; भा. 4, सू. 5.1.9, पृ. 13; सू. 6.1.13, पृ. 324; भा. 5, सू. 7.1.95, पृ. 84; सू. 8.2.23, पृ. 387; सू. 8.2.42, पृ. 395; प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.1, पृ. 331); श. कौ. भा. 2, सू. 1.4.56, पृ. 140; त. बो. (वै.सि.कौ. भा. 1, सू. 42, पृ. 48); महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 1.3.14, पृ. 242; सू. 1.4.13, पृ. 352; सू. 1.4.42, पृ. 406; सू. 2.1.69, पृ. 644; सू. 2.2.24, पृ. 704; भा. 3, सू. 3.1.1, पृ. 3; सू. 3.1.87, पृ. 163; भा. 5, सू. 7.1.21, पृ. 24; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 23, पृ. 82;

सू. 49, पृ. 141; सू. 90, पृ. 214; सू. 188, पृ. 374; सू. 199, पृ. 387, सू. 234, पृ. 446; सू. 273, पृ. 507; भा. 2, सू. 1057, पृ. 1218; सू. 1088, पृ. 1236; भा. 3, सू. 2207, पृ. 1613; सू. 2249, पृ. 1643; सू. 2260, पृ. 1651; सू. 2318, पृ. 1685; सू. 2322, पृ. 1689.

144. महा. प्र. भा. 2, सू. 1.4.56, पृ. 441.

145. पा. 1.4.97.

146. पा. 3.4.13.

147. पा. 1.4.56.

148. मा. यजुः 24.20.

149. मीमांसा 11.1.38-45.

150. वैयाकरणसिद्धान्तकारिका (वै.भू.सा.) सं. 56. पृ. 513.

151. (क) वै. भू. सा. अभेदैकत्वसंख्यानिर्णय, पृ. 513, महा. प्र. उ. भा. 2, सू. 2.1.1, पृ. 539; भा. 5, सू. 7.3.75, पृ. 269.

(ख) शाबरभाष्य जै. सू. 11.1.38-45; तन्त्रवार्तिक, 2.1.12; 3.5.26; कुल्लूक भट्टकृत मनुस्मृतिव्याख्या, 8.105 इत्यादि।

152. महा. प्र. भा. 5, सू. 8.1.30, पृ. 328.

153. तर्कभाषा, अनुमाननिरूपण, पृ. 71. "लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्"।

154. ध्यान रहे कि कभी-कभी अनुमान भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा बलवान् माना जाता है। इस विषय में निर्लुंठितगर्भ (पृ. 153) तथा अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम् (पृ. 302) न्याय अवश्य पठनीय हैं।

155. प. मं. (का.भा. 1, हयवरट् सूत्र, पृ. 46).

156. बृ. श. शे. भा. 3, सू. 2677, पृ. 1900.

157. गणसूत्र 203 – "प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च"।

158. पा. 6.4.156.

159. पा. 6.4.133.

160. बृ. श. शे. भा. 1, सू. 314, पृ. 555.

161. मीमांसा. सू.

162. पा. 7.1.75.

163. पा. 6.4.1.

164. बा. म. (वै.सि.कौ.भा. 1, सू. 59, पृ. 72).

165. परि. सं. 126.

166. महा. प्र. भा. 3, सू. 3.2.127, पृ. 295. तुलना करो, महा. भा. 2, सू. 3.1.109, पृ. 85 "न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्"।

167. पा. 2.2.11.

168. महा. प्र. भा. 3, सू. 3.2.127, पृ. 295.

169. प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.2.83, पृ. 601).

170. प्रौ. म. सू. 3.4.69, पृ. 303.

171. पा. 3.4.67.

172. प. ल. म. धात्वर्थनिर्णय, पृ. 167.

173. श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.3, पृ. 80.

174. पा. 3.2.97.

175. जै. सू. 6.1.13.

176. वै. भू. सा., समासशक्तिनिर्णय, पृ. 397; महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.3, पृ. 150; बृ. श. शे. भा. 3, सू. 2666, पृ. 1886.

177. श. कौ. भा. 2, सूत्र 3.1.32, पृ. 366.

178. पा. 1.3.90.

179. मथुरानाथकृत आत्मतत्त्वविवेक की व्याख्या का प्रारम्भिक भाग; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 59, पृ. 172.

180. वै. भू. सा. धात्वर्थ निर्णय, पृ. 41.

181. पा. 2.2.24; 4.2.24.

182. तुलना करो, तन्त्रवार्तिक 3.1.12- "अरुणाशब्दे तावदवश्यमेव केनचिद् गुणिना सम्बन्धनीयः। एकहायनीशब्दस्यापि क्रियासम्बद्धत्वात् स्वातन्त्र्यमपनीतम्। तत्र पदान्तरसम्बन्धेऽपि सकृत् प्रवृत्ताया किमवगुण्ठनेनेतिवत् तस्य तावत्येव श्रुतिपीडेति"।

183. वै. भू. सा. समासशक्तिनिर्णय, पृ. 391; बृ. श. शे. भा. 2, सू. 534, पृ. 800; प. ल. म. धात्वर्थनिर्णय पृ. 180.

184. वै. भू. सा. पदवाक्यस्फोट निर्णय प्रकरण, पृ. 558.

185. बृ. श. शे. भा. 2, सू. 2023, पृ. 1512.

186. वही. भा. 1, सू. 9, पृ. 43; प. ल. म. निपातार्थनिर्णय, पृ. 331.

187. वही. भा. 3, सू. 3665, पृ. 2219.

188. महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.44, पृ. 326; लौ. न्या. र. पृ. 202.

189. बृ. श. शे. भा. 3, सू. 3783, पृ. 2284.

190. पा. 6.2.144.

191. पा. 8.1.70.

192. प. ल. म. धात्वर्थ निर्णय, पृ. 164.

193. श. कौ. भा. 1, सू. 1.1.3, पृ. 80.

194. बा. म. (वै. सि. कौ. भा. 1, सू. 163, पृ. 159).

195. महा. प्र. उ. भा. 1, सू. 1.1.60, पृ. 470-71.

196. द्र. पृ. 448.
197. द्र. पृ. 594.
198. महा. भा. 1, सू. 1.1.39, पृ. 99-100.
199. परि. सं. 85.
200. द्र. का. प्र., 7वां उल्लास, कारिका सं. 59
"ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टताऽनुकरणे तु सर्वेषाम्।
वक्त्राद्यौचित्यवशाद् दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ॥"
201. तुलना करो, हितोपदेश, 2.26
"दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम्।
कैरजीर्णभयाद् भ्रातर्भोजनं परिहीयते॥"
202. पा. 4.1.1.
203. परि. सं. 71.
204. पा. 6.1.139.
205. परि. सं. 95.
206. प्रकृत सूत्रस्थ महा. प्र. – "प्रतिविधेयमिति। तत्र विधानसामर्थ्यादाङ्गो वर्णविचालो भविष्यति। कष्टायेति ज्ञापकाद्यशब्दे दीर्घो भविष्यति। न चासयोरिति लिङ्गादाप् भविष्यति। पपिवानिति - वस्वेकाजाद्घसामित्ययं नियम इटो न त्वपूर्वोऽयं विधिरिति आकारस्य लोपः। क्रापयतीत्याकारभक्तः पुक् न व्यवधायकः। अदीदपदिति लिङ्गाद् ह्रस्वः, यदयं मारणतोषणेति जानातेर्मित्वमुपधाह्रस्वार्थं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यः - पुकि कृते उपधाह्रस्वत्वं भवतीति। न हि जानातेरकृते पुकि ह्रस्वभाविनि उपधा भवति। अग्निमानिति अनुदात्तं पदमेकवर्जमिति परिभाषा स्वरविषया सन्निपातपरिभाषां बाधते। एङ् ह्रस्वादित्यत्रापि गुणात्सम्बुद्धे रिति वक्तव्ये ह्रस्वग्रहणसामर्थ्यात् सन्निपातपरिभाषाभावः। दर्वीत्यत्र छन्दसि गुणाभावपक्षे छान्दसो लुक् भविष्यति"।
207. न्या. वा. ता. टी. पृ. 62; भामती पृ. 54. सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन पृ. 2.
208. पञ्चपदिका, पृ. 63 "अतोऽजीर्णभियान्नाहारपरित्यागो भिक्षुकभयान्न स्थाल्या अनधिश्रयणं दोषेषु प्रतिविधातव्यमिति न्यायः।" जीवनमुक्तिविवेक में भी इस न्याय का यही रूप है।
209. महा. भा. 2, सू. 3.1.26, पृ. 33.
210. पा. 1.4.55.
211. न्यास. (का. भा. 2, सू. 3.1.26, पृ. 392-93); पं. मं. (का. भा.) 2, सू. 3.1.26, पृ. 391-92); बृ. श. शे. भा. 3, सू. 2573, पृ. 1832; सू. 2754, पृ. 1954.
212. महा. भा. 3, सू. 6.1.8, पृ. 13.

213. पा. 6.1.45.
214. महा. भा. 2, सू. 3.2.107, पृ. 115; भा. 3, सू. 7.1.81; पृ. 269; सू. 7.2.86, पृ. 304.
215. वै. भू. सा. धात्वर्थनिर्णय, पृ. 157.
216. शास्त्रदीपिका 8.3.5; शाबरभाष्य तथा न्यायमालाविस्तर सूत्र 11, लौ. न्या. र. पृ. 213.
217. वैजयन्ती, 3.8.80.
218. वही, 2.6.53.
219. परि. सं. 116.
220. पा. 3.4.103.
221. पा. 6.4.49.
222. द्र. पृ. 185.
223. द्र. पृ. 389.
224. द्र. पृ. 634.
225. द्र. पृ. 594.
226. द्र. पृ. 458; 459.
227. द्र. पृ. 146.
228. द्र. पृ. 101; 373.
229. द्र. पृ. 219.
230. द्र. पृ. 236.
231. द्र. पृ. 227; 373.
232. द्र. पृ. 101; 373.
233. द्र. पृ. 481.
234. द्र. पृ. 85.
235. द्र. पृ. 546.
236. द्र. पृ. 300.

अष्टम उद्योत

सूक्ति/श्लोक तथा लोकोक्ति/मुहावरेसम्बन्धी लोकन्याय

क (1) सूक्ति/श्लोकसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः न्याय

''व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्''[1]

यह न्याय या आगम वैसे तो व्याकरण की एक प्रसिद्ध शास्त्रीय परिभाषा है परन्तु यह लोकव्यवहार सिद्ध भी है, जैसे लोक में किसी विशेष बात का ज्ञान करने के लिए व्याख्यान की अपेक्षा होती है वैसे ही शास्त्र में भी किसी सन्दिग्ध बात का निर्णय शिष्ट लोगों के व्याख्यान से ही होता है। केवल सन्देह करने मात्र से लक्षण अलक्षण नहीं हो जाता। इस व्याख्यान के विषय में भाष्यकार लिखते हैं–

''ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति। न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानं वृद्धिः आत् ऐजिति, किन्तर्हि ? उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति''[2]।

व्याकरणशास्त्र में इस न्याय से अनेक प्रयोजन सिद्ध किए गए हैं, जैसे पस्पशाह्निक में ही ''सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'' वार्तिकस्थ सिद्ध शब्द को लेकर सन्देह होता है कि इस सिद्ध शब्द का क्या अर्थ है ? इसके उत्तर में भाष्यकार प्रकृत न्याय को अवतीर्ण करते हुए कहते हैं कि यहाँ हम यह व्याख्यान कर देंगे कि यह सिद्ध शब्द नित्य अर्थ का वाचक है जिसे मङ्गलार्थ आचार्य ने प्रारम्भ में प्रयुक्त कर दिया है। इसी प्रकार ''अइउण्'' और ''लण्'' सूत्रों से बनने वाले अण् प्रत्याहारविषयक सन्देह का परिहार भी प्रकृत न्याय से ही जानना चाहिए। इसी तरह अन्य भी अनेक स्थल हैं जहाँ व्याख्यान से ही निर्णय किया गया है। ऐसे स्थलों की अधिकता के कारण ही उन सब का सन्दर्भनिर्देश यहाँ नहीं किया जा रहा है।

2. सम्बन्धिशब्द न्याय

''सम्बन्धिशब्दैर्वा तुल्यमेतत्। तद्यथा सम्बन्धिशब्दाः–मातरि वर्तितव्यम्, पितरि शुश्रूषितव्यम् इति। न चोच्यते स्वस्यां मातरि, स्वस्मिन् पितरि इति। सम्बन्धाच्चैतद्

गम्यते-या यस्य माता यश्च यस्य पितेति। एवमिहापि तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इति सम्बन्धिशब्दावेतौ। तत्र सम्बन्धादेतद् गन्तव्यम्-यत् प्रति यत्तुल्यास्यप्रयत्नं तत् प्रति तत् सवर्णसंज्ञं भवतीति''[3]।

''तुल्यास्यसवर्णम्'' सूत्र भाष्य में भाष्यकार प्रकृत न्याय का उपन्यास करते हुए कहते हैं कि यह बात सम्बन्धिशब्दों के समान समझनी चाहिए, जैसे लोक में हम सम्बन्धिशब्दों के विषय में केवल इतना ही कहते हैं कि माता के साथ अच्छा बर्ताव करना चाहिए या पिता की सेवा करनी चाहिए। किन्तु इसके साथ ही यह कोई नहीं कहता कि अपनी माता के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए या अपने पिता की सेवा करनी चाहिए अर्थात् अपना शब्द लगाए बिना भी माता-पिता के सम्बन्धिशब्द होने से उक्त वाक्य का स्वयमेव 'अपनी माता' और 'अपना पिता' अर्थ समझ लिया जाता है। क्योंकि जो जिसकी माता है और जो जिसका पिता है वही माता-पिता शब्द सुनकर अपने से सम्बन्ध रखने के कारण उनके साथ अच्छा बर्ताव, व्यवहार एवं सेवा करता है। दुनियाभर के माता-पिताओं से उसका क्या प्रयोजन ? उसे तो अपने ही माता-पिता सर्वप्रथम एष्टव्य है। कैयट भी इसी सम्बन्धिशब्दमूलक विषय को उदाहरणान्तरमूलक तुल्यकन्यादान नामक दूसरे लोकन्याय से प्रतिपादित करते हुए कहते हैं–

3. तुल्यकन्यादान न्याय

''तुल्यास्यप्रयत्नशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वात् तत्समानार्थोऽपि प्रदेशवाक्येषूपात्तः सवर्णशब्दः सम्बन्धिशब्दः। यथा 'तुल्याय कन्या दातव्या' इत्युक्ते न शूद्रेण तुल्याय ब्राह्मणः कन्यां ददात्यपित्वात्मना, तथेहापीत्यर्थः''[4]।

इसका अर्थ है कि अपने समान के लिए कन्या देनी चाहिए-ऐसा कहने पर जो जन्म, शील, गुण, कर्म और स्वभाव आदि में अपने समान हो, उसी को कन्या दी जाती है, तद्भिन्न को नहीं। तदनुसार ब्राह्मण, क्षत्रियादि अपने समान धर्मा ब्राह्मण, क्षत्रियादि को ही अपनी कन्या देगा, शूद्रादि को नहीं। क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रियादि के तुल्य ब्राह्मण, क्षत्रियादि ही हैं। इसलिए शूद्रादि को वे अपनी कन्या नहीं दे सकते अर्थात् कन्या की तुल्यतापरक कथन से बिना कहे भी कन्यादान से सम्बन्धित वर की तुल्यता गम्यमान हो जाती है। क्योंकि सम्बन्धी शब्द बिना प्रयुक्त हुए भी अपने दूसरे सम्बन्धी को अर्थ से आक्षिप्त कर लेते हैं। इसी तरह यहाँ कन्या देने वाला अपने तुल्य को ही कन्या देता है– यह लोकव्यवहारसिद्ध बात है। इसमें अपना शब्द कहे बिना भी अपने ही तुल्य समझा जाता है। इस लोकव्यवहार के अनुसार ही यहाँ शास्त्र में भी व्यवस्था होगी। तदनुसार ''तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्[5]'' इस सवर्णसंज्ञाविधायक सूत्र में बिना 'अपना' या 'उसका तुल्य (तस्य) ग्रहण किए केवल 'तुल्य' कहने से ही जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ आभ्यन्तर प्रयत्न और स्थान

तुल्य होंगे, उस वर्ण की उस वर्ण के साथ ही सवर्णसंज्ञा होगी, अन्य के तुल्यस्थानप्रयत्न वाले वर्णों की अन्य के तुल्य स्थानप्रयत्न वाले वर्णों के साथ सवर्णसंज्ञा नहीं होगी। क्योंकि वह उससे भिन्न किसी अन्य वर्ण के समान स्थानप्रयत्न वाला है। प्रत्येक वर्ण अपने तुल्य स्थानप्रयत्न वाले को ही ढूंढेगा। दूसरे के तुल्य स्थानप्रयत्न वाले वर्ण से उसका क्या सम्बन्ध या प्रयोजन ? इस प्रकार 'अपना' या 'उसका' ग्रहण किए बिना ही केवल 'तुल्य' ग्रहण से स्वतः अपने तुल्य स्थानप्रयत्न वाले वर्णों की अभीष्ट सवर्णसंज्ञा के आक्षिप्त या सिद्ध हो जाने पर ''तुल्यास्यप्रयत्नं यत् तस्य'' ऐसा कहना व्यर्थ हो जाता है अर्थात् ''तस्य'' इस वार्तिक के कहने की आवश्यकता ही नहीं। क्योंकि **जो बात लोकतः सिद्ध है उसके लिए वचन बनाना निरर्थक है**[6]। यह सम्बन्धिशब्द न्याय व्याकरणशास्त्र में अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[7] इस प्रसङ्ग में 'तुल्यकांस्यपात्री भोजन' न्याय से सवर्णसंज्ञा को स्पष्ट करते हुए न्यासकार भी कहते हैं–

4. *तुल्यकांस्यपात्रीभोजन न्याय*

''यदि तर्हि त्रिपदो बहुव्रीहिराश्रीयते....ततश्च भिन्नस्थानानामपि सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति। नैष दोषः। यदाधेयं प्रति यदधिकरणमुपादीयते, तदाधेयतुल्यतयैव तत् तुल्यमिति विज्ञायते। यथा हि-देवदत्तयज्ञदत्तयोस्तुल्यकांस्यपात्र्यां भोजनमित्युक्ते कांस्यपात्र्यपि तयोस्तुल्येति गम्यते''[8]।

''तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्'' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए न्यासकार 'तुल्यास्यप्रयत्नम्' में 'तुल्य आस्ये प्रयत्नो यस्येति' इस त्रिपद बहुव्रीहिसमास मानने पर शङ्का करते हैं कि इस विग्रह में तो तुल्य का सम्बन्ध प्रयत्न के साथ ही हुआ, स्थान के साथ तो हुआ ही नहीं। परिणामतः स्थान तुल्य न होने पर भी केवल प्रयत्नों की तुल्यता में भी सवर्ण संज्ञा हो जाएगी। ऐसी स्थिति में जो वर्ण भिन्न स्थान वाले हैं किन्तु तुल्य प्रयत्न वाले हैं, उनकी भी सवर्ण संज्ञा प्राप्त होगी - यह अनिष्ट प्राप्त होता है जबकि **इष्ट है कि स्थान और प्रयत्न दोनों की तुल्यता होने पर ही सवर्ण संज्ञा हो।** इस दोष का समाधान करने के लिए उन्होंने उक्त न्याय को उपस्थापित किया है। वे कहते हैं कि **जिस आधेय के लिए जो अधिकरण या आधार ग्रहण कियां जाता है वह अधिकरण आधेय की तुल्यता से ही तुल्य माना जाता है।** जैसे लोक में **'देवदत्त और यज्ञदत्त का कांस्य की थाली में तुल्य भोजन है'**–ऐसा कहने पर भोजन का आधार जो थाली है, वह भी भोजन की तुल्यता के समान तुल्य समझी जाती है। इसलिए 'आस्य' में होने वाले प्रयत्नों की तुल्यता के साथ स्थान भी तुल्य ही माने जाएंगे। क्योंकि 'आस्य' अर्थात् जो मुख है, वह स्थान और प्रयत्न दोनों का आधार है। उसमें ही स्थान और प्रयत्न आधेय हैं अर्थात् विद्यमान रहते हैं। **जब 'आस्य' में प्रयत्नों को तुल्य कह दिया तो स्थानों की तुल्यता भी स्वयमेव**

जानी जाएगी। इस प्रकार स्थान और प्रयत्न दोनों की तुल्यता सिद्ध करने के लिए ग्रन्थकार ने यह **'तुल्यकांस्यपात्रीभोजन'** का दृष्टान्त उपन्यस्त किया है। यह न्याय अन्यत्र देखने में नहीं आता। अतः इसे न्यासकार का ही स्वोपज्ञ विज्ञान मानना चाहिए। सवर्णसंज्ञा को लेकर प्रदीपकार पांसूदक न्याय को भी उपन्यस्त करते हुए कहते हैं–

5. *पांसूदक न्याय*

''प्रश्लिष्टावर्णाविति। नाऽत्र भागविवेकोऽस्ति पांसूदकवदित्यर्थः''[9]।

ए, ओ, ऐ, औ और अवर्ण की आपस में सवर्णसंज्ञा को रोकने के लिए यह बात कही गई है। क्योंकि ए, ओ, ऐ, औ में, विशेषकर ऐ तथा औ में, अवर्ण इतना अधिक (प्रश्लिष्ट) जुड़ा हुआ है कि उसका किसी प्रकार भी अलग बोध नहीं किया जा सकता, जैसे - पांसु (धूल) और उदक (पानी) दोनों मिला दिए जाएं तो मिलने पर उनमें धूल और पानी का विवेक नहीं हो सकता। इसी प्रकार ऐ, औ में पड़े हुए अवर्ण का भी अलग विवेक नहीं हो सकता। इसलिए इनकी आपस में सवर्णसंज्ञा नहीं होगी। **इस प्रश्लिष्ट स्थिति को पांसूदक की तरह क्षीरोदक भी कह सकते हैं,** जैसे - दूध में पानी मिला देने पर यह ज्ञान नहीं कर सकते कि इनमें कितना पानी और कितना दूध है। इसी प्रकार के ये सन्ध्यक्षर हैं- यह बात इस न्याय से स्पष्ट की गई है। अन्यत्र भी यह न्याय देखने में आता है।[10]

अस्तु, यह पूर्वोक्त सम्बन्धिशब्द वाला न्याय आगे ''आदिरन्त्येन सहेता इस सूत्र पर भी प्रवृत्त होता है। वहाँ भी भाष्यवार्तिककार ''सम्बन्धिशब्दैर्वा पुनस्तुल्यमेतत्'' इत्यादि पूर्वोक्त सब इसी प्रकार कहकर ''एवमिहापि आदिरन्त्य इति सम्बन्धिशब्दावेतौ। तत्र सम्बन्धाद् एतद् गन्तव्यं यं प्रति य आदिरन्त्य इति च भवति तस्य ग्रहणं भवति स्वस्य च रूपस्येति''[11] इस कथन द्वारा 'तन्मध्यस्य' इस न्यासान्तर का प्रत्याख्यान कर देते हैं। इस सम्बन्धिशब्द न्याय का भाष्योक्त एक निदर्शन और अवश्य दर्शनीय है, तद् यथा–

''साधनमिति सम्बन्धिशब्दोऽयम्। सम्बन्धिशब्दाश्च पुनरेवमात्मका यदुत सम्बन्धिनमाक्षिपन्ति। तद् यथा-मातरि वर्तितव्यम्। पितरि शुश्रूषितव्यम् इति। न चोच्यते स्वस्यां मातरि स्वस्मिन् वा पितरीति। सम्बन्धाच्चैतद् गम्यते या यस्य माता यश्च यस्य पितेति। एवमिहापि सम्बन्धादेतद् गन्तव्यम्-यस्य धातोर्यत् साधनमिति''[12]।

यहाँ ''नमो वरिवश्चित्रङः क्यच्'' सूत्र के भाष्य में यह न्याय उद्धत हुआ है। तदनुसार 'क्यच्' आदि प्रत्ययों की प्रकृत न्याय से क्रियावाचकता सिद्ध करने के लिए भाष्यकार ''सनाद्यन्ता धातवः''[13] सूत्र से विहित धातुसंज्ञा को उपन्यस्त करते हैं। क्योंकि **क्रियावाचकता के बिना धातु संज्ञा नहीं हो सकती**[14] और 'सन्, क्यच्, काम्यच्' आदि बारह प्रत्यय जिनके अन्त में हैं, उनकी धातुसंज्ञा का विधान किया

गया है। इससे 'क्यच्' आदि की क्रियावाचकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। क्रियावाचक होने से धातु संज्ञा द्वारा इनसे तव्यत् आदि प्रत्यय भी विहित हो जाते हैं, जैसे - 'चिकीर्षितव्यम्, पुत्रीयितव्यम्' इत्यादि। "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः"[15] के वचन से 'तव्यत्' आदि प्रत्यय भाव और कर्मकारक में होते हैं।

ध्यातव्य है कि क्रिया और कारक ये दोनों परस्पर सम्बन्धी शब्द हैं। जिस क्रिया के प्रति जो कारक है, उसी कारक के अभिधान में 'तव्यत्' आदि होंगे। अन्य क्रिया के प्रति जो कारक है, उसको कहने के लिए 'तव्यत्' आदि नहीं होंगे। सम्बन्धी शब्दों के स्वभाव को बताता हुआ उक्त माता-पिता सम्बन्धी लोकन्याय व्याकरण शास्त्र में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस सम्बन्धिशब्द न्याय को ही स्थान्यादेशभाव के प्रसङ्ग में पितृवत् स्थूलः न्यायमूलक उदाहरणान्तरों से सुस्पष्ट करते हुए पदमञ्जरीकार भी कहते हैं–

6. पितृवत् स्थूलः न्याय

"यथा पितृवत् स्थूलः इत्युक्ते सम्बन्धिशब्दात् पुत्र इति गम्यते, यथेहापि स्थानिवदित्युक्ते क इत्यपेक्षायां यदपेक्षं स्थानित्वं स एवादेश इति गम्यते"[16]।

इसका भाव है कि जिस प्रकार लोक में 'पितृवत् स्थूलः' अर्थात् 'पिता के समान स्थूल' ऐसा कहने पर पिता से सम्बन्ध रखने वाला पुत्र ही होता है। इसलिए पुत्र ही स्थूल कहा जाएगा। इसी प्रकार "स्थानिवदादेशः" इस सूत्र में 'आदेश' ग्रहण किए बिना भी सम्बन्धिशब्दन्याय से स्थानी के स्थान पर 'आदेश' ही समझा जाएगा तो सूत्र में आदेश ग्रहण के पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि 'आदेश' ग्रहण के बिना भी स्थानी की जगह बैठने वाला आदेश ही हो सकता है। यतः स्थानी और आदेश का परस्पर सम्बन्ध होता है। इस प्रकार 'आदेश' ग्रहण किए बिना भी कोई अनिष्ट नहीं होगा। व्याकरण में यद्यपि एरुः[17] इस सूत्र से इकार के स्थान में उकार का आदेश किया गया है, किन्तु पारस्परिक सम्बन्ध से उसका तात्पर्य यह है कि तिप् के स्थान में तु आदेश समझा जाए। आचार्य ने तेस्तुः के स्थान पर एरुः सूत्र बना दिया है जिससे भवतु में तु को ति समझकर पदसंज्ञा बन जाए। एरुः इस सूत्र की व्याख्या तो यद्यपि अन्य व्याख्याकारों ने भी ऐसी ही स्वीकार की है तथापि उक्त न्याय के माध्यम से यह प्रथम तथा अन्तिम बार प्रदीप तथा पदमञ्जरी में ही दृष्टिगोचर होती है। इस विषय में कैयट का वचन भी तुलनीय है–

स्थानिशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वादादेशो लभ्यत एव। यथा पितृवदधीते इत्युक्ते पुत्र इति गम्यते इति भावः[18]

सम्बन्धिशब्द न्याय के प्रसङ्ग में अगला सपुत्रभोजन न्याय भी पठनीय है।

7. सपुत्रभोजन न्याय

"सगतिग्रहणादगतिरपि निहन्यते इति। कथम्? तुल्ययोगेऽत्र सहशब्दः, यत्र तुल्ययोगे सहशब्दस्तत्र द्वयोरपि कार्ययोगो भवति। तद् यथा-सपुत्रो भोज्यताम् इत्युक्ते पुत्रोऽपि भोज्यते"[19]।

यह न्याय न्यासकार तथा पदमञ्जरीकार दोनों ने ही "सगतिरपि तिङ्" इस सूत्र की व्याख्या में दिया है। इसका अर्थ है कि जिस प्रकार 'पुत्र सहित को भोजन कराओ'- ऐसा कहने पर सम्बन्धिशब्द न्याय से पुत्र के साथ पिता का भी भोजन के साथ सम्बन्ध होता है। क्योंकि 'सपुत्रः' में 'सह' शब्द के स्थान पर 'स' शब्द का आदेश होता है। 'सह' का अर्थ 'साथ' है। अतः यहाँ दोनों का ही कार्य (भोजन) के साथ योग होता है। इसी प्रकार यहाँ भी गति के साथ अगति और तिङन्त इन सबको उक्त सूत्र से निघात हो जाता है। जहाँ गति का प्रयोग नहीं होता, वहां केवल तिङन्त को भी निघात होता है। लेकिन गति का प्रयोग होने पर तो दोनों को साथ ही निघात हो जाता है। यही बात सिद्ध करने के लिए उक्त सम्बन्धिशब्द न्याय का उपन्यास किया गया है। अर्थ की दृष्टि से रथस्थानयन न्याय भी इसी कोटि में आता है, तद्यथा–

8. रथस्थानयन न्याय

अथवा यथा रथस्थ आनीयतामिति सरथ आनीयते तथा षष्ठ्यादिसहितयोर्युष्मदस्मदोः कार्यं भवतीति विज्ञायते"[20]।

यह न्याय प्रदीपकार ने "न लुमताङ्गस्य" इस सूत्र के भाष्यगत "युष्मदस्मदोः स्थग्रहणात्" इस वार्तिक की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि जैसे कोई कहे कि जो रथ में बैठा है, उसे बुलाओ। अब वहाँ सम्बन्धिशब्द न्याय से रथ में स्थित पुरुष के साथ रथ भी लाया जाता है। क्योंकि यदि रथ नहीं लाया जाए और केवल पुरुष ही लाया जाए तो यह कैसे पता चलेगा कि यह रथ में स्थित है। रथ को साथ लाने पर ही रथ में स्थित (सम्बद्ध) पुरुष जाना जाएगा। इसी प्रकार "युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ इस सूत्र में 'स्थ' ग्रहण करने के कारण ही षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीयाविभक्ति सहित युष्मद् और अस्मद् इन दोनों शब्दों को क्रमशः 'वां' और 'नौ' आदि आदेश होते हैं। यदि षष्ठी आदि विभक्तियों से रहित केवल युष्मद् और अस्मद् शब्दों को ही 'वां' और नौ आदि आदेश हों तब तो सूत्र में 'स्थ' ग्रहण करना व्यर्थ है। इसलिए उक्त न्याय के समान यहाँ शास्त्र में भी विभक्तिसहित युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों को आदेश होते हैं, अकेलों को नहीं। प्रकृत सम्बन्धिशब्द न्याय के साथ सम्बन्ध न्याय भी द्रष्टव्य है, तद्यथा–

9. सम्बन्ध न्याय

"यद्यपि लोके बहवोऽभिसम्बन्धाः आर्था, यौना, मौखाः स्रौवाश्चेति। शब्दस्य तु शब्देन कोऽन्योऽभिसम्बन्धो भवितुमर्हति अन्यदतः स्थानात्"[21]

"षष्ठी स्थानेयोगा" इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यद्यपि लोक में बहुत प्रकार के सम्बन्ध हैं, जैसे–सर्वप्रथम आर्थाः- आर्थिक, स्वामी-भृत्य

आदि का सम्बन्ध। स्वामी का काम भृत्य करता है और स्वामी भृत्य को अर्थ या पैसा देता है। दूसरा यौनाः–जो योनि अथवा जन्म से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे–पिता-पुत्र आदि। पुत्र पिता से जन्म ग्रहण करता है। पिता पुत्र का जन्मदाता है। तीसरा-मौखाः जो मुख से सम्बन्ध रखते हैं, जैसे–गुरु-शिष्य का सम्बन्ध। गुरु शिष्य को पढ़ाता है तथा शिष्य गुरु से नियमपूर्वक (उपयोग) पढ़ता है। मुख से बोलकर दोनों पढ़ते-पढ़ाते हैं। इसी प्रकार स्रौवाः अर्थात् सुवा या यज्ञ में घी की आहुति डालने वाली चमची, उसका सम्बन्ध यजमान और पुरोहित से है। पुरोहित यजमान से घृताहुति डलवाता है। यजमान पुरोहित के आदेशानुसार अग्निहोत्र करता है- इत्यादि अनेक सम्बन्ध हैं। किन्तु व्याकरणशास्त्र में शब्द का शब्द के साथ और क्या सम्बन्ध हो सकता है, सिवाय स्थान के। शब्दान्तर के स्थान में शब्दान्तर का ही प्रयोग हो सकता है। ऐसी अवस्था में षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध स्थान से ही हो सकता है। "इको यणचि"[22] सूत्र का अर्थ इक् के स्थान में यण् होता है– यही संभव है। इस तरह सर्वत्र सामान्यरूप से षष्ठी का स्थानयोग होने से यह सूत्र प्रत्याख्यान के योग्य बन जाता है। सम्बन्ध के प्रसङ्ग में ही अगला कान्तारसार्थ न्याय भी अवश्य दर्शनीय है, तद्यथा–

10. कान्तारसार्थ न्याय/सम्बन्धानुवृत्ति न्याय

"सम्बन्धमनुवर्तिष्यते वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्। त्यदादीनि च वृद्धसंज्ञानि भवन्ति। वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्। एङ् प्राचां देशे। यस्याचामादिग्रहणमनुवर्तते वृद्धिग्रहणं निवृत्तम्। तद् यथा–कश्चित् कान्तारे समुपस्थिते सार्थमुपादत्ते। स यदा निष्क्रान्तकान्तारो भवति तदा सार्थं जहाति।"[23]

"त्यदादीनि च" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार पूछते हैं कि यहाँ ऊपर से "यस्याचामादि" ग्रहण की अनुवृत्ति आती है या नहीं? यदि आती है तो 'त्वत्पुत्रस्य छात्राः त्वात्पुत्राः यहाँ त्यदादिगणपठित युष्मद् शब्द की वृद्धसंज्ञा प्राप्त होती है। क्योंकि जिस समुदाय के आदि में त्यदादि का अच् हो उस समुदाय की वृद्ध संज्ञा होगी। उससे त्वत्पुत्र की वृद्ध संज्ञा होकर "वृद्धाच्छः"[24] से विहित अनिष्ट शैषिक 'छ' प्रत्यय प्राप्त होगा और इष्ट जो "प्राग्दीव्यतीय" "तस्येदम्"[25] से विहित 'अण्' है, वह प्राप्त न होगा। साथ ही "यस्याचामादि" ग्रहण की अनुवृत्ति मानने पर 'त्वदीयः', 'मदीयः' यहां अकेले युष्मद्,अस्मद् शब्दों की वृद्ध संज्ञा भी न हो सकेगी। उससे इष्ट 'छ' प्रत्यय नहीं सिद्ध हो सकेगा।

और यदि "त्यदादीनि च" सूत्र में ऊपर से "यस्याचामादि ग्रहण" की अनुवृत्ति नहीं मानी जाती है तो इससे आगे आने वाले "एङ् प्राचां देशे"[26] इस सूत्र में "यस्याचामादिग्रहण" पुनः करना होगा। क्योंकि उस सूत्र में "यस्याचामादि" ग्रहण करना अभीष्ट है। इस विषम समस्या का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि हम ऊपर से "यस्याचामादिग्रहण" की अनुवृत्ति मानेंगे। यदि यह कहा जाए कि फिर

"त्वात्पुत्राः" "मात्पुत्राः" ये कैसे बनेंगे तो इसका उत्तर है कि सम्बन्ध का अनुवर्तन किया जाएगा। तदनुसार पहला सूत्र- "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्"[27] यह सूत्र वृद्ध संज्ञा करता है। इसमें तो "यस्यामादिग्रहण" साक्षात् है ही। आगे आया "त्यदादीनि च", उसमें "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्" यह सम्पूर्ण सूत्र अनुवृत्त होगा। वहाँ "यस्याचामादि" ग्रहण का वृद्धि से सम्बन्ध होने के कारण उसका "त्यदादीनि च" के साथ सम्बन्ध नहीं होगा। वृद्ध संज्ञा तो त्यदादियों की हो जाएगी किन्तु "यस्याचामादि" ग्रहण का वृद्धि से सम्बन्ध होने के कारण वह व्यर्थ हो जाएगा। क्योंकि केवल त्यदादियों में तो एक भी शब्द ऐसा नहीं जिसके आदि में वृद्धसंज्ञक अक्षर हो। "त्यदादीनि च" के बाद आया "एङ् प्राचां देशे", उसमें "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्" इस सम्पूर्ण सूत्र में से वृद्धि ग्रहण हटाकर शेष अंश की अनुवृत्ति हो जाएगी तो "एङ् प्राचां देशे" में "यस्याचामादि" ग्रहण रह जाएगा।

इस तरह "यस्याचामादि" ग्रहण को केवल बीच में जाने वाले "त्यदादीनि च" से ही हटाना है और वह इस लोक न्याय के आधार पर हट जाएगा कि जैसे लोक में कोई आदमी जंगल के आ जाने पर भयवश रक्षक पुरुषसमूह का आश्रयण कर लेता है किन्तु जब वह जंगल से पार हो जाता है तो रक्षक पुरुषसमूह को अनावश्यक समझकर छोड़ देता है। वैसे ही यहाँ "त्यदादीनि च" सूत्र में भी रक्षक पुरुषसमूह रूप "वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्" इस सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति आती है जिससे "यस्याचामादि" ग्रहण वृद्धि से ही सम्बद्ध रहे, त्यदादियों से उसका सम्बन्ध न हो सके। फलतः केवल त्यदादियों की ही वृद्ध संज्ञा हो और आगे "एङ् प्राचां देशे" सूत्र में "वृद्धिग्रहणरहित" यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्" की अनुवृति बनी रहे। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[28] सम्बन्ध के विषय में अग्रिम 'अग्नौ करवाणि' न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य है, तद्यथा–

11. अग्नौ करवाणि न्याय

"अथवा पुनरस्त्वयमेव विग्रहः के सब्रह्मचारिणोऽस्येति। ननु चोक्तं-कठ इति प्रतिवचनं नोपपद्यते इति। नैष दोषः। अग्नौ करवाणि न्यायेन भविष्यति। तद् यथा-कश्चित् कंचिदाह-अग्नौ करवाणीति। कुर्विति कर्तर्यनुज्ञाते कर्माप्यनुज्ञातं भवति। अपर आह-अग्नौ करिष्यते इति। क्रियतामिति कर्मण्यनुज्ञाते कर्ताप्यनुज्ञातो भवति। यथैव खल्वपि के सब्रह्मचारिणोऽस्येति कठा इत्युक्ते सम्बन्धादेतद् गम्यते नूनं सोऽपि कठ इति। एवं कठ इत्युक्ते सम्बन्धादेतद् गन्तव्यं स्यात् नूनं तेऽपि कठा इति। न खल्वपि ते शक्याः समासेन प्रतिनिर्देष्टुम्। उपसर्जनं हि ते भवन्ति।[29]"

"अनेकमन्यपदार्थे" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने पूछा है कि "किंसब्रह्मचारी" शब्द में क्या समास है और क्या विग्रह है ? उत्तर दिया है कि यहाँ बहुव्रीहि समास है और 'के सब्रह्मचारिणोऽस्य' यह इसका विग्रह है। फिर पूछा है कि "के सब्रह्मचारिणोऽस्य'

इस विग्रह में 'कठः' यह एकवचनान्त प्रत्युत्तर नहीं बनता। 'कठाः' यह बहुवचनान्त प्रत्युत्तर होना चाहिए। क्योंकि **'अस्य के सब्रह्मचारिणः'** (इसके साथी कौन हैं) इस प्रश्न में बहुवचन का प्रयोग है इसलिए उत्तर में भी 'कठाः' यह बहुवचन का ही प्रयोग होना चाहिए। इस प्रकार विचार करते हुए भाष्यकार अन्त में **'के सब्रह्मचारिणोऽस्य'** इसी विग्रह पर आ जाते हैं और "कठः" इस एकवचनान्त उत्तर का समाधान करते हैं। वे कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। **'अग्नौ करवाणि'** न्याय से इसका समाधान हो जाएगा, जैसे कोई किसी से कहता है कि **"अग्नौ करवाणि"** (क्या मैं अग्नि में हवि का आधान करूँ ?) तो वह उत्तर देता है कि **'कुरु'** (करो)। यहाँ **'कुरु'** इस कर्तृवाच्य की क्रिया से **कर्ता का ज्ञान** हो जाने पर **हविरूप कर्म का भी ज्ञान** आक्षिप्त हो जाता है। दूसरा कहता है कि **"अग्नौ करिष्यते"** (अग्नि में हवि का आधान किया जाएगा) यहाँ **'करिष्यते'** इस कर्मवाच्य क्रिया से **कर्म का ज्ञान** हो जाने पर **कर्ता का भी ज्ञान अर्थादाक्षिप्त** हो जाता है।

जैसे **"के सब्रह्मचारिणोऽस्य"** इस प्रश्न का 'कठाः' यह बहुवचनान्त उत्तर देने पर **'सम्बन्ध'** से यह जाना जाता है कि वह भी कठ ही होगा। क्योंकि जब उसके साथी सब कठ हैं तो वह भी कठ के सिवाय और क्या हो सकता है ? इसी प्रकार 'कठः' यह एकवचनान्त उत्तर देने पर भी **'सम्बन्ध'** से यह जाना जाएगा कि अवश्य वे भी कठ ही हैं। **"किंसब्रह्मचारी असौ"** (वह कौन साथी वाला है) के उत्तर में 'कठः' कहने पर उसके साथी सब कठ ही समझे जाएंगे। उन साथियों का 'कठाः' इस बहुवचन से निर्देश नहीं किया जा सकता। क्योंकि बहुव्रीहि समास में वे सब उपसर्जनीभूत हैं। **मुख्य समासार्थ तो एकवचनान्त कठ ही हो सकता है।** **'किंसब्रह्मचारी'** यह प्रथमान्त है तो इसका उत्तर भी 'कठः' इस प्रथमान्त से ही युक्तिसंगत है। इसके विपरीत समासार्थ विग्रह वाक्य में **'के सब्रह्मचारिणोऽस्य'** इस बहुवचनान्त का 'कठाः' इस बहुवचनान्त से ही उत्तर दिया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि **'किंसब्रह्मचारी'** यह समास का पद है। इसका अर्थ एकवचनान्त है। इसलिए प्रत्युत्तर में भी 'कठः' यह एकवचनान्त का प्रयोग होता है। विग्रह में यद्यपि **'के सब्रह्मचारिणोऽस्य'** यह बहुवचनान्त है इसलिए इसका उत्तर तो 'कठाः' इस बहुवचनान्त से ही होगा तथापि समस्त बने हुए **'किंसब्रह्मचारी'** शब्द का उत्तर 'कठः' इस एकवचनान्त से ही संभव है। विग्रहवाक्य में उत्तर बहुवचनान्त होगा और समस्त पद में एकवचनान्त होगा, जैसे- **'के सब्रह्मचारिणोऽस्य-कठाः। किंसब्रह्मचारी असौ-कठः। यस्य सब्रह्मचारिणः कठाः सन्ति स किंसब्रह्मचारी कठः'**। इसलिए **'अग्नौ करवाणि'** न्याय से जिस प्रकार **कर्ता के ज्ञात हो जाने पर कर्म का ज्ञान सम्बन्धात्** आक्षेपलभ्य है और **कर्म के ज्ञान से कर्ता का ज्ञान आक्षेपलभ्य है** उसी प्रकार **'किंसब्रह्मचारी'** इस समस्त पद का **'के सब्रह्मचारिणोऽस्य'** यह विग्रह होने पर समासार्थ की दृष्टि

से 'कठः' यह प्रत्युत्तर ठीक ही है। समास में अभेदैकत्वसंख्या का बोध होने से गुणभूत **'सब्रह्मचारी'** का बहुत्व उक्त न्याय से आक्षिप्त या समझ लिया जाएगा। यह न्याय शास्त्रीय होता हुआ भी लोक का उपकारक है अतः इसे लोकन्याय शब्द से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं है।

12. आवनान्तात् ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत् न्याय

"एवं तर्हि लोकत एतत् सिद्धम्। तद् यथा लोके आवनान्तात्, ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत् इति। य एव प्रथमो वनान्तः उदकान्तश्च आ ततोऽनुव्रजाति"[30]।

प्राग्रीश्वरान्निपाताः "सूत्र में 'रीश्वर' शब्द का ग्रहण इसलिए किया गया है कि "अधिरीश्वरे[31]" इस सूत्र में पठित 'रीश्वर' शब्द से पहले-पहले निपात संज्ञा का अधिकार हो, आगे "ईश्वरे तोसुन्कसुनौ"[32] इस सूत्र के 'ईश्वर' शब्द तक अधिकार न जाए। यदि 'रीश्वर' शब्द की जगह 'ईश्वर' शब्द पढ़ा जाए तो वहाँ तक निपात संज्ञा का अधिकार जाने की संभावना रहती। अब साक्षात् 'रीश्वर' शब्द जहाँ पढ़ा है, उससे पूर्व तक ही निपात संज्ञा रहेगी। आगे उसका अधिकार नहीं जाएगा तो इष्ट सिद्धि हो जाएगी।

इस पर भाष्यकार कहते हैं कि यदि **'रीश्वर'** शब्द न पढ़कर केवल **'ईश्वर'** ही पढ़ दिया जाए तो भी कोई दोष नहीं आता अर्थात् तब भी **"अधिरीश्वरे"** तक ही निपात संज्ञा का अधिकार सिद्ध हो जाता। पूछते हैं कि कैसे ? तो उत्तर देते हैं कि लोक से यह बात सिद्ध हो जाती है। जैसे लोक में यह कहते हैं कि **वनप्रदेश या जल प्रदेश आने तक अपने प्यारे पथिक का अनुगमन करें। अब वहाँ जो पहला वन प्रदेश या जलप्रदेश आ जाता है, वहीं तक अपने प्रिय पथिक का अनुगमन करते हैं। आगे आने वाले अन्य वनप्रदेश या जल प्रदेश तक अनुगमन नहीं करते।**

भाव यह है कि लोक में दो न्याय प्रसिद्ध हैं—व्यप्ति न्याय और प्रत्यासत्ति जोकि लक्ष्यानुरोध से व्यवस्थित हैं। परन्तु ऐसे प्रसङ्गों में लोक में **प्रत्यासत्ति न्याय** का ही आश्रयण किया जाता है, जैसे—**'कपिञ्जलानालभेत'** यहाँ यद्यपि **'कपिञ्जलान्'** में बहुवचन के कारण व्याप्ति न्याय द्वारा सकल कपिञ्जलों का आलम्भन प्राप्त होता है परन्तु वैसा सम्भव न होने से फिर किन्हीं का ही आलम्भन करते समय सन्देह होता है कि प्रत्यासत्ति न्याय से तीन कपिञ्जलों का ही आलम्भन किया जाए अथवा व्यप्ति न्याय से चार आदि का ? ऐसी स्थिति में लोकव्यवहार को महत्त्व देते हुए यहाँ **प्रत्यासत्ति न्याय** ही स्वीकार किया गया है।[33] क्योंकि शास्त्र में लोकव्यवहार अङ्गीकृत किया जाता है। साथ ही इससे शास्त्रवचन का पालन भी हो जाता है अन्यथा **प्रत्यवायभाक्** होने का भय था। इसी प्रकार यहाँ शास्त्र में भी **लक्ष्यानुरोधात् प्रत्यासत्ति न्याय** से जो प्रथम 'ईश्वर' शब्द आएगा उससे पूर्व तक ही निपात संज्ञा होगी। बाद में आने वाले 'ईश्वर' शब्द तक नहीं जाना होगा। उससे **"अधिरीश्वरे"** सूत्र में पठित **'ईश्वर'**

शब्द से पूर्व तक ही निपात संज्ञा होकर इष्ट सिद्ध हो जाएगा। इस तरह "ईश्वरे तोसुन्कसुनौ" वाले 'ईश्वर' शब्द तक जाने की आवश्यकता नहीं होगी तो 'रीश्वरे' शब्द न पढ़कर केवल 'ईश्वर' शब्द ही पढ़ना चाहिए। 'ईश्वर' शब्द के पढ़ने में रेफ की बचत भी हो जाएगी।

वैसे आगे चलकर इसी सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने "लौकिकं चातिवर्तते" कहकर रेफाधिक 'ईश्वर' शब्द अर्थात् यथास्थित 'रीश्वर' को ही स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि लोक में ही कभी-कभी लोकव्यवहार का अतिक्रमण भी देखा जाता है, तद्यथा– "द्वितीयं तृतीयं च वनान्तमुदकान्तं वानुव्रजन्ति। तस्माद्रेफाधिक ईश्वर शब्दो ग्रहीतव्यः" अर्थात् यदि पास का कूआ खारे जल का है तो मीठे जल वाले दूर के कूए पर भी जाना पड़ता है। इसी तरह स्नेहातिशय के कारण छोड़ने के लिए दूसरे-तीसरे वनप्रदेश या जलप्रदेश तक भी कार्यवश एवं कारणवश जाना पड़ता है। जहाँ तक 'कपिञ्जलान्' का सम्बन्ध है तो यहाँ "प्रथमातिक्रमे कारणाभावः' इस न्याय से चार आदि कपिञ्जलों के आलम्भन का निषेध हो जाएगा। फलतः शास्त्रवचन की मर्यादा रखते हुए केवल प्रथम तीन कपिञ्जल ही आलम्भनीय होंगे। इसके विपरीत "न हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि" इस वचन में लक्ष्यदर्शनवशात् किसी विरोधक हेतु या न्याय आदि न होने कारण यहाँ व्यप्ति न्याय का आश्रयण किया जाता है। इसलिए लोकन्याय भी अपने-अपने विषय में व्यवस्थित हैं, उनके आश्रयण से ही यहां रेफाधिक ईश्वर शब्द का ग्रहण सिद्ध होता है।भाव की दृष्टि से प्रकृत न्याय को कपिञ्जलालभ्भन न्याय की तुलना में रखा जा सकता है जिसकी व्याख्या यथास्थान द्रष्टव्य है।[34] उक्त "आवनान्तात् ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत्" यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[35]

13. दूरात् कुपिताद् गुरोः न्याय

"न वा तत्रपि दर्शनादप्रतिषेधः। न वा तत्रापि दर्शनात् पञ्चम्याः प्रतिषेधोऽनर्थकः। तत्रापि पञ्चमी दृश्यते–

"दूरादावसथान्मूत्रं दूरात् पादावसेचनम्।
दूराच्च भाव्यं दस्युभ्योः दूरात् कुपिताद् गुरोः"।[36]

"दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार "दूरान्तिकार्थेभ्यः पञ्चमीविधाने तद्युक्तात् पञ्चमीप्रतिषेधः" इस वार्तिक का खण्डन करते हुए एक प्राचीन श्लोक के द्वारा 'दूर' शब्द को लेकर एक बड़ी उपयोगी लौकिक नीति का उपदेश करते हैं कि 'दूर' शब्द के योग में भी पञ्चमी विभक्ति दिखाई देती है। अतः उक्त वार्तिक से इसका निषेध करना अप्रयोजक है। 'दूर' शब्द को लेकर वह पञ्चमी प्रयोग इस प्रकार है–'दूरादावसथान्मूत्रम्' इत्यादि। इसका अर्थ है कि मलमूत्र आदि को मठ या अग्निहोत्रशाला या निवास स्थान से दूर विसर्जन को करना चाहिए तथा

इसी प्रकार पैरों का प्रक्षालन भी अग्निहोत्र शाला से दूर ही करना चाहिए। दस्युओं से भी दूर ही रहना चाहिए तथा क्रोधित गुरु से भी दूर ही रहना चाहिए। इसी तरह श्लोक में कितनी लौकिक न्यायपूर्ण बात कही गई है। यदि आवासस्थान या अग्निहोत्र-शाला से दूर मलमूत्र का त्याग नहीं किया जाएगा तो घर अपवित्र हो जाएगा।[37] इसी तरह यदि दस्युओं से दूर नहीं रहा जाएगा तो कोपभाजन होकर अभिशप्त भी होना पड़ सकता है।

इस तरह लौकिक दृष्टि से उपयुक्त चार स्थितियों में दूर रहना ही न्यायपूर्ण है। ऐसी स्थिति में जब इस प्रामाणिक श्लोक में 'दूर' शब्द के योग में जहाँ से दूर रहना बताना विवक्षित है, उस आवसथ आदि शब्दों में पञ्चमी दृष्टिगोचर होती है तो उससे सिद्ध होता है कि 'दूर' शब्द के योग में पञ्चमी ही अभियुक्तोक्ति है। फलतः उक्त वार्तिक वचन प्रत्याख्येय है।

14. नाऽसूया कर्त्तव्या यत्राऽनुगम आचार्येण क्रियते न्याय

"यद्यपि अङ्गस्येत्यस्येवास्यापि व्याख्यानात् क्वचिदवयवषष्ठीत्वं वक्तु शक्यं तथापि नासूया कर्तव्या यत्रानुमः क्रियते इति न्यायेनान्तग्रहणम्।"[38]

यह न्याय 'बृहच्छब्देन्दुशेखरकार' ने 'पदस्य' सूत्र के व्याख्यान में लिखा है। इसका अर्थ यह है कि इस बात से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए कि आचार्य ने यह बात यहीं क्यों लिखी है, अन्यत्र क्यों नहीं ? या कुछ शब्दों का तो अन्वाख्यान कर दिया तथा कुछ का नहीं। तदनुसार "पदस्य" इस षष्ठी को कहीं पर तो स्थान षष्ठी माना जाता है और कहीं पर अवयवषष्ठी अर्थात् कहीं तो पद के अवयव को कार्य होता है और कहीं पद के स्थान में कार्य होता है। किन्तु ऐसा होने पर भी "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य"[39] इस सूत्र में 'अन्त' ग्रहण क्यों किया गया है ? सम्भवतः इसका अर्थ यह सूचित करना है कि प्रातिपदिकसंज्ञक जो पद, उसके अन्तिम नकार का लोप होता है। इस प्रकार आचार्य ने सूत्र में 'अन्त' ग्रहण इसलिए कर दिया है जिससे "पदस्य" यह स्थानषष्ठी न होकर अवयवषष्ठी बन जाए अर्थात् पद के अवयव नकार का लोप होता है, साक्षात् पूरे नकारान्त पद का लोप नहीं होता।

अब यहाँ यह कहना कि जब पदस्य में अवयवषष्ठी मानते ही हैं तो "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" में 'अन्त' ग्रहण करने की क्या आवश्यकता है ? जैसे– "अङ्गस्य"[40] सूत्र में जो षष्ठी है वह लक्ष्यानुरोध से कहीं पर अवयवषष्ठी भी है और कहीं पर स्थानषष्ठी भी। इसी प्रकार लक्ष्यानुरोध से ही पदस्य प्रातिपदिकान्तस्य यह भी अन्तग्रहण के बिना ही अवयवषष्ठी समझ ली जाएगी तो यह ठीक नहीं। क्योंकि यह तो लक्ष्यानुरोध से व्यवस्था है। अतः वहाँ यह असूया नहीं करना कि "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" में 'अन्त' ग्रहण किया और 'पदस्य' में नहीं किया। यह असूया करना व्यर्थ है। क्योंकि आचार्य ने जहाँ भी किया है वही ठीक समझना चाहिए। उसके साथ ही यह भी अवधेय

है कि उन्होंने **अनुगम** ही किया है, कोई **निषेध** तो नहीं किया। इसी प्रकार "**पंक्तिविंशतित्रिंशत्**"[41] इत्यादि सूत्र में स्वयं भाष्यकार ने भी इस न्याय को लिखा है। वहाँ भी यही बात है कि कोई यह असूया या निन्दा करने लगे कि आचार्य ने केवल **पंक्ति विंशति** इत्यादि सौ संख्या तक शब्द ही क्यों गिनाए, हजार-लाख तक क्यों नही गिनाए तो उसका उत्तर देते हुए भाष्यकार ने यह न्याय दिया है जिसमें समझाया है कि आचार्य ने 10 से लेकर 100 तक जो संख्याएं गिना दी हैं, वे उपलक्षण हैं। इसी प्रकार हजार, लाखों तक संख्या समझ लीजिए। आचार्य की रचना में असूया क्यों करते हैं ? अन्ततः **उन्होंने कुछ दिया ही है, लिया तो कुछ नहीं**– इस प्रकार इस न्याय से बहुत लाभ होते हैं।[42] यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ देखा जा सकता है।[43]

15. सुभिक्षपुर न्याय/पुराणि राज्ञां विनयन्ति कोपम् न्याय

"**पुरशब्दोऽयमकारान्तस्तेन समासो भविष्यति। एवं ह्याह-क्षेमे सुभिक्षे कृतसंचयानि पुराणि राज्ञां विनयन्ति कोपमिति।**"[44]

"**समासान्ताः**" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार 'पुर' शब्द को अकारान्त सिद्ध करते हुए एक प्राचीन लोकप्रसिद्ध किसी कवि के श्लोक को उद्धृत करते हैं। तदनुसार सुकाल के समय अच्छी प्रकार अन्न संचय करने वाले पुर (नगर)राजाओं के कोप को दूर कर देते हैं। यहाँ इस श्लोक में 'पुर' शब्द अकारान्त प्रयुक्त हुआ है। इसलिए न केवल 'पुर्' यह हलन्त शब्द है प्रत्युत 'पुर' यह अकारान्त शब्द भी लोक साहित्य में प्रचलित है। ऐसी स्थिति में द्विपुरी, त्रिपुरी में "**ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे**"[45] से 'पुर्' इस हलन्त शब्द से समासान्त अकार प्रत्यय करने की आवश्यकता नहीं है। "**द्वयोः पुरयोः समाहारः द्विपुरी**" यह रूप अकारान्त 'पुर' शब्द से ही "**द्विगोः**"[46] सूत्र से ङीप् होकर सिद्ध हो जाएगा।

16. द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति न्याय

"**अथवा हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवतीत्येषा वा परिभाषा कर्त्तव्या। किमर्थमिदमुभयमुच्यते ? न हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवदित्येवोच्येत स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवदिति वा। द्विर्बद्धं सुबद्धं भवतीति**"।[47]

"**समासस्य**" सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि '**राजदृषत् ब्राह्मणसमित्**' इत्यादि हलन्त समास स्थलों में "**समासस्य**" से अन्तोदात्त स्वर कैसे होगा ? क्योंकि जो अन्त में है, वह हल् होने से स्वर के योग्य नहीं है। और जो उदात्त स्वर के योग्य अकार इकार हैं, वे अन्त में नहीं हैं। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि **स्वरविधि में व्यञ्जन अविद्यमानवत्** माना जाता है। "**स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवति**"[48] यह परिभाषा है। इसका अर्थ है कि स्वर की प्राप्ति में **व्यञ्जन को विद्यमान नहीं माना जाता**। अथवा विद्यमान होता हुआ भी व्यञ्जन स्वरविधि में अविद्यमान ही समझा

जाता है। उससे '**राजदृषत् ब्राह्मणसमित्**' इत्यादि स्थलों में हल् तकार के **अविद्यमानवत्** होने से अन्त में अकार इकार ही माने जाएंगें तो उन्हें अन्तोदात्त स्वर सिद्ध हो जाएगा। इसी बात की पुष्टि के लिए भाष्यकार कहते हैं कि अथवा "**हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवति**" यह परिभाषा बना दी जाएगी जिसका अर्थ होगा कि हल् को स्वर प्राप्त होने पर हल् या व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है। बात एक ही है।

इस पर भाष्यकार पूछते हैं कि फिर ये दो परिभाषाएं क्यों बनायी जाएं ? या तो "**हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवति**" यही रख ली जाए अथवा "**स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवद् भवति**" यह रख ली जाए। इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार यह लोक न्याय उपस्थित करते हैं कि दोनों ही रख ली जाएं। क्योंकि लोक में हम देखते हैं कि **जिस बात को बार-बार कहा जाता है वह और अधिक स्थिर, पक्की या मजबूत हो जाती है** अर्थात् एक बार कही हुई बात उतनी मजबूत नहीं होती जितनी दो बार कही हुई हो जाती है।[49] **द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति**" इस लोक न्याय का समानार्थक ही '**स्थूणानिखनन न्याय**' है। गड़े हुए खूंटे को मजबूत करने के लिए उसे दोबारा ठोकते हैं जिससे वह हिले नहीं और मजबूत बना रहे।

उक्त दोनों परिभाषाओं का तीसरा स्वरूप भी भाष्य में अन्यत्र प्रकट हुआ है– "**स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्**"। उसका भी भाव यही है कि स्वरविधान में व्यञ्जन को विद्यमान नहीं माना जाता, वह अविद्यमानवत् ही रहता है। उससे 'दधि' यहाँ उदात्त अकार से परे अनुदात्त इकार को "**उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः**"[50] से स्वरित करने में धकार व्यञ्जन अविद्यमानवत् होने से व्यवधायक नहीं होगा। वास्तव में '**हल्स्वरप्राप्तौ**' या '**स्वरप्राप्तौ**' इन दोनों की अपेक्षा '**स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत्**' यही उपोदय है।[51] वे दोनों भी रहें तो भी हानि तो कुछ नहीं है। क्योंकि जहाँ हल् को स्वर प्राप्त है वहाँ उनका उपयोग हो सकता है। 'दधि' में तो हल् को कोई स्वर प्राप्त नहीं है इसलिए '**स्वरविधौ**' से ही वहाँ व्यवस्था होगी।

उक्त परिभाषा का ज्ञापक "**यतोऽनावः**"[52] इस सूत्र में किया गया '**अनावः**' यह नौ' शब्द का प्रतिषेध ही है। '**यतोऽनावः**' यह सूत्र द्व्यच् '**यत्**' प्रत्ययान्त शब्द को आद्युदात्त करता है, '**नौ**' शब्द को छोड़कर। यह "**तित्स्वरितम्**"[53] से प्राप्त स्वरित का अपवाद है। '**नाव्यम्**' इसका प्रत्युदाहरण है। "**नावा तार्यं नाव्यम्**" यहाँ '**नौ**' शब्द से "**नौवयोधर्मविषमूल**"[54] सूत्र से '**तार्य**' अर्थ में '**यत्**' प्रत्यय होने पर "**वान्तो यि प्रत्यये**"[55] से वान्तादेश होकर '**नाव्यम्**' बन जाता है। अब यहाँ जो आदि में नकार है, वह तो हल् होने से स्वर के योग्य नहीं है और जो स्वर के योग्य आकार है, वह आदि में नहीं है। ऐसी स्थिति में '**नाव्यम्**' में आद्युदात्त स्वर प्राप्त ही नहीं। फलतः '**अनावः**' यह निषेध करना व्यर्थ है। जब तो स्वरविधि में **व्यञ्जन अविद्यमानवत्** माना जाता

है तब तो नकार व्यञ्जन के अविद्यमानवत् होने से आदि में आकार मिल जाता है और उसको आद्युदात्त स्वर रोकने के लिए 'अनावः' यह निषेध चरितार्थ हो जाता है। अतः नावम् में आद्युदात्त स्वर न होकर "तित् स्वरितम्" से अन्तस्वरित ही होता है। इससे "स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवद्भवति" यह परिभाषा ज्ञापित हो जाती है। पदमञ्जरीकार ने प्रकृत न्याय को परिभाषा कहते हुए इसे न्यासान्तरित भी किया है–"तथा च परिभाषा, 'सकृद्बद्धमनित्यं द्विर्बद्धं च सुबद्धम्' इति।[56] उक्त "द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति" न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[57]

17. सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति न्याय

"न ह्यनसूयन् कुत्सयति, न चाप्यकुपितो भर्त्सयते। ननु च भो अकुपिता अपि दृश्यन्ते दारकान् भर्त्सयमानाः। अन्ततस्ते तां शरीराकृतिं कुर्वन्ति या कुपितस्य भवति। एवं तर्ह्याह–

"सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः॥"[58]

"वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि लोक में हम देखते हैं कि 'असूया' अर्थात् ईर्ष्यारहित हुआ मनुष्य किसी की निन्दा नहीं करता और 'कुपित' हुए बिना मनुष्य किसी की घुड़कना या प्रताड़ना नहीं करता। ऐसी अवस्था में 'असूया' और 'कुत्सन' तथा 'कोप' और 'भर्त्सन' इनके समानार्थक होने के कारण "वाक्यादेरामन्त्रितस्य" इस सूत्र में असूया और कोप का ग्रहण ही पर्याप्त है। 'असूया' के साथ 'कुत्सन' का और 'कोप' के साथ 'भर्त्सन' का पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है। इस शङ्का का निवारण करते हुए भाष्यकार उक्त लोकन्याय प्रदर्शित करते हैं कि 'कोप' के बिना भी माता-पिता अपने बच्चों को घुड़काते नजर आते हैं। जब किसी दोष पर माता-पिता अपने बच्चों को घुड़काते या प्रताड़ना करते हैं तब उस 'भर्त्सना' या प्रताड़ना में कोप नहीं होता अपितु उनके सुधार की भावना होती है।

यदि यह कहा जाए कि घुड़काते हुए माता-पिता की शरीराकृति भी अन्ततः कुपित के समान नजर आती ही है। और बिना क्रोध किए वे धुड़का नहीं सकते तो इसका उत्तर है कि वास्तव में उनको क्रोध नहीं आता। वे तो परहितरत होते हुए घुड़काते हैं। इसलिए 'कोप' से पृथक् 'भर्त्सन' का ग्रहण करना उचित ही है। माता, पिता, गुरु आदि अपने बच्चों की जो किसी दोष पर निन्दा करते हैं, उस निन्दा या कुत्सन में किसी प्रकार की 'असूया' एवं ईर्ष्या नहीं होती। इसलिए 'असूया' से पृथक् 'कुत्सन' का ग्रहण करना भी संमुचित ही है। इसी बात को भाष्यकार स्वनिर्मित श्लोक द्वारा प्रतिपादित करते हैं- "सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति" इत्यादि। इसका भाव यह है कि गुरु लोग अमृतभरे हाथों से शिष्यों की प्रताड़ना करते हैं, विषोक्षित अर्थात् विष भरे हाथों

से प्रताड़ना नहीं करते अर्थात् वे उनके सुधार के लिए ही दण्ड देते हैं। उस दण्ड में ईर्ष्या या क्रोध नहीं होता। क्योंकि वे जानते हैं कि अधिक लालन-पालन करने से शिष्यों में दोष पैदा हो जाते हैं और समय-समय पर दण्ड देते रहने से उनमें गुणों का आधान होता है। इसलिए असूयारहित 'कुत्सन' और कोपरहित 'भर्त्सन' भी लोक में दृष्टिगोचर होता है तो चारों का ग्रहण सूत्र में यथावत् उपपन्न हो जाता है। पदमञ्जरीकार ने भी उक्त न्याय को उद्धृत किया है।[59]

18. यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् न्याय

वैयाकरण निकाय में यह एक सुप्रसिद्ध न्याय है। तदनुसार "त्रिमुनि व्याकरणम्" इस आभाणक के आधार पर पाणिनीय व्याकरण के आश्रयभूत अभियुक्ततर ये तीन मुनि हैं–सूत्रकार पाणिनि, वार्तिककार कात्यायन तथा भाष्यकार पतञ्जलि। प्रकृत न्याय से इन तीनों मुनियों के वचनों में उत्तरोत्तर का प्रामाण्य अधिक ज्ञापित किया गया है अर्थात् शब्द के विषय में पूर्ववर्ती पाणिनि मुनि की अपेक्षा उत्तरवर्ती कात्यायन का वचन तथा पूर्ववर्ती कात्यायन की अपेक्षा पश्चाद्वर्ती पतञ्जलि का वचन अधिक प्रमाणत्वेन ग्राह्य है। ध्यातव्य है कि वैसे अन्य शास्त्रों या लोक में तो प्रायः यह अधिक समीचीन माना जाता है कि परवर्ती आचार्य की अपेक्षा पूर्ववर्ती आचार्य का ही कथन अधिक प्रमाणरूप में स्वीकार्य होता है। किन्तु व्याकरणशास्त्र का यह न्याय इस परम्परा का अपवादस्वरूप होते हुए परवर्ती उत्तरोत्तर के वचन को अधिक मान्य अनुमोदित करता है। व्याख्याकारों ने इस उत्तरोत्तर प्रामाण्य का वैज्ञानिक आधार उत्तरोत्तर के द्वारा अधिक लक्ष्य का दर्शन करना दिया है[60] जोकि भाषाविकास की प्रक्रिया को देखते हुए सर्वथा स्वाभाविक तथा न्याय्य ही है।

परन्तु आश्चर्य तो तब होता है कि जब क्रान्तदर्शी, स्थिरपीत एवं शब्दयोगी स्वयं पाणिनि भी मौन संवेदनरूप अपने सूत्ररचनावैचित्र्य द्वारा इस न्याय को समर्थित करते है। तद् यथा-आचार्य पाणिनि धिनोति, कृणोति इन रूपों की सिद्धि के लिए "धिन्विकृण्व्योर च"[61] सूत्र द्वारा धिन्व, कृण्व् धातुओं से उ प्रत्यय तथा साथ ही अन्तिम वकार को अकार आदेश भी सन्नियोगशिष्ट करते हैं। बाद में आर्धधातुकसंज्ञक इस उ प्रत्यय के परे रहते वकारस्थानिक अकार का "अतो लोपः"[62] सूत्र से लोप हो जाता है जिससे उसके स्थानिवद्भाव से धिनु, कृणु इनको अनिष्ट लघूपध गुण नहीं होता। किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि आचार्य ने यह द्रविड़ प्राणायाम या वक्र पन्था क्यों अपनाया कि पहले तो उन्होंने वकार को अकार किया और फिर उसका लोप किया। इसकी अपेक्षा क्या यह अधिक अच्छा नहीं रहता कि "धिन्विकृण्व्योर च" इस उक्त सूत्र को "धिन्विकृण्व्योर्लोपश्च" ऐसा ही बना देते। इससे उ प्रत्यय तथा वकारलोप दोनों सिद्ध हो सकते थे और रूपसिद्धि में भी कोई बाधा नहीं आती।

यदि यहाँ यह कहा जाए कि "लोपश्च" कहकर वकार का सीधा लोप कर

देने पर अब यह वलोप अजादेश नहीं हो सकता। फलतः "**स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ**[63]" सूत्र से स्थानिद्भाव न हो सकने के कारण फिर अनिष्ट लघूपधगुण प्रसक्त हो जाएगा और **धेनोति, कर्णोति** ये अनिष्ट रूप प्राप्त हो जाएँगे तो यह ठीक नहीं। क्योंकि सीधा वलोप कर देने पर भी अनिष्ट लघूपधगुण नहीं होगा। "**न धातुलोप आर्धधातुके**[64]" सूत्र इक् को गुण का निषेध कर देगा। जैसे वकार के स्थान में अकार करने पर फिर उसका लोप करके उसके स्थानिवद्भाव द्वारा गुण रोका जाता है वैसे ही वकार का सीधा लोप कर देने पर भी "न धातुलोप" सूत्र से गुणनिषेध सिद्ध हो जाता है।

इस तरह **प्रक्रियालाघव सम्भव** होने पर भी जो आचार्य **प्रक्रियागौरव** का आश्रयण करते है, वह किंहेतुक है–यह विचारणीय है। परन्तु कारण का अनुसन्धान करने पर यह बात बुद्धिपथ में आती है कि यदि "न धातुलोप" यह सूत्र विद्यमान न हो जैसा कि आगे चलकर वार्तिककार ने इसका प्रत्याख्यान कर दिया है तो फिर उक्त गुण निषेध वाले प्रयोग कैसे बनेंगे ? यहाँ गुण कौन रोकेगा ? सम्भवतः क्रान्तदर्शी आचार्य पाणिनि ने इस बात को अनुभव किया कि यद्यपि मैंने तो यह सूत्र बना दिया है परन्तु पश्चाद्वर्ती कात्यायन के द्वारा इसका प्रत्याख्यान कर दिया जाएगा और तब, संभव है, **सूत्रकार के मत की अपेक्षा प्रत्याख्यानवादी का मत लोक में अधिक प्रबल माना जाए।** उस अवस्था में फिर उक्त प्रयोगों में "न धातुलोप" सूत्र के प्रत्याख्यात हो जाने के कारण गुण कौन रोकेगा ? सम्भवतः सूत्रकार और प्रत्याख्यानवादी के विप्रतिषेध में तब उत्तरवर्ती तथा अधिक लक्ष्यदर्शी प्रत्याख्यानवादी का मत ही बलवान् माना जाएगा-इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आचार्य यथास्थित सूत्रन्यास अपनाते हैं और साक्षात् वकारलोप के स्थान पर पहले उसके स्थान में अकार करके फिर उसका लोप विधान करते हैं। इस तरह लघीयान् यत्न के स्थान पर गरीयान् यत्न **करने से यह अनुमान होता है** कि व्याकरणशास्त्र में "**यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्**" यह न्याय माना जाता है।[65] इस न्याय के आधार पर अनेक सूत्रग्रन्थियां तथा प्रयोग समाहित किए गये हैं, जैसे "**शश्छोऽटि**"[66] यह सूत्र तो अट्परक शकार को छकार करता है जबकि पाणिनि स्वयं "**गोत्रचरणाच्छ्लाघा**"[67] इस सूत्र में उक्त नियम का अतिक्रमण करते हैं। इसी तरह आचार्य पाणिनि संभवतः स्पष्ट प्रतिपत्ति की दृष्टि से "**शप्श्यनोर्नित्यम्**[68]" यहाँ तो शकार को छकार नहीं करते हैं किन्तु "**आच्छीनद्योर्नुम्**"[69] यहाँ शकर को छकार कर रहे हैं जोकि उनके स्वनियम के विरुद्ध है। परन्तु आचार्य प्रकृत न्याय को मान्यता देते हैं इसीलिए "**छत्वममीति वाच्यम्**"[70] इस वार्तिक वचन से ये प्रयोग सुसंगत हो जाते हैं अर्थात् प्रकृत न्याय से **शश्छोऽटि** के स्थान पर **शश्छोऽमि** यह वार्तिकप्रोक्त न्यासान्तर भी सूत्रकारसम्मत सिद्ध हो जाता है।

वास्तव में यदि देखा जाए तो प्रस्तुत न्याय से वर्तमानयुगीन बहुचर्चित विकासवाद

के सिद्धान्त का समर्थन ही ध्वनित होता है। काठकसंहिता का यह वचन भी इस विषय में उपोद्बलक है–"**भविष्यद्धि भूयो भूतात्**"[71]। इस न्याय का बहुत्र प्रयोग मिलने से सबका सन्दर्भ निर्देश नहीं किया गया है।

19. निरङ्कुशा कवयः न्याय/ छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति

"**गिरौ डश्छन्दसीति- यदि छन्दसीत्युच्यते, कथं गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी, आरोपितं यद् गिरिशेन पश्चात् इति? निरङ्कुशाः कवयः। अन्ये त्वाहुः इह यो गिरौ शेते गिरिशस्तस्यास्तीति लोमादिषु दर्शनाच्छप्रत्ययः। तथा चात्रैव वार्तिकम्– तद्धितो वेति। न च लोमादिष्वपि छन्दोग्रहणमस्ति। तेन भाषायामपि गिरिश इति भवति।**"[72]

"**अधिकरणे शेतेः**" सूत्रस्थ "**गिरौ डश्छन्दसि**" इस वार्तिक की व्याख्या करते हुए पदमञ्जरीकार कहते हैं कि यदि यहाँ 'छन्दसि' ग्रहण किया जाता है तो फिर "**गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी**"[73] इत्यादि कविप्रयोगों में गिरिश शब्द कैसे उपपन्न होगा ? क्योंकि तब तो लौकिक विषय होने के कारण पूर्वोक्त सूत्र से 'ट' प्रत्यय होकर 'गिरिशय' प्रयोग बनना चाहिए। इसके उत्तर में हरदत्त कहते हैं कि कवि लोग प्रायः निरङ्कुश होते हैं। अथवा कवि लोग छन्द या वेद के समान स्वतन्त्र होते हैं और कवयः किं न पश्यन्ति न्याय से इनके लिए क्या चीज परोक्ष है ? "जहां न पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि"। कहा भी है-

"अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यदस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥" (अग्निपुराण. 339.11)

अतः वे व्याकरण का अङ्कुश या नियम न मानकर वर्ण्य विषय की परिस्थिति के अनुसार यादृच्छिक प्रयोग भी कर देते हैं। अतः जैसे ऋषियों के प्रयोगों (वेदमन्त्रों) के विषय में दृष्टानुविधान कर लिया जाता है वैसे ही कवियों के विषय में भी कर लेना चाहिए। क्योंकि "छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति"[74] यह भाष्यवचन भी इसमें प्रमाण है। फलतः उक्त गिरिश शब्द लोक में प्रयोगार्ह न होने पर भी शिष्टकविप्रयुक्त होने से साधु ही मान लिया जाएगा। ध्यान रहे कि प्रायः सभी कवियों से कुछ ऐसे प्रयोग हो गए हैं कि जो पाणिनीय सूत्रों की साधारण व्याख्या के अनुसार व्याकरण की परिधि में समाहित नहीं हो पाते और आपाततः निरङ्कुश प्रयोग प्रतीत होते हैं। परन्तु वास्तव में ये निङ्रकुश न होकर दुर्घट प्रयोग होते हैं जिनके लिए ज्ञापक, योगविभाग, इष्टि, अनुवृत्ति आदि द्वारा सूत्रों की विशेष व्याख्या करते हुए उन्हें शास्त्रानुमोदित करना पड़ता है जोकि प्रतिव्यक्ति के सामर्थ्य पर निर्भर करता है। व्याकरणशास्त्र में दुर्घटवृत्ति इत्यादि ग्रन्थ इसी अभिप्राय को लेकर रचे गए हैं। फलतः प्रकृत में भी हरदत्त इसका समाधान देते हैं कि अथवा गिरि शब्द को लोमादिगण में मानकर 'श' प्रत्यय[75] होने से उक्त शब्द को साधु माना जा सकता है, जैसा कि वहाँ वार्तिक भी पठित है– "तद्धितो

वा"। और लोमादिगण में छन्दोग्रहण नहीं है। फलतः उससे लौकिक संस्कृत में भी गिरिश शब्द उपलब्ध हो जाता है। ऐसा करने से निघण्टु में गिरिश शब्द का पाठ भी उपपन्न हो जाता है।[76] वैसे कहीं-कहीं पर ऐसे प्रयोग प्रामादिक भी घोषित किए गए हैं जो अनेक समाधान देने पर भी वन्यगजशौच न्याय से दूषित ही रहते हैं।

20. न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते न्याय

"सर्वत्र च कर्तारं क्रियाफलमभिप्रैति.... न हि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते इति न्यायादिति भावः।"[77]

इस न्याय का निर्देश उद्द्योतकार ने "स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" इस सूत्र के भाष्यस्थ" "सर्वत्र च कर्तारं क्रियाफलमभिप्रैति" इस कथन की व्याख्या में किया है। इसका अर्थ है कि प्रयोजन को बिना विचारे तो मूर्ख मनुष्य भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता अर्थात् मूर्ख से मूर्ख मनुष्य भी किसी कार्य को करने से पहले यह विचार करता है कि इससे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा या इससे मुझे क्या लाभ या हानि होगी ? इन सब बातों को देखकर ही वह किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। इसी न्याय को दूसरे शब्दों में "न हि विधिशतेनापि तथा पुरुषः प्रवर्तते यथा लोभेन" ऐसा भी कह सकते हैं।[78] यह आवश्यक भी है कि प्रयोजन देखना ही चाहिए, बिना प्रयोजन के कार्य करने का लाभ क्या है ? भाष्यकार ने "स्वरितञितः" इस सूत्र की व्याख्या में क्रियाफल उसको नहीं माना जोकि सामान्य प्रयोजन को लेकर की जाती है अपितु वह विशिष्ट क्रिया जिसका फल यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता अथवा परलोक में जिसका फल मिलने की सम्भावना है, उसको क्रियाफल माना है। यह न्याय तो उद्द्योतकार ने इसलिए दे दिया है कि सामान्य प्रयोजन तो प्रत्येक क्रिया का होता ही है। जो लोग ऋत्विक् बनकर राजा का यज्ञ करवा रहे हैं उनका तो इतना ही प्रयोजन है कि हमें इस यज्ञ की मासिक दक्षिणा मिल जाएगी। किन्तु जो राजा यज्ञ करा रहा है, उसका क्या प्रयोजन है ? उसका तो विशेष प्रयोजन ही हो सकता है। वही वास्तविक क्रियाफल है और वह प्रयोजन स्वर्गप्राप्ति है। अतः स्वर्गप्राप्ति के लिए राजा यज्ञ करा रहा है– इस विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए 'राजा यजते' यहां 'यज्' धातु से आत्मनेपद हो जाता है। क्योंकि यज्ञ करने का सीधा फल जो स्वर्ग है, वह राजा को मिल रहा है और जो यज्ञ करा रहे हैं, उन ऋत्विक् आदि का तो इतना ही प्रयोजन है कि मासिक दक्षिणा मिल जाएगी। इसलिए इसको असली क्रियाफल न मानकर 'यजन्ति याजकाः' यहाँ 'यज्' धातु से आत्मनेपद नहीं होता अपितु परस्मैपद ही होता है। ध्यातव्य है कि वैसे तो यज्ञ कराने वाले और यज्ञ करने वाले दोनों प्रयोजन के लोग यज्ञ अनुष्ठान में लगे हुए हैं। परन्तु उक्त सूत्र से आत्मनेपद अदृष्ट क्रियाफल को लक्ष्य करके ही होता है, सर्वत्र नहीं।

इसी प्रकार 'पञ्चभिः हलैः कृषति' इस वाक्य में जो किसान पाँच हलों से खेती

करा रहा है, उसका भी यही प्रयोजन है कि जो मेरे अधीन यहाँ खेत में कार्य करेंगे, उनको तो मैं उनके परिश्रम का भाग दे दूँगा। किन्तु उसका प्रयोजन केवल खेती कराना नहीं है अपितु लोकेषणामूलक बहुत बड़ा जमींदार होने का यश प्राप्त करने का भी है जिससे लोग कहें कि कितना बड़ा जमींदार है जो इसके यहाँ पाँच हलों से खेती होती है। वास्तव में प्रयोजन प्रयोजन में ही अन्तर है। किन्तु यह निश्चित है कि 'सर्वः स्वार्थं समीहते'। फलतः बिना प्रयोजन के कोई काम नहीं होता और न कोई करना चाहता है। मनु महाराज भी कहते हैं–

"अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥[79]"

प्रस्तुत न्याय अनेक ग्रन्थों में व्यवहृत हुआ है।[80]

21. सन्मार्गसंभवे को हि विमार्गं मतिमान् भजेत् न्याय–

"पाठान्तरं तु प्रकृतेऽर्थे दुर्योजत्वादस्माभिर्नोपन्यस्तम्। सन्मार्गसंभवे को हि विमार्गं मतिमान्भजेत् ।"[81]

यह न्याय प्रदीपकार कैयट ने "ग्रहोऽलिटि दीर्घः" सूत्र के भाष्य में भ्रष्ट पाठभेद को देखकर लिखा है। भाष्य के "ईटो विधिरिटः प्रतिषेधः" इस कथन की व्याख्या करते हुए कैयट ने लिखा है कि "वृतो वा"[82] इस सूत्र से पक्ष में 'इट्' को दीर्घ 'ईट्' किया जाता है और "श्र्युकः किति"[83] से जो 'इट्' का निषेध है, वह ह्रस्व इकार वाले 'इट्' का है। क्योंकि उसमें "नेड् वशि कृति"[84] से ह्रस्व 'इट्' की अनुवृत्ति है। इस पर कैयट लिखते हैं कि यहाँ जो पाठान्तर है, वह प्रकृत अर्थ में ठीक ढंग से नहीं घटता। इसलिए हमने उसे स्वीकार नहीं किया। क्योंकि अच्छा मार्ग मिलने की सम्भावना होने पर कौन बुद्धिमान् मनुष्य विरुद्ध मार्ग पर चलना स्वीकार करेगा। इससे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि भाष्य में भी बहुत जगह पाठभेद हैं और नष्ट या भ्रष्ट पाठ भी सम्भव हैं।

नष्टपाठ जैसे– "अस्य च्वाव्वव्ययप्रतिषेध उच्यते[85] यह वचन "अव्ययीभावश्च" सूत्र के भाष्य में पठित है। किन्तु सम्प्रति "अस्य च्वौ"[86] सूत्र पर भाष्य ही नहीं मिलता। प्रतीत होता है कि पहले इस सूत्र पर भाष्य तथा उक्त भाष्यवार्तिक रहा होगा। अब नष्ट हो गया। इसी तरह "अनचि च" सूत्र भाष्य के भ्रष्ट पाठ होने पर कैयट कहते हैं– नायं प्रसज्यप्रतिषेधः इति। पाठोऽयं लेखकप्रमादान्नष्टः। पर्युदासो ह्यच्सदृशस्य वर्णान्तरस्य निमित्तत्वेनोपादानादवसाने द्विर्वचनस्याप्रसङ्गत्। तंस्मान्नायं पर्युदासो यदन्यदच इति। किं तर्हि ? प्रसज्यप्रतिषेधः अचि नेत्ययं पाठः। तत्र प्रसज्यप्रतिषेधे विधिरनुमीयते"[87]।

कैयट द्वारा कहे हुए पूर्वोक्त न्याय को यत्किञ्चित् शब्दभेद से काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी आठवें उल्लास में गुणों की व्याख्या करते हुए कहा है।[88]

22. विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य न्याय

"न हि स्वकृतमेव स्वयं प्रत्याचष्टे इति युक्तम्, विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् इति न्यायादिति भावः"।[89]

पदमञ्जरीकार ने "लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने" इस सूत्र की व्याख्या में इस न्याय का उपन्यास किया है। इस न्याय का अर्थ है कि जैसे स्वयं विष या जहर का वृक्ष लगाकर स्वयं ही उसे काटना ठीक नहीं होता वैसे ही स्वयं अपनी बात का स्वयं ही खण्डन करना भी ठीक नहीं होता। वे आगे कहते हैं कि वैसे 'लुपि युक्तवद्' इस सूत्र का निर्माण स्वयं आचार्य पाणिनि ने नहीं किया प्रतीत होता है। क्योंकि "तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्"[90] इत्यादि सूत्रों द्वारा इन्होंने स्वयं इसका खण्डन किया है। यदि यह सूत्र स्वयं पाणिनि का होता तो वे स्वयं ही इसका खण्डन क्यों करते ? इस बात को सिद्ध करने के लिए यह न्याय यहाँ दिया गया है– "विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य" इत्यादि।

वस्तुतः यह न्याय कुमारसम्भव[91] का अथवा पञ्चतन्त्र[92] का श्लोक है। किन्तु सूत्रप्रत्याख्यानप्रसङ्ग में इसे वैयाकरणों ने न्याय का रूप दे दिया है जोकि समीचीन ही है। अन्यत्र भी कुछ ऐसे न्याय दृष्टिगोचर होते हैं जो मूलतः किसी काव्य के हैं किन्तु बाद में लोकप्रिय होने से लोकन्याय के रूप में स्वीकार कर लिए गए।[93] अर्थ की दृष्टि से प्रकृत न्याय "तत्कारी तद्द्वेषी" न्याय के साथ अवश्य तुलनीय है। यह न्याय यहाँ के अतिरिक्त अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[94] इसी प्रकार सर्वथा असमाधेय प्रयोगों को परित्याज्य घोषित करते हुए अन्यत्र हरदत्त भी कहते हैं–

23. त्यजेदेकं कुलस्यार्थे न्याय

"अत्र दर्शयते भृत्यान् राजेत्येतदेकमुदाहरणमनुपपन्नम्, कर्मान्तरसद्भावात्। तत्र वृत्तिकारः 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे इति न्यायाद् उदाहरणमेतद् गमयितव्यं मन्यते"।[95]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्त्तानाध्याने" इस सूत्र की व्याख्या में काशिका में दिए हुए पश्यन्ति भृत्या राजानम्, दर्शयते भृत्यान् राजा स्वयमेव' इस उदाहरण को न देने योग्य मानते हुए दिया है। इसका अर्थ है कि कुल के लिए यदि एक व्यक्ति ठीक नहीं बैठता तो उसका परित्याग कर देना चाहिए। उस एक के लिए कुल का काम नहीं बिगाड़ना चाहिए[96] अर्थात् यदि एक व्यक्ति से कुल में बिगाड़ होता है तो उस हानि को रोकने के लिए उस एक व्यक्ति को ही छोड़ देना चाहिए। इसी तरह यदि एक कुल से ग्राम का काम बिगड़ता है तो गाँव के हित के लिए उस एक कुल को छोड़ देना चाहिए। इसी तरह प्रकृत प्रसङ्ग में भी हरदत्त के अनुसार काशिकाकारप्रोक्त उदाहरण त्याज्य ही समझना चाहिए। इस प्रकार यह नीतिवाक्य अत्यन्त लोकोपयोगी है। प्रकृत न्याय का समानान्तर निम्न भाष्यवचन भी अवश्य पठनीय है–

"नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति।"[97]

अथवा कालिदास की यह सूक्ति भी यहाँ बड़ी प्रासङ्गिक बन पड़ी है–

"एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः"[98] तथा

"अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि में त्वम्[99]"।

"सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः[100]" यह श्लोक न्याय भी इसके अर्थबोध में उपोद्बलक है। अन्यत्र भी यह न्याय प्रयुक्त हुआ है।[101] इसी प्रकार प्रौढमनोरमाकार भी एक प्रयोग को असाधु होने से छोड़ने का आग्रह करते हुए कहते हैं-

24. अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति न्याय/त्यजेदेकं कुलस्यार्थे न्याय

"यत्तु वदन्ति 'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे इति न्यायेन भूयसामुपधालोपयुडादीनामनुग्रहाय एकेयमुपधावृद्धिः सोढव्येत्याशयेन कृदन्ते पापाचक इत्यस्योदाहृतत्वान्न दोष इति, तन्न। उपधालोपादिसमाधानस्य समनन्तरमेवोक्तया त्यजेदेकमिति न्यायस्येहाप्रवृत्तेः प्रत्युत उपधावृद्धिरेव भाष्यविरुद्धेति तत्रेष्टापत्तिं कुर्वन्नेव व्याख्यातृभिरपि त्यक्तुमर्हः अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चतीति न्यायात्।"[102]

यह न्याय प्रौढमनोरमाकार ने "न धातुलोप आर्धधातुके" सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। यहाँ विचार का विषय यह है कि "यस्य हलः"[103] से पूरे संघात रूप यकार (यकार और अकार) का लोप होता है या अल्लोप के बाद केवल यकार का ? इस विषय में दो मत हैं। भाष्यकार तथा हरदत्त आदि तो इष्टसिद्धि के लिए यकार और अकार के लोप को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं जबकि वामन तथा प्रौढमनोरमाकार समुदाय लोप को ही स्वीकार करते हैं। अल्लोप को पृथक् मानकर केवल यकारलोप करने वाले आचार्यों का विचार है कि इस प्रकार 'पापचकः' इत्यादि में अल्लोप के स्थानिवद्भाव से वृद्धि रुक जाएगी जोकि भाष्यकार को इष्ट है जबकि समुदाय का लोप करने वालों के पक्ष में उक्त वृद्धि दुर्वार है।

जो यह कहते हैं कि "त्यजेदेकं कुलस्यार्थे"[104] इस न्याय से उपधालोप तथा 'युट्' आदि बहुत प्रयोजनों के अनुग्रह के लिए उपर्युक्त एक यह उपधा वृद्धि तो सहन कर लेनी चाहिए । इसी आशय से ग्रन्थों में 'पापाचकः' यह वृद्धियुक्त उदाहरण दिया गया है। अतः यह कोई दोष नहीं तो यह ठीक नहीं। क्योंकि उपधालोप आदि समाधानों के साथ ही कह देने के कारण "त्यजेदेकम्" इस उक्त न्याय की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होगी बल्कि यह उपधावृद्धि ही भाष्यविरुद्ध है। इस प्रकार जो यहाँ उपधावृद्धि की इष्टापत्ति करते हैं, वे अनिष्ट होने से त्याज्य हैं। क्योंकि लोक में एक न्याय है कि यदि सगा भाई भी अपन्था अर्थात् कुमार्ग या अनिष्ट मार्ग का आश्रयण करे तो उसको भी छोड़ देना चाहिए। [105] इसी प्रकार यहाँ भी जो 'पापचकः' में उपधावृद्धि को इष्ट मानता

है, वह त्याज्य है। लौकिक संस्कृत भाषा में क्वसु प्रत्यय के प्रयोग को भी त्याज्य मानते हुए भट्टोजिदीक्षित कहते हैं–

25. गतानुगतिक न्याय

"लिटः विधीयमानौ क्वसुकानचावपि छान्दसाविति त्रिमुनिमतम्। अत एव कित्करणसामर्थ्याद् भाषायामपि क्वसुकानचौ स्त इति केषाञ्चिदुत्प्रेक्षा नादर्तव्येति हरदत्तमाधवादिग्रन्थे स्पष्टमितिभावः। कवयस्तु बहुलं प्रयुञ्जते। गतानुगतिकतयेति भावः"।[106]

यह न्याय प्रौढमनोरमाकार ने "लिटः कानज्वा" तथा "क्वसुश्च" इन सूत्रों की व्याख्या में दिया है। यहाँ विचार का विषय यह है कि 'क्वसु' प्रत्यय लोक में भी प्रयुक्त होता है या नहीं? "भाषायां सद् वसश्रुवः"[107] सूत्र के आधार पर भट्टोजिदीक्षित सिद्धान्त कौमुदी में यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उक्त तीन धातुओं को छोड़कर अन्यत्र 'क्वसु' का प्रयोग लोक में नहीं होना चाहिए। किन्तु कवि लोग निरङ्कुश होते हैं। वे व्याकरण आदि के बन्धन में चलना स्वीकार नहीं करते। अतः कई बार वे प्रामादिक प्रयोग भी कर देते हैं। इसके पीछे कोई और कारण न होकर प्रौढमनोरमाकार के अनुसार उनकी गतानुगतिकता ही है। गतानुगतिकता का भाव है कि गतं अनुलक्ष्यीकृत्य गतिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया अर्थात् गड्डुलिकाप्रवाह या भेड़चाल से सत्य का विचार किए बिना एक दूसरे का अन्धा अनुकरण करना। भट्टोजिदीक्षित के अनुसार कवियों के ये निम्न प्रयोग पारमार्थिक न होकर गतानुगतिक ही समझने चाहिए–

"तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे"[108] तथा

"श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते"[109] इत्यादि।

वस्तुतः प्रकृत न्याय के मूल में एक पौराणिक कथा है जो इस प्रकार है–एक बार कुछ ब्राह्मण तर्पण के अर्घ्य को गङ्गा के किनारे रखकर उसमें नहाने लगे। नहाने के बाद जब उन्होंने अपना-अपना तर्पण का अर्घ्य हाथों में लेकर देखा तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उनका अर्घ्य परस्पर बदल गया है। अर्घ्यों के परस्पर संमिश्रण की ऐसी घटना कई दिन तक होती रही। तब इस त्रुटि को रोकने के लिए एक वृद्ध ब्राह्मण ने योजना बनाई और तदनुसार अपने अर्घ्य पर पहचान के लिए उसने एक ईंट रख दी किन्तु देखा-देखी या भेड़चाल से शेष ब्राह्मणों ने भी उसका अन्धानुकरण करते हुए अपने-अपने अर्घ्यों पर भी ईंट रख दी। परिणामतः अर्घ्यों में पुनः पहचान न होने से पुनः गड़बड़ हो गई। इस प्रकार बिना विवेक या सोच-विचार के केवल देखा-देखी कार्य करने के प्रसङ्ग में उक्त न्याय प्रयुक्त होता है। वैसे गतानुगतिकतासम्बन्धी यह पूरा श्लोक इस प्रकार है–

एकस्य कर्म संवीक्ष्य करोत्यन्योऽपि गर्हितम्।
गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः॥[110]

अन्यत्र भी इस न्याय का प्रयोग मिलता है।[111]

26. अल्पार्थविधिसन्तुष्टो नानेकार्थविधिक्षमः न्याय

"अत्र प्राचा दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्चेति सूत्रमुपन्यस्तम्। तच्च यद्यपि छन्दसि भाषायां चाविशेषेण वर्त्तते इति वृत्त्यादौ स्थितं तथापीहोपेक्षितम्। छन्दस्येव प्राचुर्येण दाश्वानित्यादिप्रयोगाणामुपलम्भात्। उक्त सूत्रस्य द्वित्वाभावादिनिपातनमात्रोपक्षीणत्वात् क्वसोश्च छान्दसताया निर्णीतत्वात्। अनेनैव क्वसोरपि विधाने गौरवात्। यदाहुः "अल्पार्थविधिसन्तुष्टो नानेकार्थविधिक्षमः" इति। अत एव हि तत्सूत्रमनावश्यकम्। तथा च पदकाराः साह्वान् विश्वा इति मन्त्रे साह्वानिति ह्रस्वञ्चिच्छिदुरिति दिक्"।[112]

यह न्याय प्रौढमनोरमाकार ने "दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च" सूत्र की व्याख्या में उपन्यस्त किया है। इनका कहना है कि उक्त सूत्र वृत्तिकार के अनुसार यद्यपि वेद और लोक दोनों के लिए सामान्य है तथापि वृत्तिकार का यह वचन यहाँ उपेक्षणीय है। क्योंकि 'दाश्वान्' इत्यादि प्रयोग वेद में ही अधिकता से उपलब्ध होते हैं। अतः उक्त सूत्र छन्द में ही प्रवृत्त मानना चाहिए। उक्त सूत्र निपातन सूत्र है। यह क्वसुप्रयुक्त द्वित्व के अभाव, इट् के अभाव, दीर्घ तथा ढत्व आदि का निपातन करता है। क्वसु का निपातन इस सूत्र से यहाँ नहीं मानना चाहिए। क्योंकि 'दाश्वान्' इत्यादि वैदिक प्रयोग हैं। और क्वसु वेद में ही होता है। अतः उक्त सूत्र से 'क्वसु' का यहाँ निपातन न होकर वह तो छान्दस होने से ही सिद्ध है। यदि इस सूत्र से क्वसु का भी विधान मानेंगे तो उसमें अनावश्यक गौरव होगा। क्योंकि एक न्याय है कि जो थोड़ा अर्थविधान करके ही सन्तुष्ट हो गया, वह अनेक अर्थों के विधान करने में समर्थ नहीं होता।[113] जैसे यहीं "दाश्वान्" इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र द्वित्वाभाव आदि निपातन में उपक्षीण होने के कारण फिर क्वसु के विधान में समर्थ नहीं होता। इसीलिए यह सूत्र अनावश्यक सिद्ध हो जाता है। सम्भवतः इस सूत्र की अनावश्यकता को ध्यान में रखते हुए पदपाठकार ने भी "साह्वान् विश्वा"[114] इत्यादि मन्त्र में सह्वान् इस प्रकार ह्रस्व सन्धिच्छेद किया है अर्थात् पूर्वोक्त सूत्रानुसार दीर्घ का छेद नहीं किया। अतः यह सूत्र अनावश्यक है।

27. प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् (पङ्कप्रक्षालन) न्याय

"यद्यपीह वृत्त्यादौ अजादेशः स्थानिवत् स्यादिति रूपातिदेशपक्षः स्वीकृतः, फलं चोभयत्र तुल्यम्, तथाप्यादेशनिषेधपक्षोऽपि भाष्यारूढ इति स एवात्र स्वीकृतः। किं च आदेशमङ्गीकृत्य पुनः स्थानिरूपाश्रयणापेक्षया निषेधपरतया व्याख्यानमेव लघु। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायात्"[115]।

यह न्याय वस्तुतः पञ्चतन्त्र का एक श्लोक है[116] जिसे न्याय का रूप देकर तत्त्वबोधिनीकार ने "द्विर्वचनेऽचि" सूत्र की व्याख्या में दिया है। 'चक्रतुः' इस रूप की सिद्धि करते समय 'कृ + अतुस्' इस अवस्था में एक तरफ तो "लिटि धातोरनभ्यासस्य"[117] से 'कृ' धातु को द्वित्व प्राप्त होता है तथा दूसरी तरफ "इको

यणचि"[118] से यण् प्राप्त होता है। तब "द्विर्वचनेऽचि" सूत्र से यण् का निषेध होने के कारण पहले द्वित्व हो जाता है। यद्यपि काशिका आदि वृत्ति ग्रन्थों में पहले यणादेश करके फिर उस अजादेश के स्थानिवद्भाव से इष्ट सिद्ध करते हुए रूपातिदेश पक्ष को स्वीकार किया गया है। फल दोनों पक्षों में तुल्य ही है तथापि पूर्वोक्त यणादेश के निषेध का पक्ष ही भाष्यसम्मत है। इसके अतिरिक्त यणादेश को स्वीकार करके फिर उसका स्थानिवद्भाव करने की अपेक्षा उसका निषेध करना ही ज्यायान् है। क्योंकि कीचड़ को धोने की अपेक्षा उस कीचड़ को दूर से ही स्पर्श न करना अधिक अच्छा होता है। इसी प्रकार यहाँ भी पहले यण् करके फिर उसके स्थानिवद्भाव से द्वित्व करने की अपेक्षा यण् का निषेध करना ही अधिक युक्तिसङ्गत है। प्रकृत पङ्कप्रक्षालन न्याय अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः न्याय तथा "सौ दवा से एक परहेज अच्छा" इस मुहावरे के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस न्याय का अन्यत्र भी प्रयोग मिलता है।[119]

28. परान्नित्यं बलवत् न्याय / अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः (अभिवादनशीलता) न्याय

"परान्नित्यं बलवत्। कृताकृतप्रसङ्गित्वात्। तत्राक्लृप्ताभावकस्याभावकल्पनापेक्षया क्लृप्ताभावकस्यैव तत्कल्पनमुचितमित्यस्य बलवत्वे बीजं तदाह–कृताकृतप्रसङ्गि नित्यं तद्विपरीतमनित्यम्"[120]।

परिभाषेन्दुशेखरकार इस न्याय को उपन्यस्त करते हुए कहते हैं कि यद्यपि "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" सूत्र के नियम से सूत्रपाठक्रम के आधार पर पूर्वसूत्र की अपेक्षा परसूत्र बलवान् होता है तथापि जैसे लोक में भले ही किसी के दो पुत्र हों परन्तु–

"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्"।[121]

इस श्लोक के अनुसार नित्य सेवा करने वाले पुत्र के प्रति ही माता-पिता का कुछ स्नेहपूर्ण पक्षपात अधिक देखा जाता है, दूसरे के प्रति नहीं– "भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः", वैसे ही यहाँ शास्त्र में भी यदि कोई सूत्र पूर्व होते हुए भी नित्य है तो उसके बलवान् होने से पर सूत्र को बाधकर भी वह हो जाता है। पर की अपेक्षा नित्य की इस बलवत्ता में कृताकृतप्रसङ्गित्व ही बीज है। भाव यह है कि कुछ शास्त्रीय कार्य तो ऐसे होते हैं जो प्रत्येक स्थिति में प्राप्त हैं और इसके विपरीत कुछ ऐसे होते हैं जो केवल विशेष परिस्थिति में ही प्राप्त होते हैं। अब यहाँ शङ्का पैदा होती है कि इन दोनों में से किस की बाधा कल्पित की जाए तो शास्त्र कहता है कि उसी शास्त्रीय कार्य के अभाव को कल्पित करना चाहिए जो कृताकृतप्रसङ्गी नहीं है। दूसरे शब्दों में– ऐसा शास्त्रीय कार्य जो दूसरे शास्त्रीय कार्य की प्रवृत्ति से पूर्व और पश्चात् दोनों ही अवस्थाओं में प्राप्त रहता है, उस कार्य को बाधने की कल्पना की अपेक्षा उस कार्य की बाधा कल्पित करना अधिक श्रेयस्कर है जिसकी पहले तो प्राप्ति थी परन्तु

बाद में कुछ अन्य शास्त्रीय कार्य होने पर फिर प्राप्ति नहीं रहती। यही औचित्यपूर्ण कल्पना नित्य शास्त्र की बलवत्ता में प्रामाणिक कारण है। इसीलिए 'लिखति' में यद्यपि लघूपधगुण और 'श प्रत्यय' एक साथ प्राप्त होते हैं तथापि बाद में कृताकृतप्रसङ्गित्वात् 'श' प्रत्यय ही नित्य होने से हो जाता है। क्योंकि वह तो लघूपधगुण के होने पर भी प्राप्त है तथा न होने पर भी जबकि लघूपधगुण केवल 'श' प्रत्यय के न होने पर ही प्राप्त है, उसके होने पर नहीं। क्योंकि 'श' के ङित् होने से फिर उसकी बाधा हो जाती है।

29. "न हि सन्देहादलक्षणम्" न्याय

"ननु सन्देहो न दोषाय। न हि सन्देहादलक्षणमिति न्यायादत आह-द्वयोरिति। सन्दिग्धविषयकलक्षणानुपप्लवेऽप्रतिपत्तिः। तदुपप्लवे तु पर्यायः"[122]।

"आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी" सूत्र पर भाष्यवार्तिककार शङ्का करते हैं कि आपिशलपाणिनीयव्याडीयगौतमीयाः इस उदाहरण में प्रकृत सूत्रप्रोक्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वरत्व नहीं सिद्ध होता। क्योंकि यहाँ अन्तिम एक पद को छोड़कर शेष सारे पद पूर्वपद हैं। अब उनमें पूर्व पद विद्यमान होने से यह स्पष्ट ज्ञात नहीं हो पाता या यह सन्देह बना ही रहता है कि किस पूर्वपद को प्रकृतिस्वर करना है। इस पर उद्द्योतकार कहते हैं कि यद्यपि "न हि सन्देहादलक्षणम्" इस न्याय से सन्देह करना दोषावह नहीं होता प्रत्युत सन्देह करके अर्थ का अवधारण करना ही निर्णय होता है[123] अथवा सन्दिग्ध विषय में ही निर्णयहेतु कोई न्याय प्रवृत्त होता है।[124] क्योंकि सन्दिग्ध और सप्रयोजन विषय ही विचार की अपेक्षा रखता है[125]। अतः सन्देह करने मात्र से लक्षण अलक्षण नहीं बन जाता तथापि दो-दो पदों के द्वन्द्व में तो एक ही पूर्वपद होने से वहाँ तो यह प्रकृतिस्वरत्व निर्बाध चरितार्थ हो जाता है परन्तु बहुत पदों के द्वन्द्व में जैसाकि पूर्वोक्त उदाहरण है, पूर्वपदविषयक सन्देह होने के कारण प्रकृतिस्वरविषयक स्फुट बोध नहीं होता अर्थात् किस पद को पूर्वपद मानकर उसे प्रकृतिस्वर करना है– इस सन्देह के कारण स्पष्ट बोध नहीं होता।

अथवा फिर बारी-बारी से सभी पदों को पूर्वपद मानकर उन्हें प्रकृतिस्वर करना है– यह सन्देह बना ही रहता है जबकि व्याकरण का तो उद्देश्य ही सन्देह को दूर करना है[126]। इस प्रकार सन्देह के कारण यहाँ विप्रतिपत्ति बनी ही रहती है जिसका निराकरण भाष्यवार्तिककार आगे वक्ष्यमाण "अमीषां ब्राह्मणानां पूर्वमानय" इत्यादि लोकन्याय से करेंगे[127]। यह न्याय अन्यत्र भी देखा जाता है[128]।

30. न हि वार्तिकं दृष्ट्वा सूत्रकृतः प्रवृत्तिः[129] न्याय

यह न्याय भी शास्त्र में पर्याप्त प्रसिद्ध है। "तृतीया च होश्छन्दसि[130]" सूत्र भाष्य से उक्त न्याय ध्वनित होता है जिसे उत्तरवर्ती अनेक व्याख्याकारों ने कण्ठरवेण भी स्मरण किया है। जहाँ-जहाँ व्याख्याकारों के द्वारा वार्तिक के आधार पर किसी सूत्र

का खण्डन किया गया है, वहाँ-वहाँ यह न्याय अवतरित होता है। इसका अर्थ है कि जैसे लोक में उत्तरवर्ती वंशज के द्वारा अपने किसी पूर्वज की बात का खण्डन उचित नहीं माना जाता वैसे ही यहाँ भी वार्तिककार के वार्तिक को देखकर सूत्रकार ने सूत्र नहीं बनाया। क्योंकि सूत्रकार पहले हो चुके हैं और वार्तिकार बाद में। अतः औचित्य की दृष्टि से परवर्ती वार्तिक को लेकर पूर्ववर्ती सूत्र का खण्डन करना युक्तिसंगत नहीं है, भले ही बहुतर लक्ष्यसंग्रह की दृष्टि से वार्तिक अधिक व्यापक भी हो। इस सन्दर्भ में "तीयस्य ङित्सु वा" इत्यादि वार्तिकों के आधार पर "विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम्[131]" इत्यादि सूत्रों का प्रत्याख्यान द्रष्टव्य है। प्रकृत न्याय "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" इस प्रसिद्ध वैयाकरण आभाणक का विरोधी है।

31. न हि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते न्याय

"बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं तु स्वजन्येष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाधिक दुःखाजनकत्वम्। न हि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते इति न्यायेन नान्तरीयकं किञ्चिद् दुःखमिष्टोत्पत्तौ अवश्यम्भावि। तदतिरिक्तदुःखराहित्यमेव तत्त्वम्"।[132]

यह न्याय "वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा" के 'लकारार्थ निर्णय' में दिया गया है। इसका अर्थ है कि बिना दुःख उठाए सुख नहीं मिलता– इसलिए सुखप्राप्ति में कुछ न कुछ दुःख का मिलना तो नान्तरीयकतयाअवश्यम्भावी है। यज्ञ करने का प्रयोजन इतना ही है कि जो अवश्यम्भावी दुःख मिल रहा है, उससे अधिक दुःख न मिले। इसीलिए यज्ञादि किए जाते हैं। परन्तु सर्वथा दुःख का स्पर्श किए बिना तो सुख का मिलना असम्भव है। क्योंकि इस संसार का स्वभाव है कि यह त्रिगुणात्मक है। सत्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं। ये तीनों गुण जब समावस्था में रहते हैं तो प्रकृति रूप होने से हमारा सारा संसार स्वस्थ कहलाता है। स्वस्थ होना और प्रकृतिस्थ होना एक ही बात है। सत्व तो प्रकाशस्वरूप है, रजस्, काम, क्रोध, लोभ आदि विकारयुक्त है और तमोगुण सर्वथा क्रियारहित होकर निश्चेष्ट, आलसी और प्रमादी होने का लक्षण है। अन्यत्र मृच्छकटिक नाटक में यह श्लोक भी आया है–

"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्"[133]।

जिस प्रकार बहुत गहन अन्धकार में दीपक का दिखाई देना कितना आनन्ददायक होता है इसी प्रकार दुःखमिश्रित जो सुख है, वही सुन्दर माना जाता है। एक आदमी जो बाहर कड़ी धूप में दूर से चलकर वृक्ष की छाया में बैठा है, उसे जो छाया का आनन्द मिलता है, वह पहले से ही छाया में बैठे हुए मनुष्य को नहीं मिलता।[134] अलंकारशास्त्र में तो यह स्पष्ट ही है कि विप्रलम्भ श्रृंगार और संयोग श्रृंगार दोनों में विप्रलम्भ श्रृंगार ही ज्यादा चर्वणा का विषय है। दो प्रेमियों का वियोग होने पर जो संयोग होता है, वह अधिक रस का उत्पादक है। यह सहृदय = हृदय वाले = लोगों से अज्ञात नहीं है। संक्षेप में इस न्याय का यही भाव है कि यागादि अनुष्ठानों से हमारा

सर्वथा दुःख दूर हो जाएगा और हमें स्वर्ग की प्राप्ति हो जाएगी– ऐसा नहीं समझना चाहिए अपितु अन्य जो बलवान् अनिष्ट हैं, वे यागादि करने से रुक जाएँगे अर्थात् जो आवश्यक दुःख आते हैं, उनकी भी निवृत्ति नहीं होगी, परन्तु उनके रहते हुए भी सुख की प्राप्ति हो जाएगी।

32. "अनधीते महाभाष्ये व्यर्था स्यात् पदमञ्जरी।
अधीतेऽपि महाभाष्ये व्यर्था सा पदमञ्जरी"॥

33. "कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः"॥
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः"॥

उपर्युक्त वचन वस्तुतः न्याय न होकर किसी पदमञ्जरीकार तथा सिद्धान्तकौमुदीकार के भक्त का अर्थवादपरक वचन है जोकि आगे चलकर वैयाकरणनिकाय में आभाणक बन गया। इनके प्रथम आभाणक न्याय का अर्थ है कि यदि महाभाष्य ठीक प्रकार से समझकर नहीं पढ़ा गया है तो पदमञ्जरी पढ़ना व्यर्थ है (व्यतिरेकी दृष्टि से) और इसी प्रकार यदि महाभाष्य अच्छी प्रकार से पढ़ लिया गया है तो इस अवस्था में भी पदमञ्जरी पढ़ना निष्प्रयोजन है (अन्वयी दृष्टि से)। भाव यह है कि इस आभाणक द्वारा पदमञ्जरी और महाभाष्य का प्रगाढ़ सम्बन्ध द्योतित किया गया है। यह तो सभी जानते ही हैं कि व्याकरण के क्षेत्र में "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" इस आभाणक न्याय से पतञ्जलि का स्थान पाणिनि से भी बढ़कर है। इस महाभाष्य का सारा सार पदमञ्जरी में ग्रथित है। जोकि भाष्य के अध्ययन पर निर्भर करता है। ऐसी स्थिति में यदि भाष्य नहीं पढ़ा है तो पदमञ्जरी पढ़ने पर भी उसका सार हस्तगत नहीं हो सकता। अतः पदमञ्जरी पढ़ना अप्रयोजक हैं और यदि भाष्य पढ़ा है तो भी पदमञ्जरी का अध्ययन व्यर्थ है। क्योंकि उसमें भाष्याधिक कोई नवीनता नहीं है।

इसी आभाणक न्याय के आधार पर दूसरे न्याय में कौमुदी के प्रशंसक यह मानते हैं कि कौमुदी में भी भाष्य का निगूढाशय संक्षेपरूप में संगृहीत है। अतः कौमुदी यदि कण्ठस्थ है तो भाष्य के पढ़ने में श्रम करना व्यर्थ है और यदि कौमुदी कण्ठस्थ नहीं है तो भी भाष्य पढ़ना व्यर्थ है। क्योंकि कौमुदी के बिना भाष्यकार का निर्गलित एवं पर्यवसित अभिप्राय जानना बड़ा कठिन है। इस प्रकार इन दोनों आभाणकों में पहले पदमञ्जरी की और बाद में सिद्धान्त कौमुदी की महत्ता प्रतिपादित की गई है।

34. यूनि लब्धे तु युवतिर्जरठे रमते कथम् न्याय[134a]

क (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित सूक्ति एवं श्लोकसम्बन्धी लोकन्याय

1. नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति न्याय[135]
2. मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते (मङ्गलाचरण) न्याय[136]

3. एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति न्याय[137]
4. प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्याः न्याय[138]
5. अतज्जातीयकं हि लोके व्यवधायकं भवति न्याय/ स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवति न्याय[139]
6. आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिताः न्याय[140]
7. शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति न्याय[141]
8. अनुकरणं हि शिष्टस्य साधु भवति अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा न्याय/अनिषिद्धमनुमतं भवति न्याय[142]
9. न ह्यपशब्दपदार्थकः शब्दः अपशब्दो भवति न्याय[143]
10. पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति न्याय[144]
11. सैषा महतो वंशस्तम्बाल्लट्ट्वानुकृष्यते (लट्ट्वानुकर्षण) न्याय[145]
12. प्रसक्तं हि प्रतिषिध्यते न्याय[146]
13. सता ह्यभिसम्बन्धः शक्यते कर्तुम् न्याय [147]
14. दृश्यते हि पुनरतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः न्याय[148]
15. पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय (स्थालीपुलाक) न्याय[149]
16. यत्सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते तदपि लक्षणं भवति न्याय/कमण्डलुपाणि छात्र न्याय[150]
17. स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानं न वाचनिकम् न्याय/अभ्रचन्द्र न्याय[151]
18. भवति हि विशेषः स्वस्मिन् भ्रातरि पितृव्यपुत्रे च न्याय[152]
19. न हि द्विपुत्र आनीयतामित्युक्ते त्रिपुत्र आनीयते न्याय[153]
20. सर्व इमे स्वभूत्यर्थं यतन्ते न्याय / सर्वः स्वार्थं समीहते न्याय[154]
21. चक्रकप्रसङ्ग न्याय/शास्त्रेण हि व्यवस्थाकारिणा भवितव्यम् न्याय[155]
22. न वर्ष्मत परिमाणत एव वा साम्यं भवति, युक्तितोऽपि न्याय / मुद्गप्रस्थलवणप्रस्थ न्याय[156]
23. न वै कामानां तृप्तिरस्ति न्याय[157]
24. समान (तुल्य) जातीयस्यैव हि लोके निर्धारणं भवति न्याय[158]
25. निदानोच्छेदेनैव निदानिन उच्छेदः शक्यते कर्तुम् न्याय[159]
26. यमलकयोरेकविनाशे नापरस्य विनाशः न्याय[160]
27. घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न पश्यति न्याय[161]
28. प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति न्याय[162]

29. बहूनामनुग्रहो न्याय्यः न्याय[163]
30. फलमुखगौरवं न दोषाय न्याय[164]
31. कृत्वाचिन्ता न्याय[165]
32. वृश्चिकभिया प्रद्रवतः सर्पमुखे पतनम् न्याय[166]

ख (1) लोकोक्ति/मुहावरेसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. खट्वारूढो जाल्मः न्याय

"क्षेप इत्युच्यते, कः क्षेपो नाम ? अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञातेन खट्वारोढव्या। य इदानीमतोऽन्यथा करोति स उच्यते खट्वारूढोऽयं जाल्मः। नातिव्रतवानिति।"[167]

"खट्वा क्षेपे" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि सूत्र में 'क्षेप' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह क्षेप क्या है? विद्याध्ययन करके समावर्तन संस्कार द्वारा स्नातक बनकर गुरुओं की आज्ञा से खट्वा (खाट) का आरोहण करना चाहिए–ऐसा कहा जाता है। यहाँ खट्वा शब्द से गृहस्थाश्रम में सेवनीय शय्या या पलङ्ग आदि वस्तुओं का ग्रहण है। जो व्यक्ति उक्त ब्रह्मचर्य व्रत को पूर्ण किए बिना ही इसके विपरीत गृहस्थ का सेवन करता है, वह खट्वारूढ कहलाता है– 'खट्वामारूढः इति खट्वारूढः' अर्थात् इस नीच जाल्म ने पूर्ण विद्या समाप्त किए बिना ही खट्वा का आरोहण कर लिया– यह निन्दनीय है। इस निन्दा को द्योतित करने के लिए ही "खट्वा क्षेपे" सूत्र से यहाँ द्वितीयातत्पुरुष समास का विधान किया गया है। क्षेप का अर्थ निन्दा है, यह पूरी तरह व्रत का पालन करने वाला नहीं है– ऐसा कहने से उस व्यक्ति की निन्दा या क्षेप प्रकट होता है। 'खट्वारूढः' यह प्रयोग भी लोकव्यवहारप्रयुक्त होने से लोकन्याय में ले लिया गया है। आज भी निठल्ले व्यक्ति की निन्दा के लिए 'खाट तोड़ने वाला' विशेषण प्रयुक्त होता देखा जा सकता है। क्षेप के विषय में ही अगला तीर्थकाक न्याय भी द्रष्टव्य है।

2. *तीर्थकाक न्याय*

"क्षेप इत्युच्यते, क इह क्षेपो नाम ? यथा तीर्थे काका न चिरं स्थातारो भवन्ति, एवं यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति"।[168]

"ध्वाङ्क्षेण क्षेपे" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि सूत्र में 'क्षेप' शब्द कहा है, यह क्षेप क्या होता है ? उत्तर देते हैं कि जैसे तीर्थस्थानों में गए हुए कौए देर तक नहीं ठहरते अपितु वहाँ जब तक चावलादि भोज्यपदार्थ मिलते रहते हैं, तभी तक रहते हैं और उसके बाद अन्यत्र चले जाते हैं। उसी प्रकार जो व्यक्ति गुरुकुल में जाकर तपस्यादि करने में असमर्थ हुआ वहां थोड़ी देर ही ठहरता है, पूर्ण विद्याध्ययन नहीं करता, वह तीर्थकाक या तीर्थध्वाङ्क्ष कहलाता है। भाव यह है कि जैसे कौआ एक निन्दित पक्षी है, केवल उदरपूर्ति करना ही उसका प्रयोजन है ऐसे

ही जो केवल स्वार्थ के वशीभूत हुआ कष्ट नहीं सह सकता, वह व्यक्ति भी गुरुकुल आदि तीर्थस्थानों में निन्दित होता है। यह लोकप्रसिद्ध व्यवहार आचार्य पाणिनि के अनुसार भाष्यकार ने भी स्वीकार किया है। क्षेप का अर्थ निन्दा है। यद्यपि 'तीर्थे ध्वाङ्क्षः' अथवा 'तीर्थे काकः' यह निन्दा अर्थ में सप्तमीतत्पुरुष का विग्रहवाक्य है तथापि शब्दशक्तिस्वभाव से विवक्षित निन्दा तीर्थकाकः या तीर्थध्वाङ्क्षः इस समास से ही व्यक्त होती है। इस क्षेप के सन्दर्भ में अग्रिम नकुलविषयक न्याय भी अवश्य पठनीय है, तद्यथा—

3. अवतप्ते नकुलस्थितम् न्याय

"क्षेप इत्युच्यते। क इह क्षेपो नाम ? यथावतप्ते नकुला न चिरं स्थातारो भवन्ति, एवं कार्याण्यारभ्य यो न चिरं तिष्ठति स उच्यतेऽवतप्ते नकुलस्थितं त एतदिति।"[169]

"क्षेपे" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि सूत्र में 'क्षेप' शब्द पढ़ा गया है। यह क्षेप क्या होता है ? उत्तर देते हैं कि जैसे गर्मी में नेवले देर तक नहीं ठहर सकते वैसे ही जो व्यक्ति काम आरम्भ करके देर तक नहीं ठहर सकता, विघ्नों के भय से उसे बीच में ही छोड़ बैठता है, वह नेवले के समान चञ्चलचित्त होने के कारण निन्दनीय होता है। ऐसे व्यक्ति को देखकर कहा जाता है कि तेरा अव्यवस्थित व्यवहार नेवले की स्थिति के समान है। इस वाक्य से स्वभावतः निन्दा गम्यमान होती है। इसलिए क्षेप अर्थात् निन्दा में 'अवतप्ते नकुलस्थितम्' यहाँ सप्तमीतत्पुरुषसमास हो जाता है। 'अवतप्ते' यह सप्तम्यन्त है। 'नकुलस्थितम्' यह कारकपूर्वक कृदन्त शब्द है। क्योंकि "कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्"[170] इस परिभाषा से नकुलस्थित शब्द कृदन्त माना जाता है। "तत्पुरुषे कृति बहुलम्"[171] से सप्तमी का अलुक् होकर 'अवतप्ते नकुलस्थितम्' बन जाता है। यहाँ तत्पुरुष समास में तीन सूत्र क्षेपविषयक कहे गए हैं। ध्वाङ्क्षेण क्षेपे", "खट्वाक्षेपे" और "क्षेपे"। इससे आगे आने वाला "पात्रेसमितादयश्च"[172] यह सूत्र भी क्षेप विषयक ही है। यह क्षेपविषयक प्रसङ्ग लोक व्यवहार से पृथक् नहीं है। इसलिए इन सब सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय लोकन्याय में समाविष्ट हो जाता है। यह न्याय अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[173] प्रसङ्गवश अगला लोकन्याय भी प्रकृत विषय का समकक्ष है। अतः वह भी साथ ही पठनीय है, तद् यथा—

4. पितृतो लोके व्यपदेशवताऽस्वतन्त्रेण भवितव्यम् न्याय

"गार्ग्यस्त्वमसि जाल्म! वात्स्यस्त्वमसि जाल्म! का पुनरिह कुत्सा ? पितृतो लोके व्यपदेशवताऽस्वतन्त्रेण भवितव्यम्। य इदानीं पितृमान् स्वतन्त्रो भवति स उच्यते गार्ग्यस्त्वमसि जाल्म! वात्स्यस्त्वमसि जाल्म! न त्वं पितृतो व्यपेदशमर्हसीति।"[174]

"अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्" सूत्र के भाष्य में "जीवद्वश्यं च कुत्सितम्" यह वार्तिक पढ़ा गया है। इसका अर्थ है कि कुत्सित युवा की वृद्ध या गोत्र संज्ञा रहनी चाहिए।[175] अष्टाध्यायी सूत्रपाठों में कहीं.-कहीं "यूनश्च कुत्सायाम्"[176] ऐसा वार्तिक पढ़ा गया मिलता है। भाव दोनों का एक ही है। गार्ग्यायण युवा है और गार्ग्य गोत्र या वृद्ध है। कुत्सित युवा की गोत्र संज्ञा होकर गार्ग्यायण के स्थान में गार्ग्य का प्रयोग होता है। अरे दुष्ट! तू गार्ग्यायण नहीं है अपितु गार्ग्य ही कहाने योग्य है। इसी प्रकार अरे दुष्ट! तू वात्स्यायन नहीं है अपितु वात्स्य ही कहलाने योग्य है। पूछते हैं कि यहाँ ऐसा कहने में क्या कुत्सा है ? उत्तर में कुत्सा यही है कि लोक में जो पिता वाला है, पितृमान् है, उसे नम्र आज्ञाकारी वंशवद होना चाहिए। जो इससे विपरीत उद्दण्ड है, वह पिता के व्यपदेश को निन्दित करता है। इसलिए वह गार्ग्य का अपत्य न कहा जाकर गर्ग का अपत्य कहा जाता है। उससे वह अपने पिता गार्ग्य के व्यपदेश को ग्रहण करने में अयोग्य सिद्ध हो जाता है। आज भी लोक में यत्र-तत्र ऐसा देखा जाता है कि जो लड़का पिता के कहने में नहीं चलता, उद्दण्ड हो जाता है तो पिता सार्वजनिक रूप में उससे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है। लेखक की दृष्टि में भाष्योक्त उदाहरण वर्तमान की इसी निन्दित स्थिति के अवशेष होंगे। इस सन्दर्भ में अगला लोकन्याय प्रकृत न्याय का उलटा है। अतः वह भी साथ ही द्रष्टव्य है, तद्यथा—

5. युवत्वं लोके ईप्सितं पूजेत्युपचर्यते न्याय

"वृद्धस्य च पूजायां युवसंज्ञा वक्तव्या— तत्र भवन्तो गार्ग्यायणाः तत्र भवन्तो वात्स्यायनाः। का पुनरिह पूजा। युवत्वं लोके ईप्सितं पूजेत्युपचर्यते। तत्र भवन्तो युवत्वेनोपचर्यमाणाः प्रीता भवन्ति।"[177]

"जीवति तु वंश्ये युवा" सूत्र के भाष्य में "वृद्धस्य च पूजायाम्" यह वार्तिक पढ़ा गया है। इसका अर्थ है कि वृद्ध अर्थात् गोत्र की पूजा अर्थ में युवसंज्ञा कहनी चाहिए। आप पूजनीय गार्ग्यायण हैं। आप पूज्य वात्स्यायन हैं। यहाँ गार्ग्य और वात्स्य को क्रमशः गार्ग्यायण और वात्स्यायन इस गौरवयुक्त शब्द से व्यपदिष्ट किया गया है। पूछते हैं कि यहाँ पूजा क्या है ? उत्तर में पूजा यही है कि लोक में युवा होना सभी को ईप्सित है, अभीष्ट है। क्योंकि युवावस्था में ही सारे धर्मवाक्यों का पूरा कर सकना संभव है अतः युवा होने को ही सब पूजित होना मानते हैं। जब गार्ग्य और वात्स्य को क्रमशः गार्ग्यायण एवं वात्स्यायन कहा जाता है तो वे गौरव अनुभव करते हुए पूजित या प्रसन्न होते हैं। लोक में आज भी किसी यशस्वी बालक के पास आने पर 'आ भई जवान' ऐसा कहा जाता है। प्रकारान्तर से यह आगन्तुक की पूजा ही है।

स्पष्ट कर दिया है कि 'जेघ्नीयते' की सिद्धि 'यङ्' को 'ईट्' का आगम करने से नहीं हो सकती। उसके लिए 'घ्नी' आदेश मानना ही उचित है। यह न्याय अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[188]

8. उभयतस्पाशा रज्जुः न्याय

"अथ सावपि पदं भवति, राजा तक्षा नलोपे कृते विभक्तेः श्रवणं प्राप्नोति। सैषोभयतस्पाशा रज्जुर्भवति"।[189]

यह न्याय स्वयं भाष्यकार ने "हलङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्" सूत्र के भाष्य में दिया है। इसका अर्थ है कि यदि 'स्' परे रहते भी पूर्व की पदसंज्ञा मानते हैं तो राजा, तक्षा आदि इन शब्दों में नकार का लोप हो जाने पर फिर 'सु' विभक्ति का अनिष्ट श्रवण प्राप्त होगा और यदि राजन् तथा तक्षन् के नकार के परे सु का लोप कर देते हैं तो फिर राजन् तथा तक्षन् के नकार का लोप नहीं प्राप्त होगा जोकि इष्ट है। इस प्रकार यह दोनों ओर से जकड़ देने वाली रस्सी हो गई अर्थात् जहाँ पर सभी पक्ष दुष्ट हों तब इधर कूआ तथा उधर खाई वाली स्थिति में उक्त न्याय व्यवहृत होता है।[190] यह न्याय 'शब्दकौस्तुभ' आदि में भी प्रयुक्त होता है।[191]

9. प्रकृतिवदनुकरणं भवति न्याय

"कथं प्रातिपदिकसंज्ञा ? अर्थवत्वात् प्रतिपदिकम्। ननु चाधातुरिति प्रतिषेधः प्राप्नोति। नैष धातुर्धातोरेषोऽनुकरणम्। यद्यनुकरणमियङादेशो न प्राप्नोति। प्रकृतिवदनुकरणं भवतीतियङादेशो भविष्यति"।[192]

"क्षियो दीर्घात्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार प्रकृत परिभाषा को अवतरित करते हुए कहते हैं कि उक्त सूत्र में 'क्षियः' इस निर्देश में 'क्षि' इसके धातु या क्रियावाचक होने से इसकी प्रातिपदिक संज्ञा कैसे हो गई ? क्योंकि प्रातिपदिकसंज्ञा में तो 'अधातु' कहकर 'धातु' को छोड़ा गया है। फलतः यहाँ 'इयङ्' होकर सुप् विभक्ति कैसे आ गई ? उत्तर देते हैं कि अर्थवान् होने से यहाँ प्रातिपदिक संज्ञा हुई है। पुनः आपत्ति करते हैं कि किन्तु वहाँ तो 'अधातु' कहा गया है तो भाष्यकार इसका उत्तर देते हैं कि वस्तुतः इस सूत्र में यह 'धातु' नहीं है अपितु 'क्षि' धातु का अनुकरणमात्र है। इस पर पुनः शङ्का करते हैं कि परन्तु यदि यह धातु न होकर उसका अनुकरणमात्र माना जाता है तो फिर "अचि श्नुधातुभ्रुवाम्"[193] सूत्र से 'इयङ्' आदेश नहीं प्राप्त होता। क्योंकि अनुकरण में धातुत्व या क्रियावाचित्व नहीं होता। अब भाष्यकार इस परिभाषा द्वारा इसका वास्तविक उत्तर देते हैं कि जैसे लोक में घोड़ा तेज चलने के अपने पैतृक आचरण को बिना विशेष सिखाए भी स्वाभाविकरूप से ही सीख लेता है। अतएव कहा भी है– "पुत्रा मातरमनुहरन्ति" अर्थात् "माँ पर पूत पिता पर घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा"। वैसे ही यहाँ शास्त्र में भी अनुकरण प्रकृतिवत् माना जाता है अर्थात् अनुकरण में अनुकार्य के सारे धर्म आ जाते हैं। फलतः वास्तविक

'क्षि' धातु में विद्यमान धातुत्व प्रकृत सूत्रस्थ अनुकृत 'क्षि' में भी आ जाएगा तो अभीष्ट 'इयङ्' सिद्ध हो जाता है। इस तरह प्रकृत सूत्रस्थ 'इयङ्विशिष्ट क्षियः' यह निर्देश ही इस परिभाषा का ज्ञापक है।

ध्यातव्य है कि यह परिभाषा अनित्य भी प्रतीत होती है। क्योंकि यदि यह नित्य होती तो फिर इस सूत्र में ही 'क्षियः' यह पञ्चमी कैसे आ गई ? फलतः 'क्षियः' को धातुभिन्न भी मानना होगा। ऐसी स्थिति में लक्ष्यानुरोध से यह परिभाषा सत्य तथा असत्य दोनों रूपों में व्यवस्थित है।

10. देवा एतज्ज्ञातुमर्हन्ति न्याय

"अथ यः प्राणी अप्राणी च, कथं तत्र भवितव्यम् ? अनुष्यन्देते मत्स्योदके इति आहोस्वित् अनुस्यन्देते मत्स्योदके इति ? यदि तावदप्राणी विधिनाश्रीयते, अस्यत्राप्राणीति कृत्वा भवितव्यं षत्वेन। अथ प्राणी प्रतिषेधेनाश्रीयते, अस्यत्र प्राणीति कृत्वा भवितव्यं प्रतिषेधेन। किं पुनरत्रार्थसतत्वम् ? देवा एतज्ज्ञातुमर्हन्ति।"[194]

"अनुविपर्यभिनिभ्यः"– इस षत्वविधायक सूत्र के भाष्य में भाष्कार पूछते हैं कि 'अप्राणिषु' यह पर्युदास है या प्रसज्यप्रतिषेध?[195] पर्युदास पक्ष में अर्थ होगा कि प्राणिभिन्न में षत्व होता है। मत्स्य और उदक दोनों मिले हुए प्राणिभिन्न हैं। इसलिए 'अनुष्यन्देते' यहाँ षत्व हो जाएगा। प्रसज्य-प्रतिषेध में अर्थ होगा कि प्राणी में षत्व नहीं होता तो जहाँ दोनों मिले हुए हैं वहां प्राणी अंश को लेकर षत्व का निषेध हो जाएगा।

इन दोनों पक्षों में यहाँ कौन सा पक्ष माना जाए तो भाष्यकार कहते हैं– "देवा एतज्ज्ञातुमर्हन्ति" अर्थात् यह तो राम जाने अथवा इस बात को तो देवता ही जान सकते हैं। इस प्रकार की जटिल समस्याएं कई बार लोकव्यवहार में भी उपस्थित हो जाती हैं। तब वहाँ यही उत्तर देना युक्तियुक्त है कि "ईश्वरेच्छा बलीयसी" अर्थात् भगवान की जैसी मर्जी। इस संसार की वास्तविकता क्या है– हम नहीं जानते। भगवान ही जानते हैं।

11. भ्रष्टावसर न्याय

"इहातिजरसं ब्राह्मणकुलं पश्येति लुग्न भवति, आनुपूर्व्या सिद्धत्वात्....न च पुनर्लुक्शास्त्रं प्रवर्तते; भ्रष्टावसरत्वात्"।[196]

यह न्याय काशिकाकार, न्यासकार तथा पदमञ्जरीकार सभी ने "जराया जरसन्यतरस्याम्" इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ यह है कि जिसका अवसर एक बार भ्रष्ट हो जाए, वह फिर प्रवृत्त नहीं हो सकता। क्योंकि वह मौका चूक गया है। कहावत भी है–

"मौका चूके डूमणी गावे आल पताल"। अथवा "हाथ का चुका फिर मारे, समय का चूका सिर मारे"।

वस्तुतः किसी कार्य को उचित समय पर न करके अकाल करना न करने के

जैसा ही होता है– 'अकाले कृतमकृतं स्यात्' तथा ''कालःपिबति तद्रसम्''। भ्रष्टावसर न्याय के विषय में यह सुभाषित भी है–

''निर्वाणदीपे किमु तैलदानं चौरे गते वा किमु सावधानम्।
वयोगते किं वनिताविलासः पयोगते किं खलु सेतुबन्धः''॥[197]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में उदाहरण के लिए 'अतिजरसं ब्राह्मणकुलं पश्य' यहाँ अतिजर + अम् इस स्थिति में ''स्वमोर्नपुसंकात्''[198] से 'अम्' का लुक् और ''अतोऽम्''[199] से 'अम्' के स्थान में 'अम्' आदेश तथा ''जराया जरसन्यतरस्याम्' से 'जरस्' आदेश ये तीनों कार्य एक साथ प्राप्त होते हैं। उनमें उत्सर्गरूप लुक् को 'अम्' आदेश अपवाद होने से बाध लेता है और 'अम्' आदेश को भी 'परे' होने से 'जरस्' आदेश बाध लेता है। अब कोई कहे कि इस 'जरस्' आदेश का भी लुक् हो जाना चाहिए तो वह इस न्याय के विरुद्ध होने से नहीं हो सकता। क्योंकि लुक् को सबसे पहले अवसर प्राप्त हुआ, वह 'अम्' आदेश ने बाध लिया। अमादेश द्वारा बाधे जाने पर अब लुक् भ्रष्टावसर हो गया। मौका चूक गया। अब वह जरसादेश के बाद नहीं प्राप्त हो सकता। इस प्रकार 'अतिजरसं ब्राह्मणकुलं पश्य' यही इष्ट रूप बनता है। यह न्याय अन्यत्र भी व्याकरणशास्त्र में पर्याप्त प्रयुक्त है।[200]

12. अन्धानां काणो राजा न्याय

''अन्धानामपि वास्तवं विद्यते न तु लोकप्रसिद्धम्। तत्र दर्शनप्रकर्षाश्रयः प्रत्ययस्तथा च लोके प्रसिद्धिः– अन्धानां काणो राजेति''।[201]

यह न्याय लोकप्रसिद्ध है। प्रदीपकार कैयट ने ''अतिशायने तमबिष्ठनौ'' सूत्र के भाष्य में इसे दिया है। 'अन्धानां काणो राजा' या अन्धानां काणतमः' ऐसा कहिए, बात एक ही है। क्योंकि अन्धे दोनों आँखों से नहीं देख सकते और काणा एक आँख से ही नहीं देख सकता, दूसरी से तो देख सकता है। इसलिए काणा अन्धों से प्रकृष्ट माना गया। तभी उसमें 'तमप्' प्रत्यय हुआ।

13. कैमुतिक न्याय

''अडाटोर्बाधकस्याङ्गस्य बाधको विकरणः सुतरामडाटोर्बाधक इति कैमुतिकन्यायं वक्तुं भाष्ये अडाड्भ्यामपीति''।[202]

''शदेः शितः'' सूत्र के भाष्यगत ''अडाड्भ्यामप्यन्यदाङ्गं पूर्वमेषितव्यमुपार्च्छदित्येवमर्थम्'' इसकी व्याख्याप्रसङ्ग में उद्द्योतकार ने इस 'कैमुतिक' न्याय का निर्देश किया है। इस न्याय का अर्थ यह है कि जैसे कोई कहे कि यह परिश्रम करता है इसलिए सफल होता है। इस पर दूसरा कहे कि जब यह सफल होता है तो इसे यश भी प्राप्त होता है। इसका तो कहना ही क्या। क्योंकि सफलता पर ही यश निर्भर है। जब सफलता मिल गई तो यश की प्राप्ति में क्या सन्देह है ? यश तो फिर अवश्य

ही मिलेगा। भाव यह है कि कठिन कार्य के हो जाने के बाद जब सरल कार्य का सम्पन्न हो जाना असन्दिग्ध हो जाता है तब कहा जाता है कि इसका तो क्या कहना। यह तो बड़ी आसानी से हो जाएगा। ऐसी स्थिति में उक्त न्याय प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में इस विषय में न्यायोक्तिकोश में लिखा है–

''अयं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः स्तुतिनिन्दोभयसाधारणः''।

आप्टे कोश में इसे काव्यार्थापत्ति बताते हुए कहा गया है–

''कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम्''॥

यहाँ 'उपार्च्छत्' की सिद्धि करते हुए भाष्यकार लिखते हैं कि 'अट्' और 'आट्' से भी पहले अङ्गसम्बन्धी कार्य करना होगा। क्योंकि 'अट्' और 'आट्' का बाधक जो अङ्गसम्बन्धी कार्य है, उसका बाधक विकरण तो निश्चित रूप से ही 'अट्' और 'आट्' का बाधक होगा। उसका तो कहना ही क्या है। जब अङ्गसम्बन्धी कार्य 'अट्-आट्' को बाध लेगा तो उसका बाधक विकरण तो उनको जरूर ही बाध लेगा, यह बात कैमुतिक न्याय से सिद्ध हो जाती है। यह न्याय नागेश ने अन्यत्र भी प्रयुक्त किया है।[203] गीता तथा अभिज्ञानशाकुन्तल में भी एतदर्थविषयक एक प्रयोग हुआ है।[204]

ख (2) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित लोकोक्ति एवं मुहावरे सम्बन्धी लोकन्याय

1. तत्कारी तद्द्वेषी न्याय[205]
2. आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे न्याय[206]
3. न हि काको वाश्यते न्याय[207]
4. अन्धकवर्तकीय न्याय[208]
5. अगतिकगति न्याय[209]
6. गतानुगतिक न्याय[210]
7. वराटिकाऽन्वेषणाय प्रवृत्तश्चिन्तामणिं लब्धवान् (आभाणक) न्याय[211]
8. कुशकाशावलम्बन न्याय[212]
9. अशोकवनिका (वाटिका) न्याय[213]
10. तुष्यतु दुर्जनः (अभ्युपगमवाद) न्याय[214]

सन्दर्भसूची

1. परि. सं. 1
2. महा. भा. पस्पशा. पृ. 11. तुलना करो

"पदच्छेदः पदार्थोक्तिः विग्रहो वाक्ययोजना।

आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्"॥

"उपोद्घातः पदञ्चैव पदार्थः पदविग्रहः।

चालनाः प्रत्यवस्थाश्च व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा॥"

3. महा. भा. 1 सू. 1.1.9 पृ. 62.
4. महा. प्रः भा. 1 सू. 1.1.9 पृ. 203.
5. पा. 1.1.9.
6. का. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 363 "यश्चार्थो लोकतः सिद्धः किन्तत्र शास्त्रीयेण यत्नेन"।
7. न्यास. (का. भा. 1 सू. 1.1.8 पृ. 97; भा0 4 सू. 5.1.12 पृ. 22; भा0 6 सू. 8.4.3 पृ. 609); प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.7 पृ. 96; भा. 4 सू. 5.1.12 पृ. 22; भा0 6 सू. 8.4. 3 पृ. 608).
8. न्यास. भा. 1 सू. 1.1.9 पृ. 97.
9. महा. प्र. सू. भा. 1 सू. 1.1.9 पृ. 200.
10. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.19 पृ. 238; भा. 2 सू. 2.1.1. पृ. 505 प.मं. (का. भा. 2 सू. 2.1.1 पृ. 7; महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.19 पृ. 238; सू. 1.1.48 पृ. 357.
11. महा. भा. 1 सू. 1.1.71 पृ. 182.
12. महा. भा. 2 सू. 3.1.19 पृ. 27.
13. पा. 3.1.32.
14. द्र. महा. भा. 1 सू. 1.3.1 पृ. 254 'क्रियावचनो धातुः'।
15. पा. 3.4.70.
16. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 189).
17. पा. 3.4.86
18. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 399.
19. प. मं. (का. भा. 6 सू. 8.1.68 पृ. 314).
20. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.63 पृ. 499.
21. महा. भा. 1 सू. 1.1.49 पृ. 119.
22. मा. 6.1.77.
23. महा. भा. 1. सू. 1.1.74 पृ. 190
24. पा. 4.2.114
25. पा. 4.3.120
26. पा. 1.1.75
27. पा. 1.1.73
28. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.3 पृ. 144; प. मं. (का. भा. 6 सू. 8.3.34 पृ0 515); महा. प्र.

उ भा. 2 सू. 2.3.32 पृ0 802.

29. महा. भा. 1 सू. 2.2.24 पृ. 425
30. महा. भा. 1 सू. 1.4.56 पृ. 340
31. पा. 1.4.97.
32. पा. 3.4.13
33. तुलना करो, वै. भू. सा. कारिका सं. 56

"अभेदैकत्वसंख्याया वृत्तौ भानमिति स्थितिः।

कपिञ्जलालम्भवाक्ये त्रित्वं न्यायाद् यथोच्यते"॥

34. द्र. पृ. 508.
35. न्यास (का. भा. 1 सू. 1.4.56 पृ. 588; भा. 2 सू. 7.3.2 पृ. 653); प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.4.56 पृ. 589); गणरत्नमहोदधि, स्वरादिगण, पृ. 42; श. र. (प्रौ. म.) सू. 2330 पृ. 386; बृ. श. शे. भा. 3 सू. 2330 पृ. 1692.
36. महा. भा. 1 सू.. 2.3.35 पृ. 457. तुलना करो– मनु. 4.151–

"दूरादावसथान्मूत्रं दूरात् पादावसेचनम्।

उच्छिष्टान्ननिषेकं च दूरादेव समाचरेत्"॥

37. तुलना करो– महा. भा. 1 सू. 2.2.6 पृ. 411 "अब्राह्मणो यस्तिष्ठन् मूत्रयति".... इत्यादि।
38. बृ. श. शे. भा. 1 सू. 401 पृ. 643.
39. पा. प. 8.2.7.
40. पा. 6.4.1.
41. पा. 5.1.59
42. उक्त न्याय का समानार्थक भाष्यकार का निम्न कथन भी इस सन्दर्भ में तुलनीय है–

(क) "यदि प्रयोगे धर्मः सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येते। कश्चेदानीं भवतो मत्सरो यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन यज्येत। न खलु कश्चिन्मत्सरः प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति। फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम्। न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः"। (महा. पस्पशा. पृ. 10)।

(ख) महा. सू. 1.1.39 पृ. 88-99–"न हि दोषाः सन्तीति परिभाषा न कर्तव्या लक्षणं वा न प्रणेयम्। न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते। न हि मृगाः सन्तीति यवा नाप्यन्ते। दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिताः प्रयोजनानामुदाहरणमात्रम्...."

43. प्रौ. म. सू. 1725 पृ. 242; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 2 पृ. 17; सू. 14 पृ. 66; सू. 178 पृ. 328.
44. महा. भा. 2. सू. 5.4.68 पृ. 438.
45. पा. 5.4.74.
46. पा. 4.1.21.

47. महा. भा. 3 सू. 6.1.223 पृ. 119.
48. परि. सं. 80.
49. इस न्याय का मूल भाव यही है कि जैसे कोई वस्तु दो बार गांठ बांधने के बाद सुबद्ध हो जाने से फिर नहीं खुलती वैसे ही स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए कई बार एक बात को दोबारा भी कह दिया जाता है। तुलना करो– ''उक्तार्थानामपि प्रयोगो दृश्यते''।
50. पा. 8.4.66.
51. परिभाषेन्दुशेखर आदि ग्रन्थों में उक्त परिभाषा इसी रूप में पठित है।
52. पा. 6.1.213
53. पा. 6.1.185
54. पा. 4.4.91
55. पा. 6.1.79
56. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.4.4 पृ. 506).
57. दु. वृ. सू. 1.1.5 पृ. 1; महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.41 पृ. 330; बृ. शे.भा. 2 सू. 537 पृ. 818.
58. महा. भा. 3 सू. 8.1.8 पृ. 367.
59. प.मं0 (का. भा. 6 सू. 8.1.8. पृ. 239).
60. महा. प्र. भा. 2 सू. 2.4.26 पृ. 862–''मुनित्रियाच्च भाष्यकारः प्रमाणतरम्, अधिकलक्ष्यदर्शित्वात्''।
61. पा. 3.1.80.
62. पा. 6.4.48.
63. पा. 1.1.56.
64. पा. 1.1.4.
65. ल.श.र. (प्रौ. म.) सू. 222 पृ. 344 ''भाष्यकारोक्त्येति। एतदेवाभिप्रेत्य भिन्विकृण्व्योर च इति च इति सूत्रे किमर्थमत्वं विधीयते, वलोप एवास्तु इत्याशङ्क्यात्वे अल्लोपे तस्य स्थानिवत्वेन गुणाभावाय तत्। न च वलोपेऽपि न धातुलोप इति गुणनिषेधः सिद्ध इति वाच्यम्, तत्प्रत्याख्यानपक्षे गुणप्राप्तेप्युक्तम्। अनेन सूत्रमतात् प्रत्याख्यानवादिमतं प्रबलमिति प्रत्याख्यानवादिसमंतलक्ष्यमेव कथंचित् सूत्रमतेऽपि साध्यम्, न तु विपरीतम्, सति संभवे, अन्यथा सूत्रमप्रमाणमेवति च, प्रत्याख्यानं सूत्रसंमतमिति च ध्वनितम्''।
66. पा. 8.4.63.
67. पा. 5.1.134.
68. पा. 7.1.81.
69. पा. 7.1.80.
70. पा. 8.4.63 पर वार्तिक।

71. काठकसंहिता, 190. 10.
72. प.मं. (का. भा. 2 सू. 3.2.15 पृ. 553).
73. कुमार. 1.60.
74. महा. भा. 1. सू. 1.4.3. पृ. 313.
75. पा. 5.2.100 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः''।
76. प्रकृत न्याय की अधिकता के कारण यहाँ सबका उल्लेख नहीं किया गया जानना चाहिए।
77. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.3.72 पृ. 290.
78. तुलना करो महा. भा. 2. सू. 3.1.26, पृ. 35-36 ''नेह कश्चित् परोऽनुग्रहीतव्य इति प्रवर्तते। सर्व इमे स्वभूत्यर्थं प्रवर्तन्ते....''। भर्तृहरि (वा. प. 3.7.124) भी कहते हैं–

''निमित्तेभ्यः प्रवर्तन्ते सर्व एव स्वभूतये।
अभिप्रायोऽनुरोधेऽपि स्वार्थस्यैव प्रसिद्धये''।

79. मनु. 2.4.
80. श्लोकवार्तिक पृ. 653; न्या. मं. पृ. 191; आनन्दगिरिकृत ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य व्याख्या 2.2.1; लौ. न्या. र. पृ. 108. सर्वदर्शनसंग्रह (अक्षपाददर्शन पृ. 98) में उक्त न्याय इस प्रकार है–

''प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते।
जगच्च सृजतस्तस्य किं नाम न कृतं भवेत्''॥

81. महा. प्र. भा. 5 सू. 7.2.37 पृ. 134.
82. पा. 7.2.38.
83. पा. 7.2.11.
84. पा. 7.2.8.
85. महा. भा. 1 सू. 1.1.41 पृ. 100.
86. पा. 7.4.32.
87. महा. प्र. भा. 5 सू. 8.4.47 पृ. 507.
88. का. प्र. कारिका सं. 72 पृ. 423– ''कः खल्वनुन्मत्तोऽन्यस्य प्रस्तावेऽन्यदभिदध्यात्''।
89. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.2.51 पृ. 354).
90. पा. 1.2.53
91. कुमार 2.55
92. पञ्चतन्त्र 1.245
93. उदाहरण के रूप में जैसे–
(क) ''त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्''।
(ख) ''अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति''।

(ग) "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्"।

(घ) "गतानुगतिको लोको न लोकः पारमार्थिकः"। इत्यादि

94. दु. वृ. सू. 3.1.2. पृ. 41, *खण्डनखण्डखाद्य* पृ. 727; श. कौ. भा. 2 सू. 2.3.1. पृ. 222; वै सि. कौ. भा. 1 सू. 537 पृ. 602; *बृ. श. शे. भा.1* सू. 537 पृ. 824; लौ. न्या. र. पृ. 131; 247; *बा. म. (वै. सि. कौ. भा. 2* सू. 658 पृ. 10).

95. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.3.67 पृ0 473).

96. वैसे यह न्याय चाणक्यनीति (2.10) तथा हितोपदेश (1.115) में श्लोक रूप में इस प्रकार पठित है–

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्"॥

97. महा. भा. 1 सू. 1.1.12 पृ. 68.

98. कुमार. 1.3.

99. रघु. 2.47.

100. पञ्चतन्त्र, लब्धप्रणाश, श्लोक सं. 28.

101. (क) प्रौ. म. सू. 1.1.4 पृ. 649; मा. धा. भ्वादि. धातु सं. 1. पृ. 43.
(ख) आनन्दगिरिकृतब्रह्मसूत्रव्याख्या, 1.1.22.

102. प्रौ. म. भा. 2 सू. 2651 पृ. 649

103. पा. 6.4.49

104. चाणक्यनीति. 2.10

105. तुलना करो–महाभारत. वन पर्व, अध्याय 314, श्लोक सं. 117 "महाजनो येन गतः स पन्थाः"।

106. प्रौ. म. भा. 2 सू. 3094-95 पृ. 739.

107. पा. 3.2.108.

108. रघु. 5.61.

109. वही 5.34.

110. पञ्चतन्त्र 1.373. तुलना करो, हितोपदेश, मित्रलाभ, श्लोक सं. 10.

"गतानुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम्।
प्रमाणयन्ति नो धर्मं यथा गोघ्नमपि द्विजम्॥"

111. काव्यालङ्कार, 1.32; नैषध. 5.55.

112. प्रौ. म. भा. 2 सू. 3629 पृ. 739.

113. तुलना करो– "अल्पारम्भः क्षेमकरः"।

114. ऋक्. 3.11.6.

115. त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 3 सू. 2243 पृ. 60-61).

116. (क) पञ्चतन्त्र 2.157.

"धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यापि न शुभावहा।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥"

(ख) महाभारत 3.95.

"धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीक्षता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥"

(ग) तुलना करो–

"स्वपक्षस्थापनात्पूर्वं परपक्षस्थापनं वरम्।
मुखप्रक्षालनात्पूर्वं गुदप्रक्षालनं वरम्"॥

117. पा. 6.1.8.

118. पा. 6.1.77.

119. (क) महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.44 पृ. 326.
(ख) शाङ्करभाष्य, ब्र.सू. 3.2.22; भामंती 4.1.16; आनन्दगिरिकृत ब्रह्मसूत्रव्याख्या 4. 1.16; विवरणप्रमेयसंग्रह पृ. 97.

120. परि. सं. 42 पृ. 73.

121. मनु. 2. 121.

122. महा. प्र. उ. भा. 4. सू. 6.2.36 पृ. 546.

123. न्यायदर्शन 1.1.41 "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः"।

124. तुलना करो– "सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्तते"।

125. द्र. "सन्दिग्धं सप्रयोजनं च विचारमर्हति"।

126. महा. भा. 1 पस्पशा. पृ. 1 "असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्"।

127. ध्यातव्य है कि वस्तुतः प्रकृत न्याय "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः" इस न्याय का ही आधा भाग है परन्तु नागेश ने इस एकदेश या आधे भाग को भी स्वतन्त्र न्याय मानकर प्रयोग कर दिया है। वैयाकरण में पदैकदेश न्याय, संज्ञैकदेशन्याय इत्यादि एकदेशी न्यायों की भी प्रवृत्ति देखी जाती है। प्रकृत न्याय भी इसी कोटि में आता है।

128. महा. प्र. भा. 1. सू. 1.1.66-67 पृ. 512.

129. बृ. श. शे. भा. 1 सू. 12 पृ. 60.

130. पा. 2.3.3.

131. पा. 7. 3.115.

132. प. ल. म. लकारार्थनिर्णय, पृ. 306.

133. शूद्रक, 1.10.

134. विक्रमोर्वशीय. 3.21–

"यदेवोपनतं दुःखात् सुखं तद् रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः॥"

134a. द्र. पृ. 676.
135. द्र. पृ. 195.
136. द्र. पृ. 481.
137. द्र. पृ. 504.
138. द्र. पृ. 99.
139. द्र. पृ. 62.
140. द्र. पृ. 289.
141. द्र. पृ. 100.
142. द्र. पृ. 101; 373.
143. द्र. पृ. 103.
144. द्र. पृ. 101.
145. द्र. पृ. 104.
146. द्र. पृ. 106
147. द्र. पृ. 105.
148. द्र. पृ. 201.
149. द्र. पृ. 217.
150. द्र. पृ. 125.
151. द्र. पृ. 592.
152. द्र. पृ. 125.
153. द्र. पृ. 135.
154. द्र. पृ. 371.
155. द्र. पृ. 605.
156. द्र. पृ. 636.
157. द्र. पृ. 504.
158. द्र. पृ. 120.
159. द्र. पृ. 187.
160. द्र. पृ. 133.
161. द्र. पृ. 294.
162. द्र. पृ. 111.
163. द्र. पृ. 112; 113.
164. द्र. पृ. 514; 519.
165. द्र. पृ. 144.
166. द्र. पृ. 290.
167. महा. भा. 1 सू. 2.1.26 पृ. 384.

168. महा. भा. 1 2.1.42 पृ. 391.
169. महा. भा. 1 सू. 2.1.47 पृ. 391.
170. परि. सं. 28.
171. पा. 6.3.14.
172. पा. 2.1.48.
173. महा. भा. 1 सू. 1.4.13. पृ. 318; भा. 3 सू. 6.2.49 पृ. 128; श. कौ. भा. 2 सू. 1. 4.13 पृ. 108.
174. महा. भा. 2 सू. 4.1.162, पृ. 265.
175. का. भा. 1 सू. 1.2.6 पृ. 380 'वृद्धशब्दः पूर्वाचार्यसंज्ञा गोत्रस्य अपत्यमन्तर्हितं वृद्धमिति।'
176. प्रकृत वार्तिक काशिका में सूत्र रूप में पठित है– पा. 4.1.166.
177. महा. भा. 2 सू. 4.1.163, पृ. 265.
178. वही. सू. 3.1.79 पृ. 61.
179. पा. 6.4.37.
180. महा. भा. 2 सू. 3.1.79, पृ. 61.
181. वही. आ. 3 सू. 6.1.9 पृ. 13.
182. अनिरुद्धकृत सांख्यसूत्रव्याख्या, 1.6
183. महा. भा. 3 सू. 7.4.30 पृ. 349.
184. वही.
185. पा. 6.4.98
186. पा. 7.3.54
187. पा. 1.1.59
188. (क) महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.20 पृ. 243; भा. 2 सू. 2.4.62 पृ. 889;
(ख) सर्वदर्शनसंग्रह (पाणिनिदर्शन) पृ. 115; शाङ्कर दर्शन पृ. 163; शाबर भाष्य, 8.3. 14; तन्त्रवार्तिक पृ. 947; न्या. मं. पृ. 95; तर्कभाषा पृ. 88; लौ. न्या. र. पृ. 137; 248.
189. महा. भा. 4 सू. 6.1.68 पृ. 378.
190. तुलना करो, हेमचन्द्र–

"कुटुम्बमपि मे प्रेयः प्रेयांस्त्वमपि हे सखे।
किं करोमि द्विधाचित्त इतो व्याघ्र इतस्तटी॥"

191. (क) श. कौ. भा. 1 सू. 1.1.63 पृ. 270.
(ख) तन्त्रवार्तिक, 3.6.42; सर्वदर्शनसंग्रह, जैमिनिदर्शन, पृ. 108; न्या. मं., पृ. 436; कुसुमाञ्जलि 3.6 पृ. 374.
192. महा. भा. 3 सू. 8.2.46, पृ. 408
193. पा. 6.4.77.

194. महा. भा. 3 सू. 8.3.72 पृ. 443.

195. द्र.– "द्वौ नञौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ
पर्युदासः सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्॥"

196. का. भा. 5 सू. 7.2. 101 पृ0 789.

197. वेतालभट्टकृत नीतिप्रदीप. 13.

198. पा. 7.1.23.

199. पा. 7.1.24.

200. (क) महा. प्र. भा. 5 सू. 7.2.10 पृ. 108; सू. 7.4. 1. पृ. 243; प. मं. (का. भा. 6 सू. 7.4.1. पृ. 128); महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.3. पृ. 158; 159, 161; भा. 2 सू. 1.2.9 पृ. 21; सू. 1.2.18 पृ. 29; भा.4 सू. 6.3.112 पृ. 657; भा. 5. सू. 7.2.10. 108; सू. 7. 2.101 पृ. 172; सू. 7.3.3. पृ. 193; सू. 8.1.55. पृ. 335; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 3 पृ. 27; सू. 4 पृ. 29; सू. 67 पृ. 179; सू. 98 पृ. 228; सू. 120 पृ. 256; सू. 499 पृ. 756; भा. 2 गणसूत्र 97 पृ. 1394; भा. 3 सू. 2284 पृ. 1661; सू. 2648 पृ. 1861; सू. 2696 पृ. 1898; सू. 3518 पृ. 2182; श.र. गणसूत्र 97 पृ. 198.
(ख) तन्त्र वार्तिक 3.5.46.

201. महा. प्र. भा. 4 सू. 5.3.55 पृ. 200-1.

202. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.3.60 पृ. 266.

203. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.4.2 पृ. 323; सू. 2.2.29, पृ. 734; भा. 4 सू. 6.4.42 पृ. 714; सू. 6.4.127-128 पृ. 772. लौ. न्या. र. पृ. 232 पर भी यह न्याय प्रयुक्त हुआ है।

204. (क) द्र. गीता. 9.32
"मां पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥"
यहाँ 'अपि' शब्द से उक्त न्याय का संकेत मिलता है।
(ख) शाकुन्तल, 5.22–
"स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु,
संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजातम्,
अन्यैर्द्विजैः परभृताः खलु पोषयन्ति॥"

205. द्र. पृ. 124.

206. द्र. पृ. 200.

207. द्र. पृ. 174.

208. द्र. पृ. 366.

209. द्र. पृ. 143.

210. द्र. पृ. 558.

211. द्र. पृ. 347.

212. द्र. पृ. 304.

213. द्र. पृ. 304.

214. द्र. पृ. 350.

नवम उद्योत

जड़चेतन पदार्थों के स्वाभाविक गुणसम्बन्धी न्याय

(क) उक्त पदार्थों के स्वाभाविक गुणसम्बन्धी विवेचित लोकन्याय

1. शब्दशक्तिस्वभाव न्याय/अर्थयोगायोगस्वभाव न्याय

उभयमिदं वर्णेषूक्तम्-अर्थवन्तोऽनर्थका इति च। किमत्र न्याय्यम् ? उभयमित्याह। कुतः? स्वभावतः। तद् यथा समानमीहमानानां चाधीयानानां केचिदर्थैः युज्यन्ते अपरे न। न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुम्। कश्चिदनर्थक इति च सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्, यद्धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपाता एकवर्णा अर्थवन्तोऽतोऽन्येऽनर्थका इति। स्वाभाविकमेतत्''।[1]

''हयवरट्'' सूत्रभाष्य में वर्णों की अर्थवत्ता पर सैद्धान्तिक रूप से विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि जैसे लोक में देखा जाता है कि एकसमान प्रयत्न करने वाले और पढ़ने वाले व्यक्तियों में कोई तो सफल हो जाता है और कोई नहीं। अब क्योंकि कोई सफल हुआ है, इसलिए सभी सफल हो जाएं, यह कैसे संभव हो सकता है ? अथवा इसके विपरीत यदि कोई असफल हुआ है, इसलिए सभी असफल हो जाएं, यह भी कैसे संभव है ? ऐसी स्थिति में क्या किया जा सकता है ? यह तो स्वाभाविक है। क्योंकि कोई स्वभाव से व्युत्पन्नमति होता है और कोई मन्दमति।[2] वस्तुतः इस लौकिक न्याय को देने में भाष्यकार का यहां यह अभिप्राय है कि धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपातों के वर्ण तो स्वभावतः अर्थवान् हैं और अन्य शब्दों के वर्ण स्वभावतः अनर्थक हैं। इसलिए जो जैसा है, उसे वैसा ही रहने दो। इस विषय में कोई कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि कोई भी वस्तु अपना स्वभाव नहीं छोड़ती, जैसे चन्दन को अत्यधिक रगड़ने पर भी उससे सुगन्ध निकलती ही है। इसी तरह ईख को छीलकर पतला कर देने पर भी उसकी मिठास समाप्त नहीं होती। इसी प्रकार सोने को अग्नि में खूब जलाने पर भी अपने स्वभाव के कारण उसकी कान्ति बढ़ती ही है, कम नहीं होती। इस विषय में ''स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते,'' ''स्वभावो दुरतिक्रम'' ये लोकोक्तियां प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए शब्दशक्ति का भी अपना एक स्वभाव है जिसके अनुसार वर्णों की अर्थवत्ता और अनर्थकता जाँची जाती है तथा

स्वीकार की जाती है।

इसी प्रकार ''तद्धिततश्चासर्वविभक्तिः''[3] सूत्रभाष्य में भी अव्ययसंज्ञा लाने के लिए उक्त सूत्र के स्थान पर ''अविभक्तिः'' या ''अलिङ्गमसंख्यम्'' ऐसा न्यासान्तर प्रस्तावित करने पर इसमें आने वाले इतरेतराश्रय दोष को परिहत करने के लिए प्रकृत शब्दशक्ति स्वभावसिद्ध न्याय से ही अव्यय की अलिङ्गता और असंख्यता वाचनिक न मानकर स्वाभाविक मानी गई है। इसी तरह ''लटःशतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे''[4] सूत्रभाष्य में भी जैसे लट् लकार का अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य हो जाता है वैसे ही लङ् लकार का भी क्यों नहीं होता ? इसको रोकने के लिए प्रकृत शब्दशक्तिस्वभाव न्याय का ही आश्रयण किया गया है। क्योंकि अभिधानवशात् शब्दशक्तिस्वभाव से लट् का तो प्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य हो जाता है परन्तु लङ् का नहीं होता। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[5]

2. भेदका गुणा न्याय / अभेदका अपि गुणा दृश्यन्ते न्याय

''कथं पुनर्ज्ञायते भेदका गुणा इति। एवं हि दृश्यते लोके एकोऽयमात्मा उदकं नाम। तस्य गुणभेदादन्यत्त्वं भवति। अन्यदिदं शीतम्, अन्यदिदमुष्णम् इति। ननु च भो अभेदका अपि गुणा दृश्यन्ते। तद्यथा- देवदत्तो मुण्ड्यपि जट्यपि शिख्यपि स्वामाख्यां न जहाति। तथा बालो युवा वृद्धो वत्सो दम्यो बलीवर्द इति। उभयमिदं गुणेषूक्तम्-भेदका अभेदका इति। किं पुनरत्र शास्त्रे न्याय्यम् ? अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्''।[6]

''वृद्धिरादैच्'' सूत्रभाष्य में भाष्यकार गुणों की भेदकता-अभेदकता पर विचार करते हुए प्रकृत लोकन्याय को उपन्यस्त करते हैं कि कैसे जानें कि गुण भेदक होते हैं ? उत्तर देते हैं कि लोक में ऐसा देखते हैं कि एक ही जल नामक पदार्थ है। किन्तु उसमें गुणभेद से भिन्नता हो जाती है, जैसे-ठण्डे जल को देखकर कहते हैं कि यह ठण्डा जल है और गर्म को देखकर कहते हैं कि यह गर्म जल है। इस प्रकार एक ही जल शीत और उष्ण गुणों के भेद से भिन्न हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि गुण भेदक होते हैं अर्थात् रूप, उष्णादि गुण पदार्थ को भिन्न बना देते हैं। फलतः सब द्विमात्रिक अकारों की वृद्धि संज्ञा करने के लिए सूत्र में 'आत्' यह तपरकरण किया गया है- यह सिद्ध हो जाता है। अवधेय है कि प्रकृत न्याय के विषय में ''अनुदात्तदेरञ्''[7] सूत्रस्थ 'अनुदात्त' ग्रहण ही ज्ञापक है। क्योंकि यदि गुण अभेदक होते तो 'अनुदात्तादेः' ग्रहण के स्थान पर 'अजादेः' ऐसा ग्रहण कर देने पर भी अनुदात्तादि ग्रहण का कार्य सिद्ध हो जाता और ऐसा करने में लाघव भी था। फलतः सूत्र में अनुदात्तादि ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। किन्तु व्यर्थ कोई काम आचार्य करते नहीं। अतः व्यर्थ पड़कर यह 'अनुदात्तादि' ग्रहण यह ज्ञापित करता है कि गुण भेदक होते हैं।

भाष्यकार आगे कहते हैं कि किन्तु लोक में जैसे गुण भेदक होते हैं वैसे ही

वे अभेदक भी दीखते हैं। देखो, वैसे तो एक ही देवदत्त सिर मुण्डाने पर, जटा रखने पर या शिखा रखने पर भिन्न-भिन्न आकृति का होने से भिन्न-भिन्न हो जाना चाहिए। परन्तु मुण्डनादि गुणों के भेद होने पर भी 'स एवायम्' इस रूपसामान्य व्यवहार द्वारा वह 'देवदत्त' ही रहता है, 'देवदत्त' अपने इस नाम को नहीं छोड़ता। इससे प्रतीत होता है कि **गुणभेद होने पर भी द्रव्य अभिन्न ही रहता है** अर्थात् गुण अभेदक होते हैं, भेदक नहीं। फलतः वही देवदत्त बालक, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाभेद होने पर भी 'देवदत्त' ही रहता है। इसी प्रकार बछड़ा नारा एवं पूरा बैल हो जाने पर भी गोवत्स ही रहता है। इन उदाहरणों से गुणों की अभेदकता सिद्ध होती है जबकि उपर्युक्त जल के उदाहरण से भेदकता स्पष्ट है। इस प्रकार आम्नाय शब्दों के नियतस्वर होने से वेद में तो गुण भेदक होते हैं जबकि गोपिण्ड के वत्सादि अवस्थाभेद के कारण क्रयविक्रयादि में मूल्यभेद से भेदकरूप में तथा 'स एवायम्' इस तरह प्रत्यभिज्ञान से अभेदक रूप में व्यवहृत होने के कारण लोक में गुणों को भेदक एवं अभेदक दोनों प्रकार का अनुभव करते हैं। इसलिए **लोक में गुण भेदक तथा अभेदक उभयथा माने जाते हैं।** किन्तु यहाँ व्याकरणशास्त्र में तो लक्ष्यानुरोध से गुणों को अभेदक ही स्वीकार किया गया है अर्थात् जब तक विशेष यत्न द्वारा भेद का प्रतिपादन नहीं किया जाता तब तक गुण अभेदक ही रहते हैं। लोक में भी हम देखते हैं कि जब केवल 'गामानय' ऐसा ही कहा जाता है तो लाने वाला जिस किसी भी रंग वाली गाय को लेकर 'कृती' हो जाता है किन्तु 'कृष्णां गामानय' कहने पर वह काले रंग वाली गाय को लाने पर ही सफल होता है, अन्य को नहीं। इस विषय में "अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः"[8] सूत्र में किया गया 'उदात्त' ग्रहण भी ज्ञापक है। क्योंकि सूत्र में 'उदात्त' ग्रहण न करके यदि 'अनङ्' आदेश को ही उदात्त उच्चारण कर देते तो भी 'अस्थ्ना', 'दध्ना' इत्यादि में 'अनङ्' उदात्त रह जाता। ऐसी अवस्था में व्यर्थ हुआ 'उदात्त' शब्द का ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि उदात्त स्वर से उच्चारण किया हुआ 'अनङ्' आदेश जब तक स्पष्ट रूप में उदात्त न कहा जाए तब तक उसके उदात्तत्व की प्रतीति नहीं होती। वह क्यों नहीं होती? इसलिए कि **केवल उच्चारण से भेद का बोध नहीं होता है।** उस भेद को बताने के लिए ही उदात्त शब्द का विशेष ग्रहण (यत्न) किया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि **जब तक यत्नविशेष द्वारा उदात्तादि स्वरों या गुणों का साक्षान्निर्देश नहीं किया जाएगा तब तक विद्यमान भी उदात्तादि स्वर प्रतीत नहीं होते** अर्थात् केवल उच्चारण कर देने से उनका भेद विवक्षित नहीं होता। वे अभेदक ही होते हैं। साक्षात् उदात्त आदि शब्दों के निर्देश से ही उनका भेद प्रतीत होता है। इसलिए भाष्य में जहां-तहां कहे गए "उदात्तनिपातनं करिष्यते"[9] इत्यादि वचनसुसंगत हो जाते हैं। प्रकृत "वृद्धिरादैच्" सूत्रव्याख्याप्रसङ्ग में गुणों की भेदकता-अभेदकतारूप विषय को सुस्पष्ट करने के लिए ही पदमञ्जरीकार ने भी उदाहरणान्तरमूलक मुण्डचौर नामक एक अन्य लोकन्याय प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है–

3. मुण्डचौर न्याय

"अभेदकत्वाच्च गुणानाम्, लोके हि मुण्डेनापि चौर्ये कृते संजातकेशोऽपि प्रत्यभिज्ञाय निगृह्यते"।[10]

इसका अर्थ यह है कि जैसे हम लोक में देखते हैं कि बाल मुण्डाकर कोई मनुष्य चोरी कर ले और फिर अपने पकड़े जाने के भय से अपने बाल बढ़ा ले जिससे कि लोग उसे पहचान न सकें। किन्तु फिर भी वह पहचाना जाकर पकड़ा जाता है। यही बात शास्त्र में भी है कि उदात्त, अनुदात्त आदि गुणों के भेद होने पर भी आकार एक ही रहता है अर्थात् उदात्त का आकार भी वही है और अनुदात्त का आकार भी वही है। इस प्रकार **गुणों के भेद होने पर भी शास्त्र में उनका कोई भेद नहीं माना जाता।** इसलिए "वृद्धिरादैच्" में उदात्त आदि गुणभेद वाला आकार भी एक ही आकार माना जाएगा। फलतः जैसे उदात्त आकार की वृद्धि संज्ञा होती है वैसे ही अनुदात्त आकार की भी। इसीलिए आचार्य ने "लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः"[11] इत्यादि सूत्रों में भी अकार को उदात्त आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया है जिसका तात्पर्य यही है कि जब तक उदात्त आदि शब्दों से विशेष निर्देश नहीं करते तब तक अकार आदि के उदात्त आदि गुण भिन्न नहीं प्रतीत होते अपि उदात्तादि विशेषनिर्देश करने पर ही भेद प्रतीत होता है।

ग्रन्थकार का उक्त न्याय को उपन्यस्त करने का यही तात्पर्य है कि चोरी करने वाला व्यक्ति चाहे बाल मुण्डाकर चोरी करे और चाहे बाल बढ़ाकर करे, दोनों दशाओं में उसे चोर समझकर निगृहीत किया जाएगा। बाल बढ़ाकर वह यह नहीं समझ सकता कि मैं चोरी करने वाले सिरमुण्डे मनुष्य से भिन्न हो गया हूँ इसलिए पहचाना नहीं जा सकूँगा। यह उसका मिथ्या भ्रम है। बाल मुण्डाने और बाल रखने से उसका चौर्य नहीं छिप सकता।[12]

4. अर्थयोगायोगस्वभाव न्याय / शब्दशक्तिस्वभाव न्याय / वस्नक्रीतगो न्याय

"नेदं वाचनिकमलिङ्गतासंख्यता च, किन्तर्हि? स्वाभाविकमेतत्। तद्यथा-समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्? स्वाभाविकमेतत्। अथवा पुनरस्तु-अविभक्तिः शब्दोऽव्ययसंज्ञो भवतीति। यद्यपि तावद् वैयाकरणा विभक्तिलोपमारभमःणा अविभक्तिकान् शब्दान् प्रयुञ्जते। ये त्वेते वैयाकरणेभ्योऽन्ये मनुष्याः कथं तेऽविभक्तिकान् शब्दान् प्रयुञ्जते इति? अभिज्ञाश्च पुनर्लौकिका एकत्वादीनामर्थानाम्। आतश्चाभिज्ञाः। अन्येन हि वस्नेनैकं गां क्रीणन्ति, अन्येन द्वौ, अन्येन त्रीन्। अभिज्ञाश्च न च प्रयुञ्जते। तदेतदेवं संदृश्यताम्-अर्थरूपमेवैतदेवं जातीयकं येनात्र विभक्तिर्न भवतीति"।[13]

"तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" इस अव्ययसंज्ञाविधायक सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि 'असर्वविभक्तिः' इस शब्द के स्थान में अविभक्तिः ऐसा सूत्र कर

दिया जाए ? उस अवस्था "स्वरादिनिपातमव्ययम्"[14] इस पूर्वसूत्र से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति होकर विभक्ति- रहित या लिङ्गसंख्यारहित शब्द की अव्यय संज्ञा होती है- ऐसा सूत्रार्थ हो जाएगा जोकि अभीष्ट है। उक्त दोनों प्रकार के न्यासों में इतरेतराश्रय दोष दिखाकर भाष्यकार-'अलिङ्गम्, असंख्यम्' इस न्यास को निर्दोष सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि अलिङ्गता और असंख्यता वाचनिक नहीं है अर्थात् आपके वचन से शब्द लिङ्गसंख्यारहित नहीं हो सकते। यह तो शब्दशक्ति का अपना स्वभाव है कि कुछ शब्द स्वभाव से ही लिङ्गसंख्यारहित होते हैं। उसमें आपका वचन क्या करेगा ? जैसे लोक में एक साथ परिश्रम करने वाले तथा पढ़ने वालों में से कुछ तो सफल हो जाते हैं और कुछ नहीं होते। इस विषय में हम क्या कर सकते हैं। यह तो स्वभावसिद्ध बात है अर्थात् यह तो अपने-अपने स्वभाव तथा कर्मफल पर आश्रित है। इसलिए 'अलिङ्गम्, असंख्यम्' इस न्यास में कोई इतरेतराश्रय दोष नहीं आता।

रहा 'अविभक्तिः' यह न्यास-इसमें भी यह बात विचारणीय है कि यद्यपि वैयाकरण लोग तो "अव्ययादाप्सुपः"[15] इस सूत्र से विभक्ति का लुक् करके अव्ययसंज्ञक शब्दों को अविभक्ति बनाकर प्रयुक्त करते हैं किन्तु उन लोगों से तो पूछिए जो वैयाकरण नहीं हैं, सर्वथा व्याकरण नहीं जानते। वे क्यों विभक्तिरहित शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह बात भी नहीं है कि वे शब्दों के एकत्वादि अर्थों को न जानते हों। सब जानते हैं पर जानते हुए भी विभक्तिरहित ही प्रयुक्त करते हैं। लौकिक मनुष्य एकत्वादि अर्थों के पूर्णतया जानकार हैं–यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि वे एक रुपए के मूल्य से एक गौ (बैल) को खरीदते हैं, दो रुपये से दो को और तीन रुपये से तीन को। यदि उन्हें केवल एक गौ या बैल खरीदना हो तो वे उसके लिए अन्य मूल्य देते हैं, दो के लिए अन्य और तीन के लिए अन्य। वस्तुओं के मूल्य या तारतम्य को समझते हुए भी वे अनपढ़ लोग अव्यय शब्दों को विभक्तिरहित ही बोलते हैं। इससे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि अव्ययसंज्ञक शब्दों का स्वरूप ही ऐसा है कि उनमें विभक्ति नहीं आती है। इस प्रकार 'अविभक्तिः' इस न्यास में भी इतरेतराश्रय दोष परिहृत हो जाता है। यह सब लोकन्याय तथा लोकव्यवहार का ही माहात्म्य है।

5. स्वभावसिद्धान्तरतम न्याय / गोप्रसव न्याय / गोयुक्तकसंघुष्टक न्याय / पृथिवीलोष्ट न्याय/ अब्धूम न्याय/ ज्योतिरर्चिः न्याय

"प्रत्यात्मवचनमशिष्यं स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावत एतत् सिद्धम्। तद् यथा-समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते न चोच्यते प्रत्यात्ममिति, प्रत्यात्मं चासते। अन्तरतमवचनं चाशिष्यम्। कुतः ? स्वभावसिद्धत्वादेव। तद्यथा-समाजेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते नैव कृशाः कृशैः सहासते , न पाण्डवः पाण्डुभिः, येषामेव किञ्चिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते। तथा गावो दिवसं चरिवत्यो यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते। तथा यान्येतानि गोयुक्तकानि संघुष्टकानि भवन्ति

तान्यन्योन्यमपश्यन्ति शब्दं कुर्वन्ति। एवं तावच्चेतनावत्सु। अचेतनेष्वपि, तद् यथा लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति, नोर्ध्वमारोहति, पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः, स आकाशदेशे निवाते नैव तिर्यग् गच्छति, नावागवरोहति, अब्विकारोऽप एव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितो नैव तिर्यग् गच्छति, नावागवरोहति, ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः"।[16]

"स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र के भाष्य में वार्तिककार ने "प्रत्यात्मवचन" कहा है जिसका आशय है कि प्रत्येक के स्थान में अपना-अपना अन्तरतम एवं सदृशतम आदेश ही हो, किसी दूसरे का अन्तरतम दूसरे के स्थान में आदेश न हो। पहले कहे हुए इस वचन का बाद में फिर स्वयं ही वार्तिककार भी भाष्यकार के साथ मिलकर खण्डन करते हैं कि प्रत्यात्मवचन कहने की कोई आवश्कता नहीं। स्वभाव से ही यह सिद्ध है कि अपने-अपने स्थान में अपना-अपना ही अन्तरतम आदेश होता है। दूसरे का अन्तरतम दूसरे के स्थान में आदेश नहीं होता, जैसे जब लोक में यह कहते हैं कि समाजों में, सहभोजों में या सभा-सोसाइटियों में बैठो तो सब अपने-अपने योग्य समाजों आदि में ही बैठते हैं, अपने से भिन्न समाज आदि में नहीं बैठते। यद्यपि वहां यह कोई नहीं कहता है कि अपने-अपने समाजों में बैठो। फिर भी सम्बन्धिशब्द न्याय से बिना अपना कहे ही लोग अपने-अपने समाजों में ही बैठते हैं। इस प्रकार प्रत्यात्मवचन का खण्डन हो जाता है।[17]

भाष्यकार अब इस सूत्र का ही प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि प्रत्यात्मवचन के साथ ही "स्थानेऽन्तरतमः" इस सूत्र द्वारा कहा हुआ अन्तरतमवचन भी अनर्थक है, अनावश्यक है अर्थात् यह भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि अन्तरतमवचन भी स्वभावसिद्ध है। लोक में जब हम कहते हैं कि समाजों, सहभोजों या सभाओं में बैठो तो न तो दुबले-पतले आदमी दुबले-पतलों के साथ ही बैठते हैं और न पीले रंग के पीले रङ्ग वालों के साथ बैठते हैं अपितु जिनके साथ जिनका कुछ भी अर्थकृत आन्तर्य एवं सादृश्य होता है, उन्हीं के साथ वे बैठते हैं। कहा भी है–

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यं हि कारणम्"॥[18]

संस्कृत साहित्य में निम्न सूक्ति भी प्रसिद्ध है–

"मृगाः मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम्"॥[19]

इसी प्रकार गाएं दिनभर चरकर जब सायंकाल घर लौटती हैं तो जिसका जो बच्चा होता है, वह उसी के साथ सोती है। इसी प्रकार हल या गाड़ी में जुतने वाली बैलों की जोड़ी में भी जब एक बैल दूसरे बैल को नहीं देख पाता तो वह रंभाता है

दिया जाए ? उस अवस्था "स्वरादिनिपातमव्ययम्"[14] इस पूर्वसूत्र से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति होकर विभक्ति- रहित या लिङ्गसंख्यारहित शब्द की अव्यय संज्ञा होती है- ऐसा सूत्रार्थ हो जाएगा जोकि अभीष्ट है। उक्त दोनों प्रकार के न्यासों में **इतरेतराश्रय दोष** दिखाकर भाष्यकार-**'अलिङ्गम्, असंख्यम्'** इस न्यास को निर्दोष सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि अलिङ्गता और असंख्यता वाचनिक नहीं है अर्थात् आपके वचन से शब्द लिङ्गसंख्यारहित नहीं हो सकते। **यह तो शब्दशक्ति का अपना स्वभाव है कि कुछ शब्द स्वभाव से ही लिङ्गसंख्यारहित होते हैं।** उसमें आपका वचन क्या करेगा ? जैसे लोक में एक साथ परिश्रम करने वाले तथा पढ़ने वालों में से कुछ तो सफल हो जाते हैं और कुछ नहीं होते। इस विषय में हम क्या कर सकते हैं। यह तो स्वभावसिद्ध बात है अर्थात् यह तो अपने-अपने स्वभाव तथा कर्मफल पर आश्रित है। इसलिए 'अलिङ्गम्, असंख्यम्' इस न्यास में कोई इतरेतराश्रय दोष नहीं आता।

रहा 'अविभक्तिः' यह न्यास-इसमें भी यह बात विचारणीय है कि यद्यपि वैयाकरण लोग तो "अव्ययादाप्सुपः"[15] इस सूत्र से विभक्ति का लुक् करके अव्ययसंज्ञक शब्दों को अविभक्ति बनाकर प्रयुक्त करते हैं किन्तु उन लोगों से तो पूछिए जो वैयाकरण नहीं हैं, सर्वथा व्याकरण नहीं जानते। वे क्यों विभक्तिरहित शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह बात भी नहीं है कि वे शब्दों के एकत्वादि अर्थों को न जानते हों। सब जानते हैं पर जानते हुए भी विभक्तिरहित ही प्रयुक्त करते हैं। लौकिक मनुष्य एकत्वादि अर्थों के पूर्णतया जानकार हैं–यह बात इससे भी सिद्ध होती है कि वे एक रुपए के मूल्य से एक गौ (बैल) को खरीदते हैं, दो रुपये से दो को और तीन रुपये से तीन को। यदि उन्हें केवल एक गौ या बैल खरीदना हो तो वे उसके लिए अन्य मूल्य देते हैं, दो के लिए अन्य और तीन के लिए अन्य। वस्तुओं के मूल्य या तारतम्य को समझते हुए भी वे अनपढ़ लोग अव्यय शब्दों को विभक्तिरहित ही बोलते हैं। इससे यह बात स्पष्ट विदित होती है कि अव्ययसंज्ञक शब्दों का स्वरूप ही ऐसा है कि उनमें **विभक्ति नहीं आती है।** इस प्रकार 'अविभक्तिः' इस न्यास में भी **इतरेतराश्रय दोष** परिहृत हो जाता है। यह सब लोकन्याय तथा लोकव्यवहार का ही माहात्म्य है।

5. स्वभावसिद्धान्तरतम न्याय / गोप्रसव न्याय / गोयुक्तकसंघुष्टक न्याय / पृथिवीलोष्ट न्याय/ अब्धूम न्याय/ ज्योतिरर्चिः न्याय

"प्रत्यात्मवचनमशिष्यं स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावत एतत् सिद्धम्। तद् यथा-समाजेषु समाशेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते न चोच्यते प्रत्यात्ममिति, प्रत्यात्मं चासते। अन्तरतमवचनं चाशिष्यम्। कुतः ? स्वभावसिद्धत्वादेव। तद्यथा-समाजेषु समवायेषु चास्यतामित्युक्ते नैव कृशाः कृशैः सहासते , न पाण्डवः पाण्डुभिः, येषामेव किञ्चिदर्थकृतमान्तर्यं तैरेव सहासते। तथा गावो दिवसं चरित्वा यो यस्याः प्रसवो भवति तेन सह शेरते। तथा यान्येतानि गोयुक्तकानि संघुष्टकानि भवन्ति

तान्यन्योन्यमपश्यन्ति शब्दं कुर्वन्ति। एवं तावच्चेतनावत्सु। अचेतनेष्वपि, तद् यथा लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग् गच्छति, नोर्ध्वमारोहति, पृथिवीविकारः पृथिवीमेव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः, स आकाशदेशे निवाते नैव तिर्यग् गच्छति, नावागवरोहति, अब्विकारोऽप एव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितो नैव तिर्यग् गच्छति, नावागवरोहति, ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः"।[16]

"स्थानेऽन्तरतमः" सूत्र के भाष्य में वार्तिककार ने "प्रत्यात्मवचन" कहा है जिसका आशय है कि प्रत्येक के स्थान में अपना-अपना अन्तरतम एवं सदृशतम आदेश ही हो, किसी दूसरे का अन्तरतम दूसरे के स्थान में आदेश न हो। पहले कहे हुए इस वचन का बाद में फिर स्वयं ही वार्तिककार भी भाष्यकार के साथ मिलकर खण्डन करते हैं कि प्रत्यात्मवचन कहने की कोई आवश्कता नहीं। **स्वभाव से ही यह सिद्ध है कि अपने-अपने स्थान में अपना-अपना ही अन्तरतम आदेश होता है। दूसरे का अन्तरतम दूसरे के स्थान में आदेश नहीं होता,** जैसे जब लोक में यह कहते हैं कि समाजों में, सहभोजों में या सभा-सोसाइटियों में **बैठो** तो सब अपने-अपने योग्य समाजों आदि में ही बैठते हैं, अपने से भिन्न समाज आदि में नहीं बैठते। यद्यपि वहां यह कोई नहीं कहता है कि अपने-अपने समाजों में बैठो। फिर भी सम्बन्धिशब्द न्याय से बिना अपना कहे ही लोग **अपने-अपने समाजों में ही बैठते हैं।** इस प्रकार प्रत्यात्मवचन का खण्डन हो जाता है।[17]

भाष्यकार अब इस सूत्र का ही प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि **प्रत्यात्मवचन** के साथ ही **"स्थानेऽन्तरतमः"** इस सूत्र द्वारा कहा हुआ **अन्तरतमवचन** भी अनर्थक है, अनावश्यक है अर्थात् यह भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि **अन्तरतमवचन भी स्वभावसिद्ध** है। लोक में जब हम कहते हैं कि **समाजों, सहभोजों या सभाओं में बैठो** तो न तो दुबले-पतले आदमी दुबले-पतलों के साथ ही बैठते हैं और न पीले रंग के पीले रङ्ग वालों के साथ बैठते हैं अपितु जिनके साथ जिनका कुछ भी अर्थकृत आन्तर्य एवं सादृश्य होता है, उन्हीं के साथ वे बैठते हैं। कहा भी है–

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यं हि कारणम्"॥[18]

संस्कृत साहित्य में निम्न सूक्ति भी प्रसिद्ध है–

"मृगाः मृगैः सङ्गमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरङ्गैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम्"॥[19]

इसी प्रकार गाएं दिनभर चरकर जब सांयकाल घर लौटती हैं तो जिसका जो बच्चा होता है, वह उसी के साथ सोती है। इसी प्रकार हल या गाड़ी में जुतने वाली बैलों की जोड़ी में भी जब एक बैल दूसरे बैल को नहीं देख पाता तो वह रंभाता है

या शब्द करता है। इतनी चेतना तो उनमें भी है कि वे भी अपने साथी को देखने के लिए आवाज लगाते हैं।

ध्यातव्य है कि न केवल चेतन पदार्थों में ही यह आन्तर्य दृष्टिगोचर होता है अपितु ढेले (डले) आदि अचेतन पदार्थों में भी आन्तर्य दीखता है, जैसे मिट्टी के ढेले को आप जोर से ऊपर फैंकिए। वह बाहुवेग से ऊपर जाकर न तो इधर-उधर गिरता है और न ऊपर ही रहता है। बाहुवेग समाप्त होते ही वह पृथिवी का विकार होने से पृथिवी पर ही आ मिलता है। क्योंकि वह पृथिवी का अन्तरतम है, सदृशतम हैं।[20] इसी तरह अन्तरिक्ष में वर्तमान ये जो सूक्ष्म जल हैं, उनका विकार धूआँ भी वायुरहित शान्त आकाश में रहता हुआ इधर-उधर नहीं जाता और न नीचे उतरता है अपितु जल का विकार होने से जल में ही समा जाता है। इसी प्रकार अग्नि की चिङ्गारी शान्त आकाश में चमकती हुई न तिरछी जाती है और न नीचे उतरती है अपितु अग्नि का विकार होने से अग्नि में ही समा जाती है। इन लौकिक उदाहरणों से 'अन्तरतमवचन' का भी खण्डन हो जाता है। प्रस्तुत स्वभावसिद्ध न्याय शब्दकौस्तुभ में मिलता है।[21]

6. न हि लोके भ्रातानीयतामित्युक्ते स्वसानीयते न्याय / नियतविषयाः शब्दा दृश्यन्ते न्याय

"न वा एष लोके सम्प्रत्ययः। न हि लोके भ्राता आनीयताम् इत्युक्ते स्वसानीयते। तद्विषयं चैतद् द्रष्टव्यं भवति स्वसरि भ्रातृत्वम्। किं विषयम्? एकशेषविषयम्। युक्तं पुनर्यन्नियतविषया नाम शब्दाः स्युः? वाढं युक्तम्। अन्यत्रापि तद्विषयदर्शनात्। अन्यत्रापि नियतविषयाः शब्दाः दृश्यन्ते। तद्यथा समाने रक्ते वर्णे गौर्लोहित इति भवति, अश्वः शोण इति। समाने च काले वर्णे गौः कृष्ण इति भवति, अश्वः हेम इति। समाने च शुक्ले वर्णे गौः श्वेत इति भवति, अश्वःकर्क इति"।[22]

"भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्" इस सूत्र का प्रत्याख्यान करते हुए भाष्यवार्तिककार कहते हैं कि लोक में तो ऐसा अनुभव या व्यवहार नहीं होता कि 'भाई लाओ' कहने पर कोई बहन को लाता हो। 'भाई लाओ' कहने पर तो भाई ही लाया जाता है, बहन नहीं। अकेले स्वतन्त्र भ्रातृ शब्द से तो केवल भाई का ही बोध होता है किन्तु जब स्वसा शब्द के साथ एकशेष होकर भ्रातृ शब्द बोला जाता है तब उसका अर्थ भी अवश्य बहन हो जाता है– यह एकशेषविषय का ही माहात्म्य है। यह निश्चित है कि एकशेष से अन्यत्र बहन का बोध भ्रातृ शब्द से नहीं होता। प्रसङ्गवश प्रकृत न्याय की शैली के आधार पर ही एकशेष और द्वन्द्व समास या द्वित्व के अन्तर को भी अगले ब्राह्मणशतदान लोकन्याय द्वारा स्पष्ट करते हुए हरदत्त कहते हैं–

7. ब्राह्मणशतदान न्याय

"पृथगर्थपर्यवसायित्वं हि नानावाचित्वम्। न चैकशेषे तदस्ति। अत एव न तत्र

प्रत्येकं विधेयसम्बन्धो नियमेन प्रतीयते। न हि ब्राह्मणेभ्यः शतं देयमित्युक्ते नियमेन प्रत्येकं शतं देयं भवति। ब्राह्मणाय ब्राह्मणाय शतं देयमित्युक्ते प्रत्येकं शतं दीयते, तत्कस्य हेतोः? पृथगर्थपर्यवसायितया पृथग्देयस्य च सम्बन्धात्।"[23]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "नित्यवीप्सयोः" सूत्र की व्याख्या में लिखा है। इसका अर्थ है कि 'ब्राह्मणों को सौ रुपया दो'- ऐसा कहने पर यह बात नियम से नहीं प्रतीत होती कि प्रत्येक ब्राह्मण को सौ रुपया दो। क्योंकि इस वाक्य में 'ब्राह्मणेभ्यः' यह ब्राह्मण शब्द का एकशेष है और चतुर्थी का बहुवचन है। इससे तीन से लेकर हजारों तक सभी ब्राह्मण 'ब्राह्मणेभ्यः' इस शब्द से गृहीत हो जाते हैं। यदि 'ब्राह्मणेभ्यः' की जगह 'ब्राह्मणाय ब्राह्मणाय शतं देयम्' ऐसा वीप्सायुक्त प्रयोग कहें तो वहाँ ब्राह्मण शब्द के द्वित्त्व होने से प्रत्येक ब्राह्मण को सौ रुपया दो - यह अर्थ अवश्य निकलता है। इस प्रकार एकशेष और द्वित्त्व में भेद दिखाने के लिए और यह स्पष्ट करने के लिए कि शब्द के द्वित्त्व से वीप्सा प्रतीत होती है, शब्द के एकशेष से नहीं - इस न्याय को यहां दिखाया गया है। उद्द्योतकार ने भी उक्त न्याय का प्रयोग किया है।[24]

अस्तु, भाष्यकार पूर्वोक्त एकशेषप्रसङ्ग को लेकर अब आगे पूछते हैं कि क्या यह ठीक है कि प्रत्येक शब्द के अपने-अपने प्रयोगविषय नियत हैं? उत्तर देते हैं कि हाँ, यह ठीक है कि प्रत्येक शब्द का प्रयोग अपने निश्चित विषय या क्षेत्र/देश में ही होता है। अन्यत्र उनका 'अनभिधान' कल्पित कर लिया जाता है। क्योंकि अन्यत्र भी निश्चित विषय वाले शब्द प्रयोग होते हैं,[25] जैसे लोक में लाल वर्ण समान होने पर भी गौ को लोहित ही कहते हैं और अश्व को शोण। गौ को शोण नहीं कह सकते। क्योंकि शोण शब्द का प्रयोगक्षेत्र अश्व के लिए निश्चित है। फलतः गौ पदार्थ के बोध में इसका लोक में अभिधान नहीं है।[26] इसी प्रकार काला वर्ण समान होने पर भी गौ को ही कृष्ण कहते हैं तथा अश्व (घोड़े) को हेम कहते हैं।[27] इसी तरह सफेद रंग समान होने पर भी गौ को ही शुक्ल कहते हैं तथा अश्व को कर्क कहते हैं[28]। इसी प्रकार शास्त्र में भी एकशेष विषय में ही भ्राता शब्द स्वसा का अभिधायक होता है, अन्यत्र नहीं, यह मानने पर प्रकृत सूत्र प्रत्याख्येय हो जाता है।

इसी प्रकार "चार्थे द्वन्द्वः" सूत्रभाष्य में भी भाष्यकार न हि प्लक्ष आनीयतामित्युक्ते न्यग्रोध आनीयते इस न्याय का प्रयोग करते हुए पूर्वोक्त बात का ही समर्थन करते हैं–

"न वै लोक एष सम्प्रत्ययो भवति। न हि प्लक्ष आनीयतामित्युक्ते न्यग्रोध आनीयते। तद्विषयं चैतद् द्रष्टव्यं प्लक्षस्य न्यग्रोधत्वम्। किं विषयम्? द्वन्द्वविषयम्। युक्तं पुनर्यन्नियतविषया नाम शब्दाः स्युः। बाढं युक्तम्। अन्यत्रापि तद्विषयदर्शनात्। अन्यत्रापि हि नियतविषयाः शब्दा दृश्यन्ते"[29] इत्यादि।

इनके कहने का तात्पर्य है कि "चार्थे द्वन्द्वः" सूत्र से विहित द्वन्द्वसमास में 'प्लक्षन्यग्रोधौ' यहाँ प्लक्षशब्द न्यग्रोध अर्थ का अभिधायक है। दोनों की सह विवक्षा

में ही द्वन्द्व समास होता है। यह अन्यार्थाभिधान शक्ति केवल वृत्ति में ही होती है—"परार्थाभिधानं वृत्तिः"। वहाँ एक एकशेष वृत्ति थी जिसमें '**भ्राता च स्वसा च इति भ्रातरौ**' इस एकशेष में भ्रातृ शब्द स्वसा के अर्थ का वाचक कहा गया है। एकशेष के बिना केवल 'भ्रातरौ' कहने से तो दो भाइयों का ही बोध होता है, स्वसा का नहीं। इसी प्रकार यहां भी द्वन्द्व समास नाम की एक वृत्ति है जिसमें '**प्लक्षन्यग्रोधौ**' इस द्वन्द्व में दोनों शब्द दोनों अर्थों के वाचक माने जाते हैं। '**युगपदधिकरणवचनता**' इसी का नाम है जो वृत्तियों में परिलक्षित होती है। उक्त नियतविषयकशब्द न्याय व्याकरण शास्त्र में अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[30]

8. स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानं न वाचनिकम् न्याय / अभ्रचन्द्र न्याय / वार्तान्याय / न हि निर्ज्ञातस्यार्थस्यान्वाख्याने किञ्चिदपि प्रयोजनं भवति न्याय

"किं स्वाभाविकं शब्दैरर्थाभिधानम् आहोस्विद्वाचनिकम् ? स्वाभाविकमित्याह। कुत एतत् ? अर्थानादेशनात्। न ह्यर्था आदिश्यन्ते। कथं पुनरर्थान्नादिशन्नेवं ब्रूयात्-नार्था आदिश्यन्त इति ? यदाह भगवान्-अनेकमन्यपदार्थे। चार्थे द्वन्द्वः। अपत्ये, रक्ते, निर्वृत्ते इति। नैतान्यर्थदिशनानि। स्वभावत एतेषां शब्दानामेतेष्वर्थेष्वभिनिविष्टानां निमित्तत्वेनान्वाख्यानं क्रियते। तद् यथा- कूपे हस्तदक्षिणः पन्थाः। अभ्रे चन्द्रमसं पश्येति। स्वभावतस्तत्रस्थस्य पथश्चन्द्रमसश्च निमित्तत्वेनान्वाख्यानं क्रियते। एवमिहापि चार्थे यः स द्वन्द्वसमासोऽन्यपदार्थे यः स बहुव्रीहिरिति"।

अप्रवृत्तिः खल्वप्यर्थदिशनस्य। बहवो हि शब्दा येषामर्था न विज्ञायन्ते-जर्भरी, तुर्फरीतू। अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यन्तेऽक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च। न खल्वपि निर्ज्ञातस्यार्थस्यान्वाख्याने किञ्चिदपि प्रयोजनमस्ति। यो हि ब्रूयात् पुरस्तादित्य उदेति पश्चादस्तमेति। मधुरो गुडः, कटुकं श्रृङ्गवेरमिति, किं तेन कृतं स्यात्।"[31]

"समर्थः पदविधिः" इस सूत्र को अनावश्यक सिद्ध करते हुए भाष्यकार पूछते हैं कि शब्दों से अर्थ का अभिधान स्वाभाविक है, स्वतः सिद्ध है या वाचनिक है, वचन से प्रतिपाद्य है ? उत्तर देते हैं कि स्वाभाविक है। क्योंकि वैयाकरण के द्वारा अर्थों का अभिधान या विधान नहीं किया जाता। वह तो स्वतः सिद्ध होता है। फिर पूछते हैं कि जब भगवान् पाणिनि स्वयं "अनेकमन्यपदार्थे" "चार्थे द्वन्द्वः" , "तस्यापत्यम्", "तेन रक्तं रागात्" तेन निर्वृत्तम्"[32] इत्यादि सूत्रों द्वारा अन्यपदार्थ, चार्थ, अपत्य, रक्त, निर्वृत्त आदि अर्थों के अभिधान करने में बहुव्रीहि समासादि का विधान करते हैं तो उससे स्पष्ट है कि वे अर्थों का अभिधान वाचनिक मानते हैं। क्योंकि अन्य पद का अर्थ कहने में बहुव्रीहि समास होता है।[33] 'च' का अर्थ कहने से द्वन्द्व समास होता है।[34] इसी प्रकार अपत्य, रक्तादि अर्थों के कहने में 'अण्' आदि तद्धित

प्रत्ययों का विधान होता है। अब आगे भाष्यकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वस्तुतः ये अर्थों के अभिधान नहीं है। क्योंकि **वचन द्वारा कभी शब्द के अर्थ का अभिधान नहीं हो सकता।** स्वभावतः ही जो शब्द जिस अर्थ का अभिधान करता है अर्थात् जो अर्थ जिस शब्द का स्वतः सिद्ध है, उसी का अन्वाख्यानमात्र "**अनेकमन्यपदार्थे**" इत्यादि सूत्र करते हैं। दूसरे शब्दों में—**अन्य पदार्थ में पहले से ही वर्तमान** जो अनेक **सुबन्त हैं, उनका बहुव्रीहि समास होता है।** इसी तरह पहले से ही 'च' के अर्थ में वर्तमान सुबन्तों का द्वन्द्व समास होता है। इसी प्रकार पहले से ही अपत्यादि अर्थों में वर्तमान प्रातिपदिक से 'अण्' प्रत्यय होता है। भाव यह है कि **बहुव्रीहिसमासविधान द्वारा अन्यपदार्थ का अभिधान नहीं किया जाता अपितु पहले से लोकसिद्ध अन्यपदार्थ को व्यक्त करने के लिए बहुव्रीहिसमास का विधान किया जाता है।**

इस बात को स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार अब लौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं:—"**कूपे हस्तदक्षिणः पन्थाः**" अर्थात् कूए पर जाने के लिए दाएं हाथ का रास्ता है। '**अभ्रे चन्द्रमसं पश्य**' अर्थात् आकाश में चाँद को देख। यहाँ पर कूए पर जाने के लिए जो रास्ता है, मार्ग है, वह तो पहले से ही विद्यमान है। केवल उसका निर्देश करने के लिए कह दिया जाता है कि कूए पर जाने के लिए दाएं हाथ का मार्ग है। किन्तु ऐसा कहने से मार्ग नहीं बनाया जाता बल्कि पहले से ही विद्यमान मार्ग का निर्देशमात्र कर दिया जाता है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण में भी आकाश में पहले से विद्यमान चाँद को देखने के लिए निर्देशमात्र किया जाता है, वहां नया चाँद बनाया नहीं जाता। इसी प्रकार यहाँ शास्त्र में भी पहले से 'च' के अर्थ में विद्यमान सुबन्त का द्वन्द्व समास कह दिया जाता है। समास के वचन से 'च' का अर्थ और अन्य पद का अर्थ अभिहित नहीं होता। वह तो स्वतःसिद्ध ही है, वाचनिक नहीं।

इसके अतिरिक्त शब्दों के अर्थ का अभिधान होना संभव भी नहीं है। क्योंकि बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ का परिज्ञान भी नहीं होता, जैसे—'**जर्भरी, तुर्फरीतू**'[35], इत्यादि वैदिक शब्द इतने जटिल हैं जिनके अर्थ का स्पष्ट परिज्ञान संभव नहीं है। यद्यपि यास्कादि महर्षियों ने '**जर्भरी**', '**तुर्फरीतू**' इत्यादि शब्दों के अर्थ प्रकाशित किए हैं तो भी वे अस्पष्ट ही हैं।[36] निश्चित रूप से यह कोई नहीं कह सकता कि इन शब्दों के यही अर्थ हैं। साथ ही यह बात भी है कि **शब्दप्रयोग के बिना भी बहुत से अर्थ जाने जाते हैं**, जैसे आँख के इशारे और हाथ के हिलाने आदि से समझने वाले अपना अभिमत अर्थ समझ लेते हैं। इससे स्पष्ट है कि **अर्थ का बोध या अभिधान केवल शब्द पर आश्रित नहीं है।**

और जो लोकव्यवहार से अर्थ समझ लिया जाता है उसको समझाने के लिए शास्त्र अकिञ्चित्कर है, निष्प्रयोजन है। स्वतःसिद्ध वस्तु के प्रतिपादन करने में शास्त्र का क्या प्रयोजन रह जाता है, कुछ भी नहीं। जैसे कोई कहे कि सूर्य पूर्व दिशा में

उदित होता है और पश्चिम दिशा में अस्त होता है। सो तो होता ही है, उसके ऐसा कहने से क्या लाभ या चमत्कार है? सिद्ध वस्तु का अन्वाख्यानमात्र कुछ महत्त्व नहीं रखता। इसी तरह गुड़ मधुर है और अदरक तीखी है–यह बात सभी जानते हैं। जिसमें हान या उपादान कुछ भी विवक्षित नहीं है, केवल वस्तुमात्र का निर्देश है, वह एक प्रकार से व्यर्थ है।[37] इस प्रकार पदसम्बन्धी विधि स्वभाव से ही सामर्थ्य के आश्रित होती है। असमर्थों का परस्पर सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में अर्थाभिधान स्वाभाविक मानने पर[38] "समर्थः पदविधिः" यह सामर्थ्यविधायक परिभाषा सूत्र भी अनावश्यक हो जाता है। यहाँ पर भाष्यकार ने लौकिक न्यायों द्वारा सूत्र का प्रयोजन स्वतःसिद्ध मानकर उक्त सूत्र का आरम्भ ही व्यर्थ सिद्ध कर दिया है।[39]

9. शब्दशक्तिस्वभाव न्याय

10. धूमाग्नि न्याय

11. त्रिविष्टब्धकपरिव्राजक न्याय

12. अलातचक्र न्याय

13. भवति वै प्रत्यक्षादनुमानबलीयस्त्वम् न्याय

14. कस्यचित् खल्वपि सकृत् कृतोऽभिसम्बन्धोऽत्यन्ताय कृतो भवति न्याय / वृक्षपर्णन्याय

"समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्तेऽपरे न। न चेदानीं कश्चिदर्थवानित्यतः सर्वैरर्थवद्भिः शक्यो भवितुम्। कश्चिद्वाऽनर्थक इति सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्, यल्लटोऽप्रथमासमानाधिकरणेन योगो भवति, लङो न भवति, स्वाभाविकमेतत्।

अथवा आदेशे सामानाधिकरण्यं दृष्ट्वाऽनुमानाद् गन्तव्यं प्रकृतेरपि सामानाधिकरण्यं भवतीति। तद् यथा-धूमं दृष्ट्वाग्निरत्रेति गम्यते। त्रिविष्टब्धकं दृष्ट्वा परिव्राजक इति। विषम उपन्यासः। प्रत्यक्षस्तेनाग्निधूमयोरभिसम्बन्धः कृतो भवति। त्रिविष्टब्धकपरिव्राजकयोश्च। स तद् विदेशस्थमपि दृष्ट्वा जानात्यग्निरत्र, परिव्राजकोऽत्रेति। भवति वै प्रत्यक्षादुमानबलीयस्त्वम्। तद् यथा-अलातचक्रं प्रत्यक्षं दृश्यते। अनुमानाच्च गम्यते नैतदस्तीति। कस्यचित् खल्वपि सकृत् कृतोऽभिसम्बन्धोऽत्यन्ताय कृतो भवति। तद् यथा-वृक्षपर्णयोरयं वृक्षः इदं पर्णमिति। तद्विदेशस्थमपि दृष्ट्वा जानाति वृक्षस्येदं पर्णमिति।"[40]

"लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार शङ्का करते हैं कि जिस प्रकार लट् लकार का अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य हो जाता है उसी प्रकार लङ् लकार का क्यों नहीं होता? 'पचति ओदनं देवदत्तः' यहाँ लट् लकार में जैसे- 'पचन्तमोदनं देवदत्तं पश्य' यह रूप बनता है वैसे- 'अपचत् ओदनं

देवदत्तः' यहां लङ् लकार में 'अपचदोदनं देवदत्तं पश्य' यह रूप क्यों नहीं बनता तो उसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि समान यत्न करने वाले तथा पढ़ने वालों में कोई तो सफल हो जाते हैं और कोई नहीं। यदि कोई सफल हो गया है तो उससे सब सफल कैसे हो सकते हैं? अथवा कोई असफल रह गया है तो उससे उसके समान सब असफल कैसे हो सकते हैं? इस विषय में हम क्या कर सकते हैं कि लट् लकार का तो अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य हो जाता है और लङ् लकार के साथ नहीं होता- यह तो स्वाभाविक है। 'पचन्तं देवदत्तं पश्य' इत्यादि प्रयोगों में अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि आदेशभूत 'शतृ' प्रत्यय के समान उसके स्थानी लट् लकार में भी अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य है अन्यथा आदेश में कैसे आता?

इस विषय में भाष्यकार लौकिक दृष्टान्त देते हैं कि जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है कि यहाँ अग्नि है। अथवा जैसे मिले हुए तीन दण्डविशेषों को देखकर परिव्राजक का अनुमान होता है कि यह त्रिदण्डी साधु है।[41] यदि यह कहा जाए कि धूम और अग्नि का सम्बन्ध तो हम पहले महानस (रसोई) आदि में प्रत्यक्ष कर चुके हैं, उन दोनों को साथ-साथ देख चुके हैं। इसी तरह त्रिदण्डविशेष तथा परिव्राजक का सम्बन्ध भी पहले दृष्टिगोचर हो चुका है। अतः इस उक्त उदाहरण में तो अनुमान किया जा सकता है। किन्तु यहाँ 'पचन्तं देवदत्तं पश्य' में तो लट् लकार का भी कहीं भी पहले इस रूप में प्रयोग नहीं देखा गया है। उसके स्थान में हुए 'तिप्' या 'शतृ और शानच्' ही दीखते हैं। इसलिए लट् में अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य कैसे होगा तो इसका उत्तर देते हैं कि प्रत्यक्ष से भी कहीं पर अनुमान बलवान् होता है, जैसे- अलातचक्र (जलते अङ्गारों का गोल चक्कर) प्रत्यक्ष दीखता है किन्तु अनुमान से उसका अभाव गृहीत होता है।[42] क्योंकि अतिशीघ्र घूमने के कारण जलते अङ्गारे चक्र के समान प्रतीत होते हैं अर्थात् देखने में चक्र जैसे दीखते हैं किन्तु वस्तुतः चक्र होते नहीं हैं।[43] इसलिए लट् में प्रत्यक्ष अप्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य न दीखने पर भी आदेश से उसका अनुमान हो जाएगा कि जब 'शतृ', 'शानच्' में अप्रथमा सामानाधिकरण्य है तो उनके स्थानी लट् में भी अवश्य होगा।

इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को एक बार देखकर ही उसके सम्बन्ध को सदा के लिए समझ जाता है,[44] जैसे वृक्ष और पत्ते को एक बार देखकर प्रेक्षापूर्वकारी व्युत्पन्न मनुष्य समझ लेता है कि यह वृक्ष है और यह इसका पत्ता है। उन दोनों को अन्यत्र स्थान में देखकर भी वह पहचान लेता है कि यह पत्ता इस वृक्ष का है। ऊपर कहे दृष्टान्तों से यह अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाता है कि लट् लकार का भी आदेश के समान अप्रथमा सामानाधिकरण्य होता है और लट् से भिन्न लङादि लकारों का अप्रथमा सामानाधिकरण्य नहीं होता।

(ख) प्रसङ्गानुरोधात् अन्यत्र विवेचित जड़-चेतन पदार्थों के स्वाभाविक गुणसम्बन्धी लोकन्याय

1. मण्डूकगति (प्लुति) न्याय[45]
2. सम्बन्धिशब्द न्याय[46]
3. न हि भिक्षुकाः सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते न्याय[47]
4. न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते न्याय[48]
5. अदग्धदहनन्याय/अग्निवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय[49]
6. पर्जन्यवर्षण न्याय/पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय[50]
7. रज्जुःकाष्ठ (लोहचुम्बक) न्याय[51]
8. तीर्थकाक न्याय[52]
9. अवतप्ते नकुलस्थित न्याय[53]
10. भवति हि विशेषः स्वस्मिन् भ्रातरि पितृव्यपुत्रे च न्याय[54]
11. दैवरक्ताः किंशुकाः न्याय[55]
12. गोयूथ न्याय[56]
13. न वै कामानां तृप्तिरस्ति न्याय[57]
14. अभिवर्धमानगर्भ न्याय[58]
15. सिंहावलोकित न्याय[59]
16. अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति न्याय[60]
17. वन्यगजशौच न्याय[61]
18. न हि भिक्षुको भिक्षुकान्तरं याचितुमर्हति सत्यन्यस्मिन्नभिक्षुके न्याय[62]
19. वीचीतरङ्ग न्याय[63]
20. कदम्बगोलक न्याय[64]
21. कृत्वाचिन्ता न्याय[65]

सन्दर्भसूची

1. महा. भा. 1 हयवरट् सूत्र, पृ. 31
2. तुलना करो, सुभाषितरत्नभाण्डागार, कुपण्डितनिन्दा, पृ0-41

"वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे,
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति च पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद् यथा,
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदां चयः"॥

3. महा. भा. 1 सू. 1.1.38 पृ. 95
4. वही, भा. 2 सू. 3.2.124 पृ. 125
5. वही, भा. 1 सू. 2.2.6 पृ. 410; सू. 2.2.24 पृ. 430; महा. प्र. उ., भा. 1 पस्पशा. पृ. 10. ध्यान रहे कि इस स्वभावसिद्ध न्याय से भाष्यवार्तिककार ने अन्तरतमवचन का भी प्रत्याख्यान किया है, जैसे–'अन्तरतमवचनमशिष्यं स्वभावसिद्धत्वात्'।
6. महा. भा. 1 सू. 1.1.1 पृ. 41-42
7. पा. 4.2.44
8. पा. 7.1.75
9. महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.1 पृ. 138 से उद्धृत
10. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.1. पृ. 66
11. पा. 6.4.71
12. तुलना करो– महा. प्र. भा. 1 सू. 1.1.1 पृ. 137 "अभेदका हि गुणाः, मुण्डेन हि चौर्ये कृते कुन्तलित्वावस्थायामपि चौरोऽयमिति व्यपदिश्यते एव"।
13. महा भा. 1 सू. 1.1.38 पृ. 95
14. पा. 1.1.37
15. पा. 2.4.82.
16. महा. भा. 1 सू. 1.1.50 पृ. 123
17. भाव की दृष्टि प्रत्यात्म शब्द के सन्दर्भ में भाष्यकारोक्त सम्बधिशब्द न्याय (द्र. पृ. 536) अवश्य तुलनीय है। ये दोनों न्याय एक ही तात्पर्य में निर्गलित होते हैं। वहाँ सवर्ण संज्ञा में भी अलग से "तस्य" कहना अनावश्यक प्रतिपादित किया गया है।
18. न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य, अध्याय 3, आह्निक 2, पृ. 9
19. पञ्चतन्त्र, 1.305. महाकवि भवभूति (उत्तररामचरित 6.12) ने भी आन्तर सादृश्य को ही परस्पर सम्बन्ध का हेतु बताते हुए लिखा है–

"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुर्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः"॥

सायणमाधव भी सर्वदर्शनसंग्रह (चार्वाक दर्शन, पृ. 4) में कहते हैं–

"अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद् व्यवस्थितिः॥"

20. प्रस्तुत अंश से यह अनुमान करना सुगम ही है कि भाष्यकार पतञ्जलि गुरुत्वाकर्षण के नियम से (Law of Gravitation) भलीभांति परिचित हैं। अन्यथा वे 'आन्तर्यतः' ऐसा कभी न कहते। लेकिन दुर्भाग्य इस बात का है कि गुरुत्वाकर्षण के इस नियम की खोज का सारा श्रेय पाश्चात्य विशारदों को दिया जाता है।

21. श. कौ. भा. 1. सू. 1.1.50 पृ. 194.

22. महा. भा. 1 सू. 1.2.68 पृ. 250-51

23. प. मं. (का. भा. 6 सू. 8.1.4 पृ. 230).

24. महा. प्र. उ. भा. 5 सू. 8.1.4 पृ. 298.

25. भाष्यकार भी पदे पदे 'अनभिधानात्' कहकर शब्दों के प्रयोगक्षेत्र की इसी सीमा की ओर ही संकेत करते हैं। तुलना करो–(क) महा. पस्पशा. पृ. 8–
"एतस्मिन्नतिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा-शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति विकारमेनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।" यास्काचार्य (निरुक्त 2.1) ने भी शब्दों की इस नियतस्थिति को संकेतित किया था। भाष्यकार की "अथवा इजादियजादिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते" (भा. 1 सू. 1.1.46 पृ. 112) इत्यादि कथन भी इस विषय में अनुग्राहक हैं। तुलना करो–महा. भा. 3. सू. 7.1.96 पृ. 275-"यथाऽन्यत्रापि अविशेषविहिताः शब्दा नियतविषया दृश्यन्ते, तद्यथा-घरतिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः स घृतम्, घृणा, घर्म इत्येवंविषयः। रश्मिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः स राशिः, रश्मिः, रशना इत्येवंविषयः" इत्यादि।

(ख) महा. भा. 1 हयवरट् सूत्र, पृ. 31 "समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते अपरे न, तत्र किमस्माभिः कर्तुं शक्यम्। स्वाभाविकमेतत्"।

भर्तहरि (वा. प. 2.168) भी कहते हैं–

"संभवे वाभिधानस्य लक्षणं न तु कल्प्यते।
आपेक्षिक्यो हि संसर्गे नियताः शब्दशक्तयः"॥

ध्यान रहे कि जैसे उक्त शुक्ल आदि शब्द नियतविषय हैं वैसे सर्वनाम शब्द नहीं होते। क्योंकि उनके तो सभी पदार्थ ही अपने विषय होते हैं।

(ग) भाष्यकार प्रोक्त "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति" पर टिप्पणी करते हुए कैयट भी लिखते हैं–"भाषाशब्दा अपि नियतविषयाः किं पुनश्छान्दसाः" (पा. 6.4.128)। इस पर नागेश कहते हैं "प्रयोगाभाव इति भावः।....नियतविषयत्वाच्छब्दानामित्यपि बोध्यम्। भाषायामपि अर्वच्छब्दस्य मघवच्छब्दस्य च क्वचिद् दृश्यमान-प्रयोगास्त्वसाधव एव।"

26. द्र. शब्दकल्पद्रुम भा. 5 पृ. 139–"शोणो लोहिताश्व इति मेदिनी"।

27. वही. भा. 5 पृ. 548– "हेमः कृष्णवर्णाश्वः"।

28. वही. भा. 2 पृ. 35 "कर्कः शुक्लाश्व इत्यमरः"।

29. महा. भा. 1 सू. 2.2.29. पृ. 433

30. का. भा. 5. सू. 6.4.96 पृ. 449; महा. पृ. भा. 1 सू. 1.1.57 पृ. 426; भा. 4 सू. 5.2.

28 पृ. 112; प. मं. (का. भा. 2. सू. 2.2.29 पृ. 141; भा.3 सू. 4.4.30 पृ. 751; श. कौ. भा. 1 अइउण् सूत्र, पृ. 35; महा. प्र. उ. भा. 3 सू. 4.1.44 पृ. 498, भा. 4 सू. पृ. 5. 2.109 पृ. 168.

31. महा. भा. 1 सू. 2.1.1 पृ. 363

32. पा. 2.2.24; 29; 4.1.92; 4.2.1; 4.2.68.

33. द्र. "अन्यपदार्थ प्रधानो बहुव्रीहिः"

34. पा. 2.2.29 चार्थे द्वन्द्वः।

35. ऋक्. 10.106.6
"सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरु ता मे जराय्वजरं मरायु॥

36. निरुक्त 1.5–"अथापि अविस्पष्टार्थाः भवन्ति-अम्यक्, यादृश्मिन्, जारयायि, काणुका इति"।

37. तुलना करो–काव्यालङ्कार 2.87
"गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तमेतां प्रचक्षते"॥

38. द्र. वा. प. 1.97
"ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः"॥

39. महा. प्र. उ. भा. 3 सू. 4.1.82, पृ. 541 "असमर्थशब्देनेति। तुल्यन्यायात् समर्थः पदविधिः इत्यपि प्रत्याख्यातमिति बोध्यम्"।

40. महा. भा. 2 सू. 3.2.124 पृ. 125

41. यह त्रिविष्टब्धक परिव्राजक न्याय महा. भा. 1 सू. 2.1.1 पृ. 365 पर भी उद्धृत हुआ है। वैसे 'त्रिविष्टब्धक' इतना अंश तो वृद्धिसंज्ञा सूत्रभाष्य में भी आया है।

42. प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान की बलवत्ता के प्रसङ्ग में निर्लुठितगर्भ (पृ. 153) तथा अन्यच्छब्दादिभ्यो द्रव्यम् (पृ. 302) न्याय भी अवश्य द्रष्टव्य हैं।

43. तुलना करो (क) वा. प. 1.130; 3.8.8; 2.2.91;
"अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकाकार निरूपणा॥
इन्द्रियैरन्यथाप्राप्ते भेदांशोपनिपातिभिः।
अलातचक्रवद्रूपं क्रियाणां परिकल्प्यते॥
स्पर्शप्रबन्धो हस्तेन तथा चक्रस्य सन्ततः।

न तथाऽलातचक्रस्य विच्छिन्नं दृश्यते हि तत्''॥

ख न्यायदर्शन, 3.2.60–''अलातचक्रवत् तदुपलब्धिराशुसंचारात्''॥

44. तुलना करो, महा. भा. 1 सू. 1.4.84 पृ. 347 यत् सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते तदपि लक्षणं भवति....''

45. द्र. पृ. 175.
46. द्र. पृ. 536.
47. द्र. पृ. 520.
48. द्र. पृ. 520.
49. द्र. पृ. 213.
50. द्र. पृ. 213.
51. द्र. पृ. 169.
52. द्र. पृ. 565.
53. द्र. पृ. 566.
54. द्र. पृ. 125.
55. द्र. पृ. 568.
56. द्र. पृ. 176.
57. द्र. पृ. 504.
58. द्र. पृ. 160.
59. द्र. पृ. 177.
60. द्र. पृ. 557.
61. द्र. पृ. 345.
62. द्र. पृ. 523.
63. द्र. पृ. 54.
64. द्र. पृ. 54.
65. द्र. पृ. 144.

दशम उद्द्योत

प्रकीर्ण (शास्त्रीय) न्याय

1. चिणो लुक् न्याय

भाष्यकार ने ''चिणो लुक्'' सूत्र पर कहा है कि 'चिण्' से परे 'त' प्रत्यय का लुक् होकर 'अकारितराम्' इस प्रयोग में 'तराम्' का लुक् नहीं होता अर्थात् ''चिणो लुक्'' से 'तराम्' के 'त' का लुक् नहीं होगा अपितु केवल सार्वधातुकसंज्ञक 'त' प्रत्यय का ही लुक् होगा और फिर उस 'त' प्रत्यय के लुक् को असिद्ध मानकर तराम् का लुक् वैसे ही नहीं होगा। यही बात पदमञ्जरीकार ने 'अचः परस्मिन्पूर्वविधौ'[1] इस सूत्र की व्याख्या में कही है। इसका तात्पर्य यह है कि अकारितराम् इत्यादि प्रयोगों में 'त' प्रत्यय का लुक् होने पर ''चिणो लुक्'' से होने वाला जो 'त' प्रत्यय का लुक् है, उसे 'तराम्' का लुक् रोकने के लिए स्वयं ''चिणो लुक्'' को ''चिणो लुक्'' में ही असिद्ध मानकर 'तराम्' का लुक् रुक जाता है। इसी को ''चिणो लुक्'' न्याय कहते हैं। इससे बहुत से इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। यह व्याकरणशास्त्रीय न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[2] रमागम न्याय भी इसी प्रकार की शास्त्रीय कोटि में आता है।

2. शब्दपूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्ययः न्याय

''शब्दपूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्ययः। आतश्च शब्दपूर्वकः, योऽपि ह्यसावाहूयते नाम्ना नाम च यदानेन नोपलब्धं भवति तदा पृच्छति किं भवानाहेति। शब्दपूर्वकश्चार्थ-सम्प्रत्ययः। इह च व्याकरणे शब्दे कार्यस्य संभवः। अर्थेऽसंभवः। तस्मादर्थ-निवृत्तिर्भविष्यति।''[3]

''स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'' इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि अर्थ का ज्ञान शब्दपूर्वक होता है। बिना शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं होता। यह बात इस लोकव्यवहार से और सुस्पष्ट हो जाती है कि आप किसी को उसका नाम लेकर पुकारिए। यदि उसे अपना नाम सुनाई नहीं दिया है तो वह पूछता है– आपने क्या कहा? इससे ज्ञात होता है कि शब्दज्ञानपूर्वक ही अर्थ का ज्ञान होता है।[4] यहाँ व्याकरणशास्त्र में तो शब्द में ही कार्य का संभव है, अर्थ में असंभव है। इसलिए अर्थ की निवृत्ति

स्वतः होकर शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण हो जाएगा तो उसके लिए "स्वं रूपम्" इस सूत्र का बनाना व्यर्थ है।

भाव यह है कि जैसे लोक में 'गाय को लाओ' ऐसा कहने पर गायपदार्थरूप अर्थ के साथ ही आनयन क्रिया का योग जाना जाता है, गाय इस शब्द रूप को लाकर कोई कृती या सफल नहीं माना जाता है वैसे व्याकरण में नहीं होता। क्योंकि व्याकरण में तो पौर्वापर्य का योग न होने से प्रत्ययविधानादि कार्य (गाय) पदार्थ रूप अर्थ में संभव नहीं है। इसलिए यद्यपि "अग्नेर्ढक्"[5] ऐसा कहने पर आपाततः लोक के समान व्याकरण में भी अर्थ में कार्ययोग प्राप्त होता है परन्तु वहाँ यह सम्भव नहीं है। क्योंकि आग या अङ्गारों से परे कौन 'ढक्' प्रत्यय कर सकता है ? अतः फिर जैसे आकृतिचोदना होने पर अपृथक् सिद्ध होने से व्यक्ति का ग्रहण होता है वैसे ही यहाँ भी अग्नि के पर्यायवाची शब्दों से 'ढक्' प्रत्यय प्राप्त होता है, यह अनिष्ट न प्रसक्त हो सके, अपितु सूत्रोपात्त शब्द से ही 'ढक्' आदि प्रत्यय हों– इसलिए प्रकृत सूत्र का आरम्भ किया गया है।

3. क्रियया क्रियाया निवृत्तिर्भवति द्रव्येण च द्रव्यस्य न्याय

"एवं हि कश्चित् पृच्छति-किमवस्थो देवदत्तस्य व्याधिरिति ? स आह वर्धते इति। अपर आह-अपक्षीयते इति। अपर आह स्थित इति। स्थित इत्युक्ते वर्धतेश्चापक्षीयतेश्च निवृत्तिर्भवति"[6]।

"भूवादयो धातवः" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार 'स्थित' शब्द में वर्तमान 'स्था' धातु का भी अर्थ है– यह सिद्ध करते हुए कहते हैं कि क्रिया से क्रिया की निवृत्ति होती है और द्रव्य से द्रव्य की। कोई किसी से यूं पूछता है कि देवदत्त की व्याधि अब कैसी है तो वह कहता है कि 'वर्धते' अर्थात् बढ़ रही है। दूसरा कहता है– 'अपक्षीयते' अर्थात् घट रही है। तीसरा कहता है कि 'स्थितः' अर्थात् वैसी की वैसी है, न बढ़ रही है और न घट रही है। यहाँ 'स्थितः' कह देने से बढ़ने और घटने की निवृत्ति हो जाती है। इससे अनुमान होता है कि 'स्था' धातु का अर्थ यथावस्थिति अथवा अन्य क्रिया की निवृत्ति अर्थ है। 'वर्धते' आदि छह भाव विकारों के अन्तर्गत ही 'स्था' धातु भी समझनी चाहिए[7]। जो अस्ति का अर्थ है वही 'स्थितः' यहाँ 'स्था' धातु का अर्थ है।

4. एकस्य द्रव्यस्य बह्वचः संज्ञा भवन्ति न्याय

"अन्यत्र संज्ञासमावेशो भवति। क्वान्यत्र ? लोके व्याकरणे च। लोके तावत्-इन्द्रः शक्रः पुरुहूतः पुरन्दरः। कन्दुः कोष्ठः कुसूलः इति। एकस्य द्रव्यस्य बह्वचः संज्ञा भवन्ति। व्याकरणेऽपि-कर्त्तव्यं हर्त्तव्यमित्यत्र प्रत्ययकृत्कृत्यसंज्ञानां समावेशो भवति[8]।"

"आकडारादेका संज्ञा" सूत्र के भाष्य में भाष्यवार्तिककार कहते हैं कि अन्यत्र कई संज्ञाओं का समावेश दृष्टिगोचर होता है। पूछते हैं कि अन्यत्र कहाँ ? तो उत्तर

देते हैं कि लोक और व्याकरण में। लोक में जैसे– एक ही इन्द्र की शक्र, पुरुहूत तथा पुरन्दर ये अनेक संज्ञाए हैं। अथवा जैसे लोक में प्रायः एक ही बालक का स्कूल में कुछ और नाम होता है तथा घर में कुछ और, अथवा इसी तरह एक ही कोठे की कन्दु, कोष्ठ, तथा कुसूल ये बहुत सी संज्ञाएं हैं। इसी तरह व्याकरण में भी 'कर्त्तव्यम्', 'हर्त्तव्यम्' यहाँ 'तव्यत्' प्रत्यय की प्रत्यय, कृत् तथा कृत्य ये अनेक संज्ञाएं हैं। इसी प्रकार आकडारीय प्रकरण में भी एक ही प्रत्ययादि की अनेक संज्ञाओं का समावेश प्राप्त होता है। उसको रोकने के लिए यह एक संज्ञा प्रकरण है जिससे इस प्रकरण में एक ही एक की संज्ञा हो, अनेक न हों।

5. संहितावसान न्याय

"संहितावसानयोर्लोकविदितत्वात् सिद्धम्। संहितावसानमिति लोकविदितावेतावर्थौ। एवं हि कश्चित् कंचिदधीयानमाह-शन्नो देवीयं संहितयाधीष्वेति। स तत्र परमसन्निकर्षमधीते। अपर आह-केनावस्यसीति। स आह-अकारेणेकारेणोकारेणेति। एवमेतौ लोकविदितावर्थौ। तयोर्लोकविदितत्वात् सिद्धम्"।[9]

"विरामोऽवसानम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यवार्तिककार संहिता और अवसान इन दोनों संज्ञाओं को लोकविदित मानकर दोनों का ही खण्डन कर देते हैं। वे लोकन्याय को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि कोई किसी पढ़ने वाले को कहता है कि तुम "शन्नो देवी"[10] मन्त्र के सूक्त को संहिता से पढ़ो। वह उसी समय प्रत्येक मन्त्र के वर्णों को अत्यन्त सन्निकर्ष करके पढ़ता है। इसी तरह कोई किसी पढ़ने वाले से पूछता है कि किस अक्षर या पद पर अवसान करते हो, विराम करते हो या ठहरते हो ? वह कहता है कि अकार, इकार या उकार पर विराम करता हूँ। इस प्रकार लोकव्यवहार से ही सिद्ध होने पर ये दोनों संज्ञाएं अनावश्यक हैं[11]।

6. द्रव्यं हि लोके अधिकरणमित्युपचर्यते न्याय / औपचारिक न्याय

"अथवा यावद् ब्रूयात् समानद्रव्येणेति, तावत् समानाधिकरणे चेति। द्रव्यं हि लोके अधिकरणमित्युपचर्यते। तद्यथा-एकस्मिन् द्रव्ये व्युदितम्। एकस्मिन्नधिकरणे व्युदितम् इति। तथा व्याकरणे-विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचीत्यद्रव्यवाचीति गम्यते[12]।"

"समर्थः पदविधिः" सूत्र के भाष्य में वार्तिककार ने "समानाधिकरणेषूपसंख्यानमसमर्थत्वात्" यह वार्तिक पढ़ा है। इसका तात्पर्य यह है कि "वीरः पुरुषःइति वीरपुरुषः" यहाँ समानाधिकरण समास इष्ट है किन्तु वह प्राप्त नहीं है। क्योंकि केवल द्रव्यपदार्थवादी के मत में वीरत्व और पुरुषत्व का अभिधेय एक ही द्रव्य है। गुण या आकृति अथवा जाति को तो वह पदार्थ मानता ही नहीं। ऐसी अवस्था में वीरत्व और पुरुषत्व के भेदरहित होने से भेदपूर्वक संसर्ग से होने वाला सामर्थ्य नहीं बनता। सामर्थ्य न होने से समास नहीं प्राप्त होता। इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि अधिकरण का अर्थ केवल अभिधेय ही नहीं होता अपितु द्रव्य अर्थ भी होता

है। 'समानाधिकरणेन' कहें या 'समानद्रव्येण' कहें एक ही बात है। जो अर्थ 'समानद्रव्येण' का है वही 'समानाधिकरणेन' का भी है। क्योंकि लोक में अधिकरण का अर्थ द्रव्य प्रसिद्ध है, जैसे कहते हैं– एक द्रव्य में विवाद किया। एक अधिकरण में विवाद किया। लोक में न्यायालय के लिए न्यायाधिकरण शब्द का प्रयोग भी इस विषय में अनुग्राहक है। यहाँ दोनों वाक्यों का एक ही अर्थ है। व्याकरण में भी आचार्य पाणिनि ने "विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि"[13] इस सूत्र में द्रव्यवाची 'अधिकरण' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् लोकव्यवहार के समान ही शास्त्र में भी अधिकरण शब्द का अर्थ द्रव्य होता है।[14]

समानाधिकरण शब्द का अर्थ जब समान अभिधेय न लिया जाकर समान द्रव्य माना जाएगा तो वीरः पुरुषः में पुरुष रूप द्रव्य के समान होने से समानाधिकरण समास बन जाएगा। 'वीरत्वगुणविशिष्ट पुरुष' इस अर्थ में भेदपूर्वक संसर्ग बन जाने से समानाधिकरण समास होने में कोई बाधा नहीं होगी। इसलिए "समानाधिकरणेषूपसंख्यानम्" इस वचन की कोई आवश्यकता नहीं रहती। यदि "सर्पिः कालकम्" 'यजुः कालकम्', 'यजुः पीतकम्' इत्यादि में "इसुसोः सामर्थ्ये"[15] से प्राप्त षत्व का सामर्थ्याभाव मानकर निषेध करने के लिए "समानाधिकरणमसमर्थवद्भवति" यह वचन बनाना आवश्यक ही है तो दूसरी बात है। उस अवस्था में भी "वीरःपुरुषः" में "पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च"[16] से समानाधिकरणसमास वचनसामर्थ्य से सिद्ध हो जाएगा।

7. सर्ववेदपारिषद न्याय

केवलं लक्षणं केवलं प्रपञ्चो वा न तथाकारकं भवति। अवश्यं खल्वस्माभिरिदं वक्तव्यम्-बहुलम्, अन्यतरस्याम्, उभयथा, वा, एकेषामिति। सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्।"[17]

"विशेषणं विशेष्येण बहुलम्", "पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च"।

इन सूत्रों के भाष्य में भाष्यकार विचार करते हैं कि "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' यह समानाधिकरण तत्पुरुषविधायक सूत्र ही लक्षणरूप से पर्याप्त है। "पूर्वापरप्रथम" इत्यादि प्रपञ्च सूत्रों की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इस सूत्र का अर्थ है कि विशेषणमात्र का विशेष्यमात्र के साथ समानाधिकरण तत्पुरुष समास (कर्मधारय) बहुलतया होता है। इस अर्थ से सभी विशेषणों का विशेष्य के साथ तत्पुरुष समास सिद्ध हो जाता है तो पूर्वापरप्रथम" इत्यादि सूत्र किसलिए बनाए गए हैं ? क्योंकि ये सूत्र भी विशेषण का विशेष्य के साथ तत्पुरुषसमासविधान करते हैं। 'पूर्वपुरुषः', 'अपरपुरुषः' 'प्रथमपुरुषः' इत्यादि उदाहरणों में सर्वत्र विशेषण-विशेष्य-भाव ही है। इसलिए लक्षणविधायक "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" यह एक सूत्र ही पर्याप्त है। पूर्वापर इत्यादि तो उसी के प्रपञ्चमात्र है।

लक्षण के रहते हुए प्रपञ्च की क्या आवश्यकता है - इस पर भाष्यकार समाधान करते हैं कि केवल लक्षण या केवल प्रपञ्च उतना लक्ष्यसाधक या उपकारक नहीं होता जितना दोनों मिलकर होते हैं। इसलिए लक्षण के साथ यदि उसके उदाहरणों का विस्तार या प्रपञ्च भी दिखा दिया जाए तो इसमें क्या हानि है[18]? लक्षणसूत्र में बहुल ग्रहण करना भी आवश्यक है क्योंकि– "अशक्यो वाऽनन्त्यात् सर्वशब्दानुगमः"। वस्तुतः 'बहुल' ग्रहण से अपरिपूर्ण शब्दशास्त्र की पूर्णता का अवकाश बनता है। इसके साथ ही व्यवस्थितविभाषा मानकर भी सब लक्ष्यों का संग्रह नहीं हो सकेगा। संभवतः इसीलिए आचार्य पाणिनि ने अपने सूत्रों में अन्यत्र भी 'बहुलम्' 'अन्यतरस्याम्', 'उभयथा', 'वा', 'एकेषाम्'[19] इत्यादि शब्दों द्वारा सब लक्ष्यों के समुचित संग्रह को सूचित किया है। तदनुसार कोई एकीय मत है, कोई सर्वसम्मत विकल्प है। कोई व्यवस्थित विकल्प है"[20]।

इस प्रकार उन्होंने सभी वैदिक वाङ्मय की शाखाओं का उचित आदर करते हुए सब लक्ष्यों का संग्रह किया है। क्योंकि केवल एकशाखीय मार्ग का आश्रयण नहीं किया जा सकता– यह बात 'बहुल' ग्रहण से स्पष्ट हो जाती है। इसलिए सूत्र में 'बहुल' ग्रहण करना आवश्यक समझा गया है। वैदिक शब्दों के संस्कार के साथ अन्वाचयशिष्ट लौकिक शब्दों का संस्कार भी आचार्य ने किया है। लोक में भी किसी बात को स्पष्ट करने के लिए पहले सामान्य रूप से और फिर विशेष रूप से समझाया जाता है। इसलिए आचार्य का यह लक्षण और प्रपञ्चरूप गौरवयुक्त व्यवहार दोषावह न होकर लोक न्याय के अनुकूल है। सूत्रप्रोक्त 'बहुल' ग्रहण के अभिप्राय को समझने के लिए निम्न कारिका द्रष्टव्य है–

"क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति"[21]॥

उक्त सर्ववेदपरिषद न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[22]

8. चक्रकप्रसङ्ग/अनवस्था न्याय/शास्त्रेण नाम व्यवस्थाकारिणा भवितव्यम् न्याय

"नास्ति चक्रकप्रसङ्गः। न ह्यव्यवस्थाकारिणा शास्त्रेण भवितव्यम्। शास्त्रेण नाम व्यवस्थाकारिणा भवितव्यम्। न चात्र हलादिना मुहुर्तमपि शक्यमवस्थातुम्। तावत्येवान्तिभावेन भवितव्यम्। अन्तिभावे कृते लोपः। लोपेन व्यवस्था भविष्यति"[23]।

"धातोः" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि धात्वधिकार में आने वाले "आतः"[24] सूत्र में यदि धातु ग्रहण को विहितविशेषण माना जाए और "आतः" के आकार को अनन्तर का विशेषण माना जाए तो सूत्र का अर्थ होगा कि धातु से विहित आकार के अनन्तर जो 'झि', उसे 'जुस्' होता है। किन्तु ऐसा अर्थ करने पर 'अलुनन्', 'अपुनन्' यहाँ भी 'झि' को 'जुस्' प्राप्त होगा। यहाँ 'लू', 'पू', धातुओं से लङ् में 'झि'

प्रत्यय करके 'श्ना' विकरण और अङ्ग को अडागम हो जाता है। इसके बाद 'अ + लू + ना + झि' इस अवस्था में "आतः" सूत्र से 'झि' को 'जुस्' प्राप्त है। क्योंकि 'झि' प्रत्यय 'लू', 'पू' धातुओं से विहित है और 'श्ना' के आकार से अनन्तर है। यदि यह कहा जाए कि "श्नाभ्यस्तयोरातः"[25] से 'श्ना' के आकार का पहले लोप हो जाएगा और फिर आकार से अनन्तर न होने के कारण 'जुस्' नहीं होगा तो यह ठीक नहीं। क्योंकि "श्नाभ्यस्तयोरातः" को "ईहल्यघोः"[26] यह ईत्वविधायक सूत्र हल् विषय में बाध लेता है। अतः ईत्व अवश्य प्राप्त होगा। 'झि' प्रत्यय हलादि सार्वधातुक है ही। यहाँ यह कहना भी ठीक नहीं है कि ईत्व यहाँ नहीं होगा और उसे "झोन्तः"[27] से 'झि' को अन्तादेश करके बाध दिया जाएगा। क्योंकि अजादेश को बाधकर "आतः" से जुस् प्राप्त होता है। यदि यह कहा जाए कि "जुस्" को लोप बाध लेगा तो ठीक नहीं। क्योंकि उस अवस्था में लोप को ईत्व बाधेगा। ईत्व को अन्तादेश और अन्तादेश को जुस् और जुस् को पुनः लोप बाधेगा। इस प्रकार विषम अवस्था होकर चक्रकदोष प्राप्त होगा अर्थात् सूत्रों की प्राप्ति का ऐसा अनवरत चक्कर प्रवृत्त हो जाएगा कि कौन सा पहले हो - यह निश्चय न हो सकेगा।

इसका यथार्थ उत्तर देते हुए भाष्यकार अब कहते हैं कि यहाँ कोई चक्रकप्रसङ्ग का दोष नहीं होगा। क्योंकि शास्त्र अव्यवस्था करने वाला नहीं होता अर्थात् शास्त्र को तो व्यवस्था करनी होती है, अव्यवस्था नहीं। इसलिए 'अ + लू + ना + झि' इस अवस्था में सर्वप्रथम 'झि' को अन्तादेश हो जाएगा। अन्तादेश होकर ईत्व की प्राप्ति रुक जाएगी। अब अजादि परे हो जाने से "श्नाभ्यस्तयोरातः" से आकार का लोप हो जाएगा। फलतः आकार के न रहने से 'झि' को 'जुस्' नहीं होगा तो 'अलुनन्', 'अपुनन्' ये रूप निर्बाध सिद्ध हो जाएंगे।

यह न्याय यद्यपि शास्त्रीय है, इसमें शास्त्रीय प्रक्रिया के क्रम का निर्देश किया गया है तथापि चक्रकदोष (चक्कर में पड़ना) तो सामान्य लोकव्यवहार में भी प्रायः देखने में आ जाता है। कई बार मामला खटाई में पड़ जाता है और कुछ नहीं सूझता कि क्या किया जाए ? बुद्धि किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है। ऐसे ही विकट संकट के समय इस शास्त्रीय न्याय का लोक में भी आश्रयण किया जाता है। इसी दृष्टि से इसे लोकन्यायों में समाविष्ट किया गया है। फलतः चक्रकदोष लोक और शास्त्र दोनों में आना संभव है। इसके अतिरिक्त यह न्याय अन्यत्र भी बहुत स्थानों पर देखने में आया है।[28]

9. न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः न्याय / सामयिक न्याय

"अथवा समयः कृतो न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न च केवलः प्रत्ययः इति। एतस्मात् समयादनुत्पत्तिर्भविष्यति। ननु च य एव तस्य समयस्य कर्ता स एवेदमप्याह।

यद्यसौ तत्र प्रमाणमिहापि प्रमाणं भवितुमर्हति। प्रमाणमसौ तत्र चेह च। सामर्थ्यं त्विह द्रष्टव्यं शब्दानां प्रयोगे। न चानुत्पत्तौ सामर्थ्यमस्ति। तेनानुत्पत्तिर्न भविष्यति।[29]"

"वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि व्याकरणशास्त्र में आचार्य का सिद्धान्त है कि न केवल प्रकृति का प्रयोग करो और न केवल प्रत्यय का। प्रकृति के साथ प्रत्यय का और प्रत्यय के साथ प्रकृति का प्रयोग होना चाहिए।[30] इस सिद्धान्त के अनुसार 'विक्षिपः', 'विलिखः', यहाँ 'वि' पूर्वक 'क्षिप्', 'लिख्' धातुओं से 'ण्वुल्', 'तृच्' इन उत्सर्ग प्रत्ययों का बाधक "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः"[31] से 'क' प्रत्यय होता है। अब 'वासरूप न्याय' से अपवादभूत 'क' प्रत्यय विकल्प से बाधक होगा तो 'क' प्रत्यय के अभाव पक्ष में उत्सर्गभूत 'ण्वुल्', 'तृच्' प्रत्यय नहीं प्राप्त होते। जैसे तद्धित प्रकरण में "अत इञ्"[32] से विहित 'इञ्' प्रत्यय के अभाव पक्ष में उत्सर्ग 'अण्' प्रत्यय नहीं होता। उदाहरण के रूप में जैसे 'दक्षस्यापत्यम् दाक्षिः' यहाँ 'इञ्' प्रत्यय होकर 'दाक्षिः' रूप बनता है। यह 'इञ्' प्रत्यय "प्राग्दीव्यतीय अण्"[33] का अपवाद होने से बाधक है। इसलिए 'इञ्' के अभाव पक्ष में 'अण्' न होकर 'दक्षस्यापत्यम्' यह वाक्य ही रहता है। इसी प्रकार 'विक्षिपः', 'विलिखः', यहाँ भी अपवाद 'क' प्रत्यय के अभाव पक्ष में उत्सर्ग 'ण्वुल्', 'तृच्' न होकर केवल धातुमात्र का ही श्रवण होना चाहिए जोकि अनिष्ट है अर्थात् पक्ष में 'विक्षेप्ता', 'विक्षेपकः' में उत्सर्ग प्रत्यय के रूप में 'ण्वुल्', 'तृच्' भी अभीष्ट हैं।

इनकी सिद्धि के लिए भाष्यकार कहते हैं कि "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः" इस सिद्धान्त को मानते हुए केवल धातुमात्र का प्रयोग न होकर यहाँ भी 'ण्वुल्', 'तृच्' की उत्पत्ति हो जाएगी। आगे कहते हैं कि जो उक्त सिद्धान्त को बनाने वाला है वही आचार्य "वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्" इस सूत्र को भी बना रहा है। यदि आचार्य पूर्व सिद्धान्त के लिए प्रमाण हैं तो वे "वाऽसरूपन्याय" के लिए भी प्रमाण होने चाहिए। अर्थात् आचार्य दोनों जगह प्रमाण हैं– "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या" इस सिद्धान्त में भी और "वाऽसरूप" सूत्रनिर्माण में भी। भाष्यकार कहते हैं कि किन्तु प्रमाण होने पर भी शब्दों के प्रयोग में उनका सामर्थ्य देखना चाहिए कि प्रत्ययरहित प्रकृति का प्रयोग करने में अर्थप्रकाशन का सामर्थ्य है या नहीं। यदि 'क' प्रत्यय के अभाव पक्ष में केवल 'विक्षिप्' 'विलिख्' धातुओं का ही प्रयोग किया जाए तथा उनसे उत्सर्गभूत प्रत्ययों 'ण्वुल्', 'तृच्' की उत्पत्ति न हो तो सामर्थ्य (अर्थबोध की शक्ति) कैसे बनेगा ? ऐसी स्थिति में सामर्थ्य के अभाव में 'ण्वुल्' 'तृच्' प्रत्ययों की अनुत्पत्ति न होकर उनकी उत्पत्ति ही स्वीकार करनी होगी। प्रत्यय उत्पन्न होने पर तो सामर्थ्य बन जाता है। अतः प्रत्यय उत्पन्न क्यों न हों।[34] इसके अतिरिक्त केवल प्रकृति या केवल प्रत्यय का प्रयोग होने पर अपदत्वरूप दोष भी उत्पन्न होगा।[35] यद्यपि "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः" यह न्याय शास्त्रीय ही है तो भी इसके द्वारा लौकिक प्रयोगों की साधुता परिनिष्ठित होती है,[36] इतने मात्र

से इसे भी लोकन्यायों में सम्मिलित कर दिया गया है। प्रस्तुत न्याय व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों में पर्याप्त प्रयुक्त हुआ है।[37]

10. न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः न्याय

"न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्।"[38]

"एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्" सूत्र के भाष्य में "अञ्जेश्चोपसंख्यानं संज्ञायाम्" यह वार्तिक पढ़ा गया है। उससे 'अञ्ज्' धातु से 'क्यप्' प्रत्यय होकर 'आज्यम्' बनता है। इससे पूर्व 'क्यप्' के कित् होने से "अनिदितां हल उपधाया क्ङिति"[39] सूत्र से 'अञ्ज्' के नकार का लोप हो जाता है। यहाँ वृद्धि की अप्राप्ति होने पर 'आङ्' पूर्वक 'अञ्ज्' धातु मानने पर 'आऽअज्यम् = आज्यम्' इस प्रकार अवग्रह प्राप्त होता है। आङ् रहित केवल धातु मानने पर तो अवग्रह की प्राप्ति ही नहीं। इसलिए अवग्रह को अनिष्ट मानते हुए भाष्यकार कहते हैं– लक्षणशास्त्र जो व्याकरणशास्त्र है, वह पदपाठकारों का अनुसरण नहीं करेगा अपितु पदपाठकारों को लक्षणशास्त्र का अनुसरण करना होगा अर्थात् जैसा लक्षणशास्त्र कहता है, तदनुसार पद का निर्माण करना है। पदपाठकारों के पीछे नहीं चलना है। इसलिए 'आज्यम्' में अवग्रह का अभाव ही एष्टव्य है।

वैसे भी संहितापाठ ही नित्य होने से मुख्य है। पदपाठ तो पौरुषेय होने से अनित्य है, सन्दिग्ध भी है। पदपाठकार भी सन्दिग्ध स्थल में जहाँ अर्थ के निश्चय का अभाव है, वहां अवग्रह नहीं करते, जैसे– 'हरिद्रुः' यहाँ सन्दिग्ध होने से अवग्रह नहीं होता। क्योंकि 'हरिद्रुः' में 'हरिऽद्रुः' ऐसा इकारान्त अवग्रह किया जाए या 'हरित्ऽरु' ऐसा तकारान्त करें– यह सन्देह है अर्थात् यहाँ 'हरि' और 'हरित्' दोनों शब्द अवगृहीत हो सकते हैं। अतः ऐसे सन्दिग्ध स्थलों में अवग्रह नहीं किया जाता। कहा भी है– "हरिद्रुरनवगृह्यते इति।" यह कहाँ का वचन है– अन्वेष्टव्य है। सम्भवतः किसी प्राचीन प्रातिशाख्य ग्रन्थ का रहा होगा। कैयट ने भी इसे उद्धृत किया है।[40]

'आज्य' शब्द घृत की संज्ञा है। उसमें 'आङ्' उपसर्ग का अर्थ है भी या नहीं– यह सन्देहास्पद ही है। क्योंकि रुढि शब्दों की व्युत्पत्ति अव्यवस्थित होती है। "न हि लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः इस न्याय को भाष्यकार ने अन्यत्र भी यथास्थान उपन्यस्त करते हैं, तद्यथा–

"आशितः कर्ता– आङ्पूर्वस्य प्रयोगः। यद्येवमवग्रहः प्राप्नोति। न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्।[41]"

यह न्याय भाष्यकार ने "आशितः कर्ता" सूत्र पर निर्दिष्ट किया है। यहाँ 'आशितः' में भी 'आ + आशितः = आशितः' ऐसा अवग्रह नहीं होगा अपितु 'आशितः' ऐसा इकट्ठा ही लिखा जाएगा। क्योंकि संहितापाठ और पदपाठ में संहिता ही अपौरुषेय

है अर्थात् किसी पुरुष की बनाई हुई नहीं है। पदपाठ तो शाकल्य आदि पुरुषों के बनाए हुए हैं। इसलिए पदपाठ मुख्य नहीं है, अपितु संहितापाठ ही मुख्य है। और अवग्रह पदपाठों में ही होते हैं, संहिता में अवग्रह का कोई कार्य नहीं। इसी प्रकार "ऊदनोर्देशे" इस सूत्र के भाष्य में भी "ऊत्" के स्थान पर "उत्" ऐसा निर्देश मानने पर अवग्रह का दोष दिखाया गया है, यथा– "ऊदनोर्देशे- दीर्घोच्चारणं किमर्थं न उदनोर्देश इत्येवोच्येत ? का रूपसिद्धिः ? अनूपः। सवर्णदीर्घत्वेन सिद्धम्। न सिध्यति। अवग्रहे दोषः स्यात्।[42]"

यद्यपि प्रदीपकार कैयट यहाँ लिखते हैं– "न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। यथालक्षणं पदं कर्त्तव्यम्"। किन्तु भाष्यकार ने यहाँ इस न्याय के विरुद्ध अवग्रह में दोष दिया है। हम समझते हैं कि भाष्यकार का यह दोष देना ठीक ही है। क्योंकि 'अनूपः' शब्द में 'अनु + ऊपः = अनूपः' ऐसा ही अवग्रह इष्ट है। यदि हम 'ऊप' की जगह ह्रस्व उकार पढ़ देंगे तो 'अनूप' शब्द तो बन जाएगा किन्तु उसका अवग्रह जब होगा तब 'अनु + उपः = अनूपः' ऐसा होगा जोकि अनिष्ट है। इसलिए भाष्यकार ने अवग्रह को प्रधानता नहीं दी, बल्कि वास्तविक शब्दरूप की प्रधानता मानी है।[43] 'ऊप' की जगह 'उप' पढ़ने पर कोई विशेष लाभ भी नहीं है। इसलिए 'ऊप' ही रखो, ह्रस्व न करो– ऐसा भाष्यकार का अभिप्राय है। इस तरह यह न्याय शास्त्रीय शब्दों के साथ-साथ लौकिक शब्दों का भी परिष्कारक है। यह न्याय अन्यत्र भी बहुत प्रयुक्त हुआ है।[44]

11. गोत्रावयव न्याय

"अष्टाशीतिः सहस्राण्यूर्ध्वरेतसामृषीणां बभूवुस्तत्रागस्त्याष्टमैर्ऋषिभिः प्रजनोऽभ्युपगतः। तत्रभवतां यदपत्यं तानि गोत्राणि। अतोऽन्ये गोत्रावयवाः[45]।"

"गोत्रावयवात्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार गोत्र और गोत्रावयव (अवयव गोत्र) का भेद बताते हुए कहते हैं कि अठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि हुए । उनमें आठवें अगस्त्य ऋषि से वंशपरम्परा चली। उन आठों ऋषियों के जो अपत्य हैं, सन्तान हैं, वे गोत्र कहाते हैं, गोत्रप्रवर्तक हैं। अन्य गोत्रावयव अथवा अवान्तर गोत्र हैं। आठों गोत्रकारों के नाम अन्यत्र भी प्रसिद्ध हैं–

"विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते सप्त ऋषयः"॥ "अगस्त्यश्चाष्टमः"

लोकप्रसिद्ध व्यवहारों में गोत्र का ज्ञान भी प्रमुख है। अतः गोत्रज्ञानविषयक यह भाष्यकार का वचन भी लोकन्याय के अन्दर ले लिया गया है।

12. कौशिको विश्वामित्रः न्याय

"कौशिको विश्वामित्र इति न सिध्यति। किं कारणम् ? विश्वामित्रस्तपस्तेपे नानृषिः स्यामिति। तत्र भवान् ऋषिः सम्पन्नः। स पुनस्तपस्तेपे नानृषेः पुत्रः स्यामिति।

तत्र भवान् गाधिरपि ऋषिः सम्पन्नः, स पुनस्तपस्तेपे नानृषेः पौत्रः स्यामिति। तत्र भवान् कुशिकोऽपि ऋषि सम्पन्नः। तदेतदृष्यानन्तर्यं भवति तत्र अनृष्यानन्तर्ये इति प्रतिषेधः प्राप्नोति[46]।''

''अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्'' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार विश्वामित्र की ऋषिपरम्परा दिखाते हुए कहते हैं कि विश्वामित्र ने तप किया कि मैं क्षत्रिय न रहकर ऋषि बन जाऊँ। वह तप करके ऋषि बन गया। उसने फिर निश्चय किया कि मेरा पिता भी ऋषि बन जाए। उसका पिता गाधि भी ऋषि बन गया। उसने फिर निर्णय किया कि मेरा दादा भी ऋषि बन जाए। उसका दादा कुशिक भी ऋषि बन गया। यह ऋषियों का आनन्तर्य हो गया। ऋषियों के आनन्तर्य में ''अनृष्यान्तर्ये विदादिभ्योऽञ्'' से 'अञ्' प्रत्यय का निषेध हो जाता है तो 'कुशिकस्य गोत्रापत्यं कौशिकः' यहाँ 'अञ्' प्रत्यय नहीं होना चाहिए। इस आक्षेप का उत्तर यह है कि यहां 'अनृष्यानन्तर्ये' का यह अर्थ नहीं है कि ऋषियों के आनन्तर्य में 'अञ्' नहीं होता अपितु ऋषियों से अनन्तरापत्य अर्थ में 'अञ्' नहीं होता, गोत्रापत्य में ही होता है– यह अर्थ है। 'कौशिकः' में कुशिक के ऋषि होने से गोत्रापत्य में ही 'अञ्' प्रत्यय होकर 'कौशिको विश्वामित्रः' यह इष्ट रूप बन जाएगा। ऋषिपरम्परा का ज्ञान भी लोकव्यवहार से सम्बन्ध रखता है। इसलिए इसे लोकोपकारक होने से लोकन्याय में समाविष्ट कर लिया गया है। यह न्याय अन्यत्र भी देखा जा सकता है।[47]

13. आलूनविशीर्ण न्याय

''तदेतत् क्रियमाणेऽपि पदग्रहणे आलूनविशीर्णं भवति, किञ्चित् संगृहीतं किञ्चिदसंगृहीतम्''।[48]

यह न्याय भाष्यकार ने 'सर्वस्य द्वे' सूत्र के भाष्य में उपन्यस्त किया है। इसका अर्थ है कि ''सर्वस्य द्वे'' सूत्र में 'पद' ग्रहण करने पर भी कुछ बन जाता है, कुछ बिखर जाता है, कुछ कट-छंट जाता है और कुछ बिगड़ जाता है। इस प्रकार जो वस्तु पूरी तरह से न बने, कुछ बन जाए तथा कुछ रह जाए, ऐसी स्थिति में इस न्याय का प्रयोग होता है। वहाँ हम कह सकते हैं कि यह काम तो पूरा बना नहीं, यह तो आलूनविशीर्ण हो गया। इस न्याय का बहुत जगह प्रयोग किया जा सकता है क्योंकि जहाँ काम पूरे न बने हों, अधूरे रह गए हों, वहाँ कह सकते हैं कि यहाँ आलून विशीर्ण हो गया।

14. वेदाः प्रमाणम् अथवा श्रुतयः प्रमाणम् न्याय

''अन्येषामपि केषाञ्चित् शब्दानां स्वाभाविकं स्वलिङ्गसंख्यानुविधानं दृश्यत एव, तद् यथा– वेदाः प्रमाणम्, श्रुतयः प्रमाणमिति। तस्मात् स्वाभाविकत्वाद् गुणमात्रे गुणिनि च वृत्तेः स्वलिङ्गसंख्यानुविधानस्य च न भवति यथोक्तदोषप्रसङ्गः''।[49]

''पंक्ति विंशति'' सूत्रव्याख्या में न्यासकार ने यह न्याय उपन्यस्त किया है। इस न्याय को देने का तात्पर्य यह है कि 'वेदाः' यहाँ वेद शब्द पुंलिङ्ग और प्रथमा विभक्ति का बहुवचन है। किन्तु प्रमाण शब्द नपुंसकलिङ्ग तथा प्रथमा का एकवचन है। दोनों के लिङ्ग और वचन भिन्न-भिन्न होने पर भी इनमें विशेषण-विशेष्य भाव होता है। वेद प्रमाण हैं– इस बात को कहने के लिए 'वेदाः प्रमाणानि' ऐसा कहने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार 'श्रुतयः प्रमाणम्'– यहाँ पर भी श्रुति शब्द स्त्रीलिङ्ग प्रथमा का बहुवचन है। उसका भी प्रमाण के साथ लिङ्ग और वचनों के भिन्न होने पर भी सामानाधिकरण्य हो जाता है। ''पंक्तिविंशतित्रिंशत्'' इत्यादि सूत्र की व्याख्या करते हुए न्यासकार आगे कहते हैं कि विंशति शब्द भी स्वभाव से ही स्त्रीलिङ्ग होता हुआ संख्या और संख्येय दोनों का वाचक है, जैसे 'विंशतिः गावः' अर्थात् बीस गाय हैं और 'गवां विंशतिः' अर्थात् गायों की बीस संख्या है। 'बीस गाय' इस अर्थ में विंशति शब्द संख्येय वाचक है और 'गायों की बीस संख्या' इस अर्थ में यह संख्यावाची है। शब्दशक्ति के स्वभाव से विंशति आदि शब्द संख्या और संख्येय के समानरूप से वाचक होते हैं– यही इस न्याय का तात्पर्य है। यह न्याय उद्द्योत में भी आया है।[50]

15. सर्वे सर्वपदादेशाः न्याय

''सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते''।[51]

यह न्याय भाष्यकार ने ''दाधा घ्वदाप्'' इत्यादि अनेक सूत्रभाष्यप्रसङ्ग में निर्दिष्ट किया है।[52] 'भविता' इत्यादि में 'इट्' आगम को आगम न मानकर शब्दों की नित्यता सिद्ध करने के लिए उन आगमों को इस शास्त्रीय न्याय से आदेश स्वीकार किया गया है। क्योंकि आदेश में तो एक शब्द के स्थान पर दूसरा शब्द उपस्थित होता है। परिणामतः 'भवितव्यम्' में 'तव्य' प्रत्यय के स्थान में ''इतव्य'' आदेश स्वीकार किया गया है। आगमों को आदेश मानने पर तो शब्द नित्य ही रहेगा, अनित्य नहीं। इस प्रकार इस न्याय का अर्थ यह है कि दाक्षी के पुत्र आचार्य पाणिनि के मत में सभी आगम आदि शब्द पदों के स्थान पर आदेश माने जाते हैं। उससे शब्दों की नित्यता अव्याहत बनी रहेगी। आगम आदि को आदेश न मानने पर तो शब्द नित्य नहीं रहेंगे। क्योंकि टित्, कित्, मित्, इत्यादि आगम शब्द के आदि में, मध्य में या अन्त में होकर शब्द को नित्य नहीं रहने देते, जबकि नित्य शब्द वह होता है जिसमें विद्यमान वर्ण कूटस्थ (नित्य अवसित), स्थानपरिवर्तनरहित, ह्रासवृद्धिरहित तथा आगमआदि-विकाररहित होते हैं। पदमञ्जरीकार ने भी यही न्याय 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ'[53] इस सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। अन्य आचार्यों ने भी आगमों को आगम न मानकर आदेश स्वीकार किया है, जिससे शब्द नित्य बने रहें। यह व्याकरणशास्त्रीय न्याय अन्यत्र भी पर्याप्त व्यवहृत है।[54]

16. इह किञ्चित्त्रपो इति न्याय

"अच्वाविति किमिति .... आद्यीकुर्वन्त्यनेन .... उत्तरार्थश्चेति .... केवलोत्तरार्थत्वे हि तत्रैव अच्वौ इत्यवक्ष्यत्। यथा वक्ष्यते .... इह किञ्चित् त्रपो इति। भाष्ये तूत्तरार्थमेव स्थितम्"।[55]

यह विशुद्ध व्याकरणशास्त्रीय न्याय है। यह न्याय "आद्यसुभगस्थूल" सूत्रव्याख्या प्रसङ्ग में पदमञ्जरीकार ने उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि "इकोऽचि विभक्तौ"[56] सूत्र में 'अच्' ग्रहण का प्रयोजन खण्डित करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि इस सूत्र में 'अच्' ग्रहण उत्तरार्थ है अर्थात् "अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङ्"[57] इस उत्तर सूत्र में पूर्वसूत्रस्थ 'अच्' ग्रहण का प्रयोजन बन जाता है जिससे अस्थि आदि शब्दों को 'अनङ्' आदेश अजादि तृतीयादि विभक्ति परे होने पर ही हो, हलादि भ्याम्, भिस् आदि विभक्तियों के परे होने पर न हो। इस पर आक्षेप करते हैं कि यदि उत्तरसूत्रों के लिए यहाँ 'अच्' ग्रहण की आवश्यकता है तो फिर यह 'अच्' ग्रहण वहीं कर दिया जाए, यहाँ क्यों किया जाए ? उसका समाधान करते हैं– 'इह किञ्चित्त्रपो इति' अर्थात् उत्तरार्थ होने के साथ-साथ यहाँ "इकोऽचि विभक्तौ" सूत्र में भी 'अच्' ग्रहण करने का कुछ प्रयोजन बन सकता है और वह यही है कि नपुंसकलिङ्ग 'त्रपु' शब्द के सम्बोधन में सम्बुद्धि का लुक् होने पर भी प्रत्ययलक्षण से सम्बुद्धि मानकर "ह्रस्वस्य गुणः"[58] से गुण हो जाए। इस प्रकार 'हे त्रपो' यह रूप भी बन जाएगा। वैसे तो "न लुमताङ्गस्य"[59] सूत्र से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाने पर सम्बुद्धिसंज्ञकविभक्ति परे नहीं होगी तो त्रपु शब्द को गुण होना सम्भव नहीं है। फिर भी "इकोऽचि विभक्तौ" में जो 'अच्' ग्रहण किया है, वह इस बात का ज्ञापक बनेगा कि "न लुमताङ्गस्य' से जो प्रत्ययलक्षण का निषेध है, वह अनित्य है अर्थात् कहीं पर लगता है, कहीं पर नहीं। परिणामतः 'हे त्रपो' में प्रत्ययलक्षण का निषेध अनित्य होने से नहीं लगेगा तो प्रत्ययलक्षण होकर सम्बुद्धि में 'हे त्रपो' यह गुण हो जाएगा। इसी न्याय को पदमञ्जरीकार उद्धृत करते हुए कहते हैं– "इह किञ्चित्त्रपो इति" इस न्याय का आश्रयण करने से "आद्यसुभग" इत्यादि सूत्र में "अच्वौ" यह जो निषेध है वैसे तो यह "कर्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ"[60] इस उत्तर सूत्र के लिए है। फिर भी उससे "आद्यसुभगस्थूल" इत्यादि सूत्र में भी कुछ प्रयोजन लिया जा सकता है। इस प्रकार हरदत्त के मत में उक्त न्याय के आधार पर "अच्वौ" का मुख्य प्रयोजन तो उत्तरसूत्र "कर्तरि भुवः खिष्णुच्खुकञौ" इस सूत्र के लिए ही है। फिर भी यह "अच्वौ' ग्रहण "आद्यसुभग" इत्यादि सूत्र के लिए भी प्रयोग में आ सकता है। इस न्याय का शास्त्रीय प्रयोजन यही है कि **जो शब्द उत्तरार्थ होते हुए भी पूर्वसूत्र में पढ़ दिया गया है** इससे उस सूत्र में भी **उस शब्द का यदि कुछ प्रयोजन निकाला जाए तो अवश्य निकालना चाहिए।**[61] इस व्याकरणशास्त्रीय न्याय का अन्यत्र पर्याप्त प्रयोग मिलता है।[62]

17. अस्यवामीयम् न्याय

"भवति हि समुदायगुणीभूतस्याप्येकदेशस्य पृथक्कृत्यानुकरणम्। यथा– अस्यवामीयमित्यत्रेतिभावः"।[63]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "प्राग्दीव्यतोऽण्" सूत्र की व्याख्या में उद्धृत किया है। इसका अर्थ है कि **समुदाय के प्रति गौण हुए उसके एकदेश का भी अलग करके अनुकरण किया जा सकता है।** तद्यथा 'अस्यवामस्य' इस शब्दसमुदाय के अवयव 'अस्य' और 'वाम' इनका पृथक्-पृथक् विभाजन करके अनुसरण किया गया है। इसका अर्थ है कि 'अस्य वामस्य' इस वेद मन्त्र के अवयव जो 'अस्यवाम' शब्द हैं, वे जिस सूक्त में हैं, वह सूक्त 'अस्यवामीय' कहलाता है। 'अस्यवाम' शब्द से "मतौ छः सूक्तनाम्नोः"[63] से 'छ' प्रत्यय होकर अस्यवामीय शब्द बन जाता है। अस्यवामीय के समान ही कयाशुभीयम् यह प्रयोग भी कयाशुभा इस समुदाय का पृथक् अनुकरण करके 'मतुप्' अर्थ में 'छ' प्रत्यय होकर बन जाता है। इस न्याय का वास्तविक अर्थ यही है कि **समुदाय के अन्दर गौण बने हुए उसके अवयवों का भी पृथक्करण करके उनका अनुकरण किया जा सकता है।** इस न्याय का अन्यत्र भी प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[65]

18. आगन्तूनामन्ते निवेशः न्याय

"नन्वेवं सति उत्तरत्र निषेध्यसमर्पणार्थं गुणवृद्धिग्रहणस्य चारितार्थ्येन सामर्थ्यं दुरुपपादम्, अनुवर्तमानस्य स्वरूपपरत्वेन निषेध्यसमर्पकत्वाऽभावादिति चेत्, न, आगन्तूनामन्ते निवेश इति न्यायेनादेङ्सूत्रे गुणपदोत्तरं वृद्धिपदोपस्थित्या तत्साहचर्येण तत्र सूत्रे स्वरूपपरत्वं तस्य, उत्तरत्र तु योग्यतयाऽर्थपरत्वम्"।[66]

यह न्याय उद्द्योतकार ने "इको गुणवृद्धी" सूत्र के भाष्य में "अदेङां वृद्धिसंज्ञापि प्राप्नोति" इस कथन के प्रसङ्ग में उपन्यस्त किया है। इसका अर्थ यह है कि जैसे लोक में किसी सम्मेलन आदि में जो व्यक्ति बाद में आते हैं, वे पीछे या अन्त में ही स्थान ग्रहण करते हैं वैसे ही यहाँ शास्त्र में भी जो आगन्तुक होते हैं अर्थात् ऊपर से अध्याहृत होते है या अनुवृत्ति से प्राप्त होते हैं, उनका अन्त में निवेश होता है अर्थात् वे वाक्य के अन्त में रखे जाते हैं। यहाँ प्रस्तुत सन्दर्भ में "अदेङ गुणः"[67] में जब ऊपर से वृद्धि शब्द की अनुवृत्ति होगी तो, नागेश के अनुसार, "अदेङ् गुणः" के अन्त में वृद्धि शब्द रखा जाएगा। उस समय जैसे गुण शब्द स्वरूपपरक है, उसके साहचर्य से वृद्धि शब्द भी फिर स्वरूपपरक ही होगा। परिणामतः जैसे अदेङों की गुणसंज्ञा होती है उसी प्रकार उनकी वृद्धिसंज्ञा भी प्राप्त होगी। यदि तो वृद्धि शब्द को स्वरूपपरक न मानकर अर्थपरक माना जाए तब तो अदेङों की वृद्धिसंज्ञा नहीं होगी। क्योंकि पूर्वसूत्र में आदैच् की वृद्धि संज्ञा कर चुके हैं। उस आदैच् की पुनः वृद्धि संज्ञा नहीं हो सकती।

इसी प्रकार "विभाषा तिलमाषभङ्गोमाणुभ्यः"[68] सूत्रभाष्य में "चमेषु" इसकी व्याख्या में प्रदीपकार लिखते हैं कि वेद में तो 'चमे' यह एकारान्त शब्द पढ़ा है। यह 'चमे' शब्द वहाँ बार-बार उच्चारण किया गया है। इस लिए 'चमे' शब्द वाले जो मन्त्र या अनुवाक हैं, वे सब 'चमे' कहलाते हैं।[69] फिर बाद में 'अथवा' ऐसा कहकर कैयट 'चमे' शब्द का दूसरा अर्थ यह भी करते हैं कि 'चमे' शब्द में जो 'चम्' यह मकारान्त शब्द है, उसका अनुकरण करके उसमें आगन्तुक अकार लगाकर फिर 'चम' यह अकारान्त शब्द बन जाता है और आगन्तुक अकार का उक्त न्याय से अन्त में सन्निवेश होगा तो उससे इस न्याय का प्रयोग चरितार्थ होता है।[70] इसी प्रकार "इन्धिभवतिभ्यां च"[70] इत्यादि सूत्रव्याख्याओं में "आगन्तुना इकारेण" इत्यादि कथन भी इस न्याय में उपोद्वलक हैं। प्रस्तुत न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त देखा जा सकता है।[72]

19. यावद्वचनं वाचनिकम् न्याय

"यदि षष्ठीमात्रमनुसंह्रियते तत्र लवितेति तृच ऋकारात् पूर्वमिट् प्राप्नोतीति दोषः। दापयतीति पुगाकारस्य स्यात्। ततश्च यदुक्तमर्थवतो ह्यागम इति तन्न युज्यते .... आकारावयवत्वे प्रणिदापयतीत्यादौ णत्वं न स्यादित्यर्थः, न चावयवः समुदायावयव इति निर्वाहः, यस्यावयवस्तद्विशिष्टे यत्र तदवयववृत्तिधर्मबुद्धिस्तादृशस्यावयवावयवस्य समुदायावयत्वबुद्धिर्हि लोकसिद्धा। यथा भुजावयवाङ्गुल्यादिविशिष्टे भुजत्वबुद्धिसत्त्वात् तदवयवकशरीरावयवत्वबुद्धिरङ्गुल्यादौ। न चैवमत्राकारावयवपकारादि विशिष्टेऽवर्णत्वादिबुद्धिः। अर्थवत आगमे तु तद्विशिष्टे तदर्थवत्त्वबुद्ध्या तद्बुद्धिसत्वेन भवत्येव समुदायावयवत्वमिति भवितेत्यादावङ्गावयवत्वं सम्भवतीटो गुणनिषेध-चारितार्थ्यमपि। वर्णस्य वर्णावयवत्वं तु वाचनिकं गौणम्। यावद्वचनं वाचनिकमिति न्यायेन समुदायावयवत्वे मानाभाव इत्याशयः"।[73]

उद्द्योतकार ने "अलोऽन्त्य" सूत्रभाष्य में प्रकृत न्याय का प्रयोग करते हुए लिखा है कि यदि प्रकृत सूत्र में "षष्ठी स्थानेयोगा"[74] इस पूर्वसूत्र से केवल षष्ठी का अनुसंहार माना जाए तो फिर टित्, कित्, मित् आगम भी अन्त्य को ही प्राप्त होने लगेंगे जोकि अनिष्ट हैं। फलतः लविता में इडागम 'तृच्' के ऋकार से पूर्व या स्वयं उसको प्राप्त होगा, दापयति में पुगागम आकार को प्राप्त होगा तथा रुणद्धि में 'श्नम्' विकरण धकार को प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में जो यह "अर्थवतो ह्यागमस्तद्गुणीभूतस्द्ग्रहणेन गृह्यते" कथन किया गया है, उसकी यहाँ संगति नहीं लग सकेगी। परिणामतः पुक् वर्ण को आकार वर्ण का अवयव मानने पर उसके अर्थवान् न होने से घुसंज्ञा न होने के कारण प्रणिदापयति में अभीष्ट णत्व नहीं हो सकेगा।

इस पर आगे विचार करते हुए नागेश कहते हैं कि यहाँ यह कहना कि "अर्थवतो ह्यागमः" से न सही, अवयवावयव समुदायावयव होता है– ऐसा मानने पर प्रणिदापयति में णत्व हो जाएगा तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जो जिसका अवयव होता है, उस अवयव

से विशिष्ट जहाँ अवयवयुक्त धर्मबुद्धि होती है वैसा अवयववावयव ही समुदायावायव के रूप में लोक में मान्यता प्राप्त होता है, जैसे भुजा के अवयव अङ्गुल्यादिविशिष्ट अवयव में भुजत्वबुद्धि होने से स्वयं भुजा जिसका अवयव है, ऐसा शरीरावयवत्वबोध अङ्गुल्यादि में भी हो जाता है जबकि प्रकृत में आकार वर्ण के अवयव पकारविशिष्ट वर्ण में अवर्णत्वादि अवयवबुद्धि उत्पन्न नहीं होती। इसके विपरीत अर्थवान् शब्द को आगम होने पर तो आगम से विशिष्ट उस शब्द में अर्थवत्वबुद्धि होने के कारण वहाँ तो आगम को भी समुदायावयव मान लिया जाता है और लविता इत्यादि में इडागम के अङ्गावयव बन जाने से "दीधीवेवीटाम्"[75] से उसको गुणनिषेध करना चरितार्थ हो जाता है। फलतः प्रणिदापयति में घुसंज्ञाप्रोक्त णत्व करने के लिए अर्थवतो ह्यागमः" के स्थान पर पुक् वर्ण को आकारवर्ण का अवयवत्व स्वाभाविक न होकर गौणतया वाचनिक ही रहेगा। इस स्थिति में "यावद्वचनं वाचनिकम्" इस न्याय से कोई प्रमाण न होने के कारण वर्ण को समुदायावयव नहीं माना जा सकता। उक्त न्याय का अर्थ है कि जो बात आप कहना चाहते हैं, वह तो पहले से ही कह रखी है। अतः किसी अन्य पूरक व्याख्यान से उसे पुनः कहने की आवश्यकता नहीं होती है। भाष्यकार ने भी इस शैली में अनेकत्र यथान्यास सूत्र का समर्थन किया है, जैसे– "यावद् ब्रूयात् प्रत्याख्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति तावदप्रत्यय इति"[76]। यह न्याय अन्यशास्त्रविस्तारों में भी पाया जाता है।[77]

सन्दर्भसूची

1. पा. 1.1.57
2. प.मं. (का. भा. 5 सू. 7.1.59 पृ. 598); दु. वृ. सू. 8.4.40 पृ. 131; श. कौ. भा. 1 सू. 1.1.58 पृ. 234; वै. सि. कौ. भा. 3 सू. 2977 पृ. 538; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 1 सू. 51 पृ. 65); महा प्र. उ. भा. 2 सू. 1.4.2 पृ. 331; सू. 1.4.13 पृ. 351; भा. 4 सू. 6. 4.22 पृ. 697; बृ. श. शे. भा. 1 सू. 51 पृ. 156; भा.3 सू. 2183 पृ. 1603
3. महा. भा. 1 सू. 1.1.68 पृ. 176
4. तुलना करो– वा. प. 1.56-57

   "विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।

   न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः॥

   स्वतोऽनिर्ज्ञातरूपत्वात् किमाहेत्यभिधीयते।

   नेन्द्रियाणां प्रकाश्येऽर्थे स्वरूपं गृह्यते तथा॥"
5. पा. 4.2.33
6. महा. भा. 1 सू. 1.3.1 पृ. 258

7. द्र. निरुक्त, 1.1. "षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते विनश्यतीति"।
8. महा. भा. 1 सू. 1.4.1 पृ. 296.
9. वही. सू. 1.4.110. पृ. 358.
10. ऋक्. 10.9.4; अथर्व. 1.6.1.
11. उक्त दोनों संज्ञासूत्रों के प्रत्याख्यानविषयक विशेष अध्ययनार्थ देखें, मेरा शोध प्रबन्ध पा. महा. प्र. सू. पृ. 142-150.
12. महा. भा. 1 सू. 2.1.1. पृ. 371
13. पा. 2.4.13
14. तुलना करो, महा. भा. 1 सू. 1.1.23 पृ0 81– "न यथा लोके तथा व्याकरणे। उभयगतिः पुनरिह भवति। अन्यत्रापि नावश्यमिहैव, तद् यथा– "कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म इति कृत्रिमा कर्मसंज्ञा। कर्मप्रदेशेषु उभयगतिर्भवति ..... तथाधारोऽधिकरणमिति कृत्रिमाऽधिकरण संज्ञा। अधिकरणप्रदेशेषु चोभयगतिर्भवति। सप्तम्यधिकरणे च इति कृत्रिमस्य ग्रहणम्। विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि इत्यकृत्रिमस्य"।
15. पा. 8.3.44
16. पा. 2.1.58
17. महा. भा. 1 सू. 2.1.57 पृ. 400
18. महा. प्र. भा. 2. सू. 2.1.58 पृ. 634 "केवलेन लक्षणेन मन्दबुद्धिर्विषयविभागं नावधारयति। केवल प्रपञ्चेन वा सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठवत् शास्त्रस्य गौरवप्रसङ्गः"
19. पा. 7.1.8. बहुलं छन्दसि; पा. 8.4.62. झयो होन्यतरस्याम्; पा. 3.4.117 छन्दस्युभयथा; पा. 1.2.13. वा गमः; पा. 8.3.102 यजुष्येकेषाम्।
20. परि. सं. 99 "व्यवस्थितविभाषयापि कार्याणि क्रियन्ते"।
21. न्यास. (का. भा. 3 सू. 3.3.1. पृ. 1).
22. महा. भा. 3 सू. 6.3.14 पृ. 146; सर्वदर्शनसंग्रह, पाणिनिदर्शन, पृ 118.
23. वही. 2 सू. 3.1.91. पृ. 74.
24. पा. 3.4.110
25. पा. 6.4.112
26. पा. 6.4.113
27. पा. 7.1.3
28. महा. भा. 1 सू. 1.3.60 पृ. 287; भा. 3 सू. 6.1.135. पृ. 92; 6.4.42 पृ. 197; महा. प्र. भा. 2 सू. 1.2.18 पृ. 31; सू. 1.2.47 पृ. 88; भा.4 सू. 6.1.135, पृ. 472; सू. 6.4. 22, पृ. 704; भा. 5 सू. 7.3.116, पृ. 239; सू. 8.3.15, पृ. 439; प. मं. (का. भा. 5 सू. 6.4.42, पृ 392); महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 1.3.60 पृ. 267.

29. महा. भा. 2 सू. 3.1.94 पृ. 79
30. वा. प. 2.194–

"चादयो न प्रयुज्यन्ते पदत्वे सति केवलाः।
प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते॥"

31. पा. 3.1.135
32. पा. 4.1.95
33. पा. 4.1.83
34. द्र. वै. भू. सा. धात्वर्थनिर्णयप्रकरण– "प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः। तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्"
35. द्र. "अपदं न प्रयुञ्जीत"
36. तुलना करो, प. ल. म. नामार्थप्रकरण, पृ. 400– "यदिह परिनिष्ठितं तत्साधु"
37. (क.) महा. भा. 1. सू. 1.2.64, पृ. 234; सू. 2.3.1. पृ. 442; का. भा. 1 सू. 1.2.56 पृ. 362; न्यास. (का. भा. 1 सू. 1.2.56, पृ. 362); महा. प्र. भा. 2 सू. 2.2.24. पृ. 709; सू. 2.3.1. पृ. 761; भा. 3 सू. 3.1.2 पृ. 16; सू. 4.1.48 पृ. 503; महा. प्र. उ. भा. 1 पस्पशा. पृ. 16; हयवरट् सूत्र पृ. 174; भा. 3 सू. 3.3.18, पृ. 322; सू. 4.1.1. पृ. 421; भा. 5 सू. 8.1.69, पृ. 342.

(ख) शाबरभाष्य जै. सू. 3.4.13; 10.8.24; तन्त्रवार्तिक 2.1.1; 3.1.12 इत्यादि
38. महा. भा. 2 सू. 3.1.109 पृ 85
39. पा. 6.4.24
40. द्र. महा. प्र. भा. 2 सू. 3.1.109 पृ. 207 'न लक्षणेनेति। संहिताया एव नित्यत्वात्। पदविच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम्। तथा यत्रार्थनिश्चयाभावस्तत्रावग्रहो न क्रियते। तदुक्तम्– हरिदुरनवगृह्यते इति हरिदुरित्यस्य किं हरिशब्दः इकारान्तः अथ हरिच्छब्दस्तकारान्त इति सन्देहात्।'
41. महा. भा. 2 सू. 6.1.207 पृ. 117.
42. वही. 3 सू. 6.3.98 पृ. 173.
43. द्र. वा. प. 2.13

"शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।
विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते॥"

44. महा. भा. 3 सू. 8.2.16 पृ. 398; महा. प्र. भा. 3 सू. 4.4.59, पृ. 748; भा. 4 सू. 6. 3.98 पृ. 651; प. मं. (का. भा. 2 सू. 3.1.109 पृ. 505; भा. 3 सू. 4.1.130 पृ. 465; सू. 4.2.36 पृ. 532; भा. 4 सू. 5.1.33 पृ. 44; सू. 6.1.207 पृ. 683; श. कौ. भा. 2 सू. 3.1.109 पृ. 408; प्रौ. म. सू. 8.2.16. पृ. 858; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 4 वार्तिक

1925 पृ. 16); बृ. श. शे. भा. 3 सू. 3600 पृ. 2194; श.र. (प्रौ. म.) सू. 3.2.106-107 पृ. 739; सुबोधिनी टीका (वै. सि. कौ. भा. 4 सू. 3601 पृ. 438).

45. महा. भा. 2 सू. 4.1.79 पृ. 233
46. वही. सू. 4.1.104 पृ 254
47. न्यास. (का. भा. 3 सू. 4.1.104 पृ. 446); प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.1.104 पृ. 446).
48. महा. भा. 3 सू. 8.1.1. पृ. 363
49. न्यास. (का. भा. 4 स. 5.1.56 पृ. 66).
50. महा. प्र. उ. भा. 2 सू. 5.1.56 पृ. 628
51. प. मं. (का. भा. 1 सू. 1.1.56 पृ. 190).
52. महा. भा. 1 सू. 1.1.20 पृ 75; भा. 3 सू. 7.1.27 पृ. 251
53. पा. 1.1.56
54. महा. प्र. भा. 3 सू. 3.1.32 पृ. 109; सू. 3.4.2. पृ. 370; भा. 4 सू. 6.1.9 पृ. 314; प. मं. (का. भा. 5 सू. 7.1.27 पृ. 560; सू. 7.1.90 पृ. 635); श. कौ. भा. 2 सू. 1.1.4 पृ. 100 सू. 1.1.56 पृ. 206; सू. 1.1.57 पृ. 230; प्रौ. म. सू. 2152 पृ. 301; सू. 2246 पृ. 347; त. बो. (वै. सि. कौ. भा. 1 सू. 49 पृ. 58; सू. 396 पृ. 406; भा. 3 सू. 2152 पृ. 6; सू. 2246 पृ. 66); महा. प्र. उ. भा. 4 सू. 6.1.5. पृ. 306; बृ. श शे. भा. 1 सू. 49 पृ. 140; 142; 144; सू. 73 पृ. 187; सू. 227 पृ. 438; सू. 396 पृ. 636; 640; भा. 3 सू. 2677 पृ. 1900.
55. प. मं. भा. 2 सू. 3.2.57 पृ. 580
56. पा. 7.1.73
57. पा. 7.1.75
58. पा. 7.3.108
59. पा. 1.1.63
60. पा. 3.2.57
61. भाव की दृष्टि से यहाँ सिंहावलोकित न्याय अवश्य तुलनीय है।
62. न्यास. (का. भा. 5 सू. 7.1.73 पृ. 617); महा. प्र. भा. 4. सू. 6.2.66 पृ. 383; प. मं. (का. भा. 5 सू. 7.1.73 पृ. 617; भा. 6 सू. 8.2.3. पृ. 351); श. कौ. भा. 1 लण् सूत्र पृ. 61; महा. प्र. उ. भा. 1. एओङ् ऐऔच् सूत्र. पृ. 87; लण् सूत्र, पृ. 113; भा. 4 सू. 6.1.69 पृ. 383; भा. 5 सू. 7.2.10 पृ. 110; 7.3.108 पृ. 237.
63. प. मं. (का. भा. 3 सू. 4.1.83 पृ. 399).
64. पा. 5.2.59
65. न्यास. (का. भा. 4 सू. 5.2.59 पृ. 180); महा. प्र. उ. भा. 4 सू. 6.3.1. पृ. 584
66. महा. प्र. उ. भा. 1 सू. 1.1.3 पृ. 144

67. पा. 1.1.2
68. पा. 5.2.4
69. यजुः 18.12
70. महा. प्र. भा. 4 सू. 5.2.4 पृ0 173 ''यवाश्च मे माषाश्च में इति चमेशब्दस्य पुनः पुनरुच्चारणाच्चमेशब्देन तद्वन्तोऽनुवाका उच्यन्ते। अथवा चमेशब्दस्य चमिति यन्मकारान्तं तदनुकरणं चमिति। आगन्तुना चाकारेण चमशब्दो भवति। चमशब्दो विद्यते येष्वनुवाकेषु ते चमाः''।
71. पा. 1.2.6.
72. महा. प्र. उ. भा. 3 सू. 3.1.2 पृ. 13; भा. 4 सू. 6.1.1. पृ. 293; भा. 5 सू. 8.3.15 पृ. 438; बृ. श. शे. भा. 2 सू. 917 पृ. 1156; भा. 3 सू. 2379 पृ. 1795; सू. 2826 पृ. 2000; सू. 3686 पृ. 2233.
73. महा. प्र. 3. भा. 1 सू. 1.1.52 पृ. 393
74. पा. 1.1.49
75. पा. 1.1.6
76. महा. भा. 7 सू. 1.1.69 पृ. 178.
77. तन्त्रवार्तिक 3.5.19; शाबरभाष्य, जै.सू. 2.3.2; भामती, 4.1.4; आनन्दगिरिकृत ब्रह्मसूत्रव्याख्या 4.3.4

एकादश उद्योत

अनेकार्था हि धातवो भवन्ति न्याय / धातु या शब्दबह्वर्थताप्रतिपादक न्याय

1. *ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय*

"सर्वत्रैव ह्यतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति। कथम्- अनन्तराविमौ ग्रामाविति। ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव शालासमुदाये वर्तते। तद्यथा- ग्रामो दग्ध इति। अस्ति वाटपरिक्षेपे वर्तते। तद्यथा- ग्रामं प्रविष्ट इति। अस्ति मनुष्येषु वर्तते। तद्यथा- ग्रामो गत, ग्राम आगत इति। अस्ति सारण्यके ससीमके सस्थण्डलिके वर्तते। तद्यथा- ग्रामो लब्ध इति। तद् यः सारण्यके ससीमके सस्थण्डलिके वर्तते तमभिसमीक्ष्यैतत् प्रयुज्यते - अनन्तराविमौ ग्रामाविति। सर्वत्रैव ह्यतज्जातीयकं व्यवधायकं भवति"।[1]

"हलोऽनन्तराः संयोगः" सूत्रभाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि सर्वत्र लोक में भिन्नजातीय का ही व्यवधान माना जाता है। पूछते हैं कि फिर 'अनन्तराविमौ ग्रामौ' यह प्रयोग कैसे हो गया तो इसका उत्तर देते हैं कि ग्राम शब्द के अनेक अर्थ हैं। एक तो बहुत घरों के समूह को ग्राम कहते है, जैसे- ग्राम जल गया। यहां अनेक घरों के समूह को ग्राम कहा गया है। दूसरा काण्टों वाला निकृष्ट मार्ग, या बाड़ा भी ग्राम कहलाता है, जैसे- ग्राम में घुस गया। यहां काण्टों वाले मार्ग, बाड़े या श्मशान को ग्राम कहा गया है। तीसरा मनुष्य को भी ग्राम कहते हैं, जैसे- ग्राम चला गया, ग्राम आ गया। यहां मनुष्य अर्थ में ग्राम शब्द प्रयुक्त हुआ है। चौथा अरण्यसहित, सीमासहित और पहाड़ी या ऊबड़-खाबड़ टीले आदि युक्त उद्घातिनी भूमि को भी ग्राम कहते हैं, जैसे- ग्राम की सीमा आने पर प्रायः कह देते हैं - ग्राम आ गया। इन उपर्युक्त अर्थों में जो ग्राम शब्द का अन्तिम अरण्य, सीमा आदि वाला चतुर्थ अर्थ है, उसकी दृष्टि से 'अनन्तराविमौ ग्रामौ' यह प्रयोग बन जाता है। क्योंकि इस अर्थ में ग्राम, नदी और पर्वत आदि के कारण भिन्नजातीय नहीं बनता। इससे सिद्ध हो जाता है कि सर्वत्र भिन्नजातीय ही व्यवधायक होता है, तुल्यजातीय नहीं। इसी प्रकार यहां शास्त्रीय संयोगसंज्ञा में भी भिन्नजातीय अचों का ही व्यवधान गृहीत होकर सूत्रस्थ 'अनन्तर' ग्रहण द्वारा संयोगसंज्ञा में इनका ही स्वतः निषेध होगा, हलों का नहीं तो "स्वरानन्तर्हितवचनम्" इस वार्तिक को पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयोग हुआ है।[2]

2. *अस्ति च लोके सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिः न्याय*

"अस्ति च लोके सरसीशब्दस्य प्रवृत्तिः। कथम्? दक्षिणापथे हि महान्ति सरांसि सरस्य इत्युच्यन्ते"।[3]

यहां लोकप्रसिद्ध दक्षिणापथ में 'सरसी' शब्द का प्रयोग होता है- यह भाष्यकार कहते हैं। 'सरसी' शब्द यदि दीर्घ ईकारान्त गौरी शब्द के समान स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध होता है तो 'सरस्' शब्द से सप्तमी के एकवचन 'ङि' प्रत्यय को "इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्"[4] से ईकार करके 'सरसी' बनाने की आवश्यकता नहीं रहती। "ईदूतौ च सप्तम्यर्थे" सूत्रभाष्य में "तत्रापि सरसी यदि" ऐसा कहते हुए भाष्यकार यह सूचित करते हैं कि यदि 'सरसी' इस प्रथमाविभक्ति वाले स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द की प्रवृत्ति लोक में दिखाई देती है तो 'दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्'[5] यहां प्रयुक्त 'सरसी' शब्द को भी दीर्घ ईकारान्त 'सरसी' का ही रूप समझकर उससे परे 'ङि' का लुक् मानेंगे अर्थात् 'सरस्' शब्द से परे सप्तमी को ईकार हुआ नहीं मानेंगे। ऐसी अवस्था में ईकाररूपा सप्तमी कहीं न मिलने से "ईदूतौ च सप्तम्यर्थे" सूत्र में 'अर्थ' ग्रहण के बिना भी फिर "ईदूतौ च सप्तमी" इस वचनसामर्थ्य से "सोमो गौरी अधिश्रितः"[6] इत्यादि में सप्तमी विभक्ति 'ङि' का "सुपां सुलुक्"[7] से लुक् करके उसको प्रत्ययलक्षण से विद्यमान मान लिया जाएगा तो सप्तमीसहचरित ईकार हो जाने से प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जाएगी।

यहां 'सरसी' शब्द के विषय में यह बात विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद में उपलब्ध 'सरसी' शब्द अन्तोदात्त है। यह 'सरस्' शब्द से सप्तमी विभक्ति 'ङि' को ईकार करने पर तो सर्वथा असंभव है। क्योंकि "अनुदात्तौ सुप्पितौ"[8] के वचन से 'ङि' या उसके स्थान में हुआ ईकार दोनों 'सुप्' होने से अनुदात्त हैं। इसलिए ईकार मानने पर 'सरसी' कभी भी अन्तोदात्त नहीं बन सकता। रह गया 'सरसी' शब्द, वह यदि गौरादि गण में पठित होने से ङीष् प्रत्ययान्त मान लिया जाए तो 'सरस्' शब्द से 'ङीष्' करके सरसी यह अन्तोदात्त बन जाता है। 'सरस्' शब्द 'असुन्' प्रत्ययान्त होने से आद्युदात्त है। उससे 'ङीष्' होकर 'सरसी' शब्द अन्तोदात्त बन सकता है।

यदि वेद में स्वरव्यत्यय मानकर काम चलाना इष्ट हो तब तो 'सरस्' शब्द से परे 'ङि' को ईकार मानने में भी दोष नहीं है। 'सरसी' शब्द को 'ङीप्' प्रत्ययान्त मानने पर तो अन्तोदात्त स्वर सिद्ध नहीं होता। अतः या तो 'सरस्' शब्द 'ङीष् प्रत्ययान्त' माना जाए या 'सरस्' शब्द से परे 'ङि' को ईकार करके उसे स्वरव्यत्यय से अन्तोदात्त माना जाए- इस पर वैदिक विद्वान् अर्थ एवं स्वर की दृष्टि से विचार करें।

दक्षिण देश में बड़े-बड़े तालाबों को सरसी कहते हैं, यह भाष्यकार के वचन से ज्ञात होता है। लेकिन आधुनिक कोशों में प्राप्त "कासीरः सरसीसरः"[9] इस उक्ति से तो साधारण जोहड़, जोहड़ी या लेटड़ी का नाम सरसी अनुमित होता है। फिर भी

यह तो अवश्य ही स्पष्ट है कि कोशकारों की दृष्टि में 'सरस्' शब्द के समकक्ष 'सरसी' शब्द भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। परन्तु विचार करने पर वास्तव में यह मानना अधिक उचित प्रतीत होता है कि प्रकृत सरसी शब्द प्राचीनकालिक भारतीय बड़े-बड़े बांधों के बनाए जाने की सम्भावना को संकेतित करता है। उदाहरण के रूप में जैसे आज भी दक्षिण में नागार्जुनसागर इन्हीं प्राचीन बांधों का अवशिष्ट नमूना देखा जा सकता है। महाभारत में भी इसका उल्लेख मिलता है–

''क्वचिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि बृहन्ति च।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका॥''[10]

शालि के लिए कुल्याओं का उपयोग तो स्वयं भाष्यकार भी शालिकुल्याप्रणयन न्याय के द्वारा अनेकत्र स्वीकार करते हैं। इतना अवश्य मानना होगा कि प्राचीन भारतीय भूगर्भशास्त्रियों को बांधों का बनाने का पूरा ज्ञान था। परन्तु पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी के अनुसार इनकी दृष्टि में हिमालय की श्रेणियों में बांध बांधना भूकम्प आने-जाने के कारण जनहित में नहीं था। अतः उन्होंने दक्षिण से लेकर अरावली की श्रेणियों तक ही बांध बनाए। प्रतीत होता है कि हमारा सरसी शब्द भी कोई एक ऐसा बांधकल्प ही रहा होगा।[11]

3. अन्तशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

''अयमन्तशब्दोऽस्त्येवावयववाची। तद् यथा- वस्त्रान्तः, वसनान्त इति, वस्त्रावयवो वसनावयव इति गम्यते। अस्ति सामीप्ये वर्तते। तद्यथा- उदकान्तं गत इति, उदकसमीपं गत इति गम्यते। तद् यः सामीप्ये वर्तते तस्येदं ग्रहणम्।''[12]

''हलन्ताच्च'' सूत्रस्थ 'अन्त' शब्द पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह 'अन्त' शब्द लोक में अवयववाचक भी प्रयुक्त होता है, जैसे- 'वस्त्रान्तः' 'वसनान्तः' कहते हैं। इसका अर्थ कपड़े का अवयव एवं एकदेश होता है। 'अन्त' शब्द का प्रयोग लोक में समीप अर्थ में भी देखा जाता है, जैसे- 'उदकान्तं गतः' कहने पर पानी के समीप गया' यह अर्थ जाना जाता है।[13] इस प्रकार 'अन्त' शब्द का जब समीप अर्थ भी है तो ''हलन्ताच्च'' सूत्र में लक्ष्यानुरोधात् 'अन्त' का अर्थ समीप लिया जाएगा। इससे 'इक्' समीप हल् से परे हलादि सन् कित् होता है' - यह अभीष्ट सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाता है। अन्त शब्द के अन्य अर्थों पर भी भाष्यकार यथाप्रसङ्ग विचार करते हुए कहते हैं–

''अयमन्तशब्दोऽस्त्येव सह तेन वर्तते। तद् यथा- मर्यादान्तं देवदत्तस्य क्षेत्रम्। सह मर्यादयेति गम्यते। अस्ति प्राक् तस्माद् वर्तते। तद् यथा- नद्यन्तं देवदत्तस्य क्षेत्रम्। प्राङ्नद्या इति गम्यते। तद् यः सह तेन वर्तते तस्येदं ग्रहणं यथा विज्ञायेत''।[14]

''मपर्यन्तस्य'' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि प्रकृत सूत्रस्थ परि ग्रहण को छोड़ते हुए 'मान्तस्य' इतना ही सूत्र पर्याप्त है। क्योंकि यह 'अन्त' शब्द अनेकार्थक

होने से उभयार्थक है। फलतः यह 'अन्त' शब्द 'सह तेन' अर्थात् उसके साथ अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे- 'मर्यादान्तं देवदत्तस्य क्षेत्रम्' अर्थात् देवदत्त का खेत सीमा तक या सीमापर्यन्त है। यहां 'अन्त' शब्द से मर्यादा भी अन्तर्भूत होती है। और इसी प्रकार यह 'अन्त' शब्द मर्यादा या सीमा से पूर्व अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे- 'नद्यन्तं देवदत्तस्य क्षेत्रम्' अर्थात् देवदत्त का खेत नदी से पूर्व तक है। यहां 'अन्त' शब्द मर्यादा से पहले अर्थ में है। इस तरह केवल 'अन्त' शब्द से ही 'युष्मद्' और 'अस्मद्' की 'सह मर्यादया' और 'प्राक् मर्यादायाः' अर्थों का ज्ञान हो जाने से सूत्रस्थ 'परि' ग्रहण प्रत्याख्येय है। इस प्रकार भाष्यकार ने शास्त्रीय शब्दों में लोकप्रसिद्ध अर्थों को दिखाकर भी इष्ट साधन किया है। उक्त न्यायों द्वारा 'अन्त' शब्द के अनेक लोकप्रसिद्ध अर्थ सूचित होते हैं जोकि निगद व्याख्यात हैं। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[15]

4. बह्वर्था (अनेकार्था) हि धातवो भवन्ति न्याय
क. वपिः, ईडिः, करोतिः, तिष्ठतिः

''बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति। तद् यथा वपिः प्रकिरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्तते – केशश्मश्रु वपतीति। ईडिः स्तुतिचोदनायाच्ञासु दृष्टः प्रेरणे चापि वर्तते - अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे, मरुतोऽमुतश्च्यावयन्तीति। करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टो निर्मलीकरणे चापि वर्तते - पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु; उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्तते - कटे कुरु, घटे कुरु, अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते। एवमिहापि तिष्ठतिरेव व्रजिक्रियामाह, तिष्ठतिरेव व्रजतिक्रियाया निवृत्तिम्''।[16]

''भूवादयो धातवः'' सूत्रभाष्य में धातुओं की अनेकार्थकता सिद्ध करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि बहुत अर्थ वाले भी धातु होते हैं। या यूं कहना चाहिए कि धातु तो अनेकार्थक ही होते हैं। धातुपाठ में उनका अर्थनिर्देश तो उनका क्रियावाचित्व दिखाने के लिए उपलक्षणमात्र ही है, जैसे लोक में 'वप्' धातु 'बीज बोने' अर्थ में होता हुआ छेदन अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, तद्यथा– केश एवं दाढ़ी मूंछ का वपन कराता है या कटाता है। 'केशश्मश्रु वपति' इस वाक्य का यह उक्त अर्थ लोक में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'ईड्' धातु स्तुति, विधि तथा याचना अर्थ में देखा गया है किन्तु प्रेरणा अर्थ में भी यह प्रयुक्त होता है, जैसे- ''अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति''[17] यहां अग्नि वृष्टि को प्रेरित करता है और मरुद्गण अन्तरिक्ष से वर्षा करते हैं। इसी प्रकार 'कृञ्' धातु अपूर्व उत्पादन या उत्पत्ति, निष्पत्ति आदि अर्थों में होता हुआ निर्मल करने अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे 'पृष्ठं कुरु' 'पादौ कुरु' अर्थात् पीठ और पैरों को साफ कर। यहां 'कृ' धातु का शुद्धि अर्थ है। किन्तु इसके साथ-साथ निक्षेपण, डालने एवं फैंकने अर्थ में भी यह 'कृ' धातु देखा जाता है, जैसे 'कटे कुरु, घटे कुरु' अर्थात् कट में डालो, घट में डालो, तथा ''अश्मानमितः कुरु'' पत्थर को इधर करो, उधर रखो - यहां स्थापन या बांधने अर्थ में 'कृ' धातु का प्रयोग है।

इसी प्रकार 'तिष्ठति' 'प्रतिष्ठते' यहां 'स्था' धातु का ही प्रस्थान या गति अर्थ है और 'स्था' धातु का ही गतिनिवृत्ति या ठहरना अर्थ है। 'प्र' आदि उपसर्ग तो धात्वर्थ के विशेषक या द्योतक हैं अर्थात् धातु में विद्यमान अर्थ को ही द्योतित करते हैं। फलतः प्रस्थान और स्थान दोनों 'स्था' धातु के ही अर्थ हैं।[18] क्योंकि धातु अनेकार्थक होते हैं[19] - यह बात भाष्यकार ने लौकिक उदाहरणों से स्पष्ट की है।

उत्तरवर्ती व्याख्याकार भी करोति और तिष्ठति धातुओं की अनेकार्थता पर सोदाहरण प्रकाश डालते हैं। तद्यथा कृ धातु–

"तथाहि विपूर्वस्तावदयं करोतिरस्त्येवापकारे देवदत्तोऽस्थित्यै विकरोतीति; अस्ति चेष्टानानात्वे-विकुर्वन्ते च्छात्रा इति; अस्त्यनौचित्ये - विकृतिरेषा स्त्रीणां यत् स्वातन्त्र्यमिति। अस्ति कार्ये - तन्तूनां पटो विकार इति। तथा प्रपूर्वोऽप्ययमस्ति कारणे - तन्तवः प्रकृतिः पटस्येति, अस्ति चौदासीन्ये - सत्त्वादीनां प्रकृतिरिति। तान्युच्यन्ते यान्यनारम्भकाणि; अस्ति दोषापगमे प्रकृतिस्थोऽयमिति। अस्ति स्वभावे - प्रकृत्याभिरूप इति; अस्ति धर्माणमुत्पत्त्याधारे, यथा दर्शपौर्णमासो धर्माणां प्रकृतिरिति। तदेवमर्थबहुत्वादनयोः सम्बन्धित्वमनैकान्तिकमिति, अतोऽन्यतरग्रहणे न सिध्यति।"[20]

यह न्याय न्यासकार तथा पदमञ्जरीकार दोनों ने ही "तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ" सूत्र की व्याख्या में 'प्रकृति विकृति' शब्दों के अर्थविवेचन के प्रसङ्ग में दिया है। इस न्याय से भी शब्दों की अनेकार्थकता सिद्ध होती है। इस न्याय का अर्थ यह है कि विपूर्वक 'कृ' धातु के अनेक अर्थ हैं, जैसे पहला तो यह अपकार अर्थ है, यथा- 'देवदत्तोऽस्थित्यै विकरोति' यह न्यास का उदाहरण है। पदमञ्जरीकार ने दिया है- "दैवं मे दौस्थ्ये विकरोति"। इसका अर्थ है कि भाग्य मेरी बुरी हालत में बिगाड़ कर रहा है अर्थात् दोषी है। 'विकरोति' का दूसरा अर्थ है - बिगड़ना। 'विकुर्वते छात्राः' अर्थात् छात्र बिगड़ रहे है या ऊटपटांग काम करते हैं। 'विकरोति' का तीसरा अर्थ अनौचित्य है, जैसे- 'विकृतिरेषा स्त्रीणां यत् स्वातन्त्र्यम्' अर्थात् यह तो स्त्रियों का बिगाड़ है अथवा अनौचित्य है, उनके लिए उचित नहीं है कि वे स्वातन्त्र्य से इधर-उधर घूमें। 'विकरोति' का चौथा अर्थ है - कार्य, जैसे 'तन्तूनां पटो विकारः' अर्थात् धागों का कपड़ा बनना विकार है या कार्य है। तन्तुओं से कपड़ा बनता है, इसलिए कपड़ा तन्तु का कार्य है।

इसी 'विकृति' शब्द में यदि प्र शब्द लगाकर 'प्रकृति' कर दें तो "तन्तवः पटस्य प्रकृतिः" अर्थात् धागे कपड़े के प्रकृति हैं, कारण हैं। यहाँ प्रकृति का अर्थ कारण हो गया। इसी तरह 'प्रकृति' का अर्थ उदासीनता में भी प्रयुक्त होता है, जैसे- 'सत्त्वादीनां प्रकृतिः' अर्थात् सत्त्व आदि गुणों की जो मूल प्रकृति है जिसका आरम्भक कोई तत्त्व नहीं है। 'प्रकृति' का अर्थ 'दोष हटना' भी है, जैसे- 'प्रकृतिस्थोऽयम्', यह मनुष्य प्रकृतिस्थ है, स्वस्थ है। 'प्रकृति' का अर्थ स्वभाव भी है, जैसे- 'प्रकृत्याऽभिरूपः' अर्थात् यह मनुष्य तो स्वभाव से ही सुन्दर है। 'प्रकृति' का अर्थ जो सब धर्मों का मूल आधार है, वह भी होता है, जैसे- "दर्शपौर्णमासो धर्माणां प्रकृतिः"। यहाँ दर्शपौर्णमासी यज्ञों को सब यज्ञों का मूल आधार बताया है। इसी तरह 'प्रकृति' का अर्थ प्रजा भी है, जैसे- कवियों के काव्यों में प्रयोग है - "अथ प्रकृतयः सर्वाः"[21] अर्थात् इसके बाद सारी प्रजाएं प्रसन्न होंगी। इस प्रकार 'प्रकृति' और 'विकृति' शब्दों के अनेकार्थक होने से "तदर्हम्" इस सूत्र में केवल 'विकृति' या 'प्रकृति' अन्यतर शब्द के ग्रहण से इष्ट अर्थ की सिद्धि नहीं होती थी। इसीलिए दोनों का अलग-अलग ग्रहण किया गया है।

स्था धातु-

"अथवा तिष्ठतिरयमपरिहाणावर्थे वर्तते, यथा- समये तिष्ठ सुग्रीव इति। समयं न परिजहिहीत्यर्थः।"[22]

यह न्याय न्यासकार ने "युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ" सूत्र की व्याख्या में 'स्थ' ग्रहण के प्रसङ्ग में लिखा है। इसका अर्थ है कि 'स्था' धातु का अर्थ जहाँ गतिनिवृत्ति या ठहर जाना या रुक जाना है, वहां 'न छोड़ना' अर्थ भी है, जैसे- वाल्मीकि रामायण के इस निम्नलिखित श्लोक में स्था धातु का प्रयोग 'न छोड़ने' अर्थ में किया गया है–

"न च संकुचितः पन्थाः येन बाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा बालिपथमन्वगाः।"[23]

इस श्लोक का अर्थ है कि लक्ष्मण सुग्रीव को यह सन्देश देता है कि जिस मार्ग से तुम्हारा भाई बाली मृत्यु को प्राप्त होकर गया है वह मार्ग अभी संकुचित नहीं हुआ है अर्थात् यह न समझो कि बाली तो मर गया। अब मेरा कोई क्या बिगाड़ेगा। याद रखो कि मैं जीवित हूं। हे सुग्रीव! तू अपने समय पर या वचन पर स्थित रहा, तूने जो यह वचन दिया था कि मैं सीता को ढूंढने में आपकी सहायता करूंगा, इस बात का ध्यान रख। उस अपनी प्रतिज्ञा का परित्याग मत कर तथा बाली के मार्ग का अनुसरण न कर।

यहां 'तिष्ठ' यह 'स्था' धातु लोट् लकार मध्यम पुरुष के एकवचन का प्रयोग है। इसमें 'स्था' धातु अपरिहाणि अर्थात् अपरित्याग या न छोड़ना इस अर्थ में है। सर्वथा यही बात महाभाष्य में इसी सूत्र की व्याख्या में प्रदीपकार कैयट ने तथा पदमञ्जरी में हरदत्त ने भी कही है। इससे 'स्था' धातु के अनेक अर्थ होते हैं– यह सिद्ध हो जाता है। कैयट तो वहां स्पष्ट लिखते हैं कि "समये तिष्ठ" अर्थात् "समयं माहासिः"। इस प्रसङ्ग को आगे बढ़ाते हुए प्रदीपकार जलाशय आदि के उदाहरणों के आधार पर 'स्था' धातु को 'शीङ्' धातु के अर्थ में भी घोषित करते हैं और भाष्यकार के प्रामाण्य से "वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधः" इस वार्तिक को अनावश्यक सिद्ध कर देते हैं।[24] स्वयं शीङ् धातु के विषय में हरदत्त कहते हैं–

"यद्यपि केवलः शेतिः स्वप्ने वर्तते तथाप्यतिपूर्वस्य प्रकर्षे वृत्तिः–

"उपसर्गवशाद्धातुरर्थान्तरविलासकृत्।

विहाराहारसंहारप्रहारपरिहारवत्॥

प्रकर्षश्चात्र नाधिक्यं किं तर्ह्यतिशयो मतः।

सकर्मको ह्ययं शुक्लमतिशेते इतीष्यते॥"[25]

(ख) 'यज्' धातु की बह्वर्थता के प्रसङ्ग में भाष्यकार अन्यत्र भी कहते हैं-

"यजिरप्यश्यर्थे वर्तते। कथं पुनरन्यो नामान्यार्थे वर्तते? बह्वर्था अपि धातो भवन्ति। तद्यथा- "वपिः प्रकिरणे दृष्टः"[26] इत्यादि।

तदनुसार "सन्यङोः" सूत्र के भाष्य में "इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः"[27] यहां 'इयक्षमाणाः' इस वैदिक प्रयोग को सन्नन्त 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से 'शानच्' प्रत्यय करके बनाया गया है। "सन्यङोः" को जब सप्तमी मानते हैं तो 'सन्' परे रहते 'अश्' धातु को द्वित्व होता है। छान्दस होने से "स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि"[28] से 'सन्' को 'इट्' नहीं हुआ। 'अश् अश्' द्वित्व होकर हलादिशेष हुआ। 'सन्यतः'[29] से अभ्यास के अकार को इकार होने पर "अभ्यासस्यासवर्णे"[30] से इकार को 'इयङ्' आदेश होकर "व्रश्चभ्रस्ज"[31] से 'अश्' के 'श्' को 'ष्' हुआ। इसके बाद "षढो कः सि"[32] से 'ष्' को क् और "आदेश प्रत्यययोः"[33] से सन् के सकार को षत्व होकर 'इयक्ष' धातु से "पूर्ववत्सनः"[34] से आत्मनेपद, 'शानच्' प्रत्यय और "आने मुक्"[35] से 'मुक्' का आगम हो गया तो 'इयक्षमाणाः' बन गया। यदि 'सन्यङोः' को षष्ठी माना जाता है तो सन्नन्त 'अशूङ्' धातु के द्वितीय एकाच् 'क्ष' शब्द को द्वित्व होकर 'अचिक्षमाणाः' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है।

इसका समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि 'इयक्षमाणाः' को सन्नन्त 'अशूङ्' धातु का रूप न मानकर सन्नन्त 'यज्' धातु का रूप मान लिया जाएगा। 'यज्' को सन्नन्त में 'शानच्' प्रत्यय करने पर 'यियक्षमाणाः' यह रूप अनायाससिद्धस्वतःप्राप्त है। 'यि' के यकार का छान्दस लोप मानकर 'इयक्षमाणाः' बन जाता है।[36] अब भाष्यकार शङ्का करते हैं कि किन्तु यहां 'यज्' मानने पर 'अशूङ्' धातु का व्याप्ति अर्थ कैसे बनेगा? तो उसके उत्तर में भाष्यकार 'धातुएं अनेकार्थक होती हैं - यह उपर्युक्त प्रसिद्ध लोकन्याय उद्धृत करते हैं।

(ग) रमिः धातुः

"नावश्यं रमिः प्रवृत्तावेव वर्तते। किं तर्हि? अप्रवृत्तावपि। तद्यथा- उपरतान्यस्मिन् कुले व्रतानि, उपरतः स्वाध्यायः इति। न च तत्र स्वाध्यायो भूतपूर्वो भवति नापि व्रतानि।"[37]

"विरामोऽवसानम्" सूत्र भाष्य में 'विराम' शब्द के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए

भाष्यकार कहते हैं कि 'रम्' धातु का अर्थ आरम्भ ही नहीं है अपितु निवृत्ति को भी विराम कहते हैं और वह प्रवृत्ति की ही होती है। इस पर आगे कहते हैं कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रवृत्ति होने पर जो निवृत्ति हो उस प्रवृत्तिपूर्वक निवृत्ति अर्थ में ही यह 'रम्' धातु प्रवृत्त हो अपितु अप्रवृत्तिपूर्वक निवृत्ति अर्थ में भी यह धातु देखा जाता है, जैसे इस कुल में व्रत या नियम उपरत (निवृत्त) हो गए हैं तथा अब स्वाध्याय उपरत (निवृत्त) हो गया है। यहां यह व्रत तथा स्वाध्याय पहले प्रवृत्त होकर फिर बाद में निवृत्त नहीं हुए अपितु ये यहां पहले से ही अप्रवृत्त थे। शब्दप्रयोग के नियतविषय होने के कारण[38] 'शशविषाणमुपरतम्' जैसे प्रयोगों का अभाव जानना चाहिए। यहां उपरत और विरत दोनों पर्याय है। कहीं-कहीं पर 'व्रतानि' के स्थान पर 'वनानि' पाठ भी मिलता है जो कि वानप्रस्थाश्रम का उपलक्षक है।

(घ) हरतिः धातुः

"नावश्यं हरतिर्देशान्तरप्रापण एव वर्तते। किन्तर्हि? सादृश्येऽपि वर्तते। तद् यथा- मातुरनुहरति, पितुरनुहरति।"[39]

"तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार 'समाहार' शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं - "समेकत्ववाची। आङाभिमुख्ये वर्तते। हरतिर्देशान्तरप्रापणे"। उसके बाद विशेष कथन करते हैं–"नावश्यं हरतिर्देशान्तरप्रापण एव वर्तते।" इसका आशय यह है कि 'ह' धातु का अर्थ केवल देशान्तर में पहुंचना ही नहीं है अपितु 'हृ' धातु सादृश्य अर्थ में भी लोक में प्रयुक्त होता है, जैसे लोकप्रयुक्त उदाहरण हैं - 'मातुरनुहरति'। 'पितुरनुहरति' अर्थात् माता का अनुकरण करता है, पिता का अनुकरण करता है। यहां अनु पूर्वक 'हृ' धातु का अर्थ सादृश्य स्पष्ट है। आत्मनेपदप्रकरण में "हरतेर्गतताच्छील्ये"[40] कहते हुए वार्तिककार भी 'हृ' धातु का अर्थ सादृश्य मानते हैं। लोकप्रसिद्ध उदाहरण से यह भी लोकन्याय में समाविष्ट हो जाता है।

(ङ) अञ्जिः धातुः

"कथमञ्जिरञ्चत्यर्थे वर्तते? अनेकार्था अपि धातवो भवन्तीति। अस्ति पुनः क्वचिदन्यत्राप्यञ्जिरञ्चत्यर्थे वर्तते? अस्तीत्याह। अञ्जेरञ्जनम्। अञ्जनं च प्रकाशनम्। अङ्क्ते अक्षिणी इत्युच्यते। यत् तत् सितं चासितं चैतत् प्रकाशयति। तथाञ्जेर्व्यञ्जनम्। व्यञ्जनं च प्रकाशनम्। यत् तत् स्नेहेन मधुरेण च जडीकृतानामिन्द्रियाणां स्वस्मिन्नात्मनि व्यवस्थापनं स रागस्तद् व्यञ्जनम्। अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनम्-व्यज्यतेऽनेनेति व्यञ्जनम्।"[41]

"अञ्चोऽनपादाने" सूत्रभाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि 'अञ्ज्' धातु 'अञ्चति' के अर्थ में कैसे प्रयुक्त हो गया? क्योंकि 'अञ्च्' का अर्थ तो समाहित या सावधान होकर जाना है – 'अञ्चितं गच्छति'। उसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। पूछते हैं कि क्या

कहीं लोक में 'अञ्चति' के अर्थ में 'अञ्ज्' का प्रयोग देखा गया है तो कहते हैं कि हां, देखा गया है। 'अङ्क्ते अक्षिणी' अर्थात् आंखों को आंजता है, अञ्जन लगाता है। अञ्जन या प्रकाशन एक ही बात है। अञ्जन लगाने पर आंखें सफेद या काला सबको प्रकाशित करती हैं। व्यञ्जन शब्द भी 'अञ्ज्' धातु से ही बनता है। व्यञ्जन का अर्थ भी प्रकाशन है। दूध दही आदि रस के व्यञ्जक पदार्थों को भी व्यञ्जन कहते हैं। व्यञ्जन के सेवन से जड़ीभूत जिह्वा आदि इन्द्रियों की शिथिलता दूर होकर उनमें रस या राग उत्पन्न होता है। व्यञ्जन शब्द का निर्वचन भी उक्त अर्थ के अनुकूल ही है जिससे इन्द्रियों में रस अभिव्यक्त हो - वह व्यञ्जन है।

यहां भाष्यकार ने प्रकाश अर्थ वाली 'अञ्च्' धातु के अर्थ में 'अञ्ज्' धातु को मानकर 'अञ्जिविज्ञानात्सिद्धम्' के अनुसार वार्तिककार के साथ सहमति से 'व्यक्त' शब्द की सिद्धि 'अञ्ज्' धातु से ही स्वीकार कर ली है। अन्यथा 'अञ्च्' से बनाने पर तो 'अञ्चोऽनपादाने'' से निष्ठा नत्व होकर 'व्यक्न' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। इस विषय में प्रदीपकार भी कुछ और वृद्धि करते हुए कहते हैं कि 'स्वयं राजन्ते स्वराः', 'अन्वग् भवति व्यञ्जनम्' इस भाष्योक्त निर्वचन को ध्यान में रखते हुए 'वि' पूर्वक 'अञ्ज्' धातु का अर्थ गति भी मानना चाहिए। क्योंकि व्यञ्जन भी तद्गुणोपलम्भन न्याय से नटभार्या के समान अचों के उपरागवशात् विविध रूपों को प्राप्त करता है। यह बात अलग है कि यह उपराग व्यञ्जनवर्ण पूर्व तथा पर दोनों तरफ से अच् वर्ण से घिरा होने पर भी केवल परले अच् से ही ग्रहण करता है, पहले से नहीं।[42]

(च) अप्रीतिरचेतनेष्वपि प्रयुज्यते (द्विषिः धातुः) न्याय

''द्विषेरक्रोधाद्यर्थत्वात्। अप्रीतौ ह्येनं स्मरन्ति। तथा चाचेतनेष्वपि प्रयुज्यते - औषधं द्वेष्टीति। नाभिनन्दयतीति गम्यते''।[43]

''क्रुधद्रुहेर्ष्या'' सूत्रव्याख्या में न्यासकार और पदमञ्जरीकार दोनों ने यह न्याय उपन्यस्त किया है। इस न्याय का अर्थ है कि अचेतन पदार्थों में भी प्रेम का अभाव देखा जाता है। द्वेष शब्द में जो 'द्विष्' धातु है, वस्तुतः उसका अर्थ क्रोध न होकर अप्रीति है। तदनुसार जब ''औषधं द्वेष्टि' ऐसा कहते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि औषधि से द्वेष करता है या क्रोध करता है अपितु वह औषध को पसन्द नहीं करता- यह अर्थ है। इसी प्रसङ्ग में न्यासकार आगे लिखते हैं कि जैसे 'भार्यां द्वेष्टि' यहां भार्या के चेतन होने पर अप्रीति है वैसे ही ''औषधं द्वेष्टि'' इस अचेतन औषध में भी 'पसन्द नहीं करता है' – यह प्रयोग हो जाता है। यहां पर भार्या और औषध इन दोनों पर क्रोध नहीं है, अपितु 'पसन्द न करना' ही अभिप्राय है अर्थात् बिना क्रोध के भी वह पसन्द नहीं करता - यह अर्थ है।

(छ) रञ्जिः धातु

''रञ्जिरयमस्त्येवाभिष्वङ्गे–भोजने रक्त इति, अस्ति वर्णविशेषे - रक्ता गौः, लोहितेत्यर्थः, अस्ति शुक्लस्य वर्णान्तरापादने रक्तः पट इति।''[44]

यह न्याय पदमञ्जरीकार और न्यासकार दोनों ने ''तेन रक्तं रागात्'' इस सूत्र की व्याख्या में निर्दिष्ट किया है। धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं – इस बात को सिद्ध करने के लिए ही यह न्याय दिया गया है। इसका अर्थ है कि ''तेन रक्तं रागात्'' सूत्र में जो 'रक्त' शब्द है, वह 'रञ्ज्' धातु से बनता है। 'रञ्ज्' धातु के बहुत से अर्थ हैं। तदनुसार– एक तो अभिष्वङ्ग या अनुराग अर्थ है, जैसे - 'भोजने रक्तः'। 'रञ्ज्' धातु का दूसरा अर्थ है - लाल आदि रंग, जैसे- 'रक्ता गौः'। तीसरा अर्थ है - सफेद वस्तु को रंगना, जैसे- 'रक्तः पटः' इत्यादि। इन अनेक अर्थों से यह सिद्ध हो जाता है कि 'रञ्ज्' धातु के समान अन्य धातुओं के भी अनेक अर्थ होते हैं।

5. आदिशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

''अयमादिशब्दोऽस्त्येव व्यवस्थायां वर्तते, तद् यथा- देवदत्तादीन् समुपविष्टानाह – देवदत्तादय आनीयन्तामिति। ते उत्थाप्यानीयन्ते। अस्ति प्रकारे वर्तते, तद्यथा- देवदत्तादय आढ्या अभिरूपा दर्शनीयाः पक्षवन्तः। देवदत्तप्रकारा इति गम्यते। तद् यदा तावत् क्रियावचनो धातुरित्येष पक्षस्तदा भू इत्यत्र य आदि शब्दः स व्यवस्थायां वर्तते। वा इत्यत्र य आदिशब्दः स प्रकारे। भू इत्येवमादयो वा इत्येवं प्रकारा इति। यदा तु भाववचनो धातुरित्येष पक्षस्तदा वा इत्यत्र य आदिशब्दः स व्यवस्थायाम्, भू इत्यत्र य आदिशब्दः स प्रकारे। वा इत्येवमादयो भू इत्येवं प्रकारा इति''।[45]

''भूवादयो धातवः'' सूत्र के भाष्य में भाष्यकार क्रियावाचकत्व तथा भाववाचकत्व ये दोनों धातु के अर्थ हैं - यह सिद्ध करते हुए लोकन्याय उपस्थित करते हैं कि आदि शब्द के अनेक अर्थ हैं। आदि शब्द का एक अर्थ तो व्यवस्था है, जैसे- देवदत्तादि मनुष्यों को एक जगह व्यवस्थित बैठे हुए देखकर कोई कहता है कि देवदत्तादि को लाओ। वे देवदत्तादि एक जगह व्यवस्थित बैठे हुए ही वहां से उठाकर लाए जाते हैं, इधर-उधर से देवदत्तादि मनुष्यों को इकट्ठा करके नहीं लाया जाता। आदि शब्द का दूसरा अर्थ प्रकार या सादृश्य है, जैसे- देवदत्तादि आढ्य हैं, धनी हैं, सुन्दर हैं, दर्शनीय हैं और कुलीन या प्रबल पक्ष वाले हैं - ऐसा कहने पर यहां देवदत्तसरीखे मनुष्य समझे जाते हैं अर्थात् देवदत्तसदृश जो भी अन्य मनुष्य हैं, वे देवदत्त के सादृश्य से देवदत्तादि कहे जाते हैं। यद्यपि उनका कोई निश्चित व्यवस्थित स्थान नहीं है तथापि वे केवल देवदत्त के सादृश्य से आढ्य आदि कहे जाते हैं।

इसी प्रकार यहां शास्त्र में भी जब क्रियावाचकत्व धातु का अर्थ माना जाएगा तो ''भूवादयः'' शब्द में 'भू' से आगे आने वाला 'आदि' शब्द व्यवस्थावाची होगा और 'वा' के आगे आने वाला 'आदि' शब्द प्रकारवाची होगा। फलतः 'भू' आदि व्यवस्थित शब्दों की 'वा' के समान क्रियावाचक होने पर धातु संज्ञा होती है - यह सूत्रार्थ हो जाएगा। क्योंकि 'वा' धातु का अर्थ गतिरूप क्रिया है और 'भू' धातु का अर्थ सत्तारूप भाव है और इसके विपरीत जब भाववाचकत्व धातु का अर्थ माना जाएगा तब 'वा'

के आगे आने वाला 'आदि' शब्द व्यवस्थावाची होगा और 'भू' के आगे आने वाला 'आदि' शब्द प्रकारवाची होगा। फलतः धातुपाठ में 'वा' धातु को सर्वप्रथम पढ़कर 'वा' आदि व्यवस्थित शब्दों की 'भू' के समान भाववाचक होने पर धातु संज्ञा होती है - यह सूत्रार्थ हो जाएगा। इस प्रकार 'आदि' शब्द के दोनों अर्थ लक्ष्यानुरोध से यहां काम आ जाएंगे। उससे क्रियावाची तथा भाववाची क्रमशः सकर्मक और अकर्मक दोनों प्रकार के धातु शब्दों की धातुसंज्ञा सिद्ध हो जाएगी।[46]

'आदि' शब्द के अन्य अर्थों पर भी प्रकाश डालते हुए भाष्यकार अन्यत्र कहते हैं- "अयमादिशब्दोऽस्त्येवावयववाची"[47] इत्यादि। तदनुसार "रऋतो हलादेर्लघोः" सूत्र भाष्य में भाष्यकार कहते हैं कि यह हलादि विशेषण अङ्ग का है या ऋकार का है? वह कहते हैं कि यह विचार अवश्य होना ही चाहिए। वैसे तो साफ दिखाई दे रहा है कि यह असंदिग्ध रूप से अङ्ग का ही विशेषण होना चाहिए। क्योंकि ऋकार अच् होने से हलादि कैसे हो सकता है तो इस पर विचार करते हुए वे आगे कहते हैं कि 'आदि' शब्द के कई अर्थ हैं। एक तो 'आदि' शब्द का अर्थ अवयव है, जैसे- 'ऋगादिः' 'श्लोकादिः' इत्यादि। दूसरा 'आदि' शब्द का अर्थ सामीप्य भी है, जैसे- 'दधिभोजनमर्थसिद्धेरादिः', 'घृतभोजनमारोग्यस्यादिः'। यहां जब सामीप्य अर्थ लेते हैं तो विचार करना ही पड़ता है कि हल् के समीप ऋकार को रेफ हो या हलादि अङ्ग को रेफ हो? विचार करते हुए भाष्यकार आगे कहते हैं कि यदि हलादि अङ्ग को रेफ करेंगे तो 'अप्रथीयान्' यहां 'अपृथु' का अङ्ग हलादि नहीं है। परिणामतः ऋ को रेफ आदेश प्राप्त नहीं होता जोकि अभीष्ट है तथा 'अनृचीयान्' यहां रेफ आदेश प्रसक्त होगा जोकि अनिष्ट है। क्योंकि 'अनृच्' जो अङ्ग है, वह हलादि नहीं है। इस प्रकार 'आदि' शब्द के दो अर्थ यहां माने गए हैं तथा दोनों ही पक्षों में आने वाले दोषों का समाधान भी कर दिया गया है। यहां के अतिरिक्त अन्यत्र भी 'आदि' शब्द के अर्थों पर विचार किया गया है।"[48]

6. परशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"परशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव व्यवस्थायां वर्तते, तद्यथा- पूर्वः परः इति। अस्त्यन्यार्थे वर्तते, तद्यथा- परपुत्रः परभार्या। अन्यपुत्रः अन्यभार्येति गम्यते। अस्ति प्राधान्ये वर्तते, तद्यथा- परमियं ब्राह्मण्यस्मिन् कुटुम्बे। प्रधानमिति गम्यते। तद् य इष्टवाची परशब्दस्तस्येदं ग्रहणम्। विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद् भवतीति"।[49]

"विप्रतिषेधे परं कार्यम्" सूत्र के भाष्य में 'पर' शब्द की अनेकार्थता सिद्ध करते हुए भाष्यकार लिखते हैं कि यह 'पर' शब्द बहुत अर्थों वाला है। एक तो 'व्यवस्था' अर्थ में है, जैसे पूर्वः, परः अर्थात् पहला, पिछला। यहां 'पूर्व' और 'पर' शब्द व्यवस्थित दिशा एवं देश के वाचक हैं। 'पर' शब्द का एक अर्थ 'अन्य' भी है, जैसे 'परपुत्रः', 'परभार्या' अर्थात् दूसरे का पुत्र या दूसरे की स्त्री। 'पर' शब्द का एक अर्थ 'प्रधान'

भी है, जैसे 'परमियं ब्राह्मण्यस्मिन् कुटुम्बे' अर्थात् यह ब्राह्मणी इस कुटुम्ब में प्रधान है। 'पर' शब्द का एक अर्थ 'इष्ट' भी है या जो अभीष्ट है उसे भी 'पर' कहते हैं, जैसे 'परं धाम गतः' अर्थात् अपने अभीष्ट स्थान पर चला गया।

'पर' शब्द के उक्त अर्थों में जो 'इष्ट' अर्थ है, उसका इस सूत्र में ग्रहण है। फलतः "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" अर्थात् तुल्यबलविरोध होने पर जो इष्ट है चाहे वह 'पर' न होकर पूर्व ही हो, वह कार्य हो जाता है। इस प्रकार इष्टवाची 'पर' शब्द मानने पर जितने वाचनिक पूर्वविप्रतिषेध हैं, वे सब गतार्थ हो जाते हैं अर्थात् वे अलग से नहीं पढ़ने पड़ेंगे। लक्ष्यानुरोधात् इसलिए 'पर' शब्द का इष्ट अर्थ ही मान लेना चाहिए। भाष्यकार ने बहुत स्थलों पर 'पर' शब्द को इष्टार्थवाची मानकर कार्य चलाया है। 'पर' शब्द की यह अनेकार्थता अन्यत्र भी विचारित हुई है।[50]

7. एकशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"एकशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव संख्यावाची, तद्यथा- एको द्वौ बहव इति। अस्त्यसहायवाची, तद् यथा- एकाग्नयः एकहलानि, एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितमिति। अस्त्यन्यार्थे वर्तते, तद् यथा- सधमादो द्युम्न एकास्ताः। अन्या इत्यर्थः। तद् योऽन्यार्थे वर्तते तस्यैष प्रयोगः।"[51]

"बहुषु बहुवचनम्" सूत्र के भाष्य में "इत्येके मन्यन्ते, तदेके मन्यन्ते इत्यादि प्रयोगों में 'एक' शब्द से परे बहुवचन का प्रयोग देखकर शङ्का होती है कि 'एक' शब्द तो एकत्वसंख्यावाची है। अतः उससे परे बहुवचन कैसे हुआ? तो उसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह 'एक' शब्द तो बहुत से अर्थों वाला है।[52] एक तो 'संख्यावाची है, जैसे लोक में 'एकः', 'द्वौ', 'बहवः' अर्थात् (एक, दो, बहुत) यहां 'एक' का अर्थ 'संख्या' है। 'एक' 'असहायवाची' है, जैसे- 'एकाग्नयः' 'एकहलानि', 'एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्' अर्थात् अकेली अग्निवाले, अकेले हलवाले, और अकेले क्षुद्रक लोगों ने जीत लिया - यहां 'एक' शब्द का अर्थ जिसका कोई सहारा नहीं है, 'असहाय' है। इसी तरह 'एक' शब्द का अर्थ 'साधारण' भी है, जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त की एक ही माता है। एक शब्द का चौथा अर्थ 'अन्यवाची' भी है, जैसे- "सधमादो द्युम्न एकास्ताः"[53] यह वैदिक प्रयोग है। यहां एक शब्द का अर्थ 'अन्य' या 'कुछ लोग' है। इसी प्रकार 'इत्येके मन्यन्ते तदेके मन्यन्ते" अर्थात् ऐसा कुछ लोग मानते हैं - यहां 'एक' शब्द का अर्थ 'संख्या' न होकर 'अन्य' या 'कुछ लोग' अर्थ है। उसी अर्थ में यह प्रयोग है। इसलिए यहाँ बहुवचन होने में कोई दोष नहीं है। 'एक' शब्द की यह अनेकार्थता अन्यत्र भी प्रयुक्त हुई है।[54]

8. अकथितशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"अयमकथितशब्दोऽस्त्येवासंकीर्तिते वर्तते, तद् यथा- कश्चित् कंचित् संचक्ष्याह असावत्राकथितः। असंकीर्तित इति गम्यते। अस्त्यप्राधान्ये वर्तते, तद् यथा-

अकथितोऽसौ ग्रामे। अकथितोऽसौ नगरे इत्युच्यते यो यत्राप्रधानो भवति। तद् यदाऽप्राधान्येऽकथितशब्दो वर्तते तदैष दोषः कर्मसंज्ञाप्रसङ्गोऽकथितस्य ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति इति"।[55]

"कारके" सूत्र के भाष्य में कहा गया है कि यदि 'कारक' यह संज्ञा है तो संज्ञा के साथ संज्ञी का निर्देश भी करना चाहिए। तदनुसार जो क्रिया का साधक है, निर्वर्तक है, निष्पादक है, जिसका क्रिया के साथ सम्बन्ध है, वह पुत्र 'कारक' होता है - ऐसा कहना चाहिए। यदि संज्ञीनिर्देश नहीं करेंगे तो 'ब्राह्मणस्य पुत्रं' पन्थानं पृच्छति' (ब्राह्मण के पुत्र को मार्ग पूछता है) यहां पुत्र के समान ब्राह्मण को भी अकथित मानकर उसकी कर्मसंज्ञा प्राप्त होती है। संज्ञीनिर्देश करने पर तो ब्राह्मण कारक नहीं बनता। क्योंकि ब्राह्मण का सीधा सम्बन्ध 'पृच्छति' क्रिया से न होकर पुत्र से है। अतः उसके कारक न होने से वहां "अकथितं च" से कर्मसंज्ञा की प्राप्ति नहीं होगी।[56] अब 'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति' यहां ब्राह्मण को अकथित मानकर उसकी कर्मसंज्ञा की प्राप्ति को रोकने के लिए भाष्यकार कहते हैं कि यह कोई दोष नहीं है। यह 'अकथित' शब्द एक तो 'असंकीर्तित' अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे लोक में किसी के प्रसङ्ग में कोई किसी को वर्जित करके कहता है कि वह यहां अकथित है, असंकीर्तित है अर्थात् इसका यहां कथन नहीं किया गया है। अकथित शब्द का दूसरा अर्थ अप्रधान, गौण या अमुख्य भी है, जैसे लोक में कहते हैं कि यह इस नगर या गांव में अकथित है, अप्रधान है अर्थात् इसकी मुख्यता नहीं है।

इस तरह जब 'अकथित' शब्द उक्त अप्रधान अर्थ में माना जाएगा तब यह दोष उपस्थित होता है कि "ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति" यहां अकथित, या अप्रधान ब्राह्मण की भी कर्मसंज्ञा प्राप्त होती है। वैसे तो 'असंकीर्तित' अर्थ में भी ब्राह्मण की कर्मसंज्ञा प्राप्त होती है परन्तु अप्रधान अर्थ में तो स्पष्ट ही पुत्र के समान ब्राह्मण में भी कर्मसंज्ञा की प्राप्ति है। उसका समाधान ऊपर दे दिया गया है कि ब्राह्मण कारक नहीं है। क्योंकि उसका क्रिया से सम्बन्ध नहीं है। कारक न होनेसे "अकथितं च" सूत्र से कर्म संज्ञा नहीं होगी।

9. तन्त्रशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"अयं तन्त्रशब्दोऽस्त्येव वितानेे वर्तते, तद् यथा- आस्तीर्णं तन्त्रम्। प्रोतं तन्त्रमिति। वितानमिति गम्यते। अस्ति प्राधान्ये वर्तते, तद्यथा- स्वतन्त्रो ब्राह्मण इत्युच्यते। स्व प्रधान इति गम्यते। तद् यः प्राधान्ये वर्तते तन्त्रशब्दस्तस्येदं ग्रहणम्।"[57]

"स्वतन्त्रः कर्ता" इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार शङ्का करते हैं कि इस 'स्वतन्त्र' शब्द का क्या अर्थ है? क्या "स्वं तन्त्रं यस्य स स्वतन्त्रः" अर्थात् जिसका अपना तन्त्र है, जो फैलाए वस्त्रों का ताना-बाना करता है, वह स्वतन्त्र है ? यदि वह अर्थ यहां 'स्वतन्त्र' शब्द से लिया गया है तो तन्तुवाय जो कपड़े का ताना-बाना करने

वाला, कपड़े बुनने वाला जुलाहा है, उसकी ही कर्तृसंज्ञा प्राप्त होगी अर्थात् केवल जुलाहे को ही कर्ता कह सकेंगे, अन्य किसी को कर्ता नहीं कह सकेंगे। इसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि यह 'तन्त्र' शब्द एक तो वितान अर्थ में प्रयुक्त होता है अर्थात् फैलाए हुए वस्त्रों के तन्तु, तम्बू आदि को तन्त्र कहते हैं। संस्कृत साहित्य में वितान 'चंदोवा' कहलाता है[58]– 'तन्त्रकः पटः' (ताजे तन्तुओं से बना हुआ कपड़ा)। 'तन्त्र' शब्द का दूसरा अर्थ प्राधान्य भी है, जैसे लोक में कहते हैं कि यह ब्राह्मण स्वतन्त्र है, स्वाधीन है, स्वप्रधान है, इसका अपना प्राधान्य है।

यहां सूत्र में 'तन्त्र' शब्द प्रधानअर्थवाचक लिया गया है अर्थात् जो स्वतन्त्र है जिसका अपना तन्त्र है, प्राधान्य है, वह स्वतन्त्र होता है और उसकी कर्ता संज्ञा होती है। इस प्रकार अपने-अपने व्यापार में जो स्वतन्त्र, स्वाधीन होगा, उसकी कर्ता संज्ञा होती है - यह सिद्ध हो जाता है। कर्म, करण, अधिकरणादि कारक भी अपने-अपने व्यापार में स्वतन्त्र विवक्षित होने पर कर्ता बन सकते हैं।[59] यह कर्तृसंज्ञा सब कारकों के बाद में कही गई है। इसलिए परत्वात् अन्य सब कारकों की बाधक होती है। तन्त्र शब्द के अर्थ पर अन्यत्र भी विचार किया गया है।[60]

10. सत्त्वशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"अयं सत्त्वशब्दोऽस्त्येव द्रव्यपदार्थकः, तद् यथा- सत्त्वमयं ब्राह्मणः। सत्त्वमियं ब्राह्मणीति। अस्ति क्रियापदार्थकः सद्भावः सत्त्वमिति। कस्येदं ग्रहणम्? द्रव्यपदार्थकस्य। कुत एतत्? एवं हि विधिश्च सिद्धो भवति प्रतिषेधश्च।[61]

"चादयोऽसत्वे" सूत्र में 'सत्त्व' शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह 'सत्त्व' शब्द एक तो द्रव्यवाची है, जैसे लोक में 'सत्त्वमयं ब्राह्मणः, सत्त्वमियं ब्राह्मणी' (अर्थात् ये ब्राह्मणी-ब्राह्मण सत्त्व हैं, द्रव्य हैं या मनुष्य जाति के प्राणी हैं) - ऐसा अर्थबोध होता है। 'सत्त्व' शब्द का दूसरा अर्थ सत्त्व भी है - 'सतो भावः सत्त्वम्'। पूछते हैं कि इन दोनों अर्थों में यहां किसका ग्रहण है तो उत्तर देते है कि द्रव्यवाचक 'सत्त्व' शब्द का यहां ग्रहण है। क्योंकि द्रव्यवाचक 'सत्त्व' शब्द मानने पर 'च' आदि शब्दों की निपातसंज्ञा का विधान और निषेध दोनों सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार पुनः शङ्का करते हैं कि यदि 'सत्त्व' शब्द का यहां सत्ता अर्थ लिया जाए तब तो "असत्त्वे" यह निषेध ही व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि चादियों में सत्तावाची कोई शब्द है ही नहीं जिसके लिए निषेध किया जाए। "लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः"[62] यहां पशु शब्द 'सम्यक्' अर्थ में निपात है। अतः पशु रूप द्रव्य का वाचक होने पर तो "असत्त्वे" से निपात संज्ञा का निषेध होता है, जैसे- "पशुर्वै पुरुषः। द्व्यर्थे चायं चः पठितः"। यहां अनुकार्य 'च' शब्द का अनुकरण 'च' शब्द द्रव्यवाचक है इसलिए निपातसंज्ञा का निषेध होकर विभक्ति का श्रवण होता है। अनुकार्य 'च' शब्द में द्रव्यवाचकता न होने से वहां निपातसंज्ञा का विधान सिद्ध हो जाता है। क्योंकि 'च'

यह समुच्चयार्थक निपात है। इस प्रकार 'सत्त्व' शब्द को द्रव्यवाची मानने पर यथाभिमत विषय में विधि और निषेध दोनों सिद्ध हो जाते हैं।

11. अर्थशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"नावश्यमर्थशब्दोऽभिधेये एव वर्तते। किन्तर्हि? स्यादर्थेऽपि वर्तते। तद् यथा- दारार्थं घटामहे। धनार्थं भिक्षामहे। दारा नः स्युर्धनानि नः स्युरिति। एवमिहापि तद्धितार्थे द्विगुर्भवति तद्धितः स्यादिति"।[63]

'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" सूत्र के भाष्य में 'अर्थ' शब्द पर विचार करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं है कि 'अर्थ' शब्द का अर्थ केवल अभिधेय या वाच्य अर्थ ही है अपितु यह अनेकार्थक शब्द है। तदनुसार 'अर्थ' शब्द 'स्यात्' अर्थ का भी वाचक है– 'स्यात्' अर्थात् ऐसा होवे, जैसे लोक में प्रयोग करते हैं - 'दारार्थं घटामहे'। 'धनार्थं भिक्षामहे' अर्थात् हम स्त्रीप्राप्ति के लिए यत्न कर रहे हैं। धन के लिए भीख मांग रहे हैं। हमें स्त्रियां मिलें, धन मिले - इस प्रकार यहां 'अर्थ' शब्द का अर्थ 'स्यात्' है, ऐसा होना है। इसी प्रकार "तद्धितार्थ" सूत्र में भी 'अर्थ' शब्द का अर्थ 'स्यात्' है अर्थात् तद्धितः स्यात् = तद्धित हो सके = इसलिए उसकी द्विगु संज्ञा होती है - इस अर्थ में तद्धितार्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। यहां भाष्यकार की विशिष्ट वाचोयुक्ति द्रष्टव्य है। वे 'अर्थ' शब्द को 'स्यात्' अर्थ में कितने सुन्दर ढंग से उपस्थित करते हैं। साथ ही लोकप्रसिद्ध व्यवहार का परित्याग भी नहीं करते। धन्य हैं भगवान् भाष्यकार पतञ्जलि जिन्होंने "प्रत्ययोत्तरपदयोः"[64] इस प्राचीनाचार्यप्रणीत सूत्र पर विचार करके तदनन्तर "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इस पाणिनीय सूत्र पर भी बड़ी सूक्ष्मेक्षिका से विचार किया है।

इस 'अर्थ' शब्द की अनेकार्थता पर न्यासकार ने भी विचार किया है, तद् यथा- **अभिधेयशब्दोऽयमर्थशब्द इति। एतेन प्रयोजनादिवचनाद् व्यवछिनत्ति। अर्थशब्दो हि प्रयोजनवचनोऽप्यस्ति, यथा- अनेनार्थेनागतः इति, अनेन प्रयोजनेनेति गम्यते। निवृत्तिवचनोऽप्यस्ति, यथा- मशकार्थो धूम इति, मशकनिवृत्यर्थ इति गम्यते। धनवचनोऽप्यस्ति, यथा- अर्थवान् देवदत्त इति, धनवानिति गम्यते। अभिधेयवचनोऽप्यस्ति, यथा- अस्य वचनस्यायमर्थ इति, इदमस्याभिधेयमिति गम्यते। इह त्वभिधेयवचनस्यैव ग्रहणम्।"**[65]

अर्थवत् सूत्रस्थ 'अर्थ' ग्रहण पर काशिका द्वारा की गई टिप्पणी की व्याख्या करते हुए न्यासकार कहते हैं कि प्रकृत सूत्र में 'अर्थ' ग्रहण को अभिधेयवाची मानने पर फिर अर्थ शब्द के प्रयोजनादि अन्य अर्थों की निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि यह अर्थ शब्द बह्वर्थ है। तदनुसार प्रयोजन भी अर्थ शब्द का वाच्य है, जैसे- 'अनेनार्थेनागतः' यहां अर्थ शब्द प्रयोजनवाची ज्ञापित होता है। इसी प्रकार निवृत्ति भी अर्थ शब्द का अर्थ है, जैसे- **'मशकार्थो धूमः'** यहां अर्थ शब्द से (मशकों की) निवृत्ति स्पष्ट होती है। इसी तरह अर्थ शब्द का एक अर्थ धन भी है, जैसे- **'अर्थवान् देवदत्तः'** यहां अर्थ शब्द स्पष्ट ही धनवाची है। इसी प्रकार यह अर्थ शब्द अभिधेयवाची भी है, जैसे- **'अस्य वचनस्यायमर्थः'** यहां अर्थ शब्द का तात्पर्य अभिधेय है। इस प्रकार उक्त अनेक अर्थों में विद्यमान अर्थ शब्द यहां लक्ष्य या प्रसङ्गानुरोधात् अभिधेय अर्थ में ही लिया गया है। और यह अभिधेय अर्थ शब्दों के समान ही जाति गुण क्रिया और द्रव्यभेद से चतुर्विध होता है।[66] उदाहरणार्थ जाति शब्दों का जाति अर्थ जैसे- गौः, गुण शब्दों का गुण अर्थ जैसे- शुक्लः, क्रिया शब्दों का क्रिया अर्थ जैसे- पाचकः तथा द्रव्यवाची शब्दों का द्रव्य अर्थ जैसे- डित्थः इत्यादि।

12. विशिष्टशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"अयं विशिष्टशब्दोऽस्त्येवावधारणे वर्तते, तद् यथा- देवदत्तयज्ञदत्तावाढ्याभिरूपौ दर्शनीयौ पक्षवन्तौ, देवदत्तस्तु यज्ञदत्तात् स्वाध्यायेन विशिष्टः। स्वाध्यायेनैवेति गम्यतेऽन्ये गुणाः समा भवन्ति। अस्त्याधिक्ये वर्तते, तद् यथा- देवदत्तयज्ञदत्तावाढ्याभिरूपौ दर्शनीयौ पक्षवन्तौ, देवदत्तस्तु यज्ञदत्तात् स्वाध्यायेन विशिष्टः। स्वाध्यायेनाधिकोऽन्ये गुणा अविवक्षिता भवन्ति।"[67]

"क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार 'विशिष्ट' शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए कहते हैं कि यह 'विशिष्ट' शब्द एक तो 'अवधारण' अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'अवधारण' का अर्थ निश्चित करना होता है। तदनुसार 'यह ऐसा ही है' - इस प्रकार 'ही' शब्द लगाकर किसी बात को निश्चित करते हैं, जैसे लोक में प्रयुक्त उदाहरण हैं- देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों धनी हैं, सुन्दर हैं, देखने योग्य हैं और पक्ष वाले अथवा अपनी-अपनी पार्टी वाले हैं।[68] किन्तु देवदत्त यज्ञदत्त से स्वाध्याय में विशिष्ट है। वह स्वाध्यायशील है। यहां 'विशिष्ट' का अर्थ 'अवधारण' है। स्वाध्याय में ही विशिष्ट है और बातों में बराबर है अर्थात् देवदत्त में यज्ञदत्त से स्वाध्याय गुण ही विशेष है, अन्य सब गुण तो समान हैं। 'विशिष्ट' शब्द का दूसरा अर्थ 'आधिक्य' भी है - आधिक्य अर्थात् अधिकता। उक्त उदाहरण में ही आधिक्य अर्थ भी प्रकट है। देवदत्त यज्ञदत्त से स्वाध्याय में विशिष्ट है, अधिक है। अन्य गुणों की विवक्षा नहीं है। देवदत्त में स्वाध्याय गुण अधिक है।

इस प्रकार 'विशिष्ट' शब्द के दो अर्थ होने पर "क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्" इस सूत्र में भी दोनों अर्थ लिए जा सकते हैं। फलतः जब 'विशिष्ट' का अर्थ 'अवधारण' लिया जाएगा तब केवल 'नञ्' की ही विशेषता ली जाएगी, अन्य बातें बराबर होगी तो सूत्र में "सिद्धं चाभुक्तं च" यहां समास को रोकने के लिए समानप्रकृति ग्रहण की आवश्यकता नहीं होगी। क्योंकि "सिद्धं चाभुक्तं च" यहां केवल 'नञ्' की ही विशेषता नहीं है अपितु प्रकृति की भी है। इसलिए स्वतः ही समास की व्यावृत्ति हो जाएगी। इसके साथ ही सूत्र में 'अनञ्' ग्रहण की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। क्योंकि

''कर्तव्यं चाकर्तव्यं च'' यहां केवल 'नञ्' की ही विशेषता नहीं है अपितु 'तव्यत्' प्रत्यय की भी विशेषता है। अतः यहां भी समास की व्यावृत्ति स्वतः हो जाएगी। परन्तु यहां अवधारणार्थक 'विशिष्ट' शब्द के मानने पर एक दोष यह आता है कि फिर 'अशितानशितेन जीवति' और 'क्लिष्टाक्लिशितेन जीवति' यहां ''अशितं च तद् अनशितं च'' इस विग्रह में 'अनशित' शब्द में केवल 'नञ्' की ही विशेषता नहीं है अपितु ''तस्मान्नुडचि''[69] से हुए नुडागम की भी विशेषता है। इसलिए यहां समास ही प्राप्त नहीं होगा जोकि इष्ट है। इसी प्रकार 'क्लिष्टं च तद् अक्लिशितं च' यहां 'अक्लिशित' शब्द में 'नञ्' की विशेषता के साथ ''क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः''[70] से हुए पाक्षिक इडागम की भी विशेषता है। इसलिए यहां भी समास प्राप्त नहीं होगा। ऐसी स्थिति में आधिक्यार्थक 'विशिष्ट' शब्द मानने पर सूत्र में समानप्रकृति ग्रहण करना होगा जिससे ''सिद्धं चाभुक्तं च'' यहां समास न हो जाए। इसके अतिरिक्त सूत्र में 'अनञ्' ग्रहण भी करना होगा जिससे ''कर्त्तव्यं चाकर्त्तव्यं च'' यहां समास न हो जाए। किञ्च, 'कृतं च अपकृतं च कृतापकृतम्', 'भुक्तविभुक्तम्', 'पीतविपीतम्' इत्यादि में तो 'नञ्' न होने से समास नहीं होता। इन सब दोषों को दूर करने के लिए वार्तिककार ने ''सिद्धन्तु विसमाप्तावनञ्''[71] ऐसा सूत्रन्यास किया है। यह न्याय पदमञ्जरी में भी देखने में आता है।[72]

13. गुणशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

''गुणशब्दोऽयं बह्वर्थः। अस्त्येव समेष्ववयवेषु वर्तते, तद् यथा- द्विगुणा रज्जुः, त्रिगुणा रज्जुरिति। अस्ति द्रव्यपदार्थकः, तद् यथा- गुणवानयं देश इत्युच्यते। यस्मिन् गावः सस्यानि च वर्तन्ते। अस्त्यप्राधान्ये वर्तते, तद् यथा- यो यत्राप्रधानं भवति स आह-गुणभूता वयमत्रेति। अस्त्याचारे वर्तते, तद्यथा- गुणवानयं ब्राह्मणः इत्युच्यते। यः सम्यगाचारं करोति। अस्ति संस्कारे वर्तते, तद् यथा- संस्कृतमन्नं गुणवदित्युच्यते।

अथवा सर्वत्रैवायं गुणशब्दः समेष्ववयवेषु वर्तते, तद् यथा- द्विगुणमध्ययनं त्रिगुणमध्ययनमित्युच्यते। चर्चागुणान् क्रमगुणांश्चापेक्ष्य भवति, न संहितागुणांश्चर्चागुणांश्च। यद्येवं गुणवदन्नमिति गुणशब्दो नोपपद्यते। न ह्यन्नस्य सूपादयो गुणाः समाभवन्ति। नावश्यं वर्ष्मतः परिमाणत एव वा साम्यं भवति, किन्तर्हि, युक्तितोऽपि। आतश्च युक्तितः। यो हि मुद्गप्रस्थे लवणप्रस्थं प्रक्षिपेन्नादो युक्तं स्यात्। यदि तावददेरन्नं नादोऽत्तव्यं स्यात्। अथानितेरन्नं नादो जग्ध्वा प्राण्यात्''।[73]

''तस्यभावस्त्वतलौ'' सूत्र के भाष्य में प्रसङ्गप्राप्त 'गुण' शब्द के अनेक अर्थ दिखाते हुए भाष्यकार लौकिक उदाहरण देते हैं जिससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि शब्दों के अर्थज्ञान में लोकव्यवहार कितना उपयोगी है। जब तक लोक में प्रचलित शब्दों के अर्थ का ज्ञान नहीं होगा तब तक केवल शास्त्रप्रोक्त शब्दार्थ के ज्ञान से कोई

लाभ नहीं है। इसीलिए शब्दार्थज्ञान के लिए भी लोक व्यवहार का ज्ञान अत्यावश्यक है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।[74]

तदनुसार यह 'गुण' शब्द लोक में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसे- 'द्विगुणा रज्जुः,' 'त्रिगुणा रज्जुः,' अर्थात् यह रस्सी दुगनी या तिगुनी है - यहां 'गुण' शब्द समान अवयव अर्थ में व्यवहृत हुआ है। इसी प्रकार 'गुण' शब्द का अर्थ गुणगुणी के अभेदोपचार से द्रव्य भी है, जैसे- 'गुणवानयं देशः' अर्थात् वह देश गुणवान् है। क्योंकि इसमें गाय तथा सस्य हैं। यहां 'गुण' शब्द का अर्थ द्रव्य स्पष्ट ही है। इसी तरह 'गुण' शब्द अप्रधान अर्थ में भी देखा जाता है, जैसे- जो व्यक्ति गौण होते हैं, वे कहते हैं - हम तो यहां गुणीभूत हो गए हैं। यहां गुण शब्द का अर्थ अप्रधान या गौण है। इसी प्रकार 'गुण' शब्द का अर्थ आचार भी है, जैसे- जो सम्यक् आचारशील ब्राह्मण होता है, उसे गुणवान् ब्राह्मण कहा जाता है। यहां 'गुण' शब्द का आचार अर्थ स्पष्ट ही है। इसी तरह 'गुण' शब्द संस्कार या श्राद्ध अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे- छौंक आदि से संस्कृत, शुद्ध या स्वादिष्ट बनाए हुए अन्न को भी गुणवान् कहा जाता है। यहां 'गुण' शब्द का अर्थ स्पष्टतया संस्कार ही है। 'गुण' शब्द के उक्त अनेक अर्थों को दिखाकर अब यहां भाष्यकार कहते हैं कि 'गुण' शब्द का अर्थ मुख्य रूप से अवयव है। और वे अवयव या अङ्ग समान होने चाहिए। इस समानता का ज्ञान अन्य साधनों के साथ-साथ युक्ति से भी कर लेना चाहिए। तदनुसार जो सेरभर मूंग की दाल में सेरभर नमक डालने को समता मानता है, वह अविवेकी है। सेरभर मूंग की दाल में सेरभर ही नमक डालने से वह कैसे खाने योग्य हो सकती है? यदि 'अन्न' शब्द को 'अद्भक्षणे' धातु से व्युत्पन्न मानें तो ऐसी दाल खाने योग्य नहीं हो सकती और जो 'अन्न' शब्द को यदि 'अन् प्राणने' धातु से व्युत्पन्न मानें तो भी ऐसी दाल खाकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। अतः प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी समता से ही उपयोग में लानी चाहिए, विषमता से नहीं। 'गुण' शब्दविषयक यह अनेकार्थता अन्यत्र भी विचारित हुई है।[75]

14. मधुशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

''अयं मधुशब्दोऽस्त्येव द्रव्यपदार्थकः, अस्ति रसवाची। अतश्च रसवाच्यपि मधुन्येव हि मध्विदं मधुरमिति प्रयुज्यते।''[76]

यह न्याय भाष्यकार ने ''ऊषशुषिमुष्कमधोः रः'' सूत्र के भाष्य में 'मधु' शब्द की अनेकार्थता को सिद्ध करने के लिए दिया है। इसका अर्थ कि 'मधु' शब्द का एक अर्थ तो है - शहद, और दूसरा अर्थ है - 'मीठा रस'। 'मीठा रस' इस अर्थ के वाचक में यह प्रमाण है कि शहद को भी कहते हैं - यह शहद बहुत मीठा है। इससे स्पष्ट है कि 'मधु' शब्द का अर्थ शहद ही नहीं, अपितु मिठास भी है। यहां 'ऊषशुषि' सूत्र में मिठासवाची मधु शब्द लिया है, शहदवाची नहीं।

15. अनवस्थित न्याय

(क) दूर शब्द

"दूराद्धूते इत्युच्यते। दूरशब्दश्चायमनवस्थितपदार्थकः। तदेव हि कंचित् प्रति दूरं कंचित् प्रत्यन्तिकं भवति। एवं हि कश्चित् कंचिदाह - एष पार्श्वतः करकस्तमानयेति। स आह - उत्थाय गृहाण। दूरं न शक्ष्यामीति। अपर आह - दूरं मथुरायाः पाटलिपुत्रमिति। स आह - न दूरमिदमन्तिकमिति। यत्र प्राकृतात् प्रयत्नात् प्रयत्नविशेषे उपादीयमाने सन्देहो भवति - श्रोष्यति न श्रोष्यतीति, तद् दूरमिहावगम्यते। एवमेष दूरशब्दोऽनवस्थितपदार्थकस्तस्यानवस्थितपदार्थकत्वान्न ज्ञायते - कस्यामवस्थायां प्लुत्या भवितव्यमिति।"[77]

प्लुतविधायक "दूराद्धूते च" सूत्र के भाष्य में भाष्यकार लोकप्रसिद्ध व्यवहारानुकूल दूर शब्द का लक्षण बताते हुए पूछते हैं कि "दूराद्धूते च" सूत्र से दूर से बुलाने में प्लुत का विधान किया गया है। किन्तु इस 'दूर' का अर्थ ही निश्चित नहीं है। क्योंकि वही वस्तु किसी के प्रति दूर है और किसी के प्रति पास है। जैसे लोक में कोई किसी से पूछता है कि यह पास ही प्याला या शकोरा रखा है, इसको ले आइए। वह कहता है कि आप स्वयं ही उठकर लीजिए। मैं इतनी दूर तक नहीं जा सकता। इसी प्रकार दूसरा कहता है कि मथुरा से पटना दूर है। इसके उत्तर में कोई अन्य कहता है कि दूर नहीं, वह तो पास ही है। इस तरह 'दूर' शब्द की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। जो एक के लिए दूर है वही दूसरे के लिए पास है। फलतः यह निश्चयेन ज्ञात नहीं हो पाता कि किस अवस्था में या कितनी दूरी में प्लुत होना चाहिए। इसलिए 'दूर' का निश्चित अर्थ प्रकट करते हुए भाष्यकार स्पष्ट करते हैं कि जहां साधारण यत्न से विशेष यत्न करने पर भी सन्देह हो कि यह मेरी बात सुन सकेगा या नहीं - वह यहां 'दूर' शब्द से अभिप्रेत है। वैसे वस्तुतः यह सब लोक व्यवहाराश्रित ही है। इसलिए वक्ता और श्रोता इन दोनों की अपेक्षा से ही दूर या पास का निश्चय हो सकता है। यदि वक्ता की आवाज श्रोता को सुनाई नहीं देती तो उसे दूर समझना होगा और वहीं प्लुत करना अभीष्ट है। इसी प्रकार उच्च-नीच शब्दों की अनवस्थितपदार्थकता को लेकर भी भाष्यकार कहते हैं-

(ख) उच्च-नीच शब्द

"उच्चनीचस्यानवस्थितत्वात् सञ्ज्ञाऽप्रसिद्धिः। इदमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्। तदेव हि कञ्चित् प्रत्युच्चैर्भवति, कञ्चित्प्रति नीचैः। एवं हि कश्चित् कञ्चिदधीयानमाह - किमुच्चै रोरूयसे, शनैर्वर्ततामिति। तमेव तथाधीयानमपर आह - किमन्तर्दन्तकेनाधीषे, उच्चैर्वर्ततामिति। एवमुच्चनीचमनवस्थितपदार्थकम्, तस्यानवस्थितत्वात् सञ्ज्ञाया अप्रसिद्धिः"।[78]

"उच्चैरुदात्तः" और "नीचैरनुदात्तः" सूत्रों पर भाष्यकार कहते हैं कि उदात्त और

अनुदात्त संज्ञाओं के व्यावर्तक विशेषण के रूप में सूत्र में उच्च और नीच शब्दों को ग्रहण किया गया है। किन्तु ये दोनों विशेषण तो खट्वा और वृक्ष आदि शब्दों के लिङ्ग के समान बड़े अनिश्चित स्वरूपवाले शब्द हैं। क्योंकि वही एक समान उच्चारित ध्वनि किसी के लिए उच्च होती है और किसी के लिए नीच, जैसे- लोक में किसी को पढ़ते हुए देखकर कोई एक तो यह कहता है कि क्यों जोर से शब्द कर रहा है, धीरे से बोल तथा उसी प्रकार की ध्वनि से पढ़ते हुए उसी को दूसरा यह कहता है कि क्यों दांत दबाकर धीरे-धीरे पढ़ रहा है, ऊंची आवाज से पढ़। इस प्रकार उच्च और नीच शब्द व्यवस्थितपदार्थक नहीं है अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक ध्वनि सभी के लिए ऊंची है तथा अमुक ध्वनि सभी के लिए नीची। वास्तव में उच्च और नीच पर आधारित यह पर्यनुयोग श्रवण के क्रमशः प्रकर्ष और अपकर्ष पर आश्रित है जोकि प्रतिव्यक्ति की शक्ति पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में उच्च-नीच रूप अनवस्थित वस्तु के आश्रयण से क्रमशः उदात्त-अनुदात्त संज्ञाओं का साधुत्व व्यवस्थित नहीं किया जा सकता।

16. कुण्डशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"कुण्डशब्दोऽस्ति भाजनविशेषवाची। अस्ति समुदायवाची। इक्षुकुण्डम्। इक्षुसमुदाय इत्यर्थः। वनशब्दस्तु समुदायवाच्यप्यस्ति - आम्रवणमिति। जलपर्यायोऽप्यस्ति।"[79]

यह न्याय "कुण्डं वनम्" सूत्र के भाष्य में प्रदीपकार कैयट ने दिया है। यह न्याय 'कुण्ड' और 'वन' शब्दों की अनेकार्थता सिद्ध करने के लिए दिया गया है। इसका अर्थ है कि 'कुण्ड' शब्द एक तो पात्रविशेष का वाचक है तथा दूसरा समुदाय का वाचक है, जैसे- 'इक्षुकुण्डम्' अर्थात् ईख का समुदाय - यह इसका अर्थ है। 'वन' शब्द भी एक तो समुदाय का वाचक है, जैसे- 'आम्रवणम्' बहुत से आमों का समूह तथा साथ ही यह जल का वाचक भी है, जैसे- "वनमुचे नमुचेरर्ये शिरः"[80]। यहां 'वनमुचे' में 'वन' का अर्थ 'जल' है। 'वनमुचे' का अर्थ है - बादल (जल छोड़ने वाला)।

17. सर्वशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"सर्वशब्दो द्रव्यप्रकारावयवकात्स्न्र्यवृत्तिः। द्रव्यकात्स्न्र्ये यथा- 'सर्वस्वं ददातीति'। प्रकारकात्स्न्र्ये यथा- 'सर्वान्नं भक्षयतीति'। सर्वप्रकारमन्नं भुङ्क्ते इति गम्यते। अवयवकात्स्न्र्ये यथा- 'सर्वः पटो दग्ध' इति। इह तु पर्यादीनां विशिष्टार्थानां कार्यित्वेनोपादानाद् द्रव्यप्रकारकात्स्न्र्यासंभवादवयवकात्स्न्र्यवृत्तिः सर्वशब्दः।"[81]

यह न्याय 'सर्वस्य द्वे' सूत्र के भाष्य में प्रदीपकार कैयट ने 'सर्व' शब्द के अनेक अर्थ सिद्ध करने के लिए दिया है। इसका अर्थ है कि द्रव्य की सम्पूर्णता प्रकार की सम्पूर्णता और अवयव की सम्पूर्णता- इतने अर्थों में 'सर्व' शब्द का प्रयोग होता है। द्रव्य की सम्पूर्णता जैसे- "सर्वस्वं ददाति" अर्थात् यह आदमी सर्वस्व देता है। यहां 'सर्व' का अर्थ जो कुछ भी वस्तु उसके पास है, वह सम्पूर्ण देता है।

'प्रकार की सम्पूर्णता' का उदाहरण जैसे- "सर्वान्नं भक्षयति" अर्थात् यह तो सारा ही अन्न खा जाता है। किसी आदमी ने सारी रोटी खाली तो वहां सारी शब्द से दुनिया भर की सारी रोटी नहीं ली जाती, अपितु उस बर्तन में पड़ी हुई जितनी रोटियां थीं, वे सब खा लीं - ऐसा अर्थ होता है।

तीसरे अर्थ 'अवयव की सम्पूर्णता' का उदाहरण यथा - "सर्वः पटो दग्धः" अर्थात् यह तो सारा ही कपड़ा जल गया। यद्यपि कपड़े का कुछ हिस्सा ही जला है, फिर भी कहते हैं कि सारा कपड़ा जल गया।[82] इस प्रकार इस न्याय से 'सर्व' शब्द की अनेकार्थकता सिद्ध होती है। यहां "सर्वस्य द्वे" सूत्र में अवयव की सम्पूर्णता का वाचक 'सर्व' शब्द अभिप्रेत है। इसका अर्थ है कि सारे पद को द्वित्व होता है। पद में अनेक अक्षर होते हैं, वे यहां सारे लिए गए हैं अर्थात् पद में वर्तमान सारे वर्णों को द्वित्व होता है। यह न्याय अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है।[83]

18. कल्कशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"कल्कशब्दोऽयमस्ति पिष्ट औषधे - 'पथ्या शुण्ठी सैन्धवांशस्य कल्कः पेयो नित्यं सर्वरोगक्षयाय' इति, तैले घृते वा औषधे प्रक्षिप्ते यदृजीषं तत्रापि वर्तते, तापे च प्रसिद्धः - 'तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः' इत्यादौ, इह तु प्रथमस्य ग्रहणमिति केचित्। विशेषेणेति वयम्, तथा च माघः प्रायुङ्क्त - 'अविनीय संभ्रमविकासिभक्तिभिः' इति"।[84]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "विपूयविनीयजित्यामुञ्जकल्कहलिषु" इस सूत्र के व्याख्यान में 'कल्क' शब्द के अनेक अर्थ सिद्ध करते हुए दिया है। क्योंकि "विपूयविनीय" सूत्र में 'विनीय' शब्द 'कल्क' के अर्थ में निपातित किया गया है। अतः यह 'कल्क' क्या है? इसको समझाने के लिए पदमञ्जरीकार लिखते हैं कि 'कल्क' शब्द का एक अर्थ तो 'काढ़ा' है, जैसे- "पथ्या शुण्ठी सैन्धवांशस्य कल्कः पेयो नित्यं सर्वरोगक्षयाय"।[85] इसका अर्थ है कि सूंठ और नमक से मिला हुआ काढ़ा हमेशा रोगनाश के लिए पीना चाहिए। 'कल्क' का दूसरा अर्थ यह भी है कि तेल या घी में दवाई डालकर जो औषधि बनाई जाती है इस तरह जो उसका छिलके वाला या व्यर्थ का हिस्सा 'फौल्लक' है, उसको भी 'कल्क' कहते हैं और इसी तरह गर्मी या उष्णता भी 'कल्क' शब्द का अर्थ है, जैसे- "तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः"[86] अर्थात् त्रिफला आदि द्रव्य में तेल या घी डालकर जो दवाई बनाई जाती है, वह भी कल्क होती है। तपस्या करने तथा पठन-पाठन या अध्ययन में जो परिश्रम होता है, वह भी 'कल्क' है। हरदत्त आगे कहते हैं कि कुछ लोगों के अनुसार "विपूयविनीय" सूत्र में कल्क शब्द का अर्थ तेल या घी में मिलाकर जो दवाई बनाई जाती है, उसके फोल्लक या बेकार भाग का नाम 'कल्क' है। लेकिन हरदत्त का विचार है कि 'कल्क' का अर्थ विशेष औषधि है। क्योंकि शिशुपालवध महाकाव्य में माघ कवि ने ऐसा प्रयोग किया है - "अविनीय (अविनीत) संभ्रमविकासिभक्तिभिः"[87]। परन्तु लेखक की दृष्टि में हरदत्तोक्त कल्क शब्द का अर्थ विचारणीय ही है। क्योंकि माघ काव्य की सर्वङ्कषा टीका के अनुसार कल्क शब्द का अर्थ अकपट है।

19. भोगशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"भोगशब्दश्चायमस्त्येव द्रव्यपदार्थकः, तद्यथा- भोगवानयं देश उच्यते; यस्मिन् गावः सस्यानि च वर्द्धन्ते, भुज्यत इति भोगः, अस्ति च क्रियापदार्थः, तद्यथा- भोगवानयं ब्राह्मण उच्यते यः सम्यक् स्नानादिकाः क्रिया अनुभवति; अस्ति च शरीरवाची, अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुमिति दर्शनात्"।[88]

यह न्याय पदमञ्जरीकार ने "आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः" सूत्र की व्याख्या में 'भोग' शब्द की बह्वर्थता - यह सिद्ध करने के लिए दिया है। वस्तुतः यह न्याय भाष्यकार पतञ्जलि ने ही यत्किञ्चित् शब्दभेद के साथ दिखाया है। हरदत्त ने तो उसी का अनुवादमात्र किया है। इसका अर्थ है कि 'भोग' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। तदनुसार यहां सूत्र में 'भोग' शब्द एक तो भोग्य पदार्थों का वाचक है, जैसे- कहते हैं- यह देश तो बहुत भोगों वाला है। इसका अर्थ होता है कि यहां बहुत से भोग्य पदार्थ मिलते हैं अर्थात् इसमें गाएं, अनाज आदि खूब फलते-फूलते हैं। भोग शब्द का दूसरा अर्थ क्रिया भी है, जैसे- यह ब्राह्मण भोग वाला है अर्थात् यह अच्छे भोग भोगता है या अच्छी प्रकार से स्नानादि क्रियाएं करता है। भोग शब्द का तीसरा अर्थ शरीर भी है। शरीर के साथ उसके अवयवों का भी वाचक भोग शब्द है। जैसे वेदमन्त्र में "अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुम्"[89] यहां भोग शब्द का अर्थ साँप का शरीर है। अच्छा-लम्बा शरीर वाला होने से ही साँप को भोगी कहते हैं। इस प्रकार यह न्याय इस बात को सिद्ध करता है कि शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं। इसलिए प्रस्तुत प्रसङ्ग में 'पितृभोगीणः' यहां पिता के लिए जो हितकारक है वह पिता के शरीर के लिए भी हितकारक ही है - यह मानकर पितृभोग शब्द से भी 'हित' अर्थ में 'ख' प्रत्यय हो जाता है।

20. भावशब्दोऽयं बह्वर्थः न्याय

"भावशब्दोऽयं भवतेश्चेति वक्तव्यमिति णप्रत्ययान्तोऽस्त्येवाभिप्राये, यथा- अयं भाव इति, अस्ति च पदार्थमात्रवचनः, यथा- विचित्रा हि भावशक्तयः, अस्ति च शृङ्गारादिषु स्थायिभावः, सञ्चारिभाव इति, घञन्तस्तु भवत्यर्थे कर्तृवर्जिते च कारके वर्तते। भवतिश्चानेकार्थः, तद् यथा- तत्र भव इति सत्तार्थः, धान्यानां भवने इत्युत्पत्त्यर्थः, इत्थम्भूते इति प्राप्त्यर्थः, भूष्णुर्भूतिकाम इति समृद्धयर्थः, यस्य च भावेन भावलक्षणमित्यादौ धात्वर्थमात्रवचनः। वृत्तिकारोपदर्शितश्चापरः ततश्च तस्य भाव इत्यभिप्रायादिष्वतिप्रसङ्ग? इत्यत आह भवतोऽस्मादित्यादि"।[90]

"तस्य भावस्त्वतलौ" सूत्रस्थ भावशब्द की काशिकाव्याख्या पर टिप्पणी करते

हुए पदमञ्जरीकार कहते हैं कि यह भाव शब्द अनेकार्थक है। तदनुसार ''भवतेश्चेति वक्तव्यम्''[91] वार्तिकप्रोक्त णप्रत्ययान्त भाव शब्द तो अभिप्रायवाची है, जैसे- अयं भावः। यहां भाव शब्द का अर्थ अभिप्राय स्पष्ट ही है। दूसरा भाव शब्द पदार्थमात्रवाची है, जैसे- 'विचित्रा हि भावशक्तयः'। यहां भाव शब्द का अर्थ पदार्थ या वस्तुमात्र है। तीसरा भाव शब्द शृङ्गारादि अर्थों में भी प्रयुक्त होता है, जैसे-'स्थायिभावः', 'सञ्चारिभावः'। ये दोनों भाव शृङ्गारादि सन्दर्भों में ही प्रयुक्त होते हैं। चौथा घञन्त भावशब्द कर्तृवर्जित कारक तथा भवत्यर्थ में भी व्यवहृत होता है।[92] परन्तु यह भू धातु अनेकार्थक है, जैसे- ''तत्र भवः''[93] यहां भू धातु सत्तार्थक है। ''धान्यानां भवने क्षेत्रे''[94] यहां उत्पत्त्यर्थक है। 'भूष्णुर्भूतिकामः' यहां भू धातु समृद्धि अर्थ का बोधक है तथा ''यस्य च भावेन भावलक्षणम्''[95] इस सूत्र में भू धातु धात्वर्थमात्र (भाववचनो धातुः) का वाचक है। इसके अतिरिक्त प्रकृत सूत्र में काशिकाकार के द्वारा भाव शब्द का जो अर्थ दिखाया गया है, वह दूसरा ही है।

ऐसी स्थिति में प्रकृत सूत्रस्थ इस भाव शब्द के अनेकार्थक होने के कारण विवक्षित भाव शब्द का ज्ञान नहीं हो पाता। फलतः अनिष्ट अर्थों की भी अतिप्रसक्ति होती है। इसके निवारण के लिए काशिकाकार के माध्यम से न्यास तथा पदमञ्जरीकार कहते हैं कि जिस गोत्वादिहेतुरूप विशेषणों या गुणों के कारण गौआदि विशेष पदार्थों में 'गौ आदि' इस प्रकार का शब्दप्रयोग होता है तथा अनेक गोपदार्थों में गोत्वाकारवाली यह एक अभिन्न बुद्धि भी उत्पन्न हो जाती है, इस तरह जो अर्थ या गुण गो आदि शब्दप्रयोग या अभिधान होने का प्रवृत्तिनिमित्त है, वही अर्थ यहां भाव शब्द से विवक्षित है।[96] अन्य अर्थ तो अनभिधान के कारण गृहीत नहीं होंगे।

सन्दर्भसूची

1. महा. भा. 1, सू. 1.1.7, पृ. 59.
2. वही. 1.1.21, पृ. 77.
3. वही. सू. 1.1.19, पृ. 73.
4. पा. 7.1.39 पर वार्तिक।
5. ऋक्. 7.103.2.
6. वही. 9.12.3.
7. पा. 7.1.39.
8. पा. 3.1.4.
9. अमरकोश, 1.10.28.
10. महाभारत, सभापर्व. 5.77.
11. महाभाष्य (युधिष्ठिर मीमांसक कृत हिन्दीव्याख्योपेत), प्रथम भाग, पृ. 401-2.

12. महा. भा. 1, सू. 1.2.10, पृ. 197.
13. तुलना करो, वही सू. 1.4.56, पृ. 340 ''आवनान्तात् ओदकान्तात् प्रियं पान्थमनुव्रजेत्''।
14. महा. भा. 3, सू. 7.2.91, पृ. 305.
15. वही. सू. 7.2.2. , पृ. 278; सू. 8.4.20, पृ. 459; न्यास. (का. भा. 5, सू. 7.2.2., पृ. 653).
16. वही. भा. 1, सू. 1.3.1, पृ. 256. यह न्याय यहां के अतिरिक्त महा. भा. 2, सू. 3.1.131, पृ. 90; भा. 3, सू. 6.1.9, पृ. 14; सू. 6.1.12, पृ. 16; सू. 8.2.48, पृ. 408 पर भी उद्धृत हुआ है।
17. मैत्रायणी संहिता, 2.1.8.
18. तुलना करो- निरुक्त, 1.1. - ''न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। नामाख्यातयोस्तु कर्मोपसंयोगद्योतका भवन्ति।' ध्यान रहे कि उपसर्ग तो सर्वथा द्योतक की स्थिति में ही रहते हैं परन्तु निपातों की स्थिति कुछ इनसे भिन्न है, देखें वा. प. 2. 292–

    ''निपाताः द्योतकाः केचित् पृथगर्थाभिधायिनः।

    आगमा इव केऽपि स्युः सम्भूयार्थस्य वाचकाः''॥ इत्यादि
19. द्र. श. कौ. भा. 2, सू. 1.3.1, पृ. 49

    ''क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकैकोऽर्थो निदर्शितः।

    प्रयोगतोऽनुगन्तव्या अनेकार्था हि धातवः॥''

    तुलना करो, सर्वदर्शनसंग्रह, पातञ्जल दर्शन, पृ. 129

    ''निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रयः।

    अनेकार्थाः स्मृताः सर्वे पाठस्तेषां निदर्शनम्॥''
20. न्यास. (का. भा. 4, सू. 5.1.12, पृ. 22).
21. तुलना करो, रघु. 4.12, ''राजा प्रकृतिरञ्जनात्'।
22. न्यास. (का. भा. 6, सू. 8.1.20, पृ. 268).
23. रामायण, किष्किन्धा काण्ड, अध्याय सं. 35, श्लोक सं. 18.
24. महा. प्र. भा. 2, सू. 1.4.48, पृ. 406. उद्द्योतकार ने भी पा. 2.3.1, भा. 3 पृ. 766, सूत्रभाष्य में उपर्युक्त बात उद्धृत की है।
25. प. मं. भा. 4, सू. 5.3.55, पृ. 270.
26. महा. भा. 3, सू. 6.1.9, पृ. 14.
27. मा. यजुः, 7.69.
28. पा. 7.2.74.
29. पा. 7.4.79.

30. पा. 6.4.78.
31. पा. 8.2.36.
32. पा. 8.2.41.
33. पा. 8.3.57.
34. पा. 1.3.62.
35. पा. 7.2.82.
36. तुलना करो- महा. भा. 1, सू. 1.1.6, पृ. 55 "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति"।
37. महा. भा. 1, सू. 1.4.110, पृ. 357.
38. वही. सू. 1.2.68, पृ. 250-51 "अन्यत्रापि नियतविषयाः शब्दा दृश्यन्ते ...."।
39. वही. सू. 2.1.51, पृ. 393.
40. वही. सू. 1.3.21, पृ. 280 पर वार्तिक।
41. वही. भा. 3, सू. 8.2.48 पृ. 409.
42. महा. प्र. भा. 2, सू. 1.2.30, पृ. 45 - "अथवा गतिरपि व्यञ्जेरर्थः गच्छत्यजुपरागवशादिति व्यञ्जनमित्ययमर्थः पर्यायान्तरेण भाष्यकारेणाभिहितः उपरागश्च पूर्वपराच्सन्निधानेऽपि परेणाचा हलो भवति न पूर्वेण"।
43. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.4.37, पृ. 555).
44. प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.2.1, पृ. 507).
45. महा. भा. 1, सू. 1.3.1, पृ. 258.
46. प्रस्तुत प्रसङ्ग में विशेष अध्ययनार्थ देखें, मेरा लेख, 'धात्वर्थ विचारः' विश्वसंस्कृतम्' अङ्क 17.4, अगस्त 1980.
47. महा. भा. 2, सू. 6.4.161, पृ. 231.
48. महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.34; पृ. 296; भा. 2, सू. 2.3.52, पृ. 826; भा. 4, सू. 6.1.7, पृ. 309; बृ. श. शे. भा. 1, सू. 18, पृ. 78.
49. महा. भा. 1, सू. 1.4.2, पृ. 306.
50. वही. सू. 1.1.3, पृ. 46, भा. 2, सू. 3.2.115, पृ. 119 इत्यादि।
51. वही. सू. 1.4.21, पृ. 321.
52. (क) अमरकोष 3.3.16 "एकोऽन्यार्थप्रधाने च एको मुख्यान्यकेवलाः"।
(ख) प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.1.92, पृ. 424) - "एकशब्दोऽयमन्यप्रधानासहायसंख्या-प्रथमसमानसाधारणवाची ......)"
53. मैत्रायणी संहिता, 2.6.8; 4.4.2.
54. महा. भा. 1, सू. 1.1.24, पृ. 83; भा. 2, सू. 5.3.52, पृ. 411-12; महा. प्र. भा. उ. सू. 4.1.93, पृ. 589; भा. 4, सू. 5.3.52, पृ. 196-97; प. मं. (का. भा. 3, सू. 4.1.93 पृ. 424); प. ल. म. शक्तिनिरूपण पृ. 39.
55. महा. भा. 1, सू. 1.4.23, पृ. 323.

56. वैसे आगे चलकर कारकसंज्ञा को महती संज्ञा मानकर अन्वर्थसंज्ञाविज्ञान से ही संज्ञीनिर्देश करना अनावश्यक हो जाता है- यह भाष्यकार का वचन है।
57. महा. भा. 1, सू. 1.4.54, पृ. 338.
58. द्र. अमरकोष, 2.4.120 'अस्त्री वितानमुल्लोचः'
59. द्र. वा. प. 3.7.18.
निष्पत्तिमात्रे कर्तृत्त्वं सर्वत्रैवास्ति कारके।
व्यापारभेदापेक्षायां करणादित्वसंभवः॥"
60. न्यास (का. भा. 1, अथ शब्दानुशासनम् सूत्र, पृ. 5; प. मं. (का. भा. 1, अथ शब्दानुशासनम् सूत्र, पृ. 5).
61. महा. भा. 1, सू. 1.4.57, पृ. 340.
62. ऋक् 3.53.23.
63. महा. भा. 1, सू. 2.1.51, पृ. 394.
64. वही.
65. न्यास. (का. भा. 1, सू. 1.2.45, पृ. 337-38). न्यासकार ने पा. 1.1.40 तथा 1.3.78 पर भी उक्त अर्थों का संकेत किया है।
66. द्र. महा. भा. 1, ऋलृक् सूत्र पृ. 20 "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः ....।"
67. महा. भा. 1, सू. 2.1.60, पृ. 401.
68. 'पक्षवन्तौ' शब्द का एक अर्थ यह भी सम्भावित है कि वे दोनों लम्बे-लम्बे केशों से युक्त हैं। यहां 'पक्ष' शब्द का अर्थ कचसमूह किया गया है। अथवा 'पक्षवन्तौ' इस विशेषण का दूसरा यह अर्थ भी हो सकता है कि देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों काक पक्ष धारण किए हुए थे। पदैकदेश न्याय से यहां 'पक्ष' शब्द से उक्त 'काकपक्ष' अर्थ भी गृहीत हो सकता है। साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं जहां स्वयं को अलंकृत करने के लिए 'काकपक्ष' को धारण करने का उल्लेख है।
69. पा. 6.3.74.
70. पा. 7.2.50.
71. महा. भा. 1, सू. 2.1.60, पृ. 401 पर वार्तिक।
72. प. मं. (का. भा. 2, सू. 2.1.60, पृ. 81).
73. महा. भा. 2, सू. 5.1.119, पृ. 367.
74. तुलना करो, वा. प. 3.14.563-
"प्रयुक्तानां हि शब्दानां शास्त्रेणानुगमः सताम्।
शब्दप्रमाणको लोकः स शास्त्रेणानुगम्यते॥"
75. महा. भा. 2. सू. 5.2.42 पृ. 380.
76. वही. सू. 5.2.102, पृ. 397.

77. वही. भा. 3, सू. 8.2.84, पृ. 417.
78. वही. भा. 1, सू. 1.2.29-30, पृ. 207.
79. महा. प्र. भा. 4, सू. 6.2.136, पृ. 566.
80. रघु. 9.22.
81. महा. प्र. भा. 5, सू. 8.1.1, पृ. 279.
82. इस विषय में दग्धपट न्याय अलग से भी पठनीय है। देखें प्रकृत ग्रन्थ पृ. 186; 427.
83. महा. प्र. भा. 1, सू. 1.1.38, पृ. 305; प. मं. (का. भा. 1, सू. 1.1.42, पृ. 155; भा. 6, सू. 8.1.1, पृ. 213).
84. प. मं. (का. भा. 2, सू. 3.1.117, पृ. 12-13).
85. पदमञ्जरीकार ने "पथ्या शुण्ठी" इत्यादि शालिनीछन्द वाले श्लोक का यह भाग कहां से लिया है, यह विद्वानों के लिए अन्वेष्टव्य है।
86. "तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः" यह श्लोक का अंश भी हरदत्त ने कहां से लिया है, विद्वानों के लिए अनुसन्धेय है।
87. शिशु. 13.24.
88. प. मं. (का. भा. 4, सू. 5.1.9, पृ. 16).
89. ऋक्. 6.75.14; मा. यजुः 29.51; तैत्तिरीय संहिता 4.6.6.5.
90. प. मं. (का. भा. 4, सू. 5.1.119, पृ. 103-4).
91. पा. 3.1.143 पर वार्तिक।
92. पा. 3.3.19 "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्"।
93. पा. 4.3.53.
94. पा. 5.2.1.
95. पा. 2.3.37.
96. महा. भा. 2, सू. 5.1.119, पृ. 366 "यस्य गुणस्य भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने त्वतलौ इति"।

परिशिष्ट 1

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अथर्ववेदसंहिता : सायणमाधवविरचित सायणभाष्यसहित, सम्पा. विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशिआरपुर, 1960-62.

अद्वैतब्रह्मसिद्धि : सदानन्द यति; बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1890.

अभिज्ञानशाकुन्तल : द्र. कालिदासग्रन्थावली.

अमरकोषः अमरसिंह; भानुजिदीक्षितविरचित रामाश्रमीव्याख्या सुधा-विभूषित, हरगोविन्द शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा सरलमणिप्रभा हिन्दीव्याख्यासंवलित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1970.

अलङ्कारसर्वस्व : राजानक रुय्यकः जयरथविरचित विमर्शिनीटीकासहित, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1893.

अष्टाध्यायी (पाणिनीय सूत्रपाठ और तत् परिशिष्ट ग्रंथों का शब्दकोश) : पाणिनि; सम्पा. श्रीधर शास्त्री तथा सिद्धेश्वर शास्त्री, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना, 1935.

आत्मतत्त्वविवेक : उदयन; सम्पा. पं. जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1873.

आत्मपुराण : शङ्करानन्द; व्याख्या. रामकृष्ण.

उत्तररामचरितम् : भवभूति; व्याख्या. तारिणीश झा, रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद, 1982.

उपदेशसाहस्री : शङ्कराचार्य; रामतीर्थविरचित टीकासहित, सम्पा. कृष्ण शास्त्री नवारे, मुम्बई, 1886.

ऋग्वेदसंहिता : सम्पा. विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशिआरपुर, 1964.

ऋतुसंहार : द्र. कालिदासग्रन्थावली.

एकादशोपनिषद् : व्याख्या. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजयकृष्ण लखनपाल, 2/24 आसफ अली रोड, नई दिल्ली, 1979.

कठोपनिषद् : द्र. एकादशोपनिषद्.

कथासरित्सागर : सोमदेवभट्ट; सम्पा. पं. दुर्गाप्रसाद तथा काशिनाथ पाण्डुरङ्ग परब, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, द्वितीय संस्करण, 1903.

काठकसंहिता : सम्पा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, भारत मुद्रणालय, आन्धनगर (सतारा प्रदेश) मुम्बई.

काठकसंहिताब्राह्मण (काठकसंकलन) : सम्पा. सूर्यकान्त, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 1981.

कामन्दकीय नीतिसार : कामन्दक; पं. ज्वालाप्रसादकृत भाषा टीकासहित खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेङ्कटेश्वर स्टीम प्रैस, मुम्बई, वि. सं. 2001.

कामसूत्र : वात्स्यायन; निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1891.

कालिदासग्रन्थावली : कालिदास; सम्पा. रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1976.

कालिदासदर्पण : शिवप्रसाद भारद्वाज; विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारतभारती अनुशीलन संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय, साधु आश्रम, होशिआरपुर, 1983.

काव्यप्रकाश : मम्मट; व्याख्या. श्रीनिवास शास्त्री, साहित्यभण्डार, मेरठ, 1983.

काव्यप्रकाशप्रदीप (काव्यप्रकाशटीका) : गोविन्द ठक्कुर; वैद्यनाथकृतटीका सहित, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1891.

काव्यमीमांसा : राजशेखर; गंगासागररायकृत प्रकाश हिन्दी व्याख्यासहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1982.

काव्यादर्श : दण्डिन्; बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1863.

काव्यालङ्कार : रुद्रट; श्वेताम्बर जैन पण्डित नमिसाधुकृत टिप्पणसहित, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1886.

काव्यालङ्कार : भामह; सम्पा. पं. वटुकनाथ शर्मा तथा बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1981.

काशिकावृत्ति (भा. 1-6) : वामन और जयादित्य; जिनेन्द्रबुद्धिप्रणीत न्यास (काशिकाविवरणपञ्जिका) तथा हरदत्तविरचित पदमञ्जरीसहित, सम्पा. स्वामी द्वारिका प्रसाद शास्त्री तथा पं. कालिकाप्रसाद शुक्ल, प्राच्य भारती प्रकाशन, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1965-67.

कुमारसम्भव : द्र. कालिदासग्रन्थावली.

कुवलयानन्द : अप्पयदीक्षित; वैद्यनाथविरचित टीकासहित, सम्पा. पं. जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता, शक सं. 1796.

कुवलयानन्द : अप्पयदीक्षित; निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1903.

खण्डनखण्डखाद्य : श्री हर्ष; शङ्करमिश्रकृत टीकासहित, मैडिकल हाल प्रैस, बनारस, 1888.

गणरत्नमहोदधि (गणपाठवृत्ति) : वर्धमानसूरि; स्वोपज्ञवृत्तिसहित, सम्पा. प्रो. एगलिंग, संस्कृत टैक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1879.

गणसूत्र : द्र. अष्टाध्यायी तथा वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी.

चरकसंहिता (भा. 1-2) : चरक; चक्रपाणिविरचित आयुर्वेददीपिका संस्कृत टीका तथा काशीनाथप्रणीत विद्योतिनी हिन्दीटीका सहित, सम्पा. गङ्गासहाय पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1983.

जीवन्मुक्तिविवेक : विद्यारण्य; आनन्दाश्रम संस्कृतसीरिज, पूना, शक सं. 1811.

जैमिनिसूत्र : द्र. मीमांसासूत्र.

छान्दाग्योपनिषद् : द्र. एकादशोपनिषद्.

तन्त्रवार्तिक : कुमारिल; बनारस संस्कृतसीरिज, वाराणसी, 1903.

तत्त्वबोधिनी : द्र. वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी.

तर्कभाषा : केशवमिश्र; आचार्य विश्वेश्वरविरचित तर्करहस्यदीपिका हिन्दी व्याख्याविभूषित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1967.

तर्कसंग्रह : अन्नम्भट्ट; कल्याणगणिविरचित फक्किका व्याख्यासमन्वित तथा दीपिकाव्याख्यासमेत, सम्पा. जितेन्द्र जेटली, राजस्थान पुरातत्त्वान्वेषण मन्दिर, जयपुर, सं. 2013.

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य : माहिषेय कृतटीका सहित, सम्पा. वैंकटराम शर्मा विद्याभूषण, मद्रास, 1930.

तैत्तिरीय संहिता : भट्टभास्कर तथा सायणविरचित भाष्यसहित, सम्पा. नारायण शर्मा सोनटक्के तथा त्रिविक्रम शर्मा धर्माधिकारी, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, वैदिकसंशोधन मण्डल, पूना, 1970.

दुर्घटवृत्ति : शरणदेव; सम्पा. टी. गणपति शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1985.

धातुप्रदीप : मैत्रेयरक्षित; सम्पा. श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती, दी वरेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही (बंगाल) 1919.

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन; अभिनवगुप्तविरचित लोचन टीकासहित, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1891.

निरुक्त : यास्क; सम्पा. डॉ. लक्ष्मणस्वरूप मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1967.

नीतिप्रदीप : वेतालभट्ट; हैबरलीन तथा पं. जीवानन्द.

नीतिशतक : भर्तृहरि; व्याख्या. श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1982.

न्यायकुसुमाञ्जलि (भा. 1-2) : उदयन; स्वोपज्ञ वृत्ति तथा दो अन्य टीकाओं सहित, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1890-95.

न्यायदर्शन; गौतम; वात्स्यायनमुनिविरचित वात्स्यायनभाष्यसहित, सम्पा. दिगम्बर शास्त्री, आनन्दाश्रम सीरिज, पूना, 1922.

न्यायबिन्दुटीका: धर्मोत्तर; सम्पा. पी. पीटर्सन, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1889.

न्यायमञ्जरी : जयन्तभट्ट; विजयनगरम् संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1895.

न्यायमालाविस्तरः माधवाचार्य; आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, पूना, 1892.

न्यायमकरन्दटीका : आनन्दबोध; चित्सुख मुनिप्रणीत टीकासहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस.

न्यायवार्तिक : उद्द्योतकार; बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1907.

न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका : वाचस्पति मिश्र; विजयनगरम् संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1895.

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली : विश्वनाथ पञ्चानन; सम्पा. सी. शङ्करराम शास्त्री, मैलापुर, मद्रास (चेन्नई), 1923.

न्यायोक्ति कोशः छविनाथ त्रिपाठी; अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1978.

न्यास (काशिकाविवरणपञ्जिका) टीका : द्र. काशिकावृत्ति।

पञ्चतन्त्र : विष्णुशर्मा; सम्पा. म. र. काले, गोपाल नारायण एण्ड कम्पनी, कालबादेवी रोड, मुम्बई, 1911.

पञ्चदशी : विद्यारण्य मुनि; रामकृष्णकृत टीकासहित, सम्पा. पं. जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, 1882.

पञ्चपदिका (शाङ्करभाष्य की प्राचीनतम टीका) : पद्मपाद; विजयनगरम् संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1891.

पतञ्जलिकालीन भारत : प्रभुदयालु अग्निहोत्री; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1963.

पदमञ्जरी (काशिकाटीका) : द्र. काशिकावृत्ति.

पद्मपुराण (भा. 1-5) : गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, अष्टादश पुष्पम्, 5 - क्लाइवरी, कलकत्ता, 1957-59.

परिभाषासंग्रह : सम्पा. के. वी. अभ्यङ्कर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट्, पूना, 1967.

परिभाषेन्दुशेखर : नागेश; सम्पा. के. वी. अभ्यङ्कर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट्, पूना, 1972.

पाणिनि एज ए वैरिएशनिस्ट : पाल किपार्सकी, सैण्टर ऑफ एडवांस स्टडी इन संस्कृत, पूना विश्वविद्यालय पूना, 1979.

परिशिष्टपर्वन् : हेमचन्द्र; सम्पा. एच्. जैकोबी, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1891.

पाणिनिकालीन भारतवर्ष : वासुदेवशरण अग्रवाल; चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1969.

पातञ्जल महाभाष्य में अपूर्व कल्पनाएं : भीमसिंह; परिमल पब्लिकेशन्स, शक्ति नगर, दिल्ली, 1988.

पातञ्जल महाभाष्य में प्रत्याख्यात सूत्रः एक समीक्षात्मक अध्ययन : भीमसिंह; निर्मल बुक एजेन्सी, इन्दिरा कालोनी, कुरुक्षेत्र, 1987.

प्रक्रियाकौमुदी (भा. 1-2) : रामचन्द्राचार्य; विट्ठलाचार्यप्रणीत प्रसादाख्यटीका समेत सम्पा. कमलाशङ्कर प्राणशङ्कर त्रिवेदी, मुम्बई संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरिज, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना, 1925.

प्रौढमनोरमा (अव्ययीभाव समासान्त) (सिद्धान्तकौमुदीटीका) : भट्टोजिदीक्षित; हरिदीक्षित विरचित बृहच्छब्दरत्न तथा लघुशब्दरत्न टीका सहित, सम्पा. सीताराम शास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1964.

प्रौढमनोरमा (तत्पुरुषादि-यङन्तपर्यन्त) (सिद्धान्तकौमुदी टीका) : भट्टोजिदीक्षित; हरिदीक्षित विरचित शब्दरत्न टीकासमेत, सम्पा. गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, 1969.

प्रौढमनोरमा (उत्तरार्ध) (सिद्धान्तकौमुदीटीका) : भट्टोजिदीक्षित; हरिदीक्षितप्रणीत शब्दरत्न टीका सहित, सम्पा. गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस.

फिट्सूत्र : द्र. अष्टाध्यायी तथा वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी.

बालमनोरमा (सिद्धान्त कौमुदी टीका) : द्र. वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी.

बृहच्छब्दरत्न (प्रौढमनोरमाटीका): द्र. प्रौढमनोरमा.

बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवार्तिक बृहदारण्यवार्तिक (भाग. 1-2) : सुरेश्वराचार्य; आनन्दगिरिकृत व्याख्या सहित, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरिज, पूना, 1892.

बृहच्छब्देन्दुशेखर (भा. 1-3) (सिद्धान्तकौमुदीटीका) : नागेश; सम्पा. सीताराम शास्त्री, वाराणसेय (सम्पूर्णानन्द) संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1960.

बोधायन धर्मसूत्र : श्रीगोविन्दस्वामिप्रणीत विवरणसमेत, हिन्दी व्याख्या. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1972.

ब्रह्मबिन्दूपनिषद् (उपनिषदां समुच्चय): सम्पा. विनायक गणेश आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1925.

ब्रह्मसूत्रभाष्य (भा. 1-2) : बादरायण; शङ्कराचार्यविरचित शाङ्करभाष्य तथा आनन्दगिरिकृत व्याख्यासहित, आनन्दाश्रम प्रैस, पूना, 1890.

ब्रह्मसूत्र : बादरायण; शङ्कराचार्यविरचित शाङ्करभाष्य, वाचस्पतिमिश्रकृत भामती टीका तथा दो अन्य टीकाओं सहित, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1904.

ब्रह्मसूत्रतात्पर्यविवरण : पण्डित पत्रिका में 1882 में प्रकाशित.

भामती टीका (ब्रह्मसूत्र) : वाचस्पति मिश्र; बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1880.

भाषापरिच्छेद : सम्पा. ल. न. वसाक, कलकत्ता, 1871.

मनुस्मृति : मनु; कुल्लूकभट्ट प्रणीत मन्वर्थमुक्तावली संस्कृत टीका तथा हरगोविन्द शास्त्रिविरचित मणिप्रभा हिन्दी टीकासहित, सम्पा. गोपालशास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982.

मनुस्मृति : मनु; मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण कुल्लूक, राघवानन्द, नन्दन, रामचन्द्र, मणिराम, गोविन्दराज तथा भारुचि प्रणीत नौ टीकाओं सहित, सम्पा. जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे, भारतीय विद्याभवन, मुम्बई, 1972.

मनुस्मृति : मनु, मेधातिथिप्रणीत टीकासहित, सम्पा. गङ्गानाथ झा, कलकत्ता.

महाभारत (भा. 1-6) : व्यास; हिन्दी अनुवादक पं. रामनारायणदत्त शास्त्री, गीता प्रैस, गोरखपुर, वि. सं. 2044.

महाभारत (भा. 1-4) : व्यास; नीलकण्ठ गोविन्दविरचित नीलकण्ठी टीकासहित, गणपत कृष्णाजी प्रैस, मुम्बई, शक सं. 1799.

महाभाष्यप्रदीप (महाभाष्यटीका) : द्र. व्याकरण महाभाष्य.

महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत (भाष्यप्रदीपटीका) : द्र. व्याकरण महाभाष्य.

माधवीया धातुवृत्ति : सायणमाधव; सम्पा. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, 1987.

माध्यन्दिन यजुर्वेद : श्रीमती परोपकारिणी सभा, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1970.

मालविकाग्निमित्र : द्र. कालिदासग्रन्थावली.

मीमांसाश्लोकवार्तिक : कुमारिल, पार्थसारथिविरचित टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, 1898.

मीमांसाश्लोकवार्तिक : कुमारिलभट्ट., सुचरितमिश्रकृत टीकासहित, त्रिवेन्द्रम (तिरुवनन्तपुरम्), 1943.

मीमांसासूत्र (भा. 1-2) : जैमिनी; शबर मुनिविरचित शाबरभाष्य सहित, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1873-79.

मुण्डकोपनिषद् : द्र. एकादशोपनिषद्.

मैत्रायणी संहिता : सम्पा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, आंध नगर, सतारा प्रदेश, मुम्बई, 1942.

यशस्तिलकचम्पू (भा. 1-2) : सोमदेव; श्री श्रुतसागरप्रणीत टीकासहित, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1901-3.

याज्ञवल्क्यस्मृति : याज्ञवल्क्य; विज्ञानेश्वरप्रणीत मिताक्षरा व्याख्यासंवलित, सम्पा. वासुदेव शर्मा, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1936.

योगसूत्र : पतञ्जलि; व्यासविरचित व्यास भाष्य तथा वाचस्पतिमिश्रप्रणीत टीका सहित, सम्पा. राजाराम शास्त्री बोडस्, बम्बई संस्कृतसीरिज, मुम्बई, 1892.

रघुवंश : द्र. कालिदासग्रन्थावली.

लघुशब्दरत्न (प्रौढमनोरमाटीका) : द्र. प्रौढमनोरमा.

लघुशब्देन्दुशेखर (प्रथम भाग) : नागेश; नित्यानन्द पन्त पर्वतीय कृत शेखरदीपक टीकासहित, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी.

लौकिकन्यायरत्नाकर : अज्ञातकर्तृक (?); सम्पा. रामचन्द्रमिश्र तथा रङ्गेश्वर मिश्र, कामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, 1982.

लौकिकन्यायाञ्जलि (A Handful of Popular Maxims) : कर्नल जी.ए. जैकब; नीराजना पब्लिशर्स एण्ड बुक सैलर्स, रूप नगर, दिल्ली, 1983.

लौकिकन्यायानुशीलन : शिववंश पाण्डेय; अनुपम प्रकाशन, पटना, 1985.

वाचस्पत्यम् (भा. 1-5) : तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य; चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, 1962.

वाक्यपदीय : भर्तृहरि; सम्पा. के. वी. अभ्यङ्कर तथा वी. पी. लिमये, संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरिज, पूना विश्वविद्यालय पूना. 1965.

वायुपुराण : आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1905.

विदुरनीति : विदुर; हिन्दी व्याख्या. युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ, सोनीपत, वि.सं. 2041.

विवरणप्रमेयसंग्रह : विद्यारण्य; विजयनगरम् संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1893.

वृद्धचाणक्यशतक : चाणक्य; मुम्बई संस्करण, वि.सं. 1915.

वेणीसंहार : भट्टनारायण; सम्पा. शिवराज शास्त्री, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1979.

वेदान्त कल्पतरु (भामती टीका) : अमलानन्द; विजयनगरम् संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1895-97.

वेदान्तकल्पतरुपरिमल : अप्पयदीक्षित; विजयनगरम् संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1895-98.

वेदान्तपरिभाषा : शिखामणि टीका तथा अमरदास कृत टीका सहित, वैंकटेश्वर प्रैस, मुम्बई, 1901.

वेदान्तसार : सदानन्द; नृसिंह सरस्वती तथा रामतीर्थविरचित टीकाओं सहित, सम्पा. कर्नल जैकब, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1894.

वैजयन्ती कोष : यादव प्रकाश; गुस्तव ओप्पर्ट, मद्रास (चेन्नई), 1893.

वैयाकरणभूषणसार (भट्टोजिदीक्षितकृत वैयाकरणसिद्धान्तकारिकाटीका) : कौण्डभट्ट; ब्रह्मदत्त द्विवेदीविरचित दर्पण हिन्दी टीका सहित, चौखम्बा ओरियण्टालिया, दिल्ली, 1985.

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (भा. 1-4) (चतुर्थभागस्थ कुछ प्रकरणों पर सुबोधिनी तथा लघुशब्देन्दुशेखर टीका सहित) : भट्टोजिदीक्षित; ज्ञानेन्द्र सरस्वतीविरचित तत्त्वबोधिनी तथा वासुदेवदीक्षितविरचित बालमनोरमा टीकाओं सहित, सम्पा. गिरिधर शर्मा तथा परमेश्वरानन्द शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977.

वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा : नागेश; सम्पा. तथा व्याख्या. कपिलदेवशास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, 1975.

वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा : नागेश; सम्पा. कपिलदेव शास्त्री, विशाल पब्लिकेशन्स, विश्वविद्यालय परिसर, कुरुक्षेत्र, 1985.

व्याकरण महाभाष्य (भा. 1-5) : पतञ्जलि; कैयटविरचित प्रदीप तथा नागेशभट्ट विरचित प्रदीपोद्द्योत टीकाओं सहित, सम्पा. आचार्य वेदव्रत, हरियाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल, झज्जर, रोहतक, 1961-63.

व्याकरणमहाभाष्य : पतञ्जलि; कैयटप्रणीत प्रदीप, नागेशभट्टकृत प्रदीपोद्द्योत तथा वैद्यनाथ कृत छाया टीकाओं सहित, सम्पा. भार्गव शास्त्री, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1951.

व्याकरण महाभाष्य (भा. 1-3 अपूर्ण) : पतञ्जलि; हिन्दीव्याख्या युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ, सोनीपत, वि.सं. 2031-36.

व्याकरण महाभाष्य (भा. 1-3) : पतञ्जलि; सम्पा. के. वी. अभ्यङ्कर, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट्, पूना, 1962-72.

व्याकरणशास्त्रे लौकिकन्यायानामुपयोग : रामकिशोर शुक्ल; सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1992.

शब्दकौस्तुभ (भा. 1-2) : भट्टोजिदीक्षित; सम्पा. गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस, 1933.

शब्दकौस्तुभ : भट्टोजिदीक्षित; सम्पा. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, तथा गणपति शास्त्री मोक्ते, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस.

शब्दकल्पद्रुम (काण्ड 1-5) : राजा राधाकान्तदेव बहादुर; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1961.

शाङ्करभाष्य : द्र. ब्रह्मसूत्र.

शाबरभाष्य : द्र. मीमांसासूत्र.

शास्त्रदीपिका : पार्थसारथि मिश्र; मैडिकल हाल प्रैस, बनारस, 1891.

शिशुपालवध : माघ; मल्लिनाथविरचित सर्वङ्कषा संस्कृत टीका तथा हरगोविन्द शास्त्रि प्रणीत मणिप्रभा हिन्दी व्याख्यासहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1984.

शृङ्गारप्रकाश.

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (भा. 1-2) : वाल्मीकि; गीताप्रैस गोरखपुर, वि. सं. 2042.

श्रीमद्भवद्गीता : व्यास; हिन्दीव्याख्या. सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, विजयकृष्ण लखनपाल, 2/24 आसफ अली रोड, नई दिल्ली, 1978.

संक्षेपशारीरक : सर्वज्ञात्मा मुनि; पण्डित पत्रिका, भाग 4-10 न्यू सीरिज.

सञ्जीवनी (रघुवंशटीका) : मल्लिनाथ; सम्पा. नारायणराम आचार्य, चौखम्बा ओरियण्टालिया, दिल्ली, 1987.

संस्कृत-हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977.

सत्यार्थप्रकाश : स्वामी दयानन्द; सम्पा. जगदीश विद्यार्थी, जनज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली, वि. सं. 2029.

सप्तपदार्थी : शिवादित्य; माधव सरस्वतीविरचित टीका सहित, विजयनगरम् संस्कृत सीरिज, वाराणसी, 1893.

सर्वदर्शनसंग्रह : सायण माधव; अंग्रेजी अनुवादक ई.बी. कॉवेल तथा ए. ई. गफ, सम्पा. कन्हैयालाल जोशी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1986.

सांख्यतत्त्वकौमुदी : वाचस्पति मिश्र; सम्पा. पं. तारानाथ तर्कवाचस्पति, कलकत्ता, 1871.

सांख्यसूत्रवृत्ति : कणाद; अनिरुद्ध तथा वेदान्ती महोदवकृत टीकासहित, सम्पा. तथा अनुवादक आर. गार्बे, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, 1888-92.

सांख्यसूत्र (सांख्यदर्शन) : कणाद; विज्ञानभिक्षुविरचित सांख्यप्रवचन संस्कृतभाष्य तथा गजाननशास्त्री मुसलगांवकरकृत प्रदीप हिन्दी टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1987.

सहित्यकौमुदी : विद्याभूषण; कृष्णानन्दिनी विरचित टीका सहित, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई.

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ कविराज; व्याख्या शालिग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977.

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ; निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, 1931.

सुबोधिनी (सिद्धान्तकौमुदीटीका) : द्र. वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी.

सुभाषितरत्नभाण्डागार : सम्पा. नारायण राम आचार्य, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, रानी झांसी रोड, दिल्ली, 1978.

सुभाषितसप्तशती.

सुभाषितावली : वल्लभदेव; सम्पा. पीटर्सन, 1886.

स्फोटचन्द्रिका (शब्दकौस्तुभ द्वितीय भाग के अन्त में प्रकाशित) : कृष्णभट्ट मौनी; सम्पा. गोपाल शास्त्री नेने, विद्याविलास प्रैस, गोपालमन्दिर, बनारस, 1929.

हठयोगप्रदीपिका : स्वात्माराम; ब्रह्मानन्दकृत टीकासहित, निर्णयसागर प्रैस, मुम्बई, शक संवत् 1811.

हितोपदेश : नारायण पण्डित; हिन्दी व्याख्या. रामेश्वरभट्ट, सम्पा. नारायणराम आचार्य, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 1990.

परिशिष्ट 2

ग्रन्थ में विवेचित / उद्धृत लोकन्यायों की सूची

परिशिष्ट 3

दृष्टि-दोष से छुटे हुए लोकन्याय

यूनि लब्धे तु युवतिर्जरठे रमते कथम् न्याय

एतन्मुराररित्यादौ स्थानतः प्रयत्नतश्चानारतमे स्पर्शे चरितार्थो लब्धप्रयोजनोऽयमनुनासिकविधिः स्थानमात्रेणान्तर्यमादाय रेफे न प्रवृत्तिमर्हतीत्यर्थः, यूनि लब्धे तु युवतिर्जरठे रमते कथमिति न्यायादिति भावः।

बालमनोरमाकार "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा" सूत्र पर शङ्का करते हुए पूछते हैं कि जैसे एतन्मुरारिः इत्यादि में प्रकृत सूत्र से दकार को नकार अनुनासिक होता है वैसे ही चतुर्मुखः यहां भी रेफ को अनुनासिक रूप में णकार क्यों नहीं होता? क्योंकि रेफ और णकार में स्पृष्ट तथा ईषत्स्पृष्ट रूप प्रयत्नभेद होने पर भी दोनों में मूर्ध-स्थानजनित आन्तर्य तो है ही। इसके उत्तर में प्रकृत न्याय को उपन्यस्त करते हुए ये कहते हैं कि एतन्मुरारिः इत्यादि में स्थान और प्रयत्न दोनों की दृष्टि से अन्तरतम स्पर्श-संज्ञक वर्णों में चरितार्थ तथा प्रयोजनवान् बना हुआ यह अनुनासिकविधान फिर ठीक वैसे ही केवल स्थान के आन्तर्य को लेकर रेफ में प्रवृत्त नहीं होगा, जैसे किसी युवा पुरुष के उपलब्ध होते हुए कोई युवति फिर वृद्ध व्यक्ति के साथ रमण करना उचित नहीं समझती।

वास्तव में यहां तत्त्वबोधिनीकार के अनुसार या तो पूर्वाचार्यों के ग्रन्थानुरोध से स्पर्शभिन्न वर्णों में अनुनासिकविधि की अप्रवृत्ति माननी चाहिए अथवा फिर अनभिधान रूप ब्रह्मास्त्र से रेफ को अनुनासिकविधान रोकना चाहिए।[2]

सन्दर्भ सूची

1. बा. म. (वै. सि. कौ. भा. १ सू. ११६ पृ. १२६).
2. त. बो. (वै. सि. कौ. भा. १ सू. ११६ पृ. १२६) – "स्पर्शस्यैवेष्यत इति प्राचो ग्रन्थानुरोधेन स्पर्शभिन्नेषु अनुनासिकविधिर्न प्रवर्तते, अनभिधानादिति वा योज्यम्"।